श्री शंखेश्वरपार्श्वनाथाय नमः 4881

शास्त्रवार्त्ता-समुच्चय

और

उसकी व्याख्या

स्याद्वाद-कल्पलता

का

हिन्दी विवेचन

स्तबक ९-१०-११

[अन्तिमः सप्तमः खंडः]

मूलग्रन्थकार

१४४४ ग्रन्थप्रणेता आचार्य श्री हरिभद्रसूरीश्वर

व्याख्याकार

न्यायविशारद महोपाध्याय श्री यशोविजयगणिवर

— हिन्दीविवेचनकार —

पंडितराज श्री बदरीनाथजी शुक्ल

[निवृत्त उपकुलपति-संपूर्णानन्द संस्कृत युनिवर्सिटी-वाराणसी]

— अभिवीक्षणकार —

प. पू. शास्त्रमर्मज्ञ आचार्य श्री विजयभुवनभानुसूरीश्वरजी महाराज

— प्रकाशक —

दिव्यदर्शन ट्रस्ट ६८-गुलालवाडी-मुंबई-४

प्रस्तावना

'शास्त्रवार्त्तासमुच्चय' ग्रन्थ के नाम के प्रारम्भ में 'शास्त्र' शब्द है। सर्व जीवों के हित का शासन=आदेश करने वाले वाक्य या वाक्यसमूह को शास्त्र कहा जाता है। इस व्याख्या के अनुसार सर्वज्ञभगवंत का विधि-निषेधकारक वचन ही सच्चा शास्त्र है। यदि पूछा जाय कि शास्त्र का मुख्य प्रयोजन क्या है-तो उस का उत्तर यह है कि अपने दुर्गुणों का-दोषों का दमन-उन्मूलन यही शास्त्र का प्रयोजन है। जिस वचन से दुर्गुणों की-रागद्वेष की वृद्धि होती हो वह वचन उस के लिये शास्त्र नहीं होता। अधिकांश विद्वानों की 'सर्वज्ञ वचन ही शास्त्र है,' इस बातमें सम्मति होने पर भी सब अपने अपने सम्प्रदायों के ग्रन्थों को ही सर्वज्ञवचनात्मक 'शास्त्र' सिद्ध करने के लिये तत्पर रहते हैं। और आज तो ऐसा युग आया है कि शास्त्र के शब्द को भी न जानने वाले लोग मतावेश में आकर उनके अपने ही वचन को शास्त्र या भगवद्वाणी घोषित करने में जिंदगानी व्यतीत कर देते हैं। ऐसी स्थिति में भगवद् हरिभद्रसूरिमहाराज का यह ग्रन्थ अतीव मार्गदर्शक बन सके ऐसा है।

इस ग्रन्थ में कहीं भी मतावेश का दर्शन नहीं मिलेगा। कुशाग्रबुद्धि ग्रन्थकारने विविध सम्प्रदायों के शास्त्रों की मुख्य मुख्य वार्त्ता=सिद्धान्तों का यहाँ समुचित एवं प्रामाणिक ढंग से निरूपण किया है। उसके बाद उन वार्त्ताओं में कितना औचित्य और अनौचित्य है यह मीमांसा की गयी है। प्रारम्भ में अनौचित्य को दिखा कर बाद में उनमें कैसे औचित्य हो सकता है उस का स्पष्ट निदर्शन किया है। यद्यपि हरिभद्रसूरिजी जन्मतः ब्राह्मण है फिर भी मतावेश से दूर रहने के कारण उन का सम्पूर्ण झुकाव जैनदर्शन के सिद्धान्तों में ही रहा है। इस लिये जैन सिद्धान्त के प्रतिपादन के बाद उन्होंने उस का सातवें स्तवक में सयुक्तिक समर्थन ही किया है। अन्य अन्य स्तवकों में भी अन्ततः जैन सिद्धान्तों का ही समर्थन किया गया है।

इस तरह, जन्मतः ब्राह्मण होने पर भी जैन सिद्धान्तों की शरण लेने वाले ग्रन्थकारने एक ओर जन्मतः जैन होने पर भी उदासीन रहने वाले सज्जनों को यह सबक दिया है कि तुम जैन होते हुये भी जैन सिद्धान्तों से अनभिज्ञ रहते हो यह बडे शरम की बात है। वेद-पुराण आदि हजारों ग्रन्थों के पढने पर भी मानवजीवन के सही उत्थान के लिये जैन सिद्धान्तों का अध्ययन परम आवश्यक है।

शास्त्रवार्त्ता० ग्रन्थ पर 'स्याद्वादकल्पलता' संज्ञक व्याख्या निर्माण करके महोपाध्याय-श्रीयशोविजय महाराजने इस ग्रन्थ की शोभा में चार चाँद लगा दिये हैं। शास्त्रवार्त्ता० मूल ग्रन्थ का विवरण करते करते महोपाध्यायजीने स्वतन्त्ररूप से अपनी व्याख्या में प्राचीन एवं नव्य न्याय में प्रसिद्ध अनेक वादस्थलों का अवतार किया है।

प्रस्तुत खंड में स्तबक ९-१०-११ का समावेश किया गया है ।

९वे स्तबक में प्रारम्भ में मोक्ष एवं मोक्ष के उपाय की चर्चा की गयी है। मूलग्रन्थकारने यहाँ सम्यग्दर्शन की प्राप्ति और सम्यग्दृष्टि जीव की भवसमुद्र के बारे में संवेग-वैराग्य-गर्भित विचारणा का हृदयंगम वर्णन किया है उस के बाद श्लोक २९ से ज्ञानयोग से मुक्ति प्राप्त होने का जो पहले स्तबक के २१ वी कारिका से कहा गया था उस का स्पष्टीकरण किया गया है ।

उपाध्यायजी म० ने चौथी कारिका की व्याख्या में भिन्न भिन्न मतों के अनुसार 'मोक्ष क्या है' यह दिखा कर उन की पूरी समालोचना कर के जैनमतानुसार शुद्धात्मस्वरूपावस्था रूप मुक्ति का समर्थन किया है । उपरांत ज्ञान क्रिया का समुच्चय ही मोक्षोपाय है इस का समर्थन करते हुए ज्ञान से ही मोक्ष मानने वाले वेदान्तदुर्नय की तथा सम्यक्क्रिया मात्र को मोक्षोपाय मानने वाले पातञ्जल मत की तथा ज्ञान-कर्म के तुल्यवत् समुच्चय से मोक्ष मानने वाले भास्करीय आदि मत की समालोचना प्रस्तुत की है ।

उस के बाद वस्त्रादि को मुक्ति के प्रतिकूल मानने वाले दिगम्बर मत का भी (पृ. २८) विस्तार से निरसन किया गया है ।

पाँचवी कारिका की व्याख्या में सम्यक्त्व के शम-संवेगादि लक्षणों का सुंदर विवेचन है। ११ वी कारिका की व्याख्या में चार गति में कैसा दुख होता है यह दिखाया है। २० वी कारिका की व्याख्या में शुद्ध चारित्र से केवलज्ञान की प्राप्ति के विवरण में धर्म-शुक्लध्यान का सुंदर विवेचन दिया है । २६ वी कारिका की व्याख्या में-सिद्धों को मुक्ति में 'चारित्र होता है या नहीं' इस चर्चा का विस्तार किया गया है । २७ वीं कारिका की व्याख्या में, योगाचार्य के मतानुसार इच्छा-शास्त्र-सामर्थ्य योग तथा धर्मसंन्यास-योगसंन्यास आदि विषय का निरूपण है ।

१० वे स्तबक में मूलग्रन्थकारने सर्वज्ञसिद्धि के बारे में प्रथम ११ कारिकाओं में पूर्वपक्ष और उस के आगे उत्तरपक्ष किया है । उपरांत सर्वज्ञ के अभाव में वेद के द्वारा धर्माधर्म-व्यवस्था का असंभव विस्तारसे कहा गया है । उस के बाद आगम प्रमाण न मानने वाले बौद्धों के मत का ४८ वीं कारिका से उपन्यास कर के ५० वीं कारिका से विस्तार के साथ आगम के प्रामाण्य का और उसे ज्ञानोपाय मानने का निरूपण किया है एवं ६१ वीं कारिका से, आगम में विसंवाद की शंका के निरसन के लिये विषयशुद्धि का भी निरूपण किया गया है।

उपाध्यायजी महाराज ने इस स्तबक की व्याख्या विस्तार से की है । सर्वज्ञसिद्धि के प्रकरण में मीमांसक कुमारिल के श्लोकवार्त्तिक की कारिकाओं को पूर्वपक्षमें उद्धृत कर के विस्तार से उसका खंडन किया है—इस प्रकरण की पृष्ठभूमि सम्मतितर्क की व्याख्या है । प्रसंगतः इस में पृष्ठ १० से १३ में पूर्वपक्ष की ओर से अभाव हेतुता विचार किया गया है । पृष्ठ २१ से २७ तक पूर्वपक्ष की ओर से वर्णात्मक वेद के नित्यत्व का उपन्यास किया है ।

विशेषतः पृ० ३९ से ४२ तक सम्बन्धि स्वभावता वस्तु का स्वरूप नहीं है–इस मत का निरसन किया गया है। पृष्ठ ४४ से प्रामाण्यवाद का उपक्रम कर के प्रभाकर-मुरारिमिश्र और भट्ट के मत का निरसन किया है, नैयायिकमत का भी निरसन कर के जैनमतानुसार अभ्यासदशा में प्रामाण्य ज्ञान स्वतः और अनभ्यास दशा में परतः होता है–इसकी उपपत्ति की गयी है। इस विषय में व्याख्याकारने एक सुंदर संग्रहश्लोक दिया है—(पृ. ६५)

प्रामाण्यं स्वत एव केवलदशां ज्ञप्तौ गुणापेक्षणाद् उत्पत्तौ परतः, स्वतश्च परतश्छाद्मस्थ्यभाजां पुनः ।
अभ्यासे च विपर्यये च विदितं ज्ञप्तौ, समुत्पत्तितस्त्वन्यस्मादिति शासनं विजयते जैनं जगज्जित्वरम् ॥

१६ वीं कारिका की व्याख्या में उपमानप्रमाण की चर्चा में कुमारिल, नैयायिक, मिश्र, नव्य आदि के मतों का निरसन कर के उपमान का प्रत्यभिज्ञा में समावेश का सयुक्तिक प्रतिपादन किया है। १७ वे श्लोक की व्याख्या में असर्वज्ञत्व और वक्तृत्व में कारण–कार्य भाव होने का निरसन किया है। पृष्ठ ८९ से ९८ तक चक्षु प्राप्यकारित्ववाद का खंडन किया है। पृ. ९९ से १०६ तक [illegible] के रूप में अन[illegible]हेतुता विचार किया गया है। पृ. १०८ से ११० में योगियों के या केवली के प्रत्यक्ष में मन की करणता का प्रतिषेध किया है। पृ. १३४ से १४८ तक वर्णात्मक वेद के नित्यत्वका निरसन किया है। पृ. १४९ से १७२ में नैयायिक अभिमत शब्दमें गुणत्व का निरसन कर के द्रव्यत्व का स्थापन किया है।

इस स्तबक के अन्त में (पृ, १९६ से) दिगम्बर को अनभिमत केवलि के कवलाहार का, अनेक प्राचीन–नवीन युक्तियों का उपन्यास कर के विस्तार से समर्थन किया है और प्रवचनसार के व्याख्याकार अमरचन्द्र, न्यायकुमुदचन्द्रकर्ता प्रभाचन्द्र एवं सर्वार्थसिद्धि व्याख्याकार आदि के मतों की विस्तृत समालोचना की गयी है।

११ वे स्तबक में मूलग्रन्थकार ने, शब्द अर्थ के बीच तात्त्विक सम्बन्ध का निषेध कर के अपोह को शब्दवाच्य मानने वाले बौद्धमत का विस्तार से निरसन किया है। (कारिका १ से २९)

इस की व्याख्या में शब्द का वाच्यार्थ क्या है इस विषय में भिन्न भिन्न मतों का उल्लेख कर के उन सभी का निरसन किया है, अपोहवाद का सविस्तर खंडन कर के तात्त्विक सम्बन्ध की उपपत्ति की गयी है। इस प्रकरण में व्याख्याकार ने सम्मतितर्क के दूसरे खंड के प्रारम्भिक अंश का पूर्णतः उपयोग किया है।

उस के बाद मूलग्रन्थकारने कारिका ३० से ४८ तक एकान्त ज्ञानवादी एवं एकान्त क्रियावादी दोनों का खंडन कर के ज्ञान–क्रिया उभय के मिलने से मुक्ति होने का समर्थन किया है।

व्याख्याकारने ९ वे स्तबक में ही इस विषय का अधिक विस्तार कर दिया है, अत एव यहाँ ज्यादा विस्तार नहीं किया है, फिर भी ४८ वी कारिका की व्याख्या में उभय हेतुता का अच्छा विचार उपस्थित किया है। ज्ञान प्रदीपतुल्य है, तप है सावरणी से प्रमार्जन करने तुल्य, और संयम द्वारपिधान तुल्य है। ये तीनों आत्मगृह की शुद्धि में एक साथ आवश्यक है–यह सुंदर बात पृ. ३०१–३०२ में की गयी है। कारिका ४९ से मूलग्रन्थकारने मुक्ति में जन्म–जरा–मृत्यु–रोग-शोकादि के अत्यन्ताभाव का एवं शाश्वत सुख का सुंदर वर्णन किया है।

ग्रन्थ के अन्त में स्त्रीमुक्ति का निषेध करनेवाले अप्रामाणिक दिगम्बर मत की व्याख्याकार ने विस्तारसे आलोचना प्रस्तुत की है ।

शास्त्रवार्त्ता के प्रत्येक खंड की प्रस्तावना में ग्रन्थगत विषय का संक्षिप्त निर्देश किया है और वहाँ विस्तार से विषयानुक्रम भी दिया हुआ है । सिंहावलोकन न्याय से फिर से एकबार यहाँ स्मरण कर ले ।

प्रथम स्तबक में:-मंगलवाद-मुक्तिसुखवाद-अविरत सम्यग्दृष्टि निषिद्धकर्मप्रवृत्तिचर्चा-पातंजलमतानुसार वृत्तिनिरोध विमर्श-नास्तिकवादनिरसन-सदसत्कार्यवाद-अवयविस्वातन्त्र्यनिषेधचर्चा-अन्धकार भाववाद-अभावज्ञाने प्रतियोगिज्ञानकारणताविचार-ज्ञानस्वप्रकाशवाद-अदृष्टपौद्गलिकत्ववाद...इत्यादि ।

द्वितीय स्तबक में :- पुण्य पाप नियमविचार-शब्दस्वतन्त्रप्रमाणसिद्धिविचार-पातंजल माध्यस्थ्योदयविमर्श-हिंसा अहिंसा विचार-वेदविहितहिंसासदोषत्वचर्चा-आत्मकालस्वभाव-नियति-कर्मएकान्तनिरसन...इत्यादि,

तृतीय स्तबक में :- ईश्वरकर्तृत्वनिरसन-सांख्यपुरुषप्रकृतिवादविमर्श-सांख्यसत्कार्यवादनिरसन...इत्यादि

चतुर्थ स्तबक में :- भावक्षणिकत्वहेतुचतुष्टयविचार-बाह्यार्थसिद्धि-सन्तानसामग्रीपक्षद्वयचर्चा-योग्यानुपलब्धिविमर्श-अभाव अधिकरण अभेदचर्चा-समवाय निरसन-क्षणिकवादबाधकविमर्श-निर्विकल्पसविकल्पज्ञानद्वयचर्चा-'घटपटयोरूपप्रयोगविचार...इत्यादि,

पाँचवे स्तबक में :- विज्ञानवादियोगाचारमत-उदयन-गंगेशकृतयोग्यतालक्षणसमीक्षा-ज्ञानबाह्यार्थभेदपक्षसमीक्षा-बौद्धदेवेन्द्रचित्रज्ञानसमीक्षा...इत्यादि,

छट्ठे स्तबक में :- क्षणिकत्व साधकहेतुचतुष्टयसमीक्षा वस्तुनित्यानित्यत्वसिद्धि-चित्ररूपवाद-क्षणिकवादिउपदेशप्रयोजनान्वेषण...इत्यादि,

सातवे स्तबक में :- जैन सम्मत अनेकान्तवादउत्पादादित्रयात्मकसत्त्वविचार-नैयायिकाभिमतजातिनिरसन-सामान्यविशेषोभयात्मकवस्तुवाद-द्रव्यास्तिक पर्यायास्तिकनयवाद-नयप्रमाणभेदचर्चा-अवयवीवाद-अद्वैतवादनिरसन-नामादि निक्षेपचतुष्टय-एवकारअर्थविचार-सप्तभंगव्युत्पादन-चित्राकार ज्ञानवाद-भेदाभेदसिद्धि-अनेकान्तवाददोषनिरसन....इत्यादि,

आठवे स्तबक में वेदान्तमतपूर्वपक्ष-तदुत्तरपक्षप्रपञ्चमिथ्यात्व-अज्ञान साधक-आभासवाद-प्रतिबिम्बवाद सालोक्यादिमुक्तिभेदचतुष्टय-ईश्वरे मायावृत्ति-पञ्चीकरण-संन्यासअधिकारिविशेषणता-तत्त्वमसिपदार्थ-वेदार्थ अनिश्चय-दृष्टिसृष्टिवादनिरसन-अविद्यानिरसन-महाविद्यानुमाननिरसन...इत्यादि

नवमे स्तबक में :- मोक्षोपायविमर्श-सम्यग्दर्शन-ज्ञानयोग-ज्ञानकर्मसमुच्चय-सवासनमुक्तिवाद-धर्मशुक्लध्यान-मुक्तौ चारित्रसत्ताविमर्श-इच्छादियोगत्रय...इत्यादि

दसवे स्तबक में सर्वज्ञसिद्धि-धर्माधर्मव्यवस्था-आगमप्रामाण्यप्रतिष्ठा-आगमविषयशुद्धि-अभावहेतुताविमर्श-वेदनित्यतानिरसन-वस्तु - सम्बन्धिस्वभावस्थापन - प्रामाण्यस्वतःपरतोवाद - उपमानस्य प्रत्यभिज्ञान्तर्भाव-चक्षुःअप्राप्यकारित्ववाद-शब्दगुणत्वनिरसन-केवलीकवलाहार...इत्यादि,

११ वे स्तवक में :– शब्दार्थसम्बन्धस्थापन–अपोहवादनिरसन–एकान्तज्ञानवादनिरसन–एकान्तक्रियावादनिरसनमुक्तिस्वरूपवर्णन–स्त्रीमुक्तिसिद्धि...इत्यादि,

इस प्रकार शास्त्रवार्त्ता० और उसकी स्याद्वादकल्पलता व्याख्या में दार्शनिक जगत के अनेकानेक सिद्धान्तों की छानबीन की गयी है । इतने बहुसंख्य गहन विषयों की चर्चा अन्य किसी एक ही ग्रन्थ में मिलना दुर्लभ है, अत एव जिज्ञासुओं के लिये यह ग्रन्थ अवश्य पठनीय-मननीय है ।

ऋणनिर्देश :–शास्त्रवार्त्ता० का सम्पादन कार्य पूर्ण हुआ है यह बडे आनन्द की बात है। इस का श्रेय श्री तीर्थंकर–गणधर भगवंतों एवं गुरुदेवों की कृपादृष्टि को है । जिन्होंने मेरे आध्यात्मिक उत्थान में भरसक रस लेकर मुझे विरतिमार्ग में आगे बढाया वे स्व० परमगुरुदेव–सुविशालगच्छाधिपति सिद्धान्तमहोदधि–कर्मसाहित्यप्रदीप–त्रिशताधिकमुनिगणनेता श्रीसंघहितप्राधान्यदाता कृपालु–पूज्यपाद आचार्यवर्य श्रीमद् विजयप्रेमसूरीश्वरजी महाराजा के करुणामृत की धारा से ही इस ग्रन्थ का सम्पादन नवपल्लवित हुआ है ।

आप के अनन्य कृपापात्र पट्टालंकार, हजारों युवकों का शिबिर के माध्यम से पुनरुत्थान करने वाले, शास्त्र के नाम से किये जाने वाले फिजुल जुल्मों का प्रतिकार करने वाले प्रवर साहसिक, न्यायविशारद, १०८ आयंबीलवर्धमानतपसमाराधक, श्री संघहितदर्शी, ननामी पत्रिका के माध्यम से गालीकर्दम उछालने वाले नामर्दों के प्रति असीम करुणावर्षी, पूज्यपाद आचार्यदेव श्रीमद् विजय भुवनभानुसूरीश्वरजी महाराजा के निरंतर बरसते रहे कृपामेघ ही इस ग्रन्थ के सम्पादन में प्राणपूरक रहा है ।

आप के पट्टालंकार सिद्धान्तदिवाकर–सुदृढसंयमालंकार–आर्षप्रवचनप्रभावक–पूज्यपाद गुरुदेव श्री विजय जयघोषसूरीश्वरजी महाराजा की अमूल्य सहाय के बिना ऐसे कार्य की सम्भावना ही नहीं हो सकती ।

विशेषतः दूर–निकटवर्त्ती अनेकानेक शुभेच्छक मुनिवृंद की सहानुभूति एवं पू. मुनिराजश्री नंदीघोष विजय, पू. तपस्विरत्न मुनिश्री जयसोम विजय तथा मुनिश्री मनोरत्न विजय आदि सेवाभावि मुनिओं का दृढ सहकार न मिलता तो इस ग्रन्थ के प्रस्तावनादि के लेखनकार्य के लिये मैं कभी समर्थ न हो सकता ।

कोल्हापुर के शाहुपुरी जैन श्वेताम्बर संघ के अग्रणीयों द्वारा की गयी महती सेवा को भी मैं कैसे भूल सकूँगा ?

शासनदेव को यही प्रार्थना है कि ऐसे उत्तम ग्रन्थरत्न के स्वाध्याय द्वारा अधिकृत मुमुक्षु वर्ग कदाग्रह विष का उद्गिरण कर के आत्महित को सिद्ध करें ।

वि. सं. २०४४ }

लि०
जयसुंदरविजय

सम्पादकीय

शास्त्रवार्त्ता० के सम्पादन में किसी एक व्यक्ति का नहीं किन्तु अनेक महानुभावों का योगदान रहा है । निम्न लिखित इतिवृत्त को पढने से यह भलीभाँति अवगत होगा ।

वि. सं. २०२६ में पूज्यपाद गुरुदेव आचार्यश्री विजयभुवनभानुसूरि महाराज (उस वक्त पंन्यास प्रवर श्री भानुविजय गणिवर) कलकत्ता की ओर विहार करते हुए वाराणसी पधारे । जिन के पास उन्होंने नव्यन्याय का अभ्यास किया था वे संपूर्णानन्द संस्कृत युनिवर्सिटी के प्रोफेसर पंडितराज श्री बदरीनाथजी शुक्ल उस वक्त वहाँ ही थे, परस्पर मिले, अनेक दार्शनिक चर्चाएँ हुयी । परस्पर विचार-परामर्श हुआ तब यह निश्चित किया गया कि शास्त्रवार्त्ता० की स्याद्वादकल्पलता व्याख्या के अभ्यास का लाभ अनेक छात्रों को मिल सके एतदर्थ उसका हिन्दी विवेचन छपाया जाय ।

पंडितजीने हिन्दी विवेचन के निर्माण की जिम्मेदारी अपने शिर पर उठायी । पांडित्यपूर्ण स्याद्वादकल्पलता का विवेचन यह कोई जैसे तैसे पंडित का काम भी नहीं था । हर्ष की बात है कि विवेचन के लिये व्युत्पन्न पंडित मिल गये । पंडितजी ने वाराणसी में रह कर प्रथम स्तबक का विवेचन पूर्ण किया । पूज्य गुरुदेवश्री कलकत्ता-कानपुर दो चातुर्मास कर के गुजरात लौट आये । उन की कृपादृष्टि से अमदावाद में मेरा न्याय का अध्ययन ठीक चल रहा था । पूज्यश्री का चातुर्मास जब सावरकुंडला में वि. सं २०३० में हुआ उस वक्त अमदावाद में हमने पं. दुर्गानाथ झा के पास इसी ग्रन्थ का अध्ययन प्रारम्भ किया था ।

सावरकुंडला पूज्य गुरुदेवश्री को यह बात ध्यान पर उपरोक्त प्रथम स्तबक का हिन्दी विवेचन अमदावाद में मुद्रित कराने के लिये पूज्यश्रीने मेरे पास भेज दिया । पंडितजी रहे यु.पी. के, अतः उन के हस्ताक्षर ऐसे नहीं थे कि अमदावाद के कम्पोझीटर सरलता से पढ सके । इस लिये पहले तो ग्रन्थ के मूल-व्याख्या के पाठ से हिन्दी विवेचन को संयोजित करके लहिया के पास उस की प्रेस-कोपी लिखायी । पंडितजीने हिन्दीविवेचन तो अच्छा किया था, किन्तु जिस प्रत के आधार से उन्हों ने विवेचन किया था उस पूर्वमुद्रित प्रत के पाठों में कहीं कहीं अशुद्धियाँ बहुत थी । उसका शोधन करने के लिये मैंने संवेगी उपाश्रय-अमदावाद के हस्तलिखित ज्ञानभंडार से एक प्राचीन प्रत निकाली और वह प्रत पूरे १ से ११ स्तबक के मूल-व्याख्यापाठ के संशोधन में मेरे लिये अत्यन्त उपयोगी बन रही । शुद्ध पाठ की उपलब्धि से पंडितजी को भी अग्रिम स्तबकों के हिन्दी विवेचन में सरलता रही ।

अमदाबाद में पहले स्तबकका मुद्रण शुरू होने के बाद पूज्य गुरुदेवश्री का चातुर्मास जामनगर हुआ । वहाँ दिवाली वेकेशन में पंडितजी एक मास के लिये गये थे और उतने अवधि में वहाँ दूसरे और तीसरे स्तबकका हिन्दी विवेचन अपने समक्ष मुनियों को बैठा कर लिखवाया था । जामनगर के बाद वि. सं. २०३२ का चातुर्मास पूज्यश्री ने अमलनेर (खानदेश) में किया । मैं भी उस वक्त पूज्यश्री के साथ था । पंडितजी वहाँ आये और करिबन आठ मास तक यह कार्य चलता रहा । यद्यपि पहला स्तबक दिव्यदर्शन ट्रस्ट की ओर से प्रकाशित होने वाला था, किन्तु पंडितजी की इच्छा एवं सूचना से वह पहला खंड चौखम्बा ओरियन्टालिया 'वाराणसी (U.P.) की ओर से प्रकाशित करवाया गया । अमलनेर में पंडितजी को रहने के लिये शीतल बिल्डिंगवाले मलुकचंदजी के पुत्रों ने अपने बिल्डिंग में एक पूरा फ्लेट ही खाली कर दिया । एवं नेमिचन्द्-मिश्रीमल बन्धुयुगल की ओर से पंडितजी के लिये संपूर्ण भोजन-पानी इत्यादि का प्रबन्ध हो गया ।

मैं और दूसरे भी अनेक जिज्ञासु मुनि आदि प्रातः ९ से १२ और दुपहरे ३ से ६ घंटे तक पंडितजी के पास अध्ययन के लिये बैठते थे । साथ साथ शास्त्रवार्त्ता के चौथे स्तबक का विवेचन चालु कर दिया । पहले तीन स्तबकों के विवेचन से इस में कुछ विशिष्टता यह थी कि पहले तीन स्तबक में परस्पर विचार-परामर्श नहीं हुआ था जब कि इस में पहले प्रातः तीन घंटे स्याद्वादकल्पलता की पंक्ति—पृष्ठों पर काफी प्रश्नोत्तर रूप में परामर्श होता था उस के बाद दुपहर तीन घंटे विवेचन लिखने का कार्य होता था और लिखते समय भी नया परामर्श होता था । इस प्रकार पंडितजी के और हमारे समवायी प्रयत्नों से स्तबक ४-५-६-७ और ८ का हिन्दी विवेचन अमलनेर में हो सका । बाद में अमलनेर से हमारा विहार हुआ और पंडितजी वाराणसी लौट गये । वहाँ जाने के बाद वे संपूर्णानन्द संस्कृत युनिवर्सिटी के वाइस चान्सलर पद पर नियुक्त हो जाने से ९-१०-११ स्तबकों के विवेचन में काफी विलम्ब होने पर भी आखिर उन्होंने पूरा लिख कर भेज दिया ।

मुद्रणालय में देने के पहले १ से ११ स्तबकों की संपूर्ण प्रेसकोपी के सुवाच्य सम्पादन—संस्कृत ग्रन्थ का प्राचीन प्रत के आधार से संशोधन, उस में योग्य रीति से परिच्छेदों का वर्गीकरण तथा पूर्वपक्ष-उत्तरपक्ष की पंक्तियों का अभ्रान्त विभाजन एवं उद्धृत पाठों के मूल स्थानों का यथासंभव अन्वेषण कर के उनका उल्लेख करना तथा उन मूलग्रन्थों के उद्धरणों की व्याख्या के साथ यहाँ हिन्दीविवेचन की तुलना कर लेना, कुछ वैपरीत्य हो तो सुधार लेना और अकारादि क्रम का परिशिष्ट बनाना इत्यादि सम्पादन कार्य की जिम्मेदारी मेरे सीर पर रही । तथा हिन्दी विवेचन की प्रेसकोपी का भी अच्छी तरह सम्पादन, बीच बीच में विषय के अनुरूप शिर्षक लगाना, परिच्छेदों का समुचित विभाजन करना, पूर्वपक्ष-उत्तरपक्ष की पंक्तियों को अलग कर दिखाना, विवेचन में कोई त्रुटि हो उस को सुधारना—संशोधन करना, आवश्यकता के अनुसार टीप्पण लिखना तथा मुद्रण के काल में सभी प्रुफों को जाँचना और हर स्तबकों के विस्तृत विषयानुक्रम शुद्धिपत्रक तैयार करना ...इत्यादि कार्यों की जिम्मेदारी भी मेरे सीर पर

रही । इस को अच्छी तरह अदा करने में मेरे से त्रुटि हो गयी हो तो उस के लिये क्षमायाचना । प्रेसकोपी का सम्पादन संशोधन (निरीक्षण) कार्य हो जाने के बाद पूज्यपाद गुरुदेवश्री विजयभुवनभानुसूरीश्वरजी महाराजा भी उसका सूक्ष्म दृष्टि से जाँच निरीक्षण कर लेते थे, जिस से कोई त्रुटि रह गयी हो तो वह निकल जाय । कइ जगह आपने भी आवश्यकतानुसार टिप्पण लिखे हैं । प्रथमस्तबक में कई टीप्पण पंडितजीने अपने आप भी लिखे हैं ।

शुद्धप्रेसकोपी के लेखनकार्य में स्व. मुनिश्री हितेश्वरविजय महाराज का अच्छा सहकार निःसंकोच मिलता रहता था ।

पहले स्तबक का मुद्रण अमदावाद में रामानन्द प्रिन्टींग प्रेस में हुआ । २-३-४ स्तवकों का मुद्रण पिंडवाडा (राज०) ज्ञानोदय प्रिन्टींग प्रेस में हुआ । ५-६-७-८ और नववें स्तबक का मुद्रण ब्यावर (राज०) गौतम आर्ट प्रिन्टर्सने किया । १० और ११ वें स्तबक का मुद्रण भरत प्रिन्टरी अमदावाद में हुआ—इस प्रकार अमदावाद से मुद्रणयात्रा का प्रारम्भ और अमदावाद में ही उस की समाप्ति हुयी । ये सभी मुद्रक धन्यवाद के पात्र बने हैं ।

हिन्दी विवेचन के निर्माण में एवं पूरे ग्रन्थ के मुद्रण में विविध ग्राम नगरों के जैन श्वे. मू. जैन संघों के ज्ञाननिधि में से अच्छा आर्थिक सहयोग मिला है । वे सभी संघ भी धन्यवाद के पात्र हैं । प्रत्यक्ष या परोक्षरुप से दूर निकटवर्त्ती मुनिवृंद का जो कुछ सहयोग मिला है वह अविस्मरणीय है। पूज्यपाद स्व. आ. श्री प्रेमसूरीश्वरजी महाराजा, प. पू. आ. श्री भुवनभानुसूरि महाराजा, प. पू. मुनिराजश्री धर्मघोषविजय महाराज एवं उनके शिष्यरत्न प.पू.आ. श्री जयघोषसूरिमहाराजा इन सब गुरुदेवों की कृपा से किये गये इस विशाल ग्रन्थ के संशोधन सम्पादन कार्य से जो कुछ पुण्यार्जन हुआ इस से भव्यजनों को अज्ञानविरह हो यही शुभेच्छा ।

वि. सं. २०४४ }
कोल्हापुर }

लि० जयसुंदरविजय

संकेतसूचि

बृ. सं.	बृहत्संग्रहणी	सामा.	सामाचारीप्रकरण
पञ्च. नि. चू.	पञ्चकल्पाणनिर्युक्ति चूर्णि	वा. प.	वाक्यपदीय
त. सं.	तत्त्वसंग्रह	न्या. कु.	न्यायकुसुमाञ्जलि
श्लो. वा.	श्लोकवार्त्तिक	प्र. सार	प्रवचनसार
यो. स.	योगदृष्टिसमुच्चय	श्रा. प्र.	श्रावकप्रज्ञप्ति
प्र. वा.	प्रमाणवार्त्तिक	स्था.	स्थानाङ्ग
उप. माला	उपदेशमाला	प्र. र.	प्रशमरति
वि. आ.	विशेषावश्यकभाष्य	ल. वि.	ललितविस्तरा
आ. नि.	आवश्यकनिर्युक्ति	दशवै.	दशवैकालिक
त. सू.	तत्त्वार्थसूत्र	आचा.	आचाराङ्ग
अ. म. प.	अध्यात्ममतपरीक्षा		

ग्रन्थानुक्रमणिका

विषय	पृष्ठ
प्रकाशकीय निवेदन	३
प्रस्तावना	४
सम्पादकीय	९
विषयानुक्रमः	१२
नवमः स्तबकः	**१ से १३४**
व्याख्यामंगलाचरणम्	१
भगवान् महावीर के चरणों की नखकान्ति का संस्तव	१
शंखेश्वरपार्श्वनाथ भगवान् के नामोच्चारण का प्रभाव	२
जिनशासनकी सर्वोत्तमता	२
मोक्षप्राप्ति के उपाय का अस्तित्व है ? पूर्वपक्ष	३
मोक्षोपाय कर्मपरिणतिसापेक्ष -इस आशंका का निरसन	४
मोक्ष का उपाय: ज्ञान-दर्शन-चारित्र -उत्तरपक्ष	६
नैयायिक अभिमत मोक्ष की समीक्षा	६
चरमदुःखध्वंसस्वरूप मोक्ष मानने में बाधा	७
दुःखध्वंस या दुःखात्यन्ताभावरूप मोक्ष -एकदेशी	८
परमात्मा में आत्मा के लयस्वरूप मुक्ति-त्रिदण्डि	९
निरुपप्लव चित्तसन्तति मोक्ष-विज्ञानवादिबौद्ध	९
मुक्ति स्वातन्त्र्य स्वरूप है	११
प्रकृति और उसके विकारों का विलय मुक्ति-सांख्य	११
अग्रिमचित्तानुत्पादसहित पूर्वचित्तनाश मुक्ति-बौद्ध	१२
नित्यनिरतिशयसुख की अभिव्यक्ति मोक्ष -मीमांसक	१३
अविद्या निवृत्त होने पर केवल आत्मस्वरूप मुक्ति -वेदान्ती	१४
ज्ञानमात्र मोक्षोपायवादी वेदान्तीका निरसन	१५
प्रारब्धकर्म में अज्ञाननिवृत्ति प्रतिबन्धकत्व असंगत	१६
सम्यक् क्रिया भी मुक्ति का हेतु	१७
योगात्मक क्रियामात्र मोक्षोपायवादी पातंजलमतसमीक्षा	१८
ज्ञान-कर्म समुच्चय से मोक्ष-वशिष्ठाभिप्राय	१९
ज्ञान-कर्म तुल्यवत् समुच्चयवादी भास्करमत	२०
ज्ञान के साथ कितने कर्म मोक्षजनक ?	२१
भास्करमत की समीक्षा	२१
द्रव्यात्मक अदृष्टसिद्धि में बाधक शंका का निरसन	२२
कर्म से तत्त्वज्ञानद्वारा मोक्षलाभ-उदयनाचार्य	२३
उदयनाचार्यमत की समीक्षा	२३
ज्ञान-कर्मसमुच्चयवाद का समर्थन	२५
ज्ञानमात्र से मोक्ष-नव्यमत	२६
नव्यमत-निरसन युक्तियाँ	२७
नग्नता का आग्रही दिगम्बरमत	२८
दिगंबरों का निर्वस्त्र-निर्ग्रन्थता का समर्थन	२९

विषय	पृष्ठ
दिगम्बरमत का खण्डन	२९
वस्त्रादिपरिग्रह में एकान्तिक छेद की आशंका	३२
एकान्तिक छेद की आशंका का समाधान	३२
वस्त्रादि के परिग्रह में ग्रन्थ व्यवहार असिद्ध	३४
वस्त्रादि में ग्रन्थत्वसाधक अनुमान का भंग	३६
स्वत्वपर्याय से वस्त्रादि में परिग्रह की आपत्ति-नि.	३६
मूर्च्छाविषयत्व या कषायोपाय विषयत्वरूप स्वत्व असमान्य	३७
नये ढंग से स्वत्व के निर्वचन में भी अन्योन्याश्रय	३७
विभिन्न प्रकार के स्वत्व पक्ष में अनुगत व्यवहार अनुपपन्न	३८
तृष्णाशून्य स्वत्वपर्याय अबाधक-श्वेताम्बर	३९
आहार और वस्त्रादि तुल्यरूप से अपरिग्रह	४०
वस्त्रादि के धारण से प्रमाद की शंका का निरसन	४०
वस्त्रादि आत्मदर्शन के बाधक नहीं	४१
आहारवत् वस्त्रादि उपकरण दुस्त्यज	४२
वस्त्रधारण का विधान नियमविधिरूप	४४
वस्त्रग्रहण में जीवोत्पत्ति आदि दोष का निरसन	४५
वस्त्रग्रहण के अनेकलाभ	४६
पात्रग्रहण से अनेक लाभ	४७
अभ्यन्तरतपविरोधी बाह्यतप अग्राह्य	४८
वस्त्रादि साक्षात्-परम्परया मुक्तिसाधक न होने की शंका का निरसन	४९
दिगम्बर के मूल अनुमान में क्षतियाँ	५०
वस्त्रग्रहण से पच्चक्खाण का भंग नहीं	५१

विषय	पृष्ठ
द्रव्यादिपरिणति आत्मधर्म नहीं है	५२
वस्त्रादि संनिधान में आत्मरति अबाधित	५३
स्वयंगृहीत वस्त्र में भी रति के अभाव का संभव	५४
संरक्षणानुबन्धि रौद्रध्यान को अवकाश नहीं	५५
क्षुधापरिषह जय की भाँति आचेलक्यपरीषह विजय	५७
सचेलकत्व आचेलक्य का विरोधी नहीं	५८
तीर्थंकरादि में भी पूर्ण आचेलक्य अप्रसिद्ध	५९
अनुकरण छोड़ो, आज्ञापालन करो	६०
दिगम्बरमतनिरसन उपसंहार	६१
पर्यायपदों से दर्शन की स्तवना	६२
सम्यग्दर्शन के अभिव्यंजक शमादि लक्षण	६४
मोक्षोपाय सभी को सुलभ क्यों नहीं ?	६७
मुक्तदशामें कोई भेदभाव नहीं होता	६८
प्रथमसम्यग्दर्शन के प्रादुर्भाव की शेष प्रक्रिया	६९
अपेक्षित कर्मस्थितिह्रास सर्वजीव में असम्भव	७०
पूर्वपूर्वगुणसम्पदा से उत्तरोत्तर गुणवृद्धि	७२
प्रथम सम्यग्दर्शन भी निर्गुण को प्राप्त नहीं होता	७३
भव्यत्व की शंका से योग्यत्व का निर्णय	७४
भवस्थितिकारक दुरित का ज्ञान उसके नाश में सहायक	७५
सर्वजीवों को मुक्तियोग्य मानने में आपत्ति	७६
सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के उत्तरोत्तर परिणाम	७७

विषय	पृष्ठ
सुश्रूषा आदि क्रम से तत्त्वश्रद्धान का उदय	७८
संसार एक भीषण समुद्र	७८
सम्यग्दृष्टि को भवस्वरूप का यथार्थ दर्शन	७९
संवेगगर्भित आत्मविचारणा	८१
नारक आदि चार गति में दुःख ही दुःख	८२
चारगति के दुःख का वर्णन-उपदेशमाला	८४
सुख का आविर्भाव एकमात्र मोक्ष में	८५
भवनैर्गुण्यदर्शी को मोक्षार्थ निरन्तर उत्साह	८७
मुक्ति की साधना वास्तव में दुष्कर नहीं	९१
शुद्धचारित्र-ध्यानारोहणादिक्रम से केवलज्ञान	९३
धर्मध्यान से शुक्लध्यान की ओर	९८
प्रथम शुक्लध्यान द्वितीयशुक्लध्यान पर	१००
सर्वकर्मक्षय की अन्तिमप्रक्रिया	१०१
समुद्घात की सविस्तर प्रक्रिया	१०२
समुद्घात में योगव्यापार	१०३
अयोगिकेवलि दशामें ध्यानसाधक हेतु पंचक का तात्पर्य	१०५
शुक्लध्यान की चतुर्थ अवस्था और सिद्धि	१०७
शुद्ध तप स्वरूप ज्ञानयोग से मुक्ति	१०८
मुक्ति में स्थिरतारूप चारित्र की अनिवृत्ति	११०
मोक्ष में चारित्र का असंभव-एकनयमत	१११
क्षायोपशमिक चारित्र का क्षायिकभाव में रूपान्तर	११२
शरीरपात के साथ ज्ञानविनाश आपत्ति का परिहार	११३
वीर्यरहित सिद्धों को चारित्र कैसे ?	११५
शाश्वत चारित्र में सादिसान्तत्व की अनुपपत्ति	११६
अविकारि चारित्रगुण के ऊपर तीन विकल्प	११७
अविकारित्वरूप चारित्र के उपपादन का नव्यप्रयास	११७
चारित्र उपपादक नव्यमत का निरसन	११८
अक्रिया से मोक्ष सूचक वचन की संगति	११९
निश्चयनय से चारित्र में मोक्षहेतुत्व का समर्थन	१२०
चारित्र का अभाव मानने पर कोई आपत्ति नहीं	१२१
सिद्धात्मा में चारित्रकल्पना आगमबाह्य	१२३
चारित्रात्मा की सर्वाल्पसंख्या से चारित्राभाव की मुक्ति में सिद्धि	१२४
एकदेशीमत समक्ष दूसरे पक्ष का निवेदन	१२४
क्षायिकभाव की अविनश्वरता	१२५
फलाभाव से चारित्राभाव की सिद्धि अशक्य	१२७
चारित्र और ज्ञान में वैलक्षण्य का उपपादन	१२७
सर्वाल्पसंख्याबोधक वचन क्रियात्मक चारित्र के लिये	१२९
ज्ञानयोग से मुक्ति यह बात वेदान्तमत की अपेक्षा से	१३०
इच्छायोग-शास्त्रयोग-सामर्थ्ययोग	१३१
सामर्थ्ययोग के बिना केवल शास्त्रबोध अपूर्ण	१३१
धर्मसन्यास और योगसन्यास	१३२
योगदृष्टिसमुच्चय ग्रन्थ में इच्छादि तीन योग	१३२
स्तबक-९-शुद्धिपत्रक	१३५

विषय	पृष्ठ
दशमस्तबकः	**१ से २२२**
व्याख्याकारकृतमंगलाचरणम्	१
वर्धमान-पार्श्वजिन-वाग्देवता स्तुति	१
सर्वज्ञसिद्धि विरोधी पूर्वपक्षवार्त्ता	२
प्रत्यक्ष और अनुमान से सर्वज्ञसिद्धि असंभव	३
किसी भी प्रकार अनुमान से सर्वज्ञसिद्धि अशक्य	३
प्रमेयत्वहेतु में असिद्धि आदि दोष	४
आगमप्रमाण से सर्वज्ञसिद्धि अशक्य	५
उपमानप्रमाण से सर्वज्ञसिद्धि का असम्भव	५
अर्थापत्तिप्रमाण से सर्वज्ञसिद्धि का असम्भव	७
सर्वज्ञ अभावप्रमाण का विषय	८
अभावग्राहक स्वतंत्रप्रमाण की सिद्धि	८
अभावग्राहकप्रमाण अनुमानात्मक नहीं है	९
अभावप्रमाण के दो प्रकार	९
अधिकरणज्ञान को हेतु मानने में आपत्ति का निवारण	१०
आलोक की हेतुता और अहेतुता की आपत्ति	११
अभावप्रमाण में अपरोक्षता की आपत्ति का निवारण	१२
इन्द्रिय में अभावग्राहकता के अनुमान का निराकरण	१३
अभावज्ञान इन्द्रियजन्य होने की दीर्घ आशंका	१४
प्रत्यक्ष से सूक्ष्म-दूरवर्त्ती वस्तु का ग्रहण अशक्य	१५
धर्म-अधर्म आदि का ज्ञान प्रत्यक्षादि से असम्भव	१७
सर्ववस्तु विषयक स्पष्टज्ञान का असम्भव	१७
समाधिमग्नावस्था में वचनप्रयोग अशक्य	१९
धर्म-अधर्म की व्यवस्था वेदमूलक	१९
नित्यवेद में दोषों का असम्भव	२०
अप्रमा की तरह प्रमा के भी अतिरिक्त हेतु की आपादक शंका का निवारण	२०
विशेषदर्शनाभाव से प्रमा में अतिरिक्त हेतु की सिद्धि	२१
वैदिक प्रमा के लिये आप्तोक्तत्व का निश्चय अनावश्यक	२२
वर्णात्मकवेद में नित्यत्व का उपपादन	२२
महदशब्द से बारबार उच्चारण की उपपत्ति अनुचित	२४
शब्द के नित्यत्वपक्ष में सर्वदा सर्वोपलब्धि प्रसंग का निराकरण	२५
शब्दनित्यत्वपक्ष में गौरव का परिहार	२६
कोलाहल में तरतमताप्रतीति की अनुपपत्ति का परिहार	२७
विषयिता सम्बन्ध से शुकादि का कादिवर्ण जन्यतावच्छेदक	२८
वेदप्रामाण्य के लिये सर्वज्ञ कर्त्ता अनावश्यक	२९
सृष्टि का प्रारम्भ और अन्त असंगत है	३०
इष्टापूर्त्तादिकर्मों का स्वरूप	३१
वेद से ही वर्णाश्रमादि की व्यवस्था	३२
प्रत्यक्ष के अभाव से सर्वज्ञाभाव की सिद्धि अशक्य	३३
चार्वाकमत का निराकरण	३४
सर्वज्ञ का साधक अनुमानप्रयोग	३५
बाधादि दोषों का निराकरण	३५

विषय	पृष्ठ
सर्वग्राहि प्रत्यक्ष के आश्रयरूप में सर्वज्ञ की प्रसिद्धि	३७
कुछ कुछ वस्तु के ज्ञान से सर्वज्ञता वादी का अभिप्राय	३८
कुछ कुछ वस्तु के ज्ञान से सर्वज्ञता अनुपपन्न	३८
एक पदार्थ के परिपूर्ण ज्ञान से सर्वज्ञता	३९
सम्बन्धिस्वभावता पदार्थ का स्वरूप नहीं है-शंका	३९
शंका का प्रत्युत्तर	४०
सर्वसम्बन्धिता यह पदार्थ से सर्वथा अतिरिक्त नहीं है	४०
सर्वज्ञसाधक अनुमान	४१
हेतु में उपाधि की शंका का निरसन	४२
किसी एक घटसाक्षात्कार में विश्वविषयकत्व की सिद्धि	४२
'शंखः पीतः' इस दृष्टान्त में साध्यशून्यता की शंका	४३
शंका का प्रत्युत्तर	४३
आगमप्रमाण से सर्वज्ञसिद्धि	४३
उत्पत्ति में प्रामाण्य परतः	४५
प्रामाण्य में अतिरिक्त हेतुओं की आवश्यकता	४५
शब्द के प्रामाण्य में भी गुणों की अपेक्षा	४६
इन्द्रिय में भी दोष की तरह गुण की सत्ता भी वास्तविक	४७
अपौरुषेय वाक्य में अप्रामाण्य की आपत्ति	४७
अपौरुषेय वेद में निःस्वभावता की आपत्ति	४८
प्रभाकर-मिश्र-भट्ट के मतमें स्वतः प्रामाण्य का स्वरूप	४९
प्रभाकर और मिश्र के मत में लक्षणसंगति	४९
भट्ट के मत में स्वतः प्रामाण्य लक्षणसंगति	५०
प्रभाकर के मत का निरसन	५१
स्वतः प्रामाण्य मत में संशय की अनुपपत्ति	५१
प्रामाण्यनिश्चय होने पर भी संशय होने की उपपत्ति-आशंका	५२
अभ्यास के बिना प्रामाण्य निश्चय का अभाव-उत्तर	५३
नैयायिक के मत में संशयानुत्पत्ति का दोष	५४
प्रामाण्यज्ञान में विशेष्यतादि का ज्ञान सम्बन्धरूप से	५४
सामग्री के असामर्थ्य या व्यवसाय के प्रतिबन्धकत्व की शंका	५६
प्रतिबन्धकत्व की कल्पना में गौरव	५७
तद्विशेष्यकत्वावच्छिन्नतत्प्रकारकत्वरूप प्रामाण्य लेने पर निर्दोषता की शंका	५८
निर्दोषता की आशंका का निरसन	५८
व्यवसाय में भासमान सम्बन्ध का अनुव्यवसाय में भान अबाधित	५९
मुख्य विशेष्यता का निवेश असंगत	६०
अनभ्यास दशा में परतः प्रामाण्य का निश्चय	६०
परतः प्रामाण्यग्रहण में अनवस्थादोष निरवकाश	६१
अभ्यासदशा में इष्टसाधनता बुद्धि की प्रामाण्यग्रह में समानता	६२
कालान्तरभावि इष्टसाधनता का निश्चय अनुभवरूप	६२
प्रामाण्यज्ञान का प्रयोजन संशयह्रास	६३

विषय	पृष्ठ
प्रेक्षावत्ताहानि की शंका का उत्तर	६३
निष्कम्प प्रवृत्ति में प्रामाण्यनिश्चय अहेतु	६४
सर्वज्ञसाधक उपमान प्रमाण	६५
उपमान स्वतंत्र प्रमाण नहीं है-वैशेषिक	६६
उपमान स्वतंत्र प्रमाण है-मीमांसक	६७
वैधर्म्यग्राहक स्वतंत्रप्रमाण की आपत्ति	६७
'गवय'पद का शक्तिज्ञान उपमान का फल-नैया०	६८
वाक्य या अनुमान से शक्तिग्रह का असंभव	६८
अन्योन्याश्रय दोष का निरसन	६९
अनुमान से गवयपद की शक्ति का ग्रह-उपमानप्रतिपक्षी	७०
अनुमान से गवयपदशक्तिग्रह असंभव-नैया०	७१
मिश्र और नव्यनैयायिकों का मतभेद	७२
नव्यनैयायिक के साथ दूसरे विद्वानों का मतभेद	७२
युक्तिवादीयों के सामने दूसरे विद्वानों की आशंका	७३
दूसरे विद्वानों की शंका के प्रति युक्तिवादीयों का उत्तर	७३
उपमिति ज्ञान के प्रादुर्भाव की प्रक्रिया का निष्कर्ष	७४
उपमिति का प्रत्यभिज्ञा में अन्तर्भाव-व्याख्याकार	७६
प्रत्यभिज्ञाभेद न मानने पर नये प्रमाण की आपत्ति	७६
शतवर्षजीवित्वज्ञान का अनुमिति में अन्तर्भाव अनुचित	७७
अर्थापत्तिप्रमाण से सर्वज्ञसिद्धि	७८
वक्तृत्व असर्वज्ञता का अनुमापक होने की आशंका	७९
अग्नि और धूम में कार्यकारणता की सिद्धि	८१
गर्दभ में कुम्भकारकार्यत्व के प्रसंग का निरसन	८१
वक्तृत्व असर्वज्ञता का कार्य नहीं है	८२
अर्थापत्ति प्रमाण अनुमान से अभिन्न	८३
पक्षधर्मता से ही अनुमानोदयवादी नैयायिक मत	८५
नैयायिकमत की चिन्तनीयता	८५
व्यतिरेकव्याप्तिज्ञान स्वतन्त्रप्रमाण नहीं है	८६
हेतु और साध्य का ज्ञान क्रमिक होता है	८७
विरोधज्ञान अर्थापत्तिप्रमाण रूप नहीं है	८७
विशेषान्तरप्रकारक बुद्धि अर्थापत्तिरूप नहीं है	८८
सर्वज्ञ को अभावप्रमाण का विषय मानने में अज्ञान	८९
चक्षु अप्राप्यकारिता वादस्थल	८९
चक्षु तैजसकिरणमय होने की आशंका	९०
चक्षु में तैजसत्व का निराकरण-उत्तर	९१
दिवारात्रि से व्यवहितवस्तु के ग्रहण की आपत्ति	९१
प्राप्यकारित्वपक्ष में उक्तदोष तदवस्थ-प्रत्युत्तर	९२
उदयनाचार्य के समाधान का निरसन	९२
स्फटिक में अभेद प्रत्यभिज्ञा की अनुपपत्ति	९३
अप्राप्यकारितापक्ष में गौरव दोष का आपादन	९४

विषय	पृष्ठ
गौरव दोष का परिहार	९५
कुड्य और अन्धकार में प्रतिबन्धकता का समर्थन	९५
प्राप्यकारितापक्ष में एक साथ शाखाचन्द्रग्रहणापत्ति	९६
एक आपत्ति का परिहार करने पर अन्य आपत्ति	९७
शाखा-चन्द्र के एक साथ ग्रहण का समर्थन	९८
अभावांश का ग्रहण इन्द्रिय से	९८
अभावप्रमाण न मानने पर भी अपेक्षा की उपपत्ति	९९
अतिरिक्त अभावप्रमाणवादी को चक्रकदोषापत्ति	१००
अधिकरणादि अविषयक इदंत्वरूप से अभावज्ञान का सम्भव	१०१
वायु में रूपाभावप्रतीति न होने की आपत्ति	१०१
करणवैलक्षण्य के विना अभावग्रहण में वैलक्षण्य का असंभव	१०२
अज्ञातकरण से जन्य अभावज्ञान की अपरोक्षरूपता	१०३
ज्ञातअनुपलब्धि करण होने की संभावना का प्रतिक्षेप	१०३
अनुपलब्धि का ज्ञान अनुमान से-अन्यमत	१०४
अन्यदीयमत में अरुचि का बीज	१०४
अधिकरणविशिष्ट अभाव के ज्ञान की अनुपपत्ति	१०५
सर्वज्ञविरोधी प्रसंगसाधन का निरसन	१०६
यत्राप्यतिशयो...का निरसन	१०७
योगिप्रत्यक्ष में मन करण नहीं होता	१०८

विषय	पृष्ठ
योगजधर्मसहकृत नेत्र से योगिसाक्षात्कार की सम्भावना	१०९
धर्म-अधर्मादि ग्राहक सर्वज्ञज्ञान का उपपादन	११०
आगम सिर्फ शब्दात्मक ही नहीं है	१११
सर्वज्ञ में कामादि विकार की आपत्ति का निरसन	११२
सर्वज्ञविरोधी की अनेक पूर्वपक्षयुक्तियों का निरसन	११२
गृहीतग्राहित्व अप्रामाण्यप्रयोजक नहीं है	११३
लक्षण में यथार्थत्वादि के प्रवेश से दोषपरिहार अशक्य	११३
ज्ञान में ज्ञानविषयता का नियमन स्वभाव से	११४
परकीयरागादि के साक्षात्कार से कोई आपत्ति नहीं है	११५
सर्वज्ञज्ञान भ्रान्त हो जाने की आपत्ति निरवकाश	११५
समानकाल में उत्पादव्यय के व्यवहार की आपत्ति का परिहार	११६
सर्वज्ञ के विना भी सर्वज्ञ का ज्ञान शक्य	११६
वचनप्रयोग से समाधि का भंग नहीं होता	११७
दृष्टकारणविघात की आपत्ति का निरसन	११८
निरक्षरभगवद्भाषावादी दिगंबरमत का परिहार	११९
रागादिदोष में आवारकत्व का उपपादन	११९
अभ्यास से परमप्रकर्षभाव की शंका का परिहार	१२०
उत्कर्ष अपकर्ष के उक्त नियम के भंग की शंका का परिहार	१२१

विषय	पृष्ठ
सर्वज्ञ के बिना वेद से धर्माधर्म व्यवस्था की उपपत्ति	१२२
आचार और स्मृति में वेद बिना भी प्रामाण्य की शक्यता	१२३
स्वतन्त्रपुरुष के बिना वेदसम्प्रदायप्रवृत्ति असंगत	१२४
अनादि अन्धसंप्रदायवत् वेदसम्प्रदाय का अप्रामाण्य	१२४
वेदार्थ में लौकिकपदार्थतुल्यता अघटित	१२५
वेद में प्रदीपादिवत् अप्रकारकता	१२८
संकेतापेक्षा होने पर स्वतः प्रामाण्य भंग	१२८
वेदव्याख्या में अपौरुषेयता का असंभव	१२९
स्वनामनिर्देश के बिना भी स्वाभिप्राय निवेदन का सम्भव	१३१
पदों की शक्ति का अर्थमात्र में सम्भव	१३१
सर्वज्ञप्रणेता के बिना प्रामाण्य की अनुपपत्ति	१३२
वेदवत् लौकिक वाक्यों में अपौरुषेयत्व की प्रसक्ति	१३३
व्यंजकपक्ष में कार्यद्रव्य के असत्त्व की आपत्ति	१३४
अनित्यपक्ष में परार्थोच्चारण की उपपत्ति	१३४
जाति में शक्तिमानी मीमांसकमत का परिहार	१३४
गकारादि में शब्दत्वजाति अनिवार्य	१३५
प्रत्यभिज्ञा से शब्द में एकत्वसिद्धि का असंभव	१३६
शब्दनित्यतावादी का सविस्तर प्रतिपादन अबाधक	१३६
ज्ञात और ज्ञायमान में ऐक्य निरापद	१३७
उत्पत्ति की प्रतीति में भ्रान्तता अनुपपन्न नहीं	१३७
प्रत्यभिज्ञा में सजातीयाभेदविषयकता का निराकरण	१३८
सविस्तर प्रतिपादन का निरसन	१३८
तार-मन्द्रता शब्दों में आरोपित नहीं है	१३९
तार-मन्द्रता को ध्वनि के धर्म मानने में आपत्ति	१३९
विजातीय वायुसंयोग में कारणता की अनुपपत्ति	१४०
खण्डितवर्णश्रवण की आपत्ति	१४०
संस्कारावच्छेदकावच्छेदेन शब्दग्रहण की आशंका	१४१
घटवत् शब्द में सभागत्व की प्रसक्ति-उत्तर	१४१
एक शब्द के श्रवण में सर्वशब्दश्रवणापत्ति	१४२
द्रव्यस्वभाव से आधान में शब्दपरिणामिता सिद्धि	१४३
शब्द अनुत्पत्तिपक्ष में कोलाहलप्रतीति की अनुपपत्ति	१४३
भिन्न भिन्न वायुसंयोग को कारण मानने में गौरव	१४४
गुणविशेष की कारणता की शंका का उत्तर	१४४
विषयिता सम्बन्ध से जन्यतावच्छेदकता मानने पर आपत्ति	१४५
व्यञ्जक द्वारा श्रोत्र के संस्कारपक्ष में वर्णग्रहणापत्ति	१४६
प्रतिनियतवर्णग्रहणानुकूल संस्कारजनक व्यञ्जक की आशंका	१४६

विषय	पृष्ठ
इन्द्रियसंस्कारजनक व्यञ्जक से पृथक् पृथक् संस्कार अयुक्त-उत्तर	१४७
वायुसंयोग से श्रोत्र संस्कार की अनुपपत्ति	१४८
शब्द द्रव्य नहीं-गुण है -नैयायिक पूर्वपक्ष	१४९
शब्द से बहिरिन्द्रियसिद्धि और शब्द आकाश का गुण	१४९
हेतु के उभय अंश की सार्थकता	१४९
साध्याऽप्रसिद्धि की शंका का निरसन	१५०
शब्द को द्रव्य मानने में बाधक और संकट	१५१
एकद्रव्याश्रितत्व हेतु वायु में व्यभिचारी होने की शंका का निरसन	१५१
उद्भूतरूपजन्यता द्रव्यचाक्षुष में ही सीमित करने में गौरव	१५२
वायु में स्पार्शनप्रत्यक्षविषयता की शंका का उत्तर	१५३
वायु के स्पार्शन प्रत्यक्ष के प्रतिक्षेप में स्वतन्त्रमत	१५३
स्वाश्रयसमवायसम्बन्ध से त्वचाभाव की प्रतिबन्धकता-एकदेशी	१५४
एकदेशी के मत की असमीचीनता	१५५
महत्त्व उद्भूतस्पर्श के प्रवेश में गौरव का निरसन	१५६
शब्दगुणत्ववादी नैयायिकमत का प्रतिकार-उत्तरपक्ष	१५७
शब्द में द्रव्यत्वसाधक अनुमान	१५८
शब्दान्तरारम्भवाद से श्रवणप्राप्ति-नैयायिक	१५९
बाणादि द्रव्य में क्षणिकत्वापत्ति-जैन	१५९
शब्द परिणामी द्रव्य होने से शास्त्रकथनसंगति	१६०
ककारादि के लौकिक प्रत्यक्ष की नव्यदृष्टि से उपपत्ति	१६१
नव्यदृष्टि से किये गये कथन की आलोचना	१६२
गुणवान् होने से शब्द में द्रव्यत्वसिद्धि	१६३
अल्पतादि के अनुभव से शब्द में गुणसिद्धि	१६४
तीव्र-मन्दता से अल्प-महत्त्व प्रतीति मानने में दोष	१६५
वायु प्रतिनिवर्त्तन से सिद्ध संयोग से शब्द में द्रव्यत्वसिद्धि	१६५
अनेक पुरुषों द्वारा एक शब्द के ग्रहण की उपपत्ति	१६६
एकत्वादि संख्या के योग से शब्द में द्रव्यत्वसिद्धि	१६७
घट और शब्द में समान रूप से एकत्वादि की प्रतीति	१६८
नैयायिकप्रोक्त अनुमानमें एकद्रव्यत्वहेतु की असिद्धि	१६८
विलक्षण क्षयोपशम ही मूर्त्तप्रत्यक्ष का जनक है	१६९
मूर्त्तप्रत्यक्ष के प्रति उद्भूतरूप की कारणता का अस्वीकार	१७०
विजातीय एकत्व को प्रत्यक्ष का कारण मानने में गौरव	१७०
पाप-पुण्य और लोकबहुत्वाल्पत्व का अनिश्चय	१७३
बहुलोक को प्रमाण मानने में संख्याव्याघातादि दोष	१७४
कर्तृअस्मरणहेतुक अपौरुषेयत्व का अनुमान दूषित	१७५
विगान के सम्भवित पक्षद्वय में हेतु की अनुपपत्ति	१७६

विषय	पृष्ठ
अभ्यास आदि वाक्यवत् वेद में भी कर्तृस्मरण में वैमत्य	१७६
किसी एक को प्रत्यक्ष न होने मात्र से उसका अभाव असिद्ध	१७७
'स्मृतियोग्य रहते हुए स्मृतिविषयत्वाभाव' हेतु का निरसन	१७८
उपदेशकर्त्ता के स्मरणपूर्वक प्रवृत्ति का नियम असिद्ध	१७९
आचार्याभिमत वेदाध्ययनमें गुरुमुखाधीन वेदाध्ययनपूर्वकत्व की असिद्धि	१८०
वेदमन्त्रों में अपौरुषेयत्वसाधक सामर्थ्यहेतु साध्यद्रोही	१८१
असर्वज्ञ का सर्वज्ञरूप में अर्थवाद अनुचित	१८२
सर्वज्ञसिद्धि वार्त्ता उपसंहार	१८४
सर्वज्ञ और तदुचित आगम की प्रतीति दुर्लभ-बौद्ध	१८५
विज्ञान में गुणपूर्वकत्व साधक अनुमान	१८६
परमप्रकृष्ट गुणसाधक अनुमान	१८६
रागादि के ह्रास से अतिशयसिद्धि	१८७
संशय का उच्छेद और पूर्वापर अव्याघात से अतिशय का पता	१८८
अतीन्द्रिय अर्थों के प्रातिभज्ञान का अस्तित्व	१८९
गुणवान् पुरुष में प्रातिभातिशय अविरुद्ध	१९०
अदृष्ट वस्तु में विसंवाद की आशंका का निराकरण	१९१
आगमवचन में घुणाक्षरन्याय और विसंवाद का निरसन	१९२
स्वयं अज्ञ और कथितज्ञ पुरुष आगमबोध का अधिकारी	१९४
आगम से धर्माधर्म की व्यवस्था निर्दोष	१९५
केवलज्ञानी का कवलाहार अमान्य-दिगं० पूर्वपक्ष	१९६
स्वाभाविक आहारग्रहण की कल्पना अनुचित	१९६
सूत्र से भी केवली का कवलाहार असिद्ध	१९७
केवलि को कवलाहार का संभव न्यायसिद्ध-श्वे० उत्तरपक्ष	१९९
केवलि की उपदेशनादि क्रिया तीर्थकृ नियतिकृत-पूर्वपक्ष	२००
आगमबाधावादी के मत का निरसन-उत्तरपक्ष	२००
प्रयत्न के अभाव में चेष्टा के अभाव की आपत्ति	२०१
केवली में क्लेश होने में कोई विरोध नहीं है	२०२
ख्यातितुल्यता के साथ चार विकल्पों का निरसन	२०३
अंतिम तीन विकल्प का निरसन	२०४
क्षुधा यह रागादि जैसा दोष होने की शंका-समाधान	२०५
पापप्रकृति का रसघात हो जाने से दुःखाभाव शंका का उत्तर	२०६
समुद्घातक्रिया निष्फलत्वापत्ति	२०७
असातावेदनीय का अभिभव संभव नहीं	२०८
दिगम्बर मत में 'एकादश जिने' सूत्र की अनुपपत्ति	२०९
केवली अतीन्द्रिय होने पर भी सुख दुःख का सम्भव	२१०

विषय	पृष्ठ
निरन्तर कवलाहार की आपत्ति का प्रतिकार	२१३
परमौदारिक शरीर की असिद्धि	२१३
संघयणनामकर्म का विपाकोदय कैसे घटेगा ?	२१४
केवलिदेह में अत्यन्त वैजात्यादि कल्पनाओं का निरसन	२१६
कवलाहार सर्वज्ञतादि का विरोधी नहीं	२१६
निद्रादि दोषापादन का निरसन	२१७
तिज्ञानादि के आपादन का निरसन	२१८
आहार क्रिया से जुगुप्सादि दोषों का निरसन	२१८
निराहार कालस्थिति सूचक सूत्र से ही आहारसिद्धि	२१९
सयोगिकेवलि की निरतर अमर्यादित स्थिति की दिगम्बरपक्ष में आपत्ति	२२०
सर्वज्ञकवलाहार चर्चा का उपसंहार	२२१
स्तबक—११	**२२३ से ३३६**
व्याख्याकारकृतमंगलाचरण	२२३
शब्द को अर्थ के साथ कुछ सम्बन्ध नहीं–बौद्ध	२२४
शब्द और अर्थ में तादात्म्य का निरसन	२२५
शब्द का अर्थ के साथ तदुत्पत्ति-सम्बन्ध अशक्य	२२६
शब्दार्थ के बीच वास्तवसंबन्ध मानने में आपत्ति	२२६
शब्द बुद्धिकल्पित अर्थ का वाचक	२२७
उद्योतकर के आपादन का निरसन	२२७
दिग्नाग आचार्य के वचन का अभिप्राय	२२८
जातिविशेषितव्यक्ति में संकेत का असंभव	२२८
अनभिप्रेत अर्थ में संकेत का असंभव	२२९
ब्राह्मणादि शब्द से समुदाय का बोध	२३०
सम्बन्ध अथवा सामान्य में शब्दवाच्यत्व का निरसन	२३१
अभिजल्पत्व प्राप्त शब्द शब्दार्थ नहीं	२३२
शब्दजन्यप्रतिभा से अर्थबोध-आशंका	२३२
प्रतिभा से अर्थबोध का निरसन	२३३
शब्द से अर्थविवक्षा का अनुमान-अन्यमत	२३३
अर्थविवक्षा के अनुमान का निरसन	२३४
वैभाषिक मत का निराकरण	२३४
शब्द से बोध्य अर्थ अन्यापोह-उपसंहार	२३५
स्वभावभेद से गोत्वाधारता का नियमन अशक्य	२३५
स्वभावभेद द्वारा ही व्यक्तिबोध का आपादान	२३६
शब्दवाच्य वास्तवजाति मानने पर आपत्ति	२३६
बौद्ध मत में अपोह के विविध प्रकार	२३७
कुमारिल के आक्षेप का प्रतिकार	२३९
कुमारिल के अन्य आक्षेप का प्रतिकार	२४०
वाक्यार्थ अप्राप्ति की आपत्ति का प्रतिकार	२४१
सामान्य विशेषवाची शब्दभेद की उपपत्ति	२४२
अपोहभेद अपोह्यभेद के लिये सामान्य अनावश्यक	२४२
शब्द और लिंग के अप्रामाण्य की आपत्ति निरवकाश	२४३

विषय	पृष्ठ
अपोहमान्यता में अन्योन्याश्रय-कुमारिल का पूर्वपक्ष	२४४
अर्थान्तरनिवृत्ति विशिष्टार्थवाचकता असंगत	२४५
अपोह्य की अनुपपत्ति	२४६
गोत्व में शाब्दरूपता की प्रसक्ति	२४७
कुमारिलकृत पूर्वपक्षयुक्तियों का निरसन	२४७
दिग्नाग के कथन में आशय की स्पष्टता	२४८
अर्थान्तरनिवृत्ति रूप अपोह में विशेषणता की उपपत्ति	२४९
व्यक्ति में अपोह्यता की उपपत्ति	२४९
प्रतियोगि में वस्तुत्व का नियम असिद्ध	२५०
गौ में अगोरूपता की आपत्ति का निरसन	२५१
शब्दप्रतिपाद्य अपोह न होने की आपत्ति	२५१
शब्दप्रतिपाद्य अपोह के अभाव की आपत्ति निरस्त	२५२
लोकप्रसिद्ध विशेषण आदि भाव की उपपत्ति	२५३
बौद्धविरोधि पक्ष में अनुपपत्ति	२५४
उद्योतकर प्रयुक्त अनुपपत्ति का निरसन	२५५
लिंगादि के साथ अपोह का सम्बन्ध विचार	२५६
शब्दों के स्त्री-पुं-नपुंसकता का निरसन	२५७
वैयाकरण मतानुसार जाति में जाति मान्य	२५७
वैयाकरणमत के ऊपर बौद्ध की मीमांसा	२५८
संख्या की काल्पनिकता	२५९
अपोह की अव्यापकता का निरसन	२६०
साध्यत्वादि की उपपत्ति	२६१
'पचति' से अन्यापोह के बोध की उपपत्ति	२६२
सकल एक स्वरूप वाक्यार्थ का निरसन	२६३
शब्द और अर्थ के बीच तात्त्विक सम्बन्ध-उत्तर०	२६५
शब्दार्थ सम्बन्ध न मानने पर बाधक	२६५
दृश्य-विकल्प्य अर्थों के एकीकरण के नये अर्थ का परिहार	२६६
सहकारि द्वारा उपादान में विशेषाधान असंभव	२६७
उपादान के कारणों से उसमें विशेषाधान असंभव	२६८
तादात्म्यादिविकल्पप्रयुक्त दोषों का निरसन	२६९
प्रधान और गो आदि पद में वैलक्षण्य	२७१
हेतुभेद-शब्दभेद दोनों में अन्योन्याश्रय का निरसन	२७२
सत्य असत्य शब्दों में स्वरूपभेद का समर्थन	२७३
शाब्दबोध में शक्तिग्रह की हेतुता का समर्थन	२७४
नैयायिक अभिमत शक्तिपदार्थ का निरसन	२७५
'सर्वे सर्वार्थवाचकाः' पक्ष में विरोध का परिहार	२७६
वस्तुमात्र अनन्त धर्मात्मक है	२७८
दृश्य और विकल्प्य अर्थों में भेद साधन की आशंका	२७८

विषय	पृष्ठ
भेदाभेद की सिद्धि से पूर्व-आशंका का निरसन	२७९
अस्पष्टज्ञान में कल्पित विषयता का निरसन	२८०
अस्पष्ट प्रतीति का अनुमान में अन्तर्भाव अशक्य	२८१
विकल्प में आरोपितवस्तुविषयता अमान्य	२८१
अप्रामाण्य सकलविशेष अग्राहकतारूप नहीं है	२८२
अपोह की शब्दवाच्यता का निरसन	२८३
'क्षणिकाः सर्वसंस्काराः' की अनुपपत्ति	२८६
बौद्धशास्त्र निरर्थक हो जाने की आपत्ति	२८६
बुद्धनिंदा में दोषाभाव की आपत्ति	२८९
ज्ञान से ही मोक्ष-ज्ञानवादिपक्ष	२९०
क्रिया से ही मोक्ष-क्रियावादी पक्ष	२९२
ज्ञान-क्रिया समुच्चय मुक्तिहेतु-उभयवादीमत	२९४
ज्ञानक्रिया की अन्योन्यसंगति फलसाधक	२९६
ज्ञान में अन्यथासिद्धि की शंका का निरसन	२९८
मन्त्रप्राप्य फल में भी उभयहेतुता निर्बाध	२९९
ज्ञान-क्रिया में अन्योन्य नेत्र-चरणवत् सहकारिता	३००
विशिष्ट समवधान से क्रिया में उत्कर्ष की आशंका	३०२
कर्म विना जन्मादि नहीं होते	३०३
मुक्ति में शाश्वत परमानन्द	३०४
सिद्धात्माओं के १५ भेद	३०७
स्त्रीमुक्तिवादचर्चा में दिगम्बर-पूर्वपक्ष	३०९

विषय	पृष्ठ
दिगम्बर की भ्रान्ति का सूचन	३०९
दिगम्बरोक्त अनुमान का निरसन	३१०
हेतु में संदिग्धविपक्षव्यावृत्तिदोष	३११
पूर्वश्रुत के अध्ययन के विना मोक्षाभाव-पूर्वपक्ष	३११
पूर्वश्रुत-अध्ययन विना भी मोक्ष-प्राप्ति-उत्तरपक्ष	३१२
स्त्रीत्व चारित्राभाव का प्रयोजक नहीं	३१३
मायाबहुलता के कारण सकल स्त्री में मुक्तिनिषेध अनुचित	३१४
संघ की चतुर्विधता के उच्छेद की आपत्ति अपरिहार्य	३१६
स्त्रीत्व चारित्रोत्कर्ष का विरोधी नहीं	३१६
प्रबलकर्मता स्त्री-पुरुष साधारण	३१७
जिनकल्पी मुनियों की जिनकल्प प्रवृत्ति का उच्छेद संभव नहीं	३१८
सप्तमनरकप्रापक अध्यवसाय का अभाव अकिंचित्कर	३१९
स्त्रीमें ऊर्ध्वाधोगतिवैषम्य का प्रयोजक कारणवैषम्य	३२०
ज्ञानपरमप्रकर्ष में स्त्रीवृत्तित्वाभाव का साधन दुष्कर	३२१
भिन्नभिन्नस्वरूप स्वरूपयोग्यता का समर्थन	३२२
पुरुष में अनभिव्यक्तत्व का निरसन	३२३
चतुर्विधसंघस्वरूप तीर्थ में स्त्री प्रवेश	३२४
भगवान् की वस्त्राभूषण से पूजा न्याययुक्त	३२४
इन्द्रादिकृत भक्ति अनुकरणीय	३२५
स्त्री कल्याण का भाजन	३२५
स्त्रीमुक्तिसाधक अनुमान प्रयोग	३२६
ग्रन्थकृत्प्रशस्तिः	३२८
परिशिष्टः १	३२९
परिशिष्टः २	३३१
परिशिष्टः ३	३३५

स्तबक १०–११ शुद्धिपत्रकम्

पृष्ठांक/पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१।१७	...नष्टधाकष्ट	...नष्टधा कष्ट
५।३	सर्वतो	सर्वशो
५।८	हिरण्यगर्भ	हिरण्यगर्भं
८।५	पश्चकाऽ	पश्चकाऽ
१५।३,५	द्रष्टुत्वे	द्रष्टृत्वे
१६।३	कूर्तबुद्धिः	कूर्त बुद्धिः
१७।१	उक्त च	उक्तं च
२३।११	पवनस्य	पवमस्य (? पवनसंयोगस्य)
२३।११	तत्तत्कर्णानां	तत्तत्कर्णानां
३१।१	यद्दत्तमिष्टं	यद्दत्तमिष्टं
४२।७	चपगमात्	चापगमात्
४२।२१	समबन्धि	समबन्धि
४३।२	चंद्रसौ	चंद्रसौ
४४।३२	सर्वं	सर्वेक्ष
४८।४	प्रामाण्य—	प्रामाण्या—
४८।९	कारण है।	कारण है,
५०।५	प्रामाणा—	प्रमाणा—
५२।६	प्रामाणाऽ	प्रमाणाऽ
५७।४	प्रतिबन्धक	प्रतिबन्धक
५९।२	ज्ञानं	ज्ञान
६२।२४	सिद्धि	सिद्ध
७०।२	गवयपद्	गवयपदं
७३।१	दर्शन	दर्शनं
७३।५	वाच्यत्वो	वाच्यत्वो
७५।११	कण्टभक्षी	कण्टकभक्षी

पृ./पं.	अशुद्ध	शुद्ध
७६।१	ज्ञान	ज्ञानं
७७।१	करेखा	करेखा
७८।३	गतेमः	गतेः
८०।४	भाव निश्चयः	भावनिश्चयः
८०।८	कार्य	कार्यं
८१।२५	निश्चय का	निश्चय का,
८१।११	अनुपुलब्ध	अनुपलब्ध
८३।१०	भंग	भगं
८४।२	व्याप्य की	व्यापकी
८४।२७	वैयधिकरण्य	वैयधिकरण्य
८६।१५	समकालीनत्व	समकालीनत्व
८६।२३	यहाँ	यह
८९।८	चेत्।	चेत् ?
८९।२३	ग्रहण	ग्रहण
९१।४	पलम्ल	पलम्भ
९३।२	पात्र भेदे	पात्रभेदे
९६।२६	संमिलीत	सम्मीलित
९६।२७	चन्दमा	चन्द्रमा
१०८।१	दंदशूक	दंदशूक
१११।३१	प्रवंतक	प्रवर्तक
१११।३२	। च	च।
११२।३	यत्मात्रेण	यन्मात्रेण
११७।३३	कर्थ	कथं
१२२।१०	कारिण	कारिणं
१२३।९	निर्मूलकता	निर्मूलता
१२५।७	विपर्य–	विपर्यय–

पृ./पं.	अशुद्ध	शुद्ध
१२९।८	मिनिवेशत:	भिनिवेशत:
१२९।२२	में	श्लोक में
१२९।२८	॥३९॥	॥३१॥
१३२।१	मन्याथाद्रा	मन्न्याद्या
१३२।२६	नहीं	नहीं
१३४।३	तद्युक्तम	तद्युक्तम
१३४।११	द्रव्व	द्रव्य
१३४। ७	युक्ति मंगत	युक्तिसंगत
१३९।१८	शब्द की	शब्द के
१३९।१८	ध्वनि का	ध्वनि के
१३९।२८	प्रतित	प्रतीत
१४०।१	व्यञ्जकत्व	व्यञ्जकत्वे
१४३।१९	नियता	नित्यता
१४५।२७	भीजन्यता के अपलाप की	जन्यता के अपलाप की भी
१४७।३	कारिभि:	रकारिभि:
१५८।३४	दशा	दिशा
१७१।२	उक्त विजा	उक्तविजा
१७१।२२	प्रत्यासक्ति	प्रत्यासक्त
१७३।२२	वेद की	वेद के
१७५।१२	कर्तविशेषे	कर्तृविशेषे
१७६।२	कर्तृत्वेना–	कर्तृत्वेना–
१७६।५	'ऽभ्यास' एव	'ऽभ्यास०' पव
१८०।२४	मुखाधीत	मुखाधीन
१८२।८		नोट: इस ८ वीं पंक्ति को ४६ वे श्लोक के पूर्व में समझना
१८२।१०	वेदे	वेदे
१८४।२६	सर्वंज्ञसिद्ध	सर्वज्ञसिद्धि
१८७।८	इत्येह	इत्येवह

पृ./पं.	अशुद्ध	शुद्ध
१९१।७	धर्म	धर्म
१९२।१४	वचन	वचनं
१९३।१३	रूपदेश	रुपदेश
१९४।१६	आगम सर्वज्ञ	सर्वज्ञ
१९४।२८	वैयर्थ्य	वैयर्थ्यं
१९५।१४	प्रस्तुत	६४ वीं
१९५।१५	आगम में	(आगम में) ?
१९५।२१	पदार्थों	पदार्थों
१९५।२७	ओज	ओजस्
१९५।२९	अद्भासित	उद्भासित
१९८।२१	केवली की	केवली के
१९८।२९	अनुमत	अभिमत
१९९।९	जाता है,	जाते हैं,
१९९।२८	भगवान का	भगवान का,
२००।९	त्वाभ्यं	त्वाभ्यां
२००।१२	ऽविस्मृश्य	ऽविमृश्य
२०२।५	सभावनया	संभावनया
२०२।८	प्रवृत्तिप्रधान	प्रवृत्तिप्रधाने
२०७।३०	से पराघात	से परघात
२०९।९	जिन	जिने
२११।८	क्षुद्र	क्षुद्र
२१६।२	द्वारा,	द्वारा
२१६।५	कवला	कवला
२१८।१२	द्विन्द्रिय	द्विन्द्रिय
२१९।४	मुमभजिणो	मुसभजिणो
२१९।१?	अनुसार इत्यादि गाथा के	इत्यादि गाथा के अनुसार
२२१।८	कमणां	कर्मणां
२२१।२५	आगम में	आगम के
२२४।३	ऽधर्मविस्था'	ऽधर्मव्यवस्था' (पृ १८४)

पृष्ठांक/पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२२६।८	सकेत	संकेत
२३०।३३	घत्र	धत्र
२३१।३४	द्रव्य	शब्द
२३२।३०	प्रतिमा	प्रतिभा
२४३।४	बीजनेक	बीजानेक
२४९।४	साक्थ्या	सामर्थ्या
२५१।४	अगौतो	अगोतो
२५४।३	कार्यवृत्ति	कार्थवृत्ति
२५४।१३	अथया	अथवा
२५५।५	योऽगाच्च	योगाच्च
२६६।२	लक्षण इतर	लक्षण-इतर
२६६।६	तस्त्त	ततस्त
२६७।२	बाधक	बोधक
२७०।३१	बताया	बताया
२७१।१	परमार्थक	परमार्थिक
२७१।१५	होगी,	होगी '
२७१।२	शक्तेर वि	शक्तेरवि
२७२।२	कत्वेऽ-सत	कत्वेऽसत
२७२।१७	मेद	भेद
२७६।२२	सब्दों	शब्दों
२८०।६	वह्नित वस्तु	वह्नितवस्तु
२८०।३२	कि,	कि '
२८५।३	मनन्त धर्मा	मनन्तधर्मा
२८६।१६	क्षणिका	क्षणिकाः
२८६।२८	मा ने	मानने
२८७।७	स्यथा	स्यैवा
२८७।७	मोपपत्तः	मोपपत्तेः
२९१।२	क्रियाफलदा	क्रिया फलदा
२९१।७	क्रियोत्कर्षऽ	क्रियोत्कर्षाऽ
२९३।२	॥३६॥	॥३७॥
२९६।१८,१९	पथापक	पथायक
२९६।२५	कही जाती	कहा जाता
२९८।२२	उपथापकता	उपथायकता
२९८।२३	आत्मा श्रय	आत्माश्रय
२९८।३१	होने से	होने से,
२९८।३४	फलाघच्छि	फलाचच्छि
२९९।१२	। तत्रज्ञान	तत्र ज्ञान
२९९।१६	जोणम	जेणम
२९९।१७	तूर्णी	तूष्णीं
२९९।२९	होता ।	होता
३००।७	तयोद्वारि	तयोर्द्वारि
३००।१७	सङ्केतिसि	सङ्केतित
३००।२७	द्वारा	द्वारी
३०४।१०	जन्मभावे	जन्माभावे

महत्त्वपूर्ण सूचना

स्तबक ९ के १३५ पृष्ठ के बाद फिर से पृष्ठांक
१ से स्तबक १० चालु होता है।

卐 अर्हं 卐

हिन्दीविवेचनालंकृत–

स्याद्वादकल्पलताव्याख्याविभूषितः

卐 शास्त्रवार्त्तासमुच्चयः 卐

[नवमः स्तबकः]

(व्याख्यामंगलाचरणम्)

प्रणतान् प्रति निर्वृतिश्रिया स्वहृदो राग इव स्फुटीकृतः ।
त्रिशलातनयस्य संपदे पदयोः पाटलिमा नखत्विषाम् ॥ १ ॥

अपि स्वपिति विद्विषां ततिरपायरात्रिचरः प्रणश्यति यदाख्यया पठितसिद्धया विद्यया ।
स्तवप्रवणता स्ततः सततमस्य शङ्खेश्वरप्रभोश्चरणपङ्कजे भवति कस्य धन्यस्य न ? ॥२॥

[भगवान महावीर के चरणों की नख-कान्ति का संस्तव]

त्रिशला के तनय भगवान् महावीर के चरणों की नख-कान्ति की लालिमा मानो उनके मोक्ष-लक्ष्मी के साथ हृदय का राग-स्नेह है, जो प्रणत जनों के प्रति (भगवान् की प्रसन्नता-श्री द्वारा उन्हें) मोक्ष सम्पत्ति यानी आत्मवैभव प्रदान करने को प्रकट हुआ है । आशय यह है कि भक्तजन भगवान् के सन्मुख इस आशा और विश्वास से प्रणत होते हैं कि भगवान् के प्रसाद अर्थात् प्रभाव से उन्हें मोक्ष-सम्पत् सुलभ हो सकेगी, अतः भगवान् मानो उनकी आशा और उनके विश्वास के अनुरूप उनके अभिमुख अपने हार्दिक राग को सुप्रसन्न होकर प्रकट करते हैं, किन्तु अन्य के हृदय का राग अन्य को अमूर्तरूप में दृष्टिगत नहीं हो सकता अतः वे उसे अपने चरणों के नख-कान्ति की लालिमा के रूप में भक्तों के सम्मुख प्रस्तुत करते हैं, भक्त भी अपनी भावुकता के बल उस लालिमा को भौतिक लालिमा के रूप में न ग्रहण कर अपने प्रति भगवान् के हृदय के रमणीय राग के रूप में ग्रहण करते हैं । व्याख्याकार ने भगवान् के चरणों के नख-कान्ति की वास्तव लालिमा को उनके हृदयराग के रूप में उत्प्रेक्षित कर अपनी अनुपम भक्ति का द्योतन किया है और साथ ही भगवान् की अप्रतिम कृपालुता का प्रदर्शन भी किया है ॥१॥

हेतु-युक्तिविलसत्सुवाचनं निर्मितोरुकुनयव्यपासनम् ।
भूत-भावि-भवदर्थभासनं शासनं जयति पारमेश्वरम् ॥ ३ ॥

मूल—अन्ये पुनर्वदन्त्येवं मोक्ष एव न विद्यते ।
उपायाऽभावतः, किंवा न सदा सर्वदेहिनाम् ? ॥ १ ॥

नन्वद्वैते मोक्षार्थानुष्ठानवैयर्थ्यमुक्तम्, मोक्ष एव चोपायाभावाद् नास्तीति किमेतत् दूषणम् ? इति केषाञ्चिद् वार्तान्तरमाह—**अन्ये पुनः**=नास्तिकप्राया: वदन्ति एवं–यदुत मोक्ष एव न विद्यते परमार्थतः। कथम् ? इत्याह–**उपायाऽभावतः** तत्प्राप्तिहेत्वभावात्, नित्याऽप्राप्तत्वेऽपि तदभिव्यक्तिहेत्वभावात्। सत्युपाये किंवा न **सदा**=सर्वकाल-

[शंखेश्वरपार्श्वनाथ भगवान के नामोच्चारण का प्रभाव]

जिस प्रकार यथाविधि पठित और सिद्ध की गई मन्त्रविद्या से शत्रुओं का समूह निश्चेष्ट होकर सो जाता है और निशाचरों का गण नितान्त नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार जिसकी आख्या से, जिसके नामोच्चारणमात्र से काम, क्रोध आदि शत्रुओं का समूह समाप्त हो जाता है और मोक्षमार्ग के कुसिद्धान्तवासना आदि विघ्न नष्ट हो जाते हैं, उस प्रभु शङ्खेश्वर के चरण कमल के स्तवन में किस पुण्यवान् प्राणी की अभिरुचि एवं निष्ठा सदा-सर्वदा के लिये अनायास जाग्रत् न होगी ?! तात्पर्य यह है, कि प्रभु शङ्खेश्वर के नाम में इतना अधिक बल है कि उसके उच्चारण कर्त्ता के शत्रुओं का बल क्षीण हो जाता है, वे उसके समक्ष सुप्तवत् कुछ भी करने में अक्षम हो जाते हैं और उसकी इष्ट-सिद्धि में सम्भावित सभी विघ्न नष्ट हो जाते हैं, अतः संसार का प्रत्येक पुण्यवान् जन, जिसे भगवान् के नामोच्चारण की शक्ति का ज्ञान है, अनायास ही उनके चरण कमल के स्तवन में अपने आपको सदा के लिये समर्पित कर देता है और जो ऐसा नहीं कर पाता, निश्चय ही वह अधन्य है, पुण्यहीन है, पापात्मा है ।।२१।।

[जिनशासन की सर्वोच्चता]

हेतु और युक्तियों से जिसकी सुप्रतिष्ठा फैली हुई है, जिसने बड़े बड़े दुर्नयों को निरस्त कर दिया है, जो अतीत अनागत और वर्तमान सभी पदार्थों की यथार्थ अनुभूति-अवगम कराने में समर्थ है, परमेश्वर 'जिन' का वह शासन संसार का सर्वोत्कृष्ट शासन है ।

आशय यह है कि भगवान् 'जिन' अरिहंत ही वास्तव में परमेश्वर हैं, उनके द्वारा उपदिष्ट आगम ही संसार का सर्वातिशायी शास्त्र है क्योंकि उसकी सुप्रतिष्ठा हेतुओं और युक्तियों पर आश्रित है, वह केवल अन्धश्रद्धा पर आधारित न होकर हेतु और तर्कपर आधारित है, उसमें बड़े से बड़े दुर्नयों का–दुर्भेद्य एकान्तवादों का युक्तिपूर्वक निराकरण किया गया है । वह यतः सर्वावरणमुक्त परमेश्वर-ज्ञान से उद्घाटित है अतः उससे तीनों काल के समग्र पदार्थों का स्फुट एवं यथार्थबोध प्राप्त हो सकता है, यही कारण है, जिससे भगवान् 'जिन' का शासन सर्वोत्तम शासन है ।

मेव **सर्वदेहिनाम्**=सर्वेषामेव संसारिणां स उपायः ?। मोक्षवत् तदुपायस्यापि क्वाचित्कत्व-कादाचित्कत्वयोस्तुल्यः पर्यनुयोग इति भावः ॥ १ ॥

मूल—कर्मादिपरिणत्यादिसापेक्षो ह्यसौ ततः ।
अनादिमत्त्वात्कर्मादिपरिणत्यादि किं तथा ॥ २ ॥

प्रस्तुतमार्थेव पराशयमाशङ्क्य परिहरति—**ह्यसौ**=मोक्षोपायः, कर्मादिपरिणत्यादिसापेक्षः, 'कर्मादि' इत्यादिना प्रधानादिग्रहः 'परिणत्यादि' इत्यादिना विवर्तादिग्रहः, तत्सापेक्षोत्पत्तिकः; **ततः**=तर्हि अनादिमत्त्वात् कर्मादेः कर्मादिपरिणत्यादि **किं तथा**=किं कादाचित्कम् ?, अनादेः कर्मादेः स्वपरिणत्यादावन्यापेक्षाऽभावात् ॥२॥

[मोक्षप्राप्ति के उपाय का अस्तित्व है ?—पूर्वपक्ष]

प्रथम कारिका में कतिपय विद्वानों की यह आशंका प्रदर्शित की गई है कि मोक्ष की प्राप्ति का कोई उपाय न होने से मोक्ष की मान्यता ही निराधार है अतः अद्वैतवाद में मोक्ष के लिये उपायों के अनुष्ठान के वैयर्थ्य रूप दोष का प्रदर्शन असंगत है—

कारिका का अर्थ इस प्रकार है-

नास्तिकप्राय अन्य विद्वानों का यह कहना है कि वास्तव में तो मोक्ष का अस्तित्व ही नहीं है क्योंकि उसकी प्राप्ति का कोई उपाय नहीं है। यदि यह कहा जाय कि—मोक्ष नित्य-प्राप्त है अतः उसकी प्राप्ति के उपाय की अपेक्षा न होने से उसका अभाव मोक्षाभाव का साधक नहीं हो सकता-तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि मोक्ष के नित्य-प्राप्त होने पर भी उसकी अभिव्यक्ति तो नित्य है नहीं, अतः अभिव्यक्ति का उपाय अपेक्षित है और वह उपाय है नहीं, अतः अनभिव्यक्त मोक्ष स्पृहणीय न होने से तथा मोक्षाभिव्यक्ति का उपाय न होने से मोक्ष का अस्तित्व मान्य नहीं हो सकता। यदि इस दोष के परिहारार्थ यह कहा जाय कि- मोक्ष यदि उत्पाद्य है तो उसका उपाय भी है और मोक्ष यदि नित्य और अनभिव्यक्त है तो उसकी अभिव्यक्ति का उपाय है'-तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि यदि मोक्ष अथवा उसकी अभिव्यक्ति का उपाय है तो सब मनुष्यों को सर्वदा सुलभ क्यों नहीं है ? इस प्रकार मोक्ष के समान मोक्ष अथवा मोक्षाभिव्यक्ति के उपायों के क्वाचित्कत्व और कदाचित्कत्व के सम्बन्ध में प्रश्न खड़ा है। अर्थात् यह एक जाज्वल्यमान प्रश्न है कि मोक्ष अथवा मोक्षाभिव्यक्ति का उपाय यदि नित्य हो तो उसे सदा सबको सुलभ होना चाहिये। वह किसी किसी को ही क्यों प्राप्त होता है ? और कभी कभी ही क्यों प्राप्त होता है ? और यदि उत्पाद्य है तो उसका उपाय क्या है ? और वह सबको सुलभ क्यों नहीं है ? ।१।।

दूसरी कारिका में वादी द्वारा उक्त प्रश्न के पराभिमत उत्तर की सम्भावना का परिहार किया गया है। कारिका का अर्थ इस प्रकार है:-यदि यह कहा जाय कि-मोक्षोपाय की उत्पत्ति में कर्म आदि की परिणति अथवा प्रधान आदि के विवर्त आदि की अपेक्षा है, और वह सबको सदा सुलभ नहीं है, अत एव मोक्षोपाय भी सबको सदा सुलभ नहीं होता-तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि

ननु प्रधानादेर्नित्यस्यैकस्य सहकार्यपेक्षाऽभावेऽपि प्रवाहेणैव कर्मणोऽनादित्वात् कस्यचित् कर्मणः स्वभावतस्तथापरिणंस्यमानस्योपादानात् तथापरिणत्यादिकं न दुर्घटम्, इत्यत आह–

मूल—तस्यैव चित्ररूपत्वात्तत्तथेति न युज्यते ।
उत्कृष्टाद्या स्थितिस्तस्य यज्ञातानेकशः किल ।। ३ ।।

'**तस्यैव**=अधिकृतस्यैव कर्मणः **चित्ररूपत्वात्**=विचित्रस्वभावात् **तत्**=परिणत्यादिकम्, **तथा**=कादाचित्कम्' इति **न युज्यते**=न घटते, **यत्**=यस्मात् **तस्य**=कर्मणः **उत्कृष्टाद्या**=उत्कृष्टा ग्रन्थ्यप्राप्त्यवच्छिन्नाऽपकर्षवती च स्थितिः **अनेकशः**=बहुवारम् जाता, 'किल' इत्याप्तवचनमेतत् ।

तथा चाऽपकृष्टस्थितिकादिस्वभाववतः कर्मणो मोक्षोपायजननपरिणतिशालित्वेऽभव्यादीनामपि तल्लाभप्रसङ्गः, तेषामपि तीर्थकरादिविभूतिं दृष्ट्वा ग्रन्थ्यप्राप्तौ श्रुतसामायिकलाभश्रवणात् । किञ्च, एवं दर्शनादेः स्वभावजनितत्वेन मोक्षः पुरुषकृतिसाध्यो न स्यादिति परं प्रत्युक्तं तदर्थानुष्ठानवैयर्थ्यं स्वयमप्यनिवारितम् । अपि च, प्रथमं निर्गुणस्यैव सतो गुणावाप्तावग्रेऽपि किं गुणापेक्षया ? । अपि च, सर्वमुक्तिसिद्धान्तो नास्ति जैनानाम् । तदभावे चाऽयोग्यत्वशङ्कया कथं मोक्षोपाये प्रेक्षावतां निराकुलप्रवृत्त्युपपत्तिः ? । न च शम-दम-भोगानभिष्वङ्गादिना मुमुक्षुचिह्नेन तच्छङ्कानिवृत्तिः, शमादिमत्त्वनिश्चयानन्तरं प्रवृत्तिः, प्रवृत्त्युत्तरं च शमादिसंपत्तिरित्यन्योन्याश्रयात् । एतेन 'शमादिमत्त्वेन योग्यता' इत्यपि प्रत्युक्तम्, भव्यत्वजातिभेदोपगमविरोधाच्चेत्याद्यूहनीयम् ।।३।।

कर्मादि अनादि है तथा उसे अपनी परिणति आदि में अन्य की अपेक्षा नहीं है, अत एव उसकी परिणति आदि भी कादाचित्क नहीं हो सकती, किन्तु उसे वह भी सार्वदिक ही होना चाहिये ।।२।।

[मोक्षोपाय कर्मपरिणतिसापेक्ष--इस आशंका का निरसन]

तीसरी कारिका में इस कथन को अयुक्त बताया गया है कि–"मोक्षोपाय की उत्पत्ति में प्रधान के विवर्त की अपेक्षा मानने पर तो उक्त दोष अवश्य हो सकता है, क्योंकि प्रधानवाद में प्रधान एक और नित्य होने से उसके विवर्त को सहकारी की अपेक्षा सम्भव नहीं है किन्तु मोक्षोपाय को कर्मपरिणतिसापेक्ष मानने पर उक्त दोष नहीं हो सकता क्योंकि कर्म व्यक्तिरूप में अनादि न होकर प्रवाहरूप में अनादि होता है, अतः यह सम्भव हो सकता है कि कर्मप्रवाह का घटक कोई कर्म-विशेष ही ऐसा होता है जो स्वभावतः मोक्षोपाय का जनन करने योग्य परिणति को प्राप्त होता है, इसलिये कर्मविशेष की मोक्षोपायजनक परिणति के सर्वदा सर्वसुलभ न होने से उससे साध्य मोक्षोपाय भी सर्वदा सर्वसुलभ नहीं होता ।"

मूल—अत्रापि वर्णयन्त्यन्ये विद्यते दर्शनादिकः ।
उपायो मोक्षतत्त्वस्य परः सर्वज्ञभाषितः ॥४॥

अत्र समाधानवार्तामाह--अत्रापि=मोक्षाभाववादे वर्णयन्त्यन्ये=मोक्षवादिनो जैनाः-विद्यते दर्शनादिकः=दर्शन-ज्ञान-चरित्ररूपः उपायः=प्राप्तिहेतुः, मोक्षतत्त्वस्य=द्रव्य-

इस कथन को अयुक्त बताने वाली तीसरी कारिका का अर्थ इस प्रकार है-'कर्म के ही स्वभाव वैचित्र्य से किसी कर्म की मोक्षोपाय-सम्पादिका परिणति कादाचित्क होती है' यह कथन युक्त नहीं है क्योंकि आप्त पुरुषों का कहना है कि कर्म की उत्कृष्ट स्थिति तथा [1]ग्रन्थिदेश की अप्राप्ति से अवच्छिन्न अपकृष्ट स्थिति अनेक बार होती रही है अर्थात् कर्मस्थिति में कभी उत्कृष्टता और कभी अपकृष्टता होती रही है, ऐसी स्थिति में यदि अपकृष्टस्थितिस्वभाववाले कर्म की परिणति को मोक्षोपाय का जनक माना जायगा तो [2]अभव्य जीव को भी कर्म की उक्त परिणति सम्भव होने से उसे भी मोक्षोपाय का लाभ होने लगेगा क्योंकि अभव्यों को भी तीर्थंकर आदि की विभूति के देखने से ग्रन्थिदेश की अवाप्ति होने पर [3]श्रुतसामायिक की प्राप्ति होना सुना जाता है ।

उक्त दोष के अतिरिक्त प्रस्तुत पक्ष में एक यह भी दोष है कि मोक्ष के दर्शन आदि उपाय यदि स्वभावजन्य होंगे तो मोक्ष पुरुष-प्रयत्न से साध्य न हो सकेगा । अतः अद्वैतवाद में मोक्षोपाय के अनुष्ठान वैयर्थ्य का जो दोष प्रदर्शित किया गया है, वह इस पक्ष में भी परिहृत न हो सकेगा । दूसरा दोष यह है कि सर्वप्रथम यदि निर्गुण को ही गुण की प्राप्ति मानी जायगी तो उत्तर गुणों के लिये भी पूर्व गुण की अपेक्षा न होने से गुणस्थानक की कल्पना ही समाप्त हो जायगी । तीसरा दोष यह है कि जैनों को सर्वमुक्ति का सिद्धान्त मान्य नहीं है, अतः प्रत्येक प्रेक्षावान् पुरुष को अपनी मोक्ष योग्यता के विषय में शङ्का हो जाने से मोक्षोपाय के अर्जन में विवेकी पुरुषों की निष्प्रतिबन्ध प्रवृत्ति न हो सकेगी । यदि यह कहा जाय कि-'शम, दम, विषयभोग में अनासक्ति आदि मोक्षार्थी के चिन्हों से जिसे अपनी मोक्षयोग्यता के विषय में शङ्का न होगी, बरना श्रद्धा होगी, मोक्षोपाय के अर्जन में उसकी प्रवृत्ति होने में कोई बाधा नहीं होगी'-तो यह ठीक नहीं, क्योंकि शम आदि से सम्पन्न होने के निश्चय के अनन्तर मोक्षोपाय में प्रवृत्ति होगी और प्रवृत्ति के अनन्तर ही शम आदि की सम्पन्नता होने पर उसका निश्चय होगा । इस प्रकार उक्त उत्तर अन्योन्याश्रय दोष से ग्रस्त है, इस दोष के कारण ही "शम आदि से सम्पन्न होने से मोक्षयोग्यता होती है" यह कथन भी निरस्त हो जाता है, साथ ही इसे मानने पर भव्यत्वनामक जातिविशेष के अभ्युपगम का भी विरोध होता है ।

१. ग्रन्थि है अनादिसिद्ध राग-द्वेष की निबिड दुर्भेद्य परिणतिरूप गांठ, जिसको अपूर्वकरण (अध्यवसायबल) से जब भेदी जाय तब सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है । इस ग्रन्थिभेदन के पूर्व कर्मों की स्थिति अन्तः कोटि-कोटि सागरोपम वर्ष प्रमाण हो जाती है । यही ग्रन्थिदेश है । किन्तु यह सभी जीवों को होने पर भी अब इसमें भी स्थितिह्रास करके ग्रन्थिभेदन कोई विरल ही आत्मा कर पाती है । बाकी सबके सब जीव ग्रन्थिदेश तक आकर अध्यवसाय मलिन कर वापस अधिक स्थितिबन्ध करने में चले जाते हैं ।

२. मोक्ष प्राप्ति के लिए सदा ही अयोग्य । ३. तीर्थंकर या जैनाचार्य की वाणी का श्रवण-रटण ।

क्षेत्र-काल-भावभेदेन शुद्धात्मस्वरूपावस्थानरूपस्य परः=उत्कृष्टः सर्वज्ञभाषितः=वीतराग-भणितः, नासर्वज्ञभाषितः, अभाषितो वा।

अत्र 'मोक्षतत्त्वस्य' इति तत्त्वपदेनान्याभिमतमोक्षस्याभावादेव तदुपायः शशशृङ्गोपाय-तुल्य इति ध्वनितम्। तथाहि–'समानाधिकरणदुःखप्रागभावाऽसहवृत्तिदुःखध्वंस एव मोक्षः' इति नैयायिकमतं न रमणीयम्, अतीतदुःखवद् वर्तमानदुःखस्यापि स्वत एव नाशाद-पुरुषार्थत्वप्रसङ्गात्। न च हेतूच्छेदे पुरुषव्यापारः, प्रायश्चित्तवदिति वाच्यम्, तथा सति दुःखानुत्पादस्य दुःखसाधनध्वंसस्यैव वा प्रयोजनत्वप्रसङ्गात्।

कारिका में मोक्ष को तत्त्व शब्द से अभिहित कर तत्त्वपद के प्रयोग से यह सूचित किया गया है कि जैनेतर दार्शनिकों ने जिस मोक्ष का वर्णन किया है वह असत् है, अतः उसका उपाय शशशृंग के उपाय के समान असम्भव है। उदाहरण के रूप में कल्पलता व्याख्याकार ने सर्वप्रथम नैयायिक सम्मत मोक्ष की समीक्षा की है।

[मोक्ष का उपाय ज्ञान-दर्शन-चारित्र–उत्तर पक्ष]

चौथी कारिका में उक्त आरोप के समाधान की बात कही गई है। कारिका का अर्थ इस प्रकार है–

मोक्षाभाव की आपत्ति के संदर्भ में मोक्षवादी जैनों का कहना है कि मोक्ष का उपाय अवश्य है और वह है दर्शन-ज्ञान तथा चारित्र, यह उपाय ही मोक्षतत्त्व-वास्तव मोक्ष की प्राप्ति का उत्कट साधन है, और वास्तव मोक्ष द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भाव-भेद से शुद्ध आत्मस्वरूप में जीव का अवस्थान है, मोक्षतत्त्व का उक्त उपाय उत्कृष्ट इसलिये है कि उसे वीतराग सर्वज्ञ भगवान् ने प्रतिपादित किया है, किसी असर्वज्ञ द्वारा प्रतिपादित अथवा तो सर्वथा अप्रतिपादित नहीं है।

[नैयायिक अभिमत मोक्ष की समीक्षा]

नैयायिकों का मत है कि जो दुःखध्वंस अपने समानाधिकरण दुःखप्रागभाव का असहवर्ती–असमानकालिक होता है वह दुःखध्वंस ही मोक्ष है। मोक्ष की इस परिभाषा के अनुसार जो दुःख-ध्वंस अन्तिम होता है, जिसके बाद उसके अधिकरण आत्मा में दूसरा दुःखध्वंस नहीं उत्पन्न होता वही मोक्ष है, क्योंकि अन्तिम दुःखध्वंस ही ऐसा होता है जो अपने समानाधिकरण पूर्ववर्ती दुःखप्रागभाव का सहवर्ती नहीं होता। किन्तु जो दुःखध्वंस अन्तिम नहीं होता, जिसके बाद उसके अधिकरण आत्मा में अन्य दुःखध्वंस की उत्पत्ति होने वाली है वह समानाधिकरण दुःखप्रागभाव का सहवर्ती होता है, क्योंकि उसके बाद दुःखध्वंस होने के लिये उसके बाद दुःख की उत्पत्ति भी आवश्यक होती है और वह तभी सम्भव हो सकती है, जब दुःखध्वंस के समय उसके अधिकरण आत्मा में दुःखप्रागभाव विद्यमान हो।

कल्पलताकार ने इस नैयायिकमत को यह कहकर अरमणीय बताया है कि जैसे अतीत दुःख पुरुष प्रयत्न के बिना ही नष्ट हुआ है वैसे ही वर्तमान दुःख भी पुरुष प्रयत्न के बिना ही नष्ट हो जायगा, अतः पुरुष प्रयत्न से साध्य न होने के कारण दुःखध्वंस सामान्य पुरुषार्थ भी नहीं हो सकता,

न च चरमदुःखध्वंसेऽन्वय-व्यतिरेकाभ्यां तत्त्वज्ञानस्य प्रतियोगिवद् हेतुत्वम्, प्रतियोगिनमुत्पाद्य तेन तदुत्पादनात्, पुरुषार्थसाधनतया दुःख-तत्साधनयोरपि प्रवृत्तिदर्शनादिति वाच्यम्, चरमत्वस्यार्थसमाजसिद्धत्वेन कार्यतानवच्छेदकत्वात्, अन्त्यदुःखे उपान्त्यदुःखस्यैव हेतुत्वेन तस्य तत्त्वज्ञानेनोत्पादयितुमशक्यत्वात्, भोगेनैव कर्मणां नाशे नानाभवयोग्यकर्मणामेकभवे भोक्तुमशक्यत्वात्, तत्कर्मभोगस्य चाऽपूर्वकर्मार्जकत्वेनाऽनिर्मोक्षापातात्। न च तत्त्वज्ञानबलार्जितेन कायव्यूहेन तत्तत्कालकर्मभोगाद् नाऽनिर्मोक्ष इति सांप्रतम्, मनुजादिशरीरसत्त्वे शूकरादिशरीरोत्पादाऽयोगात्। देवादीनां तु वैक्रियशरीरादिकर्मोदयमहिम्नैव नानाशरीरग्रहणोपपत्तेरिति।

फिर उसे मोक्षरूप चरम पुरुषार्थ मानने की कल्पना ही कैसे हो सकती है ? यदि यह कहा जाय कि–"दुःख के उच्छेद में पुरुष-प्रयत्न की साक्षात् अपेक्षा न होने पर भी उसके उपपादक दुःखहेतु-उच्छेद में पुरुष-प्रयत्न की साक्षात् अपेक्षा होने से दुःखोच्छेद में भी दुःखहेतु-उच्छेदक द्वारा पुरुष-प्रयत्न की अपेक्षा ठीक उसी प्रकार हो सकती है, जिस प्रकार पुरुषप्रयत्नापेक्ष प्रायश्चित्त के द्वारा प्रायश्चित्ताधीन पापनाश में पुरुषप्रयत्न की अपेक्षा होती है, अतः दुःखध्वंस में पुरुषार्थत्व की अनुपपत्ति नहीं हो सकती"–तो यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि दुःखध्वंस यदि दुःखसाधनध्वंस के द्वारा पुरुषप्रयत्नसापेक्ष होगा तो वह पुरुष का प्रयोजन न हो सकेगा किन्तु दुःख का अनुत्पाद अथवा दुःखसाधन का ध्वंस ही पुरुष का प्रयोजन होगा, क्योंकि जो पुरुष-प्रयत्न से साक्षात् सम्पादित होता है वही पुरुष का प्रयोजन होता है।

[चरमदुःखध्वंसस्वरूप मोक्ष मानने में बाधा]

यदि यह कहा जाय कि–"चरम दुःख का ध्वंस ही मोक्ष है और वह ध्वंस तत्त्वज्ञान के होने पर उत्पन्न होता है तथा उसके न होने पर नहीं उत्पन्न होता, इस अन्वयव्यतिरेक से यह सिद्ध है कि तत्त्वज्ञान उस ध्वंस का हेतु है, चरमदुःख–ध्वंस और तत्त्वज्ञान का यह कार्य-कारण भाव उक्त अन्वय-व्यतिरेक से ठीक उसी प्रकार सिद्ध है जिस प्रकार चरमदुःख के होने पर उसका ध्वंस होता है और उसके न होने पर उसका ध्वंस नहीं होता,–इस अन्वयव्यतिरेक से चरमदुःखध्वंस और चरमदुःखस्वरूप प्रतियोगी का कार्य कारण भाव सिद्ध है। उक्त कार्य-कारण भाव के प्रामाणिक होने से यह मानना सर्वथा युक्तिसंगत है कि तत्त्वज्ञान चरमदुःख को उत्पन्न कर उसके नाश का उत्पादक होता है। यतः चरमदुःख और उसका जनक तत्त्वज्ञान चरमदुःखध्वंसरूप पुरुषार्थ का साधन है अतः उनके साधनार्थ पुरुष की प्रवृत्ति न्यायसंगत है क्योंकि जो दुःख और दुःखसाधन पुरुषार्थ का साधक होता है उसमें पुरुष की प्रवृत्ति देखी जाती है जैसे ओदनार्थी पुरुष की दुःखबहुल पाकक्रिया में प्रवृत्ति सर्वविदित है।"–

किन्तु यह कथन भी ठीक नहीं है क्योंकि दुःख का चरमत्व–अर्थसमाज अधीन है, जिस दुःख के बाद दुःखान्तर का साधन सम्भव नहीं होगा वह दुःखान्तर के साधनाभाव से ही चरम हो जायगा अतः चरमत्व को तत्त्वज्ञान का कार्यतावच्छेदक नहीं माना जा सकता, अतएव चरमदुःख के उत्पादन द्वारा तत्त्वज्ञान में चरमदुःखध्वंस के साधनत्व का समर्थन नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त

"दुःखेनात्यन्तविमुक्तश्चरति" इति श्रुतिस्वरसाद् दुःखात्यन्ताभाव एव मुक्तिः, दुःखसाधनध्वंस एव च स्ववृत्तिदुःखस्यात्यन्ताभावसंबन्धः, स च साध्य एव' इति तदेकदेशिमतमपि न सांप्रतम्; दुःखसाधनध्वंसस्य दुःखात्यन्ताभावसंबन्धत्वे मानाभावात्।

'दुःखध्वंसस्तोम एव मुक्तिः' इत्यपि केषाञ्चित् तदेकदेशिनां मतं वार्त्तम्; स्तोमस्य कथमप्यसाध्यत्वात्।

दूसरी बात यह है कि उपान्त्य दुःख से ही अन्त्य दुःख की उत्पत्ति सम्भव होने से तत्त्वज्ञान से उसकी उत्पत्ति का समर्थन नहीं किया जा सकता। तीसरी बात यह है कि कर्म का नाश एक मात्र भोग से ही सम्पादित होता है अतः जो कर्म अनेक जन्मों में भोग्य है, उसका नाश उस एक जन्म में, जिसमें, तत्त्वज्ञान का उदय होता है, नहीं हो सकता। साथ ही उस कर्म के भोग से नये नये कर्मों की उत्पत्ति भी होगी जिनके भोग के लिये नये नये जन्मों की अपेक्षा होगी, अतः चरमदुःखध्वंस के असम्भव होने से उसे मोक्ष मानने पर मोक्षाभाव की प्रसक्ति होगी।

यदि यह कहा जाय कि-'तत्त्वज्ञान के प्रभाव से एक काल में प्राप्त अनेक शरीरों से एक ही जन्म में समस्त कर्मों का फलभोग सम्भव होने से मोक्षाभाव की प्रसक्ति नहीं हो सकती'-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि मनुष्य आदि शरीर के रहते शूकर आदि शरीर की उत्पत्ति नहीं हो सकती, देवता आदि को एक ही समय अनेक शरीर धारण की जो बात सुनी जाती है वह *वैक्रिय शरीर आदि के आरम्भक कर्म के उदय के बल से होती है, मनुष्य में उक्त बल नहीं होता अतः मनुष्य को एक काल में विभिन्न शरीरों का धारक नहीं माना जा सकता।

[दुःखध्वंस या दुखात्यन्ताभावरूप मोक्ष-एकदेशी]

कुछ एकदेशी नैयायिकों का मत है कि-जीव दुःख से अत्यन्त विमुक्त होकर मोक्षोत्तर काल में अनुवर्तमान होता है, इस बात का प्रतिपादन करने वाली श्रुति के अनुसार दुःखों का अत्यन्ताभाव ही मुक्ति है और दुःखसाधनों का ध्वंस ही 'स्व' में विद्यमानदुःख के अत्यन्ताभाव का 'स्व' के साथ सम्बन्ध है और वह पुरुषप्रयत्न से साध्य है, अतः दुःखात्यन्ताभाव के स्वरूपतः असाध्य होने पर भी सम्बन्धतः साध्य होने से उसमें पुरुषार्थत्व की अनुपपत्ति नहीं हो सकती,-किन्तु यह मत भी समीचीन नहीं है क्योंकि 'दुःखसाधनों का ध्वंस दुःखात्यन्ताभाव का सम्बन्ध है', इस बात में कोई प्रमाण नहीं है क्योंकि अत्यन्ताभाव का सर्वत्र स्वरूपसम्बन्ध ही युक्ति-सिद्ध है। कतिपय एकदेशी नैयायिकों का मत यह है कि-'दुःखध्वंस-समूह ही मोक्ष है। दुःखध्वंस समूह का अर्थ है एक जीव में जो-जो दुःखध्वंस होता है वह समग्र दुःखध्वंस, अतः कतिपय दुःखध्वंसों के समूह को लेकर संसारी जीव में मोक्ष की आपत्ति का उद्भावन नहीं किया जा सकता'-किन्तु यह मत भी तुच्छ प्रतीत होता है क्योंकि समग्र दुःखध्वंस में तत्त्वज्ञान के पूर्व उत्पन्न दुःखध्वंस का भी समावेश होने से समग्र दुःखध्वंस तत्त्वज्ञान से साध्य नहीं हो सकता, अतः मोक्षार्थी के तत्त्वज्ञान का प्रयत्न निरर्थक होगा।

---

* वैक्रियशरीर ऐसा शरीर जिससे विविध प्रकार की क्रिया (संकोच-विकासादि) हो सकती है। काटने पर भी पुनः एकत्रित हो जाता है। देव और नारक को होता है।

'आनन्दमयपरमात्मनि जीवात्मलयो मुक्तिः' इति त्रिदण्डिमतमपि न पेशलम्; एकादशेन्द्रिय-सूक्ष्ममात्रावस्थितपञ्चभूतात्मकलिङ्गशरीरापगमरूपलयस्य नामान्तरेण नामकर्मक्षयरूपत्वादेव। यदि चोपाधिशरीरनाशे औपाधिकजीवनाशो लयः, तदा तेन रूपेणाऽकाम्यत्वादपुरुषार्थत्वात्।

'अनुपप्लवा चित्तसंततिर्मुक्तिः' इति बौद्धबुद्धिरपि न सूक्ष्मा, संततेरवस्तुत्वेनाऽसाध्यत्वात्। न च संततिपतितक्षणानामेव पूर्वोत्तरभावेन हेतु-हेतुमद्भावात् तत्साध्यत्वम्, संसारानुच्छेदप्रसङ्गात्, सर्वज्ञज्ञानचरमक्षणस्यापि मुक्तज्ञानप्रथमक्षणहेतुत्वेन तत्संततिपतितत्वात्। अथ न हेतुफलभावमात्रादेकसंततिव्यवस्था अपि तूपादान-हेतुफलभावात्; न च सर्वज्ञज्ञानस्य चरमक्षण उपादानम्; आलम्बनप्रत्ययो हि सः, समनन्तरप्रत्ययश्चोपादानमिति चेत्? न, तुल्यजातीयस्योपादानत्वे मुक्तचित्त-सर्वज्ञज्ञानयोस्तुल्यजातीयत्वानपायात्, सर्वज्ञज्ञानचरमक्षणस्याद्यमुक्तचित्तानुपादानत्वे तस्यानुपादानस्यैवोत्पत्तेर्जागराद्यप्रत्ययेऽप्युपादानानुमानोच्छेदात्, अन्वयिद्रव्याभावे बद्ध-मुक्तव्यवस्थानुपपत्तेरिति।

[परमात्मा में आत्मा के लयस्वरूप मुक्ति-त्रिदण्डि]

त्रिदण्डी वेदान्तियों का मत है कि-'आनन्दमय परमात्मा में जीवात्मा का लय ही मुक्ति है। उनका आशय यह है कि परमात्मा आनन्दमय है-आनन्द का सागर है, जीव उसका अंश होते हुये भी अनादिकाल से विविध दुःखों से पीड़ित है। अतः वह दुःखों से त्राण पाने के लिये आनन्द में निमग्न होने के आतुर है, किन्तु वह शरीर के भीतर बन्द है, अतः जैसे बोतल के भीतर बन्द जल बोतल को सरोवर में डाल देने पर भी सरोवर के मुक्त जलराशि में लीन नहीं हो पाता, उसी प्रकार शरीर में बन्द आनन्दमय परमात्मा का आनन्दांशरूप भी जीव परमात्मानन्द में लीन नहीं हो पाता; किन्तु जब वह शास्त्रोक्त उपायों द्वारा शरीर के बन्धन को तोड़ देता है, तब जैसे बोतल टूट जाने पर बोतल के भीतर का जल सरोवर के जल में लीन हो जाता है वैसे शरीरबन्धन के टूट जाने पर शरीर के भीतर जीव परमात्मा के आनन्दस्वरूप में लीन हो जाता है। इस प्रकार आनन्दमय परमात्मा में जीवात्मा का लय ही जीवात्मा का मुक्त होना है।'-किन्तु यह मत भी उचित नहीं है क्योंकि जीवात्मा के निजस्वरूप का लय तो सम्भव नहीं है अत पञ्चज्ञानेन्द्रिय, पञ्चकर्मेन्द्रिय, एक उभयेन्द्रिय मन और पञ्चतन्मात्राओं के रूप में अवस्थित पञ्चभूत इन सोलहों के गणरूप लिङ्ग शरीर की निवृत्ति को ही जीवात्मा का लय कहा जायगा और जब इस लय को मोक्ष कहा जायगा तो नामान्तर से नामकर्म का क्षय ही मोक्ष के रूप में अभिहित होगा, अत जैन सम्मत मोक्ष से इसका भेद बताना दुष्कर होगा। यदि यह कहा जाय कि-शरीरोपाधिक आत्मा ही जीव है अतः शरीररूप उपाधि के नाश से औपाधिक जीव का नाश होना ही जीवात्मा का लय है-तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि जीवनाश के रूप में जीवलय काम्य न होने से वह पुरुषार्थ न हो सकेगा।

[निरुपप्लव चित्तसन्तति मोक्ष-विज्ञानवादिबौद्ध]

बौद्धदर्शन के एक विज्ञानवादी सम्प्रदाय का मत है कि उपप्लव=विषय से शून्य चित्त

सन्तति=ज्ञानसन्तान ही मोक्ष है, इस मत का मर्म यह है कि ज्ञान ही सत्य वस्तु है, उससे भिन्न जो कुछ दीखता है वह सब अनादि वासना से कल्पित है, अतः ज्ञेय का प्रतिभास मिथ्या है। बौद्धमत में वर्णित रीति से साधना द्वारा वस्तुतत्त्व का ज्ञान हो जाने पर ज्ञेय अर्थ की कल्पक वासना का नाश होने से ज्ञान ज्ञेय के सम्बन्ध से शून्य हो जाता है। जो ज्ञानधारा ज्ञेय के साथ प्रवाहित होती थी वह अब ज्ञेयसम्पर्क से शून्य होकर विशुद्धज्ञानधारा के रूप में प्रवाहित होने लगती है, इस विशुद्ध ज्ञानधारा को ही 'अनुपप्लवा चित्तसन्तति' कहा जाता है। विज्ञानवादी बौद्ध के मत में यही मोक्ष है। व्याख्याकार यशोविजयजी ने यह कह कर इसे असंगत बताया है कि सन्तति कोई [1]सत् वस्तु न होने के कारण असाध्य है, अतः चित्तसन्तति को मोक्षरूप पुरुषार्थ मानना सम्भव नहीं है।

यदि यह कहा जाय कि-'चित्तसन्तति भले चित्त से भिन्न कोई वस्तु नहीं है किन्तु सन्तति के अन्तर्गत जो चित्तक्षण है, उनसे अभिन्नरूप में उसका अस्तित्व तो है ही, अतः उन चित्तक्षणों में पूर्वोत्तरभाव के आधार पर परस्पर में हेतुहेतुमद्भाव होने से उन सभी में साध्यता होने के कारण उनसे अभिन्न जो उनकी सन्तति है, उसमें भी साध्यता अपरिहार्य है, अतः असाध्य कहकर चित्तसन्तति को अपुरुषार्थ नहीं कहा जा सकता''-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि यदि हेतुहेतुमद्भावापन्न अनुपप्लव चित्त-क्षणों को मोक्ष कहा जायगा तो मोक्षकाल में संसार के अस्तित्व की आपत्ति होने से संसार के अनुच्छेद की प्रसक्ति होगी, क्योंकि सर्वज्ञज्ञान का चरमक्षण यह मुक्तचित्त के आद्यक्षण का हेतु होता है अतः हेतु तथा हेतुमान् क्षणों का एक सन्तान होने से वे दोनों एक सन्तान के घटक हो जायेंगे, फलतः मुक्तचित्त सन्तान में सर्वज्ञज्ञान के चरमक्षणरूप सांसारिक वस्तु का समावेश हो जाने से उसे मोक्षस्वरूप मानना उचित न होगा।

यदि इस दोष का परिहार यह कह कर किया जायगा कि-''जिन क्षणों में सामान्य हेतुहेतुमद्भाव होता है, उन क्षणों का एक सन्तान नहीं होता, अपितु जिन क्षणों में उपादान-उपादेयभाव होता है उन क्षणों का ही एक सन्तान होता है, सर्वज्ञज्ञान का चरमक्षण आद्यमुक्तिचित्त का आलम्बनात्मक कारण है, समनन्तर कारण नहीं है और जो जिसका समनन्तर कारण होता है वही उसका उपादान कारण होता है, अतः सर्वज्ञज्ञान के चरमक्षण और आद्य मुक्तचित्तक्षण में उपादान-उपादेय भाव न होने से उन दोनों को एक सन्तान का घटक नहीं माना जा सकता, फलतः अनुपप्लव चित्तसन्तति को मोक्ष मानने पर उसमें संसार का सम्बन्ध न होने से मोक्ष में संसार के अनुच्छेद की प्रसक्ति नहीं हो सकती।

इस मत का आशय है कि-बौद्धमतानुसार मनुष्य की मुक्ति सर्वज्ञताप्राप्तिपूर्वक होती है। मनुष्य पहले सर्वज्ञ होता है बाद में मुक्त होता है। सर्वज्ञज्ञान-सर्वग्राही ज्ञान के चरम क्षण की निवृत्ति के साथ साथ अनुपप्लव चित्तसन्तति का प्रारम्भ होता है। सर्वज्ञज्ञान का चरमक्षण सन्ततिघटक प्रथम चित्त का आलम्बन कारण होता है। उसका कोई समनन्तरप्रत्यय-उपादान कारण नहीं होता, क्योंकि समनन्तर का अर्थ है 'सजातीय=समानापोह्य, समानाधिकरण=एक सन्तति घटक, अव्यवहित पूर्ववर्ती' और ऐसा कोई आद्य मुक्त चित्त के लिये सम्भव नहीं है, अतः वह बिना उपादान के ही

१. बौद्धमत में 'यत् सत् तत् क्षणिकम्'-जो क्षणिक है वही सत् है, सन्तति तो क्षणों तक चलती धारा होने से क्षणिक-क्षणस्थायी नहीं, अतः सत् नहीं।

'स्वातन्त्र्यं मुक्तिः' इत्यपरेषां मतमपि न क्षोदक्षमम्, तद् यदि कर्मनिवृत्तिरेव तदा सिद्धान्तसिन्धावेव निमज्जनात्। यदि चैश्वर्यमेव तत्, तदाऽभिमानाधीनतया तस्य संसारविलसितत्वात्।

'प्रकृति-तद्विकारोपधानविलये पुरुषस्य स्वरूपेणावस्थानं मोक्षः' इति सांख्यमतमपि न निर्मलसंख्यासमुज्जृम्भितम्, स्वरूपावस्थानस्य कूटस्थात्मरूपस्याऽसाध्यत्वात्, प्रकृत्यादिप्रक्रियायां प्रमाणाभावाच्च।

उत्पन्न होता है। अतः उपादान-उपादेयभावापन्न क्षणों का ही एक सन्तान होता है, अतः सर्वज्ञज्ञान के चरमक्षण और आद्य मुक्तचित्त का एक सन्तान न होने से मुक्तचित्त सन्तान में संसार का समावेश नहीं हो सकने से उसे मोक्ष मानने पर संसारानुच्छेद की आपत्ति नहीं हो सकती।"—

किन्तु यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि कार्य के तुल्यजातीय के ही उपादान होने का नियम होने पर भी सर्वज्ञज्ञान के चरमक्षण में आद्य मुक्तचित्त की उपादानता का परिहार नहीं हो सकता क्योंकि सर्वज्ञान का चरमक्षण और आद्य मुक्तचित्त दोनों ही ज्ञानात्मक होने से तुल्यजातीय हैं। दूसरी बात यह है कि यदि आद्य मुक्तचित्त उपादान कारण के बिना ही उत्पन्न होगा तो जागर आदि ज्ञान की भी निरुपादान उत्पत्ति सम्भव होने से उनके उपादानकारण के अनुमान का उच्छेद हो जायगा इसके साथ ही तीसरी बात यह है कि बौद्धमत में बन्ध-मोक्ष उभयकाल में किसी अन्वयी द्रव्य की सत्ता न होने से बद्धमुक्त की व्यवस्था-जो बद्ध होता है वही मुक्त होता है, इस नियम की उपपत्ति न हो सकेगी।

[मुक्ति स्वातन्त्र्यस्वरूप है]

अन्य दार्शनिकों का मत है कि स्वातन्त्र्य ही मुक्ति है, संसारदशा में मनुष्य परतन्त्र होता है। 'सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम्' इस न्याय के अनुसार संसारी मनुष्य अनादिकालिक पारतन्त्र्य से पीड़ित है, दुःखी है, अतः शास्त्रोक्त साधनों द्वारा पारतन्त्र्य को दूर कर स्वातन्त्र्य प्राप्त करना ही मनुष्य की मुक्ति है।"—किन्तु व्याख्याकार के अनुसार यह मत भी विचार द्वारा उपपन्न नहीं होता, क्योंकि स्वातन्त्र्य का अर्थ यदि कर्म-निवृत्ति माना जायगा तो इस मत बिन्दु का जैन दर्शन के सिद्धान्तसिन्धु में ही प्रवेश हो जायगा क्योंकि जैनदर्शन के सिद्धान्तानुसार समग्र कर्मों का क्षय ही मोक्ष है।

यदि उक्त दोष के भय से कर्मनिवृत्ति को स्वातन्त्र्य न मानकर ऐश्वर्य को स्वातन्त्र्य माना जाय, और ऐश्वर्य की प्राप्ति को मोक्षप्राप्ति के रूप में वर्णित किया जाय, तो यह भी उचित नहीं हो सकता क्योंकि-जीव में वास्तव ऐश्वर्य न होने से आभिमानिक ही ऐश्वर्य मानना होगा और जब उसे ईश्वराभिमान होगा तब वह मुक्त कैसे हो सकेगा क्योंकि अभिमान संसार का ही एक विलास है, सांसारिकता का ही एक रूप है।

[प्रकृति और उसके विकारों का विलय मुक्ति—सांख्य]

सांख्य दर्शन का मत है कि—"प्रकृति तथा उसके विकाररूप उपाधि का विलय होने पर पुरुष का अपने वास्तव स्वरूप से अवस्थान ही मोक्ष है। आशय यह है कि सांख्य दर्शन के अनुसार प्रकृति

'अग्रिमचित्तानुत्पादे पूर्वचित्तनिवृत्तिर्मुक्तिः' इत्यन्येषां मतमपि कुवासनाविलसितम्, अग्रिमचित्तानुत्पादस्य प्रागभावरूपस्याऽसाध्यत्वात्, चित्तनिवृत्तेरनुद्देश्यत्वाच्च।

'आत्महानं मुक्तिः' इति पापिष्ठमतमपि विष्टमेव, वीतरागजन्माऽदर्शनन्यायेन नित्यतया सिद्धस्यात्मनः सर्वथा हातुमशक्यत्वात्, आत्महानस्यानुद्देश्यत्वाच्च।

और पुरुष ये दो ही कारणनिरपेक्ष अनादि तत्त्व हैं, इनका संयोग यानी परस्पर भेद का अविवेक=अज्ञान अनादि है, वही सत्त्व, रजस् और तमस् इन गुणों से अभिन्नस्वरूपा प्रकृति के महत्तत्त्व, अहंकार, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धनामक पांच तन्मात्र-सूक्ष्मभूत, श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसन, घ्राण नामक पांच ज्ञानेन्द्रिय; वाक्, पाणि, पाद, पायु = मलेन्द्रिय, उपस्थ=मूत्रेन्द्रिय नामक पांच कर्मेन्द्रिय, उभयेन्द्रिय मन और आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी नामक पांच महाभूत इन तेईस विकारों को उत्पन्न करता है। प्रकृति के यह तेईस विकार तथा स्वयं प्रकृति और पुरुष ये पच्चीस सांख्यसम्मत तत्त्व हैं। प्रकृति और पुरुष में अविवेक होने से प्रकृति के प्रथम विकार महत्तत्त्व और पुरुष में भी अविवेक होता है। महत्तत्त्व, सत्त्व-अन्तःकरण आदि शब्दों से व्यपदिष्ट होता है और वही कर्तृत्व तथा कर्तृत्वाधीन अन्य सभी धर्मों का आश्रय होता है। पुरुष में उसका अविवेक होने से पुरुष में उसके सभी धर्मों का प्रतिभास होता है, पुरुष में महत्तत्त्व के धर्मों का यह अविवेकमूलक प्रतिभास ही पुरुष का बन्धन है, इस बन्धन के कारण संसारदशा में पुरुष अपने निज रूप से अवस्थित न होकर महत्तत्त्व के औपाधिकस्वरूप से अवस्थित होता है किन्तु जब प्रकृतिपुरुष के विवेक का उदय होने से उनके अविवेक की निवृत्ति होती है तब प्रकृति और उसके विकाररूप उपाधि का विलय हो जाने से पुरुष औपाधिकरूप से असम्पृक्त होकर अपने वास्तव स्वरूप से अवस्थित हो जाता है। पुरुष का यह स्व-स्वरूपावस्थान ही उसका मोक्ष है।"

व्याख्याकार कहते हैं कि सांख्य का यह मत निर्मल संख्या=विशुद्ध बुद्धि पर आधारित नहीं है, क्योंकि पुरुष का स्वस्वरूपावस्थान कूटस्थपुरुषरूप होने से असाध्य है और जो असाध्य है वह पुरुषार्थ नहीं हो सकता। दूसरी बात यह है कि प्रकृति, महत्तत्त्व आदि के सम्बन्ध में जो प्रक्रिया बताई गई, उसमें कोई प्रमाण नहीं है अतः अप्रामाणिक प्रक्रिया के आधार पर बन्ध और मोक्ष की कल्पना युक्तिसंगत नहीं हो सकती।

[अग्रिमचित्तानुत्पादसहित पूर्वचित्तनाश मुक्ति-बौद्ध]

कतिपय बौद्धमनीषियों का मत है कि अग्रिमचित्त के अनुत्पाद से विशिष्ट पूर्व चित्त की निवृत्ति ही मोक्ष है। कहने का आशय यह है कि- "चित्त ही अस्तिरूप में बन्धन है और वही नास्तिरूप में मोक्ष है।" पर ज्ञातव्य है कि सामान्य रूप से चित्तनिवृत्तिमात्र को मोक्ष नहीं माना जा सकता क्योंकि संसारदशा में भी नये नये चित्तों की उत्पत्ति के साथ पूर्व पूर्व चित्तों की निवृत्ति होती रहती है, अतः संसारदशा में होने वाली चित्तनिवृत्ति के द्वारा उस दशा में भी मनुष्य में मुक्तत्व की आपत्ति होगी "अतः चित्तनिवृत्तिमात्र को मोक्ष न मानकर अग्रिमचित्त के अनुत्पाद से विशिष्ट पूर्वचित्तनिवृत्ति को ही मोक्ष मानना न्यायसंगत होगा, ऐसा मानने पर संसारदशा में मोक्ष की आपत्ति नहीं हो सकती क्योंकि उस दशा में अग्रिमचित्त का अनुत्पाद नहीं होता।"-व्याख्याकार कहते हैं कि यह

'नित्यनिरतिशयसुखाभिव्यक्तिर्मुक्तिः' इति तौतातितमतमपि नातिचतुरस्रम्, एकान्ततः सुखस्य नित्यत्वे संसारदशायामपि तदभिव्यक्तिप्रसङ्गात्, सुखमात्रस्य स्वगोचरसाक्षात्कारजनकत्वनियमात्, तज्ज्ञानस्याप्यभिव्यक्तिरूपस्य नित्यत्वात्, "नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" इति श्रुत्या ज्ञान-सुखयोरभेदबोधनात्। अनित्यज्ञानरूपतदभिव्यक्तेर्दोषाभावसाध्याया उपगमे तस्या नाशनियमेन मुक्तस्य पुनरावृत्तिप्रसङ्गात्; तदभिव्यक्तिप्रवाहस्य च शरीरादिहेत्वपेक्षां विनाऽनुपपत्तेः। उपपत्तौ वा एकस्या एव तदभिव्यक्तेर्दोषाभावजन्यायाः, सुखस्य च तादृशस्य तावद्दूरमवस्थानौचित्यात्।

मत भी कुवासनामूलक ही है। कारण यह है कि अग्रिमचित्त के अनुत्पाद का अर्थ है अग्रिमचित्त का प्रागभाव, अतः प्रागभाव अनादि होने से असाध्य होने के कारण प्रागभाव से घटित उक्त मोक्ष भी असाध्य हो जायगा। यदि किसी प्रकार चित्तोत्पादक के अभाव से चित्त की अनुत्पत्ति बता कर चित्तप्रागभाव में आंशिक साध्यता यानी परिपाल्यतारूप साध्यता की उपपत्ति की जाय, तो उक्त दोष का वारण हो जाने पर भी उसे पुरुषार्थ नहीं माना जा सकता क्योंकि वह पुरुषप्रवृत्ति का उद्देश्य नहीं है।

'आत्मा का अस्तित्व ही बन्धन है अतः आत्मा का हान हो यानी आत्मा का स्वरूपनाश ही मोक्ष है' यह अत्यन्त पापिष्ठ मत है। व्याख्या के अनुसार यह मत भी मलिन प्राय है क्योंकि वीतराग का जन्म नहीं देखा जाता किन्तु सराग का ही जन्म देखा जाता है, अतः आत्मा को नित्य मानना अनिवार्य है, और जब आत्मा नित्य है तब उसका हान कथमपि सम्भव नहीं हो सकता। दूसरी बात यह है कि आत्महान किसी पुरुष का उद्देश्य नहीं होता, अतः उसे पुरुषार्थ कहना कथमपि संगत नहीं हो सकता।

[नित्यनिरतिशयसुख की अभिव्यक्ति मोक्ष—मीमांसक]

मीमांसादर्शन के सम्प्रदाय का मत है—कि "विषयेन्द्रिय सम्पर्क से उत्पन्न होने वाले सुख से भिन्न भी सुख होता है जो नित्य और निरतिशय होता है, निरतिशय का अर्थ है अतिशय से शून्य, जिससे अधिक दूसरा न हो, जो सर्वश्रेष्ट हो, ऐसे सुख की अभिव्यक्ति, ऐसे अनादि-अनन्त महत्तम सुख का प्रत्यक्ष अनुभव ही मुक्ति है।" मीमांसा दर्शन के कुमारील भट्टसम्प्रदाय का यह मत भी समीचीन नहीं है, क्योंकि मोक्षसुख यदि एकान्त नित्य होगा तो संसारदशा में भी उसकी अभिव्यक्ति की प्रसक्ति होगी, इस प्रसक्ति के कई कारण हैं, जैसे पहला कारण यह है कि जितना भी सुख होता है वह सब अपने साक्षात्कार का जनक होता है, यह नियम है; मोक्ष सुख नित्य होने से यतः संसार दशा में भी है अतः उस दशा में भी उक्त नियम के अनुसार उसका साक्षात्कार होना अपरिहार्य है। दूसरा कारण यह है कि नित्य सुख की अभिव्यक्ति नित्यसुख के ज्ञानस्वरूप होने से नित्य है, क्योंकि 'ज्ञान और आनन्द से अभिन्न ब्रह्म नित्य है' इस तथ्य की प्रतिपादिका श्रुति से नित्य ब्रह्म के रूप में सुख और ज्ञान के अभेद का बोध होता है, अतः नित्य सुख से अभिन्न नित्यसुखज्ञानरूप अभिव्यक्ति की नित्यता के कारण संसारदशा में नित्यसुख की अभिव्यक्ति का होना अनिवार्य है।

एतेन 'अविद्यानिवृत्तौ विज्ञान-सुखात्मकः केवल आत्मैवापवर्गः' इति वेदान्तिमतमपि **निरस्तम्**, ज्ञानसुखात्मकब्रह्मणो नित्यत्वे मुक्त-संसारिणोरविशेषापातात्, अविद्याया असत्त्वेन नित्यनिवृत्तत्वाच्चेति दिग्।

यदि यह कहा जाय कि-"नित्य सुख की अभिव्यक्ति नित्यज्ञानरूप नहीं किन्तु अनित्यज्ञानरूप है और उसकी उत्पत्ति संसारजनक दोष के अभाव से होती है, अतः संसारदशा में संसारजनक दोष का अभाव न होने से उस दशा में नित्यसुख की अनित्यज्ञानात्मक अभिव्यक्ति की आपत्ति नहीं हो सकती"-तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि जो जन्य होता है उसका नाश अवश्य होता है इस नियम के अनुसार नित्यसुख के अनित्यज्ञानात्मक अभिव्यक्ति रूपा मुक्ति का नाश अनिवार्य होने से मुक्त के पुर्नजन्म की आपत्ति होगी। इसके उत्तर में यदि यह कहा जाय कि-'यह दोष नित्य सुख की अनित्यज्ञानात्मक एक अभिव्यक्ति को मुक्ति मानने पर ही हो सकता है, अभिव्यक्तिप्रवाह को मुक्ति मानने पर नहीं हो सकता' तो-यह भी ठीक नहीं हो सकता, क्योंकि अभिव्यक्ति प्रवाह को शरीर आदि हेतुओं की अपेक्षा होती है अतः मोक्ष दशा में उन हेतुओं का अभाव होने से अभिव्यक्ति प्रवाह की उत्पत्ति नहीं हो सकती, और यदि नित्य सुख की अभिव्यक्ति का शरीर आदि से जन्म न मानकर केवल संसार-जनक दोष के अभाव से ही जन्म मानकर उसके प्रवाह की उपपत्ति की जायगी तो प्रवाहोपपत्ति का प्रयास निरर्थक होगा और साथ ही सुख के नित्यत्व का अभ्युपगम भी अनावश्यक होगा क्योंकि संसारजनकदोषाभाव से सुख और सुखाभिव्यक्ति की उत्पत्ति मानकर एक ही सुख और एक ही सुखाभिव्यक्ति की स्थिति सुदीर्घ कालतक मानना उचित हो सकता है क्योंकि ऐसा मानने में कल्पना-लाघव है।

इस सन्दर्भ में यह बात ध्यान देने योग्य है कि सुख और सुख-ज्ञान आत्मा का जन्य विशेष-गुण है और आत्मा के जन्य विशेषगुण की उत्पत्ति आत्मा के साथ शरीर आदि का सम्बन्ध होने पर ही होती है, अतः शरीर आदि के बिना केवल संसारजनकदोषाभावमात्र से सुख और सुखाभिव्यक्ति की उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती, क्योंकि यदि सुख आदि की उत्पत्ति शरीर आदि के बिना भी सम्भव मानी जायगी तो संसार दशा में भी आत्मा के साथ शरीर आदि का सम्बन्ध अनावश्यक होगा क्योंकि जैसे मोक्ष-सुख और उसका ज्ञान शरीर आदि के अभाव में भी केवल संसार-जनक दोषाभाव से उत्पन्न होगा, वैसे ही संसारकालिक सुखादि की भी उत्पत्ति शरीर आदि के बिना ही केवल संसारजनकदोषमात्र से मानी जा सकती है।

[अविद्या निवृत्त होने पर केवल आत्मस्वरूप मुक्ति-वेदान्ती]

वेदान्ती दार्शनिकों का मत है कि अविद्या की निवृत्ति होने पर ज्ञानसुखस्वरूप केवल आत्मा ही अपवर्ग-मोक्ष है। उनके मत का स्पष्टरूप यह है कि आत्मा ज्ञानस्वरूप और सुखस्वरूप है तथा एकान्त नित्य है, एकमात्र उस एक तत्त्व की ही पारमार्थिक सत्ता है। वह अनादिकाल से अविद्या से उपहित है। अविद्या का अर्थ है माया-अज्ञान, जो सत्त्व, रजस् और तमस् इन तीन गुणों से अभिन्न है। वह न त्रिकालाबाध्यरूप में सत् है और न शशशृंग आदि के समान कालमात्र से असम्बद्ध रूप में असत् है। अतः वह आत्मा के समान सद् रूप में, तथा शशशृङ्ग आदि के समान असद् रूप में

'परः' इत्यनेन ज्ञान-क्रिययोः समुच्चयेन मोक्षोपायत्वं सूचितम् । विवेचयिष्यते चात्र नयमतभेदविचारः स्वयमेव ग्रन्थकृतोपरिष्टात् ।

ये तु ज्ञानदुर्नयावलम्बिन औपनिषदाः 'ज्ञानमेव मोक्षोपायः, तच्च साक्षिणि कल्पितम्, साक्ष्यमनृतत्वाद् नास्त्येव साक्ष्येव तु परमार्थसत् इति विचाररूपम्, योगस्तु चित्तदोषनिराकरणेनान्यथासिद्धः' इति प्रतिजानते; तेषामुत्पन्नमात्र एव तत्त्वज्ञाने संसारोच्छेदापत्तिः । न च प्रारब्धस्याऽज्ञाननिवृत्तौ प्रतिबन्धकत्वाद् नायं दोष इति सांप्रतम्; अज्ञाननिवर्तकस्वभावस्य तत्त्वज्ञानस्य तन्निवृत्तौ प्रतिबन्धककृतविलम्बाऽयोगात् । न हि शुक्तितत्त्वज्ञानेन रजतभ्रमे निवर्तनीये प्रतिबन्धककृतविलम्बो दृश्यते । 'दृश्यत एव "पीतः शङ्खः" इत्यादौ श्वैत्यानुमित्यादावपि पित्तकृतः पीतत्वभ्रमनिवृत्तिविलम्ब' इति चेत्? तथापि साक्षात्कारभ्रमनिवृत्तौ तत्त्वसाक्षात्कारे सति प्रतिबन्धककृतो विलम्बो न दृश्यत एव । न च पराभिमतं भावरूपमज्ञानमेवास्ति, इति किं तत्त्वज्ञानेन निवर्त्तनीयम्? ।

निर्वाच्य न होने से अनिर्वाच्य है । उस अविद्या के कारण ही आत्मा के नित्यज्ञान-सुखात्मक वास्तव स्वरूप का बोध न होकर उसके अवास्तव स्वरूप नामरूपाद्यात्मक जगत् का अवबोध होता है । इस प्रकार अविद्यात्मक उपाधि ही आत्मा का बन्धन है और इस बन्धन से ही वह सर्वविध अपकर्म का भाजन-पात्र बना है, जब कभी पुण्यपुञ्ज के परिपाक से सद्गुरु का सत्संगलाभ होकर उसको कृपापूर्वक वेदान्तोपदेश से उसे अपने वास्तव स्वरूप का बोध होगा तब अविद्या की निवृत्ति हो जाने से ज्ञानसुखात्मक केवल आत्मा ही अवस्थित रहेगा-आत्मा की यह स्थिति ही उसकी मोक्षकालिक स्थिति होगी ।

व्याख्याकार कहते हैं कि यह मत भी निरस्त हो जाता है क्योंकि ज्ञानसुखात्मक ब्रह्मस्वरूप आत्मा ही जब मोक्ष होगा तब मुक्त और संसारी में कोई भेद न हो सकेगा क्योंकि उक्त मोक्ष नित्य होने से संसारदशा में भी रहेगा अत: संसारी को मुक्त से भिन्न कहना सम्भव न हो सकेगा । यदि यह कहा जाय कि-'केवल उक्त आत्मा ही मोक्ष नहीं है किन्तु अविद्यानिवृत्तिकालिक उक्त आत्मा मोक्ष है । संसार दशा में अविद्या की निवृत्ति न होने से संसारी मुक्त नहीं कहा जा सकता'-तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि अविद्या असत्-सत् से भिन्न होने के कारण नित्यनिवृत्त है ।

मूल कारिका में जैनदर्शनोक्त मोक्षोपाय को पर=सर्वोत्कृष्ट कहकर ज्ञान और क्रिया के समुच्चय को मोक्ष का उपाय होने की सूचना दी गई है । इस सम्बन्ध में नयों के मतभेदों का विचार ग्रन्थकार आगे स्वयं प्रस्तुत करेंगे ।

[ज्ञानमात्र मोक्षोपायवादी वेदान्ती का निरसन]

जो उपनिषद्-वेदान्त के अध्येता ज्ञानरूप दुर्नय का आश्रय लेने वाले हैं, मोक्षोपाय के सम्बन्ध में उन वेदान्ती का मत है कि "ज्ञान ही मोक्ष का उपाय है और ज्ञान साक्षी-

किञ्च, प्रारब्धस्य प्रतिबन्धकत्वं न कारणीभूताऽभावप्रतियोगित्वम्, अभावस्य तुच्छत्वेन परैः कारणत्वानभ्युपगमात्, किन्तु कार्यानुकूलशक्तिविघटकत्वम्। विघटनं च नाशः कुण्ठनं वेत्यन्यदेतत्। न चैकस्यैव ज्ञानस्य मुक्तिपर्यन्तमवस्थानम् इत्यन्तिमतत्त्वज्ञान एव तच्छक्तिः कल्प्या, अनन्तशक्तिनाशकुण्ठनादिकल्पने गौरवात्, अन्यथेदानींतनतत्त्वज्ञानेऽपि तत्कल्पनं दुर्निवारं स्यादिति गतं प्रारब्धप्रतिबन्धकत्वेन। इत्थमेव स्वीकारे च प्राच्यज्ञानवत् प्राच्यकर्मणोऽप्यन्तिमतत्त्वज्ञानोपकारकतया समप्राधान्यमेव, आगमेऽप्यात्मदर्शनस्येव सम्यक्क्रियाया अपि मुक्तिहेतुत्वं सिद्धमेव। सूक्ष्मेक्षणेन तत्र प्रयोजकत्वविश्रामोऽप्युभयत्र तुल्यः। अन्तिमज्ञानक्षण इवान्तिमपुरुषव्यापारक्षणेऽपि मुक्तिजननी शक्तिस्तुल्येति विवेकः।

चैतन्य में कल्पित है और वह 'साक्षित्व मिथ्या होने से अस्तित्वशून्य है, केवल साक्षी ही परमार्थसत् सत्य वस्तु है' इस प्रकार के विचारस्वरूप है। इसी से मोक्ष की प्राप्ति होती है, योग का उपयोग चित्तदोष को दूर करने मात्र में है, मोक्ष के प्रति तो वह अन्यथासिद्ध है।''–इस मत में यह दोष है कि ज्ञानमात्र को मोक्ष का उपाय मानने पर तत्त्वज्ञान का उदय होते ही संसार के उच्छेद की आपत्ति होगी, फलतः जीवन्मुक्ति की उपपत्ति न हो सकने से शास्त्र-सम्प्रदाय की प्रामाणिकता सिद्ध न हो सकेगी। यदि यह कहा जाय कि 'संसार का उच्छेद अज्ञाननिवृत्ति से ही साध्य है और अज्ञान निवृत्ति में प्रारब्धकर्म प्रतिबन्धक है अतः तत्त्वज्ञान उत्पन्न हो जाने पर भी प्रारब्धवश अज्ञाननिवृत्ति का प्रतिबन्ध हो जाने से उच्छेदकारण का अभाव होने से तत्काल संसारोच्छेद की आपत्ति नहीं हो सकती'–तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि अज्ञान को निवृत्त करना तत्त्वज्ञान का स्वभाव है अतः तत्त्वज्ञान उत्पन्न हो जाने पर प्रतिबन्धक के कारण अज्ञाननिवृत्ति के होने में विलम्ब नहीं हो सकता, क्योंकि शुक्ति के तत्त्वज्ञान से शुक्ति में रजत भ्रम की निवृत्ति होने में प्रतिबन्धक जनित विलम्ब नहीं देखा जाता।

यदि यह कहा जाय कि-"शङ्ख में पीतत्व भ्रम के बाद शङ्ख में श्वेत्य का अनुमित्यात्मक तत्त्वज्ञान होने पर ज्ञान पित्तदोषरूप प्रतिबन्धक से शंख में पीतत्वभ्रम की निवृत्ति में विलम्ब देखा जाता है, अतः आत्मतत्त्व का साक्षात्कार हो जाने पर भी प्रारब्धवश अज्ञाननिवृत्ति में विलम्ब माना जा सकता है"–तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि अनुमितिरूप परोक्ष तत्त्वज्ञान से भ्रमनिवृत्ति में प्रतिबन्धककृत विलम्ब, शङ्ख में पीतत्वभ्रम के स्थल में देखा जाता है यह ठीक है; पर साक्षात्कारात्मक तत्त्वज्ञान से भ्रम की निवृत्ति में प्रतिबन्धककृत विलम्ब कहीं नहीं देखा जाता, अतः आत्मविषयक अविद्या जो साक्षात्कारात्मक भ्रम के तुल्य है, आत्मा के साक्षात्कारात्मक तत्त्वज्ञान से उसकी निवृत्ति में प्रारब्धरूप प्रतिबन्धक द्वारा विलम्ब का अभ्युपगम नहीं किया जा सकता, क्योंकि उसके अनुरूप कोई दृष्टान्त नहीं है।

[प्रारब्धकर्म में अज्ञाननिवृत्तिप्रतिबन्धकत्व असंगत]

उक्त के अतिरिक्त यह भी ध्यान में रखने की बात है कि प्रारब्ध कर्म में अविद्यानिवृत्ति के प्रति जो प्रतिबन्धकता होगी वह कारणीभूताभावप्रतियोगित्व रूप नहीं हो सकती। अर्थात् यह नहीं कहा

आ सकता कि प्रारब्धकर्म का अभाव अज्ञान निवृत्ति का कारण है अत: प्रारब्धकर्म उस अभाव का प्रतियोगी होने से अज्ञान निवृत्ति का प्रतिबन्धक कहा जाता है। क्योंकि परमत में अभाव तुच्छ-असत् होता है अत: वह किसी कार्य का कारण नहीं हो सकता, इस लिये प्रारब्धकर्म में जो अज्ञान-निवृत्ति की प्रतिबन्धकता होगी वह कार्यानुकूल शक्ति के विघटकत्व रूप होगी, अर्थात् तत्त्वज्ञान में जो अज्ञाननिवर्तिका शक्ति है उसका विघटन-नाश किंवा कुण्ठन करने से प्रारब्ध कर्म अज्ञाननिवृत्ति का प्रतिबन्धक कहा जायगा और यह तभी सम्भव हो सकता है-जब मुक्ति पर्यन्त एक ही तत्त्वज्ञान का अस्तित्व हो क्योंकि तभी उसमें विद्यमान अज्ञाननिवर्तिका शक्ति का विघटन होने से प्रारब्धकर्म प्रतिबन्धक बन सकेगा। किन्तु ऐसा है नहीं, मुक्तिपर्यन्त एक ही तत्त्वज्ञान नहीं रहता, किन्तु तब तक अनेक तत्त्वज्ञान उत्पन्न हो जाते हैं, क्योंकि ऐसा न मानने पर तत्त्वज्ञान का अभ्यास सम्भव न होने से उसमें दृढ़ता नहीं आ सकती, और जब यह बात है तब सभी तत्त्वज्ञानों में अज्ञाननिवर्तिका शक्ति के होने में कोई प्रमाण न होने से अन्तिम तत्त्वज्ञान में ही उसका अस्तित्व मानना उचित होगा क्योंकि पूर्वतत्त्वज्ञानों में उसे स्वीकार करने पर तत्त्वज्ञान के भेद से उसमें आनन्त्य तथा प्रारब्धकर्म द्वारा उसके अनन्त नाश किंवा कुण्ठन की कल्पना में महान् गौरव होगा और यदि इस गौरव की उपेक्षा कर सभी तत्त्वज्ञानों में उक्त शक्ति की कल्पना की जायगी तब संसारदशा में होने वाले शुक्ति आदि के अन्य तत्त्वज्ञानों में भी असत्त्वज्ञानरूप भ्रम एवं उसके उत्पादक शुक्तितत्त्वादि के अज्ञान को निवृत्त करने वाली शक्ति भी कल्पनीय होगी किन्तु इस शक्ति का विघटन प्रारब्धकर्म से नहीं होता, अत: प्रारब्धकर्म में अज्ञान निवृत्ति की प्रतिबन्धकता मानने का कोई औचित्य न होने से वह नितान्त निरस्त हो जाती है।

[सम्यक् क्रिया भी मुक्ति का हेतु]

उक्त रीति से अन्तिम तत्त्वज्ञान में ही अज्ञाननिवर्तिका शक्ति का अभ्युपगम करने पर पूर्व के तत्त्वज्ञानों को अन्तिम तत्त्वज्ञान का उपकारक मान कर ही मुक्ति के प्रति उनकी उपयोगिता माननी होगी; और ऐसा मानने पर यह भी मानना निर्बाधरूप से सम्भव हो सकेगा कि जैसे पूर्व तत्त्वज्ञान अन्तिम तत्त्वज्ञान का उपकारक होने से मुक्ति में उपयोगी होते हैं, वैसे ही पूर्व कर्म भी ※अन्तिम-कर्म का उपकारक हो मुक्ति में उपयोगी हो सकते हैं अत: ज्ञान-कर्म दोनों में समान प्रधानता होने से यह कहना संगत न होगा कि तत्त्वज्ञान ही मुक्ति का हेतु है, कर्म नहीं। इस कथन का आधार आगम भी है क्योंकि आगम में आत्मदर्शन के समान सम्यक् क्रिया को भी मुक्ति का हेतु बताया गया है। यदि सूक्ष्मता से विवेचन कर यह निष्कर्ष प्राप्त किया जाय कि पूर्वतत्त्वज्ञान मुक्ति के हेतु नहीं होते किन्तु प्रयोजक होते हैं, हेतु तो अन्तिम तत्त्वज्ञान ही होता है, तो यह निष्कर्ष ज्ञान और कर्म दोनों में समान रूप से प्राप्य हो सकता है क्योंकि कर्म के सम्बन्ध में भी यह कहा जा सकता है कि पूर्व कर्म मुक्ति के प्रयोजक होते हैं, हेतु नहीं, हेतु तो अन्तिम कर्म ही होता है। अन्तत: इस विषय का विवेचन करने पर यही निर्णय प्राप्त होता है कि अन्तिम तत्त्वज्ञानक्षण के समान अन्तिम पुरुष-व्यापारक्षण में भी मुक्तिजनिका शक्ति विद्यमान है।

※ कल्पलता में 'अन्तिमतत्त्वज्ञानोपकारकतया' के स्थान में अन्तिमतत्त्वज्ञानाद्युपकारकतया' पाठ उचित प्रतीत होता है, वैसा पाठ होने पर ही आदि शब्द से अन्तिम कर्म को ग्रहण कर उसमें पूर्व कर्मों को उपकारक कहकर ज्ञान-कर्म के समप्राधान्य का प्रदर्शन उपपन्न हो सकेगा।

येऽपि पातञ्जला योगपदाभिधेयां सम्यक्क्रियामेव मोक्षहेतुत्वेनोपयन्ति, परमार्थभूतस्य चित्तस्याऽदर्शनेन साक्षिदर्शने निरोधातिरिक्तोपायाभावादिति; तेऽपि भ्रान्ताः, सर्वज्ञस्य चित्तदर्शनार्थं समाधिव्यापाराऽयोगात्, अन्यथा सर्वज्ञस्वभावपरित्यागादचेतनादविशेषापत्तेः। अथ निस्तरङ्गमहोदधिकल्पो आत्मा, तत्तरंगकल्पाश्च महदादिपवनयोगतो वृत्तय इति तन्निराकरणेनैवात्मनः स्वरूपप्रतिष्ठेति चेत् ? न, आत्मनः प्राक् तदतत्स्वभावत्वयोरनुष्ठानवैयर्थ्यात्, विषयग्रहणपरिणामरूपाकारसंपृक्तज्ञानस्य मुक्तावप्यनपायाच्च। तस्माद् न चित्तदर्शनार्थं योगिनां समाधौ व्यापारः, किन्तु चित्तपृथक्करणार्थमेव। तत्र च क्रियाया इव ज्ञानस्यापि हेतुत्वमव्याहतमेव। केवलाभोगपूर्वक एव हि योगनिरोधव्यापार इति विभावनीयम्।

[योगात्मक क्रियामात्र मोक्षोपायवादी पातंजलमत समीक्षा]

योगदर्शन के रचयिता पतञ्जलि के अनुयायी विद्वानों का मत है कि–"योगपद से अभिहित होने वाली सम्यक् क्रिया ही मोक्ष का हेतु है, ज्ञान नहीं। उनका मन्तव्य यह है कि चित्त और चैतन्य (=पुरुष) दोनों वास्तव में एक दूसरे से अत्यन्तभिन्न हैं किन्तु अनादिकाल से दोनों परस्पर संयुक्त हैं। उनके परस्परभेद का अज्ञान ही उनका संयोग है। यह चित्तसंयोग ही चैतन्य का बन्धन है और यही संसार का मूल है। मोक्षार्थी को इस संसार मूल को समाप्त कर मोक्ष प्राप्त करने के लिये साक्षी का दर्शन-यानी चित्त से असंयुक्त चैतन्य का दर्शन अपेक्षित है और वह परमार्थ चित्त-चैतन्य से असंयुक्त चित्त के दर्शन से हो सकता है, पर वह दर्शन है नहीं, अतः साक्षी के दर्शन का चित्तवृत्तिनिरोधरूप योग को छोड़ अन्य कोई उपाय नहीं है।"

व्याख्याकार कहते हैं कि पातञ्जलों का यह मन्तव्य भ्रममूलक है, उनका अभिप्राय यह जान पड़ता है कि मोक्षार्थी सर्वज्ञ पहले होता है, मुक्त बाद में होता है। किन्तु सर्वज्ञता प्राप्त मोक्षार्थी को चित्तदर्शन के लिये समाधिव्यापार की आवश्यकता नहीं होती, और यदि सर्वज्ञ होने पर भी उसे चित्तदर्शन में सक्षम न माना जाएगा तो उसके स्वभाव का-सब कुछ जान लेने की शक्ति का परित्याग होने से अचेतन प्रस्तर से उसका भेद न हो सकेगा।

यदि यह कहा जाय कि–"आत्मा निस्तरङ्ग महोदधि के समान है, जैसे वायु के सम्पर्क से महोदधि में तरङ्गे उठती हैं वैसे वायुकल्पमहत्तत्त्व आदि के योग से आत्मा में ही तरङ्ग जैसी अनेक वृत्तियाँ होती हैं, उन वृत्तियों का निराकरण होने पर ही आत्मा की अपने स्वरूप में प्रतिष्ठा होती है, अतः आत्मा के स्वरूपप्रतिष्ठानरूप मोक्ष के लिये उक्त आत्मवृत्तियों के निरोधार्थ योगक्रिया का अनुष्ठान आवश्यक है"–किन्तु यह ठीक नहीं है क्योंकि आत्मा को सवृत्तिकस्वभाव माना जाय या चाहे निर्वृत्तिक स्वभाव माना जाय दोनों ही मान्यताओं में चित्तवृत्ति निरोध का व्यापार निरर्थक है, क्योंकि वृत्ति यदि आत्मा का स्वभाव होगा तो उसका किसी से परिहार नहीं हो सकता और यदि निर्वृत्तिकता उसका स्वभाव होगा तो भी योगानुष्ठान व्यर्थ होगा, क्योंकि आत्मा के स्वभावतः निर्वृत्तिक होने के कारण योगानुष्ठान से निवर्तनीय का अभाव है। दूसरी बात यह है कि मुक्तिदशा में भी वृत्ति का सर्वथा अभाव नहीं होता क्योंकि उस दशा में भी आत्मा में ज्ञान होता है और वह

इत्थं च यदुक्तं वशिष्ठेन–

"द्वौ क्रमौ चित्तनाशस्य योगो ज्ञानं च राघव ! ।
योगश्चित्तनिरोधो हि ज्ञानं सम्यगवेक्षणम् ॥ १ ॥" इति ।

तदपि ज्ञान-कर्मसमुच्चयमनुरुणद्धि ।

यत्तु अस्याभिप्राय उन्नीतो मधुसूदनेन–प्रथमः प्रकारः प्रपञ्चसत्यत्ववादिनाम्, द्वितीयस्त्वद्वैतवादिनाम् इति । अत एवोक्तं तेनैव–

"असाध्यः कस्यचिद् योगः कस्यचिद् तत्त्वनिश्चयः ।
प्रकारौ द्वौ ततो देवो जगाद परमः शिवः ॥ १ ॥" इति ।

तत्तु वादद्वयस्य वास्तवत्वं शिवस्योभयपथभ्रान्तिजनकत्वेन प्रतारकतां व्यञ्जयतीति न किञ्चिदेतत् । न ह्यनेकान्ताश्रयणं विना नयमतभेदादिकं संगच्छत इति ।

ज्ञान विषयग्राही परिणाम-स्वरूप आकार से सम्पृक्त होता है, अतः निर्विवाद है कि योगी को समाधि व्यापार की अपेक्षा चित्तदर्शन के लिये नहीं होती, क्योंकि वह उसे स्वभावतः सुलभ हो जाता है, अपेक्षा होती है उसकी चैतन्य से चित्त को पृथक् करने के लिये, और इस पृथक्-करण में जैसे क्रिया हेतु होती है वैसे ही ज्ञान भी हेतु होता है, क्योंकि चैतन्य से चित्त के पृथक्-करण का अर्थ है दोनों के भेदविषयक अज्ञान का निराकरण, जिसके लिये दोनों का भेद-ज्ञान अवश्य अपेक्षित है । इस प्रसंग में यह बात अवधान योग्य है कि योगपद से बोध्य चित्तवृत्तिनिरोधात्मक व्यापार अवश्य केवल आभोग-चित्त की विशेष क्रिया से साध्य है, चित्त का पृथक्-करण नहीं, उसमें तो क्रिया के समान ज्ञान की अपेक्षा आवश्यक ही है ।

[ज्ञान-कर्म समुच्चय से मोक्ष–वशिष्ठाभिप्राय]

वसिष्ठ ने राम को सम्बोधित कर कहा है कि–"चित्तनाश के दो साधन हैं, योग और ज्ञान । योग का अर्थ है चित्तनिरोध, एवं ज्ञान का अर्थ है सम्यक् अवेक्षण यथार्थ दर्शन ।" इस कथन के सम्बन्ध में व्याख्याकार का कहना है कि यतः उक्त रीति से यह सिद्ध है कि-ज्ञान और कर्म दोनों मिलकर मुक्ति के हेतु है, अतः वसिष्ठ के इस कथन का तात्पर्य, ज्ञान और कर्म के समुच्चय को ही मुक्ति का हेतु बताने में है ।

मधुसूदन ने वसिष्ठ के इस कथन का जो यह आशय बताया है कि–चित्तनाश का प्रथम साधन प्रपञ्च को सत्य मानने वालों के लिये है और द्वितीय साधन अद्वैत वेदान्तियों के लिये है, इसलिये उन्होंने ही कहा है कि किसी को योग असाध्य होता है, और किसी को तत्त्वज्ञान असाध्य होता है । इसी कारण से परम शिव ने दो साधनों का उपदेश दिया है । व्याख्याकार ने मधुसूदन के आशय वर्णन को यह कहकर असंगत बताया है कि वसिष्ठ के उक्त कथन का मधुसूदनोक्त आशय स्वीकार करने से प्रपञ्चसत्यत्ववाद और अद्वैतवाद इन दोनों वादों की सत्यता प्रतीत होती है, साथ ही यह भी प्रतीत

केचित्तु ज्ञान-कर्मणोस्तुल्य(त्व)वत् समुच्चयमपि स्वीकुर्वन्ति, तथा च **भास्करीयाः**– 'तीर्थविशेषस्नान-यम-नियमादीनां तावद् निःश्रेयसकारणत्वं शब्दबलादेवावगम्यते। तत्र तत्त्वज्ञानव्यापारकत्वं न शाब्दम्, न वान्यथानुपपत्त्या, तत्त्वज्ञानस्यापि व्यवहितस्याऽदृष्टद्वारकत्वावश्यकत्वेऽत्राप्यदृष्टस्यैव द्वारत्वौचित्यात्, ज्ञानिनामपि यमादावधिकारानपायाच्च। श्रुतिरपि "अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते, ततो भूय इव ते तमो यये विद्यायां रताः" तथा "विद्यां चाविद्यां च" इत्यादि। "तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" इति तु तत्त्वज्ञानस्यापवर्गसामग्रीनिवेशनियमपरम्, न तु वाक्यान्तरावधृतकारणव्युदासार्थम्। कर्मणां समुच्चयश्चात्र स्वस्वाश्रमविहितानां साधारणानां यमादीनाम्, असाधारणानामपि यज्ञादीनामीश्वरार्पणबुद्धया विहितानामिति न यावत्कर्मसमुच्चयानुपपत्तिदोषः' इति। तेऽपि बाह्याः परमार्थाऽवेदिनः, न हि कर्मणो ज्ञानस्य वाऽदृष्टद्वारा मोक्षजनकत्वमस्ति, कर्मद्रव्यरूपस्य तस्य संसाराजकत्वात्। द्रव्यरूपता च तस्य "चेतनस्य स्व-परज्ञस्य तदात्मनो हीनमातृगर्भस्थानप्रवेशस्तत्संबद्धान्यनिमित्तः, अनन्यनेयत्वे सति तत्प्रवेशात्, मत्तस्याऽशुचिस्थानप्रवेशवत्" इत्यादिना सिद्धा।

होता है कि शिव वञ्चक हैं क्योंकि उनके कथन से योग और ज्ञान दोनों मार्गों के विषय में भ्रम उत्पन्न हो सकता है क्योंकि अनेकान्तवाद का आश्रय लिये बिना नयाश्रित मतभेद आदि की संगति नहीं होती। अतः अनेकान्तवाद को न मानना और मतभेद से मार्गभेद बताना स्पष्ट वञ्चना है।

[ज्ञान-कर्म तुल्यवत् समुच्चयवादी भास्करमत]

कुछ विद्वान् ज्ञान और कर्म की तुल्यता के आधार पर उनके समुच्चय को भी मोक्ष का उपाय मानते हैं। ऐसे लोगों में भास्कर मतानुयायी विद्वानों का उल्लेख किया जा सकता है क्योंकि उनका कहना है कि "तीर्थ विशेष में स्नान, यम, नियम आदि कर्म मोक्ष के कारण हैं, यह बात शास्त्रों से ज्ञात होती है।" उनका यह भी कहना है कि इन कर्मों को तत्त्वज्ञान के द्वारा मोक्ष का सम्पादक नहीं माना जा सकता क्योंकि तत्त्वज्ञान को उन कर्मों का व्यापार मानने में शब्द (आगम) अथवा अन्यथाऽनुपपत्ति कोई प्रमाण नहीं है।

हाँ यह मानना उचित अवश्य है कि जैसे व्यवहित तत्त्वज्ञान अदृष्ट द्वारा मोक्ष का जनक होता है, वैसे ये कर्म भी अदृष्ट द्वारा ही मोक्ष के जनक होते हैं, क्योंकि इन कर्मों के सम्पन्न होने पर तत्काल ही मुक्ति नहीं प्राप्त होती। उनका यह भी कहना है कि यम, नियम आदि कर्मों में ज्ञानी भी अनधिकृत नहीं है. इसलिये भी यह ज्ञात होता है कि ज्ञान-कर्म का समुच्चय मोक्ष का जनक है। इस मत का समर्थन श्रुति भी करती है। (१) एक श्रुति का यह स्पष्ट उद्घोष है कि 'जो लोग केवल अविद्या-कर्म की उपासना करते हैं वे घोर अन्धकार में प्रवेश करते हैं और जो लोग विद्या में रत होते हैं, ज्ञानमात्र की ही उपासना करते हैं, वे और अधिक गहरे अन्धकार में प्रवेश करते हैं।'

(२) एक दूसरी श्रुति का यह उद्घोष है कि 'जो लोग विद्या और अविद्या-ज्ञान और कर्म दोनों की उपासना करते हैं वे अविद्या-कर्म से मृत्यु-पाप को पार कर विद्या-ज्ञान से अमृतत्व-मोक्ष प्राप्त करते हैं।' (३) एक तीसरी श्रुति है, जिससे आपाततः यह ज्ञात होता है कि 'आत्मज्ञान से ही मृत्यु का अतिक्रमण हो सकता है, उसके लिये अन्य कोई मार्ग नहीं है', किन्तु सावधानी से उस श्रुति के अर्थ का विचार करने पर उसका यह तात्पर्य विदित होता है कि 'मोक्ष की कारणसामग्री में आत्मतत्त्वज्ञान का सन्निवेश अनिवार्य है क्योंकि आत्मतत्त्वज्ञान से घटित सामग्री को छोड़ कोई अन्य मोक्षोपाय नहीं है।' उसका तात्पर्य अन्य श्रुति वाक्यों से अवगत अन्य मोक्षकारण के निषेध में कथमपि नहीं हो सकता, क्योंकि सभी श्रुतिवाक्य समानरूप से प्रमाण हैं।

[ज्ञान के साथ कितने कर्म मोक्षजनक ?]

ज्ञान-कर्म के समुच्चय को मोक्षजनक मानने पर यह शङ्का हो सकती है कि-'ज्ञान के साथ समस्त कर्मों के समुच्चय को यदि मोक्षजनक माना जायगा तो किसी को भी मुक्ति न प्राप्त हो सकेगी क्योंकि समस्त कर्मों का अनुष्ठान किसी भी व्यक्ति के लिये सम्भव नहीं है और यदि ज्ञान के साथ कतिपय कर्मों के समुच्चय को मोक्षजनक माना जायगा तो यह भी सम्भव न हो सकेगा, क्योंकि किन कर्मों के समुच्चय को मोक्ष का जनक माना जाय और किन कर्मों के समुच्चय को न माना जाय, इसमें कोई विनिगमना यानी किसी एक पक्ष की निर्णायक युक्ति न मिल सकेगी, अतः ज्ञान-कर्म समुच्चय को मोक्ष जनक मानना ठीक नहीं है'-

किन्तु यह शङ्का उचित नहीं है, क्योंकि जो मोक्षार्थी जिस आश्रम में विद्यमान होगा, उसके मोक्ष में उस आश्रम के लिये विहित यम आदि साधारण कर्म तथा ईश्वरार्पण बुद्धि से किये गये यज्ञ आदि असाधारण कर्म और ज्ञान के समुच्चय को कारण मानने में कोई बाधा नहीं हो सकती।

[भास्कर मत की समीक्षा]

व्याख्याकार कहते हैं कि उक्त रीति से ज्ञानकर्मसमुच्चय का समर्थन करने वाले विद्वान् भी परमार्थ-वेत्ता न होने से बाह्य हैं आगमिक मर्यादा से दूर हैं, क्योंकि कर्म अथवा ज्ञान यह अदृष्ट द्वारा मोक्ष का जनक नहीं हो सकता, क्योंकि अदृष्ट-कर्म द्रव्यरूप होने से संसार का सम्पादक होता है।

अदृष्ट द्रव्यस्वरूप है, यह बात अनुमान से सिद्ध है। अनुमान का प्रयोग इस प्रकार होता है-स्व और पर के ज्ञाता अदृष्टात्मक चेतन का, माता के हीन गर्भस्थान में जो प्रवेश होता है, वह उससे सम्बद्ध अन्य निमित्त से होता है क्योंकि वह अनन्यनेय-पुरुषान्तर से अनाकृष्ट का प्रवेश है, जो अनन्यनेय-पुरुषान्तर से अनाकृष्ट का प्रवेश होता है, वह प्रवेशकर्ता से सम्बद्ध किसी अन्य निमित्त से होता है जैसे अशुचि स्थान में मत्त मनुष्य का प्रवेश अनन्यनेय (मनुष्यान्तर से अनेय) का प्रवेश होने से प्रवेशकर्ता मत्त मनुष्य से सम्बद्ध अन्य मादक द्रव्यरूप निमित्त से होता है। इस अनुमान से यह सिद्ध होता है कि किसी व्यक्ति का, माता के हीन गर्भ में जो प्रवेश होता है, वह उस व्यक्ति से सम्बद्ध अदृष्ट द्वारा होता है, व्यक्ति और अदृष्ट का सम्बन्ध संयोग होता है, जो अदृष्ट को द्रव्य माने बिना सम्भव नहीं हो सकता।

यत्तु गृहान्तरानुप्रवेशवद् देहाद् देहान्तरानुप्रवेशस्याभिलाषपूर्वकत्वादनन्यथासिद्धो हेतुर्न द्रव्यविशेषसाधकः, तदुक्तम्—

"दुःखे विपर्यासमतिस्तृष्णा वाऽवन्ध्यकारणम् ।
जन्मिनो यस्य ते न स्तो न स जन्माधिगच्छति ॥१॥"

इति सौगताकूतम् । तदसत्, श्वेत्यहीनशुन्यादिगर्भेऽभिलाषाऽसंभवात् । एवं चात्मप्रवेशात् कर्मप्रदेशानां पृथक्करणरूपया निर्जरयैव व्यापारत्वं कर्मणो ज्ञानस्य वा, न तु कर्मणा, परेषामपि 'धर्मेण पापमपनुदति' इत्याद्येतदर्थविदकम् ।

येऽप्याहुरुदयनमतानुसारिणः-'कर्मणा यावदनुकूलोपसंहारेण तत्त्वज्ञानमुपसंहृत्यैव मोक्षो जननीयः' इत्यावश्यकत्वात् तत्त्वज्ञानमेव कर्मणां द्वारम् । अनुमानमपि-'तीर्थविशेषस्नानादीनि तत्त्वज्ञानद्वारकाणि, मोक्षजनककर्मत्वात्, यमादिवत्' । न चात्र योगत्वमुपाधिः, "कथयति भगवानिहान्तकाले भवभयकातरस्तारकं प्रबोधम्" इत्यादिपुराणात्, "रुद्रस्तारकं व्याचष्टे" इत्यादिश्रुतेश्च तत्त्वज्ञानद्वारा मुक्तिजनके वाराणसीप्रायणादौ साध्याऽव्यापकत्वात् । तेषां च कर्मणां सत्त्वशुद्धिद्वारा तत्त्वज्ञानहेतुत्वम् । कार्यविशेषाच्च न व्यभिचारः । श्रुतिरपि तत्त्वज्ञानकर्मणोः कारणतामात्रं बोधयति, न तु तुल्यकक्षतया समुच्चयम्, इति तेऽपि भ्रान्ताः, हिंसामिश्रितानां स्नानादीनामीश्वरार्पणबुद्ध्यादिना सत्त्वशुद्धिद्वारा तत्त्वज्ञानाऽहेतुत्वात्; अन्यथा ब्रह्महत्या-श्येनयागादीनामपि तद्बुद्ध्या क्रियमाणानां तथात्वप्रसङ्गात्, वाराणसीप्रायणादेरपि

[द्रव्यात्मक अदृष्टसिद्धि में बाधक शंका का निरसन]

इस अनुमान के सम्बन्ध में बौद्धों का यह कहना है कि-"जैसे एक गृह से अन्य गृह में प्रवेश अनन्यनेय प्रवेश होते हुये भी अन्य गृह में प्रवेशाभिलाष से होता है न कि प्रवेशकर्त्ता से सम्बद्ध किसी द्रव्यान्तर रूप निमित्त से होता है उसी प्रकार एक देह से देहान्तर में प्रवेश कर्त्ता के अभिलाष से ही उपपन्न हो सकता है, अतः अनन्यनेय प्रवेशरूप हेतु उक्त साध्य के बिना भी सिद्ध हो जाने के कारण द्रव्य विशेष का साधक नहीं हो सकता ।" इस कथन के समर्थन में व्याख्याकार ने एक बौद्ध-कारिका उद्धृत की है, जिसका अर्थ यह है कि-'भ्रमात्मिका बुद्धि किंवा तृष्णा,-अनुदिन वर्धमान विषयाभिलाष-दुःख का अमोघ कारण है । यह दोनों जिस जन्मवान् प्राणी को नहीं होते वह पुनर्जन्म नहीं प्राप्त करता ।'-किन्तु व्याख्याकार की दृष्टि में यह बौद्धकथन असंगत है क्योंकि हीन योनि कुतिया आदि के गर्भ में प्राणी के प्रवेश को अभिलाषजन्य नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ऐसे गर्भ में प्रवेश की अभिलाषा किसी प्राणी को नहीं हो सकती, अतः इस प्रवेश को प्रवेशकर्त्ता से सम्बद्ध अदृष्टात्मक द्रव्यविशेष से जन्य मानना आवश्यक होने से उक्त हेतु द्रव्यविशेष का साधक होने में कोई बाधा नहीं है ।

मोक्षोपाय के सम्बन्ध में प्रस्तुत विचार का निष्कर्ष यह है कि कर्म किंवा ज्ञान से निर्जरा होती है । निर्जरा का अर्थ है आत्मप्रदेश से कर्मप्रदेश का पृथक्करण । इस निर्जरा के द्वारा ही कर्म

नियमतः सत्त्वशुद्ध्यभावात्, बहूनामपि तत्र म्रियमाणानां रौद्रध्यानादिलिङ्गोपलम्भात्, तत उपदेशेन ज्ञानकल्पने मानाभावात्; अन्यथा तदुपदेशस्यान्येनापि संनिहितश्रोत्रेण श्रवणप्रसङ्गात्, तदेकश्रवणस्योपदेशे प्रमाणाभावात् ;

और ज्ञान मोक्ष का जनक होता है, न कि किसी अन्य कर्म द्वारा। 'मोक्षार्थी धर्म से पाप को नष्ट करता है' अन्य दार्शनिकों के ऐसे कथनों का भी यही आशय है, क्योंकि पाप का नाश, आत्मप्रदेश से भिन्न कर्मप्रदेश के पृथक्करण से अतिरिक्त नहीं है।

[कर्म से तत्त्वज्ञान द्वारा मोक्षलाभ-उदयनाचार्य]

उदयनमत के अनुयायी विद्वानों का कहना है कि-"कर्म मोक्ष के अनुकूल साधनों का सन्निधान सम्पन्न करता है, अतः वह मोक्षानुकूल तत्त्वज्ञान का सन्निधान करके ही मोक्ष का जनक हो सकता है, तो इस प्रकार मोक्ष से पूर्व जब तत्त्वज्ञान की उपस्थिति आवश्यक ही है तब उसी को कर्म का द्वार मानना युक्तिसंगत है।' इस बात के समर्थन में वे अनुमान प्रयोग भी करते हैं जैसे-'तीर्थ विशेष में स्नान आदि कर्म तत्त्वज्ञान द्वारा मोक्ष के जनक रहते हैं, क्योंकि वे मोक्षजनक कर्म हैं. जो कर्म मोक्ष-जनक होते हैं वे तत्त्वज्ञान द्वारा ही मोक्षजनक होते हैं, जैसे यम, नियम प्रभृति यौगिक कर्म।' इस अनुमान में योगत्व उपाधि नहीं हो सकता क्योंकि काशी मरण में तत्त्वज्ञान द्वारा मोक्षजनकत्वरूप 'साध्य' है किन्तु योगत्व नहीं है अतः साध्य का अव्यापक होने से योगत्व 'साध्यव्यापकत्वे सति साधनाऽव्यापकत्व' इस उपाधिलक्षण से रहित है। 'काशी-मरण तत्त्वज्ञान द्वारा मोक्ष का जनक होता है।'-इस बात को सिद्ध करने के लिये व्याख्याकार ने पराभिमत दो प्रमाणभूत वचन उद्धृत किये हैं, जिनमें एक पुराण का वचन है जिसका अर्थ यह है कि-'काशी में मृत्यु के समय भव भय से पीड़ित प्राणी को भगवान् शंकर तारक मोक्षजनक तत्त्वज्ञान का उपदेश प्रदान करते हैं।' दूसरा वचन श्रुति वचन है, जो काशी-मरण के प्रसङ्ग में आया है। अतः उसका भी प्रसङ्ग-सङ्गत अर्थ यही है कि-'भगवान् रुद्र काशी में मरणासन्न मनुष्य को तारक तत्त्वज्ञान का उपदेश करते हैं।'

इस सन्दर्भ में यह शङ्का उचित नहीं हो सकती कि-'स्नान आदि कर्मों से तत्त्वज्ञान का जन्म न होने से तत्त्वज्ञान उन कर्मों का द्वार नहीं हो सकता'-क्योंकि स्नान आदि कर्म अन्तःकरण की शुद्धि द्वारा तत्त्वज्ञान के जनक होते हैं। यह भी शङ्का उचित नहीं हो सकती कि-'मोक्षजनक कर्मत्व मोक्ष के साक्षात् जनक कर्म में तत्त्वज्ञान द्वारा मोक्षजनकत्व का व्यभिचारी है, अतः उस हेतु से स्नान आदि कर्मों में तत्त्वज्ञान द्वारा मोक्षजनकत्व की सिद्धि नहीं हो सकती क्योंकि ऐसा कोई कर्म है ही नहीं जो मोक्ष का साक्षात् जनक हो।

उदयनमतानुयायियों का यह भी कहना है कि-'तत्त्वज्ञान और कर्म में मोक्षजनकता का प्रतिपादन करने वाली जो कोई श्रुति प्राप्य है, वह उन दोनों में मोक्ष की कारणता का ही प्रतिपादन करती है, न कि उनके तुल्यकक्ष समुच्चय का भी प्रतिपादन करती है, अतः कोई प्रमाण न होने से भी ज्ञान-कर्म समुच्चय को मोक्ष का कारण नहीं माना जा सकता।'

[उदयनाचार्य मत की समीक्षा]

व्याख्याकार कहते हैं कि उक्त मत को व्यक्त करने वाले उदयनानुयायी भी भ्रान्त हैं, क्योंकि

'तत्त्वज्ञानप्रतिबन्धकादृष्टनाशककर्मणां मोक्षे जनयितव्ये तत्त्वज्ञानद्वारकत्ववत् तत्त्वज्ञानस्यापि मुक्तिप्रतिबन्धकप्रारब्धनाशकयोगिप्रयत्नविशेषकर्मद्वारकत्वसाम्याच्च अन्तिमतत्त्वज्ञानमेव मुक्तिहेतुरिति न तत्र कर्मद्वारकत्वमि'ति चेत् ? तर्हि अन्तिमकर्मैव तत्त्वज्ञानजनकमस्तु, इति का तत्र सत्त्वशुद्धिद्वारकत्वप्रतिज्ञा ? । अन्तिमं कर्मैव च मुक्तिहेतुः, न त्वत्र तत्त्वज्ञानद्वारकत्वमित्यपि च न दुर्वचम् ।

स्नान आदि कर्म जलस्थ जीव की हिंसा से मिश्रित है, अतः ईश्वरार्पण बुद्धि से विहित होने पर भी वे अन्तःकरण की शुद्धि द्वारा तत्त्वज्ञान के हेतु नहीं हो सकते; और यदि हिंसामिश्रित होने पर भी ईश्वरार्पणबुद्धि से विहित होने के कारण स्नान आदि कर्म अन्तःकरण के शोधक होकर तत्त्वज्ञान के जनक होंगे तो ईश्वरार्पणबुद्धि से ब्रह्महत्या, श्येनयाग आदि का अनुष्ठान करने पर उनमें भी अन्तःकरण शुद्धि द्वारा मोक्षजनकत्व की आपत्ति होगी। काशी मरण आदि से भी नियमतः अन्तःकरण की शुद्धि होती है ऐसा नहीं है, क्योंकि काशी में मरने वाले अनेकों में *रौद्रध्यान आदि लिङ्ग की उपलब्धि होती है, अतः 'शंकर के उपदेश द्वारा काशी-मृतों को तत्त्वज्ञान की प्राप्ति होती है', यह मानने में कोई प्रमाण नहीं है । इसके अतिरिक्त यह भी एक बात है कि यदि यह कहा जायगा कि–'भगवान् शङ्कर काशी में मरणासन्न को तत्त्वज्ञान का उपदेश करते हैं' तो यह भी सम्भव हो सकता है कि उस उपदेश को सन्निहित कोई अन्य व्यक्ति भी कभी सुन ले और उससे तत्त्वज्ञान प्राप्त कर काशी से बाहर मरने पर भी मुक्त हो सके, किन्तु यह बात उन्हें मान्य नहीं है । इस सम्भावना के निराकरणार्थ यदि यह कहा जाय कि– भगवान् शंकर काशी में मरणासन्न प्राणी को जो उपदेश देते हैं, वह केवल उसी के सुनने योग्य होता है' तो इस कल्पना में श्रद्धा से अतिरिक्त कोई प्रमाण नहीं है और जो बात केवल किसी श्रद्धा पर निर्भर होती है वह अन्य के लिये मान्य नहीं हो सकती ।

इस सन्दर्भ में यह भी ज्ञातव्य है कि यदि यह माना जायगा कि–'जो कर्म तत्त्वज्ञान के प्रतिबन्धक पापात्मक अदृष्ट के नाशक होते हैं', वे तत्त्वज्ञान द्वारा मोक्ष के जनक होते हैं तो यह भी कहा जा सकेगा कि योगी के जिस प्रयत्नविशेष-साध्य कर्म से मुक्ति के प्रतिबन्धक प्रारब्ध कर्म का नाश होता है, तत्त्वज्ञान भी उस कर्म के द्वारा मुक्ति का जनक होता है । यदि यह कहा जाय कि-'पूर्व के तत्त्वज्ञान मोक्षजनक नहीं होते किन्तु अन्तिम तत्त्वज्ञान ही मोक्षजनक होता है अतः उसे कर्म द्वार की अपेक्षा सम्भव नहीं हो सकती'–तो कर्म के सम्बन्ध में भी यह कहा जा सकता है कि अन्तिम कर्म ही मोक्ष का जनक होता है अतः उसे किसी द्वार की अपेक्षा नहीं होती । फलतः यह प्रतिज्ञा निराधार है कि कर्म सत्त्वशुद्धि आदि द्वारा ही मोक्ष का जनक होता है । अत एव यह कहने में कोई कठिनाई नहीं हो सकती कि अन्तिम कर्म ही मोक्ष का जनक होता है, उसे तत्त्वज्ञानरूप द्वार की अपेक्षा नहीं होती ।

*रौद्रध्यान – यह हिंसानुबन्धी–असत्यानुबन्धी स्तेयानुबन्धी-परिग्रहसंरक्षणानुबन्धी तीव्रसंक्लिष्ट ध्यानस्वरूप होता है ।

'केवलज्ञानमनुवृत्तं ब्रूषे किं कर्मव्यापारकल्पनव्यसनेन ?' इति चेत् ? अनभिज्ञोऽसि, न हि वयं कर्मणामपि भावतश्चारित्ररूपेणानुवृत्ततां न ब्रूमः, उत्तरोत्तरविशुद्धयाऽविशुद्धपर्यायापगमेऽपि पर्यायिणोऽनपगमात् । युक्तं चैतत्, इत्थमेव ज्ञान-मुक्त्यादावनुगतहेतुहेतुमद्भावादिव्यवहारोपपत्तेः, बाह्यकर्मणां तदभिव्यञ्जकतयैवोपयोगात्, इदमेव भावतः सत्त्वशुद्धिः, कर्मापगमस्तु द्रव्यतः । तदाहुः–[योगशास्त्र ४–८०]

"यः कर्मपुद्गलादानच्छेदः स द्रव्यसंवरः ।
भवहेतुक्रियात्यागः स पुनर्भावसंवरः ॥ १ ॥" इति दिग् ।

एतेन–"न कर्मणा न प्रजया न धनेन नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय, नास्त्यकृतः कृतेन"–

कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया च विमुच्यते ।
तस्मात् कर्म न कुर्वन्ति यतयः पारदर्शिनः ॥१॥"

इत्यादि श्रुति-स्मृतिशतेन कर्मणां निषेधात्, "तपसा कल्मषं हन्ति" इत्यादिना तत्त्वज्ञानोत्पत्तिप्रतिबन्धकदुरितनिवृत्त्यैवान्यथासिद्धिप्रदर्शनात्, यागकारणताग्रहोत्तरकल्प्येनापूर्वेणोपजीव्यविरोधेन यागान्यथासिद्ध्यभावेऽपि प्रतिबन्धकाभावस्य कार्यमात्रकारणतायाः प्रागेवावधारणात् तेन कर्मणोऽन्यथासिद्धेः सुवचत्वात्; मङ्गल-कारीर्योरिव वृष्टि-समाप्त्योर्न कर्मणां मुक्तिहेतुत्वम्, किन्तु ज्ञानस्यैव "ज्ञानादेव तु कैवल्यम्" "तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति" "तरति शोकमात्मवित्" "ब्रह्मविदाप्नोति परं ब्रह्मैव भवति" इत्यादिश्रुति-स्मृतिशतस्वरसादनन्यथासिद्धत्वाच्च–इति नव्यमतमप्यपास्तम् ।

[ज्ञान-कर्मसमुच्चयवाद का समर्थन]

सिद्धान्ती जैन के प्रति यह प्रश्न हो सकता है कि जब वे मोक्षपर्यन्त केवलज्ञान का अनुवर्तन मानते हैं तो ज्ञान को कर्मद्वारक मानने में उनकी आसक्ति क्यों है ? व्याख्याकार कहते हैं कि यह प्रश्न अज्ञानमूलक है, क्योंकि जैन का यह कहना नहीं है कि–'केवलज्ञान मात्र का ही मोक्षपर्यन्त अनुवर्तन होता है. कर्मों का भावत: चारित्ररूप में भी अनुवर्तन नहीं होता', अपितु जैनों का कहना यह है कि चारित्र पालन से उत्तरोत्तर विशुद्धि द्वारा अशुद्ध पर्यायों की निवृत्ति होने से शुद्ध पर्याय युक्त-कर्म का भी अनुवर्तन होता है । यही युक्त भी है. क्योंकि ऐसा मानने पर ही ज्ञान-मुक्ति आदि में अनुगत हेतुहेतुमद्भाव आदि व्यवहारों की उत्पपत्ति हो सकती है । अतः स्पष्ट है कि जैन मत में ज्ञान के समान भावकर्म का भी मोक्षपर्यन्त अनुवर्तन मान्य है, अमान्य केवल बाह्य कर्मों का अनुवर्तन है, क्योंकि उनका उपयोग भावकर्म को अभिव्यक्त करने मात्र में होता है, अन्त:करण की शुद्धि भी यही है कि वह भावकर्म मात्र से युक्त हो जाता है, न कि यह कि वह कर्मों से सर्वथा पृथक् हो जाता है क्योंकि कर्म का पृथक्करण द्रव्यरूप में ही होता है भावरूप में नहीं । भावरूप में कर्म

की निवृत्ति तो मोक्षकाल में ही होती है। कर्म त्याग का पृथक्करण योगशास्त्र में इस प्रकार स्पष्ट किया गया है कि-कर्म पुद्गलों का अग्रहण द्रव्यसंवर है और भवजनिका क्रिया का त्याग भावसंवर है।

[ज्ञानमात्र से मोक्ष–नव्यमत]

नव्य चिन्तकों का मत है कि कर्म मुक्ति का हेतु नहीं है किन्तु ज्ञान ही मुक्ति का हेतु है। उस मत के समर्थन में उनकी ओर से व्याख्याकार ने कई शास्त्रवचन उद्धृत किये हैं, उनमें प्रथम तीन श्रुति वचन हैं, क्रम से उनका अर्थ इस प्रकार है --

'मोक्षार्थी पुरुषों ने कर्म, सन्तान अथवा धन से कभी भी अमृतत्व-मोक्ष को नहीं प्राप्त किया है किन्तु इन वस्तुओं के त्याग से उसे प्राप्त किया है।'

'तत्त्वज्ञान से अतिरिक्त मोक्ष का कोई मार्ग-उपाय नहीं है।'

'अकृत-नित्य मोक्ष, कृत-जन्य कर्म से नहीं प्राप्त होता।'

श्रुति वचनों को उद्धृत करने के बाद व्याख्याकार ने एक स्मृति वचन भी उद्धृत किया है, जिसका अर्थ इस प्रकार है:–

'जीव कर्म से बद्ध होता है और ज्ञान से मुक्त होता है, इसलिये तत्त्वद्रष्टा योगी कर्म नहीं करते।'

इन वचनों से कर्म में मोक्षसाधनता का स्पष्ट निषेध किया गया है।

एक शास्त्र-वचन और उपलब्ध होता है, जिसका अर्थ इस प्रकार है कि-मोक्षार्थी तप-(कर्म-विशेष) से पाप को नष्ट करता है'। इस वचन से निस्सन्दिग्ध सूचना मिलती है कि 'कर्म तत्त्वज्ञान उत्पत्ति के प्रतिबन्धक पाप को नष्ट कर मोक्ष के प्रति अन्यथासिद्ध हो जाता है।' इस वचन के विरुद्ध यह शङ्का हो सकती है कि-'जैसे याग स्वजन्य अपूर्व से स्वर्ग के प्रति अन्यथासिद्ध नहीं होता, वैसे ही कर्म भी स्वजन्य प्रतिबन्धकनिवृत्ति से अन्यथासिद्ध नहीं हो सकता'-किन्तु विचार करने पर यह शङ्का ठीक नहीं प्रतीत होती, क्योंकि अदृष्ट और प्रतिबन्धकनिवृत्ति में अन्तर है, जैसे अदृष्ट में स्वर्गकारणता यागनिष्ठ स्वर्गकारणता के अधीन है क्योंकि याग में शास्त्रप्राप्त स्वर्गकारणता की उपपत्ति के लिये ही अदृष्ट को याग के व्यापाररूप में स्वर्ग का कारण माना जाता है, ऐसी स्थिति में यदि अदृष्ट से याग को अन्यथासिद्ध मानकर याग में स्वर्गकारणता का परित्याग किया जायगा तो उपजीव्यविरोध होगा, जो उचित नहीं कहा जा सकता। किन्तु कर्म से जो पापनिवृत्ति होती है-उसमें प्रतिबन्धकाभाव के रूप में तत्त्वज्ञान की अथवा मोक्ष की कारणता सिद्ध है। इस कारणता की सिद्धि कर्मनिष्ठ तत्त्वज्ञानादि की कारणता पर निर्भर नहीं है अतः पापनिवृत्ति को तत्त्वज्ञानादि का कारण-मानकर यदि कर्म में तत्त्वज्ञानादि की कारणता को अस्वीकार कर दिया जाय तो उपजीव्य विरोध नहीं प्रसक्त हो सकता। अतः पापनिवृत्ति से अन्यथासिद्ध हो जाने के कारण कर्म को तत्त्वज्ञानादि का कारण नहीं माना जा सकता, इसलिये प्रस्तुत विचार से यही निष्कर्ष प्राप्त होता है कि जैसे मङ्गल समाप्ति का और कारीरीयाग वृष्टि का कारण नहीं होता, उसी प्रकार कर्म भी मुक्ति का कारण नहीं हो सकता। फलतः यह निर्विवाद रूप से घोषित किया जा सकता है कि ज्ञान ही मुक्ति का हेतु है। ज्ञान से मोक्ष की उत्पत्ति के प्रतिपादक कई वचनों को भी व्याख्याकार ने उद्धृत किये हैं। उनमें पहले का अर्थ है कि-ज्ञान से ही कैवल्य-मोक्ष होता है। दूसरे का अर्थ है 'मोक्षार्थी आत्मज्ञान प्राप्त

प्रतिबन्धकाभावस्यापि तुच्छरूपस्याऽसिद्धेः, भावशुद्धिरूपस्य च चारित्ररूपक्रियापर्यवसायित्वात्, ज्ञान-कर्मभ्यां द्वाभ्यामपि तत्र तत्र मुक्त्युत्पत्त्यभिधानाविशेषेऽप्येकत्रानन्यथासिद्धत्वपरित्यागेन नियतपूर्ववर्त्तित्वमात्रार्थादरस्यान्यत्राऽप्यविशेषात्, नियतपूर्ववर्तितावच्छेदकेन येन रूपेण कारणत्वं न व्यवह्रियते तेन रूपेणान्यथासिद्धत्वस्य व्यवहारनयेनेव निश्चयनयेनाप्यव्यवहितपूर्ववर्तितानवच्छेदकरूपेणान्यथासिद्धेरभ्युपगमादित्यन्यत्र विस्तरः। तस्माद् गुरुमनुसृतस्याऽशठभावस्य दर्शन-ज्ञान-चारित्राण्येव परो मोक्षोपायः एकवैकल्येऽपि फलाऽसिद्धेरिति व्यवस्थितम्।

करके ही अतिमृत्यु-मोक्ष को प्राप्त होता है।' तीसरे वचन का अर्थ है कि–'आत्मज्ञानसम्पन्न पुरुष शोकसंसार को तर जाता है।' चौथे वचन का अर्थ है कि–'ब्रह्मज्ञानी ब्रह्मभाव को प्राप्त करता है।' श्रुति-स्मृति के ऐसे सैकड़ों वचनों से यह सिद्ध है कि–'कर्म मोक्ष का कारण नहीं है किन्तु मोक्ष के प्रति अन्यथासिद्ध है।'

व्याख्याकार कहते हैं कि नव्यचिन्तकों का यह मत भी निरस्त है क्योंकि उक्त युक्तियों से कर्म में मोक्षकारणता सिद्ध होने से तदनुसार ही इन वचनों की व्याख्या युक्तिसंगत हो सकती है।

उक्त नव्य मत का निरसन करने के लिये व्याख्याकार ने जो अन्य युक्तियां दी हैं, वे इस प्रकार हैं:—

[नव्यमत-निरसक युक्तियां]

(१) प्रतिबन्धकाभाव अभाव होने से तुच्छ है अतः उसे तत्त्वज्ञान आदि का कारण मानकर उससे कर्म को अन्यथासिद्ध नहीं किया जा सकता, जैनमत में दुरितनिवृत्ति कारण नहीं होती, किन्तु उसके स्थान में भावशुद्धि कारण होती है और भावशुद्धि चारित्ररूप एक क्रिया है, अतः उससे कर्म अन्यथासिद्ध नहीं हो सकता।

(२) 'ज्ञान मोक्ष के प्रति अनन्यथासिद्ध होने से मोक्ष का कारण है और कर्म अन्यथासिद्ध होने से मोक्ष का कारण नहीं है', इस बात के विरुद्ध एक और युक्ति है, वह यह है कि जब अनेक वचनों द्वारा ज्ञान-कर्म दोनों से मुक्ति की उत्पत्ति का अभिधान समानरूप से किया गया है तब उनमें से किसी एक में यदि अनन्यथासिद्धत्व का त्याग कर नियतपूर्ववर्ति अर्थमात्र में कारणत्व का व्यवहार माना जायगा तो यह बात समानन्याय से अन्य में भी माननी पड़ेगी, अतः उन दोनों में यह वैषम्य नहीं किया जा सकता कि कर्म मोक्ष का नियतपूर्ववर्तिमात्र है, अन्यथासिद्ध होने के नाते वह मोक्ष का कारण नहीं है, और ज्ञान मोक्ष का नियतपूर्ववर्ती होने के साथ साथ अनन्यथासिद्ध भी है अतः वह मोक्ष का कारण है। इस सम्बन्ध में यह बात अन्यत्र विस्तार से बताई गई है कि जैसे व्यवहार नय के आधार पर यह मान्य है कि जिस नियतपूर्ववर्तितावच्छेदकरूप से जिसमें कारणत्व का व्यवहार नहीं होता, उस रूप में वह अन्यथासिद्ध होता है; उसी प्रकार निश्चयनय के आधार पर यह भी मान्य है कि जो रूप अव्यवहित पूर्ववर्तिता का अनवच्छेदक होता है, उस रूप से कार्य का नियत पूर्ववर्ती भी अन्यथासिद्ध होता है, फलतः कर्म यदि मोक्ष के नियतपूर्ववर्तितावच्छेदकभावशुद्धित्वरूप

अत्र केचन दिगम्बरडिम्भास्तर्ककर्कशमिदं निगदन्ति ।
हन्त ! दन्तिन इवातिमदान्धा अङ्कुशं गुरुमनादृतवन्तः ॥१॥
चेत् त्रयं शिवपथः श्लथ एव प्रेक्ष्यतेऽद्य भवतामभिलाषः ।
वाससा परिग्रहाभिमुखता न त्रयं सितपटा घटयन्ति ॥२॥

तथाहि–रागाद्यपचयनिमित्तनैर्ग्रन्थ्यविपक्षभूतत्वेन तदुपचयहेतुवस्त्रादिकग्रहणं विशिष्टभृङ्गारानुपक्ताङ्गनाङ्गसङ्गादिवत् कथं न मुक्तिप्रतिकूलम् ? । कथं न द्रव्यतः, क्षेत्रतः, कालतः, भावतो वा कृतपरिग्रहप्रत्याख्यानस्य वस्त्रोपादाने न पञ्चममहाव्रतभङ्गः ? । कथं चैवं परद्रव्यरतिसाम्राज्ये स्वात्मप्रतिबन्धमात्रविश्रान्तश्रामण्यसमृद्धिः ? । कथं च न तस्करादिभ्यो वस्त्रादेः संगोपनानुसंधानेन संरक्षणानुबन्धिरौद्रध्यानावकाशः ? । कथं चैवमाचेलक्यपरीषहविजयः कृतः स्यात् ? । न हि सचेलकत्वमचेलकत्वं च न विरुद्धमिति । यदि च सचेलत्वमप्याचेलक्यमूलगुणावगुण्ठितश्रामण्यं न विरुन्ध्यात् , तदा कथं जिनेन्द्र-जिनकल्पिकादयः परमश्रमणा अचेला एव श्रुते प्रसिद्धाः ? । असंगताऽर्थमेव हि ते वस्त्रादिकं परित्यक्तवन्तः, इति तद्विनेया अपि तल्लिङ्गानुकारिण एवोचिताः । ततो न सितपटा महाव्रतपरिणामवन्तः, तत्फलसाधका वा, वस्त्र-पात्रादिपरिग्रहयोगित्वात् , महारम्भगृहस्थवदिति चेत् ?

चारित्रत्व से मोक्ष के कारण रूप में व्यवहृत न होने से मोक्ष के प्रति अन्यथासिद्ध होगा तो मोक्ष से चिरपूर्वजात तत्त्वज्ञानों में विद्यमान होने से मोक्ष के अव्यहितपूर्ववर्तिता के अनवच्छेदक तत्त्वज्ञानत्व रूप से मोक्ष का अव्यवहितपूर्ववर्ती अन्तिम तत्त्वज्ञान भी अन्यथासिद्ध होगा अत: सामान्य रूप से मात्र तत्त्वज्ञान को मोक्ष का कारण कहना संगत नहीं हो सकता ।

उक्त विचारों के निष्कर्षरूप में यह तथ्य उपलब्ध होता है कि गुरु का अनुसरण करने से जिसका शठ भाव समाप्त हो जाता है, दर्शन, ज्ञान, चारित्र ये तीनों ही उसके मोक्ष के साधन, होते हैं, इनमें किसी एक का अभाव होने पर मोक्ष-फल की प्राप्ति नहीं होती ।

[नग्नता का आग्रही दिगम्बर मत]

व्याख्याकार ने मोक्षोपाय के सम्बन्ध में श्वेताम्बर जैनों के प्रति दिगम्बर जैनों का आक्षेप अपने एक पद्य द्वारा प्रस्तुत किया है । पद्य का अर्थ इस प्रकार है अत्यन्त मदान्ध हाथी के समान, अङ्कुशकल्प गुरु का अनादर करने वाले दिगम्बरी बच्चे श्वेताम्बर वृद्धों के प्रति कठोर तर्कों से युक्त इस प्रकार की बात करते हैं कि यदि श्वेतवस्त्रधारी जैन मुनि दर्शन, ज्ञान, चारित्र इन तीनों को मोक्ष का मार्ग मानेंगे तो उन्हें मोक्ष की अपनी आकाङ्क्षा शिथिल कर देनी होगी, क्योंकि वे वस्त्र परिधान कर अपरिग्रहरूप चारित्र से हीन हो जाते हैं, अत: वे मोक्ष के उक्त तीनों उपायों को कैसे संप्राप्त कर सकते हैं ? !

अत्र ब्रूमः–

दिक्पटाः सितपटैः सह सिंहैर्वारणा अपि रणाय न सज्जाः ।
दर्शयन्तु वदनानि कथं ही ! तेन ते परिगलन्निजलज्जाः ? ॥१॥

तथाहि–यत् तावद् रागाद्यपचयनिमित्तनैर्ग्रन्थ्यविपक्षभूतत्वेन तदुपचयहेतुत्वं वस्त्रादेरुक्तम्, तत्र नैर्ग्रन्थ्यं सर्वतो देशतो वोपात्तम् ? । आद्ये अष्टविधकर्मसंबन्धरूपग्रन्थात्यन्तिकाऽभावरूपस्य तस्य मुक्तेष्वेव संभवात् कथं तस्य रागाद्यपचयहेतुता ? । न हि तदा रागादिकमेवास्ति, इति किं तेनापचेयम् ? इति विशेषणाऽसिद्धो हेतुः । द्वितीयेऽपि किं सम्यग्ज्ञानादि-

[दिगंबरों का निर्वस्त्र-निर्ग्रन्थता का समर्थन]

दिगम्बरों का कहना यह है कि निर्ग्रन्थता–पूर्णअपरिग्रह रागादि के अपचय का साधन है और वस्त्र आदि का ग्रहण रागादि के उपचय का हेतु होने से उसका विरोधी है, अतः वह विशिष्ट प्रकार के शृङ्गारों से सजी अङ्गना के अङ्गाश्लेष के समान मोक्ष के प्रतिकूल क्यों नहीं होगा ? जैन साधु द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव-इन चारों दृष्टि से परिग्रह के परित्याग का व्रत लेता है, फिर यदि वह वस्त्र ग्रहण करता है तो उसके अपरिग्रहरूप पञ्चम महाव्रत का भङ्ग क्यों नहीं होगा ? और जब वस्त्र आदि पर द्रव्य में उसकी रति होगी तो उसका श्रमणभाव,–जो अपने आत्मस्वरूप मात्र में विश्रान्त होने से सम्पन्न होता है,–कैसे समृद्ध होगा ? साधु जब वस्त्र रखेगा तब चोर आदि से उसकी रक्षा का भी उसे ध्यान रखना होगा, फिर ऐसी स्थिति में उसे संरक्षणानुबन्धी रौद्रध्यान का अवसर क्यों नहीं होगा ? जब साधु वस्त्रधारण करेगा तब वह आचेलक्य परीषह का विजय-वस्त्राभाव जन्य क्लेश को सहने का सामर्थ्य कैसे प्राप्त कर सकेगा ? क्योंकि–सचेलकत्व अचेलकत्व एक दूसरे से विरुद्ध नहीं है–यह बात नहीं है, अतः सचेलक–सवस्त्र होते हुये अचेलक-अवस्त्र नहीं हुआ जा सकता। यह भी विचारणीय है कि सचेलता-सवस्त्रता यदि अचेलता-निर्वस्त्रता के मूल गुण से मण्डित श्रमणभाव का विरोधी नहीं है तो शास्त्र में जिनेन्द्र, जिनकल्पिक आदि निर्वस्त्र [1]परम श्रमणों का ही उल्लेख क्यों है ? कहना होगा कि निश्चय ही उन श्रमणों ने असङ्ग होने के लिये ही वस्त्रों का त्याग किया होगा, इसलिये उचित यही है कि परम श्रमणों ने वस्त्र आदि का त्याग कर जिस लिङ्ग-चिन्ह को अपनाया है, उनके शिष्य भी वस्त्र आदि का त्यागकर उन्ही चिह्नों को अपनायें । श्वेताम्बर साधु ऐसा नहीं करते अतः उनके सम्बन्ध में यह अनुमान निर्बाध रूप से सम्भव है कि 'श्वेताम्बर साधु महाव्रतों के परिणाम से वञ्चित होते हैं किंवा महाव्रतों के प्राप्य फल के साधक नहीं होते, क्योंकि वे वस्त्र, पात्र आदि परिग्रह से युक्त होते हैं, जैसे महान् आरम्भों में लगे गृहस्थ ।

[दिगम्बरमत का खण्डन]

व्याख्याकार ने अपने एक पद्य द्वारा दिगम्बरों के उक्त आक्षेप का उत्तर देने का उपक्रम किया है । पद्य का अर्थ इस प्रकार है:–दिगम्बर यद्यपि हाथी के समान बलवत्तर हैं तथापि वे श्वेताम्बर

१. परमश्रमण–जिनकल्पिकादि ।

तारतम्येनोपचीयमानं भावनैर्ग्रन्थ्यं विवक्षितम्, आहोस्विद् बाह्यवस्त्राद्यभावरूपम् ? । आद्ये तथाभूतसम्यग्ज्ञानादिविपक्षत्वेन वस्त्रादिग्रहणस्याऽसिद्धेर्हेतोर्विशेष्याऽसिद्धता । द्वितीये वस्त्राद्यभावस्य रागाद्यपचयनिमित्तताऽसिद्धेर्हेतोर्विशेषणाऽसिद्धता । न च वस्त्राद्यभावो रागाद्यपचयनिमित्तत्वेन सिद्ध एवेति वाच्यम्, अतिशयितरागवद्भिः पारापतादिभिर्व्यभिचारात् । न च 'पुरुषत्वे सति' इति विशेषणीयम्, वस्त्रविकलैरनार्यदेशोत्पन्नैर्व्यभिचारात् । न च 'आर्यदेशोत्पन्नपुरुषत्वे सति' इति विशेषणाद् न दोष इति वाच्यम्; तथाभूतकामुकपुरुषैर्व्यभिचारात् । न च 'व्रतधारितथाभूतपुरुषत्वे सति' इति विशेषणाद् न दोषः, तथाभूतपाशुपतैर्व्यभिचारात् । न च 'जैनशासनप्रतिपत्तिमत्तथाभूतपुरुषत्वे सति' इति विशेषणोपादानाद् न दोषः, उन्मत्तदिगम्बरैर्व्यभिचारात् । न च 'अनुन्मत्तत्वे सति' इत्यपि विशेषणीयम्; मिथ्यात्वोपेतद्रव्यलिङ्गावलम्बिदिग्वाससा व्यभिचारात् । न च सम्यग्दर्शनादिसमन्वितपुरुषत्वे सति वस्त्राऽभावो हेतुः, विशेषणस्यैव तत्र समर्थत्वेनाऽसमर्थविशेष्यत्वात् । किञ्च, वस्त्रादिधर्मोपकरणाभावे यतियोग्याहारविरह इव विशिष्टश्रुत-संहननविकलानामेतत्कालभाविपुरुषाणां विशिष्टशरीरस्थितेरेवाभावाद् न सम्यग्दर्शनादिसमन्वितत्वविशेषणोपपत्तिरिति विशेष्यसद्भाव एव विशेषणसद्भावं बाधते ।

सिहों के साथ युद्ध करने को तैयार नहीं होते, ऐसी स्थिति में वे मर्यादित रूप में अपना मुख कैसे दिखा सकते हैं ? अन्ततः उनकी लज्जा शिथिल पड़ जाती है और वे निर्वस्त्र हो जाते हैं ।

दिगम्बरों ने श्वेताम्बरों में महाव्रत-परिणाम-शून्यता अथवा महाव्रतफलासाधकता को सिद्ध करने के लिये वस्त्र, पात्र आदि के परिग्रहरूप हेतु का प्रयोग किया है । उसका अर्थ है,-रागादि-अपचय के जनक [1]नैर्ग्रन्थ्य का विरोधी है रागादि-उपचय के जनक वस्त्रादि का परिग्रह । इसमें विरोधी पर्यन्त भाग विशेषण है और रागादि-उपचय के जनक वस्त्रादि का परिग्रह विशेष्य है ।

व्याख्याकार ने इस हेतु को सदोष बताने के लिये विशेषण कुक्षि में प्रविष्ट निर्ग्रन्थता के सम्बन्ध में यह प्रश्न उठाया है कि निर्ग्रन्थता से क्या अभिप्रेत है-सर्वांश निर्ग्रन्थता अथवा देशतः यानी अंशतः निर्ग्रन्थता ? इनमें प्रथम मान्य नहीं हो सकती, क्योंकि वह सर्वांश निर्ग्रन्थता अष्टविध कर्मों के सम्बन्ध का अत्यन्ताभावरूप होने से मुक्त जनों में ही रहती है, अतः वह रागादि के अपचय का हेतु नहीं हो सकती, कारण, मुक्त में जब रागादि ही नहीं रहता तो फिर उस निर्ग्रन्थता से किसे दूर किया जायगा ? फलतः उक्त हेतु विशेषणासिद्धि दोष से ग्रस्त हो जायगा ।

निर्ग्रन्थता का द्वितीयरूप भी मान्य नहीं हो सकता क्योंकि द्वितीय रूप अंशतः-देशतः निर्ग्रन्थता के सम्बन्ध में यह प्रश्न उठता है कि देशतः निर्ग्रन्थता का क्या अर्थ है ? (१) सम्यग्ज्ञान आदि के उपचय से समृद्ध होने वाली भाव निर्ग्रन्थता !' अथवा (२) 'बाह्यवस्त्रादि का अभाव ?'

---

१. नैर्ग्रन्थ्य-ग्रन्थि-रहितता यानी परिग्रह से रहितत्व ।

अथ वस्त्रादिपरिग्रहस्तृष्णापूर्वकः, तद्विषयकग्रहण-मोचनादिप्रक्रमस्य तां विनानुपपत्तेः । अत एव परप्राणव्यपरोपणस्याऽशुद्धोपयोगसद्भावा-ऽसद्भावाभ्यामनैकान्तिकच्छेदत्वेऽप्युपधेर-शुद्धोपयोगेनैव परिग्रहसंभवादैकान्तिकच्छेदत्वमाम्नातम्; तथा च प्रवचनसारकृत्-[३-१९]

*हवदि व ण हवदि बंधो मदेऽध जीवेऽध कायचेट्ठम्मि ।
बंधो धुवमुवधीदो इदि समणा छड्डिआ सव्वं ॥ १ ॥ इति ।

अत एव चैतद्व्याख्याताऽमरचन्द्रोऽप्याह-"न खलु बहिरङ्गसङ्गसद्भावे, तुषसद्भावे तण्डु-

इनमें प्रथम अर्थ को ग्रहण करने पर उक्त हेतु विशेष्यासिद्धि दोष से ग्रस्त होगा, क्योंकि रागादि के अपचय में हेतुभूत सम्यग्ज्ञान आदि का विरोधी न होने से सम्यग्ज्ञानादि की विपक्षता वस्त्रादि ग्रहण में असिद्ध है। देशतः निर्ग्रन्थता का बाह्यवस्त्राभावरूप दूसरा अर्थ भी मान्य नहीं हो सकता, क्योंकि उसमें रागादि के अपचय की हेतुता असिद्ध होने से हेतु विशेषणासिद्धि दोष से ग्रस्त होगा। 'वस्त्रादि के अभाव में रागादि के अपचय की हेतुता प्रसिद्ध ही है',-ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वस्त्रादि-हीन कपोत आदि में अतिशय राग होने से वस्त्रादि के अभाव में रागादि के अपचय की कारणता में व्यभिचार है। देशतः निर्ग्रन्थता का 'पुरुषत्वविशिष्ट वस्त्रादिकाभाव' अर्थ करके भी व्यभिचार का परिहार नहीं किया जा सकता क्योंकि अनार्यदेश में उत्पन्न वस्त्रादि-हीन पुरुषों में भी रागादि का अपचय नहीं होता। आर्यदेशोत्पन्न पुरुषत्व का उक्त अर्थ के शरीर में प्रवेश करके भी व्यभिचार का वारण नहीं किया जा सकता, क्योंकि आर्यदेशोत्पन्न कामुक व्यक्ति वस्त्रहीन पुरुष होते हुये भी रागादिमान् होते हैं। आर्यदेशोत्पन्न व्रतधारि पुरुषत्व विशेषण से भी व्यभिचार का निरास नहीं किया जा सकता, क्योंकि पाशुपत सम्प्रदाय के व्यक्ति आर्यदेशोत्पन्न व्रतधारी वस्त्रहीन होते हुए भी रागादिमान् होते हैं, जैनशासन को प्रमाण मानने वाले आर्यदेशोत्पन्न व्रतधारी पुरुष का विशेषण दल में प्रवेश करके भी व्यभिचार का निराकरण नहीं किया जा सकता, क्योंकि उन्मत्त दिगम्बर उक्त प्रकार का पुरुष होने पर भी रागादिमान् होते हैं। विशेषण की कुक्षि में अनुन्मत्तत्व का प्रवेश करने से भी व्यभिचार का परिहार नहीं हो सकता, क्योंकि मिथ्यात्व से युक्त द्रव्यलिङ्गधारी दिगम्बर यथोक्त पुरुष होते हुए भी रागादिमान् होते हैं। सम्यग्दर्शनादि से विशिष्ट वस्त्राद्यभाव को भी रागादि के अपचय का हेतु नहीं कहा जा सकता, क्योंकि 'सम्यग्दर्शनादि' रूप विशेषण मात्र ही रागादि का अपचय उत्पन्न करने में समर्थ है, अतः हेतुगर्भ में वस्त्राद्यभाव प्रवेश की आवश्यकता न होने से हेतु में असमर्थविशेष्यत्व की आपत्ति होगी।

दूसरी बात यह है कि जैसे यति-योग्य आहार के अभाव में वर्तमान कालीन मनुष्यों में विशिष्ट धृत-संहनन (देहावयवों की सुदृढ रचना) न होने से कार्यक्षम शरीर की स्थिति नहीं रहती, उसी प्रकार वस्त्रादि बाह्य धर्मोपकरणों के अभाव में भी अवयवों के समुचित संहनन न होने से कार्यक्षम शरीर की स्थिति नहीं रह पाती अतः वस्त्रादि के अभाव में सम्यग्ज्ञानादिरूप विशेषण की उपपत्ति

* भवति वा न भवति बन्धो मृतेऽथ जीवेऽथ कायचेष्टायाम् ।
बन्धो ध्रुवमुपधित इति श्रमणा छर्दिताः सर्वम् ॥ १ ॥

लगताऽशुद्धत्वस्यैवाऽशुद्धोपयोगरूपस्यान्तरङ्गच्छेदस्य प्रतिषेध इति । तथा च तृष्णाप्रभववस्त्रग्रहणाभावः स्वकारणनिवृत्तिमन्तरेणानुपपद्यमानो रागादिविरुद्धभूतसम्यग्ज्ञानाद्युत्कर्षविधायकत्वात् कथं तद्भावबाधकत्वेनोपदिश्यते ?" इति चेत् ? न, साधूनां वस्त्रादिग्रहणस्य प्राप्तेष्टवस्त्ववियोगाध्यवसाना-ऽप्राप्ततदभिलाषलक्षणार्त्तध्यानरूपतृष्णापूर्वकत्वाऽसिद्धेः, कायकृतादान-निक्षेपादिचेष्टावत् आहारग्रहणवद् वा यथाविधि धर्मसाधनत्वमत्या साधुभिर्वस्त्रादिग्रहणात् ।

नहीं हो सकती, क्योंकि वस्त्रादिहीन दुर्बल मनुष्य द्वारा सम्यग्ज्ञानादि का उपार्जन सम्भव न होने से वस्त्राद्यभावरूप विशेष्य का सद्भाव ही सम्यग्ज्ञानादिरूप विशेषण के सद्भाव का बाधक है ।

[वस्त्रादिपरिग्रह में एकान्तिक छेद की आशंका]

यदि यह कहा जाय कि-'वस्त्रादि का परिग्रह तृष्णाजन्य है, क्योंकि तृष्णा के बिना वस्त्रादि के ग्रहण-मोचन आदि व्यापार की उपपत्ति नहीं हो सकती । परप्राण का हरण [1]अशुद्ध उपयोग के सद्भाव-असद्भाव दोनों से सम्भावित होने के कारण वह अशुद्ध उपयोग यानी छेद (=शुद्धोपयोग-विरोधी) अनैकान्तिक है । किन्तु परिग्रह तृष्णाजन्य ही होने से [2]उपधि-वस्त्रादि का परिग्रह अशुद्ध उपयोग-तृष्णारूप मलिनभाव से ही जन्य होने के कारण वह अशुद्ध उपयोगात्मक छेद ऐकान्तिक कहा गया है-अर्थात् परप्राणव्यपरोपण में अशुद्ध उपयोग ही हो ऐसा नियम नहीं है किंतु वस्त्रादिग्रहण में एकान्तेन अशुद्ध उपयोग ही होने का नियम है । प्रवचनसार में भी यही बात एक कारिका द्वारा प्रतिपादित किया है-कारिका का अर्थ इस प्रकार है-"शरीर प्रवृत्ति से कोई जीव मरे वहां कर्म का बन्ध हो या न हो निश्चित नहीं है क्योंकि वीतराग की शरीर प्रवृत्ति में कदाचित् जीवघात होने पर भी उन्हें रागादि न होने से कर्मबन्ध नहीं होता, और सराग को होता है । पर यह निश्चित है कि उपधि-वस्त्रादि परिग्रह से (तृष्णागृहीत होने के कारण) कर्म का बन्धन होता ही है, इसलिये श्रमणों ने सभी परिग्रहों का त्याग किया है ।" तृष्णा-मूलक कार्य से बन्ध होने के कारण ही प्रवचनसार की प्रस्तुत कारिका के व्याख्याता अमरचन्द्र ने भी कहा है कि-"जैसे तुष के रहते तण्डुल में अशुद्धता का अभाव नहीं होता उसी प्रकार बहिरङ्ग वस्तुओं के पास में रहते हुए अशुद्ध-उपयोग-रागादिमलिनभावयुक्त ज्ञानरूप [3]अन्तरङ्गच्छेद यानी अन्तरङ्ग अशुद्धि का भी अभाव नहीं होता ।

स्पष्ट है कि यतः वस्त्रग्रहण तृष्णाजन्य है अतः वस्त्रग्रहण का अभाव तृष्णारूप कारण के अभाव से ही हो सकता है । इसलिये जहां वस्त्रग्रहण का भाव होगा, वहां निश्चय ही रागादि के अभाव संपादनार्थ रागादि के विरोधी सम्यग्ज्ञानादि का उत्कर्ष होगा; अतः वस्त्रादिग्रहणाभाव को सम्यग् ज्ञानादि के सद्भाव का बाधक कहना कैसे संगत हो सकता है ?"—

[ऐकान्तिक छेद की आशंका का समाधान]

इस आक्षेपात्मक कथन के उत्तर में श्वेतांबरों का कहना है कि साधु के वस्त्रादि ग्रहण में

१-अशुद्ध उपयोग=राग-द्वेषसहित ज्ञान　　२-उपधिपरिग्रह=वस्त्रपात्रादि का ग्रहण ।
३-अन्तरङ्गच्छेद=अन्तरङ्गअशुद्धि ।

इत्थं च परप्राणव्यपरोपणस्यानैकान्तिकच्छेदत्वेऽप्युपधेरैकान्तिकच्छेदत्वभणनं गाढाभिनिवेशगरलपानस्यैवोद्गारः, शुभोपयोगसंभविप्रमार्जनादिव्यापारकधर्मोपकरणस्य शुद्धपिण्डपुष्टशरीरवत् त्रिकोटीपरिशुद्धाहारवद् वा नियमतः संयमोपकारकत्वादेव। 'शुभोपयोगोऽपि शुद्धोपयोगस्य च्छेद एव' इति निश्चयेऽभिनिविशमानस्य तु विना शैलेशीचरमसमयं मुक्त्याद्यसमयं वा न कुत्रापि संयमशुद्धिविश्रामः, शुभोपयोगे सति शुद्धोपयोगानवकाशवत् प्राच्यविशुद्धौ सत्यामप्युत्तरविशुद्ध्यनवकाशात्। न च शुद्धोपयोगरूपमेव चारित्रं सिद्धान्तितम्, किन्तु मूलगुणविषयस्थैर्यपरिणामरूपम्, तदुपकारित्वमेव च वस्त्रादेः, इति कथं तत्सद्भावे तच्छेदः ? !

इत्थं च–'तुषसद्भावे तण्डुलाऽशुद्धिवद् वस्त्रादिसद्भावे आत्मनोऽशुद्धिः'–इत्यमरचन्द्रोक्तमपि प्रत्युक्तम्, तुष-वस्त्रादेरेकरीत्याऽविशुद्धत्वापादकत्वाऽसिद्धेः 'तुषस्यापि विलक्षणपक्तिविरोधित्वादिरूपाऽशुद्धिनियमाऽसिद्धिः, सतुषमुद्गादेः सिद्धिदर्शनात्' इत्यपि वदन्ति।

तृष्णाजन्यत्व असिद्ध है, क्योंकि प्राप्त इष्ट वस्तु के वियोग न होने की इच्छा को एवं अप्राप्त इष्ट वस्तु को प्राप्त करने की इच्छा को आर्त्तध्यान कहा जाता है, यह आर्त्तध्यान ही तृष्णा है, यह साधु को नहीं होती, अतः उसका वस्त्रादि-ग्रहण तृष्णा से नहीं होता; किन्तु शरीर से किये जाने वाले ग्रहण-परित्यागरूप चेष्टा के समान तृष्णा आदि के बिना ही होता है। अथवा यों कहा जा सकता है कि साधु जैसे आहार को धर्म-साधन समझ कर ग्रहण करता है उसी प्रकार वस्त्रादि को धर्म-साधन समझ कर विधिपूर्वक उसे ग्रहण करता है, न कि तृष्णा से ग्रहण करता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि परप्राणहरण को अनैकान्तिकच्छेद यानी अनैकान्तिक-संयम-अशुद्धि कहकर उपधि को जो ऐकान्तिकच्छेद एकान्तेन संयमअशुद्धि कहा गया है, वह दिगम्बरत्व के गाढ़ अभिनिवेशरूप विषपान का ही उद्‌गार है, क्योंकि वस्त्र आदि धर्मोपकरण [1]शुभ उपयोग से होने होने वाले [2]प्रमार्जन आदि व्यापार के द्वारा संयम की साधना में उसी प्रकार नियम से उपयोगी है, जैसे शुद्ध आहार से पुष्ट किया हुआ शरीर अथवा [3]त्रिकोटिपरिशुद्ध आहार संयम की साधना में उपयुक्त होता है।

'शुभ उपयोग भी शुद्ध उपयोग का [4]छेद ही है.'–इस निश्चय में जिस मनुष्य को अभिनिवेश है उसको तो संयम शुद्धि का विश्राम यानी चरम सीमा [5]शैलेशी अवस्था का अन्तिम समय अथवा मोक्ष का आद्य समय जब तक उपस्थित नहीं होता, तब तक नहीं होगा। क्योंकि जैसे शुभ उपयोग होने पर शुद्ध उपयोग का अभाव रहता है वैसे ही पूर्व विशुद्धि हो जाने पर भी उत्तर विशुद्धि का

---

१. शुभ उपयोग–प्रशस्त राग-सहचरित शुभ अध्यवसाय। २. प्रमार्जन जीव रक्षार्थ मृदु औधिक रजोहरण से पुंज–प्रमार्ज लेना। ३. त्रिकोटि परिशुद्ध करण-करावण-अनुमोदन तीनों रूप से हिंसा दोषरहित। ४. संयम की अशुद्धि। ५. शैलेशी अवस्था–समस्त आत्म प्रदेशों (आत्म सूक्ष्मांशो) की निष्कम्प अवस्था।

स्यादेतत्-आहारस्य परिग्रहव्यवहार(ाऽ)विषयत्वात् तद्विषयप्रवृत्तेस्तृ(?र्न तृ)ष्णापूर्वक-त्वेऽपि वस्त्रादेरतथात्वात् तद्विषयिणी प्रवृत्तिस्तृष्णापूर्विकैवेति । मैवम् , परिग्रहव्यवहारविषय-प्रवृत्तित्वावच्छिन्नं प्रति तृष्णाया अहेतुत्वात् , अतादृशेऽपि तृणादौ शरीरानुरागार्थं प्रवृत्ते-स्तृष्णामूलत्वेन व्यभिचारात्, दुष्टप्रवृत्तित्वावच्छिन्नं प्रत्येव तद्धेतुत्वात् । न च तथापि ग्रन्थ-व्यवहारविषयवस्त्रादिपरिग्रहे यतीनां निर्ग्रन्थत्वव्यवहारभङ्गः, विभूषादिचिह्नं न मूर्च्छोपाधत्व-निश्चय एव व्युत्पन्नानां ग्रन्थव्यवहारात्, अव्युत्पन्नव्यवहारस्य चाऽप्रयोजकत्वात् । सर्वथा ग्रन्थत्वमग्रन्थत्वं च न क्वचनापि व्यवस्थितम्, कनककामिन्योरपि विषपातनबुद्धया धर्मान्ते-वासिनीबुद्धया च परिगृह्यमाणयोर्ग्रन्थत्वाऽसिद्धेः ।

अभाव रहता है दूसरी बात यह है कि चारित्र शुद्ध उपयोगरूप ही है, वैसा सिद्धान्त नहीं है किन्तु चारित्र मूलगुण में स्थैर्यपरिणामरूप है, और वस्त्र आदि उसमें उपकारक है, अतः यह कैसे हो सकता है कि शुभ उपयोग के सद्भाव में शुद्ध उपयोग का छेद हो जाय ? उक्त रीति से विचार करने पर अमरचन्द्र का यह कथन भी कि तुष के रहते हुए जैसे तण्डुल की अशुद्धि बनी रहती है, वैसे वस्त्र आदि के रहते आत्मा की अशुद्धि बनी रहती है-निरस्त हो जाता है क्योंकि तुष और वस्त्र आदि में एक रीति से अशुद्धिजनकता असिद्ध है । इससे अतिरिक्त, विद्वज्जनों का यह भी कहना है कि तुष में तुषावृत अन्नकण के विलक्षणपाकविरोधित्वरूप अशुद्धिजनकता का नियम भी असिद्ध है, क्योंकि तुषावृत होते हुये भी मूंग की दाल विलक्षण पाक को प्राप्त करती है ।

यदि यह कहा जाय कि-'आहार को परिग्रह नहीं माना जाता अतः आहारग्रहण की प्रवृत्ति तृष्णा से अजन्य हो सकती है, किन्तु वस्त्र आदि को तो परिग्रह माना जाता है अतः वस्त्रादि ग्रहण की प्रवृत्ति तृष्णाजन्य ही हो सकती है'-तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि परिग्रह माने जाने वाले पदार्थ के ग्रहण में होने वाली प्रवृत्तिमात्र के प्रति तृष्णा कारण नहीं है-क्योंकि तृण आदि के परिग्रहरूप न होने पर भी शरीर के अनुराग से उसमें मनुष्य की प्रवृत्ति होती है, अतः परिग्रह माने जाने वाले पदार्थ में होने वाली प्रवृत्ति के प्रति तृष्णा का अन्वय व्यभिचार है । इसलिये तृष्णा परिग्रह माने जाने वाले पदार्थ की प्रवृत्ति सामान्य का कारण न होकर दुष्ट प्रवृत्ति का ही कारण हो सकती है, फलतः वस्त्रादि ग्रहण में साधु की प्रवृत्ति दुष्ट प्रवृत्ति न होने से उसमें तृष्णाजन्यत्व की सिद्धि नहीं हो सकती ।

[वस्त्रादि के परिग्रह में ग्रन्थ व्यवहार असिद्ध]

यदि यह कहा जाय कि-'वस्त्रादि का परिग्रह उक्त रीति से तृष्णाजन्य भले न हो, पर ग्रन्थ-(ग्रन्थजनकत्व)व्यवहार का विषय तो वह है ही, अतः वस्त्रादि का परिग्रह करने पर यतियों में निर्ग्रन्थत्व का जो व्यवहार होता है, उसका भङ्ग हो जायगा'-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि भूषण रूप में वस्त्र आदि के धारण रूप चिह्न को देख कर वस्त्र आदि में व्युत्पन्न पुरुष ग्रन्थ का व्यवहार करते हैं, साधु के वस्त्र आदि में राग द्वारा ग्रहण किये जाने का निश्चय न हो सकने से व्युत्पन्न पुरुष उसको ग्रन्थ के रूप में व्यवहृत नहीं करते । हाँ, अव्युत्पन्न पुरुष, साधु द्वारा गृहीत वस्त्र आदि में भी ग्रन्थ

तदाह भाष्यकारः–[वि. आ. भा. २५७२–३–४]

*"आहारो व्व ण गंथो देहट्ठं ति विसघायणट्ठाए।
कणगं पि तहा जुवई धम्मंतेवासिणी मित्ति ॥ १ ॥
तम्हा किमत्थि वत्थुं गंथोऽगंथो व्व सव्वहा लोए ?।
गंथोऽगंथो व्व मओ मुच्छममुच्छाइ णिच्छयओ ॥ २ ॥
वत्थाइं तेण जं जं संजमसाहणमराग–दोसस्स ।
तं तमपरिग्गहो च्चिय परिग्गहो जं तदुवघाई ॥ ३ ॥" इति ।

का व्यवहार कर सकते हैं, पर वह व्यवहार साधु के निर्ग्रन्थता व्यवहार के भङ्ग का प्रयोजक नहीं हो सकता, क्योंकि साधु में निर्ग्रन्थता का व्यवहार व्युत्पन्न पुरुषों की दृष्टि से ही मान्य है। उक्त रीति से समाधान करने पर साधु के वस्त्रादि में ग्रन्थत्व अथवा अग्रन्थत्व की निश्चित व्यवस्था न होने पर भी कोई दोष नहीं है क्योंकि सर्वथा ग्रन्थरूपता अथवा सर्वथा अग्रन्थरूपता किसी भी वस्तु में सिद्ध नहीं है, यहां तक कि कनक और कामिनी जो सामान्य रूप से सर्वथा ग्रन्थात्मक प्रतीत होते हैं, उनमें भी विचार करने पर सर्वथा ग्रन्थरूपता नहीं सिद्ध होती, क्योंकि विष को दूर करने के लिये कनक का परिग्रह करने पर कनक ग्रन्थरूप नहीं होता, एवं कामिनी का भी धर्मपालने वाली अन्तेवासिनी के रूप में परिग्रहण करने पर वह भी ग्रन्थरूप नहीं होती।

उक्त अर्थ के समर्थन में व्याख्याकार ने भाष्यकार की तीन गाथायें उद्धृत की हैं, उनका अर्थ क्रम से इस प्रकार है:–

जैसे देहधारणमात्र की दृष्टि से ग्रहण किया जाने वाला आहार 'ग्रन्थ' नहीं होता, उसी प्रकार विष निवारणार्थ ग्रहण किया जाने वाला कनक भी 'ग्रन्थ' नहीं होता, एवं धर्मपालन के लिये अन्तेवासिनी के रूप ग्रहण की जाने वाली युवती भी ग्रन्थ नहीं होती।

इसलिये यह नहीं कहा जा सकता कि संसार की अमुक वस्तु सर्वथा ग्रन्थरूप है, और अमुक सर्वथा अग्रन्थरूप है! सत्य यह है कि जो वस्तु मूर्च्छा राग से गृहीत होती है वह ग्रन्थरूप होती है और जो राग के बिना धर्म आदि प्रयोजनान्तर के लिये गृहीत होती है वह अग्रन्थरूप होती है।

इसलिये जो वस्त्र आदि संयम का साधन होता है, रागद्वेषादिमूलक नहीं होता, वह स्वरूपतः 'ग्रन्थ' होते हुये भी फलतः 'अग्रन्थ' होता है और जो संयम का विघातक होता है वह ग्रन्थरूप होता है।

* आहार इव न ग्रन्थो देहार्थमिति विषघातनार्थतया। कनकमपि तथा युवति धर्मान्तेवासिनी ममेति ॥१॥ तस्मात् किमस्ति वस्तु ग्रन्थोऽग्रन्थो वा सर्वथा लोके ?। ग्रन्थोऽग्रन्थो वा मतो मूर्च्छा-ऽमूर्च्छादि निश्चयतः ॥ २ ॥ वस्त्रादि तेन यद् यत् संयमसाधनमराग-द्वेषस्य। तत्तदपरिग्रह एव परिग्रहो यत् तदुपघाती ॥ ३ ॥

एवं च 'वस्त्रादिकं ग्रन्थः, मूर्च्छाहेतुत्वात्, कनकादिवत्' इत्यनुमानमपि जाल्मानां परेषां प्रतिक्षिप्तम्; ग्रन्थत्वं यदि मूर्च्छाहेतुत्वम्, तदा हेतोः साध्याऽविशेषात्; यदि च ग्रन्थ-व्यवहारविषयत्वम् तदा व्यवहारस्य लौकिकस्योपादाने तृणादौ व्यभिचारात्, अलौकिकस्य चोपादाने बाधात्, दृष्टान्तस्य साध्यवैकल्याच्च ।

अथ क्रय-पितृमरण-प्रतिग्रहादिजन्यं स्वत्वं धन-वस्त्रादौ पर्यायविशेषरूपं विक्रयादिविनाश्यमवश्यमभ्युपेयम्, अन्यथा स्व-परविभागाभावे स्तेयाऽस्तेयादिव्यवस्थोत्सीदेत् । न च स्वमूर्च्छाविषयत्वमेव स्वत्वम्, परकीयेऽपि स्वमूर्च्छाविषये दीयमाने प्रत्यवायाऽप्रसङ्गात् । न च क्रयाद्युपायविषयत्वं तत्, क्रयादीनामिच्छाविशेषरूपतया क्रीतादौ तद्विषयत्वसंभवेऽपि पितृमरणादेर्निर्विषयत्वेन पैतृकादौ तदनुपपत्तेः, क्रयादेः स्वत्वगर्भत्वाच्च । न च शास्त्राऽनिषिद्ध-

---

[वस्त्रादि में ग्रन्थत्वसाधक अनुमान का भंग]

जैन मुनियों द्वारा वस्त्र आदि के धारण का अनौचित्य बताने के लिये दिगम्बर जैन इस अनुमान का प्रयोग करते हैं कि "वस्त्र आदि ग्रन्थ है, क्योंकि वह मूर्च्छा=आसक्ति का कारण है, जैसे सुवर्ण आदि ।" व्याख्याकार इस अनुमान का प्रतिवाद करते हैं–उनका कहना है कि यह अनुमान दोषग्रस्त है, क्योंकि ग्रन्थत्वरूप साध्य का निर्दोष-निवचन नहीं हो सकता, जैसे ग्रन्थत्व को यदि मूर्च्छाहेतुत्वरूप माना जायगा तो हेतु और साध्य में कोई अन्तर न होने से सिद्ध साधन अथवा स्वरूप असिद्धि दोष होगा । यदि उसे 'वस्त्रादि ग्रन्थ है' इस व्यवहार के आधार पर ग्रन्थव्यवहार का विषयत्वरूप माना जायगा–तो यह ठीक न होगा, क्योंकि 'ग्रन्थपद के लौकिकव्यवहार विषयत्व' को ग्रन्थत्व मानने पर तृण आदि में व्यभिचार होगा क्योंकि तृण आदि मूर्च्छा का विषय होने पर भी ग्रन्थपद के लौकिक व्यवहार का विषय नहीं है । 'ग्रन्थपद के अलौकिक व्यवहार विषयत्व' को भी ग्रन्थत्व नहीं माना जा सकता क्योंकि शास्त्र में वस्त्र आदि का ग्रन्थ के रूप में अभिधान न होने से उसमें 'ग्रन्थपद के अलौकिक व्यवहारविषयत्वरूप' ग्रन्थत्वात्मक साध्य का बाध है । साथ ही यह भी दोष है कि सुवर्ण आदि का भी शास्त्रों में ग्रन्थात्मना वर्णन न होने से दृष्टान्त में साध्य का अभाव होने के कारण हेतु में साध्य व्याप्ति का ज्ञान नहीं हो सकता ।

[स्वत्वपर्याय से वस्त्रादि में परिग्रह की आपत्ति–दिगम्बर]

श्वेताम्बर जैन मुनियों द्वारा वस्त्र आदि के किये जाते धारण के विरोध में दिगम्बर जैनों द्वारा एक यह युक्ति दी जाती है कि वस्त्र आदि के धारण से अपरिग्रह व्रत की हानि होती है क्योंकि वस्त्रादि के धारणार्थ जैन मुनि को वस्त्रादि का परिग्रह करना आवश्यक होता है । अन्यथा, वस्त्र आदि में अपना स्वत्व हुये बिना उसका धारण सम्भव नहीं हो सकता क्योंकि अन्य व्यक्ति की वस्तु का सेवन मुनि के लिये वर्ज्य है । कहने का आशय यह है कि धन, वस्त्र आदि में मनुष्य का जो स्वत्व होता है, वह उन वस्तुओं का एक विशेष पर्याय है, जो क्रय, पितृमरण, प्रतिग्रह आदि से उत्पन्न होता है और विक्रय आदि से नष्ट होता है, इस स्वत्वपर्याय के द्वारा ही स्वकीय, परकीय का विभाग

विनियोगोपाययोग्यत्वम्, यावदुपायव्यतिरेके विनियोगे प्रत्यवायस्तावदन्यतमत्वं वा तत्, प्रत्यवायप्रतिपादकस्य शास्त्रस्य "परस्वं नाददीत" इत्यादेः स्वत्वानवगमेऽप्रतीतेः। न च क्वचिद् विक्रयप्रागभावविशिष्टः क्रयविनाशः, क्वचिद् दानादिप्रागभावविशिष्टः प्रतिग्रहध्वंसश्चेत्येवमननुगतं स्वत्वं वाच्यम्; अनुगतव्यवहारोच्छेदात्, अतिरिक्तधर्मेण तावदनुगमे चातिरिक्तस्वत्वपर्यायस्यैव वक्तुमुचितत्वात्। तथा च स्वनिरूपितस्वत्ववत्त्वेनैव वस्त्रादेः कनकादिवद् ग्रन्थत्वं व्यवतिष्ठत इति चेत् ? न,

---

होकर चौर्य, अचौर्य आदि की व्यवस्था होती है। जैसे, जिस वस्तु में जिस व्यक्ति का स्वत्व नहीं होता, अन्य का स्वत्व होता है वह वस्तु परकीय होती है और परकीय वस्तु का ग्रहण चौर्य है, एवं जिस वस्तु में जिस व्यक्ति का स्वत्व होता है वह वस्तु उस व्यक्ति की स्वकीय होती है, स्वकीय वस्तु का ग्रहण अचौर्य है।

[मूर्च्छाविषयत्व या क्रयाद्युपाय विषयत्वरूप स्वत्व अमान्य]

यदि यह कहा जाय कि-"स्वत्व क्रय आदि से उत्पाद्य कोई पर्याय नहीं है किन्तु मूर्च्छा विषयत्व रूप है, अर्थात् जिस वस्तु में जिस व्यक्ति की मूर्च्छा=आसक्ति होती है, वह वस्तु उस व्यक्ति की स्वकीय वस्तु होती है"-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि ऐसा मानने पर जिस वस्तु को जिस मनुष्य ने क्रय, पितृमरण, प्रतिग्रह आदि द्वारा नहीं प्राप्त किया है किन्तु उसमें उसकी मूर्च्छा है वह वस्तु भी उसकी स्वकीय वस्तु हो जायगी और उस वस्तु का अन्य मनुष्य को दान करने पर दान देने वाले को प्रत्यवाय की प्रसक्ति न होगी। यदि यह कहा जाय कि-'इस दोष के कारण स्वत्व को मूर्च्छा विषयत्वरूप मानना सम्भव न होने पर भी उसे क्रय आदि से अन्य पर्यायरूप मानने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि उसे क्रय आदि उपाय का विषयत्वरूप मान लेने में कोई बाधा नहीं है'-तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि क्रय और प्रतिग्रह आदि इच्छारूप है, जैसे 'यह वस्तु अमुक व्यक्ति का न होकर अमुक मूल्य से मेरी हो' यह इच्छा ही क्रय है, और 'यह वस्तु अमुक मूल्य ग्रहण से मेरी न होकर मूल्यदाता की हो' यह इच्छा विक्रय है एवं यह वस्तु दाता की इच्छा के अनुसार मेरी हो' यह इच्छा प्रतिग्रह है। अतः क्रीत, प्रतिगृहीत आदि वस्तु क्रय, प्रतिग्रह आदि का विषय तो हो सकती है किन्तु पितृमरण निर्विषयक है, अतः पैतृक धन में पुत्र का जो स्वत्व होता है, उसे पितृमरणविषयत्वरूप नहीं माना जा सकता। इसके अतिरिक्त दूसरा दोष यह है कि स्वत्व आदि को क्रयादिविषयत्वरूप मानने पर अन्योन्याश्रय होगा। क्योंकि क्रय आदि के स्वरूप में स्वत्व का प्रवेश है, जैसे 'यह वस्तु अमुक व्यक्ति का न होकर मूल्य प्रदान से मेरी हो' इसका अर्थ है 'अमुक व्यक्ति के स्वत्व की निवृत्ति होकर मेरे स्वत्व की उत्पत्ति हो' इस प्रकार क्रय स्वत्व से घटित है, अतः स्वत्व को क्रयादिविषयरूप मानने पर स्वत्व के ज्ञान में क्रयादि ज्ञान की और क्रयादिज्ञान में स्वत्वज्ञान की अपेक्षा होने से अन्योन्याश्रय स्पष्ट है।

[नये ढंग से स्वत्व के निर्वचन में भी अन्योन्याश्रय]

यदि यह कहा जाय कि-'स्वत्व न पर्यायविशेष है, न मूर्च्छाविषयत्वरूप है और न क्रयादि

विषयत्वरूप है किन्तु विनियोग के ऐसे उपायों की योग्यता रूप है, जो शास्त्रों में निषिद्ध नहीं हैं, अथवा जिन उपायों के अभाव में वस्तु का विनियोग करने में प्रत्यवाय होता है, उन उपायों में से किसी अन्यतम उपाय की योग्यतारूप है'–तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि यह स्वत्व भी अन्योन्याश्रय-ग्रस्त है, जैसे प्रथम स्वत्व के ज्ञान में अपेक्षित है 'विनियोग के अमुक उपाय शास्त्र निषिद्ध नहीं हैं' यह ज्ञान और इस ज्ञान में अपेक्षित हैं 'चौर्यादिभिः परस्वं नाददीत='चौर्यादि से परकीय धन ग्रहण न करे'–जैसे वाक्यों से होने वाले शास्त्र-निषिद्ध उपायरूप प्रतियोगी का ज्ञान। इसी प्रकार द्वितीय स्वत्व के ज्ञान से अपेक्षित है 'अमुक उपायों के अभाव में विनियोग करने से प्रत्यवाय होता है' यह ज्ञान और इस ज्ञान में अपेक्षित है 'परस्वं नाददीत' इत्यादि निषेधक वाक्यों का अर्थज्ञान और इन वाक्यों के अर्थज्ञान में अपेक्षित है इन वाक्यों में प्रविष्ट स्व शब्द के स्वत्वरूप अर्थ का ज्ञान, अतः स्वत्व ज्ञान और उसके उपायभूत ज्ञान में परस्परसापेक्षता होने के कारण अन्योन्याश्रय स्पष्ट है।

[विभिन्न प्रकार के स्वत्व-पक्ष में अनुगत व्यवहार अनुपपत्ति]

यदि यह कहा जाय कि–सब वस्तुओं में स्वत्व एकरूप नहीं है किन्तु विभिन्न साधनों से प्राप्त वस्तुओं में विभिन्नरूप है, जैसे क्रीत वस्तु में विक्रयप्रागभावविशिष्ट क्रयनाशरूप है और प्रतिग्रह-प्राप्त वस्तु में दानादिप्रागभावविशिष्ट प्रतिग्रहध्वंसरूप है। आशय यह है कि जो वस्तु क्रय से अर्जित की जाती है, क्रयकर्त्ता को उस वस्तु के विक्रय का अधिकार हो जाने से क्रयकर्त्ता द्वारा उस वस्तु के सम्भावित विक्रय का 'यह वस्तु मूल्यग्रहण से मेरी न होकर मूल्यदाता की हो' इस इच्छारूप विक्रय का प्रागभाव रहता है तथा 'यह वस्तु मेरे द्वारा प्रदत्तमूल्य का ग्रहण करने से मूल्यग्रहीता की न होकर मेरे मूल्यदान से मेरी हो' इस इच्छारूप क्रय का, विक्रयकर्त्ता द्वारा मूल्य ग्रहण होते ही नाश होने से क्रयनाश रहता है, इसलिये 'विक्रयप्रागभावविशिष्टक्रयनाश' ही स्वत्व है जो 'स्वप्रतियोगी-च्छाविषयत्व' सम्बन्ध से क्रीतवस्तु में रहता है। इसी प्रकार जो वस्तु प्रतिग्रह से अर्जित की जाती है, प्रतिग्रहकर्त्ता को उस वस्तु के दान आदि का अधिकार हो जाने से उस वस्तु में प्रतिग्रहकर्त्ता द्वारा सम्भावित दान आदि का 'यह वस्तु मेरी न होकर अमुक की हो' इस प्रकार की इच्छारूप दान आदि का प्रभाव रहता है तथा 'यह वस्तु दाता की इच्छा के अनुसार दाता की न होकर मेरी हो' इस इच्छारूप प्रतिग्रह का उसके तीसरे क्षण में नाश होने से प्रतिग्रहध्वंस रहता है, इसलिये 'दानादि-प्रागभावविशिष्टप्रतिग्रहध्वंस' ही स्वत्व है, जो 'स्वप्रतियोगीच्छाविषयत्व' सम्बन्ध से प्रतिगृहीत वस्तु में रहता है।–

किन्तु स्वत्व का यह रूप भी ठीक नहीं है-क्योंकि इसे स्वीकार करने पर विभिन्न उपायों से प्राप्त होने वाली वस्तुओं में 'इदं' मदीयं-यह मेरा है, इसमें मेरा 'स्वत्व' है इस प्रकार का जो अनुगत व्यवहार सर्वमान्य है, उसका उच्छेद हो जायगा और यदि किसी अतिरिक्त धर्म द्वारा विभिन्न प्रकार के स्वत्वों का अनुगम कर स्वत्व के अनुगत व्यवहार को उपपन्न करने की चेष्टा की जायगी तो उसकी अपेक्षा स्वत्व को ही अतिरिक्त पदार्थविशेषरूप मान लेना उचित होगा, और इस प्रकार जब अति-रिक्त स्वत्व पदार्थ की सिद्धि अनिवार्य है-तब जैसे स्वनिरूपित स्वत्व सम्बन्ध से स्व सम्बन्धी होने से सुवर्ण आदि स्व का ग्रन्थ होता है वैसे ही उक्त सम्बन्ध से यति आदि के सम्बन्धी वस्त्र आदि को भी यति आदि का ग्रन्थ होना अनिवार्य है।

यतिप्रतिगृहीतवस्त्रादौ धर्म्यविनियोगयोग्यतारूपस्याऽतृष्णामूलस्य स्वाश्रयभिन्नाभिन्नस्य स्वत्वपर्यायस्य सत्त्वेऽपि ग्रन्थव्यवहारनिबन्धनतृष्णामूलप्रतिग्रहादिजन्यस्वत्वपर्यायाभावात् । अत एव 'स्वपरिभोग्यमिदं वस्त्रादि' इति यतीनां भाषा, न तु 'स्वमेवेदम्' इति । न चेदेवम्, आहारेणापि स्वीयेनैव साधर्मिकं प्रति दानाद्युपग्रहसंभवाद् धर्मलाभपूर्वकप्रतिग्रहेण तत्र स्वत्वोत्पत्तेश्च कथं नाहारस्यापि ग्रन्थत्वम् ? ! एतेन 'स्वाभेदभ्रमबलोपनीतस्वत्वाश्रयवस्त्रादिसत्त्वे कथमात्मस्वरूपभावना ?' इत्यप्यपास्तम्, स्वाभेदभ्रमस्य सम्यग्दर्शनेनैव नाशात्, अन्यथाऽऽहारकालेऽपि कथं सुसाधूनां तत्साम्राज्यम् ? ।

अथ संयतस्य सकलकालमेव सकलपुद्गलाहरणशून्यमात्मानमवबुध्यमानस्य सकलाशनतृष्णाशून्यतयाऽन्तरङ्गतपःस्वरूपानशनस्वभावभावनासिद्धय एषणादोषशून्यान्यभैक्ष्याचरणेऽपि साक्षादनाहारता; तदुक्तं प्रवचनसारे—

*"जस्स अणसणमप्पा तं पि तओ तप्पडिच्छगा समणा।
अण्णं भिक्खमणेसणमध ते समणा अणाहारा ॥ १ ॥" [३–२७]

इति चेत् ? नन्वेवमस्य सर्वकालमेव सकलद्रव्यपरिग्रहशून्यमात्मानमवबुध्यमानस्य सकलमूर्च्छारहिततयाऽन्तरङ्गतपःस्वरूपाऽपरिग्रहस्वभावभावनाप्रसिद्धये दोषशून्यमुपकरणं प्रतिगृह्णतोऽपि कुतो न साक्षादपरिग्रहता ? ।

[तृष्णाशून्य स्वत्वपर्याय अबाधक–श्वेताम्बर]

दिगम्बरों के इस आक्षेप के उत्तर में व्याख्याकार का कहना है कि यति प्रतिगृहीत वस्त्र आदि में जो यति का स्वत्वरूप पर्याय होता है वह स्वाश्रय वस्त्र आदि से भिन्नाभिन्न होता है, तृष्णामूलक नहीं होता। तथा जो धर्मसम्मतविनियोगयोग्यतारूप होता है, वह 'ग्रन्थ' व्यवहार का साधक नहीं होता, किन्तु जो स्वत्व पर्याय तृष्णामूलक प्रतिग्रह से जन्य होता है वही 'ग्रन्थ' व्यवहार का मूल होता है, अतः यति द्वारा प्रतिगृहीत वस्त्र आदि यति के स्वत्व का आश्रय होने पर भी यति का 'ग्रन्थ' नहीं हो सकता, इसीलिये अपने वस्त्र आदि में 'यह वस्त्रादि हमारा स्वभोग्य है' इस भाषा का प्रयोग करते हैं, 'यह हमारा स्व है=हमारी सम्पत्ति है' इस भाषा का प्रयोग नहीं करते। यदि यतियों के स्वत्व में अयतियों के स्वत्व से यह वैलक्षण्य नहीं माना जायगा तो दिगम्बर को यह प्रश्न है कि यति द्वारा सधर्मा यति को अपने आहार का दान करने पर तथा श्रावक को धर्मलाभ का आशीर्वाद देकर आहार प्रतिग्रह करने से आहार में यति के स्वत्व की उत्पत्ति होने से आहार भी यति का ग्रन्थ क्यों न होगा ?

दिगम्बर जैनों का एक और आक्षेप है–'वह यह कि जब यति वस्त्रादि धारण करेगा तो उसमें उसके धारक शरीर में स्वात्मा के अभेदभ्रम से यति का स्वत्व होगा अतः यति को वस्त्रादि-

* यस्यानशनमात्मा तदपि तपस्तत्प्रतीच्छकाः श्रमणाः ।
अन्यद् भैक्ष्यमनेषणमथ ते श्रमणा अनाहाराः ॥ १ ॥

ये तु मूढाः संगिरन्ते—'असहिष्णोराहारकालेऽपि प्रमादसद्भावाद् न यथावदात्मभावना, वस्त्रादेस्तु सर्वदा संनिधाने सर्वदा प्रमादोदयाद् महदनिष्टम्' इति—ते समयलेशमपि न ज्ञातवन्तः, प्रमत्तगुणस्थानवर्त्तिनामपि शुभयोगं प्रतीत्यात्मानारम्भत्वादिप्रतिपादनात्, विधिना भुञ्जानस्य प्रमादाभावात्, प्रमादोपलक्षिताध्यवसायविशेषस्यैव प्रमत्तगुणस्थानपदप्रवृत्तिनिमित्तत्वात्। शश्वद्वस्त्रादिसंनिधानेन प्रमादोद्गमे शश्वत्संनिहितेन कायेनापि तदुदये तदनुच्छेदप्रसङ्गात्।

युक्त शरीर से भिन्न आत्मस्वरूप की भावना न हो सकेगी' किन्तु व्याख्याकार के कथनानुसार यह आक्षेप भी निरस्त-प्राय है क्योंकि वस्त्रादियुक्त शरीर में स्वात्मा के अभेद-भ्रम का निरास आत्मा के सम्यग् दर्शन गुण से सम्पन्न हो जाता है। यदि ऐसा न माना जायगा तो यतियों का आहार ग्रहण तो दिगम्बरों को भी मान्य है, तो फिर आहारग्रहण काल में श्रेष्ठ साधुजनों की जो आत्मस्वरूप की उच्च भावनाएँ होती है वह कैसे हो सकेगी क्योंकि आहार ग्रहण काल में आहार ग्रहीता शरीर में स्वात्मा के अभेद-भ्रम से आहार में साधु का स्वस्थ होना अनिवार्य है।

[आहार और वस्त्रादितुल्यरूप से अपरिग्रह]

आहार को अग्रन्थ सिद्ध करने के लिये दिगम्बर की ओर से यह कहा जा सकता है कि-संयमनिष्ठ यति तीनों काल अपने आपको परमार्थतः सभी पुद्गलों के आहरण से शून्य समझता है, उसे अशन-पान की कोई तृष्णा नहीं होती, आत्मा के अनशन स्वभाव की भावना, जो एक अन्तरङ्ग तप है इस भावना की सिद्धि के लिये वह एषणादोषयुक्त आहार से भिन्न एषणादोष शून्य आहार को ग्रहण करता है, अतः उसका आहार आपाततः आहार होने पर भी वस्तुतः अनाहार ही है। 'प्रवचनसार' में यही कहा गया है, जैसे 'अनशन जिसकी आत्मा हो, प्रार्थनीय होने योग्य न होना जिसका स्वभाव हो, तथा एषणा बिना ही उपलब्ध हो सके, श्रमणयति ऐसे ही रूखे रसहीन भोजन के प्रतीच्छक-ग्राहक होते हैं। एषणाहीन भोजन एषणायुक्त भोजन से भिन्न होता है, अतः उसे ग्रहण करने वाले श्रमणयति वास्तव में अनाहार होते हैं।-

इस कथन के प्रतिबन्दी उत्तर रूप में व्याख्याकार का कहना है कि आहार के सम्बन्ध में उक्त कथन के समान वस्त्रादि के सम्बन्ध में भी यह कथन हो सकता है कि संयमनिष्ठ यति सभी समय अपने आपको सब प्रकार के द्रव्यों के परिग्रह से शून्य समझता है, अपरिग्रह यानी सर्वविध मूर्च्छा से शून्य होना यह यति का स्वभाव है, इस स्वभाव की भावना रूप अंतरंग तप की सिद्धि के लिये यति यदि वस्त्र आदि निर्दोष उपकरण का परिग्रह करता है तो उसका यह परिग्रह आपाततः परिग्रह होने पर भी वस्तुतः अपरिग्रह क्यों नहीं हो सकता?

[वस्त्रादि के धारण से प्रमाद की शंका का निरसन]

जो दिगम्बरानुयायी मोहग्रस्त है, उनका यह कहना है कि-'यह बात ठीक है कि जो यति असहिष्णु होता है, भूख को सहन नहीं कर सकता, आहारकाल में उससे प्रमाद यानी जीवरक्षा में असावधानी इत्यादि हो सकता है, किन्तु यति को वस्त्रादि ग्रहण की अनुमति होने पर उसे वस्त्रादि

एतेन 'शश्वत् परद्रव्यसंनिधाने तद्दर्शनादात्मदर्शनप्रतिरोधः' इत्यपि प्रलपितं निरस्तम्, कायेऽप्यस्य समानत्वात् । 'कायदर्शनं प्रतियोगिज्ञानीभूय ध्यायिनः स्वभिन्नत्वज्ञानोपकार्येवे'ति चेत् ? वस्त्रादिदर्शनमपि किं न तथा ? अपेक्षाकारणानां प्रधानकारणायत्तत्वात्, *"जे जत्तिआ य हेऊ भवस्स ते तत्तिया य मुक्खस्स" इति वचनप्रामाण्यात् ।

का सर्वदा सन्निधान होगा, अतः वस्त्र आदि के रख-रखाव में उससे सभी समय प्रमाद होने की सम्भावना से उसका महान् अनिष्ट हो सकता है, अतः वस्त्रादिग्रहण यति के लिये सर्वथा अनुचित है ।'–इस कथन के उत्तर में व्याख्याकार का कहना है कि उक्त रीति से यति द्वारा वस्त्रादि ग्रहण का अनौचित्य बताने वालों को जैन सिद्धान्त के लेशमात्र का भी ज्ञान नहीं है, क्योंकि शास्त्रों में यह कहा गया है कि जो यति प्रमत्तगुणस्थान में विद्यमान होता है वह भी शुभ योग की अपेक्षा अनारम्भी है ऐसा आगम में दिखाया गया है । दूसरी बात यह है कि जो विधिपूर्वक भोजन करता है उससे प्रमाद सम्भव भी नहीं है और तीसरी बात यह है कि प्रमाद 'प्रमत्तगुणस्थान पद' की प्रवृत्ति का निमित्त होता भी नहीं, किन्तु प्रमाद से उपलक्षित अध्यवसायविशेष ही उसका निमित्त होता है । कहने का आशय यह है कि उस यति को प्रमत्तगुणस्थानकवर्ती नहीं कहा जाता-जिससे कोई प्रमाद बन जाय, अपि तु उसे कहा जाता है जो प्रमाद से उपलक्षित संयम के अध्यवसाय करे, प्रमादी होने पर भी ऐसी चेष्टा करे, जिससे जीवरक्षा आदि को बाध न हो । यह कहना भी ठीक नहीं है कि वस्त्रादि सन्निधान होने से प्रमाद का उदय होगा, क्योंकि यदि यह सम्भव होगा तब तो वस्त्रादिसन्निधान से शरीरसन्निधान अत्यधिक सार्वकालिक होने से शरीर से भी प्रमाद का उदय अवश्य होगा और उस स्थिति में प्रमाद का कभी उच्छेद ही न हो सकेगा ।

[वस्त्रादि आत्मदर्शन के बाधक नहीं]

कुछ प्रतिवादियों का यह कहना है कि–'आत्मा से भिन्न वस्त्र आदि का सर्वदा सन्निधान होने पर उसी का दर्शन होगा और उससे आत्मदर्शन में बाधा होगी'-किन्तु यह कथन निर्युक्तिक होने से निरस्तप्राय प्रलाप मात्र है क्योंकि उक्त बात शरीर के सम्बन्ध में भी समान है । शरीर भी आत्मा से भिन्न है और सदा सन्निहित रहता है अतः उसके दर्शन से भी आत्मदर्शन का प्रतिरोध प्रसक्त हो सकता है । यदि यह कहा जाय कि–शरीर का दर्शन प्रतियोगिज्ञानस्वरूप होने से ध्यानस्थ आत्मा में शरीरभेदज्ञान का साधक ही होगा न कि बाधक, तो वस्त्रादि का दर्शन भी उसी प्रकार वस्त्रादि से भिन्न आत्मदर्शन में साधक क्यों न होगा, जब कि 'संसार के जितने कारण होते हैं उतने ही मोक्ष के भी कारण होते हैं' इस तथ्य के प्रतिपादक आप्तवचन से यह प्रमाणित है कि अपेक्षा कारण (यानी सहकारी कारण) प्रधान कारण के अधीन होते हैं और जब यह बात प्रमाणित है तब यह भी निर्विवादरूप से मान्य है कि जिन वस्तुओं के अभेद भ्रम से आत्मा को भव प्राप्ति होती है उन सभी वस्तुओं का भेद दर्शन आत्मा के मोक्षलाभ में अपेक्षित है, इस लिये धर्म के उपकरण वस्त्रादि और धर्म का साधन शरीर ये दोनों ही आत्मदर्शन के लिये समानरूप से उपादेय हैं ।

* ये यावन्तश्च हेतवो भवस्य ते तावन्तश्च मोक्षस्य ।

अथ तनुर्महतामपि दुस्त्यजा ननु तदर्थमपीह भुजिक्रिया ।
इति ततो महतां न पथक्षतिर्भवति यद्बलतः सकला स्थितिः ॥ १ ॥
शृणु गुणान् वहतां सुकृतस्पृशां किमुपवेर्यत दुस्त्यजताऽपि न ? ।
अभिनिवेशमपास्य विमृश्यतामिदमुदीरितमुज्ज्वलभावतः ॥ २ ॥

दीर्घदेहस्थितेर्हेतोराहारो दुस्त्यजो यथा । तथोपकरणं, धाष्ट्यं मुभयत्र समोक्तिकम् ॥ ३ ॥
क्षुत्पीडितार्तिध्यानस्य यथा ह्यशनमौषधम् । तथा शीतादिभीतानामपि वस्त्रादिसेवनम् ॥ ४ ॥

'कामिनीविरहसंभवदुष्टध्यानसंततिमपासितुमेवम् ।
कामिनीमपि न किं कमनीयां स्वीकुरुध्वमिति' चेत् ? सममेतत् ॥ ५ ॥
अन्यथा पलभुजो न कुतः स्युर्दिक्पटा उचितपिण्डभुजश्चेत् ।
प्रत्युत प्रकटतामसवृत्तेर्भावनं तत इहापि समानम् ॥ ६ ॥
सङ्गमङ्ग ! समवाप्य तरुण्याः कस्य नाम न मनः कलुषं स्यात् ? ।
निर्मलान्यपि जलानि न किं स्युः पङ्कसंकरवशाद् मलिनानि ? ॥ ७ ॥
व्याधयोऽरसभुवो विपवल्ल्योऽभूमिका अशनयोऽगगनोत्थाः ।
मूर्तिमत्य इव मारणविद्याः किं न ता निगदिताः श्रुतवृद्धैः ? ॥ ८ ॥

तस्माद् विहिताहारवद् विहितस्योपकरणस्यापि दुर्ध्यानहति-शुभध्यानोत्पत्तिहेतुत्वाद् युक्तं यतीनां तत्परिशीलनम् । विधिश्चात्र—"*तिहिं ठाणेहिं वत्थं धरेज्जा, हिरिवत्तियं दुगंछावत्तियं, परीसहवत्तियं" [स्था० ३–३–१७१] । तथा—

[आहारवत् वस्त्रादिउपकरण दुस्त्यज]

व्याख्याकार ने आठ पद्यों द्वारा इस चर्चा का उपसंहार किया है । पद्यों का अर्थ क्रमश इस प्रकार है:—

दिगम्बरों की ओर से यदि यह कहा जाय कि-'शरीर महान् मुनियों के लिये भी दुस्त्यज है अत: शरीररक्षार्थ भोजन करना मुनियों को भी आवश्यक है । भोजन करने से महान् मुनियों को मार्गभ्रंश का दोष नहीं हो सकता, क्योंकि धर्म और अध्यात्म की सम्पूर्ण स्थिति शरीर पर ही आश्रित है, और शरीर का अस्तित्व भोजन पर निर्भर है ।'-इस कथन के उत्तर में यह कहा जा सकता है कि उक्त बात कहने वालों को यह बात भी सुननी चाहिये कि जैसे महान् मुनियों को शरीर

* त्रिभिः स्थानैर्वस्त्रं धारयेत्, ह्रीप्रत्ययम्, जुगुप्साप्रत्ययम्, परीषहप्रत्ययम् ।

"卐जं पि वत्थं च पायं वा कंबलं पायपुंछणं।
तं पि संजमलज्जट्ठा धारंति परिहरंति अ ॥ १ ॥" इत्यादि।

अत्र चाऽदग्धदहनन्यायेन यावदप्राप्तं तावद् विधेयम्, इति वस्त्रधारणस्य लोकत एव प्राप्तत्वाद् ह्री–कुत्सा–परीषहनिमित्तं तद्ग्रहणं नियम्यते। तत्र च निमित्तत्रयमपि जिनकल्पाऽयोग्यानां निरतिशयानामधिकारिणामावश्यकम्, अथवा, ह्रीपदार्थः संयमलज्जा, सैव मुख्यं निमित्तम्, इतरत्तु द्वयं तदुपकारि निमित्तम्, तदुक्तं भाष्यकृता–[वि०आ०भा० २६०२–३]

दुस्त्यज है, क्या वैसे ही गुणवान् सुकृती पुरुषों को वस्त्र आदि उपकरण दुस्त्यज नहीं है ? अतः उचित यह है कि किसी एक पक्ष का आग्रह त्याग कर पवित्र भाव से इस कथन पर विचार किया जाय। विचार करने से यह वस्तुस्थिति स्पष्ट हो जाती है कि जैसे धर्मसाधनार्थ शरीर को दीर्घकाल तक सुरक्षित रखने के लिये आहार दुस्त्यज है, उसी प्रकार शरीर के रक्षार्थ वस्त्रादि उपकरण भी दुस्त्यज है। यदि यह कहा जाय कि- वस्त्रादि के बिना भी जीवन सम्भव होने से उसे दुस्त्यज बताना खटकता है तो इस कथन के समान ही यह भी कहा जा सकता है कि आहार के बिना भी कुछ दिन तक जीवन सम्भव होने से आहार को भी दुस्त्यज कहना खटकता है, क्योंकि 'जैसे क्षुधा से पीड़ित व्यक्ति के आर्तध्यान का औषध भोजन है, वैसे ही शीत आदि से त्रस्त व्यक्ति के लिये वस्त्रादि का सेवन भी औषध है। इसके प्रतिवाद में दिगम्बरों की ओर से यदि यह कहा जाय कि–'जैसे शीत आदि से त्रस्त व्यक्ति के लिये वस्त्रादि का सेवन उचित है। उसी प्रकार कामिनी के अभाव से उत्पन्न होने वाले दुष्टध्यान के प्रवाह को रोकने के लिये सुन्दरी तरुणी का सेवन भी यति के लिये उचित होना चाहिये'–तो इसका उत्तर यह है कि ऐसी बात आहारग्रहणऔचित्य के विरोध में भी कही जा सकती है, जैसे यह कहा जा सकता है कि दिगम्बर जैसे विहित आहार ग्रहण करते हैं, वैसे वे मांस का आहार क्यों न ग्रहण करें, क्योंकि सामिष-निरामिष दोनों ही आहार समानरूप से शरीर के पोषक हैं। यदि यह कहा जाय कि-'मांसाहार से तामसवृत्ति का प्रकटन होता है' तो यह बात तो कामिनी-सेवन के सम्बन्ध में भी समान है। व्याख्याकार दिगम्बर को मित्र शब्द से सम्बोधित कर कहते हैं कि तरुणी के सम्पर्क से किस पुरुष का मन कलुषित नहीं हो सकता ! क्योंकि स्पष्ट है कि निर्मल भी जल पङ्क के सम्पर्क से मलिन हो जाता है। क्या शास्त्रवृद्धों ने स्त्रियों को स्वाद से अजन्य व्याधि, भूमि से अजन्य विषलता आकाश से अजन्य वज्र एवं शरीरधारिणी मारण विद्या नहीं बताया है ! ?

उक्त विचार के अनुसार यह निर्विवाद सिद्ध है कि जैसे दुष्टध्यान का विघातक और शुभध्यान का संपादक होने से यतियों के लिये शास्त्रविधान के अनुसार आहार का ग्रहण उचित है, उसी प्रकार शास्त्रविधान के अनुसार वस्त्रआदि उपकरणों का सेवन भी उचित है। उपकरणों के विधायक शास्त्रवचन का अर्थ यह है-यति को तीन स्थानों से यानी निमित्त से वस्त्रधारण करना चाहिये–लज्जा के लिये, जुगुप्सानिवारण के लिये एवं दुस्सह शीत आदि से बचने के लिये। तथा, संयम और लज्जा के लिये जो भी वस्तु अपेक्षित होती है, वस्त्र, पात्र, कम्बल, पैर का प्रोञ्छन आदि, यति उसका ग्रहण और त्याग करते हैं।

卐 यदपि वस्त्रं च पात्रं वा कम्बलं पादप्रोञ्छनम्। तदपि संयमलज्जार्थं धारयन्ति परिहरंति च ॥१॥

"*विहियं सुए च्चिय जओ धरेज्ज तिहिं कारणेहिं वत्थं ति ।
तेणं चिय तदवस्सं णिरतिसएणं धरेअव्वं ॥ १ ॥
जिणकप्पाऽजोग्गाणं ही-कुच्छ-परीसहा जओऽवस्सं ।
ही लज्जं त्ति व सो संजमो तयत्थं विसेसेणं ॥ २ ॥" इति ।

यदि च नैमित्तिकत्वाद् वस्त्रादिग्रहणमयुक्तमित्युद्भाव्यते, तदाऽऽहारग्रहणमप्ययुक्तं स्यात्, तस्यापि नैमित्तिकत्वात्; तदुक्तं स्थानाङ्गे–"[1] छहिं ठाणेहिं समणे णिग्गंथे आहारमाहारेमाणे णाइक्कमइ, तं जहा–वेअणवेयावच्चे, इरिअट्ठाए अ संजमट्ठाए तह पाणवत्तिआए, छट्ठं पुण धम्मचिंताए" [अ०६/सू० ५००] इति ।

[वस्त्रधारण का विधान नियमविधिरूप]

इस सन्दर्भ में यह ज्ञातव्य है कि वस्त्रधारण की उक्त विधि अपूर्व विधि नहीं है, क्योंकि जैसे दग्ध का दाह न होकर अदग्ध का ही दाह होता है, वैसे ही प्राप्त की विधि न होकर अप्राप्त की ही अपूर्व विधि होती है। वस्त्रधारण यतः अनेक निमित्त से लोकतः प्राप्त है, अतः शास्त्र द्वारा वस्त्र धारण का अपूर्व विधान न होकर लज्जा, कुत्सा और परीषहरूप केवल तीन निमित्तों से उसका नियमन होता है, अतएव वस्त्रधारण की उक्त विधि नियम विधि है।

इस प्रसङ्ग में यह ध्यान रखना उचित है कि-'जिनकल्प' के लिये अयोग्य अतिशयशून्य अधिकारियों के लिये उक्त तीनों ही निमित्त अवश्यंभावि हैं। अथवा उक्त निमित्तों में 'ह्री' का अर्थ है संयम यानी विशिष्ट लज्जा, यति के वस्त्रधारण में वही प्रधान निमित्त है, अन्य दो कुत्सा और परीषह 'ह्री' के सहकारी निमित्त हैं। इस बात को भाष्यकार ने भी कहा है, जैसे–तीन कारणों से शास्त्रविहित वस्त्र को धारण करना उचित है, अतः निरतिशय-सामान्य यति को उन कारणों से ही वस्त्रधारण करना चाहिये, क्योंकि जिनकल्प के अयोग्य मुनियों को लज्जा कुत्सा और परीषह अवश्य होते हैं। अथवा यति को विशेष रूप से 'ह्री' (लज्जा) वश ही वस्त्रधारण करना आवश्यक है, क्योंकि 'ह्री' का अर्थ है लज्जा एवं संयम और वही यति के लिये मुख्य पालनीय है।

यदि यह कहा जाय कि–'वस्त्रधारण निमित्तमूलक होने से अयुक्त है'–तो यह कथन आहार-ग्रहण के सम्बन्ध में भी सम्भव है क्योंकि वह भी निमित्तमूलक ही है। उसकी निमित्तमूलकता [2]"स्थानाङ्ग" सूत्र में कही गई है, जैसे–'श्रमण छः निमित्तों से आहार का आहरण करने पर भी

*विहितं श्रुत एव यतो धारयेत् त्रिभिः कारणैर्वस्त्रमिति । तेनैव तदवश्यं निरतिशयेन धारयितव्यम् ।१।
जिनकल्पाऽयोग्यानां ह्री-कुत्सा-परीषहा यतोऽवश्यम् । ह्रीर्लज्जेति वा स संयमस्तदर्थं विशेषेण ॥ २ ॥

१. षड्भिः स्थानैः श्रमणा निर्ग्रन्था आहारमाहरन्तो नातिक्रामन्ति, तद्यथा-वेदनया वैयावृत्त्ये, ईर्यार्थम्, संयमार्थम्, तथा प्राणवृत्त्यै, षष्ठं पुनधर्मचिन्तया ।

२. 'स्थानाङ्ग'–तृतीयक्रमांक का आगम शास्त्र ।

अथ ज्ञानादिपुष्टालम्बनेनाऽदुष्टाहारग्रहणे न दोषः, वस्त्रादेस्तु मलादिदिग्धस्य यूकादि-संमूर्च्छनानेकसत्त्वहेतुतया तद्ग्रहणे तद्व्यापत्तेरवश्यंभावात्, तद्ग्रहणमपुष्टालम्बनिकत्वाद् न न्याय्यमिति चेत् ? न, आहारग्रहणेऽप्यस्य दोषस्य समानत्वात्। संभवन्त्येव ह्यागन्तुकाः संमूर्च्छनजाश्चानेकप्रकारास्तत्र जन्तवः, तत्परिभोगे चावश्यंभावी तेषां विनाशः, भुक्तस्य च कोष्ठगतस्य संसक्तिमत्त्वात् तदुत्सर्गेऽनेककृम्यादिव्यापत्तिरवश्यंभाविनीति । अथावधानेन तत्परिभोगादिकं विदधतो न सत्त्वव्यापत्तिः, व्यापत्तौ वा शुद्धाशयस्य तद्रक्षादौ यत्नवतो गीतार्थस्य ज्ञानादिपुष्टावलम्बनप्रवृत्तेरहिंसकत्वाद् न तद्ग्रहणमन्याय्यमिति चेत् ? तुल्यमिदमन्यत्र । अथ वस्त्रादेर्मलदिग्धस्य क्षालनेऽप्कायादिविनाशो बाकुशिकत्वं चाऽक्षालने च संसिक्तदोष इत्युभयतःपाशा रज्जुः, इति न तद्ग्रहणं युक्तमिति चेत् ? आहारादिग्रहणेऽपि तुल्यमेतत्, तद्दिग्धस्याऽऽस्यादेः प्रक्षालनादप्कायविनाशात्, अप्रक्षालने च प्रवचनोपघातादिति । प्रासुकोदकादिना यत्नतः प्रक्षालने दोषाभावोऽप्युभयत्र तुल्य इति ।

---

[1]निर्ग्रन्थ रहते हैं, निर्ग्रन्थ की मर्यादा का अतिक्रमण नहीं करते' जिन छः निमित्तों से यति को आहार-ग्रहण की सम्मति दी गई है, वे हैं [2]वेदना, [3]वैयावृत्त्य, [4]ईर्या, संयम, प्राणरक्षा तथा धर्मचिन्तन।

[वस्त्रग्रहण में जीवोत्पत्ति आदि दोष का निरसन]

यदि यह कहा जाय कि-'ज्ञान आदि पुष्ट आलम्बन से निर्दोष आहार का ग्रहण होने से उसमें नैमित्तिकता प्रयुक्त अनौचित्य दोष नहीं है किन्तु वस्त्रादि ग्रहण में अनौचित्य दोष अनिवार्य है क्योंकि वस्त्रादि के मलिन होने पर उसमें यूका आदि अनेक मलप्रभव जीवों की उत्पत्ति होती है, वस्त्रादि को ग्रहण करने पर उन जीवों का नाश अवश्यम्भावी होता है अतः पुष्टालम्बन पर आश्रित न होने से वस्त्रादि ग्रहण न्यायसंगत नहीं है'-तो यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि यह दोष आहार ग्रहण में भी विद्यमान है, क्योंकि आहार में आगन्तुक तथा [5]सम्मूर्च्छनजन्य अनेक प्रकार के जीव होते हैं, आहार का सेवन करने पर उन जीवों का नाश अवश्य होता है। एवं परिभुक्त आहार कोष्ठ में पहुंचकर संसक्तिमान्-जन्तुसंपृक्त हो जाता है, अतः उसका-त्याग करने पर मलत्याग के स्थान में विद्यमान कृमि आदि अनेक जीवों का विनाश भी अवश्य होता है।

यदि यह कहा जाय कि-'सावधानी से आहार-सेवन तथा मलत्याग करने पर जीवों का नाश नहीं हो सकता और उक्तरीति से जीवों का नाश यदि सम्भव भी हो तब भी आहार ग्रहण अयुक्त

---

१. निर्ग्रन्थ-क्रोधादि आत्मशत्रु को ग्रन्थ कहते हैं-उसके त्यागी को निर्ग्रंथ। २. वेदना-क्षुधा लगने पर उस का शमन करने के लिये। ३. वैयावृत्त्य-गुरुदेव और अन्य वडिलों की सेवा-सुश्रुषा।
४. ईर्या-चलते समय किसी भी सूक्ष्म जंतु का पादाक्रमण न हो ऐसी सावधानी।
५. सम्मूच्छिम-गर्भ के विना ही जिनकी उत्पत्ति हो ऐसी कुछ जीवसृष्टि।

शुद्धाहारादिव शुद्धोपकरणादनेकगुणसंभवस्तु निरपाय एव । तथाहि—समस्तरात्रिजागरणं कुर्वतां साधूनां तुषारकणगणप्रवर्षिणिशीतकाले यतनया कल्पप्रावरणेन भवति स्वाध्यायनिर्वाहः । तथा, सचित्तपृथिवी-धूमिका-वृष्टि-अवश्याय-रजः-प्रदीपतेजःप्रभृतीनां रक्षापि तैः कृता भवति; तथा, मृताच्छादन-बहिर्नयनाद्यर्थं ग्लानप्राणोपकारार्थं च भवति वस्त्रस्योपयोगः; तथा संपातिमरजोरेणुप्रमार्जनाद्यर्थं मुखवस्त्रस्य, आदान-निक्षेपादिक्रियायां पूर्वं प्रमार्जनार्थं लिङ्गार्थं च रजोहरणस्य, वाग्व्यादिनिमित्तविक्रियावल्लिङ्गसंवरणाद्यर्थं च चोलपट्टपटलादेरिति ।

नहीं हो सकता क्योंकि आहारग्रहीता यति शुद्धाशय वाला होता है, जीवरक्षा के लिये यत्नशील रहता है तथा [1]गीतार्थ होता है । अतः ज्ञान आदि पुष्ट आलम्बन पर आधारित होने से उसकी प्रवृत्ति अहिंसक होती है' तो यह बात वस्त्रादि ग्रहण में भी समान है ।

यदि यह कहा जाय कि–"मलयुक्त वस्त्रादि का प्रक्षालन करने पर [2]अप्काय आदि जीवों का नाश होगा और यति को बाकुशिकता-(वस्त्र की विभूषा आदि दोष) की प्रसक्ति होगी और यदि यदि वस्त्र मलिन हो जाने पर उसका प्रक्षालन न कर उसे ही यथापूर्व धारण करता रहेगा तो संसक्तिदोष-यति के देहसंपर्क से वस्त्रगत मालिन्यजन्य जीवों के घातक होने का दोष प्रसक्त होगा । अतः मलिन वस्त्र को धोने एवं न धोने दोनों ही दशा में दोष होने से उभयथा बन्धन की प्रसक्ति होने के कारण वस्त्रादिग्रहण अनुचित है"–तो यह दोष आहारग्रहण में भी समान है, क्योंकि आहार से संसक्त मुख आदि का प्रक्षालन करने पर अप्काय जीवों के नाश की और प्रक्षालन न करने पर जूठे-मुख प्रवचन की निंदा होने से प्रवचन-विनाश की आपत्ति होगी । यदि यह कहा जाय कि–'जीवों का घात न हो ऐसी सावधानी के साथ जीवरहित (अचित्त) अल्प जल से मुखादि का प्रक्षालन करने पर उक्त दोष सम्भव न होने से आहारग्रहण का औचित्य अक्षुण्ण है'-तो यह बात वस्त्रादिग्रहण के पक्ष में भी समान है ।

[वस्त्रग्रहण के अनेक लाभ]

यह ज्ञातव्य है कि जैसे शुद्ध आहार में अनेक गुण होते हैं, वैसे ही शुद्ध उपकरण में भी अनेक गुण निर्बाध रूप से विद्यमान हैं, जैसे हिमकणवर्षी शीतकाल में [3]यतनापूर्वक वस्त्रावरण से समूची रात जागने वाले साधुओं के स्वाध्याय का निर्वाह होता है । वस्त्रावरण से [4]सचित्त पृथिवी, [5]धूमिका, वृष्टि, अवश्याय, रज और प्रदीप के तेज आदि की रक्षा होती है एवं मृत के ऊपर आच्छादन तथा बहिर्गमन आदि में तथा शीत से मरणासन्न साधु की प्राणरक्षा में भी वस्त्रादि का उपयोग होता है, इसी प्रकार आकाश से गिरने वाले रजःकण धूली आदि के प्रमार्जन में मुखवस्त्र का; आदान,

---

१. गीतार्थ-सूत्र और उनके अर्थ को सद्‌गुरु के पास अच्छी तरह पढ़ा हुआ । २. अप्काय-जलद्रव्य को शरीररूप में परिणत कर के धारण करने वाले जीवसमूह । ३. यतना-जीवघात न हो ऐसी सावधानी । ४. सचित्तपृथिवी-पृथ्वी द्रव्य को शरीररूप में धारण करने वाले जीवसमूह ।
५. धूमिका और अवश्याय-ये दोनों अप्काय के भेदविशेष है ।

पात्रग्रहणेऽप्यमी गुणाः; तथाहि–अनाभोगेन गृहीतानां संसक्तगोरसादीनां पात्रेणैव विधिना परिष्ठापनेन रक्षा कृता भवति, अन्यथा तु हस्त एव गृहीतास्ते क्व धीयेरन् ?, तथा, पात्रं विना करपुटगृहीतसरसद्रववस्तुबिन्दुभिरधःपातिभिः कुन्थु–कीटिकादिजन्तुसंघातनेन, गृहस्थभाजनपरिभोगे च भाजनप्रक्षालनादिपश्चात्कर्मदोषविरहे न चारित्रशुद्धिः, कथं वा पात्रमन्तरेणैकत्र भुजिक्रियां हस्त एव विदधतां करेण जलाऽगालने जलगताऽसंख्येयादिसत्त्वव्यापत्तितो महाव्रतधारणोपपत्तिः ? । न च प्रतिगृहमोदनस्य भिक्षामात्रस्योपभोगात्, वस्त्रपूतोदकाङ्गीकरणाच्चायमदोषः, तथा प्रवृत्तौ प्रवचनोपघातप्रसक्त्या बोधिबीजोच्छेदात् । न च गृहस्थवाससा पूतमप्युदकं निर्जन्तुकं सर्वं संपद्यते, तज्जन्तूनां सूक्ष्मत्वाद् वस्त्रस्य बाधनत्वात्, गृहिणां तच्छोधनेऽतिशयप्रयत्नानुपपत्तेश्च । न च प्रासुकोदकस्योपभोगादयमदोषः, तत्रापि सत्त्वसंसक्तिसंभवात्, करप्रक्षिप्ते तस्मिन्नप्रत्युपेक्ष्य पानोज्झनयोस्तद्व्यापत्तिदोषस्याऽपरिहार्यत्वात्, पात्रादिग्रहणे तु तत्प्रत्युपेक्षणस्य सुकरत्वाद् व्रतातिचारदोषानुपपत्तेः । न च त्रिवारोद्वृत्तोष्णोदकस्यैव परिभोगादयमदोषः, तथाभूतस्य प्रतिगृहं तत्कालोपस्थायिनस्तस्याऽप्राप्तेः, प्राप्तावपि तस्य तृडपनोदाऽक्षमत्वात्, तद्युक्तस्य चानुत्तमसंहननस्येदानींतनयतेरार्तध्यानानुच्छेदात्, तस्य च दुर्गतिनिबन्धनत्वात् ।

निक्षेप आदि क्रिया में पूर्व प्रमार्जन के लिये तथा संयम के चिन्ह के लिये रजोहरण की; और वायु आदि से जन्य विकारयुक्त लिङ्ग के संवरण के लिये [1]चोलपट्ट की उपयोगिता है ।

[पात्रधारण से अनेक लाभ]

पात्रग्रहण में भी बहुत गुण हैं, जैसे पात्र से ही विधि पूर्वक धारण करने से [2]अनाभोगपूर्वक ग्रहण किये गये गोरस आदि संसक्त पदार्थों की रक्षा सम्पादित होती है, अन्यथा यदि वे पदार्थ हाथ में ही लिये जायेंगे और उनके धारण योग्य कोई पात्र न होगा तो उन्हें किस वस्तु में रखा जा सकेगा ? । इसी प्रकार पात्र के अभाव में हाथ की अञ्जली में जब सरस द्रव वस्तु ली जायगी तो उसकी बूंदें नीचे गिरेंगी, अत: उनसे [3]कुन्थु, कीट आदि जन्तुओं का नाश होगा । यदि वे वस्तुयें गृहस्थ के पात्र में ली जायेगी तो उन पात्रों के प्रक्षालन, प्रत्यावर्तन आदि कई पश्चात्कर्म करने होंगे । फिर इन सब के होते यति के चारित्र्य की शुद्धि कैसे रह सकेगी ? एवं पात्र के अभाव में यति एक हाथ से ही भोजन करेगा और एक से ही जल ग्रहण करना होगा, अत: जल को न छानने से जलगत असंख्येय जीवों का नाश अवश्य होगा-फिर इस स्थिति में कर-भोजी एवं करपात्री यति द्वारा अहिंसारूप व्रत का धारण कैसे सम्भव हो सकेगा ? यदि यह कहा जाय कि-प्रतिगृह में भिक्षामात्र ओदन और वस्त्रपूत जल ग्रहण करने से इस दोष की प्रसक्ति न होगी', तो यह ठीक नहीं है क्योंकि–

---

१. चोलपट्ट–साधु महात्मा को परिधान के लिये अधोवस्त्र ।

२. अनाभोग–अन्यमनस्कता अथवा अनवधान । ३. कुन्थु–सूक्ष्म जन्तु ।

न च तृडादिदुःखस्य तपोरूपत्वेनाश्रयणीयत्वादयमदोषः अनशनादेर्बाह्यतपस आन्तरतपउपचयहेतुत्वेनाश्रीयमाणत्वात्, अन्यादृग्भूतस्य चाऽतपस्त्वात्, *"सो य तवो कायव्वो जेण मणोऽमंगुलं ण चिंतेइ" इत्याद्यागमप्रामाण्यात् ।

"बाह्यं तपः परमदुश्चरमाचरध्वमाध्यात्मिकस्य तपसः परिबृंहणार्थम् ।"

इति स्तुतिकृताऽप्युक्तत्वाच्च । कथं वा पात्राभावे ग्लान-दुर्बलाद्यर्थं पथ्याद्यानयनादिनोपष्टम्भः ? कथं वाऽन्यस्य भक्तपानादिप्रदानानुपपत्त्या दानधर्मानुग्रहः ? कथं वाऽलब्धिमतामशक्तानां प्राघूर्णकानां च लब्धिमद्भिः शक्तैर्वास्तव्यैश्चोपकारानुपपत्त्या न समत्वम् ? इति ।

यति इस प्रकार वहाँ पानी छानने को बैठेगा तो प्रवचन का उपघात होने से बोधिबीज का उच्छेद होगा। दूसरी बात यह है कि गृहस्थ के वस्त्र से छाना हुआ भी जल पूर्णरूप से निर्जन्तुक नहीं हो सकता। साथ ही जलस्थ जन्तुओं के सूक्ष्म होने से गृहस्थ वस्त्र से उनका पीडन भी होगा, एवं गृहस्थ द्वारा जलशोधन का पूरा प्रयत्न भी न हो सकेगा। यह भी कहना उचित नहीं हो सकता कि अचित्त जल का सेवन करने से यह दोष नहीं होगा, क्योंकि अचित्त जल में भी जीव की संसक्ति हो सकती है और करस्थजल में संसक्तजीव का प्रत्युपेक्षण-निरीक्षण करके संशोधन न हो सकने से उस जल का पान तथा उज्झन-त्याग करने पर संसक्तजीव के नाश रूप दोष की अनिवार्य प्रसक्ति होगी, किन्तु पात्र आदि ग्रहण करने पर पात्रस्थ जल से संसक्त जीव का प्रत्युपेक्षण-निरीक्षण से संशोधन सुकर होने से अहिंसा व्रत के अतिक्रमण दोष की आपत्ति न होगी।-'तीनबार उद्वर्तित (उबाला हुआ) उष्णोदक का ही सेवन करने से यह दोष नहीं होगा', यह कथन भी उचित नहीं हो सकता क्योंकि प्रतिगृह में उपस्थित होते ही यति को तत्काल उक्त प्रकार के जल की प्राप्ति हो जाय-ऐसा नियम नहीं हो सकता, और यदि ऐसा जल प्राप्त भी हो जाय तो उससे तृष्णा की निवृत्ति न हो सकेगी, फलतः, तृष्णायुक्त अपकृष्टकायबल वाले आधुनिक यति के आर्त्तध्यान का उच्छेद न होगा, जिससे यति को दुर्गति की प्राप्ति अनिवार्य होगी।

[अभ्यन्तरतप विरोधी बाह्यतप अग्राह्य]

यदि यह कहा जाय कि-'तृष्णामूलक दुःख तपोरूप होने से स्वीकार्य है अतः उक्त दोष नहीं हो सकता'-तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि अनशनआदि बाह्य तप आन्तर तप के उपचय का हेतु होने से स्वीकार्य होता है किन्तु जो दुःख आन्तर तप के उपचय का हेतु नहीं होता वह तपोरूप न होने से स्वीकार्य नहीं हो सकता, जैसाकि-इस बात के प्रमाणभूत आगम का स्पष्ट उद्घोष है कि उस तप का अनुष्ठान करना चाहिये जिससे मन अमङ्गल चिन्तन न करे। इसका समर्थन स्तुतिकार से भी प्राप्त होता है क्योंकि उन्होंने बड़े स्पष्ट शब्दों में कहा है कि आध्यात्मिक तप की अभिवृद्धि के लिये अत्यन्त दुष्कर बाह्यतप का अनुष्ठान करना चाहिये।

यति के पात्र ग्रहण का विरोध करने वालों को यह भी सोचना चाहिये कि पात्र के अभाव

---

* तच्च तपः कर्त्तव्यं येन मनोऽमङ्गलं न चिन्तयति ।

एतेनैतद् निराकृतं यदुत्प्रेक्षितं परेण-"साक्षाद्वस्त्रग्रहणस्य न मुक्तिसाधनत्वम्, रत्नत्रयस्यैव साक्षात् तत्साधनत्वात्; नापि परम्परया, रत्नत्रयकारणत्वेन तद्ग्रहणस्य रत्नत्रयविरोधित्वात्; निष्परिग्रहत्वविरोधि सपरिग्रहत्वमिति सकललोकप्रसिद्धम्, रूपज्ञानोत्पत्तेस्तम इव; न च रत्नत्रयहेतुशरीरस्थितिकारणत्वेन वस्त्रादिग्रहणं परम्परया मुक्तिसाधनम्, तदन्तरेणापि रत्नत्रयनिमित्तशरीरस्थितिसंभवात् इति"-आहारग्रहणेऽप्यस्य समानत्वेन प्रदर्शितत्वात्। विहिताहारग्रहणकर्मणः उत्तरगुणरूपतया तन्नान्तरीयकाऽऽज्ञाशुद्धभावविशेषस्यैव वा पारम्पर्येण मुक्तिहेतुत्वे तु वस्त्रादिग्रहणेऽप्येवं वक्तुं शक्यत्वात्। अत एव च 'साक्षात् पारम्पर्येण वा मुक्त्यनुपयोगि वस्त्रादिग्रहणं रागाद्युपचयहेतुः, तत् स्वीकुर्वन् यत्याभासो गृहस्थतां नातिशेते' इत्याद्यपहस्तितम्ः आगमोक्तविधिना वस्त्रादिग्रहणस्य हिंसाद्यपायरक्षणनिमित्ततया मुक्तिमार्गसम्यग्ज्ञानाद्युपष्टंभकत्वात् तत्परित्यागस्य स्वर्वाक्कालीयस्वापेक्षया तद्बाधकत्वात्।

में क्षीण, रुग्ण, दुर्बल आदि यति के लिये पथ्य आदि आहार के आनयन का कार्य कैसे होगा? एवं पात्र के अभाव में अन्य भोज्य, पेय आदि का प्रदान न हो सकने से दानकर्म का पालन कैसे होगा? तथा अर्थात् विशिष्टपुण्यहीन, लब्धिशून्य, अशक्त और अतिथियों का लब्धिसम्पन्न, समर्थ, आतिथेयों द्वारा उपकार न हो सकने से उनकी परस्पर-समता क्यों न होगी? यानी शक्त-अशक्त का कोई भेद ही न रहेगा।

[वस्त्रादि साक्षात्-परम्परया मुक्तिसाधक न होने की शंका का निरसन]

वस्त्रादिग्रहण के विरोध में दिगम्बरों का यह भी कहना है कि यति का वस्त्रग्रहण अनुचित है क्योंकि वह न मुक्ति का साक्षात् साधक है और न परम्परया साधक है। साक्षात् साधक इसलिये नहीं है कि शास्त्र में सम्यग्दर्शन, सम्यग् ज्ञान और सम्यग्चारित्र इस रत्नत्रय को ही मुक्ति का साक्षात् साधन कहा गया है। वस्त्रधारण परम्परया मुक्ति का साधक इस लिये नहीं है कि वह रत्नत्रय का सम्पादक नहीं है किन्तु विघटक है क्योंकि वस्त्रग्रहण परिग्रह है और रत्नत्रय अपरिग्रहरूप चारित्र्य से घटित है और परिग्रह-अपरिग्रह का उसी प्रकार सर्वविदित विरोध है, जिस प्रकार अन्धकार रूपदर्शन की उत्पत्ति का। इस सन्दर्भ में यह भी कहना उचित नहीं हो सकता कि वस्त्रग्रहण रत्नत्रय के साधनभूत शरीर की स्थिति का साधन होने से मुक्ति का परम्परया साधन है, क्योंकि रत्नत्रय के साधन शरीर की स्थिति वस्त्रग्रहण के बिना भी सम्भव है।

व्याख्याकार का कहना है कि वस्त्रग्रहण के विषय में दिगम्बरों का यह कथन भी संगत नहीं है, क्योंकि वस्त्रग्रहण के विरोध में कही गई उक्त बात आहार-ग्रहण के विरोध में भी कही जा सकती है। यदि यह कहा जाय कि-"विहित आहारग्रहणक्रिया यह उत्तरगुणरूप है जो व्याप्य है और उसका व्यापक शुद्धाहारग्रहणविषयक शुद्धभाव है। यह भाव आज्ञाविहितक्रियाविषयक होने से शुद्ध है। अतः आहारग्रहणक्रिया अथवा तदन्तर्गतशुद्धभाव परम्परा से मुक्ति का साधन है ऐसा मानना पड़ेगा"-सो यही बात वस्त्रादिग्रहण के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है।

ततो विशेष्यसद्भावे 'सम्यग्ज्ञानाद्यन्वितत्वे सति' इति विशेषणमसिद्धम्, सति चास्मिन् विशेष्यमसिद्धमिति व्यवस्थितम्। तत्र रागाद्यपचयनिमित्तता परव्यावर्णितस्वरूपनैर्ग्रन्थ्यस्य सिद्धा। अत एव न तद्विपक्षभूतत्वेन वस्त्रादिग्रहस्य रागाद्युपचयं प्रति गमकत्वम्, तद्विरुद्धेन सम्यग्दर्शनाद्युपचयेन यथोक्तवस्त्रादिग्रहणस्य व्याप्तत्वेन तद्विरुद्धसाधकत्वात्। दृष्टान्तस्यापि परव्यावर्णितनैर्ग्रन्थ्यविपक्षभूतत्वाऽसिद्धेः साधनविकलता, न च यथोक्ताङ्गनासंगमादिरप्युपसर्गसहिष्णोर्वैराग्यभावनावशीकृतचेतसो योगिनो रागाद्युपचयहेतुर्भरतेश्वरप्रभृतिषु तस्य तत्क्षयहेतुत्वेन शास्त्रे श्रवणात्, इति साध्यविकलतापि। न च पक्षेहेतुसिद्धिरपि, धर्मोपकरणत्वोपपत्तेरिति न किञ्चिदेतत्।

अगर यह कहा जाय कि–'वस्त्रादिग्रहण साक्षात् अथवा परम्परा से मुक्ति की प्राप्ति में उपयोगी नहीं है, प्रत्युत उसमें विरोधी राग आदि के उपचय का हेतु है, इसलिये वस्त्रादि को ग्रहण करने वाला व्यक्ति यति नहीं किन्तु तदाभास होता है। ऐसे व्यक्ति में गृहस्थपन से कुछ विशेषता नहीं है। दिगम्बरों का यह कथन इसलिये निरस्तप्राय: है कि आगमोक्त विधि से वस्त्रादि का ग्रहण हिंसा आदि पापों से यति का रक्षण करने में निमित्त होने से मोक्षमार्गरूप सम्यग्ज्ञानादि का उपबृंहण करता है अत: वस्त्रादिग्रहण मुक्ति का बाधक नहीं होता, प्रत्युत उसका त्याग ही इस युग में मुक्ति मार्ग का बाधक होता है।

[दिगम्बर के मूल अनुमान में क्षतियाँ]

उक्त रीति से वस्त्रग्रहण में सम्यग् ज्ञान की अनुकूलता सिद्ध होने से यह बात व्यवस्थित हो जाती है कि सम्यग्ज्ञान आदि से विशिष्ट वस्त्राद्यभावरूप हेतु से रागादि के अपचय का साधन नहीं हो सकता, क्योंकि वस्त्राभावरूप विशेष्य के होने पर सम्यग्ज्ञानादिरूप विशेषण असिद्ध होगा और विशेषण के होने पर विशेष्य असिद्ध होगा अत: दिगम्बरों द्वारा वर्णित वस्त्राभावस्वरूप "नैर्ग्रन्थ्य" में रागादि के अपचय की निमित्तता नहीं सिद्ध हो सकती और इसीलिये वस्त्राभावरूप नैर्ग्रन्थ्य का विपक्ष होने मात्र से वस्त्रादिग्रहण में रागादि के उपचय की भी गमकता नहीं हो सकती क्योंकि वस्त्रादिग्रहण रागादि के उपचय के विरोधी सम्यग् ज्ञानादि के उपचय का व्याप्य है अत: वह रागादि-उपचय के विरोधी रागादि-अपचय का ही साधक हो सकता है। तदुपरांत, प्रारम्भ में दिगम्बरों ने जो यह अनुमान कहा था कि–"वस्त्रादिग्रहण मुक्ति का विरोधी है क्योंकि वह रागादि के अपचय में निमित्तभूत (वस्त्राभावस्वरूप) नैर्ग्रन्थ्य का विपक्षभूत है जैसे कि स्त्रीसंग"–इस अनुमान में दृष्टान्त में साधन-साध्य दोनों का अभाव है। साधनशून्यता इसलिये कि स्त्रीसंग में दिगम्बर को अभिमत वस्त्राभावस्वरूप नैर्ग्रन्थ्य की विपक्षता असिद्ध है। तथा, साध्यशून्यता इसलिये कि विशिष्ट-शृङ्गार से अलंकृत स्त्रीयों का संग भी स्त्रीपरिषह को सहन करने वाले और दृढ वैराग्यभावना से वासित चित्तवाले योगिपुरुषों के लिये रागादि की वृद्धि का हेतु नहीं होता। शास्त्र में कहा कि है भरत चक्रवर्ती आदि हजारों स्त्रीयों का संग करते थे फिर उन्हें रागादि की वृद्धि न हुयी, प्रत्युत रागादि का क्षय हुआ और अरिसाभुवन में उन्हें कैवल्यज्ञान प्राप्त हुआ। तदुपरांत, वस्त्रादिग्रहण में नैर्ग्रन्थ्य-

यद्यपि 'कथं च द्रव्यतः, क्षेत्रतः, कालतः, भावतो वा कृतपरिग्रहप्रत्याख्यानस्य वस्त्रोपादाने न पञ्चममहाव्रतभङ्गः ?' इत्युक्तम्, तदपि मूर्छापरित्यागे भावतः परिग्रहप्रत्याख्यानोपपत्तावपि द्रव्यतः परिग्रहप्रत्याख्यानभङ्गाभिप्रायेण; अयुक्तश्चायमभिप्रायः, कायादिसत्त्वेऽपि तत्प्रत्याख्यानभङ्गप्रसङ्गात्; द्रव्यादिविकल्पैः 'से परिग्गहे चउव्विहे पन्नत्ते दव्वओ, खित्तओ, कालओ, भावओ' इति सूत्रस्य 'सर्वद्रव्यादिविषयमूर्छात्याग एव कर्तव्य' इति परमार्थात्, द्रव्यादिपरिग्रहस्य नामादिपरिग्रहवदनात्मधर्मत्वेन प्रत्याख्यातुमशक्यत्वात्। तथा च भगवान् भाष्यकारः–[वि. आ. भा. ३०६३]

"[2]अपरिग्गहया सुत्ते त्ति जा य, मुच्छा परिग्गहोऽभिमओ।
सव्वदव्वेसु ण सा कायव्वा सुत्तसब्भावो[3] ॥ १ ॥ इति।

विपक्षतारूप हेतु भी असिद्ध है, क्योंकि पहले यह कह आये हैं कि वस्त्रादि धर्मोपकरणरूप होने से नैग्रन्थ्य के सहायक है, प्रतिकूल नहीं है।

[वस्त्रग्रहण से पच्चक्खाण का भंग नहीं]

यति के वस्त्रग्रहण के विरोध में जो यह बात कही गई है कि–"यति द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से परिग्रह के प्रत्याख्यान का व्रत लेता है. अतः वस्त्रग्रहण करने पर अपरिग्रहरूप पाँचवे महाव्रत का भङ्ग होगा उसके कहने का आशय यह है कि वस्त्र आदि में आसक्ति न होने से वस्त्रग्रहण करने पर भी यति को भले भावपरिग्रह के प्रत्याख्यान में यद्यपि कोई बाधा न होती हो किन्तु वस्त्रग्रहण से उसके द्रव्यपरिग्रह के प्रत्याख्यान का तो भङ्ग होना अनिवार्य है। अतः यति का वस्त्रग्रहण अनुचित है"।

किन्तु यह आशय युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि वस्त्रग्रहण से द्रव्यपरिग्रह का प्रत्याख्यान यदि बाधित होगा तो शरीरधारण आदि से भी द्रव्यपरिग्रह के प्रत्याख्यान को बाधित होने की प्रसक्ति होगी, क्योंकि वस्त्र के समान शरीर भी एक प्रकार का द्रव्यपरिग्रह ही है, अतः परिग्रह का उल्लेख कर उसके प्रत्याख्यान की कर्त्तव्यता के प्रतिपादक सूत्र का यह अर्थ मानना होगा कि परिग्रह के जो चार भेद माने गये हैं–द्रव्यपरिग्रह, क्षेत्रपरिग्रह, कालपरिग्रह और भावपरिग्रह, इन सभी परिग्रहों का त्याग करना चाहिये, अर्थात् द्रव्यासक्ति, क्षेत्रासक्ति, कालासक्ति और भावासक्ति का परित्याग करना चाहिये। सूत्र का यह परमार्थ मानने पर यति का वस्त्रग्रहण उसके अपरिग्रहव्रत का विघटक नहीं हो सकता, क्योंकि गृहीत वस्त्र में उसकी आसक्ति न होने से उसका आसक्तिपरित्यागात्मक अपरिग्रह अक्षुण्ण रहता है। दूसरी बात यह है कि द्रव्यादिपरिग्रह नामादिपरिग्रह के समान आत्म धर्म नहीं है, अतः जैसे नामादि के परिग्रह का प्रत्याख्यान अशक्य है उसीप्रकार द्रव्यादि परिग्रह का भी प्रत्याख्यान

---

१. अथ परिग्रहश्चतुर्विधः प्रज्ञप्तः–द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतः भावतः।
२. अपरिग्रहता सूत्र इति या च मूर्च्छा परिग्रहोऽभिमतः। सर्वद्रव्येषु न सा कर्तव्या सूत्रसद्भावः ॥१॥
३. विशेषावश्यकेऽष्टमनिह्नवप्रकरणे गाथा ३१।

एतेन द्रव्य-भावपरिणतिभेदकल्पनाऽपि परिग्रहाश्रवे केषाञ्चिदपास्ता, अतिक्रमा-ऽनाचारादिरूपयोरपकर्षोत्कर्षयोर्भावाश्रवधर्मत्वादेव, तत्र चानाभोगाऽऽभोगादिरूपस्यात्मधर्मस्यैव विशिष्य नियामकत्वात्, द्रव्यादिपरिणतेः क्षेत्रादिपरिणतेरिव तत्र वक्तुमशक्यत्वात्, आत्मा-ऽनात्मधर्मयोरसंक्रमात्, 'द्रव्याश्रवसत्त्वे आत्मन एव काचिद् द्रव्याश्रवपरिणतिः' इति परिभाषाया निर्मूलत्वात्, अन्यथा द्रव्यहिंसादेरनैकान्तिकच्छेदाभिधानविरोधादित्यन्यत्र विस्तरः।

यदपि कथं चैवं परद्रव्यरतिसाम्राज्ये स्वात्मप्रतिबन्धमात्रविश्रान्तश्रामण्यसमृद्धिः ? इत्युक्तम्, तदप्ययुक्तम्, परद्रव्यसंनिधानमात्ररूपाया रतेर्मुक्तावप्यनुच्छेदात्, अभिष्वङ्गरूपाया रतेस्तु धर्मोपकरणेऽभावात्, अभिष्वङ्गविषयस्य सतः शरीरादेरप्यधर्मोपकरणत्वात्। न च शरीरेऽप्यप्रतिबद्धानां विदितवेद्यानां साधूनां वस्त्रादिषु 'ममेदम्' इत्यभिनिवेशः। तदुक्तं वाचकमुख्येन —

अशक्य है, क्योंकि संसार के आपादक आत्मधर्मों का ही त्याग मोक्ष के लिये आवश्यक होता है, किन्तु जो शरीरादि का धर्म है उसका त्याग उपादेय नहीं है और शरीर आदि के रहते वह शक्य भी नहीं है। भगवान् महाभाष्यकार ने इसी बात को इस रूप में कहा है कि–'सूत्र में जो अपरिग्रहता बताई गई है, उसका आशय यह है कि परिग्रह का अर्थ है मूर्च्छा = आसक्ति, सभी द्रव्यों में उसका परित्याग करना चाहिये'।

[द्रव्यादिपरिणति आत्मधर्म नहीं है]

कतिपय दिगम्बरों का कहना है कि परिग्रहरूप आस्रव की दो परिणतियां होती हैं-द्रव्यात्मकपरिणति और भावात्मकपरिणति। यदि यति वस्त्र का परिग्रह करेगा तो वह परिग्रहरूप आस्रव की द्रव्यात्मकपरिणति से प्रतिबद्ध होगा जिस से उसके अपरिग्रहव्रत का भङ्ग अपरिहार्य है। इस कथन के विरोध में व्याख्याकार का कहना यह है कि अपकर्ष और उत्कर्ष दोनों भावास्रव के ही धर्म हैं। उनमें [1]अपकर्ष अतिक्रमरूप है और [2]उत्कर्ष अनाचाररूप है। उनके क्रमशः नियामक हैं–[3]अनाभोग और [4]आभोग, जो आत्मधर्म हैं। क्षेत्रादिपरिणति के समान द्रव्यादिपरिणति को भी आत्मधर्म नहीं कहा जा सकता क्योंकि वह वस्तुतः अनात्मधर्म है और अनात्मधर्म का आत्मा में संक्रम क्रम-सम्बन्ध नहीं हो सकता। द्रव्यास्रव के होने पर [5]द्रव्यास्रवपरिणति आत्मा की ही होती है ऐसी दिगम्बरों की परिभाषा का कोई प्रमाणसम्मत आधार नहीं है, अन्यथा इसी के समान [6]द्रव्यहिंसा को भी आत्मा की परिणति कहना सम्भव होने से उसे [7]अनैकान्तिकच्छेद कहना असंगत हो जायगा।

---

१. अपकर्ष अतिक्रमरूप है। अतिक्रम व्रत भंग की सन्मुखतारूप है। २. उत्कर्ष अनाचाररूप-व्रत का भङ्ग यह अनाचार है। ३. अनाभोग-अनजानपन है। ४. आभोग-जानबूझ अवस्था है। ५. द्रव्यास्रवपरिणति–बाह्य कर्मबंधनिमित्त की अवस्था। ६. द्रव्यहिंसा हिंसा-परप्राणनाश। ७. अनैकान्तिकच्छेद-अन्तरंग संयम के छेद में विभाषा।

"यद्वत् तुरगः सत्स्वप्याभरण-विभूषणेष्वनभिषक्तः ।
तद्वदुपग्रहवानपि न सङ्गमुपयाति निर्ग्रन्थः ॥ १ ॥" इति [प्र० र० १४१]

अवश्यं चैतदभ्युपेयं परेणापि, अन्यथा शुक्लध्यानाग्निना कर्मेन्धनं भस्मसात् कुर्वतः परित्यक्ताशेषसङ्गस्य केनचित् तदुपसर्गकरणबुद्ध्या भक्त्या वा वस्त्रादिनाऽऽवृतशरीरस्य परद्रव्यरतिप्रतिबन्धात् स्वात्ममात्रप्रतिबन्धो न स्यात् ।

अथ स्वयमात्तेन वस्त्रादिना परद्रव्यरतिर्नान्यथेति चेत् ? एतत् स्वयमादानस्य तृष्णानान्तरीयकत्वे शोभते, निरस्तं चैतदधस्तात् । अवोचाम चान्यत्र—

[वस्त्रादिसंनिधान में आत्मरति अबाधित]

दिगम्बरों की ओर से जो यह कहा गया कि-'वस्त्रादि अनात्म द्रव्य में जब यति को अधिक रति होगी तो स्वात्मा मात्र में उसका प्रतिबन्ध=उसकी निष्ठा न होने से उसके श्रमणधर्म का विकास न होगा'-वह कथन भी अयुक्त है, क्योंकि अनात्म द्रव्य के सन्निधानरूप रति से यदि श्रमणधर्म की क्षति मानी जायगी तो वैसी रति तो मुक्ति में भी समाप्त नहीं होती अतः श्रमणधर्म की पूर्णसमृद्धि से सम्पन्न होनेवाली मुक्ति ही उपपन्न न हो सकेगी। अतः अभिष्वङ्ग यानी आसक्तिरूप रति को ही श्रमणधर्म की समृद्धि का बाधक मानना होगा और ऐसी रति धर्म के उपकरण वस्त्रादि में नहीं होती अतः वस्त्रग्रहण से यति के श्रमणधर्म का विकास बाधित नहीं हो सकता। यदि यह कहा जाय कि-'वस्त्रादि का सतत सन्निधान होने से उसमें यति की अभिष्वङ्गरूपा रति भी हो जाना सम्भवित है तो यह बात तो शरीर में भी हो सकती है, अतः शरीर भी धर्मोपकरण न होने से अनुपादेय होने लगेगा। यदि यह कहा जाय कि-'वस्त्र आदि में 'मम इदं-यह मेरा है' इसप्रकार का अभिनिवेश होने से वह अभिष्वङ्ग का विषय बन सकता है'-तो यह कथन समीचीन नहीं हो सकता क्योंकि शरीर में भी-अनासक्त, एवं समस्त वेद्य का ज्ञान प्राप्त कर लेने वाले साधुओं को वस्त्र आदि में उक्त अभिनिवेश नहीं होता, जैसे कि वाचकमुख्य ने कहा है कि—

'जिस प्रकार अश्व अनेक आभरणों-भूषणों से सज्जित होने पर भी उनमें आसक्त नहीं होता उसीप्रकार निर्ग्रन्थ साधु वस्त्र आदि उपग्रहों यानी उपकरणों से युक्त होने पर भी उनमें आसक्त नहीं होता।'

वस्त्र आदि धारण करने पर भी उसमें आसक्त न होने से साधु के व्रत की हानि नहीं होती यह बात दिगम्बरों को भी माननी होगी, अन्यथा जो साधु समस्त सङ्ग का त्याग कर 'शुक्लध्यानरूप अग्नि से अपने कर्मरूप इन्धन को भस्म करने में संलग्न है उसके शरीर पर यदि कोई मत्सरी व्यक्ति उसको साधना में विघ्न उत्पन्न करने के विचार से अथवा भक्ति से प्रेरित हो वस्त्र आदि डाल दे तो उस वस्त्र आदि परद्रव्य में उसकी रति हो जाने से उसकी भी स्वात्ममात्रनिष्ठता का बाध होने लगेगा।

१. शुक्लध्यान-शुभ ध्यान की उच्चतम कक्षा

"*परदव्वम्मि पवित्ती ण मोहजणिया व मोहजण्णा वा ।
जोगकया हु पवित्ती फलकंखा राग-दोसकया ॥१॥" इति । [अ० म० प०२२]

कथं च स्वोपात्तवसति-पुस्तकादौ न परद्रव्यरतिः ? । 'परस्वत्वाऽपरित्यागादि'ति चेत् ? कथमाहारादौ न सा ? । 'आध्यात्मिकस्वत्वसंबन्धाभावादि'ति चेत् ? तुल्यमिदमन्यत्र । 'आहारादिकं कर्मभोगसामर्थ्यसंपादितमिति न तत्र रतिरि'ति चेत् ? इदमप्यन्यत्र समानम् । वस्तुतो विपक्षभावनाप्रतिरुद्धे रतिमोहोदये नालम्बनमात्रात् परद्रव्यरतिरिति विभावनीयम् ।

[स्वयंगृहीत द्रव्य में भी रति के अभाव का संभव]

यदि यह कहा जाय कि-'अपनी इच्छा से ग्रहण किये हुये वस्त्र आदि से ही परद्रव्य में रति का उदय होता है, प्रकारान्तर से प्राप्त वस्त्र आदि से नहीं होता'-तो यह बात स्वेच्छा से गृहीत उसी वस्त्र आदि में संगत हो सकती है जिसमें ग्रहीता की तृष्णा हो, किन्तु साधु द्वारा गृहीत वस्त्र आदि में उसकी तृष्णा नहीं होती, यह बात कही जा चुकी है। अतः स्वेच्छागृहीत वस्त्र से साधु को परद्रव्य रति होने की सम्भावना नहीं की जा सकती। यह बात व्याख्याकारने अन्यत्र इस प्रकार कह रखी है कि 'पर द्रव्य में जो प्रवृत्ति होती है वह केवल पर द्रव्यविषयक होने मात्र से न मोह का कारण ही होती और न मोह का कार्य ही होती है, किन्तु प्रवृत्ति मन-वचन-काया के योगों से जन्य होती है; और फलेच्छा राग से अथवा द्वेष से होती है। अतः फलाशंसारहित प्रवृत्ति मोह की जनक तथा मोहजन्य होती नहीं है।

यह भी विचारणीय है कि यदि स्वेच्छापूर्वक ग्रहण ही वस्तु में परद्रव्यरति का जनक है तो स्वेच्छा से गृहीत आवास-स्थल तथा पुस्तक आदि में साधु को परद्रव्यरति क्यों नहीं होती ? यदि उन वस्तुओं में परकीयस्वत्व का त्याग न होने से उनमें परद्रव्यरति का अनुदय माना जायगा तब तो इस प्रश्न का उत्तर दुष्कर होगा कि आहार आदि में तो परकीयस्वत्व का त्याग हो जाता है, तो फिर स्वेच्छा से आहार ग्रहण करने पर साधु को परद्रव्यरति क्यों नहीं होती ? यदि उत्तर में यह कहा जाय कि-'परद्रव्यरति का कारण है, द्रव्य के साथ व्यक्ति का आध्यात्मिकस्वत्वसम्बन्ध, आहार आदि में साधु का यह सम्बन्ध न होने से उसमें उसे परद्रव्यरति का उदय नहीं होता'-तो यह बात वस्त्र आदि के विषय में भी कही जा सकती है।

यदि यह कहा जाय कि-'कर्म में जो भोगजनिका शक्ति होती है उससे सम्पादित होने के कारण आहार में परद्रव्यरति नहीं होती'-तो यह बात वस्त्र आदि के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है क्योंकि वस्त्र आदि की प्राप्ति भी कर्मगत भोगजनक शक्ति से ही सम्पादित होती है। सच बात तो यह है कि साधु वस्त्र आदि जिन वस्तुओं को ग्रहण करता है, उनमें वह विपक्ष की-यह शरीर भी मेरा नहीं तो यह वस्त्र कैसे मेरा हो सकता है ? दोनों मेरे से पर है-ऐसी अन्यत्व भावना करता है, यह विपक्ष भावना ही उस वस्तु में उसकी रति और मोह के उदय की बाधिका है, अतः आलम्बन-मात्र से-अनुकूलभावनाशून्य वस्तुमात्र से उसे परद्रव्यरति का उदय नहीं होता।

*परद्रव्ये प्रवृत्तिर्न मोहजनिका वा मोहजन्या वा । योगकृता खलु प्रवृत्तिः फलकाङ्क्षा राग-द्वेषकृता ।१।

यदपि 'कथं वा न तस्करादिभ्यो वस्त्रादेः संगोपनानुसंधानेन संरक्षणानुबन्धिरौद्रध्यानावकाशः ?' इत्युक्तम्, तदपि न पेशलम्; जल-ज्वलन-मलिम्लुच-श्वापदाऽहि-विष-कण्टकादिभ्यः संरक्षणानुबन्धस्य शरीरेऽपि समानत्वात्। 'धर्मनिर्वाहार्थः शरीरसंरक्षणानुबन्धः प्रशस्त' इति चेत् ? इदमन्यत्रापि सुवचम्। तदाह भाष्यकारः—[वि० आ० भाष्य-३०५३]

"सारक्खणाणुबंधो रोद्दज्झाणं ति ते मई हुज्जा।
तुल्लमिणं देहाइसु पसत्थमिह तं तहेहावि ॥ १ ॥"* इति।

'रौद्रध्यानं कथं प्रशस्ताऽप्रशस्तभेदेन द्विधा विभज्यते ? इति विमर्शपराहतस्त्विह गगनमेवालोकेत। 'संरक्षणानुबन्धे सार्थान्वेषणादिलिङ्गश्चौरादिभ्यो द्वेषः कथं प्रशस्तः स्यात् ?' अयमपि वृथा व्यामोहः, 'हन्मि' इत्यादिसंक्लेशप्रधानस्य तस्याऽप्रशस्तत्वे निवृत्त्यादिलिङ्गस्य तस्य प्रशस्तत्वात्, 'असंक्लेशेन चौरादिकं द्वेष्मि' इत्यनुभवात्। 'रागः संक्लेशविशुद्धयङ्गतया द्विविधः, द्वेषस्तु संक्लेशैकरूपतयैक एव' इति पुनरज्ञानमूला परिभाषा, मोक्षेच्छाया रागयोनित्वादिव संसारजिहासाया द्वेषयोनित्वात्। 'स्फटिके तापिच्छकुसुमोपरागस्थानीयस्य द्वेषस्याऽशुभैकरूपत्वात् कथं द्वैविध्यम् ?' इति चेत् ? 'जपाकुसुमोपरागस्थानीयस्य रागस्यापि शुभैकरूपत्वात् कथं द्वैविध्यम् ?' इति पर्यनुयोगे किमुत्तरम् ?। उपाधिविशेषादुपधेयविशेषवदुद्देश्यादिविशेषात् परिणामविशेषस्तूभयत्र तुल्य इति दिग्।

[संरक्षणानुबन्धि रौद्रध्यान को अवकाश नहीं]

दिगम्बर की ओर से जो यह प्रश्न किया गया कि—'साधु यदि वस्त्र आदि रखेगा तो उसे उसकी रक्षा की चिन्ता करनी होगी अतः वस्त्रादि धारण के पक्ष में साधु को वस्त्रादि के संरक्षणार्थ किये जानेवाले प्रयास से [1]रौद्रध्यान का अवसर क्यों नहीं होगा ?' यह प्रश्न भी समीचीन नहीं है क्योंकि यह प्रश्न शरीर के सम्बन्ध में भी समान है क्योंकि पानी, आग, दानव, वन्यपशु, सांप, विष, कांटा आदि से शरीर की रक्षा का प्रयास दिगम्बर को भी करना पड़ता है, अतः वस्त्रादि के रक्षण की चिन्ता से मुक्त, किन्तु शरीर के रक्षण की चिन्ता से ग्रस्त, दिगम्बर को भी रौद्रध्यान से पीडित होना अपरिहार्य है। यदि यह कहा जाय कि-'शरीररक्षा का यत्न धर्मनिर्वाहफलक होने से रौद्रध्यान का आपादक नहीं हो सकता'-तो यह बात वस्त्रादि के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है, जैसा कि भाष्यकारने कहा है-"संरक्षण का प्रयास रौद्रध्यान है' यदि दिगम्बर को यह मान्य हो तो यह बात वस्त्रादि के समान शरीर के सम्बन्ध में भी माननी होगी, एवं शरीररक्षा का प्रयास यदि प्रशस्त माना जायगा तो वस्त्रादिरक्षा के प्रयास को भी प्रशस्त मानना उचित होगा।"

---

* संरक्षणानुबन्धो रौद्रध्यानमिति ते मतिर्भवेत्। तुल्यमिदं देहादिषु प्रशस्तमिह तत् तथेहापि ॥ १ ॥
१. रौद्रध्यान—दुर्ध्यान की उग्रतम कक्षा।

यदपि–'कथं चैवमाचेलक्यपरीषहविजयः कृतः स्यात् ?, न हि सचेलकत्वमचेलकत्वं च न विरुद्धम्' इत्युक्तम्–तदपि तुच्छम्, यथा हि तीव्रक्षुद्वेदनोदयेऽप्येषणादिदोषदुष्टमाहार-मगृह्णतस्तद्दोषरहितमाहारमुपलभ्य विधिना क्षुद्वेदनां प्रतिकुर्वतः क्षुत्परीषहविजयः, न तु सर्वथाऽऽहाराऽग्रहणेन, निरुपमधृति-संहननानां जिनानामपि तदजेतृत्वप्रसङ्गात्, तथा शीतादिवेदनाभिभूतेनापि दोषदुष्टोपधित्यागेन दोषरहितोपधिपरिभोगेन च तत्प्रतिकार आचेलक्यपरीषह-विजयोपपत्तेः, न तु सर्वथा तत्परित्यागेन। अथ क्षुद्वेदनाप्रतिपक्षः परिणाम एव निश्चयतः क्षुत्परीषहविजय इति चेत् ? तर्हि शीतादिवेदनाप्रतिपक्षः परिणाम एव निश्चयत आचेलक्यपरीषहविजय इति तुल्यम्। आध्यात्मिकपरीषहविजयोपष्टम्भकत्वं चाहारोपकरणयोस्तुल्यमिति। तदिदमवदाम–[अ० म० परीक्षा–२७]

यह भी ज्ञातव्य है कि शरीररक्षा में रौद्रध्यान को प्रशस्त मानने वाले दिगम्बर से यदि यह प्रश्न किया जायगा कि रौद्रध्यान तो अप्रशस्त ही हो सकता है प्रशस्त-अप्रशस्तरूप में उसके दो विभाग कैसे हो सकते हैं–तो इस प्रश्न के उत्तर को स्फूर्ति न होने से दिगम्बर को आकाश की ओर निहारने के अतिरिक्त और कुछ न सूझेगा। दिगम्बर की ओर से यदि यह कहा जाय कि–'वस्त्र आदि की रक्षा के प्रसङ्ग में चोर आदि से बचाव करने के लिये वस्त्रादि के ग्रहीता को सार्थ का अन्वेषण करना होता है जिस से यह ज्ञात होता है कि वस्त्रादिग्रहीता को चोर से द्वेष है। फिर यह द्वेष कैसे प्रशस्त हो सकता है ?'–तो यह कथन भी एक निरर्थक व्यामोह ही है क्योंकि जिस द्वेष में चोर का वध करने की भावना प्रधान होती है वह द्वेष जैसे अप्रशस्त होता है वैसे ही चोर की ओर से अपहरण होने की सम्भावना में चोर के प्रति जो द्वेष उदित होता है उसमें चोर का वध करने की भावना न होने से वह प्रशस्त भी हो सकता है। ऐसा द्वेष, चोर की कोई हानि करने की इच्छारूप संक्लेश न होने पर भी 'चोर के प्रति मुझे द्वेष है मनुष्य के इस अनुभव से भी प्रमाणित होता है। यदि यह कहा जाय कि–'विशुद्ध और संक्लेश दोनों का अङ्गभूत यानी हेतुभूत होने से राग तो प्रशस्त–अप्रशस्त-भेद से दो प्रकार का हो सकता है पर द्वेष तो एकमात्र संक्लेशरूप ही होता है अतः उसका एक अप्रशस्त ही प्रकार हो सकता है'–तो यह कथन भी अज्ञानमूलक है क्योंकि जैसे मोक्ष की इच्छा राग-जन्य होती है वैसे ही संसारत्याग की इच्छा द्वेषजन्य होती है, तो फिर यह द्वेष संसारत्याग का निमित्त होने से प्रशस्त क्यों नहीं हो सकता ? यदि यह प्रश्न किया जाय कि स्फटिकमणि में तापिच्छ पुष्प के रंग के समान द्वेषमात्र अशुभैकरूप ही होता है अतः उसके शुभ-अशुभ दो रूप कैसे हो सकते हैं ? तो ऐसा प्रश्न करनेवाले से यदि यह पूछा जाय कि स्फटिक में जपाकुसुम के रंग के समान राग भी शुभैकरूप है अतः उसके शुभ अशुभ दो रूप कैसे हो सकते हैं–तो वह इसका क्या उत्तर दे सकेगा ? यदि यह कहा जाय कि उपाधि के भेद से उपधेयभेद होने में कोई बाधा नहीं है तो वस्त्र और आहार दोनों में उद्देश्य आदि के भेद से परिणामभेद के सम्भव होने से दोनों (आहार और वस्त्र) के ग्रहण के सम्बन्ध में विरुद्ध दो मत रखना उचित नहीं हो सकता।

"★जइ चेलभोगमेत्ता ण जिआचेलयपरीषहो साहू ।
भुंजंतो अजिअखुहापरीसहो तो तुमं पत्तो ॥ १ ॥" इति ।

न च सचेलकत्वेऽचेलकत्वकार्यनिर्जराविघातकत्वलक्षणं नैश्चयिकमाचेलक्यविरोधित्वम्, न वा तद्व्यवहारविधायित्वलक्षणं व्यावहारिकमपि; लोकविदितसंनिवेशपरित्यागेन जीर्ण-स्तोक-

[क्षुधापरिषहजय की भाँति आचेलक्यपरिषहविजय]

दिगम्बर की ओर से जो यह प्रश्न उठाया गया कि-'साधु यदि वस्त्र धारण करेगा तो वह [1]आचेलक्यपरीषह पर विजय-निर्वस्त्र रहते हुये नग्नतास्वरूप क्लेश पर विजय कैसे प्राप्त कर सकेगा ?' यह प्रश्न भी निस्सार है क्योंकि जैसे भूख की तीव्रवेदना होने पर [2]एषणा आदि दोष से दूषित आहार को न ग्रहण कर निर्दोष आहारस्वरूप भिक्षा के अन्वेषण द्वारा शास्त्रविहितरीति से भूख की पीडा का प्रतीकार करने पर [3]क्षुत्परीषह के ऊपर विजय प्राप्त होता है, न कि आहार का सर्वथा परित्याग कर देने पर । यदि आहार के सर्वथा त्याग को ही क्षुधापरिषह का विजय मानेंगे तो अनुपम धैर्य और उत्कृष्ट संघयणबल से सम्पन्न तीर्थंकर भी सर्वथा आहारत्यागी न होने से क्षुत्परीषह के विजेता नहीं थे ऐसा मानने की आपत्ति होगी । वैसे शीत आदि की पीड़ा से पराभूत साधु भी दोष-युक्त वस्त्रादि उपकरण का त्याग कर निर्दोष वस्त्रादि के सेवन से शीत पीडा का प्रतीकार कर नग्नतारूप आचेलक्यपरीषह का विजय प्राप्त कर सकते हैं, उसके लिये वस्त्र का सर्वथा परित्याग आवश्यक नहीं है ।

यदि यह कहा जाय कि-भूख की पीडा का विरोधी परिणाम ही निश्चयनयानुसार क्षुत्परीषह विजय है–तो उसीके समान यह भी कहा जा सकता है कि शीत आदि की पीडा का विरोधी परिणाम ही आचेलक्य परीषह-विजय है । यदि यह कहा कि-आध्यात्मिक यानी आत्महितकारी ऐसे परीषह विजय का साधन होने से आहारग्रहण का औचित्य हो सकता है पर वस्त्रादि आध्यात्मिकविजय का साधन न होने से उसके ग्रहण में औचित्य नहीं हो सकता-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि आध्यात्मिक-परीषहविजय की साधनता आहार के समान वस्त्रादि में भी विद्यमान है जैसा कि व्याख्याकार ने अध्यात्ममतपरीक्षा ग्रन्थ में कहा है कि-'वस्त्र का सेवन करने के कारण साधु यदि आचेलक्यपरीषह का विजेता नहीं हो सकता तो आहार का सेवन करने वाला साधु आहार सेवन करने के कारण क्षुत्परीषह का भी विजेता नहीं हो सकता'-उपर्युक्त युक्तियों से स्पष्ट है कि-आहार तथा वस्त्रग्रहण दोनों में गुण-दोष समान होने से एक के औचित्य और दूसरे के अनौचित्य का स्थापन नहीं किया जा सकता ।

★ यदि चेलभोगमात्रान्न जिताचेलकपरीषहः साधुः । भुञ्जानोऽजितक्षुत्परीषहस्ततस्त्वं प्राप्तः ॥ १ ॥

१. आचेलक्यपरिषह–नग्न रह कर जो कष्ट सहन करना पड़े । इस पर विजय यानी इसमें व्याकुल न होकर समभाव रखना ।

२. एषणादूषितआहार–एषणा यानी आहारादिपिंडरूप भिक्षा का ग्रहण, उस समय लगने वाले हिंसा-नुमोदनादि दोष से दूषित आहार ।

३. क्षुत्परीषह–भूख की पीडा का जो कष्ट सहन करना पड़े ।

कुत्सितवस्त्रपरिभोगेन च सत्यपि वस्त्रे साधूनां कटीवस्त्रेण वेष्टितशिरसो जलावगाढपुरुषस्येवोपचारेणाऽचेलकत्वव्यवहारात्, निरुपचरितव्यवहारेण च स्कन्धाद् देवदूष्यापगमे भगवत्स्वेवाचेलकत्वव्यवस्थितेरिति। एतेन 'यदि सचेलत्वमपि' [पृ० २८ पं० १०] इत्यादि **निरस्तम्**; आचेलक्यस्य मूलगुणत्वाऽसिद्धेः, महाव्रतोपकारकत्वेन पिण्डविशुद्ध्यादिवत् तस्योत्तरगुणत्वात्, अन्यथोक्तसूत्रोपहतेः, अव्यवस्थानाच्च।

न च जिनेन्द्र-जिनकल्पिकादीनामपि सर्वथाऽचेलकत्वं सिद्धमस्ति, जिनकल्पिकादीनां सर्वदैव जघन्यतोऽप्युपधिद्वयस्य सद्भावात्; जिनेन्द्राणामपि प्रव्रज्याप्रतिपत्तिसमये देवदूष्य-

[सचेलकत्व आचेलक्य का विरोधी नहीं]

दिगम्बर ने सचेलकत्व=सवस्त्रत्व में आचेलक्य=निर्वस्त्रता का जो विरोध बताया है उसके विषय में यह ज्ञातव्य है कि सचेलकत्व में अचेलकत्व का विरोध दो प्रकार का हो सकता है एक निश्चयनयानुसारी और दूसरा व्यवहारनयानुसारी। इनमें पहला अचेलकत्व के कार्यभूत निर्जरा का विघातकत्वरूप है, किन्तु वह सचेलकत्व में नहीं हो सकता क्योंकि धर्म के उपकरणरूप में स्वल्पवस्त्र धारण करने पर भी उससे साधु की निर्जरा का विघात नहीं होता। दूसरा अचेलकत्वव्यवहार का विघातकत्वरूप है, पर वह भी सचेलकत्व में संभव नहीं है, क्योंकि साधु लोकप्रसिद्ध सन्निवेश–वेषविन्यास का तो त्याग कर देता है और जीर्ण, स्वल्प और कुत्सित वस्त्र का सेवन करता है। उतने वस्त्र के रहने पर भी उसमें अचेलकत्व-निर्वस्त्रत्व का उपचरित-गौण व्यवहार उसी प्रकार होता है जैसे कटिवस्त्र को सिर में लपेटकर जल में प्रविष्ट मनुष्य में अचेलकत्व का गौण व्यवहार होता है। हाँ, अनुपचरित व्यवहार से यदि अचेलकत्व की व्यवस्था जिज्ञासित हो तो वह तो किसी भी साधु में नहीं हो सकती केवल महावीर भगवान् में ही प्राप्त हो सकेगी क्योंकि स्कन्ध से देवदूष्य वस्त्र के गिर जाने पर महावीर भगवान् में भी अचेलकत्व की उपपत्ति होती है।

दिगम्बर की ओर से जो यह कहा गया कि–'सचेलकत्व यदि अचेलकत्व रूप [1]मूलगुण से सबद्ध श्रमणधर्म का विरोधी न हो तो जिनेन्द्र और जिनकल्पिक आदि उत्तम श्रमण अचेलक ही होते हैं –इस शास्त्रप्रसिद्ध सत्य की उपपत्ति कैसे होगी?–यदि यह माना जाय कि वे असङ्गता की सिद्धि के लिये निर्वस्त्र होते हैं तो उनके शिष्यों को भी उनके चिह्न का अनुकरण कर निर्वस्त्र होना ही उचित है'–वह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि आचेलक्य (निर्वस्त्र होना) यह मूल गुण है, यह बात असिद्ध है, किन्तु सत्य यह है कि जैसे महाव्रत का उपकारक होने से आहारशुद्धि आदि [2]उत्तरगुण हैं, वैसे ही निर्वस्त्रता भी उत्तरगुण है। यदि ऐसा न माना जायगा तो निर्वस्त्रता को उत्तरगुण दिखाने वाले सूत्र का उपघात यानी विरोध होगा, तथा मूलगुण और उत्तरगुण की सुनिश्चित व्यवस्था न हो सकेगी।

१. मूलगुण-संयमधर्म के अंगभूत अतिआवश्यक पांच महाव्रतों का पालन।
२. उत्तरगुण-पांचमहाव्रतों की सुरक्षा के लिये आवश्यक भिक्षाशुद्धि आदि।

वस्त्रग्रहणश्रवणात् "[1]सव्वे हि एगदूसेण णिग्गया जिणवरा चउव्वीसं" [ ] इत्यागमाभिधानात् । न चान्यार्थत्वम्, आचाराद्यङ्गेषु तैस्तैः सूत्रैर्भगवत्येकवस्त्रग्रहणस्य श्रामण्यप्रतिपत्तिसमये प्रतिपादितत्वात् । न चैवं तदा सर्ववस्त्रपरित्यागवेदकः कश्चिदागमः श्रूयते । योऽपि "[2]वोसट्टचत्तदेहो विहरइ गामाणुगामं तु" इत्यागमः, सोऽपि न श्रामण्यप्रतिपत्तिसमयभाविभगवन्नग्नत्वावेदकः, किन्तु तदुत्तरकालं रागादिदोषविप्रमुक्तत्वं भगवत्यावेदयतीति। यस्त्विदानीं प्रमाणानुपपत्त्याद्युद्भावयन्नाचाराङ्गादिसद्भावमेव न स्वीकुरुते, सोऽतिबाह्यः, स्वकृतमशास्त्रमूलप्रवृत्तावन्धपरम्पराशङ्काया दुर्निवारत्वात्, "[3]जो भणइ नत्थि धम्मो...." इत्यादिना महाप्रायश्चित्तोपदेशात्, असंभाष्यत्वाच्च तस्य ।

[तीर्थंकरादि में भी पूर्ण आचेलक्य असिद्ध]

यह भी ज्ञातव्य है कि जिनेन्द्र और जिनकल्पिक आदि भी पूर्णरूप से निर्वस्त्र नहीं होते क्योंकि शास्त्रों से ज्ञात होता है कि जिनकल्पिक आदि को कम से कम दो उपधि रजोहरण और मुहपत्ती रखना सभी समय आवश्यक होते हैं और जिनेन्द्रों को प्रव्रज्या-संन्यासग्रहण करने के समय देवेन्द्रप्रदत्त देवदूष्य वस्त्र का ग्रहण होता है। इस बात को आगम यह कहकर प्रमाणित करता है कि-'सभी चौबीसों जिनवरों ने 'देवदूष्य' नामक एक वस्त्र के साथ निर्गम-गृहत्याग किया।' आगम के इस कथन का कोई अन्य अर्थ नहीं माना जा सकता, क्योंकि [4]आचारादि अङ्गों में कई सूत्रों द्वारा बताया गया है कि श्रमणधर्म को स्वीकार करते समय भगवान् एकवस्त्र ग्रहण करते हैं। दूसरी ओर ऐसा कोई आगम उपलब्ध नहीं होता जिससे यह ज्ञात हो सके कि श्रमणधर्म की प्रतिपत्ति के समय सभी वस्त्रों का परित्याग कर दिया जाता है। एक आगम जो यह बताते उपलब्ध होता है कि 'जिन्होंने देह का विसर्जन एवं त्याग किया है वे भगवान गांव-गांव विहार करते हैं'-उस आगम का भी यह अर्थ नहीं है कि श्रमणधर्म को स्वीकार करने के समय भगवान् नग्न होते हैं, अपितु उसका अर्थ यह है कि श्रमणधर्म को स्वीकार करने के उत्तरकाल में भगवान् देहसंबन्धि रागादि समस्त दोषों से मुक्त हो जाते हैं। जो व्यक्ति इस समय प्रमाण की अनुपपत्ति आदि का उद्‌भावन कर आचाराङ्ग आदि आगमों का अस्तित्व ही नहीं मानता वह जैनसम्प्रदाय से अत्यन्त दूर है, क्योंकि दिगम्बर समाज को मान्य शास्त्रों के आधार पर धर्म तथा अध्यात्म के सम्बन्ध में जो दिगम्बर जैन जनता की प्रवृत्ति होती है उसमें भी अन्धपरम्परा की शङ्का अनिवार्य है। तथा-'धर्म नहीं है' इत्यादि कहने वाले मनुष्य को समस्त जैन संघ से बाहर निकाल देना चाहिये-इस शास्त्रोक्ति से वह आगमापलापी महाप्रायश्चित्त का पात्र है एवं धार्मिकजनों द्वारा वह सम्भाषण के लिये भी अयोग्य है।

१. सर्वेऽप्येकदूष्येण निर्गता जिनवराश्चतुर्विंशतिः । २. व्युत्सृष्टत्यक्तदेहो विहरति ग्रामानुग्रामं तु ।

३. सो समणसंघवज्झो कायव्वो सव्वसंघेणं ।। इत्युत्तरार्द्धः ।

४. जिनकल्पिक-किंचिदधिक नव पूर्वों का अध्ययन हो जाने के बाद कठोर निरपवाद संयम मार्ग का स्वीकार करने वाला जैन साधु ।

इत्थं च 'तद्विनेया अपि तल्लिङ्गानुकारिण एवोचिताः' इत्यपि प्रत्युक्तम् , 'यादृशं गुरुलिङ्गं तादृशमेव शिष्यलिङ्गादिकम्' इति वदतां पिच्छिकादिपरिग्रहस्याऽन्याय्यत्वात् , भगवता तदपरिग्रहात् । 'गुरुकृतमेव कर्माचरणीयम्' इति व्यामोहवतां छद्मस्थावस्थायां भगवतोपदेशशिष्यदीक्षागुरुवचनाद्यनुपग्रहात् दिग्वाससामपि तदनुपग्रहापत्त्या स्वतीर्थोच्छेदापत्तेः । तस्माच्चातुरातुरेण तथा वैद्योपदिष्टमेव क्रियते, न तु तत्कृतमनुक्रियते, व्याध्यनुच्छेदप्रसङ्गात् , तथा भव्येनापि धर्माधिकारिणा भगवदुक्त एव मार्गो यथाशक्त्याऽऽचरणीयः, न तु तच्चरित्रमाचरणीयम् , चक्रवर्तिभोजनलुब्धविप्रवद् विपरीतप्रयोजनप्रसङ्गादिति विभावनीयम् । अवोचाम च—

*"वेज्जुवदिट्ठं ओसहमिव जिणकहियं हिअं तओ मग्गं ।
सेवंतो होइ सुही इहरा विवरीयफलभागी" ॥ १ ॥ इति । [अ० म० प०–२३]

[अनुकरण छोडो, आज्ञापालन करो]

'शास्त्र को सूचना के अनुसार जिनेन्द्र निर्वस्त्र होते हैं अतः उनके शिष्यों को भी उनका अनुसरण करके निर्वस्त्र होना ही उचित है'- दिगम्बरों का यह कथन भी निरस्त हो जाता है क्योंकि- 'गुरु का जो लिङ्ग हो शिष्य का भी वही लिङ्ग होना चाहिए' ऐसा नियम मानने पर दिगम्बरों द्वारा मयूरपिच्छ आदि का धारण असंगत हो जायगा क्योंकि भगवान् ने उसे धारण नहीं किया है । इस के अतिरिक्त दूसरा दोष यह है कि उक्त नियम के समान दिगम्बरों को यह नियम मानने का भी व्यामोह होगा कि जो कर्म गुरु करता है, वही कर्म शिष्य को भी करना चाहिये और इस व्यामोह का परिणाम यह होगा कि जैसे भगवान् ने छद्मस्थ (अपूर्णज्ञान) अवस्था में घातीकर्म की उदय दशा में कोई उपदेश नहीं किया था, किसी शिष्य को दीक्षा नहीं दी थी, गुरुवचन का श्रवण नहीं किया था वैसे ही दिगम्बर भी छद्मस्थ अवस्था में उक्त कार्य न करेगा, जिसके फलस्वरूप दिगम्बरसम्प्रदाय का उच्छेद हो जायगा । अतः उचित यह है कि जैसे बुद्धिमान रोगी वैद्य द्वारा निर्दिष्ट कर्मों को ही करता है न कि वैद्य द्वारा किये जानेवाले कर्मों का अनुकरण, क्योंकि उन कर्मों के करने से व्याधि का उच्छेद नहीं हो सकता वैसे ही भव्य धर्माधिकारी को भगवान् द्वारा उपदिष्ट मार्ग पर ही यथाशक्ति चलना चाहिये न कि उनके चरित्र का अनुकरण करना चाहिये अन्यथा उसे उसी प्रकार विपरीत परिणाम का पात्र होना पड़ेगा जिस प्रकार चक्रवर्ती राजा के भोजन-लोभी ब्राह्मण को उस भोजन से विपरीत परिणाम का पात्र बनना पड़ा था । यह बात अध्यात्ममतपरीक्षा में इस प्रकार कही जा चुकी है कि 'भगवान् जिन द्वारा बताया मार्ग वैद्य से उपदिष्ट औषध के समान हितकर है, उस मार्ग पर चलनेवाला मनुष्य इष्ट फल को प्राप्त करता है और जो उससे विपरीत चलता है वह अनिष्ट प्राप्त करता है ।'

*वैद्योपदिष्टमौषधमिव जिन कथितं हितं ततो मार्गम् ।
सेवमानो भवति सुखीतरथा विपरीतफलभागी ॥ १ ॥

इत्थं च 'न सितपटा महाव्रतपरिणामवन्तः' इत्याद्यनुमाने हेत्वसिद्धिः मूर्च्छाऽभावेन परिग्रहयोगित्वाभावात् "[1]मुच्छा परिग्गहो वुत्तो" [द० वै०] इति भगवद्वचनात्, वस्त्रादियोगित्वस्य श्रेण्यारूढे व्यभिचारित्वादिति स्मर्तव्यम् ।

इदं कपटनाटकं प्रकटमद्य वो दिक्पटाः ! सभासु विदितं सतामिति किमत्र भूयः श्रमैः ? ।
इतो जयति शासनं जगति चारु जैनेश्वरं सिताम्बरसमाश्रितं कृतधियां हितं शाश्वतम् ॥१॥

तत् सिद्धमेतत्--'गुरुवचनमनुसृतेषु चरणकरणपरायणेषु विदितनयेषु संसारभीरुषु सिताम्बरेष्वेव दर्शन-ज्ञान-चारित्र-संपत्तिरूपः परो मोक्षोपायः' इति ॥४॥

दर्शनमेवाभिष्टोतुं यथार्थान् दर्शनपदपर्यायानाह--

मूलम्--दर्शनं मुक्तिबीजं च सम्यक्त्वं तत्त्ववेदनम् ।
दुःखान्तकृत्सुखारम्भः पर्यायास्तस्य कीर्तिताः ॥ ५ ॥

[दिगम्बरमतनिरसन उपसंहार]

दिगम्बरों ने श्वेताम्बरों के विरुद्ध जो यह अनुमान प्रयोग किया है कि-"श्वेताम्बर अपरिग्रह महाव्रत का फल नहीं पा सकते क्योंकि वे वस्त्र, पात्र आदि परिग्रह से युक्त होते हैं जैसे महान् आरम्भ-समारम्भ में गृहस्थ"-वह भी ठीक नहीं है क्योंकि श्वेताम्बर साधुओं में मूर्च्छा-वस्त्र पात्र आदि की आसक्ति,-न होने से उनमें परिग्रह का सम्बन्ध सिद्ध नहीं है, क्योंकि भगवान् के कथनानुसार वास्तव में मूर्च्छा ही परिग्रह है । अतः यह अनुमान पक्ष में हेतु के अभावरूप हेत्वसिद्धि दोष से ग्रस्त है । क्षपकश्रेणी (मोहनीयक्षय के तीव्र अध्यवसाय में) आरूढ़ साधु वस्त्रादि के युक्त होने पर भी अपरिग्रह महाव्रत का फल प्राप्त करते हैं अतः वस्त्रादि सम्बन्धरूप हेतु में अपरिग्रह महाव्रत के फलप्राप्तिरूप साध्य का व्यभिचार भी है ।

व्याख्याकार ने इस विचार का अपने एक पद्य द्वारा उपसंहार किया है । पद्य का अर्थ इस प्रकार है-

'साधु को अपरिग्रह महाव्रत का फल पाने के लिये वस्त्र का त्याग करना चाहिये' इस पक्ष को सिद्ध करने का जो कपटनाटक दिगम्बरों द्वारा विद्वानों की सभाओं में खेला जाता रहा, आज उसका आवरणभङ्ग हो गया, यह सत्पुरुषों ने जान लिया, अतः इस विषय में और श्रम करना निरर्थक है, दिगम्बरों के नाटक की कपटमयता प्रकट होने के फलस्वरूप जिनेश्वर का वह शासन, जिसका श्वेताम्बरों ने आश्रय किया है, जो परिष्कृतबुद्धिवालों का शाश्वत हितकारी है, पूर्ण उत्कर्ष से उद्भासित होने लगा है ।

उक्त विचारों से यह निर्विवाद सिद्ध है कि ज्ञान, दर्शन, चारित्र्यरूप मोक्ष का श्रेष्ठ साधन गुरुवचन का अनुसरण करने वाले, चारित्रपालन में निरन्तर तत्पर नयों के सम्यग् वेत्ता, संसार से भीत रहने वाले श्वेताम्बरों को सुलभ हो सकता है ।

१. मूर्च्छा परिग्रहः उक्तः ।

दर्शनं=दृश्यतेऽनेन यथावस्थितमात्मतत्त्वमिति । मुक्तिबीजं च, चः समुच्चये, मुक्तेः सकलकर्मनिवृत्तेः फलभूताया धर्मचिन्ताद्यङ्कुरक्रमेण बीजं सत्प्रशंसादिलिङ्गमाद्यकारणम्; तदाहुः—[ ]

"वपनं धर्मबीजस्य सत्प्रशंसादि तद्गतम् । तच्चिन्ताद्यङ्कुरादि स्यात् फलसिद्धिस्तु निर्वृतिः ॥१॥
चिन्ता–सच्छ्रुत्य-नुष्ठान-देवमानुषसंपदः । क्रमेणाङ्कुर-सत्काण्ड-नाल-पुष्पसमा मता ॥२॥
फलं प्रधानमेवाहुर्नानुषङ्गिकमित्यपि । पलालादिपरित्यागात् कृषौ धान्यादिवद् बुधाः ॥३॥
अत एव च मन्यन्ते तत्र भावितबुद्धयः । मोक्षमार्गक्रियामेकां पर्यन्तफलदायिनीम् ॥४॥ इति ।

सम्यक्त्वम्=आत्मनः सम्यग्भावो मिथ्यात्वमलापगमात् परमनिर्मलोभावलक्षणः । तत्त्ववेदनम्=तत्त्वं भगवदुक्तं वेद्यते ज्ञायतेऽनेनेति । दुःखान्तकृत्=ग्रन्थिभेदाद् निबिड-कर्मजन्यसंसारदुःखान्तकरम् । अत एव सुखारम्भः-सुखस्यारम्भो यस्मात् तत् । एते तस्य= दर्शनस्य पर्यायाः-एकार्थप्रतिपादकाः शब्दाः, कीर्तिताः, सत्यपि योगे पङ्कजादिपदानां पद्मादाविव दर्शने नियतत्वादेतेषाम् । लक्षणं चास्य शमाद्यभिव्यङ्ग्यः शुभात्मपरिणामः । तदार्षम्-*"से य सम्मत्ते पसत्थसम्मत्तमोहणिज्जकम्माणुवेअणोवसम-खयसमुत्थे सुहे आय-परिणामे पण्णत्ते" इति ।

[पर्यायपदों से दर्शन की स्तवना]

दर्शन का महत्त्व बताने के लिये इस पाँचवी कारिका में दर्शनपद के यथार्थपर्यायों का उल्लेख किया गया है-

कारिका का अर्थ इस प्रकार है —

'दृश्यतेऽनेन=जिससे देखा जाय' इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'आत्मतत्त्व' यथावस्थितरूप में जिससे ज्ञात हो वही दर्शन है क्योंकि उसीसे सब कुछ जाना जाता है । कारिकागत 'च' शब्द समुच्चयार्थक है, उससे यह सूचित होता है कि 'दर्शन' पद की तरह मुक्तिबीजादि सभी शब्द सम्यक्त्व के पर्यायवाची है । मुक्ति का अर्थ है समस्तकर्मों का क्षय, जो सम्यग् दर्शन का फल है, बीज का अर्थ है प्रथमकारण, जो धर्मचिन्तादि अङ्कुर के क्रम से संवर्धित होकर फल का निर्वाहक होता है और सत्प्रशंसा आदि लिङ्गों से ज्ञात होता है । जैसा कि विद्वानों ने कहा है धर्मगतसत्प्रशंसा आदि (धर्म की भूरि-भूरि प्रशंसा, उसके उत्तमफल का वर्णन आदि) धर्म बीज का वपन है, धर्म का चिन्तन आदि अङ्कुर है, मोक्षलाभ फलप्राप्ति है ।

धर्म का चिन्तन, धर्म के विषय में अच्छी बातों का श्रवण, धर्मकार्य का अनुष्ठान, देवी और मानुषी सम्पत्ति क्रम से अङ्कुर, सुपुष्ट काण्ड, नाल और पुष्प के समान है ।

धर्म का एक ही मुख्यफल है मोक्ष, अन्य कोई आनुषङ्गिक फल वास्तविक फल नहीं है । यह

*तच्च सम्यक्त्वं प्रशस्तसम्यक्त्वमोहनीयकर्माणुवेदनोपशम-क्षयसमुत्थः शुभ आत्मपरिणामः प्रज्ञप्तः ।

शमादयश्च पञ्च—[1]शमः, [2]संवेगः, [3]निर्वेदः, [4]अनुकम्पा, [5]आस्तिक्यं चेति। तत्र शमः=क्रूराणामनन्तानुबन्धिनां कषायाणामनुदयः, स च प्रकृत्या, कषायपरिणतेः कटुकफलालोकनाद् वा भवति। तदुक्तम्—[श्रा० प्र० ५५]

❀ पयईए, कम्माणं नाऊणं वा विवागमसुहं ति।
अवरद्धे वि न कुप्पइ उवसमओ सव्वकालं पि॥ १॥

अन्ये तु 'क्रोधकण्डूविषयतृष्णोपशमः शमः' इत्याहुः। कृष्ण-श्रेणिकादौ चैतदभावेऽपि न क्षतिः, लिङ्गं विनापि लिङ्गिनो दर्शनात्। संज्वलनकषायोदयाद् वा कृष्णादीनां क्रोधकण्डूविषयतृष्णे। भवन्ति हि संज्वलना अपि केचन कषायास्तीव्रतयाऽनन्तानुबन्धिसदृशविपाकवन्त इति। संवेगो=मोक्षाभिलाषः, सम्यग्दृशाऽहमिन्द्रपर्यन्तसुखस्य दुःखानुषङ्गाद् दुःखतयैव पर्यालोचनात्। तदाह—[श्रा० प्र० ५६]

"卐णर-विबुहेसरसुक्खं दुक्खं चिय भावओ अ मण्णंतो।
संवेगओ ण मुक्खं मोत्तुणं किंचि पत्थेइ॥ १॥"

ठीक उसी प्रकार जैसे पलाल आदि को त्यागकर धान्य की प्राप्ति ही कृषि का फल होता है, अत एव परिष्कृतबुद्धि से सम्पन्न व्यक्ति पर्यन्तफल-मोक्षरूप चरमफल को देने वाली दर्शनरूप क्रिया को मोक्ष का मार्ग मानते हैं।

कारिका में आये 'सम्यक्त्व' पद का अर्थ है आत्मा का सम्यग्भाव। सम्यग्भाव का अर्थ है मिथ्यात्वरूपमल की निवृत्ति होकर परमनैर्मल्य की प्राप्ति। 'तत्त्ववेदन' का अर्थ है आत्मा की वह योग्यता जिससे भगवान् से उपदिष्ट तत्त्व पर श्रद्धा का उदय हो। 'दुःखान्तकृत्' का अर्थ है ग्रन्थि का भेदन कर निबिड-दृढबद्ध कर्मों से उत्पन्न संसार दुःख का नाशक। 'सुखारम्भ' का अर्थ है सुखजनक, जिससे सुख की उत्पत्ति हो।

उक्त तत्तद् अर्थ के बोधक सभी शब्द जैसे मुक्तिबीज, सम्यक्त्व, तत्त्ववेदन, दुःखान्तकृत् और सुखारम्भ ये 'दर्शन' शब्द के पर्याय-दर्शनशब्द के प्रतिपाद्य अर्थ के प्रतिपादक माने गये हैं क्योंकि ये सभी शब्द यौगिक=प्रवयवलभ्य तत्तत् विशिष्ट अर्थ के बोधक होते हुये भी 'दर्शन' रूप अर्थ में उसीप्रकार नियत रूढ हैं जैसे पङ्कज आदि शब्द पङ्कजन्य अर्थ में यौगिक होते हुये भी पद्म में नियत होते हैं।

'दर्शन' का लक्षण है शम आदि से व्यक्त होने वाला आत्मा का शुभ परिणाम, जिसके संवादी आर्षवचन का अर्थ है-दर्शन सम्यक्त्वरूप है जो प्रशस्त सम्यक्त्वमोहनीय नामक कर्म के अणुओं के वेदन या उपशम अथवा क्षय से उत्पन्न आत्मा का शुभ परिणाम कहा गया है।

❀ प्रकृत्या, कर्मणां ज्ञात्वा वा विपाकमशुभमिति।
अपराध्येऽपि न कुप्यत्युपशमतः सर्वकालमपि॥ १॥

卐 नरविबुधेश्वरसौख्यं दुःखमेव भावतश्च मन्वानः।
संवेगतो न मोक्षं मुक्त्वा किञ्चित् प्रार्थयते॥ १॥

निर्वेदो भववैराग्यं दुःखदौर्गत्यगहने भवकारागारे वसतस्तद्दुःखप्रतिकाराऽशक्तावपि तद्दुःखद्वेषलक्षणम्, तत्कृतभवसुखेच्छाविच्छेदलक्षणं वा ममत्वराहित्यम् । तदुक्तम्–[श्रा०प्र०५७]

"[1]नारय-तिरिअ-नरा-ऽमरभवेसु निव्वेअओ वसइ दुक्खं ।
अकयपरलोअमग्गो ममत्तविसवेगरहिओ अ ॥ १ ॥"

अन्ये तु संवेग-निर्वेदयोरर्थविपर्ययमाहुः–'संवेगो=भवविरागः, निर्वेदो=मोक्षाभिलाषः' इति । अनुकम्पा=दुःखितेष्वपक्षपातेन दुःखप्रहाणेच्छा, पक्षपाते तु करुणा स्वपुत्रादौ व्याघ्रादीनामप्यस्त्येव । सा च द्रव्यतो भावतश्च भवति । द्रव्यतः सत्यां शक्तौ दुःखप्रतिकारेण, भावत आर्द्रहृदयत्वेन । तदाह —[श्रा०प्र०५८]

"[2]दट्ठूण पाणिणिवहं भीमे भवसायरम्मि दुक्खंतं ।
अविसेसओऽणुकंपं दुहा वि सामत्थओ कुणइ ॥१॥"

आस्तिक्यं तत्त्वान्तरश्रवणेऽपि जिनोक्ततत्त्वविषये निराकाङ्क्षप्रतिपत्तिः । तदाह-[श्रा०प्र०५९]

"[3]मन्नइ तमेव सच्चं णीसंकं जं जिणेहिं पन्नत्तं ।
सुहपरिणामो सम्मं कंखाइविसुत्तिआरहिओ ॥ १ ॥

अपरे तु "मिथ्याभिनिवेशोपशमः शमः, संवेगः-संसारभयम्, निर्वेदो=विषयेष्वनभिष्वङ्गः, अनुकम्पा=आत्मवत् सर्वसत्त्वेषु सुख-दुःखयोः प्रिया-ऽप्रियत्व-दर्शनेन परपीडापरिहारेच्छा, आस्तिक्यम्=भगवदुक्तसूक्ष्मातीन्द्रियभावेष्वसंभावनाविपक्षः सद्भावपरिणामः" इत्याहुरिति यथासमयं विभावनीयम् ॥ ५ ॥

[सम्यग् दर्शन के अभिव्यंजक शमादि लक्षण]

आत्मा के सम्यग् दर्शनरूप शुभ परिणाम के पाँच व्यञ्जक हैं-शम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्तिक्य । शम का अर्थ है-अनन्त अनुबन्धवाले क्रूर कर्मों का अनुदय, यह शम प्रकृति यानी स्वभाव से अथवा कषायपरिणाम के कटुफल के अवलोकन से उत्पन्न होता है । जैसा कि कहा गया है कि प्रकृति से अथवा कर्मों के अशुभ परिणाम के ज्ञान से उपशम होता है, उपशम-प्राप्त पुरुष अपने अपराधी पर भी कभी कुपित नहीं होता ।

१. नारक-तिर्यग्-नरा-ऽमरभवेषु निर्वेदतो वसति दुःखम् ।
अकृतपरलोकमार्गो ममत्वविषवेगरहितश्च ॥ १ ॥
२. दृष्ट्वा प्राणिनिवहं भीमे संसारसागरे दुःखायमानम् ।
अविशेषतोऽनुकम्पां द्विधापि सामर्थ्यतः करोति ॥ १ ॥
३. मन्यते तदेव सत्यं निःशङ्कं यज्जिनैः प्रज्ञप्तम् ।
शुभपरिणामः सम्यक्त्वं काङ्क्षादिविश्रोतसिकारहितः ॥ १ ॥

अन्य विद्वानों के अनुसार 'शम' का अर्थ है क्रोधजन्य कण्डू और विषयों की तृष्णा का उपशम। कृष्ण, श्रेणिक आदि दर्शनसम्पन्न पुरुषों में इस शम का अभाव होने पर भी कोई क्षति नहीं है क्योंकि लिङ्ग (ज्ञापक) में लिङ्गी (ज्ञाप्य) की व्याप्ति होती है न कि लिङ्गी में लिङ्ग की व्याप्ति होती है, अतः लिङ्ग के बिना भी लिङ्गी का दर्शन होने से कृष्ण आदि में शम के बिना भी दर्शन का अस्तित्व सङ्गत हो सकने के कारण दर्शन को शमादि से अभिव्यङ्ग्य मानने में कोई क्षति नहीं है। अथवा यह भी कहा जा सकता है कि कृष्ण आदि में जो क्रोध-कण्डू और विषयतृष्णा है वह संज्वलन कषाय के उदय से है क्योंकि कुछ कषाय संज्वलन रूप भी ऐसे होते हैं जो तीव्र होने के कारण अनन्तअनुबन्धवाले कषायों के परिणामों के समान परिणाम के जनक होते हैं। कहने का आशय यह है कि क्रोधकण्डू और विषयतृष्णा का आत्यन्तिक उपशम सर्वविध कषायों के अनुदय से होता है, कृष्ण आदि में क्रूर कषायों का अनुदय होने पर भी संज्वलन कषाय का उदय होने से कषाय सामान्य का अनुदय नहीं है। अतः उनमें क्रोधकण्डू और विषयतृष्णा का आत्यन्तिक अभाव नहीं है किन्तु इसके न होने पर भी शम और दर्शन के लिङ्गलिङ्गिभाव में बाधा नहीं हो सकती क्योंकि क्रूर कषायों के उदय से होनेवाली क्रोधकण्डू और विषयतृष्णा का उपशमरूप शम ही दर्शन का लिङ्ग है और वह संज्वलन कषाय के उदय से जन्य क्रोधकण्डू और विषयतृष्णा होने पर भी दर्शनसम्पन्न कृष्ण आदि में विद्यमान हो सकते हैं।

संवेग का अर्थ है मोक्ष की इच्छा, इसका उदय इन्द्रपद की प्राप्ति से होनेवाले सुखपर्यन्त सम्पूर्णसुख में दुःखानुषङ्गमूलक दुःखरूपता के ज्ञान से होता है और यह ज्ञान सम्यग् दर्शन से प्राप्त होता है, जैसा कि कहा गया है-'जो पुरुष सामान्यमनुष्य के सुख से लेकर देवेन्द्र तक के सम्पूर्ण सुख को भावतः दुःख ही मानता है, वह संवेग यानी मोक्षाभिलाष से मोक्ष को छोडकर अन्य किसी वस्तु की कामना नहीं करता।

निर्वेद का अर्थ है संसार के प्रति वैराग्य, वैराग्य का अर्थ है संसार के नियत सहभावी दुःख के प्रति द्वेष, यह संसार दुःख और दुर्गति से भरा कठोर कारागार है उसमें निवास करने वाला मनुष्य इसके दुःख का प्रतीकार करने में यद्यपि समर्थ न हो फिर भी उसके प्रति उसे द्वेष तो होता ही है, उसका यह दुःखद्वेष ही संसार के प्रति उसका वैराग्य है।

वैराग्य शब्दार्थ के सम्बन्ध में यदि यह विमर्श हो कि वैराग्यशब्द की 'विगतो रागो यस्मात्स विरागः'-तस्य भावः वैराग्यम्-जिससे राग निवृत्त हो गया हो वह विराग है और उसका असाधारण-धर्म वैराग्य है' इस व्युत्पत्ति के अनुसार उसका अर्थ रागाभाव हो सकता है न कि भावात्मकद्वेष-तो वैराग्य के सम्बन्ध में यह कहना उचित होगा कि संसारदुःख के प्रति द्वेष वैराग्य नहीं है किन्तु उस द्वेष से सांसारिक सुख के प्रति इच्छा का जो विच्छेद होता है तद्रूप जो संसार में ममत्व का अभाव है वही वैराग्य है। कहा भी गया है कि जिसे निर्वेद-संसार के प्रति वैराग्य है किन्तु परलोक का मार्ग अप्राप्त है वह ममतारूप विष के वेग से रहित होकर नारकीय, तिर्यक्, मनुष्य और देव योनियों में दुःख से दिन काटता है।

१. संज्वलनकषाय। कषाय के चार प्रकार होते हैं १-अनंतानुबन्धी, २-अप्रत्याख्यानीय, ३-प्रत्याख्यानावरण, ४-संज्वलन। यहां संज्वलन पद के उपलक्षण से अप्रत्याख्यानीय और प्रत्याख्यानावरण भी समझ लेना जरूरी है।

यदुक्तम्-'किं वा न सदा सर्वदेहिनाम्' इति, तदुत्तराभिधित्सयाऽऽह—

मूलम्—अनादिभव्यभावस्य तत्स्वभावत्वयोगतः ।
उत्कृष्टायास्वतीतासु यथाकर्मस्थितिष्वलम् ॥ ६ ॥

अनादिभव्यभावस्य=तत्तज्जीवसंबन्धिनोऽनादेर्भव्यत्वस्य, तत्स्वभावत्वयोगतः=प्रकृतिवैचित्र्यात् । न चैतदसिद्धम्, इतरहेतूनामपि फलविशेषे योग्यताविशेषापेक्षणात्, जात्यनुच्छेदेन गुणप्रकर्षा(र्ष)भावात्, अशुद्धतायामपि जात्याऽजात्यरत्नयोरिव साम्याऽसिद्धेः, अन्यथा तीर्थकृदन्तकृत्केवलिभावादिपार्यन्तिकफलविशेषानुपपत्तेः, परम्पराहेतुबोधिलाभादेरपि तत्फलत्वात्, तत्रापि स्वभावभेदावश्यकत्वात्, 'एकत्र हेतौ स्वभावभेदो नान्यत्र' इत्यभ्युपगमे च हेतुस्वभावविप्रतिषेधात् नियतस्वभावकार्यानुदयप्रसङ्गाद् योग्यतामनपेक्ष्य सदाशिवानुग्रहादिना तत्त्वधर्मप्राप्त्यादिफलविशेषोपगमे च सर्वसाम्यप्रसङ्गात् ।

कतिपय अन्य विद्वानों ने संवेग और निर्वेद का परस्पर विपरीत अर्थ किया है, उनके अनुसार संवेग का अर्थ है संसार के प्रति वैराग्य और निर्वेद का अर्थ है मोक्षाभिलाष, अतः इस मत में संवेग होगा कारण और निर्वेद होगा कार्य । दोनों ही मतों में कोई तात्त्विक अन्तर नहीं है केवल शब्दों का उलटफेर है ।

अनुकम्पा का अर्थ है बिना पक्षपात के दुःखी जीवमात्र के दुःख को दूर करने की इच्छा, पक्षपात से दुःख को दूर करने की इच्छा अनुकम्पारूप नहीं कही जाती किन्तु ऐसी इच्छा सामान्य दया में परिगणित होती है जो अपने पुत्रादि के सम्बन्ध में व्याघ्र आदि हिंस्र पशुओं को भी होती है । अनुकम्पा के दो भेद हैं-द्रव्य-अनुकम्पा और भाव-अनुकम्पा, शक्ति के अनुसार दुःख का प्रतीकार करना द्रव्य-अनुकम्पा है, दुःख प्रतीकार का सामर्थ्य न होने पर भी दुःखी प्राणी के प्रति आर्द्रहृदय होना भाव-अनुकम्पा है । कहा भी गया है कि भीषण संसारसागर में प्राणिवर्ग को दुःख भोगते देखकर साधु पुरुष को निष्पक्षभाव से सामर्थ्यानुसार दो प्रकार की अनुकम्पा होती है ।

आस्तिक्य का अर्थ है अन्योपदिष्ट तत्त्व को सुनकर भी (किसी लौकिक निमित्त के अभाव में भी) 'जिन' द्वारा उपदिष्ट तत्त्व को ही निराकांक्ष भाव से स्वीकार करना । कहा भी गया है कि जिस पुरुष में शुभपरिणाम का उदय हो जाता है वह किसी अन्य फल की आकाङ्क्षा या विस्रोतसिका के बिना 'जिन' के उपदेश को ही असंदिग्ध सत्य और सम्यक् मानता है ।

दूसरे विद्वानों ने शम आदि की व्याख्या अन्य प्रकार से की है । उनके अनुसार 'शम' का अर्थ है मिथ्या अभिनिवेश-झूठे आग्रह का उपशम, 'संवेग' का अर्थ है संसार से त्रस्त होना, 'निर्वेद' का अर्थ है विषयों में अनासक्ति, 'अनुकम्पा' का अर्थ है अपने सुख-दुःख के समान समस्त प्राणियों के सुख-दुःख को प्रिय तथा अप्रिय जानकर अन्य प्राणियों को किसी भी प्रकार की पीडा न करने की इच्छा, और 'आस्तिक्य' का अर्थ है भगवान् से उपदिष्ट सूक्ष्म अतीन्द्रिय भावों में असम्भावना का विरोधी सद्भावात्मक परिणाम ।

न चैवं सत्त्वानां प्राग् विशेषे मुक्तावपि विशेषः स्यादिति वाच्यम्, कृत्स्नकर्मकार्याया मुक्तेरत्वविशेषेणाऽविशेषात्, दरिद्रेश्वरयोः प्राग् विशेषेऽप्यविशिष्टायुःक्षयकार्यमरणाऽविशेषवदुपपत्तेः। तज्जातीयादेव हेतोस्तज्जातीयं कार्यमुत्पद्यत इति परमार्थः। तत्र मुक्तत्वप्रयोजिका सामान्यतोऽभव्यव्यावृत्ता जातिर्भव्यत्वमिति गीयते, प्रत्यात्म तथातथापरिणामितया समुपात्तविशेषा च तथाभव्यत्वमिति सिद्धम्।

[मोक्षोपाय सभी को सुलभ क्यों नहीं ?]

प्रस्तुत स्तबक की प्रथम कारिका में जो यह शङ्का की गई है कि यदि मोक्ष के उपाय का अस्तित्व है तो उस उपाय से समस्त प्राणियों को मोक्ष की प्राप्ति क्यों नहीं होती ?-छठीं कारिका इसी शङ्का का समाधान करने के लिये प्रवृत्त है। इसका अर्थ यह है कि जो जीव योग्य होता है वही मोक्ष का उपाय प्राप्त कर पाता है. समस्त जीवों में योग्यता न होने से सबको मोक्षोपाय सुलभ न हो सकने के कारण सबको मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती। जीव की इस योग्यता को 'भव्यत्व' कहा जाता है। यह भव्यत्व अनादि है, इस भव्यत्व के स्वभाववैचित्र्य से जीव द्रव्यलिङ्ग आदि के प्राप्तिक्रम से उत्कृष्ट आदि कर्मस्थितियों के अतीत होने पर मोक्ष के प्रथम कारणभूत दर्शन को प्राप्त करता है।

व्याख्याकार ने 'भव्यत्व' की सिद्धि के लिये कुछ युक्तियाँ बताई हैं, उनका कहना है कि मोक्षहेतुओं के लिये ही यह बात नहीं है कि वे जीव की (उपादानकारण की) भव्यत्वरूपयोग्यता की अपेक्षा से ही मोक्ष का जनक होता है; अपितु अन्य कार्य के हेतुओं का भी यही स्वभाव है कि वे उपादान की योग्यताविशेष से ही फलविशेष के उत्पादक होते हैं. क्योंकि जाति के अनुच्छेद से ही गुणप्रकर्ष होता है। जिसवस्तु में विशेषजाति-विशेषयोग्यता होती है वही गुणप्रकर्ष का पात्रभूत होने से कार्यविशेष की प्रयोजक होती है।

भव्य अभव्य सभी जीव यद्यपि समानरूप से संसारी होते हैं फिर भी उनमें जातीय साम्य ठीक उसीप्रकार नहीं होता जैसे मिट्टी के अन्दर पड़े हुये असली नकली रत्नों में समान मालिन्य होने पर भी जातीय साम्य नहीं होता, उनके मालिन्य में अन्तर न होने पर भी उनकी जाति में अन्तर होता ही है। यह निर्विवाद है कि यदि जीवों में जातिमूलक भेद न हो तो उनमें तीर्थकृत्, अन्तकृत् केवली आदि रूप में होनेवाले अन्तिम परिणामों में भी भेद न हो सकेगा, अर्थात् योग्यता तारतम्य के अभाव में कोई तीर्थंकर, कोई अन्तकृत् और कोई सामान्य केवली नहीं हो सकता। तीर्थंकरभाव आदि का परम्परया हेतु होता है बोधिलाभ उत्कृष्ट उत्कृष्टतरादि सम्यक्त्व की प्राप्ति. यह प्राप्ति भी योग्यताविशेष का ही फल है. अतः जीवगत भव्यत्व भी विचित्रस्वभाव वाला होने का अभ्युपगम न्यायप्राप्त है। यदि यह कहा जाय कि 'किसी एक हेतु में स्वभावभेद आवश्यक होने पर भी अन्यहेतु में स्वभावभेद की सत्ता में कोई प्रमाण नहीं है' तो यह ठीक नहीं है क्योंकि ऐसा मानने पर कुछ हेतुओं में हेतुस्वभाव का भी प्रतिषेध सम्भव होने से उन हेतुओं से नियतस्वभावोपेत कार्य की उत्पत्ति न हो सकेगी। यदि योग्यता की अपेक्षा किये विना सदाशिव के अनुग्रह से तत्त्वधर्म की प्राप्ति आदि फलों की उत्पत्ति मानी जायगी तो जीवमात्र में समानता की आपत्ति होगी, क्योंकि शिवानुग्रह सभी जीवों को सुलभ हो सकता है।

तथा अलं=तेन तेन द्रव्यलिङ्गाद्यवाप्तिप्रकारेण उत्कृष्टायासु=त्रिंशद्-विंशति-सप्तति-कोटाकोटीसागरोपममानास्वुत्कृष्टासु यथाप्रवृत्तिकरणाधीनग्रन्थ्यवाप्त्यवच्छिन्नासु प्रत्येकमेकसागरोपमकोटाकोट्यूनासु शेषाब्धिकोटाकोट्यन्तःस्थितिरूपासु च कर्मस्थितिषु=ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीया-ऽन्तराय-नाम-गोत्र-मोहनीयस्थितिषु अतीतासु=अतिक्रान्तासु सतीषु ॥ ६ ॥
किमित्याह—

मूलम्—तद्दर्शनमवाप्नोति कर्मग्रन्थिं सुदारुणम् ।
निर्भिद्य शुभभावेन कदाचित्कश्चिदेव हि ॥७॥

कदाचित्=तथाभव्यत्वपरिपाककाले, कश्चिदेव हि-अधिकृतो भव्यः, सुदारुणं=दुर्भेदम् ग्रन्थिदेशं प्राप्तानामपि तत्प्राबल्याद् बहूनां गाढकर्मणां पुनरुत्कृष्टबन्धश्रवणात् , उक्तं हि—

[मुक्तदशा में कोई भेदभाव नहीं होता]

यदि यह कहा जाय कि 'मुक्ति के पूर्व जीवों में वैलक्षण्य मानने पर मुक्ति होने पर भी उनमें वैलक्षण्य होगा' तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि मुक्तिमात्र सम्पूर्ण कर्मों का ही कार्य है अतः हेतु में वैलक्षण्य न होने से कार्य में वैलक्षण्य नहीं हो सकता। कहने का आशय यह है कि मुक्ति सम्पूर्ण कर्मों का क्षयरूप है अतः उसमें सम्पूर्ण कर्म प्रतियोगिविधया हेतु हैं इसलिए सभी मुक्ति संपूर्ण कर्मों से ही साध्य होने से समानहेतुक है अत एव उसमें वैलक्षण्य की सम्भावना कथमपि नहीं हो सकती। प्रत्युत, जैसे निर्धन और धनपति में मृत्यु के पूर्व वैलक्षण्य होने पर भी आयुःकर्म के क्षयरूप अविशिष्ट कारण से होनेवाले उनके मरण में कोई वैलक्षण्य नहीं होता उसीप्रकार मुक्ति के पूर्व संसारी जीवों में वैलक्षण्य होने पर भी उनकी मुक्ति में वैलक्षण्य नहीं हो सकता क्योंकि सभी जीवों की मुक्ति समानहेतुक होती है। अतः सत्य यही है कि तत्तज्जातीय कारण से ही तत्तज्जातीय कार्य की उत्पत्ति होती है। मुक्ति की प्रयोजक है भव्यत्व जाति जो मुक्ति गमन योग्य सभी जीवों में रहती है और अभव्य जीवों में नहीं रहती। प्रत्येक भव्य जीव के भिन्न भिन्न परिणाम होते हैं और उन परिणामों से प्रत्येक जीव में वैलक्षण्य होता है इस वैलक्षण्य के अनुरोध से प्रत्येक भव्य जीव में भिन्न भिन्न प्रकार का भव्यत्व सिद्ध होता है- उसीको तथाभव्यत्व कहते हैं। भव्यत्व मुक्तियोग्य जीव मात्र में रहनेवाली एक व्यापक जाति है और तथाभव्यत्व विभिन्न भव्य जीवों में रहनेवाली अवान्तर जाति है ऐसा भी कह सकते हैं जैसे कि घटत्व और तद्घटत्व।

भव्य जीव सम्यग्दर्शनप्राप्ति के पूर्व अनन्तशः द्रव्यलिंग को ग्रहण करता है। ऐसा करते चरमयथाप्रवृत्तकरण के अध्यवसाय से ग्रन्थिदेश को प्राप्त करते हुए जब मोहनीयकर्म की ७० कोटाकोटीसागरोपमप्रमित दीर्घस्थिति, ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीय और अंतराय की ३० कोटाकोटीसागरोपमप्रमित स्थिति और नाम-गोत्र कर्मयुगल की २० कोटाकोटीसागरोपमप्रमित स्थिति का ह्रास होकर सभी कर्मों की स्थिति एक कोटाकोटीसागरोपम से भी कुछ न्यून जब हो जाती है, (तभी उस ग्रन्थि का भेदन करके कोई एक भव्य जीव सम्यग्दर्शन को प्राप्त करता है, इतना अग्रिम कारिका के साथ सम्बन्ध है।)

"ग्रन्थिदेशं तु संप्राप्ता रागादिप्रेरिताः पुनः । उत्कृष्टबन्धयोग्याः स्युश्चतुर्गतिजुषोऽपि ते ॥१॥"

ग्रन्थि=काष्ठादेरिवात्मनः सुदृढकठिनपरिणामम् , उक्तं हि–

"[1]गंठि त्ति सुदुब्भेओ कक्खडघणरूढगूढगंठिव्व ।
जीवस्स कम्मजणिओ घणरागद्दोसपरिणामो ॥ १ ॥" [वि०आ०भा० ११९२]

शुभभावेन=परमवीर्योल्लासजनिताऽपूर्वकरणरूपेण, निर्भिद्य=अतिक्रम्य,–अनिवृत्तिकरणादन्तरकरणे कृते सत्यग्रे वेदनीयस्य मिथ्यात्वस्य विरलीकरणादान्तमुहूर्तिकं तत्=प्राग्निरूपितस्वरूपम्, दर्शनं=सम्यक्त्वम् अवाप्नोति । इदं च प्राथमिकमौपशमिकसम्यक्त्वमभिधीयते, मिथ्यात्वस्यानन्तानुबन्धिनां च भस्मच्छन्नाग्निवदुपशमात् । तदुक्तम्—

"[2]उवसामगसेढीगयस्स होइ उवसामियं तु सम्मत्तं ।
जो वा अकयतिपुंजो अखवियमिच्छो लहइ सम्मं ॥ १ ॥" इति [वि० आ० भा० ५२९]

इदमेव हि प्रथमो मोक्षोपायः । उक्तं च–[ ]

"शमप्रशमजीवातु बीजं ज्ञान-चरित्रयोः । हेतुस्तपःश्रुतादीनां सद्दर्शनमुदीरितम् ॥ १ ॥" इति ॥

[प्रथम सम्यग्दर्शन के प्रादुर्भाव की शेष प्रक्रिया]

७वीं कारिका में यह बताया गया है कि कर्म की उत्कृष्ट आदि स्थितियों के अतीत होने पर क्या होता है । कारिका का अर्थ इस प्रकार है–

तथाभव्यत्व के परिपाक का समय आने पर कोई एक अविकृत भव्यजीव दुर्भेद्य कर्मग्रन्थि का शुभभाव से भेदन कर मोक्षोपयोगी दर्शन को प्राप्त करता है । जीव की कर्मग्रन्थि दुर्भेद्य होती है । शास्त्रों में ऐसा सुना जाता है कि-'जीव ग्रन्थिदेश को प्राप्त होकर भी राग आदि की प्रेरणा से पुनः उत्कृष्ट बन्ध के योग्य होते हैं तथा नारक, तिर्यक्, मनुष्य और देव इन चार योनियों में प्रादुर्भूत होते हैं ।' ग्रन्थि का अर्थ है–आत्मा में राग-द्वेष का एक विशेष परिणाम जो काष्ठ आदि के समान दृढ और कठोर होता है । कहा भी गया है कि–'ग्रन्थिजीव का कर्मजन्य रागद्वेषात्मक दृढ परिणाम है जो अत्यन्त दृढ तथा कठोर गूढ ग्रन्थि के समान दुर्भेद्य होता है ।' इस कर्मग्रन्थि का भेदन जीव के शुभ भाव से होता है । शुभभाव का अर्थ है [3]अपूर्वकरण जो [4]परमवीर्य के उल्लास से सम्पन्न होता है । कर्मग्रन्थि के भेदन से दर्शन=सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है ।

१. ग्रन्थिरिति सुदुर्भेदः कर्कशघनरूढगूढग्रन्थिरिव । जीवस्य कर्मजनितो घनराग-द्वेषपरिणामः ॥१॥
२. उपशमश्रेणिगतस्य भवत्यौपशमिकं तु सम्यक्त्वम् ।
यो वाऽकृतत्रिपुञ्जोऽक्षपितमिथ्यात्वो लभते सम्यक्त्वम् ॥
३. अपूर्वकरण – अनादिसंसार में अभूतपूर्व शुभ अध्यवसाय ।
४. परमवीर्यसमुल्लास – आत्महित की ओर प्रगति का भारी आंतरिक उल्लास ।

इत्थं च यदुक्तम्–'तथा चाऽपकृष्टस्थितिकादिस्वभावतः' इत्यादि, तन्निरस्तम् ; यथाप्रवृत्तिकरणार्थार्जितापकृष्टस्थितेरभव्यादिष्वपि संभवेऽप्यपूर्वकरणादिकृताल्पकर्मस्थितेरन्यत्राऽसंभवात् । यदपि 'किञ्च, एवं दर्शनादेः' इत्याद्युक्तम्, तदप्ययुक्तम्, अपूर्वकरणादिरूपप्रयत्नसाध्यत्वाद् दर्शनस्य, मोक्षतदुपाययोः पुरुषकृत्यसाध्यत्वाऽयोगात्, मल्लप्रतिमल्लोपमयोर्जीवकर्मणोरेकशक्तिपराभवादन्यशक्त्युद्रेकात्, प्राक्कर्मसामर्थ्याभिभूतत्वेऽपि तदा जीवपराक्रमप्राबल्यात् । इष्यते चैतद्योगाचार्यैरपि, विशिष्टाद्यकरणादीनां प्रवृत्त्यादिशब्दवाच्यतया "प्रवृत्ति-पराक्रम-जयाऽऽनन्द-ऋतम्भरभेदः कर्मयोगः" इति श्रवणात् । प्रवृत्तिश्रमयथाप्रवृत्तिकरणशुद्धिलक्षणा, पराक्रमेण=अपूर्वकरणेनेत्यर्थः, जयः=प्रतिबन्धाभिभवोऽनिवृत्तिकरणमित्यर्थः, आनन्दः=सम्यग्दर्शनलाभरूपः, ऋतम्भरः=सम्यग्दर्शनपूर्वको देवतापूजनादिव्यापारः, प्रवृत्त्यादयो भेदा यस्य स तथा कर्मयोगः=क्रियालक्षणः, कर्मग्रहणमिच्छालक्षणप्रणिधानयोगव्यवच्छेदार्थमिति ।

सम्यक्त्व का स्वरूप पहले बताया जा चुका है, वह [1]आन्तर्मुहूर्तिक होता है–अन्तर्मुहूर्तकाल तक स्थिर रहता है, वह [2]अनिवृत्तिकरण से [3]अन्तरकरण हो जाने पर वहां आगे के उत्तरकाल में वेदनीय मिथ्यात्व के विरलीकरण से यानी मिथ्यात्वकर्मदलिकशून्यावस्थाकाल से उद्भूत होता है। इस सम्यक्त्व को प्रथमभावी औपशमिक सम्यक्त्व कहा जाता है, क्योंकि यह भस्मच्छन्न अग्नि के समान मिथ्यात्व तथा अनन्तानुबन्धी कर्मों के उपशम मात्र से सम्पादित होता है। कहा भी गया है कि–'उपशमश्रेणि में गये जीव को औपशमिक सम्यक्त्व होता है अथवा मिथ्यात्व का क्षय न किया हो और उसके तीन पुंज-तीन अवस्था (शुद्ध-अर्धशुद्ध-अशुद्ध) न की गयी हो उस दशा में पुरुष इस सम्यक्त्व का लाभ करता है।' यह सम्यक्त्व ही मोक्ष का प्रथम उपाय है। कहा भी गया है कि सद्दर्शन सम्यक्त्व, यम और प्रशम का प्राण है, ज्ञान और चारित्र का बीज है तथा तप, श्रुत आदि का कारण है।

[अपेक्षित कर्मस्थितिह्रास सर्वजीव में असम्भव]

तीसरी कारिका की व्याख्या में जो यह शङ्का की गई थी कि-'अपकृष्ट स्थिति वाले कर्म से यदि मोक्षोपाय के अनुकूल परिणाम प्राप्त करेगा-तो अभव्यजीवों को भी मोक्षोपाय की प्राप्ति सम्भव हो जाएगी' वह शंका उक्त रूप से मोक्षोपाय की प्राप्यता का प्रतिपादन कर देने से निर्मूल हो जाती है, क्योंकि [4]यथाप्रवृत्तकरण से अभव्य आदिजीवों में कर्म की अपकृष्टस्थिति का सम्पादन हो जाने

१. आन्तर्मुहूर्तिक एक मुहूर्त के अन्दर पूर्ण हो जाने वाला।
२. अनिवृत्तिकरण –पुन: उग्र रागद्वेष की दशा में न गिरे ऐसा अध्यवसाय।
३. अन्तरकरण—मिथ्यात्व की स्थिति को दो भाग में बांट कर बीच में मिथ्यात्व मोहनीयकर्म का एक भी कर्मदलिक न रहे ऐसी शून्यावकाश अवस्था।
४. यथाप्रवृत्तकरण-ग्रन्थिदेशप्रापक सामान्य अध्यवसाय।

यदप्युक्तम्–'अपि च, प्रथमं निर्गुणस्यैव सतो गुणाभावकेऽपि किं गुणापेक्षया ?' इति; तदपि न चतुरम्, पूर्वपूर्वगुणदलापेक्षयैवोत्तरोत्तरगुणोपचयसिद्धेः, उपादानोपचयं विनोपादेयानुपचयात्। अत एवोत्कृष्टस्थितेराग्रन्थिप्राप्ति पूजाभिलाषादिना [1]भवतामपि शुश्रूषादीनां न गुणत्वम्, पूर्वोत्तरभावेन गुणक्रमाननुप्रविष्टतया फल(ऽ)प्राप्तेः, विषयविषाभिलाषवैमुख्य-हेतुलोकोत्तरभावामृतास्वादरूपतथाक्षयोपशमवृद्ध्याख्ययोग्यतावैकल्यात्। सत्यां च तत्त्वचिन्तायां प्रादुर्भवतामेतेषां प्रतिगुणमनन्तपापपरमाण्वपगमेन तत्त्वज्ञानफलयोगात् तत्त्वतो गुणत्वम्, बाह्याकृतिसाम्येऽपि फलभेदादुक्तविशेषोपपत्तेः। इष्यते चैतदन्यैरपि; तदाहावधूताचार्यः– 'नाऽप्रत्ययानुग्रहमन्तरेण तत्त्वशुश्रूषादयः, उदकपयोऽमृतकल्पज्ञानाऽजनकत्वात्, लोकसिद्धास्तु शुभानुपाख्यानगोचरा इवान्यार्था एव' इति।

पर भी अपूर्वकरण आदि से अभव्य में कर्म की अपेक्षित अल्पस्थिति का सम्पादन नहीं होता और वास्तव में अपूर्वकरणादिकृत अल्पस्थिति ही मोक्षोपाय की प्राप्ति में सहायक होती है।

इसी सन्दर्भ में यह भी शङ्का की गई थी कि–'दर्शन आदि मोक्षोपाय को स्वभावजन्य मानने पर वह पुरुषप्रयत्न से साध्य न हो सकेगा अतः पूर्वपक्षी की ओर से अन्य दार्शनिकों के प्रति मोक्षोपाय के लिये पुरुष प्रयत्न के वैफल्यापत्तिरूप जिस दोष का उद्भावन किया जाता है उसका परिहार जैन के सिद्धान्त पक्ष में भी न हो सकेगा' किन्तु यह शङ्का भी निराधार है क्योंकि मोक्ष का उपायभूत दर्शन, पुरुष के अपूर्वकरण आदि प्रयत्न से साधित होता है। अतः मोक्ष और मोक्षोपाय में पुरुष प्रयत्न की असाध्यता नहीं है। प्रत्युत, जैसे मल्ल और प्रतिमल्ल में एक की शक्ति का ह्रास होने पर अन्य की शक्ति का उत्कर्ष होता है उसी प्रकार जीव और कर्म में एक की शक्ति का अपचय होने पर दूसरे की शक्ति का उपचय होना उचित ही है। दर्शन के उदय होने के पूर्व अचरमावर्तकाल में यद्यपि कर्म ही बलवान् होता है किन्तु चरमावर्तकाल में जीव का पराक्रम ही कर्मशक्ति की अपेक्षा प्रबल हो जाता है।

योगाचार्यों को भी यही मान्य है क्योंकि शास्त्र में प्रवृत्ति आदि शब्दों से, विशिष्ट आद्य करण आदि का ही श्रवण होता है, जैसा कि एक प्रामाणिक वचन इस तथ्य को स्पष्ट रूप से इस प्रकार प्रतिपादित करता है कि प्रवृत्ति, पराक्रम, जय, आनन्द और ऋतम्भर ये कर्मयोग के भेद हैं। यहाँ जैनदर्शन के अनुसार प्रवृत्ति का अर्थ है अन्तिम यथाप्रवृत्त करण रूपा शुद्धि। पराक्रम का अर्थ है अपूर्वकरण, जय का अर्थ है प्रतिबन्ध का अभिभव जिसका तात्पर्य है अनिवृत्तिकरण, आनन्द का अर्थ है सम्यग् दर्शन का लाभ और ऋतम्भर का अर्थ है सम्यग्दर्शनपूर्वक देवपूजन आदि कर्म, ये सब कर्मयोग के भेद हैं। कर्मयोग का अर्थ है क्रियात्मक योग, प्रवृत्ति आदि को योगमात्र न कह कर कर्म-योग कहकर यह सूचित किया गया है कि इच्छात्मक प्रणिधानरूप योग की यहाँ बात नहीं है किन्तु क्रिया योग की बात प्रस्तुत है।

1. भवतां = विद्यमानानाम्।

विषयतुच्छपक्षार्थैव विज्ञप्त्याख्यसम्यग्दर्शनरूपं ज्ञानम् नान्यत्, अभक्ष्याऽस्पर्शनीयन्यायेनाऽज्ञानत्वात्। तत्र विविदिषाख्या तत्त्वचिन्ता हेतुः, तत्र सुखाख्यः सानुबन्धः क्षयोपशमः, तत्र श्रद्धाख्या तत्त्वरुचिश्चशुश्रुषास्थानीया। तत्र चेहलोकादिभयप्रतिपक्षो धृत्याख्यश्चेतःस्वास्थ्यपरिणामः इति सम्यग्दर्शनगुणस्य श्रद्धादिगुणवत्तैवावाप्तेर्न मोक्षोपायस्य प्रथमं निर्गुणेनैव सताऽवाप्तत्वं सिद्धमस्ति। श्रद्धादौ धृत्यादेर्विशिष्य हेतुत्वेऽपि धृत्याद्यनुगतविशिष्टगुणत्वावच्छिन्नेऽपुनर्बन्धकयोग्यताया हेतुत्वाद् न व्यभिचारः। उक्तं च भगवद्गोपेन्द्रेणापि--'निवृत्ताधिकारायां प्रकृतौ धृतिः श्रद्धा सुखा विविदिषा विज्ञप्तिरिति तत्त्वधर्मयोनयः,

---

[पूर्वपूर्वगुणसम्पदा से उत्तरोत्तर गुणवृद्धि]

इस सन्दर्भ में ही यह भी शङ्का की गई थी कि-जब पहले निर्गुण को ही गुण की प्राप्ति होती है, तब बाद में भी गुणप्राप्ति के लिये पूर्व गुण की अपेक्षा क्यों की जाय?' किन्तु यह शङ्का भी समीचीन नहीं है क्योंकि पूर्व गुणों की अपेक्षा से ही उत्तर उत्तर गुणों की समृद्धि होती है, क्योंकि उपादान के उत्तरोत्तर उपचय के बिना उपादेय का उत्तरोत्तर उपचय नहीं होता। इसीलिये उत्कृष्टस्थिति से लेकर ग्रन्थि देश की प्राप्ति तक पूजाभिलाष आदि से होनेवाले शुश्रूषा आदि को गुण नहीं माना जाता, क्योंकि पूर्वोत्तरभाव के गुणक्रम से अनुप्रविष्ट न होने से उन से फल की प्राप्ति नहीं होती। उनसे फलप्राप्ति न होने का यह भी कारण है कि पूजाभिलाष आदि से शुश्रूषा आदि होने पर भी क्षयोपशमवृद्धि रूप फलोत्पादक योग्यता नहीं होती। इस योग्यता के न होने का कारण यह है कि विषय-विष की कामना को निवृत्त करने वाले लोकोत्तर भावरूप अमृत का आस्वाद पूजाभिलाषगर्भित शुश्रूषादि में नहीं होता। किन्तु जब तत्त्वचिन्ता-तत्त्वजिज्ञासा होने पर शुश्रूषा आदि होते हैं तब अनन्त पापपरमाणुओं की निवृत्ति होने से प्रतिगुण में तत्त्वज्ञानरूप फल का सम्बन्ध होता है, अत: तत्त्वचिन्तामूलक शुश्रूषा आदि तत्त्वत: गुणरूप होते हैं। यद्यपि पूजाभिलाष आदि से होनेवाले शुश्रूषा आदि तथा तत्त्वचिन्ता से होनेवाले शुश्रूषा आदि में बाह्याकार की दृष्टि से साम्य है तथापि फलभेद से उनमें अगुणरूपता एवं गुणरूपता मूलक भेद हो सकता है। यह बात अन्य विद्वानों को मान्य है। जिसे अवधूताचार्य ने यह कह कर सूचित किया है कि-तत्त्वभूत शुश्रूषा आदि अप्रत्ययानुग्रह के बिना नहीं होते क्योंकि वे जल, दुग्ध, और अमृत के समान शोधक, पोषक तथा अमरत्वसम्पादक ज्ञान के जनक नहीं होते। अप्रत्ययानुग्रह का अर्थ है अप्रत्यय का साहाय्य उस का योगलभ्य अर्थ है प्रत्ययत्व=कारणत्व का विरोधी ज्ञानावरणादिकर्मों में विद्यमान आवरणकारणता का विरोधी होने से अप्रत्यय का अर्थ है कर्मों का क्षयोपशम। उसके असन्निधान में तत्त्वशुश्रूषा आदि से तत्त्वज्ञान का उदय नहीं होता, इसीलिये ऐसी तत्त्वशुश्रूषा शास्त्रदृष्टि से गुणरूप नहीं होती, किन्तु लोक दृष्टि में यह भी तत्त्वशुश्रूषा तो है ही अतः यह तत्त्वज्ञान जनक गुणरूप न होने पर भी पूजा आदि अन्य प्रयोजन का साधक ठीक उसी प्रकार होती है जैसे सुप्तनृप के आख्यान की शुश्रूषा नृप को उसके ज्ञान के अभाव में नृपानुग्रहरूप फल का जनक न होने पर भी नृपजनों की प्रीति सम्पादन द्वारा सामान्यप्रयोजन का साधक होती है।

नानिवृत्ताधिकारायां, भवन्तीनामपि तद्रूपताऽयोगात्' इति । 'न च निश्चयत आद्यगुणावाप्तिरपि निर्गुणस्यैव, क्रियाकालनिष्ठाकालयोरैक्येन गुणाप्तिकाल एव गुणवत्त्वसिद्धेः, हेतु-फलयोः पूर्वापरभावस्याऽतन्त्रत्वात्, चरमक्षण एव फलोपहितहेतुत्वकल्पनात्, दीर्घक्रियाकालभ्रान्तेर्व्यवहारवासनानिमित्तत्वात्' इत्यपि वदन्ति ।

[प्रथम सम्यग्दर्शन भी निर्गुण को प्राप्त नहीं होता]

विषयतृष्णा का निवर्तक ही विज्ञप्ति नामक सम्यग्दर्शनरूप ज्ञान है और जिससे विषयतृष्णा निवृत्त न हो वह ज्ञान नहीं, अज्ञान है, यह ठीक उसी प्रकार है जैसे क्षुधा का निवर्त्तक ही भक्ष्य और क्षुधा अनिवर्त्तक अभक्ष्य एवं अशुद्धि का निवर्तक ही स्पर्शनीय और अशुद्धि का अनिवर्तक ही अस्पर्शनीय होता है । तत्त्वचिन्ता, जिसका दूसरा नाम है विविदिषा-तत्त्वजिज्ञासा, वही दर्शनरूप ज्ञान का कारण है । तत्त्वचिन्ता का कारण है सानुबन्धक्षयोपशम, जिसकी अध्यात्म शास्त्रीय अन्यसंज्ञा है सुख । क्षयोपशम का कारण है तत्त्वविषयक रुचि जिसे श्रद्धा कहा जाता है और जो चक्षु के निर्मलतादि गुण के जैसी होती है । तत्त्वरुचि का कारण है चित्त का स्वास्थ्यपरिणाम जिसे धृति कहा जाता है और जो ऐहलौकिक भय का विघटक है । इस प्रकार यह सिद्ध है कि सम्यग्दर्शनरूप गुण श्रद्धा आदि गुणों से युक्त पुरुष को ही प्राप्त होता है, अतः यह कहना असङ्गत है कि प्रथमतः निर्गुण को ही मोक्षोपाय की प्राप्ति होती है ।

'अपुनर्बन्धकभावरूप योग्यता श्रद्धा आदि विशेष गुण का कारण न होकर श्रद्धा आदि में अनुगतविशिष्टगुणत्व धर्म से अवच्छिन्न विशिष्टगुणसामान्य का कारण है अतः धृति आदि के अभाव में अपुनर्बन्धकयोग्यता से श्रद्धा आदि की उत्पत्ति न होने पर भी अन्वयव्यभिचार नहीं होता । धृति आदि के अभाव में अनुपर्बन्धकयोग्यता मात्र से विशिष्टगुणसामान्य की उत्पत्ति न होने से विशिष्टगुणसामान्य के प्रति भी उसकी कारणता में व्यभिचार नहीं हो सकता क्योंकि सामान्य कार्य की उत्पत्ति में विशेषकार्योत्पादक की अपेक्षा होने से श्रद्धा आदि विशेषकार्य के उत्पादक धृति आदि के अभाव में विशिष्टगुणसामान्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती, अतः अपुनर्बन्धक भाव को, श्रद्धा आदि गुणविशेष के प्रति कारण न मानने से और विशिष्टगुणसामान्य का गुणविशेषकारण की अपेक्षा से ही उत्पादक मानने से विशिष्टगुण के प्रति उसकी कारणता में व्यभिचार की प्रसक्ति नहीं हो सकती । भगवान्[2] गोपेन्द्र ने भी कहा है कि प्रकृति का अधिकार निवृत्त होने पर धृति, श्रद्धा, सुखा, विविदिषा और विज्ञप्ति तत्त्वधर्म के जनक होते हैं, किन्तु प्रकृति यदि निवृत्ताधिकार नहीं होती तो ये तत्त्वधर्म के जनक नहीं होते क्योंकि उस स्थिति में ये गुणरूप नहीं होते ।

यह भी ज्ञातव्य है कि आद्यगुण की प्राप्ति भी निर्गुण को ही नहीं होती क्योंकि क्रियाकाल और निष्ठाकाल अर्थात् गुणप्राप्ति का प्रारम्भ काल और गुणप्राप्ति की सिद्धता के काल में ऐक्य होने से गुणप्राप्ति काल में ही गुणवत्ता की सिद्धि हो जाती है, हेतु और फल का पूर्वोत्तरभाव हेतु से

१. अपुनर्बन्धकयोग्यता–उत्कृष्ट कर्मबंधजनक अध्यवसाय की सर्वथा निवृत्ति ।

२. गोपेन्द्र–एक सांख्य दार्शनिक ।

यदप्युपन्यस्तम्–'अपि च, सर्वमुक्तिसिद्धान्तो नास्ति जैनानाम्'–इत्यादि तदपि न मनोहरम् , अभव्यत्वरूपस्याऽयोग्यत्वस्य भव्या-ऽभव्यत्वशङ्कयैव निवृत्तेः, तस्यास्तद्व्याप्यत्वेन शास्त्रे बोधनात्; तदुक्तमाचारटीकायाम्–'अभव्यस्य भव्याऽभव्यत्वशङ्काया एवाभावात्' इति । एतेन "सिद्धौ वा संसार्येकस्वभावा एव केचिदात्मान इति स्थिते अहमेव यदि तथा स्यां तदा मम विपरीतप्रयोजनं परिव्राजकत्वं" इति शङ्कया न कश्चित् तदर्थं ब्रह्मचर्यादिदुःखमनुभवेत्" इत्युदयनोक्तं प्रत्युक्तम् । न च दीर्घतरसंसारस्थितिकत्वरूपाऽयोग्यत्वशङ्कयाऽपि प्रवृत्तिप्रतिरोधः, विषयसुखवैराग्य-यथाशक्तिप्रवृत्तिभ्यामेव तदभावव्याप्याऽऽसन्नसिद्धिकत्वनिश्चयात् , तयोरासन्नसिद्धिकत्वव्याप्यत्वेन शास्त्रे बोधात् तथा च श्रुतकेवलिवचनम्—

"आसन्नकालभवसिद्धिअस्स जीवस्स लक्खणं इणमो ।
विसयसुहेसु ण रज्जइ सव्वत्थामेण उज्जमइ ॥ १ ॥" [उप० माला–२८०]

फलोत्पत्ति का प्रयोजक नहीं होता क्योंकि अन्तिमक्षण में ही फलोपहित हेतु का अस्तित्व होता है । क्रियाकाल-किसी वस्तु को जन्म देनेवाली क्रिया-हेतु व्यापार का काल लम्बा होता है, यह बुद्धि भ्रमरूप है जो इस प्रकार के व्यवहार से उत्पन्नवासनारूप निमित्त से उत्पन्न होती है, सत्य यह है कि हेतु अपने अन्तिम क्रियाकाल में ही वस्तु का उत्पादक होता है अतः कार्योत्पादक क्रिया और कार्य जन्म में कालभेद नहीं होता ।

[भव्यत्व की शंका से योग्यता का निर्णय]

उक्त सन्दर्भ में ही जो यह शङ्का की गई है कि-'जैनों को सर्वमुक्ति का सिद्धान्त मान्य न होने से प्रतिव्यक्ति को अपनी मुक्ति में सन्देह होने के कारण मोक्षोपाय के अनुष्ठान में किसी मनुष्य की प्रवृत्ति न होगी'-यह शङ्का भी उचित नहीं है क्योंकि जिस व्यक्ति को अपने सम्बन्ध में भव्यत्व अभव्यत्व की शङ्का होगी, उसके भव्यत्वरूप योग्यता की सिद्धि इस शङ्का से ही सम्पन्न हो जायगी, क्योंकि शास्त्र में अभव्यत्व की शङ्का को भव्यत्व का व्याप्य कहा गया है । आचारांग की टीका में कहा भी गया है कि अभव्य को 'मैं भव्य हूँ या अभव्य' ऐसी शङ्का ही नहीं होती । कुछ जीव एकमात्र संसारिस्वभाव ही होते हैं इस जैन सिद्धान्त के विरोध में उदयनाचार्य ने जो यह कहा है कि-'इस सिद्धान्त को मानने पर संन्यासग्रहण के लिये उत्सुक व्यक्ति को भी यह शङ्का हो सकती है कि कदाचित् मैं भी वही हूँ जिसका सदा संसारी रहना ही स्वभाव है, अतः संन्यासग्रहण से मेरा जीवन सुखी होने की अपेक्षा दुःखमय ही हो सकता है, फलतः ब्रह्मचर्य आदि का क्लेश स्वीकार करने में किसी की भी प्रवृत्ति न हो सकेगी ।'-किन्तु उक्त युक्ति से यह कथन भी निरस्त हो जाता है क्योंकि सदा संसारी रहना ही जिसका स्वभाव है उसे उक्त प्रकार की शङ्का ही नहीं हो सकती, वह तो सर्वदा संसार में ही आसक्त रहता है, उसे ऐसी शङ्का के लिये अवकाश ही कहाँ है ! ?

---

१. आसन्नकालभवसिद्धिकस्य जीवस्य लक्षणमिदं तु । विषयसुखेषु न रज्यति सर्वस्थाम्ना उद्यच्छते ॥ १ ॥

न च तथाप्रवृत्तौ तच्छङ्कानिवृत्तिः, तस्यां च संपन्नायां प्रतिबन्धकाभावसाम्राज्यात् तथा प्रवृत्तिरित्यन्योन्याश्रय इति शङ्कनीयम्, पूर्वप्रवृत्तेः कोटिस्मरणादिसिद्धसंशयाभावादेवोपपत्तेः, प्रवृत्तेरिव प्रवर्तमानजातीयत्वस्याप्यासन्नसिद्धिकत्वव्याप्यत्वाद् वा।

वस्तुतः शमादिलिङ्गैरपुनर्बन्धकत्वरूपयोग्यतानिश्चयाद् न दोषः, अपुनर्बन्धकतानियतभवव्यवधानज्ञानस्याऽप्रतिबंधकत्वात्, तद्भवस्थितिहेतुदुरितानां सत्प्रवृत्तिनाश्यत्वेन प्रत्युत नाशार्थिप्रवृत्तौ नाश्यनिश्चयीभूयानुगुणत्वात् अनतिशयितशमादिना प्रवृत्त्युत्तरमतिशयितशमादिसंपत्तेश्च नान्योन्याश्रयः। यत्तु 'शमादावपि संसारित्वेनैव स्वरूपयोग्यत्वाद् मुक्तावपि संसारित्वेन तत्त्वम्' इति शङ्कनेशाकुलम्, तद् न पूतम्, नित्यज्ञानादिमद्भिन्नत्वरूपसंसारित्वापेक्षया भव्यत्वस्यैव लघुभूतस्य तदौचित्यात्, सर्वमुक्तिनिरासाच्च।

'हमारी संसारस्थिति सम्भवतः अभी अत्यधिक दीर्घकाल तक रहने वाली है', मोक्षाऽयोग्यत्व की ऐसी शङ्का से भी मोक्षोपाय के अनुष्ठान में प्रवृत्ति का प्रतिरोध नहीं हो सकता, क्योंकि विषयसुख के प्रति वैराग्य और यथाशक्ति प्रवृत्ति से सिद्धि की निकटता का निश्चय हो जाता है। सिद्धि की निकटता उक्त अयोग्यता के अभाव का व्याप्य है अतः सिद्धि की निकटता का निश्चय होने पर उक्त अयोग्यता के अभाव का निश्चय हो जाने से उक्त अयोग्यता की शङ्का ही नहीं हो सकती। विषय-वैराग्य और यथाशक्ति प्रवृत्ति से सिद्धि की निकटता का निश्चय निर्विकल्प से सम्पन्न हो सकता है, क्योंकि शास्त्र में उक्त दोनों को सिद्धि पद की निकटता का व्याप्य कहा गया है। इस बात में 'श्रुतकेवली का यह वचन साक्षी है कि 'जिस पुरुष को सिद्धि निकटकाल में होने वाली होती है उसका लक्षण यह होता है कि वह विषयसुख में आसक्त नहीं होता और अपनी शक्ति के अनुसार वह उद्यम किये बिना नहीं रहता। विषयवैराग्य व तदनुरूप प्रवृत्ति इन दोनों से सिद्धि की योग्यता निश्चित हो जाती है।

यदि यह शङ्का की जाय कि—'शुभ कर्मों में यथाशक्ति प्रवृत्ति होने पर अयोग्यत्व शङ्का की निवृत्ति होगी और अयोग्यत्व शङ्का की निवृत्ति होने पर प्रतिबन्धकाभाव के सन्निधान से यथाशक्ति प्रवृत्ति होगी अतः उक्त समाधान अन्योन्याश्रय दोष से ग्रस्त है।'—तो यह शङ्का उचित नहीं है क्योंकि उक्त अयोग्यता और उसका अभाव इस कोटिद्वय के स्मरणरूप कारण के अभाव आदि से अयोग्यत्व संशय की उत्पत्ति न होने से संशय के पूर्व प्रवृत्ति के होने में कोई बाधा नहीं हो सकती। अथवा यह भी कहा जा सकता है कि जैसे प्रवृत्ति आसन्नसिद्धिकत्व का व्याप्य है उसीप्रकार प्रवर्तमानजातीयत्व भी आसन्नसिद्धिकत्व का व्याप्य है, अतः प्रवृत्ति न होने पर भी प्रवर्तमान अन्य पुरुष के सादृश्य निश्चय से अयोग्यत्व शङ्का की निवृत्ति होकर शुभकर्म में अपनी प्रवृत्ति हो सकती है। इस समाधान में अन्योन्याश्रय की सम्भावना न होने से यह समाधान निःशंक ग्राह्य है।

[भवस्थितिकारक दुरित का ज्ञान उसके नाश में सहायक]

सत्य तो यह है कि जिस पुरुष में शम आदि का प्रादुर्भाव होता है उसमें शम आदि सम्यक्त्व

१. श्रुतकेवली—श्री धर्मदासगणिमहाराज।

किञ्च, सर्वमुक्तिसत्त्वेऽपि परस्य कथं पारिव्रज्यादौ प्रवृत्तिः, स्वप्रयत्नं विनैव महाप्रलये भर्गप्रयत्नात् तदुपपत्तिसंभवात् ? ! शीघ्रमुक्त्यर्थं तत्प्रवृत्तौ चाऽऽक्षेपेणापि परैस्तत्स्वरूपयोग्यतावच्छेदकं किञ्चिद् वक्तव्यम्, तदेव चास्माकमपुनर्बन्धकत्वम् । अथात्मत्वेनैव मुक्तौ स्वरूपयोग्यता, ईश्वरे विशेषसामग्र्यभावाच्च नातिप्रसङ्गः, शीघ्रं मुक्तिहेतूपनिपाताच्च शीघ्रमुक्तिरिति शीघ्रमुक्तित्वस्यार्थसिद्धत्वाद् न तत्स्वरूपयोग्यतावच्छेदकं किञ्चित् कल्पनीयमिति न दोष इति चेत् ? न, उपादानस्वभावाऽविशेषेऽर्थसिद्धस्याप्युपादेयविशेषस्यानुपपत्तेः, अतिप्रसङ्गात्, 'कस्यचित् कदाचिदेव पारिव्रज्यादौ प्रवृत्तिः' इति नियमस्य हेतुविशेषं विनाऽनिर्वाहात्; 'अदृष्टविशेषस्तद्धेतुः' इत्युपगमेऽपि नामान्तरेणाऽपुनर्बन्धकत्वाङ्गीकारादिति सर्वमवदातम् ॥ ७ ॥

के लक्षण एवं अपुनर्बन्धकत्व के लिङ्गों से अपुनर्बन्धकत्वरूपयोग्यता का निश्चय हो जाता है अतः मोक्षोपाय के अनुष्ठान में प्रवृत्ति की अनुपपत्तिरूप दोष नहीं हो सकता। अगर कहें 'अनुपर्बन्धकता से नियत भवव्यवधान का ज्ञान होगा और वह प्रवृत्ति में प्रतिबन्धक होगा' तो यह ठीक नहीं, क्योंकि मोक्षोपाय के अनुष्ठान की प्रवृत्ति का वह प्रतिबन्धक नहीं होता, प्रत्युत उक्त भवस्थिति के हेतुभूत पापकर्म सत्प्रवृत्ति से नाश्य होने के कारण नाश्य निश्चयों के विषय रूप होने से नाशार्थी की प्रवृत्ति के अनुकूल होता है। कहने का आशय यह है कि जिस पुरुष में उत्कृष्ट स्थिति का पुनर्बन्ध न करने की योग्यता होती है उसकी भवस्थिति जिन दुरितों से तदवस्थ रह सकती है वे दुरित उस पुरुष की सत्प्रवृत्ति से नाश्य होते हैं, अतः उनके नाश के लिये पुरुष की जो प्रवृत्ति अपेक्षित है उसमें उन दुरितों का निश्चय अनुकूल है, क्योंकि नाश्य का निश्चय नाशार्थ प्रवृत्ति का कारण होता है। अतः उक्त योग्यतासम्पन्न पुरुष को यदि यह ज्ञान हो कि वह भवस्थिति के हेतुभूत दुरितों से भरा हुआ है तो यह ज्ञान उसकी मोक्षफल प्रवृत्ति में प्रतिबन्धक नहीं, अपितु साधक ही है। दूसरी बात यह है कि मोक्षोपायानुष्ठान में प्रवृत्ति होने के पूर्व अतिशययुक्त शम आदि का अस्तित्व नहीं होता किन्तु अतिशय शून्य सामान्य शम आदि का अस्तित्व होता ही है। अतः उससे मोक्ष के उपाय जो अतिशययुक्त शम आदि, उनकी सिद्धि के लिये प्रवृत्ति हो सकती है और उस प्रवृत्ति के बाद अतिशययुक्त मोक्षोपयोगी शम आदि का सम्पादन हो सकता है। अतः सामान्य शम आदि और उससे साध्य प्रवृत्ति में परस्परापेक्षा न होने से अन्योन्याश्रयदोष नहीं हो सकता।

इस सन्दर्भ में गङ्गेशोपाध्याय का कहना है कि-'जीव संसारी होने से ही शम आदि के स्वरूपयोग्य होता है। संसारी होने से ही उसे मोक्ष के लिये भी स्वरूपयोग्य मानना उचित है। इसलिये यह जैनमत समीचीन नहीं हो सकता कि संसारी सभी जीव मुक्ति के योग्य नहीं होते।'-किन्तु व्याख्याकार कहते हैं कि यह संगत नहीं है क्योंकि नित्यज्ञानादिमद्भिन्नत्वात्मक संसारित्वरूप से जीव को मोक्ष के लिये स्वरूपयोग्य मानने की अपेक्षा लघुभूत भव्यत्व जाति से मोक्ष के लिये स्वरूपयोग्य मानने में लाघव है। दूसरी बात यह है कि सर्वमुक्ति का युक्तिपूर्वक निरास कर दिया गया है अतः सर्वजीवसाधारणसंसारित्वरूप से मोक्षस्वरूपयोग्यता का अभ्युपगम संगत नहीं हो सकता।

[सर्वजीवों को मुक्तियोग्य मानने में आपत्ति]

दूसरा दोष यह है कि यदि समस्त जीवों की मुक्ति मानी जायगी तो संन्यास आदि में प्रवृत्ति

दर्शनाताशी यत् स्यात् तदाह–

मूलम्—सति चास्मिन्नसौ धन्यः सम्यग्दर्शनसंयुतः ।
तत्त्वश्रद्धानपूतात्मा रमते न भवोदधौ ॥ ८ ॥

सति चास्मिन्=दर्शने, **असौ**=तथाभव्यत्वभाजनं जनः, **धन्यः** लब्धचिन्तामणिदरिद्रवद् निष्ठितार्थत्वात् , **सम्यग्दर्शनसंयुतः**=फलपर्यन्तहेयोपादेयविवेकवान्; प्रतिज्ञातप्रवृत्त्यनिर्वहणे हि न सम्यक्त्वमिति समयविदः । **तत्त्वश्रद्धानेन**=श्रवणेच्छारूपसु[1]श्रूषोत्तरश्रोत्रोपयोगरूप-[2]श्रवणोत्तरशास्त्रार्थमात्रोपादानरूप[3]ग्रहणोत्तराऽविस्मरण[4]रूपधारणोत्तरमोह-संदेह-विपर्ययव्युदास-

अनावश्यक हो जायगी क्योंकि महाप्रलय में जीवप्रयत्न के बिना शिवप्रयत्न से ही सब की मुक्ति हो जायगी । यदि यह कहा जाय कि 'शीघ्रमुक्ति के लिये मोक्षोपाय को प्राप्त करने की प्रवृत्ति आवश्यक है अतः संन्यास आदि में शीघ्रमुक्तिकामी की प्रवृत्ति में कोई बाधा नहीं हो सकती'–तो उपादान में शीघ्रमुक्ति की स्वरूपयोग्यता का कोई नियामक पूर्वपक्षी को अनिच्छयापि स्वीकार करना आवश्यक होगा । फिर ऐसा जो नियामक माना जायगा वही सिद्धान्ती का अभिमत अपुनर्बन्धकत्व होगा । यदि यह कहा जाय कि–'मुक्ति की स्वरूपयोग्यता आत्मत्वरूप से ही होती है । ईश्वर में आत्मरूप से मुक्ति की स्वरूपयोग्यता होने पर भी मुक्ति के विशेषकारणों के अभाव से उसमें मुक्ति का अतिप्रसङ्ग नहीं हो सकता । शीघ्रमुक्ति की स्वरूपयोग्यता के (आत्मत्व से अन्य) किसी नियामक की कल्पना भी आवश्यक नहीं है क्योंकि मुक्तिहेतु के शीघ्र सन्निधान होने पर शीघ्रमुक्ति अर्थतः सिद्ध हो सकती है, उसके लिये किसी अतिरिक्त हेतु की कल्पना निष्प्रयोजन है, अतः अपुनर्बन्धकत्व का अभ्युपगम न करने पर भी कोई दोष नहीं है ।' किन्तु यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि उपादान में स्वभावविशेष माने बिना अर्थवश भी उपादेयविशेष की सिद्धि नहीं होती, अन्यथा सूती तन्तुओं से रेशमी वस्त्र आदि की उत्पत्ति का अतिप्रसङ्ग हो सकता है । किसी व्यक्ति की किसी समयविशेष में ही संन्यास आदि में प्रवृत्ति होती है, इस नियम का निर्वाह भी बिना हेतुविशेष के नहीं हो सकता । अदृष्टविशेष को उसका हेतु मानने पर नामान्तर से अपुनर्बन्धकत्व ही स्वीकृत हो जाता है, अतः स्पष्ट है कि अनादि भव्यत्व वश ही मुक्ति के साधनों को प्राप्त करने में जीव प्रवृत्त होता है ।

[सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के उत्तरोत्तर परिणाम]

८वीं कारिका में दर्शन का फल बताया गया है । कारिका का अर्थ इस प्रकार है, दर्शन प्राप्त कर तथाभव्यत्वस्वभावयुक्तजीव, चिन्तामणि पाने वाले दरिद्र के समान कृतार्थ बनकर धन्य हो जाता है, सम्यग् दर्शन से सम्पन्न हो जाता है, अर्थात् फलोदय होने तक उससे हेय तथा उपादेय का विवेक बना रहता है । समय के वेत्ता=जैन सिद्धान्त के अभिज्ञों का कहना है कि प्रतिज्ञात प्रवृत्ति-हेयहान–उपादेयोपादान का निर्वाह न करने पर सम्यक्त्व नहीं होता । अतः यह माना जाता है कि दर्शन का उदय होने पर मोक्षलाभ पर्यन्त हेय-उपादेय का विवेक विद्यमान रहने पर उसका सम्यक्त्व बना रहता है । सम्यग् दर्शन से युक्त जीव को तत्त्वश्रद्धान का लाभ होता है । तत्त्वश्रद्धान का अर्थ है तत्त्व-विषयक अभिनिवेश–'यह वस्तु ऐसी ही है' ऐसा निश्चय ।

प्रधानज्ञानरूप[४] विज्ञानोत्तरविज्ञातार्थावलम्बनतथाविधवितर्करूपो[५] होत्तरप्रत्यवायसंभावनानिमित्तो-क्तयुक्तिविरुद्धार्थव्यावर्तनात्मका[६] पोहोत्तरेण विज्ञानोहा-ऽपोहानुगमविशुद्धेन 'इदमित्थमेव' इति निश्चयरूपेण [७]तत्त्वाभिनिवेशेन; 'समारोपविघातकृता चित्तकालुष्यापनायिना मिथ्यात्व-मोहनीयादिक्षयोपशमजनितेन चेतःप्रसादेन' वा; पूतात्मा=पवित्राशयः, भवोदधौ=मिथ्या-त्वागाधजले कषायपातालकलशसंक्रान्तबहुलविपाकानिलवेगसमुच्छलत्कटुकफलपरिणतिकल्लोले प्रदीप्तविषयतृष्णारूपवडवानलभीषणे नानाविधाऽविरतिरूपतिमि-तिमिङ्गिलग्रस्तक्षुद्रगुणमीने सानु-बन्धपापकर्मरूपमहानद्यावर्तभग्नभव्यधर्मयानपात्रे दुःखशतगिरिग्रावपाते क्रन्ददनेकसत्त्वनक्रचक्रे संसारसमुद्रे न रमते, तत्त्वदर्शित्वेन भवाऽबहुमानित्वात् । प्रागर्जितकर्मोपनीते सुख-दुःखे भुञ्जानस्यापि विषयतद्रूपरुच्यभावेन परमार्थतस्तदभोजित्वात् । उक्तं च समयसारकृताऽपि "[१]सेवंतो वि ण सेवइ, असेवमाणो वि सेवए कोइ" इति । लौकिकैरप्युक्तम्—"आहृता हि विषयैकतानता ज्ञानधौतमनसं न लिम्पति" इति ॥ ८ ॥

[सुश्रूषा आदि क्रम से तत्त्वश्रद्धान का उदय]

यह निश्चय, विज्ञान–ऊह और अपोह का अनुगामी होने से विशुद्ध होता है, यानी अप्रामाण्य-ज्ञान से अनभिभूत होता है । इसके उदय का क्रम इस प्रकार है–सर्वप्रथम भव्यजीव को तत्त्व की शुश्रूषा तत्त्व को सुनने की इच्छा होती है । उसके बाद श्रवणेन्द्रियद्वारा श्रोत्रोपयोग-तत्त्व का श्रवण होता है । श्रवण के अनन्तर शास्त्रप्रतिपाद्य तत्त्व का अवबोधरूप तत्त्वग्रहण उत्पन्न होता है । तत्त्व-ग्रहण के बाद तत्त्वधारणा-तत्त्व का अविस्मरण होता है । उसके पश्चात् तत्त्वविज्ञान की उत्पत्ति होती है । तत्त्वविज्ञान उस तत्त्वज्ञान का नाम है जिससे तत्त्व के विषय में मोह, सन्देह और भ्रम का निरा-करण हो जाता है । तत्त्वविज्ञान के बाद ऊह होता है, ऊह का अर्थ है विज्ञात अर्थ के विषय में—'विज्ञात वस्तु को ऐसा मानना या अन्यथा मानना–क्या सम्भव हो सकता है' इसप्रकार के विमर्शरूप वितर्क । ऊह के अनन्तर अपोह होता है । यह अपोह, तत्त्व के पक्ष में प्रस्तुत की गई युक्तियों से विरुद्ध अत एव प्रत्यवाय की सम्भावना के निमित्तभूत अर्थ का व्यावर्त्तन-निराकरण करता है । जब विज्ञान, ऊह और अपोह ठीक ठीक सम्पन्न हो जाते हैं तब उनके अनन्तर 'यह ऐसा ही है' इस प्रकार के दृढनिश्चयरूप तत्त्वाभिनिवेश यानी पारमार्थिक उक्त तत्त्वश्रद्धान का जन्म होता है । तत्त्वश्रद्धान का एक दूसरा भी अर्थ है चित्त का प्रसाद-चित्त का नैर्मल्य, यह मिथ्यात्वमोहनीय आदि कर्मों के क्षयोपशम से उत्पन्न होता है, जो तत्त्वविषय में प्रतिवादियों द्वारा उपस्थापित आरोपों का विघात करता है तथा चित्त के कालुष्य-मालिन्य को दूर करता है । ऐसे तत्त्वश्रद्धान से जीव की आत्मा पवित्र हो जाती है, अतः वह संसार सागर में नहीं रमता, आसक्त नहीं होता है ।

[संसार एक भीषण समुद्र]

व्याख्याकार ने संसार की सागररूपता का बड़ा सुन्दर प्रतिपादन किया है । सचमुच ही

१. सेवमानोऽपि न सेवते, असेवमानोऽपि सेवते कश्चित् ।

मूलम्—स पश्यत्यस्य यद्रूपं भावतो बुद्धिचक्षुषा ।
सम्यक्शास्त्रानुसारेण रूपं नष्टाक्षिरोगवत् ॥ ९ ॥

सः—सम्यग्दृष्टिः, अस्य=भवोदधेः, यद्रूपं=वर्णितस्वरूपं विषयतृट्तिमिरदोषादज्ञानिनाऽदृश्यमानम्, शङ्खश्वैत्यमिव कामलोपहतदृशा, पश्यति, तत्त्वतो यथावस्थितस्वरूपेण । केन ? इत्याह-सम्यक्शास्त्रानुसारेण-सम्यगर्थविषयकवीतरागप्रवचनैकदत्तदृष्टितया, बुद्धिरेव=मतिज्ञानावरणीयक्षयोपशमप्रसूतः सद्ग्रन्थग्रहणपटुमेधाख्यपरिणाम एव चक्षुरनुपहतलोचनं तेन । पापश्रुतावज्ञाकारिणी खलु सम्यक्शास्त्रानुसारिणी बुद्धिः, प्रेक्षावदातुरस्योत्तमौषध इव तद्वतः सद्ग्रन्थ एव ग्रहणादरात् । तेन पापश्रुतजनितकुवासनानिद्रया व्यवधानाभावाद् मोहदोषोपहतेश्च पश्यति निरन्तरमेवैतद्वास्तात्त्विकं संसाररूपम् । दृष्टान्तमाह—रूपं—शङ्खश्वैत्यादिकम् नष्टाक्षिरोगवत्=गलितनयनगतपित्तादिदोषवत् । रोगनाशश्च रोगान्तरप्रतिरोधस्योपलक्षणम्, इत्थमेव निरन्तरं रूपसम्यग्दर्शनसिद्धेः । स्यादेतदेकस्यैव बुद्धिगुणस्य कथं पूर्वदोषनाशकत्वम्, उत्तरदोषप्रतिबन्धकत्वं च ? । मैवम्, सामर्थ्यविशेषादुपपत्तेः; दृष्टं ह्येकस्यैवोष्णस्पर्शस्य पूर्वशीतस्पर्शनाशकत्वम् भाविशीतस्पर्शोत्पत्तिप्रतिबन्धकत्वं चेति ॥ ९ ॥

यह संसार एक समुद्र है इसमें मिथ्यात्व का अथाह जल भरा है । कर्म के कटु फलपरिणाम की लहरें कषायरूपी पातालकलश में से सङ्क्रान्त होनेवाले प्रभूतकर्मविपाकरूपी प्रबल वायु के वेग से इसमें निरन्तर उच्छलित होती रहती है । विषयतृष्णारूप प्रचण्डवडवानल ने इसे अत्यन्त भीषण बना रखा है। अनेकविध अविरतिरूप तिमि-तिमिङ्गल आदि महामत्स्य इसमें जीव के गुणरूपी क्षुद्रमत्स्यों को सदा कवलित करते रहते हैं । सानुबन्ध पापकर्मरूपी महानदी के आवर्त्तों से भव्यधर्म का यान इसमें सर्वत्र मग्न होता रहता है । दुःख के सैंकड़ों पर्वतीय पाषाणखण्डों के पतन से अनेकजीवसमूह इसमें अनवरत क्रन्दन करते रहते हैं । सम्यग् दर्शन से सम्पन्नजन तत्त्वदर्शी होने के कारण इसे भयावह मानकर इसमें आनन्दित नहीं होता, पूर्वार्जित कर्मों द्वारा उपस्थापित सुख दुःख का भोग यद्यपि वह करता है तथापि विषयतृष्णारूप रुचि न होने से वास्तवदृष्टि से वह उन का भोग नहीं करता ।

'समयसार' के रचयिता कुन्दकुदाचार्य ने भी इस कथन को यह कह कर प्रमाणित किया है कि-'बाह्यदृष्टि से विषयों के सेवन में लगा हुआ भी मनुष्य विषयासक्ति न होने से वास्तव दृष्टि से विषयों का सेवन नहीं करता और कोई बाह्यदृष्टि से विषयों के सेवन से बहिर्मुख रहकर भी चित्त के विषयी होने से वास्तव दृष्टि से विषयों का सेवन करता है ।' लौकिक पुरुषों ने भी कहा है कि जिस पुरुष का मन ज्ञान से निर्मल हो जाता है उसमें कदाचित् एकतानता हो भी जाय तो भी उससे उसका मन मलिन नहीं होता ।।८।।

[सम्यग्दृष्टि को भवस्वरूप का यथार्थ दर्शन]

९वीं कारिका में उस तत्त्वदर्शन का वर्णन है जिसके कारण सम्यग् दर्शन से सम्पन्न पुरुष

ततो यत्करोति तदाह–

मूलम्—तद् दृष्ट्वा चिन्तयत्येवं प्रशान्तेनान्तरात्मना ।
भावगर्भं यथाभावं परं संवेगमाश्रितः ॥१०॥

तत्=भवोदधिरूपम् दृष्ट्वा चिन्तयति, एवं=वक्ष्यमाणम्, प्रशान्तेन=क्रोधाद्यनाकुलेन अन्तरात्मना, भावगर्भम्=भावनाभिमुखोपयोगसारम्, यथाभावम्=यथार्थतत्त्वम्, परम्=

संसार में आसक्त नहीं होता। कारिका का अर्थ इस प्रकार है संसार समुद्र का वर्णित स्वरूप जिसे विषय तृष्णारूप तिमिरदोष से ग्रस्त अज्ञानी मनुष्य ठीक उसी प्रकार देख नहीं सकता जैसे कामला रोग से ग्रस्त चक्षुवाला मनुष्य शङ्ख के श्वेत्य को नहीं देख पाता, किन्तु सम्यग्दर्शन से युक्त पुरुष उसे उसके वास्तवरूप में देखता है क्योंकि उसे परमार्थ के उपदेष्टा वीतरागी भगवान के प्रवचनरूप सम्यक् शास्त्र से एक विलक्षण दृष्टि प्राप्त होती है, वह दृष्टि है एक विशिष्ट बुद्धि जो मतिज्ञानावरणीय के क्षयोपशम से उत्पन्न एक विशेषपरिणाम है जिसे मेधा कहा जाता है। सद्ग्रन्थों के ग्रहण में पटु यह मेधा ही संसारसागर के उक्तरूप को देखनेवाला निष्प्रतिबन्ध नेत्र है। इस बुद्धि नेत्र से ही सम्यग् द्रष्टा पुरुष संसार के उक्तरूप को देखता है। पापश्रुत यानी संसारभावपोषक असर्वज्ञ कथित शास्त्र की अवज्ञा और भगवान 'जिन' सर्वज्ञ के सम्यक् शास्त्र का अनुसरण करनेवाली यह बुद्धि जिसे प्राप्त होती है, वह जैसे प्रेक्षावान् रोगी उत्तम औषध को ही ग्रहण करता है उसी प्रकार आदरपूर्वक सद्ग्रन्थ को ही ग्रहण करता है।

नेत्र के पित्तादिदोष का नाश एवं रोगान्तर की उत्पत्ति का प्रतिबन्ध रहने पर जैसे निर्दोष नेत्र वाला व्यक्ति शङ्ख में श्वेतरूप को ही देखता है–[रोगान्तर उत्पत्ति का अवरोध बना रहे तभी रूप का वास्तव दर्शन सिद्ध हो सकता है, अन्यथा नहीं।] वैसे ही पापश्रुतसे उत्पन्न कुवासना की निद्रा का व्यवधान न होने पर तथा मोहदोष का नाश हो तभी उत्तमबुद्धिनेत्र से सम्पन्न पुरुष संसार के तात्त्विक स्वरूप को सदा ही देखता है।

कहने का आशय यह है कि जैसे शङ्खगत रूप के श्वेतत्वस्वरूप का यथार्थ दर्शन तभी होता है जब नेत्र का पित्तदोष नष्ट हो जाता है तथा उसी जैसा कोई नया रोग नहीं उत्पन्न होता, उसी प्रकार संसार के उक्तरूप की वास्तविकता का सम्यग्दर्शन तभी होता है जब सम्यग्द्रष्टा पुरुष का बुद्धिगत मोह जैनशास्त्र के अध्ययन से दूर हो जाता है और जैनेतर शास्त्रों की कुवासना नहीं होती, अत: संसार की वास्तविकता को समझने के लिये जैनशास्त्र का श्रद्धापूर्वक अध्ययन और पापश्रुतों का खण्डन दोनों अपेक्षित हैं।

यदि यह शङ्का की जाय कि–'एक ही बुद्धि गुण पूर्वदोष नाशक और उत्तरदोष का प्रतिबन्धक दोनों कैसे हो सकता है'–तो यह शङ्का उचित नहीं है क्योंकि सामर्थ्यविशेष से दोनों ही बातें उपपन्न हो सकती हैं। यह कोई अपूर्व बात नहीं है क्योंकि एक ही उष्णस्पर्श से पूर्वशीतस्पर्श का नाश और भावी शीतस्पर्श की उत्पत्ति का प्रतिबन्ध देखा जाता है ॥ ९ ॥

[संवेगगर्भित आत्मविचारणा]

भवसमुद्र के पूर्वोक्तस्वरूप को देखकर परमसंवेगारूढ सम्यग्दृष्टा अन्तरात्मा से क्रोधादिविकार रहित होकर भावनालक्षी उपयोग से गर्भित यथार्थतत्त्व का निम्नोक्तरीति से चिन्तन करता है-

उत्कृष्टं संवेगमाश्रितः । भवति हि शुष्केक्षुचर्वणप्रायादध्यात्मशास्त्रश्रवणात् तद्रसतुल्यमर्थ-ग्रहणम् , प्रीणयति चान्तरात्मानं तत् । ततश्च गुड-खण्ड-शर्करोपममृदुमध्याधिमात्रसंवेगोत्पत्तिः सत्क्रियाऽऽदरादिलिङ्गा । संवेगमहोदधेर्निस्यन्दभूतं च वक्ष्यमाणचिन्तनमिति विभावनीयम् ॥१०॥

यच्चिन्तयति तदाह—

मूलम्—जन्ममृत्युजराव्याधि-रोगशोकाद्युपद्रुतः ।
क्लेशाय केवलं पुंसामहो ! भीमो भवोदधिः ॥ ११ ॥

जन्म=मातृशरीरे संक्रमणम् **मृत्युः**=आयुःक्षयः, **जरा**=वयोहानिः, **व्याधिः**=क्षयादिः **रोगः**=ज्वरादिः, **शोकः**=इष्टवियोगादिजन्य आक्रन्दाद्यभिव्यङ्ग्यः परिणामः, आदिना वध-बन्धादिपरिग्रहः, एतैरुपद्रुतः, तत्स्थानामुपद्रुतत्वेऽपि तत्रोपद्रुतत्वमुपचर्यते, गिरिगततृणादीनां दाहेनेव गिरौ दग्धत्वम् , 'अहो' इत्यपूर्वदर्शनजनिताश्चर्यार्थो निपातः **भीमः**=अतिभयावहः, **भवोदधिः**=संसारसमुद्रः, **पुंसां**=पुरुषाणाम् , सकलप्राण्युपलक्षणमेतत् , **क्लेशाय**=आत्यन्तिकदुःखाय, न तु सुखलेशायापि ।

[संवेगगर्भित आत्मविचारणा]

भवसमुद्र के पूर्वोक्तस्वरूप को देखकर परमसंवेगारूढ सम्यग्दृष्टा, अन्तरात्मा से क्रोधादिवि-कार रहित होकर भावनालक्षी उपयोग से गर्भित यथार्थतत्त्व का निम्नोक्तरीति से चिन्तन करता है । अध्यात्मशास्त्र का श्रवण सूखी ईख के चर्वण के समान है, उसका अर्थग्रहण ईख के रसग्रहण के समान अन्तरात्माका तर्पक होता है । ईख के रससे जैसे गुड, खांड और शक्कर की उत्पत्ति होती है वैसे ही अध्यात्मशास्त्र के अर्थज्ञान से मृदु, मध्य, अधिमात्र संवेग की उत्पत्ति होती है जो शुभकर्मों के समादर से अवगत होती है । निम्नोक्त चिन्तन संवेगसमुद्र का निस्यन्द है, उसका एक मधुर प्रवाह है ॥१०॥ चिन्तन को ही दिखलाते हैं—

सम्यग्दर्शन प्राप्त पुरुष इसप्रकार चिन्तन करता है कि संसारसमुद्र अति भयङ्कर है, जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि, रोग, शोक, वध, बन्ध आदि उपद्रवों से भरा है । यद्यपि ये सारे उपद्रव संसारस्थ जीवों के हैं तथापि इनका औपचारिक वर्णन संसार में भी होता है । यह वर्णन ठीक उसीप्रकार का है जैसे पर्वतवर्त्ती तृण आदि के दाह से पर्वत की दग्धता का वर्णन होता है । इन उपद्रवों में जन्म का अर्थ है माता के शरीर में भावी सन्तान के रूप से जीव का प्रवेश । मृत्यु का अर्थ है जीव के आयु का क्षय । जरा का अर्थ है वय (जीवनकाल) का ह्रास । व्याधि का अर्थ है क्षय आदि, रोग का अर्थ है ज्वर आदि, शोक का अर्थ है इष्टवियोग आदि से होनेवाला चित्तपरिणाम जो इष्टवियुक्तजीव के रुदन आदि से व्यक्त होता है । वधका अर्थ है अस्त्रादि के प्रयोग से प्राणहानि । बन्ध का अर्थ है लौह-शृङ्खला आदि से बांधा जाना । खेद है कि इन उपद्रवों से भरा यह भीषण संसार सम्पूर्ण प्राणियों को केवल क्लेश ही देता है, इसमें किसी को लेशमात्र भी सुख नहीं मिलता ।

भवति हि नारकाणामत्रत्यातिशयितशीतोष्णाद्यनन्तगुणशीतोष्णादिवेद्या क्षेत्रप्रत्यया भवस्वाभाव्यात् महिष-मृद्ङ्ग्यादीनामिवोदीर्णातिमत्सराणां दन्तादन्ति-नखानखि-केशाकेशि-खड्गाखड्गि-कुन्ताकुन्ति-मुष्टामुष्टि-दण्डादण्डिप्रबलप्रहारेण परस्परोदीरिता व्याघ्रादिकृता मृगादीनामिव संक्लिष्टसुरोदीरिताऽपि वेदना कुन्ताग्रोपर्यारोपण-कूटशाल्मलिवृक्षाधःस्थापन-संतप्तत्रपुपान-वैतरणीवाहनादिजनिता । न तेषां नेत्रनिमीलनसमयमपि सुखमस्ति । को हि नाम तद्वेदनां विशिष्य विना सर्वज्ञं वक्तुमीष्टे ! न हि सा रसनासहस्रेणापि वक्तुं पार्यते । तिरश्चामपि कशाऽङ्कुशा-ऽऽराप्रहार-वध-बन्ध-क्षुद्पिपासनादिना ऽऽजीवमनुपरतैव वेदना । मनुजानां तूक्तप्रायैव । देवा अपि दिव्यभोगसमुपस्थितपाताभिमुखं चाशुचिमातृगर्भप्रवेशं च पश्यन्तस्तथा खिद्यन्ति यथोपस्थितशूलारोपभयचौरोऽपि न खिद्यति । नापि तेषामीर्ष्या-विषादादिना परस्परकलहोपरमोऽप्यस्ति । इति न चतसृणां गतीनामेकस्यामपि सुखविश्रामोऽस्ति ।

भणितं च श्रुतकेवलिना-[उपदेशमाला-२७६/२८७]

[नारक आदि चार गति में दुःख ही दुःख]

नारकीय जीवों को क्षेत्रस्वभावमूलक अनेकविध क्षेत्रवेदनाएँ होती हैं, जैसे इस लोक में जो अतिशय शीत-उष्ण आदि होता है उससे अनन्तगुणा अधिक शीत उष्ण आदि नरक में होता है जिस के अनुभव से असह्य वेदना होती है। महिष आदि सींगवाले पशुओं को आपसी भिडन्त से जो वेदना होती है उसके समान तीव्रवेदना उत्कटमात्सर्य युक्त उन नारकीय जीवों को होती है, जैसे परस्पर में एकदूसरे को दांत से काटते हैं, नखों से खरोचते हैं, केश पकडकर खींचते हैं, खड्ग, कुन्त अस्त्रों, मुक्कों और दण्डों से प्रबल प्रहार करते हैं। व्याघ्र आदि से मृग आदि को जैसी वेदना होती है, संक्लेश युक्त परमाधामी देवताओं के द्वारा नारकीय जीवों को भी वैसे ही वेदना होती है। इसके अतिरिक्त कुन्त की धार पर चढने, विषवृक्ष शाल्मलिवृक्ष के नीचे ठहरने, पिघले हुये संतप्त लोह को पीने तथा वैतरणी नदी में बहने से नारकीय जीवों को दुःसह वेदना होती है। इन वेदनाओं से ग्रस्त जीवों को नेत्र पलक में जितना समय लगता है उतने स्वल्पतम समय में भी कोई सुख नहीं होता। नारकीय जीवों को जो वेदना होती है उसका विशेषवर्णन-सर्वज्ञ को छोड दूसरा कौन कर सकता है, सहस्रों जिह्वा से भी उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। तिर्यग् योनि के जीवों को भी कशा, अङ्कुश, आरा के प्रहार, विभिन्न प्रकार से वध एवं बन्धन तथा भूख, प्यास आदि की बाधा से अनेक प्रकार की वेदना होती है जो उनके जीवन में कभी समाप्त नहीं होती। मनुष्यों की वेदना का वर्णन तो कर ही दिया गया है। देवता भी दिव्यभोग की समाप्ति की निकटता तथा माता के अशुचि गर्भ में निकटभावी प्रवेश का विचार कर इतना अधिक खिन्न होते हैं जितना शूली पर चढाये जाने के भय से चोर भी खिन्न नहीं होता। ईर्ष्या, विषाद आदि से होनेवाला उनका परस्पर कलह भी कभी समाप्त नहीं होता, इसप्रकार नारक, तिर्यक्, मनुष्य देव चारों योनियों में से किसी भी योनि में जीव को कभी सुखमय विश्राम नहीं प्राप्त होता।

[1]नरएसु जाइं अइकक्खडाइं दुक्खाइं परमतिक्खाइं ।
को वण्णेइ ताइं जीवंतो वासकोडी वि ? ॥ १ ॥
कक्खडदाहं--सामलिअसिवण--वेअरणि--पहरणसएहिं ।
जा जायणा उ पावंति नारया तं अहम्मफलं ॥ २ ॥
तिरिया कसं--कुसा--ऽऽरानिवाय--वह--बंध--मारणसएहिं ।
न वि इहइं पावंता परत्थ जइ णियमिआ हुंता ॥ ३ ॥
आजीवसंकिलेसो सुक्खं तुच्छं उवद्दवा बहुआ ।
नीयजणसेवणा वि य अणिट्ठवासो अ माणुस्से ॥ ४ ॥
चारगणिरोह--वह--बंध--रोग--धणहरण--मरणवसणाइं ।
मणसंतावो अयसो विग्गोवणया य माणुस्से ॥ ५ ॥
चिंतासंतावेहि य दारिद्दरुआहि दुप्पउत्ताहिं ।
लद्धूण वि माणुस्सं मरंति केई सुणिव्विण्णा ॥ ६ ॥
देवा वि देवलोए दिव्वाभरणाणुरंजिअसरीरा ।
जं परिवडंति तत्तो तं दुक्खं दारुणं तेसिं ॥ ७ ॥
तं सुरविमाणविभवं चिंतिय चवणं च देवलोगाओ ।
अइबलियं चिय जं न वि फुट्टइ सयसक्करं हिअयं ॥ ८ ॥

---

१. नरकेषु यान्यतिकर्कशानि दुःखानि परमतीक्ष्णानि ।
को वर्णयति तानि जीवन् वर्षकोटीरपि ? ॥ १ ॥
कर्कशदाह-शाल्मलिक-विषवन-वैतरणी-प्रहरणशतैः ।
या यातनाः प्राप्नुवन्ति नारकास्तदधर्मफलम् ॥ २ ॥
तिर्यञ्चः कशाऽङ्कुशा-ऽऽरानिपात वध-बन्ध मारणशतैः ।
नैवेह प्राप्स्यन् परत्र यदि नियमिता अभविष्यन् ॥ ३ ॥
आजीविकासंक्लेशः सौख्यं तुच्छमुपद्रवा बहवः ।
नीचजनसेवनापि चानिष्टवासश्च मानुष्ये ॥ ४ ॥
चारकनिरोध-वध-बन्ध-रोग-धनहरण-मरणव्यसनानि ।
मनःसंतापोऽयशोविगोपना च मानुष्ये ॥ ५ ॥
चिन्तासंतापैश्च दारिद्र्यरुग्भिर्दुष्प्रयुक्ताभिः ।
लब्ध्वापि मानुष्यं म्रियन्ते केचित् सुनिर्विण्णाः ॥ ६ ॥
देवा अपि देवलोके दिव्याभरणानुरञ्जितशरीराः ।
यत् प्रतिपतन्ति ततस्तद् दुःखं दारुणं तेषाम् ॥ ७ ॥
तं सुरविमानविभवं चिन्तयित्वा च्यवनं च देवलोकात् ।
अतिबलितमेव यद् नापि स्फुटति शतशर्करं हृदयम् ॥ ८ ॥

* ईसा-विसाय-मय-कोह-माय-लोहेहिं एवमाईहिं ।
देवा वि समभिभूआ तेसिं कत्तो सुहं णाम ? ॥ ९ ॥

न चेन्द्रोपेन्द्रादीनां पुण्यविपाककालोपस्थितभोगादिनापि निश्चयतः सुखमस्ति, व्याधिस्थानीयतृषितेन्द्रियप्रतिकारमात्रत्वात्, मधुलिप्तखड्गधारालेहनवद् दुःखानुषङ्गित्वात्, दुःखकारणजातीयकर्मजन्यत्वाच्च । सुखाभिमानः स्वल्विह भवबहुमानपुरस्कारी, मूलमेव दुःखनिमित्तप्रवृत्तेर्मन्तव्यमित्यतो भावितभद्रेणेति ॥ ११ ॥

[चारगति के दुख का वर्णन—उपदेशमाला]

इसी बात को श्रुतकेवलीश्रीधर्मदासगणीमहाराजने इस प्रकार कहा है कि-"जीव नरक में जिन अतिकठोर तथा अतितीक्ष्ण दुःखों का अनुभव करता है, कोटिवर्ष जीवित रहकर भी उनका वर्णन कौन कर सकता है ? (१) नरक में पड़े जीव तीव्रदाह, शाल्मलि के विषमय वन, वैतरणी नदी तथा नानाप्रकार के शतशत प्रहारों से जिन यातनाओं को प्राप्त करते हैं ये सब उनके पूर्वकृत पापों का फल है (२) तिर्यग्योनि के जीव कशा अङ्कुश, आरा के आघातों तथा वध, बन्ध आदि शतशत मरणसाधनों के भोग न होते, यदि पूर्वजन्म में धर्मनियन्त्रित रहे होते (३) । मनुष्य जीवन में भी अनेक संकट हैं जैसे जीविकार्जन का कष्ट, नगण्य सुख, अनेक प्रकार के उपद्रव, नीचजनों की सेवा, अनिष्टजनों का सहवास (४) । इनके अतिरिक्त मनुष्य जीवन के और भी अनेकों संकट हैं, जैसे जेलवास, हत्या, बन्ध, रोग, धनहरण, मरणरूप व्यसन, मन सन्ताप, अपयश, निन्दा आदि (५) । जीव मनुष्ययोनि में जन्म पाकर भी दुष्कृतमूलक चिन्ता, सन्ताप, उत्कट दारिद्रय और रोग से अत्यन्त पीडित होकर मृत्यु को प्राप्त होते हैं (६) ।

देवलोक में देवताओं के शरीर यद्यपि आभरणों से भूषित होते हैं तथापि उस लोक से उनका पतन भी होता है । इस पतन के भय से उन्हें दारुण दुःख की प्राप्ति होती है (७) । अपरिमित देववैभव तथा देवलोक से पतन का चिन्तन कर देवताओं का हृदय जो शतखण्ड हो टूट नहीं जाता वह एक आश्चर्य ही है (८) ।

अन्य जीवों के समान देवता भी ईर्ष्या, विषाद, मद, मान, क्रोध आदि विकारों से अभिभूत होते हैं, अतः उन्हें भी सुख कैसे प्राप्त हो सकता है ? (९)

व्याख्याकार कहते हैं कि सामान्य देव आदि को सुख होने की बात तो दूर रही तत्त्वदृष्टि से देखा जाय तो इन्द्र, उपेन्द्र आदि को भी पुण्य के विपाककाल में उपस्थित भोग आदि से सुख होता नहीं, क्योंकि पुण्यफल का सभी भोग इन्द्रिय की अतृप्ति का प्रतीकार मात्र होने से एकप्रकार की व्याधि ही है, मधुलिप्त तलवार की धार चाटने के समान दुःखप्रद ही है । एवं दुःखकारण के सजातीय कर्म से जन्य होने के कारण दुःखरूप ही है । मनुष्य को इस लोक में जो सुखाभिमान होता है वह

* ईर्ष्या-विषाद-मद क्रोध-मान-लोभैरेवमादिभिः ।
देवा अपि समभिभूतास्तेषां कुतः सुखं नाम ? ॥ ९ ॥

यदि न संसारे क्वापि सुखमस्ति, तदा कुत्र तद्विश्रान्तिः ? इति चिन्तयन्नाह । अथवा, प्रागस्य साक्षाद् निर्वेदाङ्गचिन्तनमुक्तम् ; अथ तु साक्षात् संवेगाङ्गं तदाह—

मूलम्—सुखाय तु परं मोक्षो जन्मादिक्लेशवर्जितः ।
भयशक्त्या विनिर्मुक्तो व्याबाधावर्जितः सदा ॥ १२ ॥

सुखाय तु=सुखायैव **परं**=केवलम् , अत्राग्रिमपदत्रयेण सांसारिकसुखविपर्ययहेतुगर्भविशेषणत्रयमाह—**जन्मादिक्लेशवर्जितः**=कदाचिदपि जन्मादिक्लेशैरस्पृष्टः, तेनेन्द्रियाद्यभावाद् न तत्प्रतिकारमात्रत्वम् , तथा **भयशक्त्या**=आगामिदुःखान्तरोपनिपातबीजभूतया स्वयोग्यतया **विनिर्मुक्तः**=त्यक्तः, तेन दुःखाननुषङ्गित्वमुक्तम् , तथा **सदा**=निरन्तरम् , **व्याबाधावर्जितः**=औत्सुक्यरूपात्मस्वभावबाधाकलङ्कविकलः, तेन दुःखकारणजातीयकर्माऽजन्यत्वमुक्तम् ।

संसार को अति महत्त्व देने के कारण ही होता है । निष्कर्ष यह है कि संसार को सारी प्रवृत्ति दुःख का कारण है अतः जिसका भद्र–आत्मकल्याण भावी निकट है, उसे सांसारिक प्रवृत्तिमात्र से सदा त्रस्त रहना चाहिये ।।११।

[सुख का आविर्भाव एकमात्र मोक्ष में]

व्याख्याकारने १२ वीं कारिका की अवतरणिका दो प्रकार से की है । एक यह कि संसार में सुख जब कहीं नहीं है तब जीव को विश्राम कहाँ प्राप्त हो सकता है ? इस प्रश्नका उत्तर देने के लिये यह कारिका रची गई है । दूसरा यह कि पहले निर्वेद के साक्षात् अङ्ग के चिन्तन का प्रतिपादन किया गया है और अब संवेग के साक्षात् अङ्ग का प्रतिपादन करने के लिये यह कारिका प्रस्तुत की गई है—

कारिका का अर्थ इसप्रकार है–सुख का एकमात्र साधन केवल मोक्ष ही है, क्योंकि वह जन्म आदि के क्लेश से रहित है, भयोत्पादिका शक्ति से शून्य है तथा आत्मस्वभाव के बाधकवस्तु से सदा असम्पृक्त है । कारिका में मोक्ष का तीन विशेषणों से वर्णन किया गया है । सभी विशेषण सांसारिक-सुखविपर्यय के हेतु से गर्भित हैं । पहला विशेषण है जन्मादिक्लेशवर्जित, इसका अर्थ है जन्म आदि के क्लेशों से कदापि संस्पृष्ट न होनेवाला, इस विशेषण से यह सूचित किया है कि मोक्षावस्था में इन्द्रिय आदि न होने से मोक्ष इन्द्रिय की अतृप्ति का प्रतीकार मात्र नहीं है । दूसरा विशेषण है भयशक्त्या विनिर्मुक्त, इसका अर्थ है भयशक्ति से शून्य । भयशक्ति का अर्थ है जीव की वह योग्यता जो आगामी दुःखान्तर के प्रसव का बीज होती है । मोक्षकाल में जीव में वह नहीं रह जाती । इस विशेषण से यह सूचित किया गया है कि मोक्ष में दुःख का अनुषङ्ग नहीं होता । तीसरा विशेषण है सदा व्याबाधावर्जित, इसका अर्थ है आत्मस्वभाव के बाधक औत्सुक्य के कलङ्क से निरन्तरमुक्त इससे यह सूचित किया गया है कि मोक्ष दुःखकारण के सजातीय कर्मों से जन्य नहीं है ।

आशय यह है कि आत्मा का स्वभाव है औत्सुक्यबाध(?) से निवृत्त शाश्वत चिदानन्द, यह स्वभाव इन्द्रियसहित देह आदि अपेक्षाकारण रूप आवरण से ठीक उसीप्रकार आच्छादित होता है जैसे चन्द्रमा

आत्मनो हि गलितौत्सुक्यबाधात्मा शाश्वतश्चिदानन्दः स्वभावोऽस्ति । स च सेन्द्रियदेहाद्यपेक्षाकारणस्वरूपावरणेनाच्छाद्यते, शीतांशोरिवामृतमयप्रकाशस्वभावोऽभ्रेण, स्वाभाविकान्यथाभूतपरिणतिजननात्, अन्यथाऽऽवारकत्वानुपपत्तेः । सेन्द्रियदेहाद्यपगमे चाऽयत्नसिद्ध एवायमात्मनः स्वभाव आविर्भवति, अभ्रापगम इव शीतांशोः । उपलभ्यते च संसारदशायामपि समतृणमणि-लेष्टुकाञ्चनस्य विशिष्टध्यानावस्थितस्य मुमुक्षोर्वैराग्यभावनया परमाह्लादानुभव उपायप्रवृत्तिक्लेशपरिपन्थीति तस्यैव भावनावशादुत्तरावस्थामासादयतः परमकाष्ठागतिः संभाव्यते । इति सिद्धो मुक्तावेव सुखविश्रामः, तदुपादानोपशमप्रभवसुखस्यापि तत्त्वतस्तद्रूपत्वात् । न ह्युपादानोपादेययोरत्यन्तभेदो यौक्तिकः । तदिदमाहुर्वृद्धाः-[प्र० रति-२३८]

"निर्जितमद-मदनानां वाक्-काय-मनोविकाररहितानाम् ।
विनिवृत्तपराशानामिहैव मोक्षः सुविहितानाम् ॥ १ ॥" इति ।

न चैवमन्यदपि सुखं मुक्तिसुखोपादानमस्त्विति कुचोद्यमाशङ्कनीयम्; तृषितसुखस्य तदुपादानत्वे मुक्तावपि तृडनुवेधप्रसङ्गात् । अतो भिन्नजातीयमेव तात्त्विकं सुखं मुक्तावुत्कर्षप्राप्तमिति श्रद्धेयम् ॥ १२ ॥

का अमृतमयप्रकाशरूप स्वभाव मेघ से आच्छादित होता है । इन्द्रियसहित देह आदि से 'आत्मा की स्वाभाविकपरिणति से अन्यथाभूत परिणति' का जनन होता है क्योंकि उसके बिना वह (इन्द्रियसहित देहादि) आत्मा का आवारक नहीं हो सकता और जब सेन्द्रिय देह आदि की निवृत्ति होती है तब आवरण की निवृत्ति होती है तब आत्मा का अपना स्वभाव बिना प्रयत्न ठीक उसी प्रकार प्रकट होता है जैसे मेघ के हटने पर चन्द्रमा का प्रकाशस्वभाव प्रकट होता है । यह देखा जाता है कि तृण-मणि पाषाणखंड और सुवर्ण में समदृष्टि रखनेवाले विशिष्ट ध्यानावस्था में विद्यमान मुमुक्षु को वैराग्य की भावना से संसारदशा में भी परम आह्लाद का अनुभव होता है । और यह अनुभव उपायगोचर प्रवृत्ति से होनेवाले क्लेश का विरोधी होता है । ऐसे आह्लाद को प्राप्त व्यक्ति भावना द्वारा जब उत्तरोत्तर अवस्था में प्रवेश करता है तब उसे परमकाष्ठा-सर्वोत्कृष्ट गति-अवस्था प्राप्त होती है । इसप्रकार सिद्ध है कि जीव को सुखमय विश्राम की प्राप्ति मोक्षावस्था में ही होती है ।

उपशमजन्य सुख मुक्ति का उपादान है अतः तत्त्वदृष्टि से वह सुख मुक्तिरूप है क्योंकि उपादान और उपादेय में अत्यन्त भेद युक्तिसंगत नहीं हो सकता । यही बात प्रशमरति में इसप्रकार कही है कि-'जो पुरुष मद और मदन को जीत लेते हैं, वाणी, शरीर और मन के विकारों से रहित होते हैं, सभी लौकिक आकाङ्क्षाओं से मुक्त होते हैं एवं शुभ कर्मों के सम्पादन से सुसंस्कृत होते हैं उन्हें इस जन्म में ही मोक्ष सुख का अनुभव होता है ।'

यदि यह शंका की जाय कि-'जैसे उपशम सुख मुक्तिसुख का उपादान होता है वैसे अन्य सुख को भी मुक्ति का उपादान होना चाहिये क्योंकि सभी सुखों की सुखरूपता में कोई अन्तर नहीं है'-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि सतृष्ण सुख को मुक्ति का उपादान मानने पर मुक्ति में तृष्णा के भी

उपायचिन्तनमाह—

मूलम्—हेतुर्भवस्य हिंसादिर्दुःखाद्यन्वयदर्शनात् ।
मुक्तेः पुनरहिंसादिर्व्याबाधाविनिवृत्तितः ॥ १३ ॥

हेतुः=उपायः, **भवस्य**=संसारस्य, **हिंसादिः**=हिंसा-ऽनृत-मिथ्यात्व-क्रोधादिः । कुतः ? इत्याह-**दुःखाद्यन्वयदर्शनात्**=हिंसादिप्रवृत्तौ विषयपिपासादिदुःखानुबन्धोपलम्भात् , दुःखैकमये संसारे तद्धेतुत्वौचित्यात् । **मुक्तेः पुनरहिंसादिः**=अहिंसा-सत्य-सम्यक्त्व-क्षान्त्यादिः हेतुः । कुतः ? इत्याह-**व्याबाधाविनिवृत्तितः**=अहिंसादिप्रवृत्तौ विषयपिपासादिपीडानिवृत्तिरूपगुणानुबन्धोपलम्भात् , गुणैकमय्यां मुक्तौ तद्धेतुत्वौचित्यात् ॥ १३ ॥

एतच्चिन्तनफलमाह—

मूलम्—बुद्ध्वैवं भवनैर्गुण्यं मुक्तेश्च गुणरूपताम् ।
तदर्थं चेष्टते नित्यं विशुद्धात्मा यथागमम् ॥ १४ ॥

एवम्=उक्तरीत्या, **भवस्य**=संसारस्य, **नैर्गुण्यं**=दोषैकमयत्वम् , **मुक्तेश्च गुणरूपतां**=गुणैकमयत्वम् **बुद्ध्वा**, अशुद्धौदयिकादिभावत्वात् संसारस्य, मुक्तेश्च शुद्धक्षायिकादिभावरूपत्वात् , एतद्बोधश्च तदुपायबोधोपलक्षणम् ; **तदर्थं**=मुक्त्यर्थम् , **चेष्टते**=भवहेतुहिंसादिप्रतिप-

---

अनुषङ्ग की प्रसक्ति होगी, अतः यही बात मानने योग्य है कि तात्त्विक सुख विषयजन्य सुखों से विलक्षण होता है और वही मुक्ति में उत्कर्ष प्राप्त कर लेता है ।। १२ ।।

१३ वीं कारिका में मुक्ति के उपाय का प्रतिपादन किया गया है । कारिका का अर्थ इसप्रकार है-हिंसा, अनृत, मिथ्यात्व, क्रोध आदि संसार का कारण है क्योंकि हिंसा आदि की प्रवृत्ति में तृष्णा आदि से उत्पन्न दुःख के सम्बन्ध का अनुभव होता है । संसार एकमात्र दुःखमय है, अतः दुःखात्मक हिंसा आदि को ही संसार का कारण मानना उचित होता है । अहिंसा, सत्य, सम्यक्त्व, क्षमा आदि मुक्ति का हेतु है क्योंकि अहिंसा आदि की प्रवृत्ति में विषय की तृष्णा आदि से उत्पन्न दुःख की निवृत्तिरूप गुण का उपलम्भ होता है । मुक्ति एकमात्र गुणमयी है अतः गुणमय अहिंसा आदि को उसका कारण मानना न्यायसंगत है ।। १३ ।।

[भवनैर्गुण्यदर्शी को मोक्षार्थ निरन्तर उत्साह]

जिस पुरुष की आत्मा निर्मल होती है वह अशुद्ध औदयिक (कर्मोदयजन्य) आदि भावों से भरे संसार को तथा उससे उपलक्षित हिंसा आदि संसारोपाय को दुःखैकमय, एवं शुद्ध क्षायिक आदि भावों से भूषित मुक्ति को तथा उससे उपलक्षित अहिंसा आदि मोक्षोपाय को गुणैकमय समझ कर संसार हेतुओं के प्रतिपक्षी अहिंसा आदि मोक्षोपायों को प्राप्त करने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील होता है । क्योंकि क्षुधा से पीडित व्यक्ति को जैसे भोजन की इच्छा बराबर बनी रहती है उसीप्रकार मुमुक्षु

क्षिप्त्वहिंसादिषु तदुपायेषु प्रवर्तते, नित्यं=निरन्तरम् , क्षुधितस्य भोजनेच्छाया इव मुमुक्षोर्मोक्षेच्छाया अविच्छेदेन तदुत्साहस्य शाश्वतत्वात् अवोचाम च–सामाचारीप्रकरणे

"*खुहिअस्स जहा खणमवि विच्छिज्जइ णेव भोजणे इच्छा।
एवं मोक्खट्ठीणं छिज्जइ इच्छा ण कज्जम्मि। १ ।"

विशुद्धात्मा विवेकजलगलितानादरमलत्वात् यथागमम्=आगमोक्तोत्सर्गाऽपवादादियोग्यधृतिशक्त्याद्यनतिक्रमेण। व्यवस्थितं खल्वागमे-आतुरादेरपि पीडाद्यनुभवनिमित्तसंक्लेशाभावे आवश्यकयोगाऽपरिहाणौ च चिकित्साऽकरणादि, अन्यथा तु पुष्टालम्बनेन तत्करणादि, स्फोरयतोऽपि च मनोधृतिबलं कदाचिदत्यन्तभग्नकायशक्तिकस्य सतो यथाभणिताचरणसीदनेऽपि मुक्तकूटचर्यस्य शुद्धत्वमेवेति। यस्त्वपरिशीलितगुरुकुलवासोऽनालोच्यैवागमं स्वशक्तिमतिक्रम्यैव व्यापृतो भवति स्वकृत्यऽसाध्ये महति कार्ये, स तु संक्लेशोदयादविधिना शरीरं पातयित्वाऽनेकभवेषु तदनुबन्धदोषं प्राप्नुयादिति। अतो यथाक्रमं शक्त्याद्यनतिक्रम्यैव प्रवर्तेत ॥ १४ ॥

को मोक्ष की इच्छा सदा बनी रहती है अत एव मोक्षोपाय को आत्मसात् करने में वह सदा सोत्साह रहता है। व्याख्याकारने स्वकृत समाचारीप्रकरण में भी यह कहा है कि जैसे भूखे आदमी को भोजन की इच्छा क्षणभर भी विच्छिन्न नहीं होती वैसे मोक्षार्थी को मोक्षोपाय के अर्जन की इच्छा भी कभी शान्त नहीं होती।

विवेक जल से जिस के चित्त का अनादर मल धुल जाता है वह व्यक्ति आगम में वर्णित उत्सर्ग अपवाद आदि तथा योग्य धृतिशक्ति आदि के अनुसार मोक्षोपाय की आराधना करने का यत्न करता है। आगम में यह व्यवस्था की गई है कि पीडा आदि के अनुभव में तीव्र राग द्वेषादि संक्लेश के न रहने पर एवं आवश्यक योगों की हानि न होने पर बिमार आदि को भी चिकित्सा कराने की कोई जरूर नहीं होती। किन्तु अन्यस्थिति में पुष्टकारण का आलम्बन कर चिकित्सा करणीय होती है। इसीप्रकार यह भी व्यवस्था की गई है कि मन में धैर्य का बल रहने पर भी शरीरशक्ति का अत्यन्त क्षय होने की दशा में शास्त्रोक्त कर्म का सम्पादन न हो सके तब भी कपटाचार का परित्याग कर देने मात्र से शुद्धता होती है। किन्तु जिसे गुरुकुल के निवास का सौभाग्य नहीं प्राप्त रहता वह आगम का आलोचन किये बिना ही अपनी शक्ति का अतिक्रमण कर अपने प्रयत्न से असाध्यकार्य में व्यापृत होता है। अतः वह संक्लेशोदयवश अविधि से शरीरत्याग कर अनेक जन्म तक उसकी परम्परा चलाने का दोष प्राप्त करता है। इसलिए उचित यह है कि शक्ति का अतिक्रमण न कर क्रम से ही मोक्षसाधनों को प्राप्त करने का प्रयास किया जाय ॥ १४ ॥

* क्षुधितस्य यथा क्षणमपि विच्छिद्यते नैव भोजने इच्छा। एवं मोक्षार्थिनां छिद्यत इच्छा न कार्ये ॥ १ ॥

इत्थमेवाज्ञाश्रद्धया तीव्रसंवेगादभ्यासाच्च क्लिष्टकर्मविगमात् तीव्रानुष्ठानयोग्यो भवति। अत एव प्रायः परिशीलितश्रावकप्रतिमादिक्रमस्यैव सदा यतिधर्मेऽधिकारः, विशिष्य तु दुःषमायामित्यन्यत्रोक्तमित्यभिप्रेत्याह—

मूलम्—दुष्करं क्षुद्रसत्त्वानामनुष्ठानं करोत्यसौ।
मुक्तौ दृढानुरागत्वात्कामीव वनितान्तरे ॥ १५ ॥

असौ=विशुद्धात्मा **क्षुद्रसत्त्वानां**=संसाराभिनन्दिनामपरमार्थदर्शिनां धर्मपराङ्मुखानां क्लीबानां कापुरुषाणाम् **दुष्करम्**=कर्तुमशक्यम् **अनुष्ठानं**=पूर्णाहिंसादिपालनाय परीषहादिजयरूपं, विशिष्टनिर्जरार्थं भिक्षुप्रतिमाद्यभिग्रहरूपं वा करोति। कुतः? इत्याह **मुक्तौ दृढानुरागत्वात्**=पारमार्थिकाभिलाषभावात्; अतीव्रस्त्वभिलाष आलस्याद्युपहतचित्तानां परमार्थतोऽभिलाष एव न, अन्यथाप्रवृत्त्यादिसिद्धेरिति विभावनीयम्। निदर्शनं आह—**कामीव**=तीव्रकामाविष्ट इव **वनितान्तरे**=अभिलषिततरुणीविशेषे। यथा हि वनितान्तरेऽनुरक्तस्तदाश्रये प्रवर्तमानः शीतादि न गणयति तथा मुक्तावनुरक्तोऽपि तदाश्रये प्रवर्तमानो न तद् गणयति, उपायानुषङ्गिशीतादौ बलवद्द्वेषाभावेन बलवदनिष्टानुबन्धित्वज्ञानकृतप्रवृत्तिप्रतिघाताऽभावादिति निगर्वः ॥ १५ ॥

इस रीति से ही शास्त्राज्ञा पर श्रद्धा करने से, तीव्रसंवेग से और अभ्यास से क्लिष्ट कर्म का क्षय होने पर मनुष्य उग्रअनुष्ठान के योग्य होता है। इसीलिये यतिधर्म में विशेष कर इस दुःषमा काल में प्रायः उसी मनुष्य को यतिधर्म के पालन का अधिकार होता है जो श्रावक के प्रतिमादि क्रम [विशिष्टप्रकार के यम-नियमों] का सम्पादन कर लेता है-यह बात अन्यत्र कही गई है। १५ वीं कारिका उसी अभिप्राय से कही गयी है, उसका अर्थ इसप्रकार है- जैसे कामी पुरुष किसी नई वनिता में अतिशय अनुरक्त होने पर उसके लिये अनेक दुष्कर कार्य करता है वैसे विशुद्धचित्तवाला पुरुष मोक्ष में दृढानुराग होने से क्षुद्रजीवों द्वारा असाध्य कर्मों का अनुष्ठान करता है। क्षुद्र जीव वे हैं जो संसार का ही अभिनन्दन करते हैं, जो परमार्थदर्शी नहीं होते, जो धर्मविमुख होते हैं, क्लीब और कापुरुष होते हैं। पूर्ण अहिंसा आदि का पालन करने के लिये परीषहों का जय, विशिष्टकोटि की निर्जरा की प्राप्ति के लिये भिक्षु प्रतिमा आदि के अभिग्रह इन क्षुद्र जीवों के लिये अत्यन्त दुष्कर होते हैं। निर्मलमना मानव इन कर्मों को बड़े उत्साह से करता है, क्योंकि इन कर्मों से साध्य मोक्ष की उसे वास्तविक अभिलाषा होती है। जिन का चित्त आलस्य आदि से आक्रान्त होता है उनका अतीव्र अभिलाष, वास्तव में अभिलाष ही नहीं है, क्योंकि उनकी प्रवृत्ति इन दुष्करकर्मों में न होकर अन्यथा होती है। तीव्र काम से आविष्ट पुरुष जिस अपूर्व तरुणी में प्रेमासक्त होता है उसको पाने के प्रयत्न में जैसे वह शीत उष्ण आदि से होने वाले क्लेश की चिन्ता नहीं करता वैसे मोक्ष प्राप्त करने की प्रबल इच्छा से युक्त पुरुष भी उसे प्राप्त करने के प्रयत्न में शीत उष्ण आदि से सम्भावित दुःख की चिन्ता नहीं करता। शीत, उष्ण आदि जिन दुःखसाधनों का सन्निधान इष्ट प्राप्ति के उपायों का नियतसहभावी होता है उनमें

तत्त्वतस्तत्र चेतःपीडारूपानिष्टाननुबन्धित्वाद् दुष्करत्वमेव नास्तीति साधयन्नाह—

मूलम्—उपादेयविशेषस्य न यत्सम्यक्प्रसाधनम् ।
दुनोति चेतोऽनुष्ठानं तद्भावप्रतिबन्धतः ॥ १६ ॥

उपादेयविशेषस्य=सम्यग्विदितोत्कृष्टगुणस्य चिन्तामणिरत्नादेः, यत्=यस्मात् सम्यक् प्रसाधनम्=अव्यभिचार्युपायभूतं रोहणाचलविषमप्रदेशपर्यटनादिकम् अनुष्ठानं= कर्म कायोपतापजनकमपि, तद्भावप्रतिबन्धतः=तस्मिन्नुपादेयविशेषेऽप्रतिबद्धेच्छाजनितादन्तराह्लादभावप्रतिबन्धात् चेतो न दुनोति, मानससुखसत्त्वे तदनुपमर्देन मानसदुःखोत्पादाऽयोगात् । न च शारीरदुःखसत्त्वे मानससुखमपि विरुद्धम्, श्रमादिवतोऽप्यप्रतिहतफलेच्छस्यान्तर्बहिरेकदैव सुख-दुखानुभवदर्शनात् । न चैकदोभययोगक्रियाविरहः, अभिन्ने विषये त्रयाणामपि योगानां क्रियायौगपद्यस्य दृष्टत्वात्, इष्टत्वाच्च, भङ्गिकश्रुतप्रामाण्यात् । न च तदा विषयाभावादेव सुखा-

मनुष्य का तीव्रद्वेष नहीं होता अतः उन से इष्टोपाय को प्राप्त करने की प्रवृत्ति का प्रतिरोध नहीं होता, क्योंकि प्रवृत्ति का प्रतिरोध बलवान् अनिष्ट की साधनता के ज्ञान से होता है और यह ज्ञान इष्टोपाय के नान्तरीयक अनिष्ट साधनों में नहीं होता ॥१५॥

१६ वीं कारिका में यह बताया गया है कि चित्तक्लेशरूप अनिष्ट का जनक न होने से परीषह सहन आदि वस्तुतः दुष्कर ही नहीं है । कारिका का अर्थ इस प्रकार है —

जो कर्म विशिष्ट उपादेय वस्तु का अव्यभिचरितसाधन होता है वह उपादेय वस्तु को प्राप्त करने की प्रबल इच्छा से होनेवाले मनोगत आनन्दात्मकभावरूप प्रतिबन्धक का सन्निधान होने से मनः-क्लेश का जनक नहीं होता । आशय यह है कि चिन्तामणिरत्न, जिसका उत्कृष्ट गुण सम्यक् प्रकार से ज्ञात है-विशिष्ट उपादेय माना जाता है । उसकी प्राप्ति के लिये रोहणाचल के दुगम प्रदेशों में उसका अन्वेषण करना पड़ता है । रत्न का अन्वेषणकार्य शरीर की दृष्टि से अत्यन्त कष्टप्रद है किन्तु इस कार्य से मन को कोई पीडा नहीं होती, क्योंकि चिन्तामणि को प्राप्त करने की प्रबल इच्छा से एक विलक्षण मनःसुख उत्पन्न होता है । यह सुख ही उक्त कार्य से मनःपीडा की उत्पत्ति का विघटन कर देता है । क्योंकि मानस सुख को अभिभूत किये विना मानसपीडा का उदय नहीं होता । 'शारीरिक दुःख के समय में मानससुख का अस्तित्व दुर्घट है' ऐसी शंका नहीं की जा सकती क्योंकि श्रमिक को श्रमजन्य दुःख और श्रम से प्राप्य अभीष्ट फल की इच्छा से उद्भूत सुख, दोनों का अनुभव एकसाथ होता है । 'एक-काल में दो योगों की, काययोग और मनोयोग की क्रिया नहीं होती' यह भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि एकविषय में तीनों योगों की क्रिया का यौगपद्य 'एककालिकत्व' दृष्ट है और भङ्गिक[1] श्रुत-प्रामाण्य के अनुसार इष्ट भी है ।

१. भंगिकश्रुतप्रामाण्य-जिस श्रुत के अध्ययन में अनेक भंगो की गिनती करनी पडती है उस वक्त मन-वचन और काया तीनों योग से भिन्न भिन्न क्रिया का अनुभव प्रमाणभूत माना जाता है ।

भावः, बाह्यै रपि चतुर्विधस्य सुखस्य व्यवस्थापनात्। तथाहि-किञ्चिदाभ्यासिकं सुखम् यथा मृगयादिषु। किञ्चिदाभिमानिकम् यथा चुम्बनादिषु, किञ्चिद् वैषयिकम् यथा सुरभिमधुर-गौरगान्धारादिसंनिकर्षे ईदृशविषयसाक्षात्कारवत्, साक्षात्कारजनकेदृशविषयसंनिकर्षस्य हेतु-त्वेऽप्यविनिगमात्। किञ्चिच्च मानोरथिकम्, यथा भाविपुत्रजन्माद्युत्सवचिन्तनादिषूत्पद्यमान-मिति। तदिह प्रकृतप्रवृत्तौ श्रमादिखेदकालेऽपि मानसं मानोरथिकं सुखं न विरुद्धम्। इति कथं तत्साम्राज्ये ततश्चेतःपीडा स्यात्? इति सिद्धम्॥ १६॥

साध्यमाह—

मूलम्—ततश्च दुष्करं तन्न सम्यगालोच्यते यदा।
अतोऽन्यद् दुष्करं न्यायाद्धेयवस्तुप्रसाधकम्॥ १७॥

ततश्च=तस्मात् कारणाच्च, तत्=मुक्त्यर्थमनुष्ठानम्, यदा सम्यगालोच्यते=तदभावे मनः प्रतिबध्यते, तदान्तराह्लादोदयाच्चिन्तामणिरत्नार्थिप्रयत्नवद् दुष्करं न=चित्तार्तिप्रदं न भवति। 'तदश्रद्धावज्ञादिपरिणामिनि चित्ते च दुष्करमेव तत्, अन्तराह्लादाभावात्' इति सम्यक्प-

यदि यह कहा जाय कि-'इष्टवस्तु की प्राप्ति का प्रयास करते समय इष्ट विषय के उपस्थित न होने से उस समय सुख नहीं हो सकता' तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि बाह्यचिन्तकों ने भी चार प्रकार के सुख माने हैं जैसे शीकार आदि में अनुभव में आनेवाला आभ्यासिक सुख, चुम्बन आदि में अनुभव में आनेवाला आभिमानिक सुख; सुरभिगन्ध मधुर रस, गौर रूप, गान्धार स्वर आदि के सन्नि-कर्ष में अनुभव में आनेवाला वैषयिकसुख जो विनिगमना न होने से विषयसाक्षात्कार और साक्षा-त्कारजनक विषय के सन्निकर्ष दोनों का कार्य होता है, तथा भावी पुत्र के जन्मोत्सव आदि के चिन्तन आदि में अनुभूयमान मानोरथिक सुख। उक्तरीति से जब सुख के चार भेद हैं तब मोक्षोपाय की आरा-धना करने की प्रवृत्ति में श्रमादिजन्य शारीरिक दुःख के समय भी मानोरथिक मानस सुख होने में कोई विरोध नहीं हो सकता। अतः सिद्ध है कि उक्त प्रवृत्ति में जब मनःसुख प्रचुरमात्रा में विद्यमान है तब उससे मनः पीडा का होना असंभव है॥ १६॥

[मुक्ति की साधना वास्तव में दुष्कर नहीं]

१७वीं कारिका में मोक्षोपाय प्रापक कर्म की सुकरता का प्रतिपादन किया गया है। कारिका का अर्थ इस प्रकार है-यदि सम्यक् आलोचन किया जाय तो मोक्ष के लिये अपेक्षित अनुष्ठान अभीष्ट का साधक होने के कारण दुष्कर नहीं होता। प्रत्युत उससे भिन्न अनुष्ठान ही अनिष्ट का साधक होने के कारण न्यायतः दुष्कर होता है। तात्पर्य यह है कि जैसे चिन्तामणि रत्न के इच्छुक पुरुष को उसकी प्राप्ति की आशा से उत्पन्न आह्लाद के कारण उसकी प्राप्ति का प्रयत्न करने में कोई चित्तक्लेश नहीं होता, वैसे मोक्षसुख को प्राप्त करने के विश्वास से उत्पन्न मानसप्रमोद के कारण, उसके लिये किये जानेवाले अनुष्ठान से मोक्षार्थी को कोई मनःकष्ट नहीं होता। कारिका में आलोचन के साथ सम्यक् पद का प्रयोग करके यह सूचित किया गया है कि जिस पुरुष के चित्त में मोक्ष के प्रति

देन व्यज्यते । भणितं च ग्रन्थकृता ललितविस्तरायाम्–"प्रकृतिसुन्दरं चिन्तामणिरत्नकल्पं संवेगकार्यं चैतत्, इति महाकल्याणविरोधि न चिन्तनीयम्, चिन्तामणिरत्नेऽपि सम्यग्ज्ञानगुण एव श्रद्धाद्याशयभावतोऽविधिविरहेण महाकल्याणसिद्धेः" इति विभावनीयम्। प्रत्युताऽतः=मुक्त्यर्थानुष्ठानात्, अन्यत्=विपरीतानुष्ठानम् हेयवस्तुप्रसाधकम्=आयत्यां सुदुःसहविचित्रदुःखप्रदम् तदात्वेऽपि दुष्करं=चित्तार्तिप्रदं विवेकिन इति। अत एव प्राणात्ययेऽपि विषभक्षणमिव नाकार्यमाद्रियन्ते धीराः, अनिष्टफलावश्यंभावप्रतिसंधानजनितदुःखस्य प्रवृत्तिप्रतिबन्धकत्वादिति स्मर्तव्यम् ॥ १७ ॥

एतदेवानिष्टवियोगोत्तरफललोभाद् निदर्शनान्तरेण समर्थयन्नाह—

मूलम्—व्याधिग्रस्तो यथारोग्यलेशमास्वादयन् बुधः ।
क्लिष्टेऽप्युपक्रमे धीरः सम्यक्प्रीत्या प्रवर्तते ॥ १८ ॥

व्याधिग्रस्तः=विषमज्वरादिरोगपीडितः पुरुषः, यथा कुतश्चिदुपक्रमात्, **आरोग्यलेशं**=स्वल्पमपि नीरुग्भावम्, **आस्वादयन्**=अतिपिपासितजललवास्वादप्रायमनुभवन्, **बुधः**=हिता-

---

अश्रद्धा अवज्ञा आदि परिणाम का उदय होता है उसे मोक्ष के विषय में आन्तरप्रीति न होने के कारण मोक्ष के लिये अपेक्षित अनुष्ठान उसके मनस्ताप का जनक होता है। मूल ग्रन्थकार ने 'ललितविस्तरा' में इस बात को इन शब्दों में कहा है कि–"संवेग का यह कार्य स्वभावतः मनोरम तथा चिन्तामणि रत्न के समान महान् फल का साधक है। इसके विषय में यह कभी नहीं सोचना चाहिये कि यह महाकल्याण का विरोधी है। किन्तु सदा सम्यक् आलोचन ही करना चाहिये। चिन्तामणि रत्न के विषय में भी सम्यक् ज्ञान ही गुण होता है, क्योंकि अन्यथा चिन्तन से उसके प्रति भी अवज्ञा और अनुत्साह का मनोभाव हो सकता है। इस में कोई सन्देह नहीं है कि संवेग कार्य के प्रति हृदय में श्रद्धा आदि का पवित्र आशय-पवित्र भाव होने पर अविधि का विरह होने से महाकल्याण की सिद्धि आवश्यक होती है।"

विचार करने से सिद्ध यह होता है कि मोक्षार्थ अनुष्ठान दुष्कर नहीं होता किन्तु जो अनुष्ठान उसके विपरीत होता है वही दुष्कर होता है क्योंकि उसके परिणाममें वह विचित्र प्रकार के दुःख का जनक होने से उसी से चित्त को पीडा पहुंचती है। विवेकी पुरुष का चित्त तो उस अनुष्ठान की कल्पना से ही आर्त हो उठता है। अत एव धीर पुरुष प्राणसंकट उपस्थित होने पर भी अकार्य करने में प्रवृत्त नहीं होते। किन्तु विषभक्षण के समान उसे त्याज्य समझते हैं। अकार्य से भावि में अनिष्टफल होने वाला है–इस ज्ञान से विवेकी पुरुष को दुःख होता है, उससे अकार्य में उसकी प्रवृत्ति का प्रतिबन्ध हो जाता है ॥१७॥

१८वीं कारिका में एक अन्य दृष्टान्त द्वारा इस बात का समर्थन किया गया है कि–भविष्य में अनिष्ट निवृत्ति होने की आशा में कठिन कार्य भी दुष्कर नहीं होता। कारिका का अर्थ इस प्रकार है––

ऽहितज्ञः कष्टेऽपि=शरीरोपतापकारिण्यपि, उपक्रमे=तप्तकटुकौषधपानादौ निःशेषव्याधिघातनसमर्थे, धीरः=अक्षोभ्यसत्त्वः, सम्यक्प्रोत्या=उपायविषयदृढेच्छाप्रतिबन्धेन प्रवर्तते, भाव्यारोग्यस्वभावत्वात् ॥ १८ ॥

मूलम्—संसारव्याधिना ग्रस्तस्तद्वज्ज्ञेयो नरोत्तमः ।
शमारोग्यलवं प्राप्य भावतस्तदुपक्रमे ॥ १९ ॥

दार्ष्टान्तिकयोजनामाह संसारव्याधिना=संसाररोगेण ग्रस्तः=पीडितः नरोत्तमः=आसन्नभव्यः, तद्वज्ज्ञेयः प्रवृत्तिं प्रतीत्य । किं कृत्वा, क्व च ? इत्याह-शमारोग्यलवम्=अपूर्वकरणाद्युपक्रमजनितमिथ्यात्वाऽनन्तानुबन्धिकषायोपशमजनितं शमारोग्यस्य लेशम् प्राप्य, भावतः=फलाभिव्वङ्गात् तदुपक्रमे=अशेषसंसारव्याध्यौषधभूते तीव्रानुष्ठाने ॥ १९ ॥

मूलम्—प्रवर्तमान एवं च यथाशक्ति स्थिराशयः ।
शुद्धं चारित्रमासाद्य केवलं लभते क्रमात् ॥ २० ॥

अतितीव्र प्यास से पीडित मनुष्य को जलके कुछ बुंद मिल जाने पर जिस प्रसन्नता का अनुभव होता है, विषमज्वर आदि रोगों से ग्रस्त मनुष्य को भी किसी रोगापहारी उपचार से अति स्वल्प भी आरोग्य मिलने पर उसी प्रसन्नता का अनुभव होता है । अतः अपने हिताहित को समझने वाला धीर पुरुष पूर्ण आरोग्य की प्राप्ति के लिये ऐसे औषधि के भी सेवन में बड़े हर्ष से प्रवृत्त होता है जो तापप्रद, कटु तथा तत्काल शरीर के लिये कष्टप्रद होती है । वह ऐसा इसलिये करता है कि वह पूर्ण आरोग्य प्राप्त करना चाहता है । अतः उसका जो भी उपाय हो उसे स्वाधीन करने की प्रबल इच्छा से वह प्रतिबद्ध होता है ।।१८।।

१९वीं कारिका में दार्ष्टान्तिक-यानी दृष्टान्तद्वारा समर्थनयोग्य-संसार से ग्रस्त पुरुष में, उक्त दृष्टान्त ज्वरादि ग्रस्त रोगी की योजना, बतायी गई है । कारिका का अर्थ इस प्रकार है-

संसार रोग से अपने को पीडित समझने वाला उत्तम मनुष्य जो आसन्न भव्य अर्थात् निकट में मुक्ति पाने के लिये योग्य होता है उसे प्रवृत्ति के विषय में उक्त रोगी के सदृश समझना चाहिये । कहने का अभिप्राय यह है कि जैसे विषमज्वर आदि से ग्रस्त मनुष्य किसी सामान्य उपाय से अल्पमात्रा में आरोग्य का अनुभव होने पर पूर्ण आरोग्य के कठिन उपायों में भी सहर्ष प्रवृत्त होता है उसीप्रकार संसाररोग से ग्रस्त मुमुक्षु पुरुष अपूर्वकरण आदि पूर्वोक्त उपाय से मिथ्यात्व तथा अनन्तानुबन्धी कषाय का प्रशम होने पर शमरूप यत्किंचित् आरोग्य का अनुभव कर लेने पर संसारनिवृत्तिरूप पूर्ण आरोग्य प्राप्त करने के लिये समग्र संसार व्याधि के औषधरूप तीव्रतप आदि के अनुष्ठान में सहर्ष प्रवृत्त होता है ।।१९।।

[शुद्धचारित्र-ध्यानारोहणादिक्रम से केवलज्ञान]

२०वीं कारिका में मोक्षार्थी के तीव्रानुष्ठान का फल बताया गया है. कारिका का अर्थ इस प्रकार है-उक्तरीति से मोक्षराग से प्रतिबद्ध स्थिरचित्तवाला मनुष्य, जिसका प्रशस्त परिणाम अशुभ

एवं च=उक्तेन प्रकारेण मुक्तौ रागप्रतिबन्धात् , यथाशक्ति=स्वशक्त्यनुसारेण प्रवर्तमानः, स्थिराशयः=दुर्लेश्याऽक्षोभ्यप्रशस्तपरिणामः, शुद्धं=निर्मलम् चारित्रमासाद्य, क्रमात्=ध्यानारोहपरिपाटीत केवलं लभते। तथाहि-लेश्याविशुद्धया भावनाहेतुकसाम्यहेतुकरागद्वेषजयेन वा कृतमनःशुद्धिर्मैत्री-प्रमोद-कारुण्य-माध्यस्थ्यपवित्रितचित्तो, भावितात्मा, पर्वतगुहा-जीर्णोद्यान-शून्यागारादौ मनुष्यापातविकलेऽवकाशे मनोविक्षेपनिमित्तशून्ये सत्त्वोपघातरहित उचिते शिलातलादौ यथासमाधानं विहितपर्यङ्काद्यासनः; "[1]जोगाण समाहाणं जह होइ तहा पयइअव्वं" इति वचनात्, मन्दमन्दप्राणापानप्रचारः, अतिप्राणनिरोधे चेतसो व्याकुलत्वेनैकाग्रतानुपपत्तेः, "[2]ऊसासं ण णिरु'भइ" इत्यादिवचनप्रामाण्यात्, निरुद्धलोचनादिकरणप्रचारो, हृदि ललाटे मस्तकेऽन्यत्र वा यथापरिचयं मनोवृत्तिं प्रणिधाय प्रसन्नवदनः पूर्वाभिमुख उदङ्मुखो (वा) ध्यायति धर्म्यम्। तत्र बाह्याध्यात्मिकभावानां याथात्म्यं धर्मस्तस्मादनपेतं धर्म्यम्। तच्च द्विविधम्-बाह्यम्, आध्यात्मिकं च। तत्र सूत्राऽर्थपर्यावर्तन-दृढव्रतता-शीलानुराग-निभृत-कायवाग्व्यापारादिरूपं बाह्यम्। आध्यात्मिकं चात्मनः स्वसंवेदनग्राह्यम्, अन्येषामनुमेयम्। तच्च तत्त्वार्थसंग्रहादौ संक्षेपतश्चतुर्विधमुक्तम्। अन्यत्र दशविधम्, अपायोपाय-जीवाजीव-विपाक-विराग-भव-संस्थाना-ऽऽज्ञा-हेतुविचयभेदात्।

लेश्याओं से अवरुद्ध नहीं होता, अपनी शक्ति के अनुसार मोक्ष के लिये अपेक्षित तीव्रानुष्ठान में प्रवृत्त होता है जिसके फलस्वरूप वह निर्मल चारित्र को प्राप्त कर ध्यानारोहण के क्रम से केवलज्ञान प्राप्त करता है। कहने का आशय यह है कि लेश्या की विशुद्धि से केवल अथवा भावनामूलक साम्य से अर्जित रागद्वेषजय द्वारा जिसका मन शुद्ध हो जाता है, एवं मैत्री, प्रमोद, करुणा तथा माध्यस्थ्य की भावना से जिसका चित्त पवित्र हो जाता है, तथा उत्तम संस्कारों से जिसका अन्त करण भावित=वासित बन जाता है ऐसा मनुष्य पर्वत की गुफा, प्राचीनवाटिका अथवा शून्यमन्दिर आदि में, ऐसे समय जब मनुष्य के प्रवेश की संभावना नहीं होती, किसी ऐसे उचित पाषाणशीला पर जहाँ मन के विक्षेप का कोई निमित्त नहीं होता तथा सत्त्व का कोई उपघात नहीं होता, योगसाधना के योग्य किसी भी पर्यंकादि आसन लगाकर बैठ जाता है। कोई भी आसन इस लिये कि मन वचन और काया जिस प्रकार से समाहित बने रहें उस प्रकार से ही प्रयत्न करना चाहिये। तथा प्राण के अत्यन्त निरोध से व्याकुल हो जाने के कारण चित्त की एकाग्रता का प्रतिबन्ध न हो इस विचार से अपने प्राण तथा अपान वायु का मन्द-मन्द संचार करता है और धीरे धीरे नेत्र आदि अन्य करणों की गति का अवरोध कर हृदय, ललाट, मस्तक अथवा किसी अन्य स्थान में अपनी जानकारी के अनुसार अपनी मनोवृत्ति को केन्द्रित कर देता है तथा पूर्वदिशा की या उत्तरदिशा की संमुख प्रसन्नवदन होकर धर्म्य ध्यान का अभ्यास करता है। धर्म्य का अर्थ है जो धर्मविरुद्ध न हो, धर्मसंगत हो, और धर्म का इस सन्दर्भ में

---

१. योगानां समाधानं यथा भवति तथा प्रयतितव्यम्। २. उच्छ्वासं न निरुन्ध्यात्।

१ तत्रापाये विचयो=विचारो यस्मिंस्तदपायविचयम्, एवमन्यत्रापि योज्यम्। 'दुष्टानां मनो-वाक्-कायव्यापारविशेषाणामपायः कथं नु नाम मे स्यात्? यद्वशात् प्राप्तेऽपि सौराज्ये भिक्षार्थे बालिश इव स्वायत्तेऽपि मोक्षे भवाय भ्रान्तवानस्मि ?' इत्येवंभूतः संकल्पप्रबन्धः, दोषपरिवर्जनपरिणतेः कुशलप्रवृत्तित्वादपायविचयम्।

२ तेषामेव कुशलानां स्वीकरणमुपायः, 'स कथं नु मे स्यात्, यतो भवति मोहपिशाचादात्मरक्षा ?' इति संकल्पप्रबन्ध उपायविचयम्।

३ असंख्येयप्रदेशात्मक-साकाराऽनाकारोपयोगित्वाऽऽनादित्व-कृतकर्मफलोपभोगित्वादिजीवस्वरूपानुचिन्तनं स्वात्ममात्रप्रतिबन्धौपयिकं जीवविचयम्।

अर्थ है बाह्य और आध्यात्मिक भावों का यथावस्थित स्वरूप। तात्पर्य यह है कि बाह्य और आध्यात्मिक भावों के वास्तविकस्वरूप के अनुरूप जो ध्यान है वही धर्म्य है। धर्म्य के दो भेद हैं बाह्य और आध्यात्मिक। सूत्रार्थ का पर्यावर्तन यानी पुनः पुनः अनुशीलन करना, व्रतों में दृढ बना रहना, शीलप्रेम, शरीर वाणी और मन का प्रशमगर्भित व्यापार आदि सब बाह्य धर्म्य ध्यानरूप है। आध्यात्मिक धर्म्य का अर्थ है आत्मधर्म का ध्यान जो सीर्फ स्वानुभववेद्य होता है, दूसरों को सीर्फ अनुमान से ही उसका पता लगता है। 'तत्त्वार्थसूत्र' आदि में आध्यात्मिक धर्म्य का संक्षेप से प्रसिद्ध चार भेद बताये गये हैं। अन्य ग्रन्थों में दश भेद भी बताये गये हैं जैसे अपायविचय, उपायविचय, जीवविचय, अजीवविचय, विपाकविचय, विरागविचय, भवविचय, संस्थानविचय, आज्ञाविचय और हेतुविचय।

(१) अपायविचयः—

जिस में अपाय के सम्बन्ध में विचय-विचार हो उसे अपायविचय कहा जाता है। उपायविचय आदि का भी इसी तरह समासविग्रह करके व्याख्या करनी चाहिये। हमारे मन, वचन और शरीर के उन दुष्ट व्यापारों की निवृत्ति कैसे हो? जिन के कारण ही मोक्ष अपने अधीन होते हुए भी उसकी उपेक्षाकर हम संसार के लिये, सांसारिक वैभव के लिये ही चारों ओर चक्कर लगाते हैं। हमारी दशा ठीक उस मूर्ख मनुष्य की दशा जैसी है जो एक सुन्दर समृद्ध राज्य पाकर भी भीख मांगता फिरता है। मन आदि के इन दुष्ट व्यापारों को निवृत्त करने के लिये ऐसी सतत संकल्प परम्परा ही अपायविचय है क्योंकि दोषपरिवर्जन के रूप में परिणत होने से कुशल प्रवृत्तिरूप है।

(२) उपायविचयः—

मन, वचन और शरीर के कुशल व्यापारों को अङ्गीकार करने का नाम है उपाय। ये उपाय हमें किसप्रकार सुलभ हो, जिस से मोह पिशाच से हमारी रक्षा हो सके इसप्रकार की सतत संकल्प परम्परा ही उपायविचय है, क्योंकि इसमें उपायों का विचार अन्तर्भूत है।

(३) जीवविचयः—

जीव असंख्येयप्रदेशस्वरूप है। साकार अनाकार भेद से उसके दो उपयोग हैं। वह अनादि तथा

---

* प्रत्यन्तरे 'दित्वकृ'।

४ धर्मा-ऽधर्मा-ऽऽकाश-काल-पुद्गलानां गति-स्थित्य-ऽवगाहना-वर्तना-ग्रहणगुणानामनन्त-पर्यायात्मकानामजीवानामनुचिन्तनं शोका-ऽऽतङ्कनिदानदेहात्माद्यभेदभ्रमापनोदनमजीवविचयम् ।

५ मूलोत्तरप्रकृतिभेदभिन्नस्य पुद्गलात्मकस्य कर्मणो मधुरकटुफलस्याऽऽ-ऽर्हतः संपदमा च नारकविपदमेकातपत्रसाम्राज्यप्रसरस्य विपाकचिन्तनं कर्मफलाभिलाषवैमुख्यविधायि विपाकविचयम् ।

६ "कुत्सितमिदं शरीरं शुक्रशोणितसमुद्भूतमशुचिभृतं वारुणीघटोपममशुचिपरिणामि च यत्र क्षिप्तमात्राण्येव मिष्टान्नान्यपि विष्ठासाद् भवन्ति, मूत्रसाच्चामृतान्यपि । तथाऽनित्यमपरित्राणं च; न खलु समुपस्थिते यमातङ्के पिता, माता, भ्राता, स्वसा, स्नुषा, तनयो वा त्रातुमीष्टे । तथा, गलदशुचिनवच्छिद्रतयाऽशुचि, नात्र किञ्चित् कमनीयतरमस्ति । किंपाकफलोपमोगोपमा विपाककटवः प्रकृत्या भङ्गुराः पराधीनाः संतोषामृतास्वादपरिपन्थिनः सद्भिर्निग-

---

अपने किये कर्मों के फलों का भोक्ता है, जीवस्वरूप के ऐसे अनुचिन्तन से चिन्तक स्वात्म मात्र में प्रतिबद्ध हो जाता है, जीवविषयक विचार के अन्तर्भूत होने से इस अनुचिन्तन को जीवविचय कहा जाता है ।

(४) अजीवविचयः—

धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल ये अजीव हैं । इन में धर्म का गुण है गतिसहाय, अधर्म का गुण है स्थितिसहाय, आकाश का गुण है अवगाहना, काल का गुण है वर्त्तना और पुद्गल का गुण है ग्रहण । सभी अजीव अनन्त पर्यायरूप हैं, अजीवों के इस अनुचिन्तन से शोक और भय के हेतु देहात्मैक्यबुद्धि का परिहार होता है । अजीवविषयकविचार के अन्तर्भाव के कारण इसे अजीवविचय कहा जाता है ।

(५) विपाकविचयः—

कर्म पुद्गल रूप है । मूल प्रकृति-उत्तरप्रकृति के भेद से वह मुख्यतया द्विविध है-मधुर, कटु आदि अनेक उनके फल हैं । अर्हत् पद की समृद्धि से लेकर नारकीय जीवन तक इसका साम्राज्य फैला है । इसके विपाक-फलप्रद उदय का अनुचिन्तन कर्मफल की कामना का निवर्त्तक है । इस अनुचिन्तन में विपाकविषयकविचार का समावेश होने से इसे विपाकविचय कहा जाता है ।

(६) विरागविचयः—

हमारा यह शरीर अत्यन्तजुगुप्सापात्र है । शुक्र और शोणित से इसकी उत्पत्ति होती है । यह अपवित्र वस्तुओं से भरा है, मद्यघट के समान इस का परिणाम अशुचि है । मधुर से मधुर अन्न इसमें पड़कर विष्ठा बन जाता है, अमृत भी मूत्र बन जाता है । यह अनित्य और असुरक्षित है, मृत्यु का भय उपस्थित होने पर पिता, माता, भाई, बहन, पतोहू, पुत्र कोई इसकी रक्षा नहीं कर पाता । गलते

दिता विषयाः, तदुद्भवं च सुखं लालापातनाद् बालानां दुग्धास्वादसुखवद्पारमार्थिकमिति नात्राऽऽस्था विवेकिनां युक्ता। विरतिरेवातः श्रेयस्कारिणी। प्रज्वलितज्वलनकल्पो ह्ययं गृह-निवासः, यत्र दारुदाहं दहन्ति विषयस्निग्धानीन्द्रियाणि, प्रसरति च धूमधारेवाज्ञानपरम्परा, धर्ममेघ एव तद्विध्यापनाय पटुरिति तत्रैव प्रयत्न उचित" इत्यादि रागहेतुविरोधानुचिन्तनं साक्षादेव समुल्लसितपरमानन्दास्वादं वैराग्यविचयम्।

७ प्रेत्यस्वकृतकर्मफलोपभोगार्थं प्रादुर्भावः, तत्र चाऽरघट्टघटीयन्त्रवद् मूत्र-पुरीषा-ऽन्त्रम-यदुर्गन्धिजठरकोटरादिष्वजस्रमावर्तमानस्य स्वकृतभोक्तुर्जन्तोर्न कश्चित् सहाय इत्यादि भवसं-क्रान्तिपर्यालोचनं सत्प्रवृत्तिहेतुभवनिर्वेदनिदानं भवविचयम्।

८ अधोवेत्रासनसमः, मध्ये झल्लरीनिभः, अग्रे मुरजसंनिभो लोकश्चतुर्दशरज्ज्वात्मक इत्यादि संस्थानानुचिन्तनं विषयान्तरसंचारविरोधि संस्थानविचयम्।

हुये नव छिद्रों से युक्त होने से यह अशुचि है। इसमें कुछ भी सुंदर नहीं है। विषयों के सम्बन्ध में सत्पुरुषों का कहना है कि विषयों का उपभोग किम्पाक फल के उपयोग के समान परिणाम में कटु, स्वभावतः नश्वर, पराधीन और सन्तोषामृत के आस्वाद के विरोधी होते हैं। उनसे उत्पन्न सुख लार गिरने से बच्चों को प्राप्त होनेवाले दुग्धास्वाद के सुख के समान मिथ्या है। अतः विषयसुख में विवेकी पुरुषों की कोई आस्था नहीं होती। विषयविरक्ति ही श्रेयस का साधन होती है। गृह में निवास जलती आग के समान दाहक होता है, जिस में विषयस्नेह से सिक्त इन्द्रियाँ मनुष्य को तैलसिक्त काष्ठ के समान दग्ध करती हैं और धूमधारा के समान अज्ञान परम्परा का प्रसार होता है। धर्ममेघ ही इस आग को शान्त करने में समर्थ होता है। रागहेतु के विरोध का यह अनुचिन्तन साक्षात् परमानन्द के ही आस्वाद को समुल्लसित करता है। वैराग्यविषयकविचार के अनुप्रवेश से इस अनुचिन्तन को विरागविचय कहा जाता है।

(७) भवविचयः—

पूर्वकृत कर्मों के उपभोग के लिये मृत्यु के बाद मनुष्य का नया जन्म होता है। कुएं से पानी निकालने के लिये जो घटीयन्त्र घडों का यन्त्र बनता है उसे अरघट्ट—अरहट कहा जाता है उसमें बंधे घडे, जैसे कुयें के भीतर और बाहर निरन्तर चक्कर लगाते रहते हैं वैसे ही जीव भी मूत्र, मल तथा आंतों के दुर्गन्ध से भरे पेट के कोटरों में निरन्तर चक्कर लगाते रहते हैं, कर्मों के फलभोग में दूसरा कोई उनका सहायक नहीं होता। संसार के संक्रमण का यह पर्यालोचन सत् प्रवृत्ति के हेतुभूत भव-निर्वेद का जनक होता है। इसमें भवविचार की बहुलता होने से इसे भवविचय कहा जाता है।

(८) संस्थानविचयः—

लोक नीचे की ओर बेंत के आसन के समान आकार वाला है, मध्य में झल्लरी के समान आकारवाला है और उपर मुरज के समान आकारवाला है तथा असंख्य कोटाकोटीयोजन प्रमाण एक रज्जु-ऐसा १४ रज्जु प्रमाण यह ऊपर-नीचे आयत-संस्थान-लोक के आकार का यह अनुचिन्तन

९ हेतूदाहरणादिसद्भावेऽपि बुद्ध्यतिशयविकलैः परलोक बन्ध-मोक्ष-धर्मा-ऽधर्मादिभावेष्वतीन्द्रियत्वादत्यन्तदुःखबोधेष्वाप्तप्रामाण्यात् तद्विषयं तद्वचनं नानृतमित्यनुचिन्तनं सकलप्रवृत्तिजीवातुश्रद्धासंतत्यविच्छेदकरमाज्ञाविचयम् ।

१० आगमविषयविप्रतिपत्तौ तर्कानुसारिबुद्धेः पुंसः स्याद्वादप्ररूपकागमस्य कष-च्छेद-तापशुद्धितः समाश्रयणीयत्वगुणानुचिन्तनं विशिष्टश्रद्धाभिवृद्धिकरं हेतुविचयम् ।

तदेवंविधधर्मध्यानरूपसंवरमाहात्म्यात् निर्जीर्णबहुकर्मणः पीत-पद्म-सितलेश्याबलाधानवतोऽप्रमत्तसंयतस्य कषायदोषमलापगमात् शुचित्वं भवति । ततः चरमशरीरः परमशुक्ललेश्याकृतापूर्वस्थितिरसघात-गुणश्रेणि-गुणसंक्रम-स्थितिबन्धादिक्रमो अक्रामुपशमश्रेणीं विहाय ऋज्वीं क्षपकश्रेणिं प्रतिपन्नः आद्यं शुक्लध्यानं ध्यायति पृथक्त्ववितर्कसवीचाराख्यम् । तत्र पृथक्त्वं नानात्वम्, वितर्कः श्रुतज्ञानम्, तच्च पूर्वगतमन्यद् वा न तु पूर्वगतमेव, मारुदेव-मरु-

---

अन्य विषयों के संचार का विरोधी है, संस्थानविषयक विचार की प्रधानता से इसे संस्थानविचय कहा जाता है।

(९) आज्ञाविचयः—

हेतु, उदाहरण आदि हेतु होते हुये भी उत्कृष्ट बुद्धि रहित पुरुषों को परलोक, बन्ध, मोक्ष, धर्म, अधर्म आदि अतीन्द्रिय भावों का बोध अत्यन्त दुर्लभ होता है। आप्त पुरुष प्रमाण होने से इन वस्तुओं के विषय में उन का वचन मिथ्या नहीं हो सकता, इन वस्तुओं के ऐसे अनुचिन्तन से सम्पूर्ण सत्प्रवृत्ति के प्राणभूत श्रद्धासन्तान की अविच्छिन्नता बनी रहती है, आज्ञा यानी आप्तोपदेश के विचार का अन्तर्भाव होने से इस अनुचिन्तन को आज्ञाविचय कहा जाता है।

(१०) हेतुविचयः—

आगम से प्रतिपाद्य विषयों के सम्बन्ध में संमत्य होने पर तर्कयुक्त बुद्धि से [1]कषण, छेदन तापन-ऊहापोहविमर्शमय परीक्षण द्वारा स्याद्वाद शास्त्र की शुद्धता का परीक्षण करके बुद्धिमान पुरुष को उसी शास्त्र का आश्रय लेना चाहिये। इसप्रकार के अनुचिन्तन से स्याद्वादशास्त्र में विशिष्ट श्रद्धा की अभिवृद्धि होती है, इसमें स्याद्वाद-आगम की शुद्धताबोधकहेतु के विचार का समावेश होने से इसे हेतुविचय कहा जाता है।

[धर्मध्यान से शुक्लध्यान की ओर]

उक्तप्रकार के धर्मध्यानरूप संवर के प्रभाव से बहुत से कर्मों की निर्जरा हो जाती है। पीत पद्म, सितलेश्या प्रबल हो जाती है। संयम पालन में प्रमाद नहीं होने पाता, कषायदोषरूपी मल की

---

१. मुक्ति के उद्देश से जिस शास्त्र में अनुकूल विधि-निषेध बताये गये हो वह शास्त्र कषशुद्धि वाला है। विधि-निषेध का योगक्षेम करने वाली क्रिया आचार का प्रतिपादक शास्त्र छेदशुद्धिवाला है। किसी एक अंग से नहीं किन्तु सर्वांग से वस्तु का निरूपण करने वाला शास्त्र तापशुद्धि वाला है।

देव्यादौ व्यभिचारात् । वीचारोऽर्थ-व्यञ्जन-योगसंक्रान्तिः, तथाहि-अयमेकं द्रव्यपरमाणुं भावपरमाणुं वाऽवलम्ब्योत्पाद-स्थिति-भङ्गादीन् पर्यायांश्चिन्तयन्नर्थपर्यायाद् व्यञ्जने, व्यञ्जनाद् वाऽर्थे, मनोयोगात् काययोगे वाग्योगे वा, काययोगाद् मनोयोगे वाग्योगे वा, वाग्योगाद् मनोयोगे काययोगे वा संक्रामतीति । न चैवमर्थ-व्यञ्जनयोर्योगान्तरेषु संक्रमणात् कथं मनःस्थैर्यम्, तदभावाच्च कथं ध्यानत्वम् ? इत्याशङ्कनीयम्, एकद्रव्यविषयत्वेन मनःस्थैर्यसंभवात्, ध्यानत्वाऽविरोधात् । न चान्यद्रव्यचिन्तानन्तरितत्वरूपचिन्तास्थैर्योपपत्तावपि योगान्तरानन्तरितत्वरूपयोगस्थैर्यानुपपत्तिरिति शङ्कनीयम्, तदभावेऽपि ध्यानत्वनियतप्रयत्नदार्ढ्यस्य गात्रदृष्टिपरिस्पन्दाभावाद्यभिव्यङ्ग्यातिशयरूपस्यानपायात्, उत्कर्षविशेषस्य च द्वितीयभेदनियतत्वादिति । तदिदं केषाञ्चिदेकयोगभाजां, भंगिकश्रुतं पठतां च योगत्रयभाजामपि न विरुध्यत इति ।

निवृत्ति हो जाती है फलतः ध्यानकर्त्ता पवित्र हो जाता है । उसके बाद अन्तिम शरीर प्राप्त होने पर परमशुक्ललेश्या द्वारा अपूर्वस्थितिघात, रसघात, गुणश्रेणी, गुणसंक्रम, अपूर्व स्थितिबन्ध आदि क्रम से प्रगति करता हुआ ध्यानकर्त्ता पुरुष उपशम की वक्र श्रेणी को त्यागकर क्षपक की ऋजु श्रेणी में पहुंचता है और वहां पृथक्त्ववितर्क सविचार नामक प्रथम शुक्ल ध्यान में अवस्थित होता है । पृथक्त्व का अर्थ है नानात्व, वितर्क का अर्थ है श्रुतज्ञान, वह चाहे १४ पूर्वगत भी हो सकता है और तदितर भी हो सकता है किन्तु पूर्वगत ही होने का नियम नहीं है क्योंकि माषतुष, मरुदेवी आदि में पूर्वगत श्रुतज्ञान का अभाव था । विचार का अर्थ है अर्थपर्याय और व्यंजनपर्याय का मिथः संक्रमण और मन वचन काया का संक्रमण । आशय यह है कि ध्यानकर्त्ता किसी एक द्रव्यपरमाणु अथवा भावपरमाणु के उत्पत्ति, स्थिति, नाश आदि पर्यायों का चिन्तन करते हुये अर्थपर्याय से व्यञ्जनपर्याय में अथवा व्यञ्जनपर्याय से अर्थपर्याय में, किंवा मनोयोग से काययोग या वाग्योग में, काययोग से मनोयोग या वाग्योग में अथवा वाग्योग से मनोयोग या काययोग में संक्रमण करता है । यदि यह शंका की जायगी कि 'यदि मनोयोग का इस प्रकार अर्थ और व्यञ्जन पर्यायों में अन्ययोगों में संक्रमण मानने पर मन में स्थिरता कैसे होगी और मन में स्थिरता न होने पर ध्यान कैसे होगा ?'-तो यह उचित नहीं है, क्योंकि एकद्रव्य के विषय में मन के स्थिर होने से उसकी ध्यानरूपता में कोई बाधा नहीं हो सकती । इस पर भी यदि यह शंका की जाय कि 'एकद्रव्य की चिन्ता में अन्य द्रव्य की चिन्ता का व्यवधानराहित्यरूप स्थैर्य होने पर भी योगान्तर के व्यवधानराहित्यरूप योगस्थैर्य की सिद्धि तो अनुपपन्न ही रहेगी'-तो यह शङ्का ठीक नहीं है क्योंकि योगस्थैर्य के अभाव में भी ध्यानत्व के व्याप्य प्रयत्नदृढता का, जो शरीर एवं दृष्टि की निष्क्रियता से प्रवगम्यमान अतिशयरूप है, अभाव नहीं होता, ध्यान का जो योगस्थैर्यरूप विशेष बताया गया है वह आद्यशुक्लध्यान में नियत न होकर ध्यान के दूसरे भेद में नियत है अतः योगस्थैर्य न होने पर भी चित्तस्थैर्यमात्र से आद्यशुक्लध्यान की उत्पत्ति हो सकती है । फलतः कतिपय पुरुषों को एकयोगमात्र से, तथा भङ्गिकश्रुत पढनेवाले पुरुषों को तीनों योगों से प्राद्यध्यान होने में कोई विरोध नहीं होता ।

ततोऽसावासन्नकल्याणः समुत्खातप्रचुरापायो द्वितीयं शुक्लध्यानमवलम्बत एकत्ववितर्कस-(१अ)विचाराख्यम् । इदं ह्येकपरमाण्वादावेकमेव पर्यायमालम्ब्यत्वेनादायाऽऽहितान्यतरैकयोग-बलमाश्रितव्यतिरिक्ताशेषार्थ-व्यञ्जनयोगसंक्रमविषयचिन्ताविक्षेपरहितमत्यन्तमेकाग्रम्, आद्य-शुक्लेऽर्थ-व्यञ्जनयोगेषु यथासंक्रमक्रमं[1] निवृत्त्यभ्यासाद्, अत्र सर्वविषयेभ्यो व्यावर्त्याणुमात्रे मनसो धरणात्, मान्त्रिकेण मन्त्रबलात् सर्वाङ्गगतस्य विषस्य दंशदेशे धरणवत् । सुकरं हि ततस्तदपनयनमिति । अत्र खलु ज्ञान-दर्शन-चारित्राण्येकीभावं प्रकर्षं च यान्ति, बोध-श्रद्धाना-ऽना-श्रवरूपत्वात्, फलाभिमुखत्वात्, वीतरागभावाच्च । ततोऽस्मात् परमनिर्जरारूपाद् घातिकर्मचतु-ष्टयक्षये परमशुक्लध्यानद्वयस्याप्रे प्राप्यत्वाद् ध्यानान्तरे वर्तमानः केवली भवति कृतकृत्यः सकलसुरनिकायनायकपूजितचरणाम्भोज इति ॥ २० ॥

ततः किमित्याह—

मूलम्—ततः स सर्वविद् भूत्वा भवोपग्राहिकर्मणः ।
ज्ञानयोगात् क्षयं कृत्वा मोक्षं प्राप्नोति शाश्वतम् ॥ २१ ॥

[प्रथम शुक्लध्यान द्वितीय शुक्लध्यान पर]

जब मनुष्य आद्यध्यान में परिनिष्ठित हो जाता है तब उसका कल्याण मोक्षलाभ सन्निहित हो जाता है । बहुतर अपाय-उच्छिन्न हो जाते हैं और तब वह द्वितीय शुक्लध्यान का अवलम्बन लेता है । जिसे एकत्व वितर्क अविचार कहा जाता है । एकपरमाणु का एक ही पर्याय इस ध्यान का आलम्बन होता है । इसमें मन-वचन-काय तीन योगों में किसी एक के ही बल का आधान होता है । यहां जिस योगबल से जिस एक द्रव्य के जिस पर्याय का आलम्बन किया गया है उससे अन्य योग, अर्थ और व्यंजन में संक्रान्ति नहीं होती और इस ध्यान में अन्य विषयों की चिन्ता का विक्षेप भी नहीं होता इसलिये इसमें पूरी एकाग्रता होती है । आद्यशुक्लध्यान में अर्थ व्यञ्जन और योग में संक्रम क्रम से निवृत्ति का अभ्यास हो जाने के कारण यहाँ सभी विषयों में व्यावृत्त होकर मन एक अणुमात्र में धारित होता है । एक अणुमात्र में धारित मन की उस अणु से निवृत्ति उतनी ही सरल होती है जितनी सर्प आदि से डंसे मनुष्य को उस विष की दंशदेश में केन्द्रित होने पर निवृत्ति सरल होती है जिसे मन्त्रवेद्य मन्त्र द्वारा सम्पूर्ण शरीर से खींचकर डंसे हुए स्थान मात्र में स्थापित कर लेता है । द्वितीय शुक्लध्यान में ज्ञान, दर्शन और चारित्र क्रम से बोध, श्रद्धान तथा अनाश्रवरूप होने से, फलोन्मुख होने से, एवं वीतरागभाव प्रकट हो जाने से एकीभाव और उत्कर्ष को प्राप्त करते हैं । उसके पश्चात् इस परमनिर्जरारूप द्वितीय शुक्लध्यान से घाती चार कर्मों का क्षय होने पर, दो परम शुक्ल ध्यानों की प्राप्ति कालान्तर में होने वाली है अतः दो ध्यान युगल के अन्तर यानी ध्यानान्तर में विद्यमान मुनि केवली-केवलज्ञानसम्पन्न और कृतकृत्य हो जाता है । सम्पूर्ण देवसमूह के नायक इन्द्र उसके चरणकमल की पूजा करने लगते हैं ॥ २० ॥

१. प्रत्यन्तरे 'क्रमं' ।

ततः=केवललाभोत्तरम्, सः=महात्मा, सर्वविद् भूत्वा=केवलीभूय,-'भूत्वा घटस्तिष्ठति' इत्यादाविवोत्पत्त्यनन्तरं स्थित-इति व्यवहारनयाभिप्रायादित्थमुक्तिः, भवोपग्राहिकर्मणः-जात्यपेक्षयैकवचनम्, भवोपग्राहिणां वेदनीयाऽऽयुर्नाम-गोत्राणाम्, ज्ञानयोगात्=समुद्घात-चरमशुक्लद्वयध्यानरूपावस्थाविशिष्टज्ञानरूपादेव योगात्, क्षयं कृत्वा=आत्मनः पृथग्भावं विधाय, शाश्वतम्=अपुनरावृत्तेर्नित्यम्, मोक्षं=महानन्दं प्राप्नोति। तथाहि-अयं खलु भगवान् क्षायिकज्ञान-दर्शन-चारित्र-वीर्यातिशयसंपत्समन्वितो जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तम्, उत्कर्षतश्च देशोनपूर्वकोटिं भवोपग्राहिकर्मवशाद् विहरन् यदाऽन्तर्मुहूर्तपरिशेषायुष्कस्तत्तुल्यस्थितिकनाम-गोत्र-वेदनीयश्च भवति तदा मनो-वाग्-बादरकाययोगनिरोधादुपगतसूक्ष्मकाययोगस्तृतीयं सूक्ष्मक्रियाऽप्रतिपाति शुक्लध्यानमध्यास्ते। तथाहि-प्रथमं बादरकाययोगेन बादरौ वाङ्मनसयोगौ निरुणद्धि। ततः सूक्ष्मकाययोगेन बादरकाययोगं निरुणद्धि सति तस्मिन् सूक्ष्मयोगस्य निरोद्धुमशक्यत्वात्; न हि धावन् वेपथुं वारयतीति। ततश्च सर्वबादरयोगनिरोधानन्तरं सूक्ष्मेण काययोगेन सूक्ष्मौ वाङ्मनसयोगौ निरुणद्धीति। यदा त्वन्तर्मुहूर्तायुष्काभ्यधिकतरस्थितिशेषकर्मत्रयो भवत्यसौ, तदा तत्समीकरणाय स्थितिघात-रसघाताद्यर्थं समुद्घातं करोति। तदुक्तम्—

[सर्वकर्मक्षय की अन्तिम प्रक्रिया]

२१वीं कारिका में केवलज्ञान प्राप्त होने के बाद की स्थिति का वर्णन है। कारिका का अर्थ इस प्रकार है-मोक्षार्थी महात्मा केवलज्ञान की प्राप्ति के बाद सर्वज्ञ बन कर भव में पकड कर रखने वाले कर्मों का ज्ञानयोग द्वारा नाश कर के शाश्वत-नित्य मोक्ष को प्राप्त करता है। 'मोक्षार्थी केवलज्ञान का लाभ पाकर सर्वज्ञ होता है।' यह कथन आपाततः यद्यपि असंगत लगता है क्योंकि एक ही वस्तु में पूर्वापरभाव की संगति नहीं होती तथापि व्यवहार नय से उत्पत्ति और स्थिति में भेद की कल्पना कर जैसे 'भूत्वा घटस्तिष्ठति-घट उत्पन्न होकर स्थित होता है'-इस व्यवहार का समर्थन किया जाता है, वैसे ही केवलज्ञान के उदय और केवलीभाव से स्थिति में भेद की कल्पना कर व्यवहार नय से उक्त कथन का भी समर्थन किये जाने में कोई बाधा नहीं हो सकती। भवोपग्राही कर्म का एकवचनान्त निर्देश जाति की अपेक्षा से किया गया है अतः एकवचनान्त कर्मशब्द से किसी एक कर्मव्यक्ति का ग्रहण न होकर भवोपग्रह के कारणभूत कर्म के सजातीय सभी कर्मों का ग्रहण होता है। वे कर्म चार जाति के हैं, वेदनीय कर्म, आयु कर्म, नामकर्म और गोत्रकर्म। इन कर्मों का क्षय उस ज्ञान से होता है जो अन्तिम शुक्लध्यानद्वयरूप समुद्घात की अवस्था में पहुंचकर योगस्वरूप हो जाता है। ज्ञानयोग से कर्मों का जो क्षय होता है वह आत्मा से उनका पृथग्भावरूप है न कि उनका आत्यन्तिकस्वरूपनाशरूप, इस कर्मक्षय से शाश्वत मोक्ष की प्राप्ति होती है। शाश्वत मोक्ष का अर्थ है नित्य निरतिशय आनन्द। मोक्ष नित्य होता है क्योंकि मुक्त की पुनरावृत्ति-पुनर्जन्मप्राप्ति नहीं होती।

"यस्य पुनः केवलिनः कर्म भवत्यायुषोऽतिरिक्ततरम् ।
स समुद्घातं भगवानथ गच्छति तत्समीकर्तुम् ॥ १ ॥"

सम्यग्-अपुनर्भावेन, उत्-प्राबल्येन हननं समुद्घातः-शरीराद् बहिर्जीवप्रदेशानां निःसारणम् ।

अयं चात्र क्रमः-प्रथमसमये स्वदेहतुल्यविष्कम्भमूर्ध्वमधश्चायतं लोकान्तगामिनं जीवप्रदेशसंघातं दण्डाकारं केवली करोति, द्वितीयसमये तु तमेव दण्डं पूर्वापरदिग्द्वयप्रसारणाद् पार्श्वतो लोकान्तगामिनं कपाटमिव कपाटं करोति, तृतीयसमये तु तदेव कपाटं दक्षिणोत्तरदिग्द्वयप्रसारणाद् मन्थानमिव मन्थानं करोति लोकान्तप्रापिणमेव । एवं च लोकस्य प्रायो बहु

बात यह है कि मोक्षार्थी जब क्षायिक ज्ञान, दर्शन, चारित्र और वीर्यातिशय की सम्पत्ति से युक्त होकर भवधारक कर्म के प्रभाव से कम से कम [1]अन्तर्मुहूर्त्त तथा अधिकाधिक किंचिद् न्यून [2]पूर्वकोटि वर्ष तक विहार करता है तथा जब उसका आयुःकर्म समानस्थिति वाले नाम, गोत्र तथा वेदनीय कर्मों के साथ अन्तर्मुहूर्त्तमात्र ही शेष रह जाता है तब वह मन वाक् तथा [3]बादरकाय योग के निरोध द्वारा सूक्ष्म काययोग में आरूढ हो कर सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति नाम के तृतीय शुक्लध्यान में प्रवेश करता है । पहले वह बादरकाय योग से बादरवाग्योग तथा मनोयोग का निरोध करता है । उसके बाद सूक्ष्म काययोग से बादरकाययोग का निरोध करता है, क्योंकि बादरवाग्योग के रहते सूक्ष्मकाययोग का निरोध ठीक उसीप्रकार शक्य नहीं होता जैसे दौड़ते समय कम्प का निरोध शक्य नहीं होता । सम्पूर्ण बादरयोग का निरोध करने के पश्चात् केवली सूक्ष्मकाय योग के द्वारा सूक्ष्म वाग्योग और सूक्ष्ममनोयोग का निरोध करता है । अन्तर्मुहूर्त्त आयु शेष रहने पर जब उसके शेष तीन कर्मों की स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त से अधिक काल तक होती है तब उन कर्मों के समीकरण के लिये स्थितिघात और रसघात आदि के निमित्त केवली समुद्घात करता है । समुद्घात का अर्थ है-जीव के प्रदेशों का शरीर से इसप्रकार का बहिःप्रसारण जिससे कर्मों का अपुनर्भावरूप से प्रबलघात हो जाय । इस तथ्य को एक कारिका में प्रकट किया गया है उसका अर्थ इसप्रकार है जिस केवली के कर्म आयुः कर्म से अधिक काल तक स्थायी होता है वह उन कर्मों का समीकरण करने के लिये समुद्घातक्रिया करता है । समुद्घात शब्द का यौगिक अर्थ है-जीव प्रदेशों का शरीर से इस प्रकार का बहिःप्रसारण जिससे कर्मों का अपुनर्भावरूप से प्रबलघात हो जाय ।

[समुद्घात की सविस्तर प्रक्रिया]

इस क्रिया का क्रम इसप्रकार है-केवली सर्वप्रथम जीव के प्रदेश समूह को दण्ड के आकार में परिवर्तित करता है । वह दण्ड लोकान्त तक लम्बा होता है, उपर और नीचे की ओर उसका विस्तार होता है । उसकी रचना-स्थूलता केवली के देह की स्थूलता के समान होती है । दूसरे समय दण्डाकार जीव प्रदेशों को कपाट (विशाल फलक) के आकार में परिवर्तित करता है, उसका फैलाव

१. अन्तर्मुहूर्त्त—घटिकाद्वयान्तर्गत काल को अन्तर्मुहूर्त्त कहते हैं ।
२. किंचिद् न्यूनपूर्वकोटि—१ पूर्व = ७०५६० × १०⁶ वर्ष ।
३. बादरकाययोग—काया के स्थूल व्यापार बादर काययोग है ।

पूरितं भवति । चतुर्थसमये त्वनुश्रेणिगमनात् मन्थान्तराण्यपूरितानि सह लोकनिष्कुटैः पूरयति । ततश्च सकलो लोको जीवप्रदेशैः पूरितो भवति । लोकपूरणश्रवणादेव हि परेषामात्मविभुत्ववादः समुद्भूतः, तथा चार्थवादः-' विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतःपात्" इत्यादि । तदा चासौ भवति समीकृतभवोपग्राहिकर्मा, विरलीकृतार्द्रशाटिकादिज्ञातेन क्षिप्रं तच्छोषोपपत्तेः । ततः पञ्चमसमये मन्थान्तराणि जीवप्रदेशरूपाणि सकर्मकाणि संकोचयति । षष्ठे समये मन्थानमुपसंहरति, घनतरसंकोचात् । सप्तमे समये कपाटमुपसंहरति, दण्डात्मनि संकोचात् । अष्टमसमये दण्डमुपसंहृत्य शरीरस्थ एव भवतीति ।

समुद्घातकाले च मनोवाग्योगव्यापारप्रयोजनाभावात् काययोगस्यैव केवलस्य व्यापारः । तत्रापि प्रथमाऽष्टमसमययोरौदारिककायप्राधान्यादौदारिककाययोग एव, द्वितीय-षष्ठ-सप्तमेषु पुनरौदारिकाद् बहिर्गमनात् कार्मणवीर्यपरिस्पन्दादौदारिक-कार्मणमिश्रः, तृतीय--चतुर्थ--पञ्चमेष्वौदारिकाद् बहिर्बहुतरप्रदेशव्यापारादसहायकार्मणयोग एव । परित्यक्तसमुद्घातश्च कारणवशाद् योगत्रयमपि व्यापारयति, यथाऽनुत्तरसुरपृष्टो मनोयोगं सत्यं वाऽसत्यामृषं वा प्रयुङ्क्ते;

पूर्व और पश्चिम दो दिशाओं में होता है, जो दोनों ओर लोकान्त तक लम्बा होता है । तीसरे समय वह उस कपाट को मन्थनदण्ड के रूप में परिवर्तित करता है, इसका फैलाव दक्षिण और उत्तर इन दो दिशाओं में होता है, वह भी लोकान्त तक लम्बा होता है । इस क्रिया से लोक का प्रायः बहुभाग जीव के प्रदेशों से आक्रान्त हो जाता है । चौथे समय अनुश्रेणी गमन से मन्थनदण्ड के जो अन्तराल जीव प्रदेशों से अनाक्रान्त थे उन्हें केवली लोकनिष्कुट पर्यन्त जीव प्रदेश से पूर्ण करता है, फलतः सम्पूर्ण लोक जीव के प्रदेशों से भर जाता है । जीव द्वारा सम्पूर्णलोक की इस पूर्ति के आधार पर ही न्यायवैशेषिक दर्शन के आत्मविभुत्ववाद का उद्भव हुआ है । जैसे कि जीव द्वारा सम्पूर्ण लोक की इस पूर्ति का समर्थन एक वेदगत अर्थवाद वाक्य द्वारा किया गया है जिसका अर्थ इसप्रकार है-जीव का नेत्र, जीव का मुख, जीव का बाहु और जीव का पैर समूचे विश्व में फैला हुआ है । उक्तरीति से समुद्घात क्रिया द्वारा जब केवली के संसारापादक कर्मों का समीकरण हो जाता है तब उन कर्मों की निवृत्ति बड़ी शीघ्रता से ठीक उसीप्रकार होती है, जिसप्रकार पूरे विस्तार में फैलाई हुई गीली साड़ी आदि की आर्द्रता की निवृत्ति बड़ी शीघ्रता से होती है । पाँचवें समय में केवली जीवप्रदेशरूप मन्थनदण्ड के अन्तराल को कर्मों के साथ संकुचित करता है । छठे समय में अत्यन्त घन संकोच के द्वारा मन्थनदण्ड को संक्षिप्त करके कपाट करता है । सातवें समय में कपाट का संकोच कर के दण्डाकार बनाता है और आठवें समय में दण्डाकार को भी संक्षिप्त कर केवली समस्त जीवप्रदेशों के साथ अपने वर्तमान शरीर में अवस्थित हो जाता है ।

[समुद्घात में योगव्यापार]

समुद्घात क्रिया के समय मनोयोग और वाग्योग के व्यापार का कोई प्रयोजन न होने से केवल काययोग का ही व्यापार होता है, उस अवधि में उसके पहले और आठवें समय में औदारिक

एवमामन्त्रणादौ वाग्योगमपि, काययोगमपि फलकप्रत्यर्पणादाविति। ततोऽन्तमुहूर्तेन योगं निरुन्धानस्तृतीयं शुक्लध्यानभेदं परिसमापयति। ततः स्वात्मनैव काययोगमचिन्त्यवीर्यप्रभावाद् निरुन्ध्य समुच्छिन्नक्रियाऽनिवृत्तिसंज्ञं चतुर्थं शुक्लध्यानभेदं ध्यायति।

अमनस्कत्वात् कथं केवलिनो ध्यानम्? इति पर्यनुयोग एवं प्रत्यभिदधति–'यथा कुलालचक्रे भ्रमणनिमित्तदण्डाद्यभावेऽपि पूर्वाभ्यासाद् भ्रमणम्, तथा मनःप्रभृतिसर्वयोगोपरमेऽप्ययोगिनो ध्यानं भवति। तथा, यद्यपि द्रव्यतो योगा न सन्ति, तथापि जीवोपयोगरूपभावमनःसद्भावादयोगिनो ध्यानम्। यद्वा, ध्यानकार्यस्य कर्मनिर्जरणस्य हेतुत्वाद् ध्यानं तदुच्यते, यथा पुत्रकार्यादपुत्रोऽपि पुत्र उच्यत इति। अथवा, हर्यादिशब्दवद् ध्यानशब्दस्य नानार्थत्वाद् ध्यानं तत्; तथाहि–'ध्यै चिन्तायाम्' 'ध्यै काययोगनिरोधे' 'ध्यै अयोगित्वे' वदन्ति हि—

"निपाताश्चोपसर्गाश्च धातवश्चेति ते त्रयः। अनेकार्थाः स्मृता लोके पाठस्तेषां निदर्शनम् ॥१॥" इति।

जिनागमाद् वाऽयोगिनो ध्यानम्, इति।

काय की प्रधानता होने से औदारिक काययोग का ही व्यापार होता है। दूसरे, छठे और सातवें में औदारिककाय से कुछ जीवप्रदेशों का बहिर्गमन होता है और वहां कार्मणशरीरवीर्य का परिस्पन्द होता है, इसलिए उन समयों में औदारिक और कार्मणशरीरों का मिश्र व्यापार होता है। तीसरे, चौथे और पाँचवें समय में जीव के बहुतर प्रदेशों का व्यापार औदारिकशरीर के बाहर होता है। उस समय कार्मणशरीर औदारिकशरीर से असहकृत हो जाता है। समुद्घात पूर्ण हो जाने पर स्वदेहावस्थित केवली कारणवश काययोग, मनोयोग और वाग्योग इन तीनों योगों को व्यापार युक्त बनाता है। जैसे-अनुत्तर देवताओं के प्रश्न का उत्तर प्रस्तुत होने पर केवली सत्य अथवा असत्य-अमृषा मनोयोग का प्रयोग करता है। आमन्त्रण आदि में वाग्योग का प्रयोग करता है और पीठफलकादि के प्रत्यर्पण आदि में काययोग का प्रयोग करता है। इन सब के अनन्तर केवली अन्तमुहूर्त्त समय में योग का पूर्णतया निरोध कर शुक्लध्यान की तीसरी अवस्था को समाप्त करता है उसके बाद अपने अचिन्त्य वीर्य के प्रभाव से स्वयं ही काययोग का निरोध कर शुक्लध्यान की चौथी अवस्था को प्राप्त करता है जिसे जैनशास्त्र में समुच्छिन्न क्रियाअनिवृत्तिनाम से व्यवहृत किया गया है।

केवली के ध्यान के विषय में यह प्रश्न हो सकता है कि केवली तो अमनस्क होता है, फिर उसके द्वारा ध्यान कैसे सम्भव हो सकता है? इस प्रश्न के उत्तर में जैन विद्वानों का यह कहना है कि जैसे भ्रमण के निमित्त दण्ड आदि का सम्पर्क न रह जाने पर भी दण्ड द्वारा वेग से चालित कुलालचक्र में पूर्वाभ्यासवश भ्रमण होता है उसीप्रकार मन आदि समस्तयोगों की निवृत्ति हो जाने पर भी योगमुक्त केवली द्वारा ध्यानक्रिया भी हो सकती है। कहने का आशय यह है कि शुक्लध्यान की चौथी अवस्था में केवली को काय, वाक् और मनोयोग यद्यपि द्रव्यत: नहीं होते तथापि जीवोपयोगस्वरूप भाव मन उस समय भी होता है। अत: द्रव्यरूप में केवली के योगमुक्त होने पर भी भावरूप में योगयुक्त होने से वह ध्यान क्रिया का सम्पादन कर सकता है। अथवा उक्त प्रश्न के उत्तर में यह भी कहा

अत्र प्रथमो हेतुः कारणोपपत्तये, पूर्वसंस्काररूपहेतुत्वनपायात्, द्वितीयो लक्षणोपपत्तये, भावमनःस्थैर्यरूपलक्षणोपपत्तेः, तृतीयो व्यवहारोपपत्तये, चतुर्थः शब्दार्थोपपत्तये, पञ्चमश्च प्रमाणोपपत्तय इति द्रष्टव्यम्। वस्तुतः सुदृढप्रयत्नव्यापार-विद्यमानयोगनिरोधान्यतरत्वमनुगतं ध्यानलक्षणम्; सुदृढत्वं च जातिविशेषः, तेन न समुद्घातादावतिव्याप्तिः, तथा च भाष्यकारः–

"[1]सुदढप्पयत्तवावारणं णिरोहो व विज्जमाणाणं।
झाणं करणाण मयं ण य चित्तणिरोहमेत्तागं ॥१॥" [वि० आ० भा० ३०७१]

विपश्चितमेतदन्यत्र।

जा सकता है कि शुक्ल ध्यान की चौथी अवस्था ध्यान के कर्मनिर्जरणरूप कार्य का सम्पादन करती है। अतः ध्यान का कार्य सम्पादन करने से उसे ध्यान कहा जाता है यह कथन लोकव्यवहार के सर्वथा अनुरूप है क्योंकि लोक में अपुत्र को भी पुत्र का कार्य करने के कारण पुत्र कहा जाता है। अथवा उक्त प्रश्न के उत्तर में यह भी कहा जा सकता है कि ध्यान शब्द हरि आदि शब्द के समान अनेकार्थक है। अतः शुक्लध्यान की चौथी अवस्था मनःसाध्य चिन्तनरूप न होने पर भी ध्यान शब्द से अभिहित हो सकती है। ध्यान शब्द के अनेक अर्थ होते हैं यह बात धात्वर्थ के निरूपण के प्रसंग में बतायी गई है। जैसे 'ध्यै चिन्तायाम्' के अनुसार ध्यान चिन्तनरूप है। 'ध्यै काययोगनिरोधे' के अनुसार ध्यान काययोग का निरोधरूप है। और 'ध्यै अयोगित्वे' के अनुसार ध्यान योगाभावरूप है। विद्वानों ने कहा भी है कि 'निपात, उपसर्ग और धातु ये तीनों अनेकार्थक माने गये हैं। विभिन्न अर्थों में उनका प्रयोग उनकी अनेकार्थकता का साक्षी है।' अथवा उक्त प्रश्न के उत्तर में यह भी कहा जा सकता है कि केवली मनोयोग से मुक्त होने पर भी उसके ध्यान का होना या उसके द्वारा ध्यान का सम्पादन जैनागम से प्रमाणित है। इसका आशय यह है कि मनोयोगादि से युक्त व्यक्ति के ध्यान में मनोयोग कारण है और केवली के ध्यान में योगाभाव कारण है। दूसरी कारणता में, केवली के ध्यान में योगाभाव कारण है– इस कारणता में केवली के ध्यान का प्रतिपादक जैनागम ही प्रमाण है।

[अयोगि केवलिदशा में ध्यानसाधक हेतु पंचक का तात्पर्य]

अमनस्क होने पर भी केवली का ध्यान सम्भव है, इस बात की उपपत्ति में ऊपर जो पांच हेतु बताये गये इनमें जो पहला हेतु है पूर्वाभ्यास, यह केवली के ध्यान का उपपादक है। इससे सूचित किया गया है कि केवली के ध्यान का कारण उपपन्न है और वह है पूर्वाभ्यास। आशय यह है कि केवली होने के पूर्व मोक्षार्थी को जो ध्यान का अभ्यास होता है उससे ध्यान का संस्कार बन जाता है, और उसका अनुवर्तन केवली हो जाने पर भी होता रहता है। अतः केवली के ध्यान में कोई बाधा नहीं होती।

दूसरा जो हेतु है–द्रव्यमन का अभाव होने पर भी जीवोपयोगरूप भावमन का अस्तित्व, इस

१. सुदृढप्रयत्नव्यापारणं निरोधो वा विद्यमानानाम्। ध्यानं करणानां मतं न च चित्तनिरोधमात्रकम् ॥१॥

ततश्चतुर्थशुक्लभेदेन एकसामयिकव्युपरतक्रियानिवृत्तिलक्षणेन भवोपग्राहीणि कर्माणि समन्ताद् भस्मसात्कृत्यौदारिक-तैजस-कार्मणानि शरीराणीह त्यक्त्वा प्रदेशान्तराणि चाऽस्पृशन् ऋजुश्रेण्यैकेन समयेन याति सिद्धिक्षेत्रं साकारोपयोगोपयुक्तः। धर्मास्तिकायोपग्रहाभावाद् नोर्ध्वं गच्छति, गौरवाभावाच्च नाधो गच्छति, योगप्रयोगविगमाच्च नाधो गच्छति। उर्ध्वं गतिस्तु तस्य १ गौरवप्रतिपक्षभूतलाघवपरिणामाद् धूमस्येव; २ यद्वा संगविरहेण, तथाविधपरिणामत्वात्; अष्टमृत्तिकालेपविलिप्तजलधिनिमग्नक्रमापनीतमृत्तिकालेपजलतलमध्योर्ध्वगामितथाविधालाबुफलस्येव ३ बन्धनस्य कर्मलक्षणस्य विरहात् तथापरिणतेः कोशबन्धनविमुक्तैरण्डफलवत् ४ यद्वा, वह्ने रूर्ध्वज्वलनस्वभाववदात्मन ऊर्ध्वगतिस्वभावत्वादिति ॥ २१ ॥

हेतु से यह सूचित किया गया है कि केवली की क्रिया ध्यान के लक्षण से परिगृहीत है। क्योंकि मन की स्थिरता को ही ध्यान कहा जाता है और केवली दशा में द्रव्यमन का उच्छेद हो जाने पर भी भावमन की स्थिरता बनी रहती है।

तीसरा जो हेतु है ध्यान के कार्य कर्मनिर्जरण की जनकता, इस हेतु से केवली की क्रिया में ध्यानशब्द के व्यवहार के औचित्य का समर्थन किया गया है। आशय यह है कि कर्म निर्जरण का जनक होने से ही केवली के ध्यान को ध्यान शब्द से सम्बोधित किया जाता है। अतः केवली की जो क्रिया कर्मनिर्जरण का जनक है उसे भी ध्यान शब्द से व्यवहृत करना सर्वथा उचित ही है।

चौथा जो हेतु है ध्यान शब्द की अनेकार्थकता उसका आशय यह है कि 'ध्यान' शब्द के जो अनेक अर्थ हैं उनमें केवली की मनोनिरपेक्ष क्रिया भी एक अर्थ है। इस हेतु से यह सूचित किया गया है कि केवली की मनोनिरपेक्ष ध्यानसदृश क्रिया भी ध्यानशब्द का अर्थ है।

पाँचवाँ जो हेतु है जिनागम=जैनशास्त्र, जिस में अयोगी केवली के ध्यान का वर्णन है, इस हेतु से, केवली के ध्यान में प्रमाण का प्रदर्शन किया गया है।

ध्यान के सम्बन्धमें वास्तविकता यह है कि उसका अनुगत लक्षण भी है, जो केवली तथा अन्य लोगों की ध्यानतुल्य क्रियाओं में समन्वित होता है। वह है सुदृढ प्रयत्न से अन्य व्यापार अथवा विद्यमान योगों के निरोध आशय यह है कि सुदृढ प्रयत्न से चित्तको किसी वस्तु में व्यापारित=नियोजित करना तथा विद्यमान योगों का-अनियन्त्रित रूप से संसार के विभिन्न विषयों की ओर दौडनेवाली इन्द्रियआदि का निरोध, इन दोनों में किसी एक को ध्यान कहा जा सकता है। केवली होने के पूर्व साधक या मोक्षार्थी का जो ध्यान होता है, वह सुदृढ प्रयत्न से चित्त का व्यापारण=आलम्बन विशेष में नियोजनरूप होता है, और केवली हो जाने पर जो ध्यान होता है-वह विद्यमान योगों का निरोधरूप होता है। इसप्रकार उक्त दोनों में से किसी एकरूप होना, ध्यान का यह लक्षण केवली और अकेवली सभी के ध्यान में समन्वित हो जाता है। प्रयत्न में जो सुदृढत्व विशेषण दिया गया है वह प्रयत्नत्व की व्याप्य एक जाति है। जिस प्रयत्न से समुद्घात होता है उसप्रयत्नमें वह जाति नहीं रहती, अतः समुद्घात में ध्यान के उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती। क्योंकि वह सुदृढ प्रयत्न से चित्त का व्यापारण अथवा विद्यमान योगों का निरोध, इन दोनों से भिन्न होता है।

यदुक्तं–"ज्ञानयोगात् क्षयं कृत्वा" इत्यादि, तत्र "ज्ञानयोगस्तपः शुद्धम्" [स्त. १-२१] इत्यादिप्रागुक्तग्रन्थस्यैकवाक्यतानिरूपणं प्रतिजानीते —

मूलम्—'ज्ञानयोगस्तपः शुद्धमि'त्यादि यदुदीरितम् ।
ऐदंपर्येण भावार्थस्तस्यायमभिधीयते ॥ २२ ॥

'ज्ञानयोगस्तपः शुद्धम्' [स्त० १–२१] इत्यादि यदुदीरितं पूर्वमुपन्यासग्रन्थे, ऐदंपर्येण= एकवाक्यतया भावार्थः=फलीभूतोऽर्थः, तस्याऽयं-बुद्धिप्रत्यक्षः, अभिधीयते=सांप्रतं निरूप्यते।२२।

ध्यान का यह लक्षण कपोलकल्पित नहीं है किन्तु अभियुक्त सम्मत है, क्योंकि भाष्यकारने भी एकगाथा में इसी लक्षण का निर्देश किया है। गाथा का अर्थ इसप्रकार है (सुदृढप्रयत्नव्यापारणं निरोधो वा विद्यमानानाम्। ध्यानं करणानां मतं, न च चित्तनिरोधमात्रकम्।) 'सुदृढ प्रयत्न से व्यापारण-चित्त का विषयविशेष में नियोजन अथवा विद्यमान करणों- इन्द्रियों का निरोध-(आत्मिक उत्थान के विरोधी विषयों से इन्द्रिय) आदि का प्रत्यावर्त्तन ध्यान है, केवल चित्त का निरोधमात्र ध्यान नहीं है।' इस विषय का विस्तृत प्रतिपादन अन्यग्रन्थों में भी किया गया है।

[शुक्लध्यान की चतुर्थ अवस्था और सिद्धि]

चौथी अवस्था के शुक्लध्यान में प्रवेश हो जाने पर केवली उस ध्यान से संसार-सम्पादक सभी कर्मों को भस्म कर देता है क्योंकि वह ध्यान सम्पूर्ण संसाररूपी जंगल को जलाकर भस्म कर देने वाले अग्नि के समान होता है। जब शुक्लध्यान से केवली के सम्पूर्ण कर्म नष्ट हो जाते हैं, तब वह औदारिक, तैजस और कार्मण सभी शरीरों का त्याग कर अन्य किसी आकाश प्रदेश का स्पर्श न करते हुए किसी कालव्यवधान के बिना ही सीधे मार्ग से सिद्धिक्षेत्र=मुक्त पुरुषों के विश्राम स्थल की यात्रा करता है, उस समय वह साकार उपयोग (ज्ञानोपयोग) में अवस्थित होता है।

धर्मास्तिकाय का सन्निधान न होने से मुक्त आत्मा सिद्धिक्षेत्र के ऊपर नहीं जाता है, गुरुत्व न होने से तथा काय आदि योग का सम्बन्ध न होने से नीचे भी नहीं जाता। शंका हो सकती है कि मुक्त आत्मा कायादि योग का सम्बन्ध न होने से जैसे नीचे नहीं जाता, वैसे ही कायादि के अभाव में उसे ऊपर भी नहीं जाना चाहिए। इसका उत्तर यह है कि ऊर्ध्वगति के लिए कायादियोग का सम्बन्ध अपेक्षित नहीं होता किन्तु अधोगति के कारणभूत गुरुत्व के विरोधी लाघवरूप परिणाम की अपेक्षा होती है। अतः जैसे धूम उक्त लाघवरूप परिणामवश ऊपर की ओर जाता है, वैसे मुक्त आत्मा भी लाघवरूप परिणाम से ऊपर की ओर ही गतिशील होता है।

अथवा यह भी कहा जा सकता है कि गुरुद्रव्य का संयोग न होने से उक्त परिणामवश मुक्त आत्मा की ऊर्ध्वगति होती है। मुक्त आत्मा की यह ऊर्ध्वगति ठीक उसी प्रकार होती है, जैसे चारों ओर मिट्टी का लेप कर जलाशय में डाले गये जल में डूबे लौकी के सूखे फल तुमडी की जलाशय की तलेटी से उस समय ऊर्ध्वगति होती है, जब जल के सम्पर्क से धीरे-धीरे उसपर लिपटी हुई समूची मिट्टी घुल जाने पर उसे नीचे ले जानेवाले गुरुद्रव्य का उसमें संसर्ग नहीं रह जाता। अथवा यह कहा

मूलम्—ज्ञानयोगस्य योगीन्द्रैः पराकाष्ठा प्रकीर्तिता ।
शैलेशीसंज्ञितं स्थैर्यं ततो मुक्तिरसंशयम् ॥ २३ ॥

तथाहि, ज्ञानयोगस्य=शुद्धतपोरूपस्य, पराकाष्ठा=उत्कृष्टा कोटिः प्रकीर्तिता, शैलेशीसंज्ञितं=शैलेशो मेरुस्तद्वन्निश्चलावस्था, शैलेशः शीलेशो वा भगवांस्तस्येयमन्यशीलशाल्यवस्थातिशायिन्यवस्था शैलेशी, सैव संज्ञा यौगिकी समाख्या जाता यस्य तत्, स्थैर्यम्=निवृत्तियत्नरूपं परमवीर्यम् । न चैवमयं न ज्ञानयोग इति शङ्कनीयम्; ज्ञानस्यावस्थारूपत्वात् शैलेश्याः, पाकरक्ततताया इव घटस्य । ततः=शैलेश्यां काष्ठाप्राप्ताज्ज्ञानयोगात्, असंशयं ह्रस्वपञ्चाक्षरोद्गिरणमात्रकालेन मुक्तिर्भवति ॥ २३ ॥

जा सकता है कि कर्मरूप बन्धन का अभाव होने पर लाघवपरिणामवश मुक्त आत्मा की ऊर्ध्वगति ठीक उसी प्रकार होती है, जैसे बाह्य छिलके का बन्धन नष्ट होने पर एरण्डबीज की गति होती है ।

अथवा यह भी कहा जा सकता है कि जैसे ऊपर की ओर गतिशील होने के स्वभाव के कारण अग्निज्वाला की ऊर्ध्वगति होती है, उसी प्रकार ऊर्ध्वगतिशील स्वभाव होने के कारण मुक्त आत्मा की भी ऊर्ध्वगति होती है ।

[शुद्ध तप स्वरूप ज्ञानयोग से मुक्ति]

प्रथम स्तबक की इक्कीसवीं कारिका में जो कहा गया था कि परलोक सुख आदि की इच्छा न रख कर जो तप किया जाता है, ज्ञान और संयम से परिपुष्ट वह तप ही ज्ञानयोग है और वही मोक्ष का साधक है—नवें स्तबक की इक्कीसवीं कारिका में ज्ञान और तप की एकता में उदासीन रह कर यह कहा गया है कि केवली ज्ञानयोग से संसार-सम्पादक कर्मों का क्षय कर के मोक्ष प्राप्त करता है । अतः आपाततः इन दोनों ग्रन्थों से भिन्नार्थता प्रतीत होती है । इसलिए उन दोनों में एकवाक्यता बताने का उपक्रम प्रस्तुत कारिका में किया गया है । कारिका का अर्थ इस प्रकार है-शुद्ध तप ज्ञानयोग है और वह मोक्ष का साधक है यह बात उपन्यास ग्रन्थ-प्रकरणग्रन्थ में जो पहले कही गयी है उसका निष्कृष्ट अर्थ एकवाक्यता द्वारा अब बताया जायगा ।।२२।।

योगीन्द्रों ने शुद्धतपरूप ज्ञानयोग की उत्कृष्टकोटि को शैलेशी नाम से अभिहित किया है। शैलेशी का अर्थ है शैलों के राजा सुमेरु के समान निश्चल अवस्था । अथवा 'शीलेश एव शैलेश':-इस व्युत्पत्ति से शैलेश का अर्थ है-शील का स्वामी=शीलसम्पन्न भगवान् और शैलेशी का का अर्थ है अन्य सभी शीलावस्थाओं को टक्कर मारने वाली भगवान् की शीलावस्था । शैलेशी संज्ञा उस स्थैर्य का, जो निवृत्तियत्नरूप है और जिसे परमवीर्य कहा जाता है, 'यौगिकनाम' है । यदि यह शंका की जाय कि 'शैलेशी शब्द से अभिहित यह स्थिरावस्था ज्ञानयोगरूप नहीं है, अतः उसे ज्ञानयोग की पराकाष्ठा कहना असङ्गत है' तो यह ठीक नहीं है क्योंकि शैलेशी उसीप्रकार ज्ञान की अवस्था है जैसे पाकजन्य रक्तता घट की । इस शैलेशी अवस्था में परमोत्कर्ष को प्राप्त ज्ञानयोग से ठीक उतने ही काल में मुक्ति होती है जितने काल में पांच ह्रस्व अक्षरों का उच्चारण सम्पन्न होता है । शैलेशी अवस्था के ज्ञान से इतने शीघ्र मुक्ति होने में कोई सन्देह नहीं है ।।२३।।

तस्य धर्मत्वादि साधयन्नाह धर्मस्त्वेति—

मूलम्—धर्मस्त्वात्मधर्मत्वान्मुक्तिदः शुद्धिसाधनात् ।
अक्षयोऽप्रतिपातित्वात्सदा मुक्तौ तथास्थितेः ॥२४॥

तच्च=शैलेशीसंज्ञितं स्थैर्यं च धर्मः आत्मधर्मत्वात्=आत्मस्वभावत्वात्, शुद्धज्ञानवत्; मुक्तिदः=निर्वाणप्रदः स च धर्मः शुद्धिसाधनात्=परमनिर्जरोत्पादनात्; तथा अक्षयः= शाश्वतः अप्रतिपातित्वात्=अनश्वरत्वात्, अनश्वरत्वं च सदा=नित्यम् मुक्तौ तथा-स्थितेः=मुक्तस्य स्थिरभावेनावस्थानात्, स्थैर्यनिवृत्तावस्थैर्यस्य पुनर्जन्मजननापत्तेः ॥ २४ ॥

न चैतदनार्षमित्याह चारित्रेति—

मूलम्—चारित्रपरिणामस्य निवृत्तिर्न च सर्वथा ।
सिद्ध उक्तो यतः शास्त्रे 'न चारित्री न चेतरः' ॥ २५ ॥

चारित्रपरिणामस्य=शैलेश्यवस्थाभाविनो विशिष्टस्थैर्यस्य, निवृत्तिः=नाशः न च=नैव, सर्वथा=स्थैर्यरूपेणापि, किन्तु कथञ्चित्कर्मापगमनस्वभावत्वेन । कथमेतदेवम्? इत्याह—सिद्ध उक्तो यतः शास्त्रे=प्रवचने प्रज्ञापनादौ न चारित्री न चेतरः=नाप्यचारित्री "[1]सिद्धे णो चरित्ती, णो अचरित्ती" इति वचनप्रामाण्यात् ॥ २५ ॥

२४ वीं कारिका में शैलेशी शब्द से अभिहित स्थैर्य को धर्मरूप सिद्ध किया गया है। कारिका का अर्थ इस प्रकार है-शैलेशी संज्ञा से व्यवहृत स्थैर्य धर्म है क्योंकि वह आत्मा का स्वभाव है, जो आत्मा का स्वभाव होता है वह धर्म होता है जैसे-शुद्धज्ञान। यह शैलेशी अवस्थारूप धर्म मोक्ष का जनक है, क्योंकि यह धर्म शुद्धि-परमनिर्जरा-संसारापादक समस्त कर्मों के क्षय, का जनक है। यह धर्म कभी क्षीण नहीं होता क्योंकि यह स्वरूपतः अप्रतिपाती=अनश्वर है। अनश्वर होने के कारण ही यह सर्वदा अवस्थित रहता है, इसका अभाव नहीं होता क्योंकि मुक्तिकाल में मुक्त आत्मा स्थिरभाव से अवस्थित रहता है। यदि इस शैलेशी संज्ञक स्थैर्य की निवृत्ति होगी तो मुक्त आत्मा के अस्थैर्य=मोक्षावस्था से पतन की आपत्ति होगी। ऐसा न हो इसीलिए इस अवस्था को अनश्वर और नित्य माना जाता है ॥ २४ ॥

पूर्व कारिका में शैलेशी अवस्था की जो अनश्वरता बतायी गई है प्रस्तुत २५वीं कारिका से उसमें अनार्षत्व की शंका का निरास किया गया है। कारिका का अर्थ इस प्रकार है-शैलेशी अवस्था में आत्मा को जो विशिष्ट स्थिरता प्राप्त होती है, उसे चारित्र का विशेष परिणाम कहा जाता है। उसका सर्वथा यानी स्थैर्य रूप से भी नाश नहीं होता किन्तु कर्म निवृत्ति स्वभावत्व रूप से कथञ्चिद् नाश होता है। यह कैसे सम्भव है, यह बात कारिका के उत्तरार्ध में यह कहकर बतायी गयी है कि प्रज्ञापनासूत्रआदि शास्त्र में यह कहा गया है कि मुक्तात्मा में न चारित्र होता है और न अचारित्र

१. सिद्धो नो चारित्री, नो अचारित्रः ।

मुक्तौ चारित्राऽनिवृत्तिमेव निदर्शनेन द्रढयितुमाह—

मूलम्—न चावस्थानिवृत्त्येह निवृत्तिस्तस्य युज्यते ।
समयातिक्रमे यद्वत् सिद्धभावस्य तत्र वै ।। २६ ।।

न चावस्थानिवृत्त्या=कर्मनिवृत्तिस्वभावावस्थया **निवृत्तिस्तस्य**=स्थैर्यपरिणामस्य युज्यते, **इह**=मुक्तौ । किंवत् ? इत्याह—**समयातिक्रमे**=प्रथमसमयातिक्रान्तौ **यद्वत्**=यथा **सिद्धभावस्य**=सिद्धत्वस्य **तत्र**=मुक्तौ, **वै**=निश्चितम् । यथा हि सिद्धत्वं प्रथमसमयादिनिवृत्तितया नाशशीलं द्वितीयसमयादिभावितया चोत्पत्तिशीलमपि सिद्धत्वस्वरूपेण साद्यनन्तमेव, तथा स्थैर्यमपि कर्मापगमनस्वभावत्वेन नश्वरमुत्तरस्वभावेन चोत्पत्तिशीलमपि स्थैर्यस्वरूपेण साद्यनन्तमविरुद्धमिति भावः ।

होता है । इस शास्त्रवचन रूप प्रमाण से यह स्पष्ट है कि यतः मुक्ति चारित्र का ही परिणाम है और परिणाम और परिणामी में भेद नहीं होता अतः मुक्तात्मा में अचारित्र नहीं है । चारित्र इसलिए नहीं है कि मुक्तिरूप चारित्रपरिणाम चारित्र के फल का जनक नहीं है क्योंकि मुक्ति ही चारित्र का अन्तिम फल है । उक्त प्रमाण से यह भी सिद्ध है कि मुक्तात्मा का स्थैर्य, स्थैर्यरूप से निवृत्त नहीं होता क्योंकि उससे और कोई फलान्तर न होने से उसको अपने स्वरूप से निवृत्ति नहीं हो सकती । कारण, किसी कार्य के जनन से ही वस्तु के पूर्वरूप की निवृत्ति होती है, और उसी प्रमाण से यह भी सिद्ध है कि कर्मनिवृत्तिस्वभावस्वरूप से इसकी निवृत्ति हो जाती है, क्योंकि यह कर्मनिवृत्ति अपवर्गस्वरूप मुक्ति एक भावात्मक वस्तु है और कर्मनिवृत्तिस्वभावरूप चारित्र परिणाम, अभावात्मक वस्तु है । अतः मुक्ति की भावरूपता की उपपत्ति के लिए अभावस्वभावता की निवृत्ति मानना आवश्यक है ।। २५ ।।

[मुक्ति में स्थिरतारूप की अनिवृत्ति]

२६वीं कारिका में दृष्टान्त द्वारा इस तथ्य का दृढतापूर्वक प्रतिपादन किया गया है कि मुक्ति में चारित्र की निवृत्ति नहीं होती । कारिका का अर्थ इसप्रकार है-आत्मा की कर्मनिवृत्ति-अवस्था की निवृत्ति होने पर भी मोक्ष में स्थैर्यपरिणाम की निवृत्ति नहीं होती । यह तथ्य सिद्धत्व के दृष्टान्त से अवगत किया जा सकता है । सिद्धत्व मुक्त आत्मा का एक परिणाम है जिसके बारे में यह निश्चय है कि प्रथमसमयविशिष्ट सिद्धभाव के निवृत्त हो जाने पर भी उसके अपने सिद्धत्वस्वरूप की निवृत्ति नहीं होती । कहने का आशय यह है कि जिस समय सिद्धत्व का लाभ होता है, उसी समय सिद्धत्व की सामग्री से पूर्व समय की = असिद्धत्वसमय की निवृत्ति भी होती है । अतः समान समय में समान सामग्री से सम्पन्न होने के कारण सिद्धत्व और असिद्धत्व समय की निवृत्ति में अभेद होता है । फलतः सिद्धत्व के दो रूप होते हैं-एक उसका अपना स्वरूप सिद्धत्व और दूसरा "प्रथमसमय = असिद्धत्व समय का निवृत्तित्व" इन दोनों रूपों से अतिरिक्त भी उसका एक रूप है वह द्वितीय तृतीय आदि उत्तर समयों में अनुवर्तमानत्व । इन तीनों रूपों में प्रथम समय निवृत्तित्व रूप से वह (सिद्धत्व) नश्वर होता है क्योंकि प्रथम समय, असिद्धत्व समय की निवृत्ति और सिद्धत्व की उत्पत्ति

[1]नन्वेवं स्थैर्यभावेन साद्यनन्तत्वसिद्धावपि चारित्रभावेन न तथात्वसिद्धिः। न हि स्थैर्यमेव चारित्रम्, प्राक् शैलेश्यास्तदभावात्, किन्तु योगस्थैर्यं तत्। तच्च करणालम्बनसत्प्रवृत्त्यऽसन्निवृत्त्यन्यतरपरिणामरूपं शैलेश्यामपि स्वरूपसत्करणे काये स्थित्वैव सूक्ष्मकाययोगनिरोधात् परमचारित्रोपपत्तिः, सिद्धिगमनसमये च शरीरत्यागात् तदालम्बनचारित्रस्वभावापगमः, दंडापगमे तदालम्बनदंडित्वस्वभावापगमवदुपपत्तेः। द्रव्यरूपेणाऽन्वयं तु न वारयामः। न चैवं योगपरिणामरूपत्वात् केवलिनश्चारित्रस्यौदयिकत्वं स्यात्, लेश्यावदिति वाच्यम्, नामकर्मोदयसव्यपेक्षत्वेऽपि तस्य मोहक्षयप्रधानहेतुकत्वेन क्षायिकत्वेनैव व्यपदेशात्, इन्द्रियपर्याप्त्युदयजन्येऽपीन्द्रिये प्रधानक्षयोपशमहेतुकत्वेन क्षायोपशमिकत्वेनैव व्यपदेशवत्। अत एव न कर्मकृतभावत्वेन तस्य धर्मत्वानुपपत्तिः, क्षायिकत्वेन तदुपपत्तेः। नन्वेवं स्वरूपत आश्रवत्वमप्यस्य शङ्कनीयम्, योगस्य तथात्वेऽपि योगनिर्गतपरिणामरूपस्य तस्याऽतथात्वात्।

के समय से अभिन्न है। अतः उस समय के निवृत्त होने से, उससे अभिन्न असिद्धत्वसमयनिवृत्ति की भी निवृत्ति होना न्यायप्राप्त है। द्वितीय आदि समयों में अनुवर्त्तमानस्वरूप से सिद्धत्व उत्पत्तिशील होता है और अपने सिद्धस्वरूप से सादि एवं अनन्त होता है। सिद्धत्व की इस स्थिति के समान ही मुक्त आत्मा के स्थैर्यपरिणाम की भी स्थिति है। क्योंकि वह भी कर्मापगमत्व=कर्मनिवृत्ति स्वभाव से नश्वर, उत्तर समय में अनुवर्त्तमानत्व स्वभाव से उत्पत्तिशील और स्थैर्यत्व रूप से सादि और अनन्त है। स्थैर्य को सादि और अनन्त कहने का आशय यह है कि मोक्षकाल में आत्मा का स्थैर्य उत्पन्न होता है, और उत्तर काल में सदा अनुवर्त्तमान होने से उसका अन्त नहीं होता।

[*मोक्ष में चारित्र का असंभव–एकनयमत]

यदि यह कहा जाय कि—

"स्थैर्यरूप से स्थैर्य में सादित्व और अनन्तत्व की सिद्धि होने पर चारित्रत्वरूप से सादि-अनन्तत्व की सिद्धि न होने से मोक्ष में चारित्र की अभिवृत्ति नहीं सिद्ध हो सकती। स्थैर्य ही चारित्र नहीं है, क्योंकि शैलेशी के पूर्व स्थैर्य नहीं होता; किन्तु योगस्थैर्य चारित्र है। योगस्थैर्य का अर्थ है योग,–अर्थात् काय, वाणी और मनरूप करणों द्वारा सत्कार्यों में प्रवृत्ति अथवा असत्कार्यों से निवृत्तिरूप आत्मा,–का परिणाम, शैलेशी अवस्था में योग द्वारा सत्कार्यप्रवृत्ति यद्यपि नहीं होती, पर असत्कार्यनिवृत्ति होती है। अतः शैलेशी अवस्था में उक्त अन्यतर परिणाम रूप योगस्थैर्य विद्यमान है। क्योंकि स्वरूपसत् जो करण काया उसमें स्थित होकर ही सूक्ष्मकाय का निरोध होने से परमचारित्र की सिद्धि होती है। किन्तु मुक्तात्मा जब सिद्धिक्षेत्र की यात्रा प्रारम्भ करता है, तब वर्त्तमान शरीर का त्याग होने से उसके द्वारा सम्पन्न होने वाले स्थैर्यपरिणामरूप चारित्र-स्वभाव

१. इतः 'सिद्धानां चारित्रं कथं सुश्रद्धानम्' ? (पृ. १२३) इत्यन्तः सिद्धाऽचारित्रवादिपक्षः।

* यह चर्चा बहुत ही लम्बी है। एकनयमत का निरूपण भी सुविस्तृत है। वाचकवर्ग बराबर ध्यान से पढ़ेंगे तभी समझ सकेंगे।

अपि च, प्राक्तनं चारित्रमेवोत्कृष्यमाणं क्षायोपशमिकादिभावं परित्यज्य क्षायिकभावेन परिणमते, न तु निर्मलीभवद्वस्त्रमिव प्रागवस्थितस्वरूपात् प्रच्यवते, संज्ञान्तरोपनिबन्धस्य तच्च्यावाऽनियतत्वात् । प्राक्तनं च तद् मूलगुणविषययोगस्थैर्यमेव शुभवीर्यरूपं दृष्टम्, वज्रस्थानीयस्य तस्य ज्वलनजनितोषतापरूपोत्तरगुणाऽस्थिरभावमूर्तिकातिचारादिना भङ्गाऽयोगात्; इत्थमेव वक्रजडानां चण्डानां च चण्डरुद्रप्रभृतीनां तदुपपत्तेः; न तु शुद्धोपयोगरूपम् आत्मस्थैर्यरूपं वा, तदोक्तातिरिक्ततदसिद्धेः, उपयोगरूपत्वे चारित्रस्य जिनानामुपयोगत्रयादिप्रसक्त्या व्यवस्थाविप्लवाच्च । शुभवीर्यरूपं च तत् करणनिमित्तकप्रवाहपतितपरिणामरूपत्वाद् निमित्तेन सहैव नश्यति ।

की निवृत्ति ठीक उसीप्रकार होती है, जैसे दण्ड का अभाव होने पर दण्डमूलक दण्डित्वस्वभाव की निवृत्ति होती है ।

हाँ, यह मान सकते हैं कि उत्तरोत्तरकाल में पूर्वपूर्वकालसापेक्षस्वभाव की ही निवृत्ति होती है, उसके द्रव्यस्वरूप की निवृत्ति नहीं होती । अतः द्रव्यस्वरूप से चारित्र का सम्बन्ध भावी सम्पूर्ण समय में बना रहे तो उसका हम इनकार नहीं करते ।

यदि इस पर कहा जाय कि–'केवली का चारित्र यदि योगपरिणामरूप होगा तो [1]लेश्या के समान [2]औदयिक हो जायगा'–तो यह ठीक नहीं है । क्योंकि [3]इन्द्रियपर्याप्ति नामकर्म के उदय से जन्म होने पर भी प्रधानतया ज्ञानावरण के क्षयोपशम से जन्य होने के कारण जसे इन्द्रिय को [4]क्षायोपशमिक ही कहा जाता है, वैसे ही केवली का चारित्र भी कर्म के उदय से जन्य होने पर भी प्रधानतया मोहक्षय से जन्य होने के कारण क्षायिक ही कहा जाना उचित है । प्रधान हेतु के अनुसार कार्य व्यवहार के औचित्य के कारण ही केवली के चारित्र को कर्मजन्यभाव के रूप में उसका धर्म न मानकर कर्मक्षयजन्यभावरूप में ही उसका धर्म माना जाता है ।

'योगपरिणामरूप होने से केवली चारित्र में आश्रवरूपता' की भी शंका नहीं की जा सकती, क्योंकि योग के आश्रवरूप होने पर भी केवली का चारित्र योगद्वारक आत्मपरिणामरूप होने से वह आश्रवरूप नहीं हो सकता ।

[क्षायोपशमिक चारित्र का क्षायिकभाव में रूपान्तर]

इस सन्दर्भ में यह भी ज्ञातव्य है कि जो चारित्र पहले रहता है वही जब उत्कर्ष को प्राप्त करने लगता है तब क्षायोपशमिक आदि भाव का त्याग करके क्षायिकभाव से परिणत हो जाता है । धोने के बाद शुद्ध होने वाले वस्त्र के समान अपने पूर्वरूप से वह च्युत नहीं होता । 'क्षायिक' इस नई संज्ञा

---

१. लेश्या—जीव के शुभाशुभाध्यवसाय को लेश्या कहते हैं–उसके छ प्रकार हैं ।

२. औदयिक–कर्म के उदय से प्रगट होने वाले भावों को औदयिक कहते हैं ।

३. इन्द्रियपर्याप्ति नाम कर्म—इन्द्रिययोग्य पुद्गलों को इन्द्रियरूप से परिणत करने की शक्ति का संपादक कर्म ।

न चैवं केवलज्ञानस्यापि शरीरनिमित्तकत्वात् तन्नाशेन सह नाशप्रसङ्गः, तथा च जैनमतस्य बाह्यमतादविशेषः स्यादिति शङ्कनीयम् , तत्रापेक्षामात्रेण शरीरस्य हेतुत्वेऽप्यालम्बनतयाऽहेतुत्वात् । इष्यते हि काययोगनिरोधाख्यकायव्यापारोत्कर्षप्रयुक्तोत्कर्षभागित्वं चारित्रे केवलिनां न तु ज्ञान इति । 'निरोधो न कायव्यापार' इति चेत् ? न, संयोगादिवत् तस्य द्व्याश्रयत्वात् ; अन्यथा 'कायस्य निरोधः' इति संबन्धाऽयोगात् । 'क्षायिकत्वे कथं चारित्रस्योत्तरकालं हेत्वन्तरापेक्ष उत्कर्षः ?' इति चेत् ? इदमुभयसमाधेयम् । 'मोहक्षयाद् दोषापगमेन स्वरूपशुद्धितारतम्यविश्रान्तावपि परमनिर्जरारूपफले योगानां प्रतिबन्धकत्वात् तदपगमलक्षणोत्कर्षो व्यवहाराद् न विरुध्यते, निश्चयतस्तु ऋते कालाद् न तत्रान्यप्रतिबन्धः तत्प्रतिबन्धश्च तत्त्वतोऽप्रतिबन्धः तथापरिणामोपयोगित्वात् तस्येति न विरोध' इति चेत् ? इदमप्युभयमते तुल्यम् । तस्माज्ज्ञानाऽनाशेऽपि शरीरेण सह चारित्रनाशोऽवश्यमभ्युपेयः ।

को प्राप्त करने के कारण उसके पूर्वरूप के त्याग को कल्पना नहीं की जा सकती क्योंकि पूर्वसंज्ञा से भिन्न संज्ञा की प्राप्ति में पूर्वरूप के त्याग का कोई नियम नहीं है । पूर्वकाल का चारित्र [1]मूलगुण के विषय में योगस्थैर्यरूप है जिसे शुभवीर्यरूप माना गया है । यह चारित्र वज्र के समान दृढ होता है अतः जैसे आग के ताप से वज्र का गलन नहीं होता मात्र तपन ही होता है वैसे [2]उत्तरगुण के सम्बन्ध में योग की अस्थिरतारूप अतिचार (दोष) आदि होता है किन्तु चारित्र का भङ्ग नहीं होता । अतिचार आदि से प्राक्तन चारित्र का भङ्ग न होने से ही [3]वक्र जड और चण्ड (उग्रकोपनशील) स्वभाववाले आचार्य चण्डरुद्र आदि में भी चारित्र की उपपत्ति होती है । पूर्वकालीनचारित्र [4]शुद्ध उपयोगरूप अथवा आत्मस्थैर्यरूप नहीं होता क्योंकि पूर्वकाल में मूलगुणविषयक योगस्थैर्य से अतिरिक्त चारित्र का अस्तित्व असिद्ध है और दूसरा कारण यह है कि यदि पूर्वकालीन चारित्र को उपयोगरूप माना जायगा तो जिनभाव-ईश्वरभाव को प्राप्त पुरुषों में ज्ञान-दर्शन और चारित्र के तीन उपयोग आदि की आपत्ति होने से अवस्थाभेद से उपयोगभेद की व्यवस्था का लोप हो जायगा । शुभवीर्यरूपचारित्र यतः मन-वचन कायरूप करणमूलकपरिणाम प्रवाह अन्तर्गत एक परिणाम होता है अतः कायादि करणरूप निमित्त का नाश होने पर उसका भी नाश हो जाता है । (अतः मुक्ति में चारित्र नहीं हो सकता ।)

[शरीरपात के साथ ज्ञानविनाश-आपत्ति का परिहार]

यदि यह शंका की जाय कि-'जैसे चारित्र कायादिकरणमूलक होने से कायादि का नाश होने

१. मूलगुणविषययोगस्थैर्य-ऐसा योगस्थैर्य जिससे पाँचमहाव्रतस्वरूप मूलगुण सुरक्षित रहते हैं ।
२. उत्तरगुणविषययोगस्थैर्यरूप अतिचार-अतिचार यानी दोष, योगों में अल्पांश अस्थिरता होने पर पिंडविशुद्धि आदि उत्तरगुणों में जो क्षति आती है वह अतिचाररूप है ।
३. वक्रजड-जो लोग अल्पज्ञ होने पर भी ज्ञानीजन के उपदेश का सरल हृदय से स्वीकार नहीं करते उन्हें जड और वक्र कहते हैं ।
४. चण्डरुद्र-एक जैन आचार्य जिसे बात बात में बहुत ही गुस्सा आ जाता था ।

किञ्च, शुभवीर्यरूपत्वाच्चारित्रस्य कथमवीर्याणां सिद्धानां तत्सद्भावः सुश्रद्धानः ? न च सिद्धानामवीर्यत्वमसिद्धम्-"तत्थ णं जे ते असंसारसमावण्णगा ते णं सिद्धा, सिद्धा णं अवीरिया" इति प्रज्ञप्ति[१-७२]वचनात् । न च सकरणवीर्याभावादवीर्याः सिद्धा इति व्याख्येयम्, सिद्धानां लब्धिवीर्यसत्त्वे-'सिद्धा णं लद्धिवीरिएणं सवीरिया, करणवीरिएणं अवीरिया' इति सूत्रकल्पनप्रसङ्गात्; यथा "तत्थ णं जे ते सेलेसीपडिवन्नया ते णं लद्धिवीरिएणं सवीरिआ, करणवीरिएणं अवीरिआ" इति । किञ्च—[वि. आ. भा. ३०८७]

"तस्सोदइआइया भव्वत्तं च विणिवत्तए समयं ।
सम्मत्त–नाण–दंसण–सुह–सिद्धत्ताइं मोत्तूणं ॥ १ ॥"

पर पूर्वकालीन चारित्र का नाश होता है वैसे ही ज्ञान शरीरजन्य होने से शरीर का नाश होने पर केवलज्ञान का भी नाश हो जाना चाहिये और यदि ऐसा माना जायगा तो बौद्धादि बाह्य मतों से जैनमत का भेद न हो सकेगा'-तो यह शङ्का ठीक नहीं है क्योंकि केवलज्ञान की उत्पत्ति में शरीर अपेक्षाकारण=सहकारीकारण है, किन्तु आलम्बनकारण=प्रधानकारण नहीं है और आलम्बनकारण के नाश से ही कार्य का नाश होता है न कि अपेक्षाकारण के नाश से । अतः शरीर के नाश से केवलज्ञान के नाश की आपत्ति नहीं हो सकती ।

शरीर केवलज्ञान का अपेक्षाकारण है आलम्बनकारण नहीं है इसीलिये काययोग के निरोधरूप कायव्यापार के उत्कर्ष से केवली के चारित्र का ही उत्कर्ष माना जाता है ज्ञान का नहीं । 'काययोग का निरोध कायव्यापाररूप नहीं है' यह नहीं कहा जा सकता क्योंकि संयोग आदि के समान उभयाश्रित होने से कायनिरोध कायाश्रित भी है अतः उसे कायव्यापाररूप होने में कोई बाधा नहीं हो सकती । कायनिरोध को कायाश्रित मानना आवश्यक भी है अन्यथा काया के साथ उसका सम्बन्ध न होने पर 'कायस्य निरोधः=काया का निरोध' ऐसा निरोध के साथ काया के सम्बन्ध का व्यवहार न हो सकेगा । यदि यह प्रश्न किया जाय कि-'यदि आलम्बनकारण के सत्त्व-असत्त्व आदि के अनुसार ही कार्य का सत्त्व-असत्त्व आदि होता है तो चारित्र तो क्षायिक है फिर उत्तरकाल में कायनिरोधरूप अन्य हेतु से यानी आलम्बनभिन्न हेतु से उसका उत्कर्ष कैसे होगा ?' तो इस प्रश्न के समाधान का भार कार्य के सत्त्व-असत्त्व आदि को केवल आलम्बनहेतु के सत्त्व-असत्त्व पर निर्भर माननेवाले एवं अन्यथा माननेवाले दोनों वादियों के लिये समान है । यदि यह कहा जाय कि-'मोह के क्षय से दोषों की निवृत्ति हो जाने पर स्वरूप शुद्धि के तारतम्य की समाप्ति हो जाने पर भी 'परमनिर्जरा=संसारापादक समग्र कर्मों के आत्यन्तिकक्षय' में योग के प्रतिबन्धक होने से योगनिवृत्ति से चारित्र का उत्कर्ष होने में व्यवहारनय की दृष्टि से विरोध नहीं है । निश्चयनय की दृष्टि से भी काल के अतिरिक्त किसी अन्य से प्रतिबन्ध संभव नहीं है और कालकृतप्रतिबन्ध तात्त्विकदृष्टि से कोई प्रतिबन्ध नहीं है क्योंकि वह चारित्र परिणाम के उत्कर्ष में उपयोगी ही होता है । अतः क्षायिक होने पर भी अन्य हेतु से चारित्र का उत्कर्ष होने में कोई विरोध नहीं है'-तो यह भी चारित्र को औदयिक और क्षायिक माननेवाले दोनों के लिये समान है । अतः शरीरनाश से ज्ञान का नाश न होने पर भी चारित्र का नाश मानना आवश्यक है ।

इति विशेषावश्यके चारित्रवीर्ययोर्निवृत्तिरर्थादुक्तैव । सूत्रेऽपि "औपशमिकादि-भव्यत्वाऽभावाच्चान्यत्र केवलसम्यक्त्व-ज्ञान-दर्शनसिद्धत्वेभ्यः" [त० सू० १०-४] इत्यत्र । अत्र हि औपशमिकक्षायोपशमिकौदयिकभावानां दर्शन-ज्ञान-गत्यादीनां, पारिणामिकभावस्य च भव्यत्वस्य (निवृत्तेः), 'अन्यत्र केवल०' इत्यादिना चानन्तज्ञान-दर्शन-सम्यक्त्वानामनिवृत्त्यभिधानात् एकविशेषनिषेधस्य तदितरविशेषाभ्यनुज्ञाफलत्वाद् दानादिलब्धि-चारित्ररूपस्य च क्षायिकभावस्य निवृत्तिर्लभ्यत इति । सिद्धत्वमेव च भावतः सुखाभावे विपक्षया न सुखाऽनिवृत्त्य-नुपग्रहः सुखसिद्धत्वयोर्निवृत्तिश्चानुत्पत्तिरूपा प्रतिषिध्यत इति नाऽप्रसक्तप्रतिषेधः । अत एव च-

"सम्मत्त-चरित्ताइं साइ-संतो अ उवसमिओ अ ।
दाणाइलद्धिपणगं चरणं पिय खाइओ भावो ॥ १ ॥" [वि. भा. २०७८]

इति ग्रन्थेन दानादिलब्धिपञ्चक-चारित्ररूपस्य क्षायिकभावस्य स्फुटमौपशमिकसम्यक्त्व-चारित्रभाववत् सादिसान्तत्वं भाष्यकृतोक्तम् ।

[वीर्यरहित सिद्धों को चारित्र कैसे ?]

इस प्रसंग में यह भी विचारणीय है कि चारित्र शुद्धवीर्यरूप होने से वीर्यहीन सिद्धों में उसके अस्तित्व का अभ्युपगम कैसे किया जा सकता है ? । सिद्ध आत्मा में वीर्य अभाव असिद्ध है यह नहीं कहा जा सकता क्योंकि 'प्रज्ञप्ति' में (व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र में) कहा गया है कि-'जो असंसारी अवस्था को प्राप्त कर लेते हैं वे सिद्ध होते हैं और सिद्ध अवीर्य होते हैं' । यदि यह कहा जाय कि-'सिद्ध में सर्वथा वीर्य का अभाव बताने में 'प्रज्ञप्ति' का तात्पर्य नहीं है किन्तु करणवीर्य का अभाव बताने में है'-तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि सिद्धों में [1]लब्धिवीर्य मानने पर 'शैलेशी अवस्था में पहुँचे हुये लब्धिवीर्य से सवीर्य और [2]करणवीर्य से अवीर्य होते हैं' इस आशय के सूत्र के समान 'प्रज्ञप्ति' के उक्त वचन को 'सिद्ध लब्धिवीर्य से सवीर्य होते हैं और करणवीर्य से अवीर्य होते हैं' इस आशय के सूत्ररूप में कल्पना की आपत्ति होगी। दूसरी बात यह है कि 'विशेषावश्यक भाष्य' में सिद्धों में वीर्य की निवृत्ति और चारित्र का न होना शब्दतः नहीं किन्तु अर्थतः कह भी दिया गया है । क्योंकि उसमें यह स्पष्ट निर्देश है कि सम्यक्त्व ज्ञान, दर्शन, सुख और सिद्धत्व को छोड कर सिद्ध के औदयिक आदि भावों और भव्यत्व की निवृत्ति एकसाथ ही होती है ।

'तत्त्वार्थाधिगम' के दसवें अध्याय के चौथे सूत्र में भी यह कहा गया है कि सिद्धात्मा में सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन और सिद्धत्व से अतिरिक्त औपशमिक आदि भावों और भव्यत्व का अभाव होता है । उक्त सूत्र के उत्तरभाग में दर्शन, ज्ञान, गति आदि औपशमिक, क्षायोपशमिक, औदयिकभावों की तथा पारिणामिक भावरूप भव्यत्व की निवृत्ति एवं अनन्त ज्ञान, दर्शन और सम्यक्त्व की अनिवृत्ति का निर्देश किया गया है । यह न्यायप्राप्त है कि एक विशेष के निषेध से अन्य विशेष का अभ्युपगम

१. लब्धिवीर्य---गुप्त यानी अप्रगट शक्तिरूप वीर्य । २. करणवीर्य प्रगटशक्तिरूप वीर्य ।

न चावस्थानाशेन शाश्वतस्यापि चारित्रस्य सादिसान्तत्वमुपपद्यते, भवस्थत्वावस्था-नाशेन केवलज्ञानस्यापि तत्प्रसङ्गात् केवलभावेन केवलस्य शाश्वतत्ववादिनाऽप्यवस्थाविशेष-नियतनाशोत्पादोपगमात्; अन्यथा वैलक्षण्याऽसिद्धेः। तथा च सम्मतिकारः-[द्वि. काण्डे]

"[1]जे संघयणाईआ भवत्थकेवलिविसेसपज्जाया।
ते सिज्झमाणसमए ण होंति विगयं तओ होइ ॥१॥
[2]सिद्धत्तणेण य पुणो उप्पण्णो एस अत्थपज्जाओ।
केवलभावं तु पडुच्च केवलं दाइअं सुत्ते[3] ॥२॥" [सम्मति० २/३५-३६]

फलित होता है। अतः सम्यक्त्व आदि की निवृत्ति के निषेध से [3]दानादिलब्धि आदि चारित्ररूप क्षायिकभाव की निवृत्ति का होना ज्ञात होता है।

सूत्र में यद्यपि शब्दतः सुख की निवृत्ति का निषेध नहीं है किन्तु सिद्धत्वशब्द से भावतः सुख-रूप सिद्धत्व की निवृत्ति का निषेध है। अतः सुख की अनिवृत्ति का असंग्रह नहीं हो सकता। सुखरूप सिद्धत्व की निवृत्ति के प्रसक्त न होने से उसकी निवृत्ति के निषेध को अप्रसक्त का प्रतिषेध कह कर असंगत नहीं बताया जा सकता। क्योंकि सिद्ध पुरुष में शरीर आदि निमित्त के अभाव से सुख और सिद्धत्व की अनुपपत्तिरूप निवृत्ति प्रसक्त है। अतः उसकी निवृत्ति का निषेध अप्रसक्त का प्रतिषेध नहीं है।

सूत्र में सम्यक्त्व आदि की निवृत्ति के निषेध से दानादिलब्धिरूप क्षायिकभाव की निवृत्ति का लाभ होने के कारण ही भाष्यकारने कहा है कि जैसे औपशमिक सम्यक्त्व और चारित्र सादि एवं सान्त है वैसे ही दानादिलब्धिरूप क्षायिक चारित्र भी सादि एवं सान्त है।

[शाश्वत चारित्र में सादि-सान्तत्व की अनुपपत्ति]

यदि यह कहा जाय कि-'अवस्थानाश से शाश्वतचारित्र में भी सादित्व और सान्तत्व की उपपत्ति की जा सकती है'-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि अवस्थानाश से शाश्वतचारित्र को सादि सान्त मानने पर भवस्थत्व अवस्था के नाश से केवलज्ञान का भी नाश होने से उसमें भी सादि-सान्तत्व की आपत्ति होगी क्योंकि जो केवलज्ञान को केवलभाव से शाश्वत मानते हैं वे भी अवस्थाविशेष के नाश-उत्पाद से केवलज्ञान का भी नाश-उत्पाद मानते ही हैं। दूसरी बात यह है कि यदि अवस्थानाश से चारित्र को सादि-सान्त कह कर उसकी सर्वथा निवृत्ति नहीं मानेंगे तो सिद्धदशा में केवलज्ञान और चारित्र में जो सूत्रसिद्ध विलक्षणता है वह विलक्षणता न हो सकेगी। सम्मतिकार ने इस बात को इन शब्दों में कहा है कि-'सिद्धि प्राप्त होने पर भवस्थकेवली के संहनन आदि विशेषपर्याय नहीं रहते, सिद्धि की प्राप्ति से उन पर्यायों से कुछ अभेदभावापन्न केवलज्ञान का भी विगम हो जाता है। सिद्धत्वरूप से केवलज्ञानात्मक अर्थपर्याय उत्पन्न होता है। सूत्र में केवलभाव यानी सत्ता को लेकर केवलज्ञान को अपर्यवसित कहा गया है।'

१. ये संहननादिका भवस्थकेवलिविशेषपर्यायाः। ते सिध्यमानसमये न भवन्ति विगतं ततो भवति ॥१॥
२. सिद्धत्वेन च पुनरुत्पन्न एषोऽर्थपर्यायः। केवलभावं तु प्रतीत्य केवलं दर्शितं सूत्रे ॥२॥
३. दानादिलब्धिः—दान-भोग-उपभोग-लाभ-वीर्य ये पांच लब्धि।

अथ चरणदानादिलब्धीनां विकारिणीनामेव तदानीमुपक्षयः, अविकारिणीनां तु सुतरां संभवः, विकारिगुणोपक्षयेऽविकारिगुणप्रादुर्भावनियमादिति चेत् ? किमिदं विकारित्वं ? शरीराद्यपेक्षया प्रवर्तमानत्वं वा, तन्नियतापेक्षोत्पादकत्वं वा, फलावच्छिन्नत्वं वा ? । नाद्यः, केवलज्ञानादेरपि तथाभावप्रसङ्गात् । न द्वितीयः, तन्नाशनियतनाशप्रतियोगित्वस्यैवेत्थं प्रसङ्गात् । नापि तृतीयः, फलानवच्छिन्नतदुत्पत्तौ मानाभावात् , चारित्रस्य फलावच्छिन्नत्वनियमात् ।

अथोत्तरफलानवच्छिन्नत्वमविकारित्वम् , तच्चोत्पत्त्युत्तरसमयावच्छेदेन फलाभाववत्त्वम् । तेन नोत्तरफलसिद्ध्यसिद्धिभ्यां व्याघातः । मानं च चारित्रस्य तथात्वे रत्नत्रयसाम्राज्यस्य मोक्षसामग्रीत्वोक्त्यन्यथानुपपत्तिरेव; केवलोत्पत्तिसमये काष्ठाप्राप्तयोर्ज्ञान-दर्शनयोरुत्पादेऽपि चारित्रस्य तथाभूतस्यानुत्पादादेव मोक्षविलम्बात् ; यथा खल्वचौरोऽपि चौरसंसर्गितया 'चौरः' इति व्यपदिश्यते तथा तत्त्वतश्चारित्राऽप्रतिपन्थित्वेऽपि तत्प्रतिपन्थिमोहसाहचर्याद् योगानां तथा व्यपदिश्यमानानां प्रतिबन्धकानामपगमादुत्पन्नेन परमयथाख्यातचारित्रेण सामग्रीसंपत्त्या

[अविकारि चारित्रगुण के ऊपर तीन विकल्प]

प्रस्तुत विषय में यह शङ्का हो सकती है कि-'दानादिलब्धि और चारित्ररूप जो विकारी गुण होते हैं उन्हीं का सिद्धिदशा में नाश होता है किन्तु जो अविकारी गुण होते हैं उनका अस्तित्व तो उस दशा में भी अनिवार्य है क्योंकि विकारीगुण का नाश होने पर अविकारीगुण की उत्पत्ति का नियम है ।' इस शङ्का के सम्बन्ध में यह प्रश्न है कि विकारित्व क्या है ? (१) शरीर आदि की अपेक्षा से प्रवर्त्तमान होना अथवा (२) अपनी उत्पत्ति में नियम से शरीर की अपेक्षा करना, किंवा (३) फलयुक्त होना ? इनमें प्रथम पक्ष स्वीकार्य नहीं हो सकता क्योंकि उसे विकारित्व मानने पर शरीर की अपेक्षा से प्रवर्त्तमान होने के कारण केवलज्ञान भी विकारी हो जायगा फलतः सिद्धिदशा में उसके भी नाश की आपत्ति होगी । दूसरा भी स्वीकार्य नहीं हो सकता क्योंकि उसे विकारित्व मानने पर शरीर का नाश होने पर नियत शरीरापेक्षोत्पत्तिक का नियमतः नाश भी होने की आपत्ति होने से उक्त दोष तदवस्थ रहेगा, क्योंकि आद्य केवलज्ञान भी नियत शरीरापेक्षोत्पत्तिक है अतः शरीर नाश के साथ उसका नाश भी भी नियमतः हो जायेगा । तीसरा भी स्वीकार्य नहीं हो सकता, क्योंकि तीसरे विकारित्व मानने पर चारित्रमात्र में फलसम्बन्ध का नियम होने से फलहीन चारित्र की उत्पत्ति में कोई प्रमाण न होने के कारण अविकारी चारित्र की कल्पना ही नहीं की जा सकेगी ।

[अविकारित्वरूप चारित्र के उपपादन का नव्य प्रयास]

यदि यह कहा जाय कि-'विकारित्व उत्तरफलावच्छिन्नत्वरूप है और उसका अभाव है अविकारित्व । उत्तरफलावच्छिन्नत्व के अभाव का अर्थ है उत्तरकाल में फलाभाववत्त्व, अतः उत्तरफलावच्छिन्नत्वाभाव को अविकारित्वरूप मानने पर दोष नहीं हो सकता कि-"सिद्धि दशा के चारित्र का उत्तरफल यदि सिद्ध है तो उसमें उत्तरफलावच्छिन्नत्वाभावरूप अविकारित्व का व्याघात होगा और यदि उत्तरफल सिद्ध नहीं है तो भी व्याघात होगा, क्योंकि जब उत्तर फल है ही नहीं तो उत्तरफलाव-

मोक्षोत्पत्तेः; यथाख्यातत्वेनैव तस्य पञ्चस्वन्तर्भावान्न विभागव्याघात इति चेत्? न, तत्त्वतो योगानां चारित्राऽप्रतिपन्थित्वेन तदपगमे परमयथाख्यातचारित्रानुत्पत्तेः, उत्पत्तौ वा यथाख्यातात्तस्य मतिज्ञानादेः केवलज्ञानस्येव विजातीयत्वेन विभागव्याघातात् । ज्ञान-क्रिययो-र्नयभेदादन्त्यक्रियाद्वारा शैलेश्यामवस्थाभेदाद् वा मोक्षजनकत्वोपपत्तेः सर्वसंवरस्याप्यर्थसिद्धत्वात्, तदर्थं हेतुभेदकल्पनानौचित्यात् । क्षायिकस्यापि सतः शैलेश्यर्वाचीनचारित्रपरिणामस्य निवृत्त्युपगमे चारित्रस्य सामान्यतः सादिसान्तत्वप्रतिपादकवचनेषु चारित्रपदस्य परमयथाख्यातातिरिक्तचारित्रपरत्वस्याऽन्याय्यत्वाच्चेति दिग् ।

च्छिन्नत्वरूप प्रतियोगी के असिद्ध होने से उसका अभाव भी सिद्ध नहीं हो सकता क्योंकि जगत में अलीकप्रतियोगिक अभाव नहीं हो सकता, असिद्ध प्रतियोगी का अभाव अमान्य है।"—यह दोष तभी होता अगर उत्तरकाल में फलाभाव रूप अविकारित्व न मान कर उत्तरफलावच्छिन्नत्व के अभाव को अविकारित्व माना जाता।

चारित्र उत्तरकाल में फलशून्य होता है, इस बात में यदि प्रमाण पूछा जाय तो उसका उत्तर यही है कि तत्त्वार्थ सूत्र में ज्ञान, दर्शन, चारित्र इन तीन रत्नों की उत्कृष्ट समष्टि को जो मोक्ष का जनक कहा गया है, उस कथन की अन्यथानुपपत्ति ही उस में प्रमाण है। कहने का आशय यह है कि यदि चारित्र सर्वदा उत्तरकाल में किसी मोक्षातिरिक्त लौकिक फल से युक्त ही होगा तो वह मोक्ष का जनक ही न हो सकेगा, अतः उसे मोक्षजनक कहना उपपन्न न हो सकेगा, अतः सिद्धिदशा में चारित्र को उत्तरफल से शून्य मानना आवश्यक है। यदि यह कहा जाय कि—'चारित्र मोक्ष का जनक नहीं है किन्तु केवलज्ञान और दर्शन ही मोक्ष के जनक हैं'—तो यह उचित नहीं हो सकता क्योंकि केवलज्ञान की उत्पत्ति के समय चरम उत्कर्ष को प्राप्त ज्ञान और दर्शन के होने पर भी चरमोत्कर्षप्राप्त चारित्र की उत्पत्ति न होने तक मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती, जब कि प्रतिबन्धक काय आदि योगों निरुद्ध हो जाने पर यथाख्यात नामक सर्वोत्कृष्ट चारित्र की उत्पत्ति होने पर मोक्षसामग्री का सन्निधान होने से मोक्ष की प्राप्ति होती है। तात्त्विक दृष्टि से योग यद्यपि चारित्र का प्रतिबन्धक नहीं है किन्तु जैसे अचोर भी चोर के सम्पर्क से चोर कहा जाता है वैसे ही चारित्र के तत्त्वतः अप्रतिबन्धक भी योग चारित्र के प्रतिबन्धकमोह का दशमगुणस्थान पर्यन्त सहचारी होने से प्रतिबन्धक कहे जाते हैं। मोक्ष के जनक सर्वोत्कृष्ट परमचारित्र का यथाख्यातस्वरूप से चारित्र के पाँचवे भेद में अन्तर्भाव होने के कारण चारित्र के पञ्चधा विभाग का व्याघात भी नहीं हो सकता। इस प्रकार यह शङ्का निर्बाधरूप से उत्पन्न हो सकती है कि सिद्धि दशा में विकारी चारित्र का अभाव होने पर भी अविकारी चारित्र का अस्तित्व हो सकता है।

[चारित्र उपपादक नव्यमत का निरसन]

किन्तु एकनयमत की दृष्टि में उक्त समर्थन ठीक नहीं जचता क्योंकि सिद्धि दशा में जिस अविकारी यथाख्यात परमचारित्र के अस्तित्व की सम्भावना की जाती है, तत्त्वदृष्टि से योग के चारित्र का प्रतिबन्धक न होने से योग का अभाव होने से उसकी उत्पत्ति नहीं हो सकती और यदि

नन्वेवं चारित्रं क्रियारूपं पर्यवसन्नम्, श्रूयते चाऽक्रियायाः सिद्धिगमनपर्यवसानफलत्वम्; तथा चार्षम्–"[1]सा णं भंते! अकिरिया किंफला? गोयमा! सिद्धिगमणपज्जवसाणफला पन्नत्ता" इति कथं न विरोधः? इति चेत्? न, अन्तक्रियाया एवैजनादिव्यापाराऽभावेनाऽक्रियात्वेन, चरमकर्मत्वेन च "ज्ञान-क्रियाभ्यां मोक्षः" इत्यादौ क्रियात्वेनोक्तेरविरोधात्। अथ सिद्धिगमनसमये चारित्रनाशोपगमे चारित्रस्य मोक्षहेतुत्वं न घटेत, कार्यकालेऽसता कार्यस्योत्पादयितुमशक्यत्वात्, कार्यानुकृतान्वय-व्यतिरेकित्वाभावात्। न च कार्याव्यवहितपूर्ववृत्तित्वमेव कारणत्वम्, न तु तत्र कार्यकालवृत्तित्वमपि निविशते, मानाभावात्, गौरवात्, प्रागभावादीनामकारणत्वप्रसङ्गाच्चेति न दोष इति वाच्यम्, तथापि निश्चयनयानुपस्कारात्, तेन कार्यकालसंबद्धस्यैव हेतोर्जनकत्वाभ्युपगमात्; इति चेत्? न, परिशुद्धनिश्चयनयेन शैले-

उत्पत्ति हो भी जाय तो यथाख्यात आदि पांच से विजातीय ही होगा, जैसे मतिज्ञानादि से केवलज्ञान विजातीय ही होता है अतः उसके द्वारा चारित्र के पञ्चधाविभाग का व्याघात अनिवार्य होगा।

इस सन्दर्भ में जो यह बात कही गई कि–'केवल ज्ञान की उत्पत्ति के समय परमोत्कर्ष प्राप्त ज्ञान और दर्शन के होने पर भी मोक्ष की प्राप्ति न होने के कारण केवलज्ञान के बाद मोक्षजनक चरमोत्कृष्ट चारित्र का उदय मानना आवश्यक है'–वह भी ठीक नहीं है–क्योंकि नयभेद से अथवा अन्तक्रिया के द्वारा शैलेशीदशा में अवस्थाभेद से ज्ञान और क्रिया को मोक्षजनक मानने से केवलज्ञान के उत्पन्न होते ही मोक्षप्राप्ति न होने में कोई आपत्ति नहीं है।

सिद्धि दशा में सर्वसंवर की उपपत्ति के लिये भी उक्त चारित्र की कल्पना अनावश्यक है क्योंकि सिद्धि प्राप्त होने पर वह अर्थतः सिद्ध हो जाता है, उसके लिये किसी हेतुविशेष की कल्पना अनुचित है।

दूसरी बात यह है कि शैलेशीअवस्था के पूर्वकालिक क्षायिक चारित्र की निवृत्ति का जब आप स्वीकार करते हैं और परमचारित्र को सिद्धि दशा में मानते हैं तो सामान्यरूप से चारित्र मात्र को सादि और सान्त बतानेवाले जो शास्त्रवचन उपलब्ध होते हैं उनमें चारित्रपद को यथाख्यातनामक परमचारित्र से अतिरिक्त चारित्र परक मानना पडेगा, यह न्यायसंगत नहीं है।

[अक्रिया से मोक्ष सूचक वचन की संगति]

यदि यह कहा जाय कि–'चारित्र के सम्बन्ध में किये गये उक्त विचार से चारित्र क्रियारूप हो जाता है और शास्त्रों में मुक्त आत्मा के सिद्धिक्षेत्रगमन को अक्रिया का चरमफल बताया गया है जैसा कि 'सा णं भंते'····इस ऋषिवचन से उक्त प्रश्नोत्तर से स्पष्ट है। गौतमने भगवान से प्रश्न किया है कि 'भगवन्! अक्रिया का क्या फल है?' भगवान ने गौतम को उत्तर दिया है कि 'गौतम, इसका अन्तिम फल है आत्मा का मुक्त होकर सिद्धिक्षेत्र में गमन करना। अब अगर कहा जाए कि चारित्र

1. सा भगवन्! अक्रिया किंफला?। गौतम! सिद्धिगमनपर्यवसानफला प्रज्ञप्ता।

शीचरमसमय एव मोक्षोत्पत्त्यभ्युपगमात्, तदा चारित्रस्यानपायात्; 'इह बोंदिं त्यक्त्वा तत्र गत्वा सिध्यति' इत्यत्र निश्चयेन बोंदित्यागसमये, व्यवहारेण च तत्र गतिसमये मोक्षोत्पादस्याभ्युपगमात्। न च तदा चारित्रस्य विगच्छत्त्वाद् विगतत्वेनाऽसत्त्वात् कार्योत्पत्तिविरोधः, तदा मोक्षस्याप्युत्पद्यमानत्वेनोत्पन्नत्वादविरोधात्, एकदा चारित्रनाश-मोक्षोत्पादयोः परभवप्रथमसमये प्राग्देहपरिशाटनोत्तरदेहसंघातनयोरिवोपपत्तेः सदागमः-[वि०भा० ३३२२]

¹"जम्हा विगच्छमाणं विगयं, उप्पज्जमाणमुप्पण्णं।
तो परभवाइसमए मोक्खादाणाण ण विरोहो ॥ १ ॥" इति।

को क्रियारूप मानने में चारित्र को अक्रिया बतानेवाले वचनों से विरोध अनिवार्य है'-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि एक ही अन्त्य क्रिया एजन(कम्पन)आदि व्यापार का अभाव होने से अक्रिया कही जाती है अतः उसे अक्रियास्वरूप से मोक्षकारक कहने में, तथा 'ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः'-ज्ञान और क्रिया से मोक्ष होता है इत्यादि वचनों में उसी अन्त्य क्रिया अन्तिम क्रियारूप होने से क्रियास्वरूप से मोक्षजनक कहने में कोई विरोध नहीं हो सकता।

[निश्चयनय से चारित्र में मोक्षहेतुत्व का समर्थन]

उक्त बात मानने पर यह शङ्का हो सकती है कि- सिद्धिक्षेत्र की यात्रा के समय चारित्र का नाश माना जायगा तो चारित्र मोक्ष का हेतु न हो सकेगा क्योंकि जो कार्यकाल में अविद्यमान होता है वह कार्य का उत्पादक नहीं हो सकता क्योंकि उसके अभाव में कार्य का जन्म होने पर कार्य द्वारा उसके अन्वय और व्यतिरेक का अनुसरण नहीं होगा। यदि यह कहा जाय कि-'कार्य के अव्यवहितपूर्वक्षण में विद्यमान होना ही कारणता है, उसके स्वरूप में कार्यकाल में भी विद्यमान होने का सन्निवेश नहीं है क्योंकि कारणता के स्वरूप में उसके सन्निवेश में कोई प्रमाण नहीं है प्रत्युत गौरव है, और प्रागभाव आदि की कारणता के लोप का भय भी है क्योंकि कार्य का प्रागभाव कार्य के जन्मकाल में कभी नहीं रहता'-तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर निश्चय नय को अन्याय होगा क्योंकि निश्चयनय के अनुसार क्रियाकाल और निष्ठाकाल एक होने से कारणक्षण में ही कार्योत्पत्ति शक्य है अर्थात् कार्यकाल में विद्यमान हेतु ही कार्य का जनक होता है'। तात्पर्य, मुक्तिकाल में भी चारित्र की सत्ता माननी पड़ेगी'-किन्तु यह शङ्का उचित नहीं है क्योंकि परिशुद्धनिश्चय नय के अनुसार तो शैलेशी के अन्तिम समय में ही मोक्ष की उत्पत्ति होती है और उस समय चारित्र का अभाव नहीं होता। क्योंकि 'इह बोंदि त्यक्त्वा तत्र गत्वा सिद्धयति-केवली इस लोक में बोंदि (शरीर) का त्याग-कर और लोकान्त में पहुंच कर सिद्ध होता है' इस वचन में निश्चय नय के अनुसार बोंदित्याग के समय ही मोक्ष की उत्पत्ति मानी गई है और व्यवहार नय के अनुसार सिद्धि गति में जाते समय मोक्ष की उत्पत्ति मानी गई है।

'शैलेशी के अन्तिम समय में चारित्र विगम(नाश)क्रिया में विद्यमान होने से विगत हो जाता है अतः असत् हो जाने से कार्य की उत्पत्ति असंगत है', यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उस समय

[१. यस्माद् विगच्छद् विगतम्, उत्पद्यमानमुत्पन्नम्। ततः परभवादिसमये मोक्षाऽऽदानयोर्न विरोधः ॥१॥]

अथाऽचारित्रस्य सतः सिद्धस्य चारित्रावरणकर्मणः पुनर्बन्धप्रसङ्ग इति चेत् ? न, अविरतिप्रत्ययत्वात् तस्य, योगादिसामग्रीसव्यपेक्षत्वाच्च । न च चारित्राभाव एवाविरतिरिति सिद्धानामविरतत्वव्यपदेशप्रसङ्ग इति वाच्यम् ; निर्जराजनकविरतिपरिणामवदविरतिपरिणामस्य विचित्रकर्मबन्धजनकस्य स्वतन्त्रत्वात् , तस्य विरतिप्रागभावास्कन्दितत्वेऽपि तथाविधविरतिध्वंसानास्कन्दितत्वात् । अत एव 'सिद्धो नोचरित्री नोअचरित्री' इत्यागमः संगच्छते, चारित्राभावाद् 'नोचारित्री' इति, अविरत्यभावाच्च 'नोअचारित्री' इत्युक्तेरुपपत्तेः, 'अचारित्री' इत्यत्र नञो विरुद्धार्थत्वात् । अत एव भव्यत्वाभाव-भव्यत्वविरुद्धाभव्यत्वाभावाभ्यां 'नोभव्यत्वनोअभव्यत्वम'पि तस्य तत्र तत्रोक्तम् । यदि च चारित्रावस्थाभावादेव नोचारित्रत्व-नोअचारित्रत्वं सिद्धस्योच्यते, तदा ज्ञानावस्थाभावाद् नोज्ञानित्व-नोअज्ञानित्वमपि तस्य प्रतिपाद्यमानं न विरुध्येत ।

मोक्ष भी उत्पद्यमान होने से उत्पन्न हो ही जाता है अतः चारित्र की विगति के समय में मोक्ष की उत्पत्ति मान लेने पर कोई असंगति नहीं है क्योंकि जैसे दूसरे भव के प्रथम समय में पूर्वदेह का परिशाटन और उत्तरदेह का संघात दोनों की एकसाथ उपपत्ति होती है वैसे एककाल में चारित्रनाश और मोक्ष की उत्पत्ति दोनों की उपपत्ति हो सकती है जैसा कि-'जम्हा विगच्छमाणं' इस आगम में कहा गया है-'यतः विगतिक्रिया में विद्यमान विगत होता है और उत्पद्यमान उत्पन्न होता है अतः परभव-जन्मान्तर के समय पूर्वशरीरपरिशाट और देहान्तरोत्पत्ति के एककाल होने में कोई विरोध नहीं है ।' तात्पर्य, मुक्तिदशा में चारित्र की अनुवृत्ति मानने की आवश्यकता नहीं है ।

[चारित्र का अभाव मानने पर कोई आपत्ति नहीं]

यदि यह शङ्का हो कि-'सिद्ध में चारित्र का अभाव मानने पर चारित्रमोहनीय कर्म से उसके पुनर्बन्ध की आपत्ति होगी'-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि पुनर्बन्ध अविरति से तथा योग आदि सामग्री की अपेक्षा से होता है, सिद्ध में अविरति एवं योगादि का अभाव होता है अतः उसके पुनर्बन्ध की आपत्ति नहीं हो सकती । यदि यह कहा जाय कि-'चारित्र का अभाव ही अविरति है, सिद्धों में विरतिपरिणाम-चारित्रपरिणाम न होने से अविरति विद्यमान है, तात्पर्य-उनके चारित्राभाव में अविरतिपरिणामत्व का सार्थक व्यपदेश हो सकता है, अतः अविरतिरूप में व्यवस्थित चारित्राभाव से पुनर्बन्ध की आपत्ति तदवस्थ है'-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि जैसे निर्जराजनक विरतिपरिणाम निर्जरा के जनन में स्वतन्त्र होता है वैसे ही विचित्रकर्मबन्ध का जनक अविरतिपरिणाम भी कर्मबन्ध के जनन में स्वतन्त्र होता है, क्योंकि वह विरति के प्रागभाव से विशिष्ट होने पर भी विरति के अपुनर्भावरूप ध्वंस से विशिष्ट नहीं होता । यदि यह विरति के ध्वंस से विशिष्ट होकर कर्मबन्ध का जनक होता तो आगन्तुक विरतिध्वंस का मुखापेक्षी होने से स्वतन्त्र न होता । विरति प्रागभाव से विशिष्ट विरतिध्वंस को जनक मानने पर उसके स्वातन्त्र्य की हानि नहीं हो सकती क्योंकि विरतिप्रागभाव अनादि होने से उसका सन्निधान पहले से प्राप्त रहता है, फलतः चारित्राभाव में अविरति का व्यपदेश करके पुनर्बन्ध की आपत्ति का प्रदान नहीं हो सकता ।

अपि च, अनार्षं सिद्धानां चारित्रकल्पनम् , "[1]इहभविए भंते ! चरित्ते, परभविए चरित्ते, तदुभयभविए चरित्ते ? । गोयमा ! इहभविए चरित्ते, णो परभविए चरित्ते, णो तदुभयभविए चरित्ते" इति प्रश्न-निर्वचनप्रबन्धेन 'चारित्रपरिणाममादायैव प्रेत्य देवलोकेषु मुक्तौ वा नोत्पाद' इत्यभिप्रायेण भगवता चारित्रस्याऽपारभविकत्वोपदेशात् ; [illegible] चारित्रस्य जीवलक्षणत्वाभिधानाद् (न ?) मुक्तावपि तदनुवृत्तिः शङ्कनीया, तपःप्रभृतेरप्यनुवृत्तिप्रसङ्गात् ; 'लक्ष्यतेऽनुमाप्यतेऽनेनेति लक्षणं लिङ्गम्' इत्यर्थेऽविरोधाच्च, लिङ्गाभावे लिङ्ग्यभावनियमाभावात् । न च बहिर्लक्षणाभावेऽप्यान्तरलक्षणसत्त्वाद् नैर्लक्षण्यमपि तस्येत्थमापद्यते, इति विभावनीयम् ।

न च "आया[2] सामाइए आया सामाइअस्स अत्थे" इति सूत्रादात्मरूपतया चारित्रशक्तिर्मुक्तावप्यनुवर्तिष्यत इति व्यग्रभावो विधेयः, अष्टस्वप्यात्मसु चारित्रात्मनोऽल्प-बहुत्वाधिकारे सर्वस्तोकत्वाभिधानात् । तथा च प्रज्ञप्तिः-"[3]सव्वत्थोवाओ चरित्तायाओ, नाणायाओ

सिद्ध में चारित्र और अविरतिपरिणाम दोनों में से एक भी नहीं होता इसी लिये 'सिद्धो नो चारित्री नो अचारित्री-सिद्ध चारित्रयुक्त भी नहीं होता और अचारित्रयुक्त भी नहीं होता'- इस आगम की संगती होती है । क्योंकि चारित्र के अभाव से 'नो चारित्री' और अविरति परिणाम के अभाव से 'नो अचारित्री' इन दोनों कथनों की उपपत्ति हो सकती है । 'नो अचारित्री' इस उक्ति में चारित्री शब्द के पूर्व 'अ' के रूप में जो नञ् पद लगा है उसका अर्थ है 'विरोधी' अतः 'नो अचारित्री' का अर्थ है चारित्रविरोधी से शून्य, सिद्धि चारित्र के विरोधी अविरतिपरिणाम से शून्य होती है । प्रस्तुत प्रकरण में 'नञ्' पद का विरोधी अर्थ होने से ही भव्यत्वाभाव और भव्यत्व के विरोधी अभव्यत्व का अभाव, इन दोनों अभावों के तात्पर्य से शास्त्र में तत्तत् स्थान में सिद्ध को 'नो भव्य' तथा 'नो अभव्य' दोनों कहा गया गया है ।

यदि चारित्रअवस्था के सद्भाव से ही सिद्ध को 'नो चारित्री' और 'नो अचारित्री' कहा जायगा और 'नो चारित्री' की उपपत्ति विकारी चारित्र के ध्वंस से तथा 'नो अचारित्री' की उपपत्ति चारित्रप्रागभाव के निषेध से की जायगी तो केवली में ज्ञानावस्था के सद्भाव से उक्तरीति से सिद्ध को यदि 'नो ज्ञानी' 'नो अज्ञानी' कहा जाय तो उसमें भी कोई विरोध होने की आपत्ति न होगी, क्योंकि मतिज्ञानादि के अभाव को लेकर 'नो ज्ञानी' और अज्ञान के अभाव को लेकर 'नो अज्ञानी' दोनों की उपपत्ति हो सकती थी ।

१. इहभविकं भगवन् ! चारित्रम् , परभविकं चारित्रम् तदुभयभविकं चारित्रम् ? । गौतम ! इहभविकं चारित्रम् , नो परभविकं चारित्रम् , नो तदुभयभविकं चारित्रम् ।

२ आत्मा सामायिकम् , आत्मा सामायिकस्यार्थं ।

३. सर्वस्तोकाश्चारित्रात्मानः, ज्ञानात्मानोऽनन्तगुणाः, कषायात्मानोऽनन्तगुणाः योगात्मानो विशेषाधिकाः, वीर्यात्मानो विशेषाधिकाः, उपयोग-द्रव्य-दर्शनात्मानस्त्रयोऽपि तुल्या विशेषाधिकाः ।

अणंतगुणाओ, कसा(या)याओ अणंतगुणाओ, जोगायाओ विसेसाहिआओ, वीरिआ(या)ओ विसेसाहिआओ, उवओग–दविय–दंसणाया तिण्णि वि तुल्ला विसेसाहिआओ" । उक्तश्चायमेवार्थो विविच्य वृद्धैः–[ ]

"[१]कोडीसहस्सपुहुत्तं जईणं तो थोविआओ चरणाया ।
नाणाया अणंतगुणा पडुच्च सिद्धे अ सिद्धाउ ॥ १ ॥
हुंति कसायायाओऽणंतगुणा जेण ते सरागाणं ।
जोगाया भणिआओ अजोगिवज्जाण तो अहिआ ॥ २ ॥
जं सेलेसिगयाण वि लद्धि–वीरिअं तओ समहिआओ ।
उवओग–दविअ–दंसण सव्वजिआणं तओ अहिआ ॥ ३ ॥" इति ।

तस्मात् सिद्धानां चारित्रं कथं सुश्रद्धानम् ? इति चेत् ?

[सिद्धात्मा में चारित्रकल्पना आगमबाह्य]

यह भी ज्ञातव्य है कि सिद्ध आत्माओं में चारित्र के अस्तित्व की कल्पना पूर्व ऋषियों की मान्यता के विरुद्ध है, क्योंकि मरण के बाद देवलोक में तथा मुक्ति में चारित्रपरिणाम की उत्पत्ति नहीं होती, इस अभिप्राय से ही भगवान ने चारित्र को अपारभविक-परभव से असम्बद्ध बताया है। बात यह है कि–'एकबार गौतम ने भगवान से पूछा कि भगवान् चारित्र ऐहभविक है, अथवा परभविक है अथवा उभयभविक है ? भगवान ने इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा,–गौतम ! चारित्र केवल इहभविक है, परभविक नहीं है, उभयभविक भी नहीं है।'

इहभविक का अर्थ है जिसकी उत्पत्ति और स्थिति केवल इस भव में ही हो, परभविक का अर्थ है जिसकी उत्पत्ति इहभव में हो और स्थिति परभव में भी हो, और उभयभविक का अर्थ है इस भव और परभव उभय में जिसकी उत्पत्ति–स्थिति हो।

यदि यह कहा जाय कि–'णाणं च दंसणं चेव.........इस गाथा के अनुसार चारित्र जीव का लक्षण है अतः जीव के साथ मोक्ष में भी उसका अनुवर्तन अनिवार्य है' तो यह ठीक नहीं है–क्योंकि लक्ष्य के साथ लक्षण का सतत सम्बन्ध मानने पर मोक्ष में तप आदि के भी अनुवर्तन का प्रसंग होगा क्योंकि तप आदि को भी णाणं च......... इस गाथा में जीव का लक्षण माना गया है। दूसरी बात यह है कि चारित्र को जो जीव का लक्षण कहा गया है उसका तात्पर्य चारित्र को जीव का लिङ्ग बताने में

१. कोटिसहस्रपृथक्त्वं यतीनां ततः स्तोकाश्चरणात्मानः ।
ज्ञानात्मानोऽनन्तगुणाः प्रतीत्य सिद्धांश्च सिद्धास्तु ॥ १ ॥
भवन्ति कषायात्मानोऽनन्तगुणा येन ते सरागाणाम् ।
योगात्मानो भणिता अयोगिवर्जानां ततोऽधिकाः ॥ २ ॥
यत् शैलेशीगतानामपि लब्धिवीर्यं ततः समधिकाः ।
उपयोग-द्रव्य-दर्शनानि सर्वजीवानां ततोऽधिकाः ॥ ३ ॥

है क्योंकि-'लक्ष्यते अनुमाप्यते अनेनेति लक्षणम्-जिससे जो वस्तु लक्षित-अनुमित होती है उसे लक्षण कहा जाता है'-इस व्युत्पत्ति के अनुसार लक्षण शब्द यहाँ लिङ्ग का बोधक है और चारित्र जीव का जब लिङ्ग है तब जीव के साथ उसके सतत अनुवर्त्तन का प्रश्न नहीं ऊठता क्योंकि-'लिङ्ग न होने पर लिङ्गी का भी न होना' इस प्रकार की लिङ्गी में लिङ्ग की व्यतिरेकव्याप्ति सिद्ध नहीं है।

लक्षण को लिङ्गरूप में व्याख्या कर देने पर 'कभी जीव सर्वथा निर्लक्षण भी हो जायगा', यह शङ्का भी नहीं की जा सकती क्योंकि बाह्यलक्षण का अभाव होने पर भी उपयोगरूप आन्तरलक्षण जीव के साथ सदा अनुवर्तमान रहता है अतः उसके निर्लक्षण की आपत्ति नहीं हो सकती।

[चारित्रात्मा की सर्वाल्पसंख्या से चरित्राभाव की मुक्ति में सिद्धि]

विपक्षी को इस बात की भी व्यग्रता नहीं होनी चाहिये कि 'आत्मा की सामायिक तथा सामायिक का अर्थ बतानेवाले सूत्र के अनुसार चारित्रशक्ति के आत्मरूप होने से उस रूप से मुक्ति में भी उसके अनुवर्तन की आपत्ति होगी'-क्योंकि आत्मा के आठ भेद बताकर उसके अल्पत्व, बहुत्व आदि का प्रतिपादन जिस प्रकरण में किया गया है उसमें चारित्रात्मा को सर्वअल्प कहा गया है, उसकी सर्वाल्पता तभी उपपन्न हो सकती है जब चारित्र का मुक्ति में अनुवर्तन न माना जाय। आठ प्रकार के आत्माओं की परस्पर विलक्षणता 'प्रज्ञप्ति' ग्रन्थ में इसप्रकार बताई गई है कि चारित्रात्मा सर्वस्तोक होते हैं, ज्ञानात्मा उनसे अनन्तगुण होते हैं, कषायात्मा उनसे भी अनन्तगुण होते हैं। योगात्मा उन से कुछ विशेषाधिक होते हैं, उपयोगात्मा, द्रव्यात्मा और दर्शनात्मा ये तीनों परस्पर में समान तथा योगात्मा से विशेषाधिक होते हैं।

इस बात को विद्यावृद्धों ने विवेकपूर्वक इस प्रकार अधिकस्पष्टता से प्रतिपादित किया है कि-'चारित्रधरों की संख्या सहस्रकोटिपृथक्त्व (२००० क्रोड से ६००० क्रोड परिमित) होती है। अतः चरित्रात्मा सब से स्तोक-अपकृष्ट होते हैं। उनसे ज्ञानात्मा सिद्धों की अपेक्षा अनन्तगुण सिद्ध होते हैं। रागवानों की वृद्धि से कषायात्मा अनन्तगुण होते हैं अयोगिवर्जित योगात्मा कुछ अधिक होते हैं। शैलेशी अवस्था में पहुंचे आत्माओं में भी लब्धिवीर्य होता है उसके कारण वीर्यात्मा उनसे समधिक होते हैं। उपयोग द्रव्य और दर्शन सब जीवों में होते हैं अतः ये सर्वाधिक होते हैं।' उक्त कारण से सिद्धों में चारित्र कैसे स्वीकार्य हो सकता है ? ! [एकदेशीमत का प्रतिपादन सम्पूर्ण]

[एकदेशीमत समक्ष दूसरे पक्ष का निवेदन]

'मुक्ति में चारित्र नहीं है' ऐसे एकदेशीमत के सम्बन्ध में विद्वानों का यह कहना है कि वीर्य ही चारित्र है जो अन्तरंग अशुभयोग की निवृत्तिरूप है, बाह्यप्रवृत्ति से मात्र उसकी अभिव्यक्ति होती है। अहिंसादि मूलगुण के विषय में प्रशस्त व्यापाररूप स्थैर्य के समय भी अहिंसादिविरोधी हिंसादि से निवृत्तिरूप स्थैर्य होने में कोई व्याघात नहीं होता। वही स्थैर्य उत्कर्ष को प्राप्त करता हुआ शैलेशी अवस्था में परमनिवृत्ति रूप हो जाता है और स्थैर्य परिणाम के रूप में मोक्ष दशा में भी अनुवर्त्तमान होता है। यदि यह प्रश्न किया जाय कि- उक्त स्थैर्य बाह्य विषयों की गुप्तिरूप है और मुक्ति में केवल आत्मस्वभाव का ही साम्राज्य होता है। अतः मुक्ति में उक्तस्थैर्य का अनुवर्त्तन कैसे हो सकता है ?'-

अत्र वदन्ति-अन्तरशुभयोगनिवृत्तिरूपं वीर्यमेव चारित्रम्, बहिष्प्रवृत्तिस्तु तदभिव्यञ्जिका। मूलगुणविषयसद्व्यापाररूपस्थैर्यसमये च तत्प्रतिपक्षनिवृत्तिरूपं स्थैर्यमव्याहतमेव। तच्चोत्कृष्यमाणं शैलेश्यां परमनिवृत्तिरूपं भवत् स्थैर्यपरिणामेन मुक्तावनुवर्तते। न च बाह्यालम्बनगुप्तिरूपतया तस्य कथं केवलात्मस्वभावसाम्राज्यरूपायां मुक्तावनुवृत्तिः? इति वाच्यम्; अर्वाग्दशायां समितिगुप्त्युभयरूपस्यापि योगनिरोधगुप्त्येकरूपतयोत्कर्षवच्छैलेशीचरमसमये स्थिरात्ममात्रपरिणामरूपतयोत्कर्षसंभवात्। अत एव स्वभावसमवस्थानं सिद्धानां चारित्रमित्यपि निरवद्यम्। न च वीर्याभावात् सिद्धानां चारित्राभावः, तदसिद्धेः, अनन्तज्ञान-दर्शन-वीर्य-चारित्र-सुखस्वभावत्वात् तेषाम्। "[1]सिद्धा णं अवीरिआ" इति सूत्रं तु सकरणवीर्याभावाभिप्रायादेव व्याख्येयम्। स्वरूपसत्करणस्याप्यभावे न तत्र शैलेशीवद् भजना, मूलसूत्रभङ्ग्यभावात्, विचित्रत्वाच्च सूत्रगतेः।

न च क्षायिकभावस्य नाशो युक्तः, क्षायिकसामान्य एव नाशाऽप्रतियोगित्वनियमात्। अत एव नास्य शरीरनाशकनाश्यत्वम्, शारीरबलचयोपचयभावेऽप्यान्तरवीर्यरूपचारित्रचयो-

तो इसका उत्तर यह है कि जैसे प्राथमिक अवस्था में चारित्र समिति और गुप्ति इन दोनों रूपों से होने पर भी उत्तरकाल में एकमात्र योगनिरोधात्मक गुप्ति के रूप में उसका उत्कर्ष होता है उसी प्रकार शैलेशी के अन्तिम समय में स्थिर आत्मा के परिणामरूप में भी उसका उत्कर्ष हो सकता है। इसीलिये यह मान्यता भी निर्दोष सिद्ध होती है कि स्वभाव में सम्यक् अवस्थान ही सिद्ध आत्माओं का चारित्र है। सिद्ध आत्माओं में वीर्य के अभाव से चारित्राभाव की कल्पना नहीं की जा सकती क्योंकि सिद्ध आत्माओं का स्वभाव अनन्तज्ञान, दर्शन, वीर्य, चारित्र और सुखस्वरूप होता है, अतः उनमें वीर्याभाव असिद्ध है। 'सिद्ध आत्मा अवीर्य होते हैं' इस बात के प्रतिपादक पूर्वोक्त व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र का तात्पर्य वीर्यसामान्य के अभाव में नहीं है किन्तु करणयुक्तवीर्य के अभाव में है; अतः सिद्धआत्माओं में वीर्य का अस्तित्व स्वीकार करने में उक्त सूत्र का विरोध सिद्ध नहीं हो सकता। करण का स्वरूप से भी अभाव मानने पर शैलेशी के समान उसमें भजना यानी विकल्प का आपादन ठीक नहीं है क्योंकि मूल सूत्र की ऐसी भङ्गी=परिपाटी नहीं है, तथा सूत्र की गति विचित्र होती है।

[क्षायिकभाव की अविनश्वरता]

क्षायिकभाव का नाश युक्तिसंगत भी नहीं है। क्योंकि क्षायिकभाव मात्र में अनश्वरता का नियम है। इसीलिये चारित्र शरीर के नाशक से भी नाश्य नहीं होता। कारण शारीरिक बल का उत्कर्ष और अपकर्ष होने पर भी आन्तरवीर्यरूपचारित्र का उत्कर्ष अथवा अपकर्ष नहीं होता, इसलिए चारित्र देहनाश से नियतनाश का प्रतियोगी सिद्ध नहीं होता तथा चारित्र के जिस उत्कर्ष से फलविशेष

१. सिद्धा अवीर्याः।

पचयाभावात् तस्य तन्नाशनियतनाशप्रतियोगित्वाऽभावात्, फलविशेषौपयिकोत्कर्षस्य शरीराऽप्रयुक्तत्वात्, अन्यथाऽतिप्रसङ्गात्। न च चारित्रस्य प्रतिज्ञाविषयीकृतकालनाशनाश्यत्वात् कथं यावज्जीवतावधिकप्रतिज्ञाविषयस्य तस्य मुक्तावनुवृत्तिः? इति शङ्कनीयम्; परभवानुबन्ध्यविरतिपरिणामादेव चारित्रनाशसंभवे तत्सहभूतस्य प्रतिज्ञाविषयीकृतकालनाशस्यान्यथासिद्धत्वेन तन्नाशकत्वाऽयोगात्; अन्यथा सम्यक्त्वप्रतिज्ञाविषयीभूतकालनाशात् परभवे सम्यक्त्वस्याप्यनुवृत्तिर्न स्यात्। 'सम्यक्त्वाभिव्यञ्जकस्याचारविशेषस्यैवाऽसति प्रतिबन्धे कालः प्रतिज्ञायत' इति चेत्? तर्हि चारित्राभिव्यञ्जकस्याप्याचारविशेषस्यैव कालः प्रतिज्ञायत इति तुल्यम्। देवादिभवे भवस्वाभाव्यात् तत्सामग्रीविघटनाच्च न तदनुवृत्तिः, मोक्षे तु क्षायिकत्वेन तत्सामग्रीविघटनाऽयोगादेव तदनुवृत्तिरिति विशेष इति।

न च कर्मक्षपणफलाभावाद् मुक्तौ चारित्राभाव इति युक्तम्, एवं सति ज्ञानस्याप्यभावप्रसङ्गात्। 'व्यवहारतो घटमुत्पाद्य स्थितस्य दण्डस्येव निश्चयतस्तु हेतु-फलभावापन्नपूर्वापरक्षणश्रेणीभूतस्य, तथातथापरिणतस्वभावसमवस्थानफलोपरतस्य वा न निष्फलत्वमि'ति समाधानस्याप्युभयत्र तुल्यत्वात्। सादिसान्तत्वं चैतन्मते नास्त्येव दानादिलब्धिचारित्राणाम्। उक्तं च विशेषावश्यकवृत्तावपि—"अन्ये तु दानादिलब्धिपञ्चकं चारित्रं च सिद्धस्याऽपी-

---

की निष्पत्ति होती है वह शरीरप्रयुक्त नहीं होता, यदि उसे भी शरीरप्रयुक्त माना जाय तो संसारी आत्मा में भी उक्त उत्कर्ष की आपत्ति होगी। यदि यह शङ्का की जाय कि-जिस कालतक (मृत्युकाल तक) चारित्र पालन की प्रतिज्ञा होती है उस काल के नाश से चारित्र का नाश होना अनिवार्य है अतः यावज्जीवन पालनीय रूप में प्रतिज्ञात चारित्र की जीवनोत्तर मोक्षकाल में अनुवृत्ति कैसे हो सकती है?'-तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि वास्तव में तो परभव (जन्मान्तर) के अनुबन्धी अविरति परिणाम से ही चारित्र का नाश होने वाला है अतः उसके साथ होने वाला प्रतिज्ञाकाल का नाश चारित्रनाश के प्रति अन्यथासिद्ध हो जाने से चारित्रनाश का जनक हो नहीं हो सकता। यदि प्रतिज्ञातकाल के नाश से चारित्र का नाश माना जायगा तो सम्यक्त्वोच्चारण के काल में सम्यक्त्व के लिये (मृत्युपर्यन्त) प्रतिज्ञातकाल के नाश से परभव में सम्यक्त्व का अनुवर्त्तन भी न हो सकेगा। यदि यह कहा जाय कि 'सम्यक्त्व ग्रहण करते समय प्रतिबन्धक के अभाव में सम्यक्त्व के व्यञ्जक आचारविशेष के लिये ही काल की प्रतिज्ञा की जाती है, सम्यक्त्व के काल की प्रतिज्ञा नहीं की जाती, अतः उक्त दोष नहीं हो सकता'-तो यह बात चारित्र के सम्बन्ध में भी समान है, क्योंकि उसके सम्बन्ध में भी यह कहा जा सकता है कि चारित्र के अभिव्यञ्जक आचारविशेष के लिये ही काल की प्रतिज्ञा की जाती है, चारित्र के काल की प्रतिज्ञा नहीं की जाती। देवादिभाव में भव के स्वभाव के कारण और चारित्र की सामग्री का विघटन होने के कारण चारित्र का अनुवर्तन नहीं होता यह ठीक है किन्तु मोक्ष क्षायिक होने से चारित्रसामग्री का विघटन न होने के कारण चारित्र का अनुवर्त्तन हो सकता है, भव की अपेक्षा मोक्ष का यही वैशिष्ट्य है।

च्छन्ति, तदावरणस्य तत्राप्यभावात्, आवरणाऽभावेऽपि च तदसत्त्वे क्षीणमोहादिष्वपि तदसत्त्वप्रसङ्गात्। ततस्तन्मतेन चारित्रादीनां सिद्धयवस्थायामपि सद्भावेनाऽपर्यवसितत्वादेकस्मिन् द्वितीयभङ्ग एव क्षायिको भावः, न शेषेषु त्रिषु'' इति।

न चैवं ग्रन्थकृतस्तदा चारित्रनिवृत्तिसमर्थनमनतिप्रयोजनमिति शङ्कनीयम्, क्वचिदभिहितायाश्चारित्रस्य निवृत्तेर्ज्ञानादिसाधारण्याः परमनिवृत्तिप्रत्ययायाः कर्मापनयस्वभावप्रत्ययत्वेनैव वैलक्षण्योपपादनस्य प्रयोजनत्वात्। अत एव चेदृशज्ञानादिनिवृत्त्यभावाद् नोचारित्रित्व–

[फलाभाव से चारित्राभाव की सिद्धि अशक्य]

यदि यह कहा जाय कि–'चारित्राभाव का फल है कर्मनिवृत्ति, मोक्ष दशा में कर्म और कर्मनिवृत्ति, दोनों के न होने से फल का असंभव है, अतः उस समय चारित्र का कोई फल न होने से चारित्र का अभाव मानना ही उचित है'–तो यह ठीक नहीं है क्योंकि यदि चारित्र का फल न होने मात्र से मोक्ष में चारित्र का अभाव माना जायगा तो मोक्ष में ज्ञान का भी कोई फल न होने से ज्ञानाभाव की आपत्ति होगी। वास्तव में तो घट उत्पन्न होने के बाद विद्यमान दण्ड की निष्फलता जैसे व्यवहारसम्मत नहीं है वैसे ही मुक्ति में भी चारित्र की निष्फलता सम्मत नहीं है। एवं निश्चयनय के मत में पदार्थ, कारण तथा कार्यरूप पूर्वोत्तरक्षणों का समूहरूप माना जाता है इसलिये मुक्तावस्था में उत्तरोत्तरक्षणवर्ती चारित्र ही पूर्वपूर्वक्षण के चारित्र का फल है। अथवा उस मत में पदार्थ तत्तद् रूप में परिणतस्वभाव से अवस्थितिरूप फल से उपरत (मुक्त) होने के कारण भी चारित्र की निष्फलता निश्चयानुमत नहीं होती। तात्पर्य, मोक्ष में व्यवहारनय या निश्चयनय से ज्ञान की निष्फलता न होने से ज्ञानाभाव की भी आपत्ति नहीं हो सकती–ऐसा समाधान चारित्र के पक्ष में भी सावकाश है।

इस मत में दान आदि की लब्धि और चारित्र का सादि–सान्तत्व भी सम्मत नहीं है अतः मोक्ष में चारित्र का अभाव मान्य नहीं है। 'विशेषावश्यकमाष्यवृत्ति' में भी यह कहा गया है कि "अन्य विद्वान् मुक्त पुरुष में भी दानादि पांचलब्धि और चारित्र का अस्तित्व मानते हैं क्योंकि मुक्त में चारित्र के आवरण का अभाव होता है। यदि आवरण का अभाव होने पर भी आवरणीय का असत्त्व माना जायगा तो जिनका मोहादि क्षीण हो चुका है उनमें यानी १२–१३ गुणस्थानक में भी चारित्र के असत्त्व की आपत्ति होगी। अतः आवरण के अभाव में आवरणीय के ध्रुव सत्त्व माननेवाले मत में मोक्ष अवस्था में चारित्र आदि के भी अस्तित्व की सिद्धि होने से द्वितीयभङ्ग मात्र में यानी सादि–अनन्तभंग में ही क्षायिकभाव सिद्ध होगा, शेष तीन भङ्गों में अर्थात् सादिसान्तादि तीन भंगो में वह नहीं सिद्ध होगा।"

[चारित्र और ज्ञान में वैलक्षण्य का उपपादन]

यदि यह शङ्का की जाय कि–'उक्त रीति से मोक्षदशा में चारित्र का अस्तित्व मानने पर ग्रन्थकार (भाष्यकार) के द्वारा चारित्रनिवृत्ति के समर्थन का कोई प्रयोजन सिद्ध न हो सकेगा'–तो यह ठीक नहीं है क्योंकि वहाँ (भाष्यग्रन्थ में) चारित्र और ज्ञान में वैलक्षण्य का उपपादन ही चारित्र-

नोअचारित्रित्ववद् नोज्ञानित्व–नोअज्ञानित्वादिकं तत्र न व्यवह्रियते, कर्मापगमनस्वभावेन चारित्रदेशाभाववत् प्रकाशादिस्वभावेन ज्ञानादिदेशाभावाऽयोगात् । न च ज्ञानस्यापि कर्मापनयनस्वभावत्वेन निवृत्तिरस्त्येवेति वाच्यम् ; प्रकाशानाश्रवव्यापारभेदनयेनोक्तव्यवहाराऽविरोधात् ।

"नोचारित्री०' इत्यत्र क्रियारूपदेशस्यैव निषेधः" इत्यन्ये । अपारभविकत्वमपि तस्य क्रियारूपस्यैवोक्तम् , 'मोक्षो न भवः' इत्यभिप्रायाद् वा, मोक्षे तत्कृतफलोपकाराभावादर्वाग्दशावत्तदनुपयोगाद् वा । अवोचाम च–[अ० म० प० १३४]

[1]"जं पुण तं इहभवियं तं किरियारूवमेव णायव्वं ।
अहवा भवो ण मोक्खो णो तम्मि भवे हिअं अहवा ॥ १ ॥"

निवृत्ति के समर्थन का प्रयोजन है । कहने का आशय यह है कि चारित्र कर्मनिवृत्ति का साधन है, साध्य-साधन में कथञ्चिद् अभेद होने से चारित्र कर्मनिवृत्तिरूप होता है अत: कर्मनिवृत्तिस्वरूप से चारित्र की निवृत्ति होती है किन्तु अपने निजस्वरूप से निवृत्ति नहीं होती । किन्तु ज्ञान की यह स्थिति नहीं है क्योंकि ज्ञान का फल है परमनिवृत्ति और वह निवर्त्तमान नहीं होती अत: ज्ञान की परमनिवृत्तिस्वरूप से भी निवृत्ति नहीं होती । ज्ञान आदि की निवृत्ति न होने से ही सिद्ध आत्मा में 'नोचारित्री नोअचारित्री' के समान 'नोज्ञानी तथा नोअज्ञानी' का व्यवहार नहीं होता क्योंकि कर्मनिवृत्तिरूप अपने कार्य के स्वभाव से चारित्र का जैसे अंशत:अभाव होता है उसप्रकार प्रकाशादिरूप अपने कार्य के स्वभाव से ज्ञानादि का अंशत: अभाव नहीं होता । यदि यह कहा जाय कि–'कर्मनिवृत्ति जैसे चारित्र का कार्य है और उसके तदभिन्न स्वभाव से चारित्र की निवृत्ति होती है उसीप्रकार कर्मनिवृत्ति ज्ञान का भी कार्य है अत: उसके तदभिन्नस्वभाव से ज्ञान की भी निवृत्ति होती ही है । अत: चारित्र और ज्ञान के सम्बन्ध में उक्त प्रकार से व्यवहार और अव्यवहार का औचित्य नहीं हो सकता'–तो यह ठीक नहीं है क्योंकि प्रकाश और अनाश्रवरूप व्यापार का भेद होने से उक्तव्यवहार में कोई विरोध नहीं है । कहने का आशय यह है कि कर्म की निवृत्ति में ज्ञान प्रकाशापेक्ष है और चारित्र अनाश्रवापेक्ष है । अत: अनाश्रवापेक्ष कर्मनिवृत्ति स्वभाव से चारित्र की निवृत्ति होने से सिद्ध आत्मा में 'नोचारित्री' और 'नोअचारित्री' का व्यवहार हो सकता है किन्तु प्रकाशापेक्ष कर्मनिवृत्ति स्वभाव से ज्ञान की निवृत्ति न होने के कारण 'नोज्ञानी' और 'नोअज्ञानी' का व्यवहार नहीं हो सकता ।

अन्य विद्वानों का कहना है कि नोचारित्री कहने से क्रियारूप देश का ही निषेध होता है चारित्र के समग्ररूप का निषेध नहीं होता । चारित्र को जो परभव से असम्बद्ध कहा गया है वह चारित्र के क्रियारूपदेश के सम्बन्ध में ही है । अथवा मोक्ष यह भवरूप नहीं है इस अभिप्राय से अथवा मोक्ष में चारित्र का कोई फलात्मक उपकार न होने से किंवा मोक्ष के पूर्वकाल के समान मोक्षकाल में उसका उपयोग न होने से उसे परभव से असम्बद्ध कहा गया है । यह बात अध्यात्ममतपरीक्षा

---

१. यत् पुनस्तदिहभविकं तत् क्रियारूपमेव ज्ञातव्यम् ।
अथवा भवो न मोक्षो नो तस्मिन् भवे हितमथवा ॥ १ ॥

एवं च स्वाभाविकात्मलक्षणत्वादप्यनन्तज्ञानवदनन्तचारित्रं सिद्धानां निर्बाधमेव, क्षायोपशमिकतपःप्रभृतिलक्षणानां तदाऽननुवर्तित्वेऽपि क्षायिकस्य तस्याऽनुवर्तित्वात् ।

यत्तु प्रज्ञप्तौ चारित्रात्मानः सर्वस्तोकत्वमुक्तम् , तत्र चारित्रं क्रियारूपमेव विवक्षितम् , अन्यथा कोटिसहस्रपृथक्त्वसंख्योपादानं कथम् , भावचारित्रस्यान्येष्वपि संभवात् ?, "[1]जस्स चरित्ताया तस्स जोगाया णियमा" इति वाचनान्तरे चारित्रस्य प्रत्युपेक्षणादिव्यापाररूपस्य विवक्षावश्यकत्वाच्च । ननु यदि सिद्धानां चारित्रमिष्यते तदा ध्यानमप्येष्टव्यम् , समुच्छिन्नक्रियानिवृत्तिरूपशुक्लभेदस्य मुक्तावनुवृत्तेः सुवचत्वात् , 'विद्यमानकरणनिरोधपर्यन्तत्वाद् ध्यानव्यवहारस्य तत्पर्यन्त एव ध्यानसद्भावः' चेत्, तर्हि चारित्रसद्भावोऽपि तत्पर्यन्त एवास्तु, तत्पर्यन्तमेव चारित्रव्यवहारादिति चेत् ? न, चारित्रावस्थाविशेषरूपस्य ध्यानस्य तथाऽभावेऽपि चारित्रस्याऽनपायात् । न हि श्यामत्वादिस्वावस्थाऽभावेऽपि 'घटो नास्ति' इति वक्तुं शक्यते । 'स्वभावसमवस्थानरूपं ध्यानमपि मुक्तावक्षतम्' इत्यपर इति । अधिकं परीक्षायाम् ।

की एक गाथा में इसप्रकार स्पष्ट की गई है कि 'चारित्र को जो केवल इहभविक-इस भवमात्र से सम्बद्ध माना जाता है वह चारित्र के क्रियात्मकरूप से ही सम्बद्ध है । अथवा मोक्ष भवरूप नहीं है किंवा उसमें चारित्र का कोई प्रयोजन नहीं है-इस अभिप्राय पर आश्रित है ।' इसप्रकार आत्मा का स्वाभाविक रूप होने से सिद्ध आत्माओं में अनन्तज्ञान के समान अनन्तचारित्र भी निर्बाधसिद्ध है, यद्यपि सिद्ध आत्माओं में क्षायोपशमिक भावान्तर्गत तप आदि लक्षणों का अनुवर्तन नहीं होता तथापि क्षायिकभावान्तर्गत तप आदि लक्षणों का अनुवर्तन माना जा सकता है ।

[सर्वाल्पसंख्याबोधक वचन क्रियात्मक चारित्र के लिये]

व्याख्या प्रज्ञप्ति शास्त्र में चारित्रीआत्माओं को जो सर्वअल्प कहा गया है वह क्रियारूप चारित्र की दृष्टि से कहा गया है क्योंकि यदि ऐसा न माना जायगा तो उसमें कोटिसहस्रपृथक्त्व (२००० से ९००० कोड) संख्या का कथन असंगत होगा, क्योंकि भावचारित्र तो अन्यों में (अन्यलिंग में) भी विद्यमान है । तदुपरांत 'जो चारित्रात्मा होता है वह योगात्मा भी होता है, यह नियम है ।' इस आशय के बोधक अन्य वाचना में तो प्रत्युपेक्षण-पडिलेहण आदि व्यापाररूप चारित्र की विवक्षा किये बिना चलेगा नहीं । यदि यह शङ्का हो कि-"सिद्ध आत्मा में चारित्र का अस्तित्व मानने पर ध्यान का भी अस्तित्व मानना होगा क्योंकि समुच्छिन्न क्रियाऽनिवृत्तिरूप चतुर्थ शुक्लध्यान का अनुवर्तन मोक्षकाल में भी सुवच हो सकता है । यदि कहें कि 'ध्यानव्यवहार विद्यमान करणों के निरोधतक ही सीमित होता है अतः वहीं तक यदि ध्यान का अस्तित्व माना जायगा' तो चारित्र का भी अस्तित्व वहीं तक मानना उचित होगा, क्योंकि चारित्र का व्यवहार भी वहीं तक होता है, अतः सिद्ध आत्मा में चारित्र मानने पर उसी के समान ध्यान की भी आपत्ति अनिवार्य है"-तो यह

१. यस्य चारित्रात्मा तस्य योगात्मा नियमात् ।

इदं तु ध्येयम्–सिद्धानां चारित्राभावमतेऽपि प्रकृते नानुपपत्तिः, ज्ञानयोगाधिकारात् ज्ञाननयप्राधान्येन ज्ञानचारित्रयोरभेदाश्रयणात् ; ज्ञानावस्थारूपस्यैव स्थैर्याख्यचारित्रपरिणामस्याऽक्षयत्वोपपादनात् ; एतदुपपादनार्थमेव शुद्धनयाभिप्रायक'नोचारित्रित्व–नोअचारित्रित्व'वचनानुसरणादिति गम्भीरधिया परिभावनीयम् ॥ २६ ॥

फलितमाह—

मूलम्—ज्ञानयोगादतो मुक्तिरिति सम्यग्व्यवस्थितम् ।
तन्त्रान्तरानुरोधेन गीतं चेत्थं न दोषकृत् ॥ २७ ॥

अतः=उक्तन्यायात्, 'ज्ञानयोगाद् मुक्तिः' इति एतदुपन्यस्तम् **सम्यक्**=प्रमाणाऽविरोधेन **व्यवस्थितम्** । ननु कथं सम्यगियं व्यवस्था, "ज्ञान–क्रियाभ्यां मुक्तिः" इति तन्त्रव्यवस्थानात् ? अत आह–**तन्त्रान्तरानुरोधेन च**=वेदान्तवादिमतानुरोधेन च **इत्थम्**=उक्तरीत्या, **गीतम्**=उक्तम् **न दोषकृत्**=न स्वतन्त्रक्षतिदोषावहम्, अनेकनयमये स्वतन्त्रे यथाप्रयोजनमेकनयप्राधान्यादरस्याप्यदुष्टत्वादिति भावः ।

ठीक नहीं है क्योंकि ध्यान चारित्र की एक विशेष अवस्था है, अत: उस अवस्था के अभाव में भी चारित्र का अस्तित्व हो सकता है । अवस्थारूप ध्यान के अभाव से चारित्र का अभाव ठीक उसी प्रकार नहीं माना जा सकता जैसे घट की श्यामत्व आदि की अवस्था के अभाव में भी घट का अभाव नहीं होता । अन्य विद्वानों का कहना है कि अपने स्वभाव से आत्मा का अवस्थानरूप ध्यान भी मुक्ति अवस्था में अक्षुण्ण रहता है । इस सम्बन्ध में अधिक जानकारी अध्यात्ममतपरीक्षा में प्राप्त की जा सकती है ।

ज्ञानयोग से मुक्ति–इस प्रकरण में यह ज्ञातव्य है कि सिद्ध आत्मा में चारित्र का अभाव मानने पर भी वर्तमान सन्दर्भ में कोई अनुपपत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि यह सन्दर्भ मुख्यरूप से ज्ञानयोग के सम्बन्ध में है, ज्ञान नय की प्रधानता से ज्ञान और चारित्र में अभेद होता है, ज्ञान की अवस्थारूप स्थैर्यनामक चारित्र परिणाम है उसी की अनश्वरता का उपपादन यहाँ करना अभिप्रेत है और उसके उपपादन के लिये ही शुद्ध नय के अभिप्राय से सिद्ध आत्मा को 'नो चारित्री' 'नो अचारित्री' रूप में व्यवहृत किया जाता है–यह विषय गम्भीर बुद्धि से विमर्श योग्य है ॥ २६ ॥

[ज्ञानयोग से मुक्ति यह बात वेदान्तमत की अपेक्षा से]

२७वीं कारिका में पूरे स्तबक में किये गए विचार का फलितार्थ बताया गया है । कारिका का अर्थ इसप्रकार है–उक्त न्याय से 'ज्ञानयोग से मुक्ति होती है' यह पक्ष प्रमाणविरुद्ध न होने से समीचीन रूप से समर्थित हो जाता है । यद्यपि उक्त पक्ष के समर्थन को समीचीन कहना आपाततः असंगत प्रतीत होता है क्योंकि उसमें 'ज्ञान और क्रिया दोनों द्वारा मुक्ति होती है'–इस पक्ष के प्रतिपादक जैनशास्त्र का विरोध होता है, तथापि विचार करने पर शास्त्रविरोध की प्रसक्ति न होने से उक्त पक्ष के समर्थन को समीचीन कहने में कोई बाधा नहीं है । यह तथ्य कारिका के उत्तरार्ध में यह कहते हुये प्रतिपादित किया गया है कि शास्त्रान्तर-वेदान्तशास्त्र के अभिमत के

योगाचार्यमतानुरोधे पुनरिच्छा-शास्त्र-सामर्थ्ययोगा इष्यन्ते। तत्र ज्ञातागमस्यापि प्रमादिनः कालादिवैकल्येन चैत्यवन्दनाद्यनुष्ठानमिच्छाप्राधान्यादिच्छायोगः। यथाशक्ति तीव्रश्रद्धया कालाद्यवैकल्येन तदनुष्ठानं च यथाशास्त्रमाचारात् शास्त्रयोगः। शास्त्रदर्शितोपाये शास्त्रदर्शितदिशाऽधिकतरवीर्यमुल्लासयतो मार्गानुसारिप्रकृष्टोहरूपस्वसंवेदनेन जाताधिकविवेकस्यानुष्ठानं सामर्थ्ययोगः।

न हि शास्त्रादेव मोक्षोपायः कात्स्न्येनावगम्यते, तीव्ररुचेः श्रवणमात्रादेव मोक्षोपायलाभे योगाभ्यासवैयर्थ्यप्रसङ्गात्; उपायविशेषलाभार्थमेव तत्परिशीलनस्य सप्रयोजनत्वात्। न चायमज्ञातो लभ्यते। न च प्रत्यात्मशृङ्गग्राहिकया तद्बोधनाय शास्त्रं व्याप्रियते। न चैवमत्र शास्त्रवैयर्थ्यम् दिग्दर्शकत्वात्, इति सिद्धमस्य शास्त्रातिक्रान्तविषयत्वम्।

अनुसार उक्त पक्ष का किया गया समर्थन जैनशास्त्रविरोधप्रसक्तिरूपदोष का आपादक नहीं है क्योंकि जैनशास्त्र अनेक नयों से घटित है, अतः प्रयोजनानुसार किसी एक नय को प्रधानता प्रदान करने में कोई दोष नहीं है।

[इच्छायोग-शास्त्रयोग-सामर्थ्ययोग]

योगाचार्य के अभिप्राय के अनुसार इच्छायोग, शास्त्रयोग और सामर्थ्ययोग ये तीन योग मोक्षसाधन के रूप में अभीष्ट हैं। जिस पुरुष को आगमशास्त्र का ज्ञान होता है वह भी अनुष्ठान योग्य काल आदि की सापेक्षता के बिना ही प्रमादी होकर चैत्यवन्दन आदि का अनुष्ठान करता है। इच्छानुसारिता ही यहाँ प्रधान होने से इसे इच्छायोग कहा गया है।

अनुष्ठान के लिये उचित काल आदि को सापेक्ष रह कर शास्त्र में तीव्र श्रद्धा के कारण शास्त्रानुसार जो यथाशक्ति मोक्षोपाय का अनुष्ठान किया जाता है उसमें शास्त्रोक्त आचार को प्रधानता होने से उसे शास्त्रयोग शब्द से मोक्ष का साधन कहा जाता है।

मोक्षार्थी जब शास्त्र में वर्णित मोक्षोपाय को स्वायत्त करने हेतु शास्त्रसूचित दिशा में अधिकतर उत्साह का अवलम्बन करता है और शास्त्रोक्त मार्ग के अनुसार प्रकृष्ट ऊह रूप स्वसंवेदन द्वारा अतिशय विवेक से सम्पन्न होकर मोक्षोपाय का अनुष्ठान करता है तब वह मोक्षोपाय का समर्थ अनुष्ठाता होता है। उसका यह अनुष्ठान सामर्थ्ययोग शब्द से मोक्ष का साधन कहा जाता है।

[सामर्थ्ययोग के बिना केवल शास्त्रबोध अपूर्ण]

मोक्षोपाय का पूर्ण ज्ञान केवल शास्त्र से ही नहीं होता क्योंकि तीव्ररुचिसम्पन्न व्यक्ति को सीर्फ शास्त्र के श्रवणमात्र से ही मोक्षोपाय का लाभ हो जाने पर योगाभ्यास व्यर्थ होने की आपत्ति होगी। आशय यह है कि मोक्ष के उपायविशेष को आत्मसात् करने के लिये ही योगाभ्यास की सार्थकता होती है, अतः यदि शास्त्र से ही मोक्षोपाय की पूर्ण अवगति हो जायगी तो योगाभ्यास का कोई प्रयोजन नहीं रह जायेगा।

स चायं द्विविधः–धर्मसंन्यासः, योगसंन्यासश्च। तत्र धर्मसंन्यासस्तात्त्विकः क्षपकश्रेणियोगिनो द्वितीयाऽपूर्वकरणे भवति, क्षायोपशमिकानां क्षान्त्यादिधर्माणां तदा निवृत्तेः, क्षायिकाणामेव विशुद्धानां प्रादुर्भावात्। अतात्त्विकस्तु प्रव्रज्याकालेऽपि भवति सावद्यप्रवृत्तिलक्षण-धर्म(सं)न्यासादिति समयविदः। द्वितीयस्त्वायोज्यकरणेन योगनिरोधादूर्ध्वं शैलेश्यां कायादिकर्मरूपाणां योगानां (सं)न्यासात्। अयं खल्वयोगोऽपि मोक्षयोजनात् परमो योग उच्यत इति।

तदाहुः—[योग० द० स० श्लो० ३–११]

कर्तुमिच्छोः श्रुतार्थस्य ज्ञानिनोऽपि प्रमादिनः। विकलो धर्मयोगो यः स इच्छायोग उच्यते ॥३॥
शास्त्रयोगस्त्विह ज्ञेयो यथाशक्त्यप्रमादिनः। श्राद्धस्य तीव्रबोधेन वचसा विकलस्तथा ॥ ४ ॥
शास्त्रसंदर्शितोपायस्तदतिक्रान्तगोचरः। शक्त्युद्रेकाद् विशेषेण सामर्थ्याख्योऽयमुत्तमः ॥ ५ ॥
सिद्ध्याख्यपदसंप्राप्तिहेतुभेदा न तत्त्वतः। शास्त्रादेवावगम्यन्ते सर्वथैवेह योगिभिः ॥ ६ ॥
सर्वथा तत्परिच्छेदात् साक्षात्कारित्वयोगतः। तत्सर्वज्ञत्वसंसिद्धेस्तदा सिद्धिपदाप्तितः ॥ ७ ॥

योगाभ्यास से प्राप्य मोक्षोपाय भी अज्ञात होने पर उपलब्ध नहीं होता क्योंकि अज्ञात के लाभ के लिये कोई प्रयत्न शक्य नहीं होता। शास्त्र मोक्षोपाय का यद्यपि ज्ञापक होता है किन्तु शृङ्गग्राहिका प्रणाली से अर्थात् प्रातिस्विक-प्रतिव्यक्तिरूप से सबको उसका बोध नहीं कराता। पर इतने से ही मोक्षोपाय के प्रतिपादन के सम्बन्ध में शास्त्र की निरर्थकता भी नहीं हो सकती क्योंकि मोक्षोपाय का दिग्दर्शन शास्त्र से ही होता है। इसप्रकार यह सिद्ध है कि मोक्षोपाय समग्ररूप से शास्त्र नहीं है किन्तु उस से भी परे है।

[धर्मसंन्यास और योगसंन्यास]

सामर्थ्ययोग रूप मोक्षोपाय के दो भेद हैं-धर्मसंन्यास और योगसंन्यास। तात्त्विक धर्मसंन्यास क्षपकश्रेणी के आरोहक को द्वितीय अपूर्वकरण में यानी आठवें गुणस्थानक में होता है, क्योंकि उसमें क्षमा आदि क्षायोपशमिक धर्मों की निवृत्ति होकर विशुद्ध क्षायिक आदि धर्मों का प्रादुर्भाव-प्रारम्भ हो जाता है। अतात्त्विकधर्मसंन्यास तो प्रव्रज्या-संन्यासग्रहणकाल में भी होता है क्योंकि उस समय सावद्य=सदोष-प्रवृत्ति रूप धर्म का त्याग हो जाता है। योगसंन्यास रूप सामर्थ्ययोग आयोज्यकरण करके योगनिरोध करने के बाद शैलेशी अवस्था में १४ वे गुणस्थानक में कार्य आदि से साध्य क्रियाप्रवृत्तिरूप सभी योगों के त्याग से सम्पन्न होता है, यह योगसंन्यास कायादि योग से रहित होने पर भी झटिति मोक्ष का योग-सम्बन्ध कराने से परमयोग कहा जाता है।

[योगदृष्टिसमुच्चय ग्रन्थ में इच्छादि तीन योग]

उक्त विषय को श्रीहरिभद्रसूरिमहाराज ने इस रूप में कहा है—

जो कोई भी धर्मयोग साधने की तीव्र अभिलाषावाला हो, साथ में उस योगसंबंधि आगम का उसने श्रवण किया हो, और ज्ञाता भी बना हो, फिर भी जो (निद्रा–विकथादि) प्रमादवाला हो। उसका विकल धर्मानुष्ठान इच्छायोग कहा जाता है।

न चैतदेवं यतस्तस्मात् प्रातिभज्ञानसंगतः । सामर्थ्ययोगोऽवाच्योऽस्ति सर्वज्ञत्वादिसाधनम् ॥ ८ ॥
द्विधाऽयं धर्मसंन्यास-योगसंन्याससंज्ञितः । क्षायोपशमिका धर्मा योगाः कायादिकर्म तु ॥ ९ ॥
द्वितीयापूर्वकरणे प्रथमस्तात्त्विको भवेत् । आयोज्यकरणादूर्ध्वं द्वितीय इति तद्विदः ॥ १० ॥
अतस्त्वयोगो योगानां योगः पर उदाहृतः । मोक्षयोजनभावेन सर्वसंन्यासलक्षणः ॥११॥" इति ।

ततो ज्ञान-क्रियायोगयोरुभयोरप्युपपत्तिः स्व-तन्त्र इति सर्वमवदाततरम् ॥ २७ ॥

यः साक्षात्कृतमोक्षसाधनविधिस्तीव्रं तपस्तप्तवान्,
यः कर्माण्यपनीतवान् परिणमन्संज्ञानयोगाशयः ।
नित्यज्ञान-चरित्र-दर्शन-सुखं मोक्षं च यो लब्धवान्,
अस्माकं शरणं स एव भगवान् स्वप्नेऽथवा जागरे ॥ १ ॥

जो पुरुष शास्त्र में (उत्कट) श्रद्धावान्-यथाशक्ति प्रमादहीन, व तीव्र बोध से सम्पन्न होता है उसका कालादि से अविकल जो धर्मानुष्ठान होता है उसे शास्त्रयोग माना जाता है ॥४॥

जिस पुरुष को शास्त्र द्वारा मोक्षोपाय का दर्शन-अवबोध प्राप्त है, शक्ति के विशेष उद्रेक से शास्त्र से अगोचर विषय में जो उसका अनुष्ठान होता है उसे सामर्थ्ययोग कहा जाता है, यह इच्छायोग और शास्त्रयोग से श्रेष्ठ होता है ॥ ५ ॥

सिद्धि=यानी मोक्ष पद, की प्राप्ति के समग्र साधन योगियों को केवल शास्त्र से ही सम्पूर्ण और तात्त्विकरूप में ज्ञात नहीं होते ॥ ६ ॥

सिद्धि के उपायों का शास्त्र से ही यदि समग्ररूप से ज्ञान हो जाय तब समग्र पदार्थों के साक्षात्कार का योग हो जाने से सर्वज्ञता की सिद्धि होने द्वारा सिद्धिपद-मोक्षपद की प्राप्ति भी हो जाय ॥ ७ ॥ किन्तु

यतः समग्र और तात्त्विकरूप से मोक्षोपाय का परिज्ञान केवल शास्त्र से ही नहीं होता है अत एव (यह सिद्ध है कि) उसमें प्रातिभज्ञान से विशिष्ट सामर्थ्ययोग अपेक्षित है व वह वर्णनातीत होता है, यह योग ही सर्वज्ञता आदि का साधक होता है ॥ ८ ॥

यह सामर्थ्ययोग धर्मसंन्यास और योगसंन्यास भेद से दो प्रकार का होता है । (संन्यास के विषय भूत) धर्म करके यहाँ क्षायोपशमिक धर्म एवं योग करके यहाँ कायादि साध्य कर्म ग्राह्य है ॥९॥

द्वितीय अपूर्वकरण होने पर पहला तात्त्विकधर्मसंन्यास होता है एवं अयोज्यकरण के अनन्तर दूसरा योगसंन्यास होता है ॥ १० ॥

अतः सर्व (योग) संन्यास स्वरूप अयोग यह मोक्ष के साथ योग कराने वाला होने से सभी योगों में श्रेष्ठयोग है ॥ ११ ॥

उक्त रीति से यह अत्यन्त स्पष्ट है कि जैन शास्त्र में मोक्ष साधन के रूप में ज्ञानयोग और क्रियायोग दोनों की उपपत्ति हो सकती है ॥ ५७ ॥

यस्यासन् गुरवोऽत्र जीतविजयाः प्राज्ञा प्रकृष्टाशयाः,
भ्राजन्ते सनया नयादिविजयप्राज्ञाश्च विद्याप्रदाः ।
प्रेम्णां यस्य च सद्म पद्मविजयो जातः सुधीः सोदरः,
तेन न्यायविशारदेन रचिते न्यासेऽत्र देया मतिः ॥ २ ॥

व्याख्याकारने इस स्तबक की व्याख्या का उपसंहार करते हुए इन शब्दों में भगवान् के शरण की याचना की है कि जिसने मोक्ष साधन की विधिका साक्षात्कार किया है, मोक्षलाभ के लिये तीव्र तप किया है, समग्र संसारापादक कर्मों को भस्म कर डाला है, जिसका हृदय संज्ञानयोग में परिणत हो गया है और जिसने ज्ञान, चारित्र, दर्शन एवं सुखात्मक निश्चयमोक्ष प्राप्त कर लिया है वह भगवान् निद्रा और जागरण में हमारे रक्षक हैं ॥ १ ॥

यस्यासन् गुरवो······इस श्लोक का विवेचन प्रथम स्तबक में आ गया है ।

इति पण्डित श्रीपद्मविजयसोदर न्यायविशारद पण्डित श्रीयशो-
विजयविरचितायां स्याद्वादकल्पलतानाम्न्यां शास्त्रवार्तासमुच्चयटीकायां

॥ नवमः स्तबकः ॥

卐

स्तबक १–शुद्धिपत्रकम्

पृष्ठ/पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१/३	कल्पता	कल्पलता
६/७	नोट:–'कारिका में...................... समीक्षा की हैं'। ये चार पंक्ति १८वीं पंक्ति के बाद समझना।	
९/८	–हेतुफल	हेतु-फल
९/१९	भी जीव	जीव भी
११/१२	सर्वज्ञान	सर्वंशज्ञान
१२/१०	समम्त	सम्मत
/२०	बुद्ध	बुद्धि
३१	"अतः	अतः
१५/२४	सत् से भिन्न	='सत् से भिन्न'
१६/२२	पर ज्ञान	पर
१९/११	विषयग्राही	विषयग्रहण
/१६	"यौगपद से....... आवश्यक ही है" इस पंक्ति के बदले	"योगपद्य से बोध्य योगनिरोधस्वरूप क्रिया अवश्यमेव केवलज्ञानपूर्वक ही होती है। अतः ज्ञान-क्रिया दोनों के योग से ही मुक्ति साध्य है" ऐसा पढ़े।
२०/५	यये विद्यायां	ये विद्यायां
२१/२६	अदृष्टात्मक	द्रव्यात्मक
२४/२९	है तो यह	है"–तो यह
२५/२५	उत्पपत्ति	उपपत्ति
२६/३३	व्याख्याकारने	पूर्वपक्षीने
३५/२०	के रूप	के रूप में
३८/२३	प्रभाव	प्रागभाव
४९/१३	तथा अर्थात्	तथा
५२/२४	क्रम-सम्बन्ध	सम्बन्ध
/२९	हिंसा-हिंसा	हिंसा
५६/२१	विशुद्ध	विशुद्धि
७०/३०	अवस्था	अवस्था का आपादान
७३/१९	अनुपबंन्ध	अपुनर्बंन्ध
८७/८	गुणोकटचां	गुणोकमयचां
९०/९	त्रयाणणा	त्रयाणा
९४/१७	विशुद्धि से केवल	विशुद्धि से
१०७/१	कृत्वा"	कृत्वा"(९–२१)
/११	इन्द्रिय) आदि का	इन्द्रिय आदि का)
१०९/२१	आत्माक	आत्मा में
१०९/२७	स्वमात्व	स्वभावस्थ
११०/१७	अपवर्ग	अपगम
१११/३	रूपं	रूपम्
१२०/२७	त्या=कर	त्याग कर

卐

जैन दर्शन का अनमोल जवाहर !

गहन एवं तात्त्विक दार्शनिक चर्चाओं का भण्डार !!

सम्मतितर्कप्रकरण (खण्ड १)

मूलकर्त्ता—श्री सिद्धसेन दिवाकर सूरि महाराज;

व्याख्याकार—तर्कपञ्चानन श्री अभयदेव सूरि महाराज;

मार्गदर्शक—न्यायविशारद आचार्य श्री विजयभुवनभानुसूरीश्वरजी;

विवरणकार—विद्वद्वर्य मुनिश्री जयसुन्दर विजयजी;

पहली बार यह ग्रन्थ (प्रथम खण्ड) **हिन्दी विवेचन** के साथ मुद्रित हुआ है। जैन एवं जैनेतर छहों दर्शनों के सिद्धान्तों की इस ग्रन्थ में गहराई से चर्चा एवं समीक्षा की गई है। मूल ग्रन्थकार, व्याख्याकार दोनों महर्षि जैन शासन के अप्रतिम विद्वान् एवं कुशल तार्किक थे। अन्य-अन्य एकान्तवादी दर्शनों का निरसन करके इस ग्रन्थ में सुप्रसिद्ध स्याद्वाद-अनेकान्तवाद के सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की गई है। प्रत्येक जैन के लिए गौरव लेने योग्य और हर दार्शनिक विद्वान के लिए अभ्यास करने जैसा मननीय ग्रन्थ है। चिरकाल से दुर्लभ यह ग्रन्थ हिन्दी विवेचन सहित मुद्रित होने से अध्येता वर्ग के लिए अत्यन्त उपकारक बनेगा। आज ही आप की प्रति मंगवा लीजिए।

क्राउन ८ पेजी-६६० पृष्ठ; सुन्दर मुद्रण; प्रथम खण्ड; कीमत ८०-०० रुपये

न्यायविशारद आचार्य श्रीविजयभुवनभानुसूरीश्वरजी महाराज की प्रेरणा से प्रकाशित संस्कृत प्राकृत व हिन्दी ग्रंथ उपलब्ध हैं।

	मूल्य
ललितविस्तरा (हिन्दी विवेचन)	१२-००
ध्यान शतक (,, ,,)	५-००
जैनधर्म का परिचय	७-००
महासती मदनरेखा	५-००
गणधरवाद	३-००
आहार-शुद्धि प्रकाश	६-००
नय-रहस्य (हिन्दी-विवेचन)	२५-००
शास्त्रवार्ता समुच्चय १ से ८ स्तबक (छह जिल्दों में)	१४१-००
हारिभद्र योग भारती (हरिभद्रसूरि विरचित योगविंशिका, योगशतक, योगदृष्टिसमुच्चय और योगबिंदु, (चार सटीक ग्रन्थ-समूह)	२०-००
उत्तराध्ययन सूत्र (भावविजय टीका)	७५-००
उत्तराध्ययन सूत्र (नेमिचन्द्रसूरि टीका)	१००-००
धर्मरत्नप्रकरण (सटीक)	५२-००
गुणस्थानक्रमारोह-षट्त्रिंशत्षट्त्रिंशिका (सटीक)	१२-००
विशेषावश्यक भाष्य भाग १, २	१५०-००

प्राप्तिस्थान—दिव्यदर्शन साप्ताहिक; ३८ गुलाब वाडी बंबई-४००००४

॥ अर्हम् ॥

हिन्दीविवेचनालंकृत

स्याद्वादकल्पलताव्याख्याविभूषित

शास्त्रवार्त्तासमुच्चय

[दशमस्तबकः]

[व्याख्याकारकृतमंगलाचरणम्]

यज्ज्ञानोज्ज्वलदर्पणे प्रतिफलत्येतज्जगद् यत्पदां-
ऽभोजे नम्रसुपर्वनाथमुकुटश्रेण्या मरालायितम् ।
वाणी सर्वशरीरिवाक्परिणता यस्याङ्गपूर्वार्थसू-
र्दोषा न स्म समाश्रयन्ति यमिमं श्रीवर्धमानं स्तुमः ॥ १ ॥

(वर्धमान-पार्श्वजिन-वाग्देवता स्तुति)

जिसके ज्ञानरूपी निर्मल दर्पण में यह जगत् प्रतिबिम्बित होता है, जिस के चरणकमल में प्रणत देवेन्द्र के मुकुटों की माला हंसो का आचरण करती है, जिस की वाणी समस्त देहधारियों की वाणी में परिणत होती है तथा अङ्ग और पूर्व के अर्थों का प्रसव करती है, जिसे दोष कभी आश्रय नहीं कर पाते उस श्रीवर्धमान की हम स्तुति करते हैं।

फणिपतिफणरत्नप्रान्तसंक्रान्तमूर्तिर्युगपदिव दिधक्षुः स्पष्टमष्टापि बन्धान् ।
जगति विधृतरूपो दित्सुरष्टाथ सिद्धीर्दलयतु जिनभास्वानष्टधाकष्टधाराम् ॥ २ ॥

सर्पराज के फणवर्ती रत्नों के प्रान्तभाग में संक्रान्त प्रतिबिम्ब के कारण ऐसा लगता है-मानों कि जो आठों बन्धों को एक साथ ही असन्दिग्धरूप से दग्ध करने को इच्छुक हैं, एवं आठों सिद्धियों को देने के लिए तत्पर हैं-इसी लिये मानों कि जगत में आठ शरीर धारण न किया हो, वे पार्श्वजिनरूपी सूर्य कष्ट की धारा का दलन करें ।

लब्धोदयायां हृदये, यस्यां प्रक्षीयते तमः ।
पुण्यप्राग्भारलभ्यां तां, कलां कामप्युपास्महे ॥ ३ ॥

हृदय में जिस कला के उदय होने पर अन्धकार का क्षय हो जाता है, पुण्यपुञ्ज से प्राप्य उस अवर्णनीय ऐसी कोइ कला (ऐंकार)की हम उपासना करते हैं ।

ननु 'सर्वज्ञस्य ज्ञानयोगेन कर्मक्षयाद् मुक्तिः' इत्युक्तं न युक्तम्, सर्वज्ञस्यैवाभावात्-इति वार्तान्तरमुत्थापयति—

मूलम्—अत्राप्यभिदधत्यन्ये सर्वज्ञो नैव विद्यते ।
तद्ग्राहकप्रमाऽभावादिति न्यायानुसारिणः ॥ १ ॥

अत्रापि=निरूपितसम्यगुपायक्रमे मोक्षवादेऽपि अभिदधति=वदन्ति अन्ये=मीमांसकाः यदुत 'सर्वज्ञो नैव विद्यते' । कुतः ? इत्याह तद्ग्राहकप्रमाऽभावात्=सर्वज्ञसाधकप्रमाणाभावात् । 'इतिः' प्रतिज्ञातहेतुसमाप्त्यर्थः । किंभूता अन्ये ? इत्याह न्यायानुसारिणः=वक्ष्यमाणतर्काग्रहमात्रपराः ॥ १ ॥

[सर्वज्ञसिद्धिविरोधी पूर्वपक्षवार्त्ता]

'ज्ञानयोग से कर्मक्षय द्वारा सर्वज्ञ की मुक्ति होती है' ऐसा जैन विद्वानों का कथन सर्वज्ञ का अभाव होने से युक्तिसंगत नहीं है इस पराभिमत विषय को आद्य कारिका में प्रस्तुत किया गया है । कारिका का अर्थ इस प्रकार है—

यद्यपि मोक्षप्राप्ति के उपायों का सम्यक् प्रतिपादन कर के मोक्षवाद को सुप्रतिष्ठित कर दिया गया है, तथापि मीमांसक आदि अन्य विद्वान् अग्रिम तर्कों में आग्रहग्रस्त होकर मोक्षवाद की पूर्वोक्त स्थापना के प्रतिपक्ष में खडे होकर यह कहते हैं कि सर्वज्ञ की सत्ता नहीं है, क्योंकि सर्वज्ञ का साधक कोई प्रमाण नहीं है । कारिका में आये 'इति' शब्द द्वारा यह सूचित किया गया है कि सर्वज्ञसाधक प्रमाण का अभाव सर्वज्ञ के अभाव का साधन करने में पूर्णतया समर्थ है, उसके लिए अन्य हेतु की अपेक्षा नहीं है ॥१॥

तद्ग्राहकप्रमाणसामान्याभावे तद्विशेषाभावं हेतुं विवेचयन्नाह—

मूलम्—प्रत्यक्षेण प्रमाणेन सर्वज्ञो नैव गृह्यते ।
लिङ्गमप्यविनाभावि तेन किञ्चिद् न दृश्यते ॥ २ ॥

प्रत्यक्षेण प्रमाणेन नैव सर्वज्ञो गृह्यते, तद्धि प्रतिनियतासन्नरूपादिगोचरत्वादित्वेन परसंतानवर्तिसंवेदनमात्रेऽप्यशक्तम्, किं पुनरनन्तातीताऽनागत—वर्तमान—सूक्ष्माऽन्तरितादिस्वभावसकलपदार्थसाक्षात्कारिसंवेदनविशिष्टस्याऽसतः पुरुषविशेषस्य परिच्छेदे ?! इति । लिंगमपि किंचित् तेन=सर्वज्ञेन सह अविनाभावि=निश्चितप्रतिबन्धम् न दृश्यते । नहि तद्ग्रहे तत्सत्त्वेन सह हेतोः प्रतिबन्धः पक्षधर्मत्वं वा तस्य निश्चेतुं शक्यत इति । किञ्च, सर्वज्ञोऽनुमानाद् विशेषेण साध्यः अविशेषेण वा ? । आद्ये व्यभिचारः । द्वितीये स्वामीप्सितार्हत्सर्वज्ञाऽसिद्धिः । न च 'सर्वे पदार्थाः कस्यचित् प्रत्यक्षाः, प्रमेयत्वात्, अग्न्यादिवत्' इति हेतोः सर्वज्ञसिद्धिः, सकलपदार्थसाक्षात्कार्येकज्ञानप्रत्यक्षत्वस्य साध्यत्वे दृष्टान्तस्य साध्यवैकल्यात् । प्रतिनियतविषयानेकज्ञाने प्रत्यक्षत्वस्य साध्यत्वे च बाधः, सिद्धसाधनं वा । एवं प्रमेयत्वहेतावपि विकल्प्य दोषो भाव्यः । न च सामान्योपग्रहाद् दोषोद्धारः अतिविलक्षणव्यक्त्योरेकसामान्याऽसिद्धेः, अन्यथाऽतिप्रसङ्गादिति ॥ २ ॥

[प्रत्यक्ष और अनुमान से सर्वज्ञसिद्धि असंभव]

सर्वज्ञाभाव के साधनार्थ प्रस्तुत किये गये प्रमाणसामान्याभाव के समर्थन के लिये द्वितीय कारिका में प्रमाणविशेषाभावरूप हेतु का विवेचन किया गया है। कारिका का अर्थ इस प्रकार है—

प्रत्यक्षप्रमाण से सर्वज्ञ की सिद्धि कथमपि नहीं हो सकती, क्योंकि वह स्वभावत: सम्बन्ध में आये हुए रूपादि प्रतिनियत विषयों में ही प्रवृत्त होता है। अतः अन्य सन्तान में विद्यमान संवेदनमात्र को भी ग्रहण करने में वह असमर्थ है और जब उस की यह स्थिति है तब अतीत-अनागत-वर्तमान सूक्ष्म-व्यवहित आदि अनन्त स्वभाव से युक्त सम्पूर्ण पदार्थों के प्रत्यक्षानुभव से विशिष्ट असत्पुरुषविशेष को ग्रहण करने में वह कैसे समर्थ हो सकता है?

अनुमान से भी सर्वज्ञ की सिद्धि नहीं हो सकती क्योंकि ऐसा कोई लिङ्ग देखने में नहीं आता जिस में सर्वज्ञ का अविनाभाव यानी सर्वज्ञ की व्याप्ति गृहीत हो सके। साथ ही यह भी निर्विवाद है कि सर्वज्ञ की सिद्धि न होने से सर्वज्ञ-साध्यक अथवा सर्वज्ञपक्षक कोई भी अनुमान नहीं हो सकता, क्योंकि प्रथम अनुमान के लिये हेतु में अपेक्षित साध्य-व्याप्ति का निर्णय नहीं हो सकता, और दूसरे अनुमान के लिये, अपेक्षित हेतु में पक्षधर्मता का निश्चय नहीं हो सकता।

[किसी भी प्रकार अनुमान से सर्वज्ञसिद्धि अशक्य]

दूसरी बात यह है कि अनुमान से सर्वज्ञ का साधन करने का प्रयास दो रूपों में ही किया जा सकता है। एक यह कि सर्वज्ञ का विशेषरूप से साधन किया जाय। जैसे-इसप्रकार अनुमान किया जाय कि 'अर्हत् सर्वज्ञ हैं क्योंकि सिद्ध हैं, जो सर्वज्ञ नहीं होता वह सिद्ध नहीं होता जैसे संसारी मानव'। दूसरा यह कि सर्वज्ञ का 'अविशेष=सामान्य रूप से साधन किया जाय, जैसे इसप्रकार अनुमान किया जाय कि 'प्रत्यक्षत्व सर्वविषयकत्व का समानाधिकरण है क्योंकि वह अनुमित्यादि में अवृत्ति तथा ज्ञानत्व की व्याप्यजाति है, जो सर्वविषयकत्व का समानाधिकरण नहीं होता वह उक्त जातिरूप नहीं होता, जैसे अनुमितित्वादि और घटत्वादि जाति। उक्त दोनों अनुमानों में प्रथम में व्यभिचार है क्योंकि सिद्धत्व हेतु अन्य वादियों को मान्य असर्वज्ञसिद्ध में सर्वज्ञत्व का व्यभिचारी है। दूसरे अनुमान में अर्थान्तरदोष है क्योंकि अर्हत से भिन्नपुरुष के ज्ञान में, जैसे कि नैयायिकाभिमत ईश्वर के ज्ञान में, प्रत्यक्षत्व में सर्वविषयकत्व का समानाधिकरण्य मान लेने से उक्त अनुमान के संपन्न हो जाने पर जैनाभिमत सर्वज्ञ 'अर्हत्' की सिद्धि नहीं हो सकती।

"सब पदार्थ किसी पुरुष के प्रत्यक्षज्ञान के विषय हैं क्योंकि प्रमेय हैं, जो प्रमेय होता है वह किसी पुरुष के प्रत्यक्ष का विषय होता है। जैसे अग्नि आदि", इस अनुमान से भी सर्वज्ञ की सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि सम्पूर्ण पदार्थों के साक्षात्कर्ता किसी एक पुरुष के प्रत्यक्षज्ञानविषयत्व को साध्य करने पर दृष्टान्त में साध्य का अभाव होगा क्योंकि अग्नि आदि दृष्टान्त उक्त प्रकार के किसी एकपुरुष के प्रत्यक्षज्ञान के विषय नहीं है क्योंकि उक्त साध्य अप्रसिद्ध है। वस्तुतः इस दोष के प्रदर्शन का तात्पर्य साध्याऽप्रसिद्धि के प्रदर्शन में है। यदि प्रतिनियतविषयक

प्रत्यक्षात्मक अनेक ज्ञान विषयत्व का साध्य किया जायगा तो बाध होगा क्योंकि कोई पदार्थ अनेक प्रत्यक्षात्मक ज्ञान का विषय नहीं होता किन्तु एक एक पदार्थ एक एक प्रत्यक्षज्ञान का ही विषय होता है। यदि इस बाध दोष का वारण यह कह कर किया जाय कि 'पदार्थों में किसी एक काल में किसी एकपुरुष के प्रत्यक्ष ज्ञान का विषयत्व न होने पर भी कालभेद और पुरुषभेद से उन में अनेक प्रत्यक्षात्मक ज्ञान का विषयत्व विद्यमान होने से बाध नहीं हो सकता'-तो साध्य की ऐसी व्याख्या करने पर सिद्धसाधन होगा क्योंकि सभी पदार्थ में उक्त रीति से व्याख्यात साध्य सिद्ध है।

[प्रमेयत्व हेतु में असिद्धि आदि दोष]

प्रमेयत्व हेतु में भी विकल्पपूर्वक विचार करने पर दोष की प्रसक्ति अनिवार्य है, जैसे-प्रमेयत्व का अर्थ यदि प्रत्यक्षविषयत्व किया जाय तो सर्वज्ञसिद्धि के पूर्व सब पदार्थों में प्रत्यक्षविषयत्व का ग्रहण नहीं हो सकता क्योंकि सभी पदार्थों में किसी एक व्यक्ति के प्रत्यक्ष की विषयता सिद्ध नहीं है, क्योंकि सब पदार्थों में अतीन्द्रिय पदार्थ भी अन्तर्भूत हैं। और यदि अनुमितिप्रमाविषयत्वरूप प्रमेयत्व को हेतु किया जायगा तो जिस पदार्थ का सदा प्रत्यक्ष ही होता है अनुमिति नहीं होती जैसे मनुष्य का अपना हाथ-पैर एवं शाब्दिकगम्य स्वर्गनरक आदि, उस में हेतु का अभाव होने से भागासिद्धि होगी। यदि प्रमात्वसामान्य से प्रत्यक्ष-अनुमिति-शाब्दबोध आदि का संग्रह कर के उक्त दोषों का उद्धार करने का प्रयास किया जाय तो यह भी संभव नहीं है क्योंकि प्रत्यक्ष-अनुमिति आदि में अत्यन्त विलक्षण्य होने से उन में एक सामान्य तत्त्व की सिद्धि नहीं हो सकती। यदि अत्यन्त विलक्षण व्यक्तियों में भी सामान्य की सिद्धि मानी जायगी तो घट-पट आदि में एक सामान्य की सिद्धि का अतिप्रसंग होगा। यदि यह कहा जाय कि-'घट-पट आदि में पृथिवीत्व द्रव्यत्व आदि जैसे एक जाति रहती है एवं प्रत्यक्ष, अनुमिति आदि में जैसे ज्ञानत्व-गुणत्व आदि एक जाति रहती है उसी प्रकार प्रत्यक्ष, अनुमिति आदि में एक प्रमात्वजाति भी रह सकती है'-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि अत्यन्त विलक्षण व्यक्तियों में एक सामान्य न हो सकने की जो बात कही गई है वह ऐसी जातियों के सम्बन्ध में है जो जाति कार्यमात्रवृत्ति होती है। पृथिवीत्व, द्रव्यत्व एवं ज्ञानत्व गुणत्व आदि जातियाँ कार्यमात्रवृत्ति जातियाँ नहीं हैं अतः वे जातियाँ अत्यन्तविलक्षण व्यक्तियों में रह सकती हैं किन्तु प्रमात्वजाति कार्यमात्रवृत्ति है, अतः उसे जाति मानने पर वह घटत्वादि जातियों के समान अत्यन्त विलक्षणव्यक्तियों में नहीं रह सकती है। अत एव इन्द्रिय, लिङ्ग आदि विलक्षण कारणों से उत्पन्न होनेवाले प्रत्यक्ष-अनुमिति आदि का प्रमात्वरूप से संग्रह कर के भी प्रमेयत्व हेतु का समर्थन नहीं किया जा सकता। इस के अतिरिक्त दूसरी बात यह है कि प्रमात्व 'तद्वद्विशेष्यकत्वे सति तत्प्रकारकत्व'रूप होने से प्रकारविशेष और धर्मविशेष से घटित होने के कारण अननुगत है अतः उस में किसी एक के द्वारा हेतु के शरीर में प्रमा का प्रवेश करने पर भागासिद्धि होगी और सभी प्रमाओं का हेतु के शरीर में प्रवेश करने पर हेतु का स्वरूप यावत्प्रमाविषयत्व में पर्यवसित होगा, अतः स्वरूपासिद्धि होगी क्योंकि यावत्प्रमाविषयत्व किसी पदार्थ में नहीं रहता ॥२॥

मूलम्ः—न चागमेन, यदसौ विध्यादिप्रतिपादकः ।
अप्रत्यक्षत्वतो नैवोपमानेनापि गम्यते ॥ ३ ॥

न चागमेन 'सर्वज्ञो गृह्यते' इत्यनुषङ्गः । **यत्**=यस्मात् **असौ**=आगमः **विध्यादिप्रतिपादकः**=विधिनिषेधबोधकः । अयं आगमः–अनित्यादागमाद् तत्सिद्धिः स्याद्, नित्याद् वा ? । नाद्यः, अन्योन्याश्रयात्; सर्वज्ञसिद्धौ हि कृत्रिमस्यागमस्य तत्प्रणीतत्वेन प्रामाण्यसिद्धिः, तत्सिद्धौ च ततस्तत्सिद्धिः । न चाऽसर्वज्ञप्रणीत आगमः प्रमाणं युज्यते, अन्यथा स्ववचनादेव तत्सिद्धिः स्यादिति । नापि द्वितीयः, नित्यस्यागमस्य कार्ये एवार्थे प्रामाण्यव्यवस्थापनेन सर्वज्ञप्रतिपादने तस्याऽप्रमाणत्वात्, यश्च हिरण्यगर्भं प्रकृत्य–'स सर्ववित् स लोकवित्' इत्यादिरागमः, तस्यापि कर्मार्थवादप्रधानत्वेन सकलज्ञविधायकत्वानुपपत्तेः । नापि सकलज्ञस्यानुवादकोऽसौ, पूर्वमन्यैः प्रमाणैरबोधितस्य तस्यानुवदितुमशक्यत्वादिति भावः । **अप्रत्यक्षत्वतः** कारणात्, नैवोपमानेनापि गम्यते सर्वज्ञः, तस्य सादृश्यविषयत्वात्, सादृश्याश्रयदर्शननान्तरीयकत्वाच्च; पदवाच्यत्वविषयकत्वे च तस्यात्रोपयोग एव दूरे ॥ ३ ॥

[आगमप्रमाण से सर्वज्ञसिद्धि अशक्य]

आगम-शास्त्र से भी सर्वज्ञ की सिद्धि नहीं हो सकती क्योंकि आगम विधि और निषेध का ही बोधक होता है । अतः सर्वज्ञ विधि-निषेधात्मक न होने से आगम से गृहीत नहीं हो सकता । साथ ही यह भी विचारणीय है कि सर्वज्ञ की सिद्धि अनित्य आगम से होगी या नित्य आगम से ? (१) इन में प्रथम पक्ष अन्योन्याश्रय होने से ग्राह्य नहीं हो सकता, क्योंकि सर्वज्ञ सिद्ध होने पर अनित्य आगम में, सर्वज्ञ प्रणीत होने से प्रामाण्य की सिद्धि होगी और प्रामाण्य की सिद्धि हो जाने पर ही आगम से सर्वज्ञ की सिद्धि होगी, अतः अनित्य आगम से सर्वज्ञ की सिद्धि मानने में अन्योन्याश्रय स्पष्ट है । असर्वज्ञ प्रणीत आगम को भी सर्वज्ञ की सिद्धि में प्रमाण मानना युक्तिसंगत नहीं हो सकता, क्योंकि यदि अन्य असर्वज्ञ का वचन सर्वज्ञ का साधक होगा तो वादी के वचन से भी उस की सिद्धि हो जाने की प्रसक्ति होगी । (२) नित्यआगम से सर्वज्ञ की सिद्धि होती है यह द्वितीय पक्ष भी ग्राह्य नहीं हो सकता क्योंकि नित्य आगम (वेद) तो कर्त्तव्य अर्थ में ही प्रमाण होता है-इस तथ्य का व्यवस्थापन हो चुकने से सर्वज्ञ के प्रतिपादन में वह प्रमाण नहीं हो सकता । हिरण्यगर्भ के अधिकार में 'स सर्ववित् स लोकवित्=वह सर्वज्ञ है वह लोकज्ञ है' इस प्रकार का जो आगम (वेद) उपलब्ध होता है वह भी आगमप्रतिपाद्य कर्म का अर्थवादरूप है अतः यह भी सर्वज्ञ का साधक नहीं हो सकता । उक्त आगम सर्वज्ञ का अनुवादक भी नहीं हो सकता क्योंकि अन्य प्रमाणों से सर्वज्ञ अज्ञात है, अतः उस का अनुवाद असम्भव है ।

[उपमानप्रमाण से सर्वज्ञसिद्धि का असम्भव]

उपमान प्रमाण से भी सर्वज्ञ की सिद्धि नहीं हो सकती क्योंकि सर्वज्ञ अप्रत्यक्ष है

और उपमान प्रत्यक्षयोग्य अर्थ के सम्बन्ध में ही प्रवृत्त होता है। दूसरी बात यह है कि उपमान सादृश्य और सादृश्य के आश्रयभूत पदार्थ के दर्शन का अविनाभावी होता है जैसे मीमांसक मतानुसार अरण्य में पहुंचे हुए ग्रामीण पुरुष को गवय में गोसादृश्य का दर्शन होने पर ग्रामस्थितगौ में गवयसादृश्य का ग्रहण उपमान प्रमाण से होता है। नैयायिक मतानुसार भी उपमान प्रमाण से सर्वज्ञ की सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि नैयायिकों के मत में उपमान प्रमाण पदवाच्यत्व का ही ग्राहक होता है, जैसे अपने ग्राम में अरण्यागत पुरुष के वाक्य से 'गोसदृशो गवयः=गोसदृश गवयपदवाच्य है' यह जानकर, अरण्य में गये ग्रामीण पुरुष को गवय में गोसादृश्य का दर्शन होने पर 'गोसदृश गवयपदवाच्य है' इस पूर्वज्ञात वाक्यार्थ के स्मरण से 'गवयः गवयपदवाच्यः-गवय गवयपदवाच्य है' इसप्रकार गवय में गवयपदवाच्यत्व का ग्रहण उपमान प्रमाण द्वारा उपपन्न होता है। इसप्रकार जब मीमांसक के अनुसार उपमान प्रमाण का विषय सादृश्य है और न्याय मत के अनुसार उस का विषय पदवाच्यत्व है तब उन दोनों से भिन्न सर्वज्ञ में उस का उपयोग बड़े दूर की बात है। फलतः उपमान से भी सर्वज्ञ की सिद्धि असंभव है ॥ ६ ॥

मूलम्—नार्थापत्त्यापि सर्वोऽर्थस्तं विनाऽप्युपपद्यते ।
प्रमाणपञ्चकाऽवृत्तेस्तत्राऽभावप्रमाणता ॥ ४ ॥

अर्थापत्त्यापि न सर्वज्ञो गृह्यते, यतः **सर्वोऽर्थः**=धर्मदेशनादि **तं विनापि**=सर्वज्ञं विनापि उपपद्यते **बुद्धादीनां** स्वप्नोपलब्धार्थोपदेशतुल्यस्य व्यामोहपूर्वकस्य, **मन्वादीनां** च साङ्गाध्ययनसमासादितव्युत्पत्तिविशेषाऽऽकलितनिखिलवेदार्थानां सम्यग्ज्ञानपूर्वकस्योपदेशस्योपपत्तेः । तदिदमुक्तं **भट्टेन**—

*"सर्वज्ञो दृश्यते तावद् नेदानीमस्मदादिभिः । दृष्टो न चैकदेशोऽस्ति लिङ्गं वा योऽनुमापयेत् ॥ १ ॥ न चागमविधिः कश्चिद् नित्यः सर्वज्ञबोधकः । न च मन्त्रार्थवादानां तात्पर्यमवकल्प्यते ॥ २ ॥ तत्रान्यार्थप्रधानैस्तैस्तदस्तित्वे विधीयते । न चानुवदितुं शक्यः पूर्वमन्यैरबोधितः ॥ ३ ॥ अनादिरागमस्यार्थो न च सर्वज्ञ आदिमान् । कृत्रिमेण त्वसत्येन स कथं प्रतिपाद्यते ? ॥ ४ ॥ अथ तद्वचनेनैव सर्वज्ञोऽज्ञैः प्रतीयते । प्रकल्प्येत कथं सिद्धिरन्योन्याश्रययोस्तयोः ? ॥ ५ ॥ सर्वज्ञोक्ततया वाक्यं सत्यं तेन तदस्तिता । कथं तदुभयं सिद्ध्येत् सिद्धमूलान्तरादृते ? ॥ ६ ॥ असर्वज्ञ—प्रणीतात्तु वचनाद् मूलवर्जितात् । सर्वज्ञमवगच्छन्तः स्ववाक्यात् किं न जानते ? ॥ ७ ॥ सर्वज्ञसदृशं कञ्चिद् यदि पश्येम संप्रति । उपमानेन सर्वज्ञं जानीयाम ततो वयम् ॥ ८ ॥ उपदेशो हि बुद्धादेर्धर्मा—ऽधर्मादिगोचरः । अन्यथा नोपपद्येत सार्वज्ञ्यं यदि नो भवेत् ॥ ९ ॥ बुद्धादयो ह्यवेद-

* श्लोकवार्त्तिके १-१-२ श्लोक ११७ तः, तत्त्वसंग्रहे च ३१८५ तः द्रष्टव्याः श्लोका इमे ।

शास्तेषां वेदादसंभवः । उपदेशः कृतोऽतस्तैर्व्यामोहादेव केवलात् ॥ १० ॥ ये तु मन्वादयः सिद्धाः प्राधान्येन त्रयीविदाम् । त्रयीविदाश्रितग्रन्थास्ते वेदप्रभवोक्तयः ॥११॥" इति ।

[अर्थापत्तिप्रमाण से सर्वज्ञसिद्धि का असम्भव]

विवेचनः—अर्थापत्ति प्रमाण से भी सर्वज्ञ की सिद्धि नहीं हो सकती क्योंकि धर्माधर्मोपदेश आदि सम्पूर्ण कार्य सर्वज्ञ के बिना ही उपपन्न हो जाता है। जैसे बुद्ध आदि का उपदेश स्वप्न में उपलब्ध अर्थ के उपदेश के समान है जिसकी उपपत्ति व्यामोह से होती है। मनु आदि का उपदेश सम्यक् ज्ञान से उत्पन्न होता है क्योंकि उन्हों ने सांगवेद के अध्ययन द्वारा विशेष व्युत्पत्ति अर्जित कर सम्पूर्ण वेदार्थ का अवबोध प्राप्त कर लिया है। जैसा कि कुमारिल भट्ट ने कहा है—

इस समय हम लोगों को सर्वज्ञ का दर्शन नहीं होता अतः प्रत्यक्ष प्रमाण से हम लोगों को सर्वज्ञ की सिद्धि नहीं हो सकती। उस के किसी ऐसे एक देश का भी दर्शन हमें नहीं होता जो लिङ्ग के रूप में उस का अनुमान करा सके। अतः अनुमानप्रमाण से भी उस की सिद्धि नहीं हो सकती ॥ १ ॥

वेद का कोई नित्यविधि भाग भी सर्वज्ञ का बोधक नहीं है, उस के मन्त्रवाद और अर्थवाद के भी तात्पर्य की कल्पना सर्वज्ञ के अस्तित्व में नहीं हो सकती ॥ २ ॥

मन्त्र और अर्थवाद अन्यार्थप्रधान हैं, अतः कार्यरूप अन्य अर्थ के अस्तित्व में ही उन का तात्पर्य माना जाता है। वेदों से सर्वज्ञ का अनुवाद भी नहीं माना जा सकता क्योंकि अन्य प्रमाणों से वह पूर्वबोधित नहीं है ॥ ३ ॥

उक्त रीति से जब अनादि अथवा सादि सर्वज्ञ का नित्य आगम से प्रतिपादन नहीं होता तो कृत्रिम असत्य आगम से उस का प्रतिपादन कैसे हो सकता है ॥ ४ ॥

सर्वज्ञ के वचनरूप आगम से भी अज्ञजनों को सर्वज्ञ का बोध नहीं हो सकता। अन्योन्याश्रित होने से आगम और सर्वज्ञ की सिद्धि की कल्पना कैसे संभव हो सकती है ? ॥ ५ ॥

सर्वज्ञ से उक्त होने के कारण वेदवाक्य की सत्यता और वेदवाक्य से सर्वज्ञ की अस्तिता-ये दोनों बातें किसी अन्य प्रामाणिक मूल के अभाव में कैसे सिद्ध हो सकती हैं ? ॥ ६ ॥

असर्वज्ञरचित प्रमाणहीन आगम से जिन को सर्वज्ञ की सिद्धि मान्य है वे अपने वाक्य से ही उस का अवबोध क्यों नहीं प्राप्त करते ? क्योंकि अन्य असर्वज्ञ और सर्वज्ञ के साधनार्थ प्रवृत्त असर्वज्ञ-दोनों के वचनों में साम्य है, क्योंकि दोनों ही प्रमाणहीन हैं ॥ ७ ॥

यदि इस समय हमें सर्वज्ञ के सदृश कोई दीख पड़ता तो उस के सादृश्य से हम उपमानप्रमाण द्वारा वास्तव सर्वज्ञ को जान सकते, पर ऐसा नहीं है, अतः उपमान प्रमाण से भी उस की सिद्धि असंभव है ॥ ८ ॥

बुद्ध आदि ने धर्म-अधर्म आदि का उपदेश किया है, यदि वे सर्वज्ञ न हो तो उन के उक्त उपदेश की उपपत्ति नहीं हो सकती-यह नहीं कहा जा सकता ॥ ९ ॥

बुद्ध आदि वेदज्ञ नहीं है अत एव वेद द्वारा उन का उपदेश संभव नहीं है, उन्हों ने केवल व्यामोह से ही उपदेश किया है ॥ १० ॥

वेदत्रयी के जाननेवालों में मनु आदि प्रधान माने जाते हैं, उन के ग्रन्थ वेदत्रय के ज्ञान पर आश्रित हैं, उन के सारे वचन वेदमूलक हैं ॥ ११ ॥

फलितमाह–**प्रमाणपञ्चकाऽवृत्तेः**=पञ्चानामपि प्रमाणानां विधिग्राहिणामप्रवृत्तेः **तत्र**=सर्वज्ञे, **अभावप्रमाणता**=अभावप्रमाणात् सर्वज्ञाभावनिश्चय एवेति भावः । उक्तं च–(श्लो. वा. अभाव.)

"प्रमाणपञ्चकं यत्र वस्तुरूपे न जायते । वस्तुसत्तावबोधार्थं, तत्राभावप्रमाणता ॥१॥" इति ।

न चाभावस्य पृथक्प्रमाणत्वमसिद्धम्, अभावग्राहिणस्तस्य पार्थक्यावश्यकत्वात् । न हीन्द्रियेणाभावज्ञानं जनयितुं शक्यम्, भावांशेनैवेन्द्रियस्य संयोगात् । न च धर्म्यभेदाद् भावांशेन सहाऽभावांशस्याभेदे सतीन्द्रियसंयोगोपपत्तिः, अभिन्ने धर्मिणि रूप–रसयोरिव भावा–ऽभावांशयोरन्योन्यं भेदात् । तदुक्तम्– (श्लो. वा. अभाव० १८–१९)

"न तावदिन्द्रियेणैषा नास्तीत्युत्पाद्यते मतिः । भावांशेनैव संयोगो योग्यत्वादिन्द्रियस्य हि ॥१॥
ननु भावादभिन्नत्वात् संप्रयोगोऽस्ति तेन च । न ह्यत्यन्तमभेदोऽस्ति रूपादिवदिहापि नः ॥२॥"

[सर्वज्ञ अभावप्रमाण का विषय]

विवेचन:—प्रस्तुत चौथी कारिका के उत्तरार्ध में सर्वज्ञविषयक पूर्वोक्त विचारों का फलितार्थ बताया गया है–जिस का अभिप्राय यह है कि यत: सर्वज्ञ में भाव पदार्थ के ग्राहक प्रत्यक्ष आदि पांचों प्रमाणों की प्रवृत्ति नहीं होती अत: सर्वज्ञ की सिद्धि न होकर अभावप्रमाण से सर्वज्ञ का अभाव ही सिद्ध होता है । कहा भी गया है कि भावात्मक वस्तु की सत्ता के अवबोधक प्रत्यक्ष आदि पांचों प्रमाण जिस वस्तु में नहीं प्रवृत्त होते उस में अभावप्रमाण की प्रवृत्ति से उस वस्तु के अभाव की सिद्धि होती है ।

[अभावग्राहक स्वतंत्र प्रमाण की सिद्धि]

यदि यह कहा जाय कि–'अभाव नामक पृथक् प्रमाण असिद्ध है'–तो यह ठीक नहीं है क्योंकि अभाव के ग्रहण के लिये अभाव प्रमाण को पृथक् मानना आवश्यक है, क्योंकि इन्द्रिय से अभाव का बोध नहीं हो सकता, यतः इन्द्रिय द्वारा अपने सम्बद्ध अर्थ का ही बोध होता है और उस का सम्बन्ध भावांश के ही साथ होता है । यदि यह कहा जाय कि–'धर्म और धर्मी में अभेद होने से धर्मी के भावांश के साथ इन्द्रिय का सम्बन्ध होने पर उस के अभावांश के साथ भी इन्द्रिय का सम्बन्ध हो सकता है क्योंकि अभावांश भावांश से अभिन्न धर्मी से अभिन्न होने के कारण भावांश से भी अभिन्न होता है'–तो यह ठीक नहीं है क्योंकि धर्मी के अभिन्न होने पर भी जैसे उन के रूप रस आदि धर्मों में भेद होता है उसीप्रकार अभिन्न धर्मी के भावांश और अभावांश धर्मों में भी परस्पर भेद होता है । कहा भी गया है कि 'भूतले घटो नास्ति–भूतल में घडा नहीं है' इसप्रकार की बुद्धि इन्द्रिय से नहीं उत्पन्न हो सकती क्योंकि योग्य होने से भावांश के साथ ही इन्द्रिय का सम्बन्ध होता है ॥ १ ॥

न चैवं तदभावज्ञानमनुमानम्, लिङ्गाभावात् तदुक्तम्— "न चाप्यस्यानुमानत्वं लिङ्गाभावात् प्रतीयते । भावांशो ननु लिङ्गं स्यात्तदानीमजिघृक्षणात् ॥ १ ॥ अभावावगतेर्जन्म भावांशे ह्यजिघृक्षिते । तस्मिन् प्रतीयमाने तु नाभावे जायते मतिः ॥ २ ॥ न चैष तस्य धर्मत्वं पदवत् प्रतिपद्यते " इति । [श्लो. वा. अभाव. २९—३०—३१]

ततो 'नास्ति' इति ज्ञाने फले प्रतियोगिग्रहणपरिणामाभावरूपम्, हानादिबुद्धिरूपे च फलेऽन्यवस्तुज्ञानरूपमभावाख्यं प्रमाणमेष्टव्यम् । तदुक्तम्— "प्रत्यक्षादेरनुत्पत्तिः प्रमाणाभाव उच्यते । सात्मनोऽपरिणामो वा विज्ञानं वाऽन्यवस्तुनि ॥ १ ॥" इति । [श्लो. वा. अभाव. ११]

'एक धर्मी के भावात्मक धर्म से अभिन्न होने के कारण अभावात्मक धर्म के साथ भी इन्द्रिय का सम्बन्ध हो सकता है' ऐसा नहीं माना जा सकता क्योंकि एक धर्मी में विद्यमान रूप रस आदि के समान एक धर्मी में विद्यमान भाव और अभाव में भी अत्यन्त अभेद नहीं होता ॥ २ ॥

[अभावग्राहकप्रमाण अनुमानात्मक नहीं है]

अनुमान से भी अभाव का ग्रहण नहीं हो सकता क्योंकि अभाव का ग्राहक कोई लिङ्ग नहीं है । कहा भी है कि—

अभावज्ञान को अनुमितिरूप नहीं माना जा सकता क्योंकि अभाव का कोई लिङ्ग नहीं होता । भावांश भी अभाव का लिङ्ग नहीं हो सकता क्योंकि अभावज्ञान के समय भावांश के अजिज्ञासित होने से भावांश अज्ञात रहता है ॥ १ ॥

भावांश के अजिज्ञासित होने से भावांश के अज्ञान काल में जो अभावज्ञान का जन्म होता है वह भावांशलिङ्गक नहीं हो सकता, क्योंकि ज्ञात ही लिङ्ग होता है और भावांश की जब प्रतीति होगी तब अभाव की बुद्धि नहीं हो सकती ॥ २ ॥

भावांश अभाव का धर्म नहीं है अतः पद जैसे अर्थ का धर्म न होने से अर्थ का अनुमापक लिङ्ग नहीं होता उसीप्रकार भावांश भी अभाव का लिङ्गविधया बोधक नहीं हो सकता ।

[अभावप्रमाण के दो प्रकार]

उक्त रीति से प्रमाणान्तर से अभाव का ग्रहण संभव न होने से उस के ग्रहणार्थ अतिरिक्त प्रमाण मानना आवश्यक है, इस प्रमाण के दो फल हो सकते हैं, एक अभाव का ग्रहण और दूसरा हान-उपेक्षा आदि की बुद्धि । प्रथम फल में आत्मा के प्रतियोगिज्ञानरूप परिणाम का अभाव ही प्रमाण होता है और दूसरे फल में अन्य वस्तुज्ञान ही अभावप्रमाण होता है । अन्य वस्तुज्ञान को अभावप्रमाण मानने का आशय यह है कि मनुष्य को उसी वस्तु में हान या उपेक्षा की बुद्धि होती है जिस वस्तु में उसे इष्टभेद या इष्टसाधनत्वाभाव का ज्ञान होता है । यह ज्ञान क्रमशः भेद एवं अत्यन्ताभावविषयक होने से अभावप्रमाण में परिगणित होता है क्योंकि उस का किसी अन्य प्रमाण में अन्तर्भाव नहीं है और उस से प्रमाण का बुद्धिरूप कार्य उत्पन्न होता है । अभावप्रमाण के ये दोनों रूप निम्नप्रकार से बताये गये हैं—

न चैवमभावज्ञाने इन्द्रियान्वय-व्यतिरेकानुविधानं न स्यादिति शङ्कनीयम्, तस्याधिकरण-ग्रहणोपक्षीणत्वात्, अधिकरणग्रहण-प्रतियोगिस्मरणयोस्तत्र हेतुत्वात् । तदुक्तम्—"गृहीत्वा वस्तुसद्भावं स्मृत्वा च प्रतियोगिनम् । मानसं नास्तिताज्ञानं जायतेऽक्षानपेक्षया ॥ श्लो. वा. अ. २८० ॥" इति ।

न चाधिकरणज्ञानस्य हेतुत्वेऽन्धस्यापि त्वगिन्द्रियोपनीते घटादौ नीलाद्यभावग्रहः स्यादिति वाच्यम्; प्रतियोगिग्राहकेन्द्रियजन्याधिकरणज्ञानस्य तथात्वात् । न चैवं त्वगिन्द्रियोपनीते वायौ रूपाभावप्रतीत्यनुदयप्रसङ्गः, रूपानुपलम्भेन तदभावानुमानात् । न च हेतोरपि दुर्ग्रहत्वम्, उपलम्भस्य तत्रातीन्द्रियतया तदभावस्याज्ञातानुपलब्ध्यगम्यतया, ज्ञातानुपलब्धिगम्यत्वेऽनवस्थानात्, प्राकट्या-भावस्यापि रूपाभावतुल्यतया तेन तदनुमानाऽयोगात्; काय-वाग्व्यवहाराभावेऽप्युपेक्षाज्ञानसत्त्वाद् व्यवहाराभावेनापि तस्याननुमेयत्वादिति वाच्यम्, मनोजन्यवायुज्ञानसत्त्वात्, प्राकट्याभावेन मनो-ग्राह्येण रूपानुपलम्भानुमानसंभवात् । 'वायौ रूपाभावं पश्यामि' इति धीस्तु भ्रान्तैव । अथा-नुपलम्भे विशेषाभावाच्चक्षुषाऽभावग्रह आलोको हेतुर्न तु त्वचेति कुतः ? इति चेत् ? सत्यम्, चक्षुरादावालोकादेरप्यधिकरणज्ञानविशेष एवोपयोगात्, अभावज्ञानेऽनुपलम्भविशेषकृतविशेषाभावेऽ-धिकरणज्ञानविशेषोपपत्तेः । अत एव 'घटाभाव पश्यामि' इत्यप्यविगानं समर्थितम्, 'पश्यामि' इति विषयताविशेषे संनिकर्षदोषविशेषादिवदधिकरणज्ञानविशेषस्यापि नियामकत्वात् । न चैवं गौरवम्, अभावज्ञान आलोकादिहेतुत्वाऽकल्पनलाघवात् ।

प्रत्यक्ष आदि की अनुत्पत्ति को प्रमाणाभाव कहा जाता है । वह प्रतियोगिज्ञानरूप आत्मपरिणाम के अभावरूप होता है, अथवा अन्य वस्तुविषयक ज्ञानरूप होता है ॥ १ ॥

यदि यह शङ्का की जाय कि-अभावज्ञान को इन्द्रियजन्य न मानने पर उसके द्वारा इन्द्रिय के अन्वयव्यतिरेक का अनुकरण नहीं होना चाहिए, किन्तु अनुकरण होता है अतः उसे इन्द्रियजन्य मानना आवश्यक है-तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि अभावज्ञान नियम से किसी अधिकरणमें ही होता है । अत एव अधिकरणग्रहण के लिये अभावज्ञान भी इन्द्रिय के अन्वय व्यतिरेक का अनुकरण करता है किन्तु इस अनुकरण से अभावज्ञान में इन्द्रियजन्यत्व की सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि इन्द्रिय अभावाधिकरण के अवबोध को उत्पन्न कर कृतार्थ हो जाती है अतः अभावज्ञान में अधिकरण ज्ञान और प्रतियोगिस्मरण ही हेतु होता है इन्द्रिय नहीं । श्लोकवार्त्तिक में कहा भी है कि—

वस्तु-अधिकरण के अस्तित्व का ज्ञान और प्रतियोगी के स्मरण से अभाव प्रमाण सहकृत मन द्वारा अभाव का ग्रहण होता है, उस में इन्द्रिय की अपेक्षा नहीं होती ॥ १ ॥

[अधिकरणज्ञान को हेतु मानने में आपत्ति का निवारण]

यदि यह कहा जाय कि-'अभावज्ञान में अधिकरणज्ञान को कारण मानने पर अन्धे को भी त्वगिन्द्रिय से गृहीत घटादि में नीलादि के अभावग्रह की आपत्ति होगी क्योंकि उसे अधिकरण का स्पार्शनज्ञान, नीलादिरूप प्रतियोगी का ज्ञान और नीलादि की अनुपलब्धिरूप अभावप्रमाण विद्यमान है'-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि प्रतियोगी के ग्राहक इन्द्रिय से

होनेवाला अधिकरण ज्ञान ही अभावज्ञान का कारण होता है, त्वगिन्द्रिय नीलादिरूप प्रतियोगी का ग्राहक नहीं है अतः त्वगिन्द्रियजन्य अधिकरणज्ञान से अभावज्ञान की आपत्ति नहीं हो सकती। यदि यह कहा जाय कि 'ऐसा मानने पर त्वगिन्द्रिय से गृहीत वायु में रूपाभाव की प्रतीति की उत्पत्ति न हो सकेगी'-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि रूप की अनुपलब्धि से रूपाभाव की आनुमानिक प्रतीति में कोई बाधा नहीं है।

यदि यह कहा जाय कि-'रूपानुपलब्धि रूप हेतु का ज्ञान दुःशक है क्योंकि भट्ट-मीमांसक के मत में ज्ञान के अतीन्द्रिय होने से उस का अभाव अज्ञात अनुपलब्धि से ही गम्य होगा। यदि ज्ञात अनुपलब्धि से गम्य मानेंगे तो अनवस्था होगी, क्योंकि उपलम्भमात्र अतीन्द्रिय होने से सभी अनुपलब्धि को अनुमानवेद्य ही मानना होगा। प्राकट्य-ज्ञातता के अभाव से भी उपलम्भाभाव का अनुमान नहीं हो सकता, क्योंकि वह भी रूपाभाव के तुल्य है। अतः जैसे त्वगिन्द्रिय से ज्ञात वायु में रूपाभाव की प्रतीति नहीं होती उसीप्रकार उस में प्राकट्याभाव की भी प्रतीति नहीं हो सकती। प्राकट्याभाव से उपलम्भाभाव का अनुमान नहीं हो सकता। कारण, अनुमान अज्ञातलिङ्गक नहीं होता। एवं जिस वस्तु का कायिक और वाचिक व्यवहार नहीं होता उस का भी उपेक्षात्मक ज्ञान होता है अतः व्यवहाराभाव से उपलम्भाभाव का अनुमान नहीं हो सकता। अतः वायु में रूपानुलब्धि से रूपाभाव की आनुमानिक प्रतीति का समर्थन नहीं हो सकता।'—

तो यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि प्राकट्य=ज्ञातता मनोवेद्य है अतः मन से गृहीत वायु में 'वायौ रूपं न ज्ञातम्' इसप्रकार रूपज्ञातता के मानस अभावज्ञान से रूपानुलब्धि का अनुमान होकर उस से वायु में रूपाभाव की आनुमानिक प्रतीति का समर्थन हो सकता है। वायु में रूपाभाव को अनुमित मानने पर यह शङ्का नहीं की जा सकती कि-वायौ रूपाभावं पश्यामि-वायु में रूपाभाव को देखता हूं. इसप्रकार रूपाभावप्रतीति की चाक्षुषत्वरूप से बुद्धि नहीं हो सकती-क्योंकि यह बुद्धि चाक्षुषत्व अंश में भ्रम है. अतः दोषवश रूपाभाव की अनुमिति का चाक्षुषत्वरूप से ग्रहण हो सकता है।

[आलोक की हेतुता और अहेतुता की उपपत्ति]

यदि यह प्रश्न किया जाय कि-"अनुपलम्भ में कोई वैलक्षण्य न होने से चक्षु के व्यापार के अनन्तर होनेवाले अभावज्ञान में आलोक हेतु होता है, और त्वगिन्द्रियव्यापार के अनन्तर होनेवाले अभावज्ञान में आलोक हेतु नहीं होता. यह व्यवस्था कैसे होगी ! क्योंकि अभावज्ञान जब प्रतियोगी के अनुपलम्भरूप अभावप्रमाण से ही होता है तब अभावज्ञान को उत्पन्न करने में अनुपलम्भ को आलोक की अपेक्षा कभी नहीं होनी चाहिये अथवा सदा होनी चाहिए।"-तो इस प्रश्न का उत्तर यह दिया जा सकता है कि अभावज्ञानस्थल में चक्षुरादि के समान आलोक आदि का भी उपयोग अधिकरण के ज्ञान में ही होता है, सीधे अभावज्ञान में नहीं होता। फिर भी यदि यह प्रश्न हो कि-'चक्षु के व्यापार के अनन्तर होनेवाले अभावज्ञान तथा त्वगिन्द्रिय के व्यापार के अनन्तर होनेवाले अभावज्ञान में अभावांश के ग्रहण में आलोक की अपेक्षा नहीं है तो चाक्षुषव्यापार के अनन्तर होनेवाले अभावज्ञान में आलोक की अपेक्षा होती है और त्वाचव्यापार के अनन्तर होनेवाले अभावज्ञान में आलोक की अपेक्षा नहीं होती, ऐसा क्यों ?'-तो इस का उत्तर यह है कि दोनों अभावज्ञानों में अनुपलम्भ के वैलक्षण्य से वैलक्षण्य न होने पर भी अधिकरण ज्ञान के वैलक्षण्य से वैलक्षण्य होता है। अतः

न चाऽज्ञातकरणकत्वादभावज्ञानमपरोक्षमित्यप्याशङ्कनीयम्, क्वचिज्ज्ञाताया एवानुपलब्धेः करणत्वात् । तथाहि–यत्र गृहाद् निर्गतश्चैत्रस्तत्र किं मैत्र आसीत् ? इति केनापि पृष्टः क्षणं ध्यात्वा वदति–'नासीत् तत्र मैत्रः' इति । तत्र प्राग्नास्तितावुद्धौ ज्ञातैव सा करणम् । न हीयं स्मृतिः, गृहसंनिकर्षकाले मैत्राऽस्मरणेन तदभावाननुभवात् । नापि प्रत्यक्षम्, गृहाऽसंनिकर्षेऽपि जायमानत्वादिति । 'प्रकृताभावज्ञानं भावभूतकरणसचिवमनोजन्यम्, बहिर्विषयकालौकिकेतरज्ञानत्वात्' इति चाप्रयोजकम् ।

यह कल्पना की जाती है कि अधिकरणांश के चाक्षुषज्ञान से होनेवाले अभावज्ञान में आलोक कारण होता है और अधिकरण के स्पार्श ज्ञान से होनेवाले अभावज्ञान में आलोक कारण नहीं होता।

उक्त हेतु से ही 'घटाभावं पश्यामि' इस ज्ञान का भी समर्थन हो जाता है क्योंकि जैसे 'घटं पश्यामि' इत्यादि स्थल में घट के साथ चक्षु का सन्निकर्ष घटज्ञान में नियामक होता है, तथा, शुक्ति में रजतत्व को विषय करनेवाली 'इदं रजतम्' इत्यादि प्रतीति के स्थल में शुक्ति में रजतत्वग्राहक दोषविशेष रजतज्ञान में चाक्षुषत्वभान का नियामक होता है, उसी-प्रकार 'घटाभावं पश्यामि' इत्यादि स्थल में अधिकरण का चाक्षुषज्ञान घटाभावज्ञान के चाक्षुषत्वभान का नियामक होता है। यदि यह कहा जाय कि 'इसप्रकार उक्तकारणता और नियामकता की कल्पना में गौरव होगा' तो यह ठीक नहीं है क्योंकि अभावज्ञान में आलोक आदि को कारण न मानने से इस पक्ष में स्पष्ट लाघव है ॥

[अभावप्रमाण में अपरोक्षता की आपत्ति का निवारण]

यदि यह शङ्का की जाय कि 'अभावज्ञान को अभावप्रमाणजन्य मानने पर अज्ञातकरणक होने से उस में अपरोक्षत्व की आपत्ति होगी' तो यह ठीक नहीं है क्योंकि कहीं कहीं पर ज्ञात ही अनुपलब्धि अभावज्ञान का करण होती है। अतः 'जो प्रमाण सर्वत्र अज्ञात ही होकर प्रमा का करण होता है उस प्रमाण से जन्य ज्ञान ही अपरोक्ष होता है' इसप्रकार की व्यवस्था कर देने से, जो अभावज्ञान अज्ञातअनुपलब्धिकरणक होता है उस में अपरोक्षत्व की आपत्ति नहीं हो सकती।

ज्ञात अनुपलब्धि अभावज्ञान का करण कहाँ होती है-इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जब घर से बाहर निकले हुये चैत्र से कोई व्यक्ति यह पूछता है कि क्या वहाँ मैत्र था? तो चैत्र थोडा ध्यान देकर उत्तर देता है कि मैत्र वहाँ नहीं था। इस उत्तर के लिये गृह में मैत्र के पूर्वास्तित्व के अभाव का जो ज्ञान ध्यानद्वारा चैत्र को होता है उस में मैत्रास्तित्व की ज्ञात अनुपलब्धि ही करण है क्योंकि चैत्र का उक्त ज्ञान स्मरणरूप नहीं है, यतः गृह में अवस्थित रहने के समय मैत्र का स्मरण न होने से चैत्र को मैत्राभाव का अनुभव नहीं होता और जब उस समय मैत्राभाव का अनुभव नहीं होता तो गृह से बाहर आने पर उस की स्मृति कैसे हो सकती है? चैत्र के उस ज्ञान को प्रत्यक्षरूप भी नहीं माना जा सकता क्योंकि गृह के साथ सन्निकर्ष न होने पर भी वह उत्पन्न है ॥ 'चैत्र का उक्त मैत्राभावज्ञान भावभूतकरणसहकृत मन से जन्य है क्योंकि अलौकिक ज्ञान से भिन्न बहिर्विषयक ज्ञान है', इस अनुमान से भी चैत्र के उक्त मैत्राभावज्ञान में प्रत्यक्षत्व की सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि इस हेतु में उक्त साध्य के व्याप्तिज्ञान का प्रयोजक कोई तर्क नहीं है। अतः यह सिद्ध है कि गृह से बाहर

अथ यद् तत्प्रतियोगिग्राहकं तत् तदभावग्राहकम्, यथाऽनुमानादिकम्, भवति चेन्द्रियमपि प्रतियोगिग्राहकम्, अतस्तदभावग्राहकमिति चेत् ? न, वाच्यताग्राहकोपमाने व्यभिचारात् । न च वाच्यतातिरिक्तं प्रतियोगिनो विशेषणं देयम्, तथापि प्रतियोगिग्राहकत्वस्य तदभावग्राहकत्वेऽतन्त्रत्वात्, अनन्यथासिद्धत्वस्योपाधित्वाच्च । न च व्यापारेणाधिकरणप्रत्यक्षेण, इन्द्रियस्य संयोगादिनेव नान्यथा-सिद्धत्वमिति वाच्यम्; अभावज्ञान इन्द्रियजन्यत्वसिद्धौ तद्घटिततद्व्यापारत्वसिद्धिः, तत्सिद्धौ च तत्सिद्धिरित्यन्योन्याश्रयात् । न चाभावभ्रमे दुष्टकरणजन्यत्वावश्यकत्वादिन्द्रिय एव पित्तादिना दुष्टताया उपपत्तेरभावभ्रमकरणत्वाभावप्रमाकरणत्वमपीन्द्रियस्यैवेत्याशङ्कनीयम्; दोषसाहित्यरूपदुष्टताया अनुपलब्धावपि संभवात् ।

अथाधिकरणविशिष्टाभावधीर्नेन्द्रियजा, अभावधीत्वात्; नानुपलब्धिकरणिका, भावधीत्वात्; नोभयजन्या, प्रमाणयोर्विरोधात्, अविरोधे सांकर्यात्; इतीन्द्रियमेव विशिष्टग्राहि स्वीकार्यम् । न च घ्राणोपनीतसौरभेण चन्दनस्येवानुपलब्धिगृहीतेनाभावेन भूतलस्यापि चक्षुषैव ग्रहः, विशेषणभूता-भावग्राहकतयाऽनुपलब्धेः स्वीकारादिति वाच्यम्, तथापि प्रतियोगिविशिष्टाभावग्रहस्यानुपलब्ध्या संभवादिति चेत् ? न, अनुपलब्धिजन्य एव विशिष्टज्ञाने ज्ञानोपनीतयोरधिकरण-प्रतियोगिनोर्विशेष्यतया विशेषणतया च भावग्रहसामग्रीमहिम्ना भानादिति दिग् ! तदेवमभावप्रमाणात् सर्वज्ञाभाव एव सिद्ध्यतीति सिद्धम् ।

निकलने के बाद चैत्र को गृह में जो मैत्राभाव का ज्ञान होता है वह गृह में तत्कालीन मैत्रानु-पलब्धि के ज्ञान से ही होता है, इसलिये अनुपलब्धि के ज्ञान होकर भी अभावज्ञान का करण होने से उक्त व्यवस्था के अनुसार अनुपलब्धिकरणक किसी भी अभावज्ञान में अपरोक्षत्व की प्रसक्ति नहीं हो सकती ।

[इन्द्रिय में अभावग्राहकता के अनुमान का निराकरण]

यदि यह कहा जाय कि-जो जिस प्रतियोगी का ग्राहक होता है वह उस के अभाव का भी ग्राहक होता है । जैसे-धूमलिङ्ग से अनुमान द्वारा अग्नि का ज्ञान होता है। इसी प्रकार इन्धनाभाव से अनुमान द्वारा अग्नि के अभाव का भी ज्ञान होता है । तो जैसे अनुमान आदि से प्रतियोगी और उस के अभाव-दोनों का ज्ञान होता है उसीप्रकार इन्द्रिय भी प्रतियोगी का ग्राहक होने से उसी से प्रतियोगी के अभाव का भी ग्रहण होना चाहिये-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि 'जो प्रतियोगी का ग्राहक होता है वह उस के अभाव का ग्राहक होता है' इस व्याप्ति का पदवाच्यता के ग्राहक और पदवाच्यत्वाभाव के अग्राहक उपमान प्रमाण में व्यभिचार है । यदि प्रतियोगी में पदवाच्यताभिन्नत्व विशेषण देकर व्यभिचार का वारण किया जाय तो भी उक्त व्याप्ति नहीं बन सकती, क्योंकि प्रतियोगी ग्राहकता में अभाव-ग्राहकता की व्याप्ति के ज्ञान का प्रतिबन्ध करनेवाली व्यभिचार शङ्का होगी तो उस का निवर्त्तक कोई तर्क नहीं है । निरुपाधिकत्व तर्क की भी संभावना नहीं की जा सकती, क्योंकि धर्मी के ज्ञान से इन्द्रिय अन्यथासिद्ध होने से, इन्द्रियरूप पक्ष में प्रतियोगिग्राहकत्वरूपसाधन का अव्यापक होने से, तथा अनुमान आदि में अभावग्राहकतारूपसाध्य का व्यापक होने से 'अनन्यथासिद्धत्व' उपाधि है ।

यदि यह कहा जाय कि 'अभावाधिकरणरूप धर्मी का इन्द्रियजन्यज्ञान-यह तो इन्द्रिय का व्यापार है। अतः उस से इन्द्रिय को अन्यथासिद्ध नहीं मान सकते; क्योंकि व्यापार से व्यापारी अन्यथासिद्ध नहीं होता; अन्यथा संयोग आदि सन्निकर्ष से प्रतियोगीप्रत्यक्ष के प्रति भी इन्द्रिय अन्यथासिद्ध हो जायगी'-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि अभावज्ञान में इन्द्रियजन्यत्व सिद्ध होने पर ही अधिकरण ज्ञान में 'इन्द्रियजन्यत्वे सति इन्द्रियजन्याभावज्ञानजनकत्वरूप व्यापारत्व की सिद्धि हो सकती है। अतः अभावज्ञान में इन्द्रियजन्यत्व की सिद्धि के लिए अधिकरणप्रत्यक्ष में इन्द्रियव्यापारत्व की सिद्धि की अपेक्षा होने से एवं इस सिद्धि में अभावज्ञान में इन्द्रिय जन्यत्वसिद्धि की अपेक्षा होने से अन्योन्याश्रय स्पष्ट है। फलतः अधिकरणप्रत्यक्ष को व्यापार मान कर, 'उस से इन्द्रिय अन्यथासिद्ध नहीं हो सकती' यह कहकर इन्द्रिय में अनन्यथासिद्धत्व को स्थापित कर के उसे साधन का अव्यापक बताते हुये, उस के उपाधित्व का परिहार करने का प्रयास सफल नहीं हो सकता।

यदि यह शङ्का की जाय कि-'अभावभ्रम दुष्टकरण से जन्य होता है और पित्त आदि रोग से जन्य दोष इन्द्रियरूप करण में ही उपपन्न होता है अतः इन्द्रिय को अभावभ्रम का करण मानना आवश्यक होने से उसे अभाव प्रमा का भी करण मानना न्यायप्राप्त है। कारण, जिस दोषयुक्त करण से जिस वस्तु का ग्रहण होता है दोष के अभाव में उस करण से ही उस वस्तु की प्रमा भी होती है-यह सर्वसामान्य न्याय है'-तो यह शङ्का ठीक नहीं है क्योंकि जैसे इन्द्रिय में दोषसाहित्यरूप दुष्टता होती है वैसे यह अनुपलब्धि में भी हो सकती है अतः यह पक्ष भी उचित है कि दुष्ट अनुपलब्धि से अभाव का भ्रम होता है और दोष से असन्निहित अनुपलब्धि से अभाव की प्रमा होती है।

[अभावज्ञान इन्द्रियजन्य होने की दीर्घ आशंका]

यदि यह आशंका की जाय कि-'भूतले घटो नास्ति=भूतल में घटाभाव है' इसप्रकार जो अधिकरणविशिष्ट अभाव की बुद्धि होती है उस को आप के मत में इन्द्रियजन्य नहीं माना जा सकता क्योंकि वह बुद्धि अभावविषयक है और अनुपलब्धिप्रमाणवादी के मत में इन्द्रिय से अभावविषयक बुद्धि नहीं होती। उक्तबुद्धि को अनुपलब्धिरूप करण से भी जन्य नहीं माना जा सकता क्योंकि वह अधिकरणरूप भाव पदार्थ को विषय करती है और सिद्धान्त यह है कि अनुपलब्धि अभावबुद्धि का ही करण होती है, भावबुद्धि का नहीं। उक्त बुद्धि को इन्द्रिय और अनुपलब्धि उभय से भी जन्य नहीं माना जा सकता क्योंकि दो प्रमाणों में विरोध होने से दो प्रमाणों से एक बुद्धि का जन्म नहीं हो सकता। और यदि दो प्रमाणों में विरोध न मान कर दोनों से एकबुद्धि की उत्पत्ति मानी जायगी तो दो प्रमाणों के जन्यतावच्छेदक दो जातियों में सांकर्य हो जायगा, क्योंकि एकैकप्रमाणमात्रजन्य बुद्धियों में ये जातियाँ परस्पर अभाव की समानाधिकरण होगी और प्रमाणद्वयजन्य एकबुद्धि में दोनों का समानाधिकरण्य भी होगा। अतः इन्द्रिय को ही अधिकरणविशिष्ट अभावज्ञान का जनक मानना उचित है क्योंकि अनुपलब्धि का प्रामाण्य विप्रतिपत्तिग्रस्त है और इन्द्रिय का प्रामाण्य भावपदार्थों के सम्बन्ध में निर्णीत है।

यदि बीच में यह कहा जाय कि 'जैसे घ्राण द्वारा ज्ञात सौरभ से विशिष्ट चन्दन की 'सुरभि चन्दनम्' अथवा 'चन्दने सौरभम्' इसप्रकार की चाक्षुष उपलब्धि होती है वैसे ही अनुपलब्धि से गृहीत अभाव से विशिष्ट भूतल की भी चाक्षुष उपलब्धि हो सकती है क्योंकि उस उपलब्धि में विशेषणभूत अभाव का ग्रहण अनुपलब्धि प्रमाण से सम्पन्न हो जाता है'-तो

एवं 'विप्रतिपन्नप्रत्यक्षं यदि सूक्ष्माद्यर्थग्राहकं स्यात्, प्रत्यक्षं न स्यात्' इत्यादि प्रसङ्गसाधनमपि द्रष्टव्यम् । न च गृध्रादीनां चक्षुरादिज्ञानेऽपूर्वदर्शित्वाद्यतिशयदर्शनाद् नराणामपि प्रज्ञा-मेधादिभिस्तद्दर्शनात् कस्यचिदतीन्द्रियार्थद्रष्टृत्वेनाप्यतिशयः स्यादिति **संभावनीयम्**, गृध्रादीनामपि स्वविषय एव रूपादौ चक्षुरादेर्दूरदर्शित्वादिविशेषदर्शनात्, विषयपरित्यागेन रूपादौ श्रोत्रादिवृत्तेरतिशयस्याऽदर्शनात्, सर्वज्ञे चक्षुराद्यविषयसूक्ष्माद्यर्थद्रष्टृत्वाऽसिद्धेः । प्रज्ञा-मेधादिभिरपि नराणां स्तोकस्तोकान्तरत्वेनैवातिशयदर्शनाद् विषयान्तरे प्रकर्षपर्यन्तं च तददर्शनादुक्ताऽसिद्धेः । तदुक्तम्— (श्लो. वा. चो. ११४, त.संग्रहे ३३८६)

यत्राप्यतिशयो दृष्टः स स्वार्थानतिलङ्घनात् । दूर–सूक्ष्मादिदृष्टौ स्याद्, न रूपे श्रोत्रवृत्तिता ॥ १ ॥ "येऽपि सातिशया दृष्टाः प्रज्ञा–मेधादिभिर्नराः । स्तोकस्तोकान्तरत्वेन न त्वती-

---

यह ठीक नहीं है क्योंकि उक्त रीति से अभावविशिष्ट अधिकरणज्ञान की उपपत्ति होने पर भी प्रतियोगिविशिष्ट अभावज्ञान की उपपत्ति अनुपलब्धि द्वारा संभव नहीं है क्योंकि अनुपलब्धि से अभाव के विशेषणरूप में भावात्मक प्रतियोगि का ग्रहण नहीं हो सकता, अतः इन्द्रिय को ही अधिकरणविशिष्ट प्रतियोगिविशेषित अभाव का ग्राहक मानना आवश्यक होने से अभाव ग्रहण के लिये अनुपलब्धिप्रमाण का अभ्युपगम अनावश्यक हो जाता है।

किन्तु यह आशंका ठीक नहीं है, क्योंकि 'भूतले घटो नास्ति' इस अधिकरणविशिष्ट अभावज्ञान को अनुपलब्धिजन्य मानने पर भी उस में ज्ञान द्वारा उपनीत अधिकरण और प्रतियोगी का, अभाव के विशेषणरूप में उपनायक ज्ञानरूपभावग्राहक सामग्री के बल से भान हो सकता है । इसप्रकार उक्त विचारों से यह सिद्ध है कि सर्वज्ञ की अनुपलब्धिरूप अभाव प्रमाण से सर्वज्ञ का अभाव ही सिद्ध होता है न कि सर्वज्ञ सिद्ध होता है क्योंकि उस का साधक कोई प्रमाण नहीं है ।

[प्रत्यक्ष से सूक्ष्म–दूरवर्ती वस्तु का ग्रहण अशक्य]

यह भी ज्ञातव्य है कि सर्वज्ञ के ज्ञान को यदि सूक्ष्म–दूरवर्त्ती आदि अर्थ–का प्रत्यक्षरूप ग्राहक माना जायगा तो यह आपत्ति हो सकती है कि विवादग्रस्त प्रत्यक्ष यदि सूक्ष्मादि अर्थ का ग्राहक होगा तो प्रत्यक्षात्मक न हो सकेगा क्योंकि अनुमानादिजन्य ज्ञानों में सूक्ष्मादि अर्थ की ग्राहकता में प्रत्यक्षत्वाभाव की व्याप्ति सिद्ध है । यदि यह कहा जाय कि–'गीध आदि को चक्षु आदि से उत्पन्न होनेवाले ज्ञान में 'अपूर्वदर्शित्व' आदि अतिशय देखा जाता है, एवं मनुष्यों के ज्ञान में भी प्रज्ञा, मेधा आदि के द्वारा अपूर्वदर्शित्व आदि अतिशय देखा जाता है । इसलिये किसी पुरुष के ज्ञान में अतीन्द्रियार्थदर्शित्वरूप अतिशय की संभावना की जा सकती है और जिस पुरुष के ज्ञान में अतिशय होगा वह सर्वज्ञ ही हो सकता है । इसप्रकार इस युक्ति से भी सर्वज्ञ का अस्तित्व सिद्ध है'–तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि गीध आदि के भी चक्षु आदि में जो दूरदर्शित्व आदि अतिशय देखा जाता हैं, वह चक्षु के विषय 'रूप' आदि में ही सीमित है, क्योंकि अपने विषय का परित्याग कर रूप आदि अन्य विषयों के सम्बन्ध में श्रोत्र आदि में अतिशय नहीं देखा जाता, अतः सर्वज्ञ में चक्षु आदि के अयोग्य सूक्ष्म, व्यवहित आदि अर्थ का दर्शनरूप अतिशय असिद्ध है । प्रज्ञा, मेधा आदि से मनुष्यों में जो अतिशय

न्द्रियदर्शनात् ॥ २ ॥ प्राज्ञोऽपि हि नरः सूक्ष्मानर्थान् द्रष्टुं क्षमोऽपि सन् । स्वजातीरनतिक्रामन्नतिशेते परान् नरान् ॥ ३ ॥ एकशास्त्रविचारेषु दृश्यतेऽतिशयो महान् । न च शास्त्रान्तरज्ञानं तन्मात्रेणैव लभ्यते ॥ ४ ॥ ज्ञात्वा व्याकरणं दूरंबुद्धिः शब्दाऽपशब्दयोः । प्रकृष्यते न नक्षत्र–तिथि–ग्रहणनिर्णये ॥ ५ ॥ ज्योतिर्विच्च प्रकृष्टोऽपि चन्द्रा–ऽर्क–ग्रहणादिषु । न भवत्यादि-शब्दानां साधुत्वं ज्ञातुमर्हति ॥ ६ ॥ तथा वेदेतिहासादिज्ञानातिशयवानपि । न स्वर्ग–देवता–ऽपूर्वप्रत्यक्षीकरणे क्षमः ॥ ७ ॥ दशहस्तान्तरं व्योम्नि यो नामोत्प्लुत्य गच्छति । न योजनमसौ गन्तुं शक्तोऽभ्यासशतैरपि ॥ ८ ॥" [त. संग्रहे ३१५९ तः ३१६७ मध्ये]

कथं च धर्मादिग्राहिज्ञानस्योत्पत्तिः ? । 'अभ्यासादि'ति चेत् ? न, अक्षाणां रूपादावेव प्रवृत्तेः, अनुमानस्यापि धर्मादावव्यापारात् । आगमप्रभवस्यापि ज्ञानस्याभ्यासे तस्य सर्वज्ञप्रणीतस्यैवाश्रये चक्रकप्रसङ्गात्, अस्पष्टज्ञानस्याभ्यासशतेनापि स्पष्टताया अयोगाच्च ।

होने की बात कही गई है वह अल्प, अल्पतर आदि रूप में तत्तदिन्द्रिययोग्य पदार्थ के ही सम्बन्ध में है ।

कहने का आशय यह है कि प्रज्ञा, मेधा आदि का उत्कर्ष जिस मनुष्य में होता है वह उस के बल से चक्षु आदि द्वारा चक्षु आदि के योग्य विषयों के सूक्ष्म, सूक्ष्मतर आदि रूपों को भी देख लेता है किन्तु विषयान्तर यानी चक्षु आदि के अयोग्य विषयों के प्रकृष्टरूप को भी चक्षु आदि से नहीं देख पाता, अतः किसी भी पुरुष में अतीन्द्रियार्थदर्शित्वरूप की सिद्धि नहीं हो सकती । श्लोकवार्तिक आदि में कहा भी है कि—

जिस इन्द्रिय में जो अतिशय देखा जाता है उस में वह अतिशय उस इन्द्रिय से योग्य अर्थ का अतिक्रमण न करके ही मान्य होता है । जैसे दूर, सूक्ष्म आदि चक्षु योग्य पदार्थों का ही सातिशय चक्षु से दर्शन होता है । चक्षु से अयोग्य का नहीं । श्रोत्र में कितना भी अतिशय क्यों न हो, वह रूप को नहीं देख सकता ॥ १ ॥

प्रज्ञा, मेधा आदि द्वारा जो मनुष्य अतिशययुक्त देखे जाते हैं वे भी तत्तद् इन्द्रिय से तत्तद् इन्द्रिय योग्य सूक्ष्म, सूक्ष्मतर वस्तु के दर्शन से ही अतिशय युक्त माने जाते हैं अतीन्द्रिय अर्थ के दर्शन से नहीं, क्योंकि इन्द्रिय से इन्द्रियातिक्रान्त विषय का दर्शन नहीं होता ॥ २ ॥

प्राज्ञ और सूक्ष्म अर्थों को देखने में समर्थ भी मनुष्य तत्तद् इन्द्रिय योग्य पदार्थों के स्वजातीय पदार्थों का अतिक्रमण न करते हुये भी अन्य पुरुषों से अतिशयित-उत्कृष्ट होता है न कि तत्तद् इन्द्रिय से अयोग्य पदार्थों के भी दर्शन से अन्यापेक्षया उत्कृष्ट होता है ॥ ३ ॥

एक शास्त्र के विचारों में जिस पुरुष में महान् अतिशय देखा जाता है वह उतने मात्र से ही अन्य शास्त्रों का भी ज्ञान नहीं प्राप्त कर लेता ॥ ४ ॥

व्याकरणशास्त्र का अध्ययन कर शब्द, अपशब्द के विषय में जिस की बुद्धि बहुत दूर तक पहुँचती है वह भी व्याकरण में ही प्रकृष्ट होता है । नक्षत्र, तिथि और ग्रहण के निर्णय में प्रकृष्ट नहीं होता ॥ ५ ॥

अथ दृश्यत एव कामशोकाद्युपप्लुतचेतसामस्पष्टस्यापि ज्ञानस्य स्पष्टत्वम् । उक्तं च— 'काम-शोक-भयोन्माद-रोग-शोकाद्युपद्रुताः । अभूतानपि पश्यन्ति पुरतोऽवस्थितानिव ॥१॥' इति । तद्वदेतदपि स्यादिति चेत् ? न, तद्वदेवास्याप्युपप्लुतत्वप्रसक्तेः । अथागमजं ज्ञानमेवाभ्यासात् साक्षात्कारीभवतीति नाङ्गीकारः, किन्तु तदभ्यासात् श्रवणादिक्रमेण तदुत्पत्तिरिति न दोष इति चेत् ? न, परोक्षादपरोक्षोत्पत्त्यदर्शनात्, श्रवणादेः प्रत्यक्षप्रमाकरणत्वेन प्रत्यक्षप्रमाणत्वप्रसङ्गाच्च । अपि च, सर्वज्ञज्ञानेनैकक्षण एव समस्तार्थग्रहण उत्तरकाले तस्याऽकिञ्चिज्ज्ञत्वप्रसङ्गः ।

चन्द्रसूर्य के ग्रहण आदि में प्रकृष्ट भी ज्योतिषी 'भवति' आदि शब्दों का साधुत्व नहीं बता सकता ॥ ६ ॥

वेद में वर्णित इतिहास आदि के अतिशय ज्ञान से सम्पन्न भी पुरुष स्वर्ग, देवता और अपूर्व का प्रत्यक्ष करने में समर्थ नहीं होता ॥ ७ ॥

जो पुरुष कूद कर दश हाथ तक ही उपर जाने में समर्थ होता है वह सैंकडो बार अभ्यास करके भी एक कूद कर योजन की दूरी तक नहीं जा सकता है ॥ ८ ॥

[धर्म-अधर्म आदि का ज्ञान प्रत्यक्षादि से असम्भव]

यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि धर्म, अधर्म आदि को ग्रहण करनेवाले ज्ञान की उत्पत्ति मनुष्य को कैसे हो सकती है ? अभ्यास द्वारा इन्द्रिय से उस की उत्पत्ति नहीं हो सकती क्योंकि इन्द्रियों की रूप आदि विषयों में ही प्रवृत्ति होती हैं । अनुमान से भी उस की उत्पत्ति नहीं हो सकती क्योंकि वह धर्म आदि विषयों में नहीं पहुँच पाता। आगमजन्य ज्ञान के अभ्यास से भी उस की उत्पत्ति नहीं की जा सकती, क्योंकि सर्वज्ञरचित आगम का आश्रय लेने पर चक्रक दोष की प्रसक्ति अनिवार्य है क्योंकि आगमाभ्यास से धर्मादि ज्ञान में सर्वज्ञप्रणीत आगम की अपेक्षा और उस आगम के लिये सर्वज्ञ की अपेक्षा और सर्वज्ञता के लिये आगमाधीन धर्मादि ज्ञान की अपेक्षा है ।

दूसरी बात यह है कि आगम से धर्मादि का जो ज्ञान होगा वह परोक्ष होने से अस्पष्ट होगा, अतः शतशः अभ्यास से भी उस में स्पष्टता नहीं आ सकती है, अतः धर्मादि का स्पष्ट ज्ञान संभव नहीं है ।

[सर्ववस्तुविषयक स्पष्ट ज्ञान का असम्भव]

यदि यह कहा जाय कि-'जिन मनुष्यों का चित्त काम, शोक आदि से आक्रान्त होता है उन को अस्पष्ट-परोक्ष ज्ञान में भी स्पष्टता देखी जाती है, कहा भी है कि-काम, क्रोध, भय, उन्माद, रोग, शोक आदि से आक्रान्त मनुष्य, जो उत्पन्न भी नहीं हैं उन्हें भी अपने समक्ष अवस्थित जैसा देखते हैं, तो जैसे उन मनुष्यों का अस्पष्ट भी ज्ञान स्पष्ट होता है उसी प्रकार धर्म आदि का आगमजन्य अस्पष्ट ज्ञान भी स्पष्ट हो सकता है'-तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि धर्मादिज्ञान को कामादिग्रस्त मनुष्यों के ज्ञान के समान अस्पष्ट मानने पर उन्हीं के समान धर्मादि के ज्ञाता पुरुष में कामादि से ग्रस्त होने की आपत्ति होगी ।

यदि यह कहा जाय कि-'आगमजन्य ज्ञान ही अभ्यास से साक्षात्काररूप हो जाता है'

किञ्च, परसंतानवर्तिरागादिसाक्षात्करणादस्य रागादिमत्त्वमपि स्यात् । अपि च, अतीतकालाद्यकलितस्य वस्तुनो विद्यमानतया तेन प्रतिसंधाने भ्रान्तत्वापत्तिः; अन्यथा च तज्ज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वानुपपत्तिः, अवर्तमानविषयत्वात् । अपि च, वस्तुनः प्रागभावध्वंसयोस्तस्य युगपद् भानाद् युगपज्जातमृतव्यपदेशापत्तिः । किञ्च, सर्वज्ञकालेऽपि सर्वज्ञो(ऽसर्वज्ञैः) न ज्ञातुं पार्येत इति कथं तद्वाक्यविश्वासः ? इति बहुसर्वज्ञकल्पनापत्तिः । तदुक्तम्— (श्लो. वा. चो. सू. १३४–३५–३६)
"सर्वज्ञोऽयमिति ह्येतत् तत्कालेऽपि बुभुत्सुभिः । तज्ज्ञानज्ञेयविज्ञानरहितैर्गम्यते कथम् ? ॥१॥
कल्पनीयाश्च सर्वज्ञा भवेयुर्बहवस्तव । य एव स्यादसर्वज्ञः स सर्वज्ञं न बुध्यते ॥२॥
सर्वज्ञो नावबुद्धश्च येनैव, स्याद् न तं प्रति । तद्वाक्यानां प्रमाणत्वं मूलाज्ञानेऽन्यवाक्यवत् ॥३॥" इति ।

यह अभिमत नहीं है किन्तु अभिमत यह है कि आगमजन्य ज्ञान के अभ्यास से श्रवण, मनन आदि के क्रम से आगमप्रतिपाद्य धर्म आदि पदार्थों के प्रत्यक्ष ज्ञान की उत्पत्ति होती है । अतः उक्त दोष नहीं हो सकता'-तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि परोक्षज्ञान से अपरोक्षज्ञान की उत्पत्ति नहीं देखी जाती और दूसरी बात यह है कि श्रवण, मनन आदि को धर्म आदि प्रत्यक्ष प्रमा का कारण मानने पर उन में प्रत्यक्ष प्रमाणत्व की आपत्ति होगी । साथ ही यह भी ज्ञातव्य है कि सर्वज्ञ के ज्ञान से एकक्षण में ही समस्त पदार्थ का ग्रहण हो जाने से उत्तरकाल में किसी ज्ञातव्य अर्थ अवशेष न रहने से सर्वज्ञ सर्वथा अज्ञ हो जायगा । इस के अतिरिक्त यह भी दोष प्रसक्त हो सकता है कि यदि अन्य सन्तान में-अन्य मनुष्य में विद्यमान राग आदि का साक्षात्कार यदि सर्वज्ञ को होगा तो सर्वज्ञ में रागादि की भी प्रसक्ति होगी क्योंकि रागादि और उस के साक्षात्कार में सामानाधिकरण्य का नियम है । दूसरा दोष यह भी है कि अतीत, अनागत काल से सम्बद्ध वस्तु का विद्यमानतया ज्ञान मानने पर सर्वज्ञ में भ्रान्तत्व की आपत्ति होगी और यदि उन वस्तुओं का वर्तमानत्वरूप से ज्ञान न होकर अतीतत्व आदि रूप से ही ज्ञान होगा तो सर्वज्ञ का होनेवाला उन वस्तुओं का ज्ञान प्रत्यक्षात्मक न हो सकेगा, क्योंकि प्रत्यक्ष वर्तमानविषयक ही होता है और सर्वज्ञ का उक्त वस्तुओं का ज्ञान वर्तमानविषयक नहीं है ।

इन सब दोषों के अतिरिक्त एक यह भी दोष है कि सर्वज्ञ को वस्तु के प्रागभाव और ध्वंस दोनों का एक काल में भान न होने से वस्तु में एक काल में ही 'उत्पन्न और मृत' होने के व्यवहार की आपत्ति होगी । साथ ही साथ यह भी दोष है कि सर्वज्ञ के अस्तित्वकाल में भी असर्वज्ञ मनुष्यों को सर्वज्ञ का सर्वज्ञत्वरूप में ज्ञान न हो सकेगा क्योंकि सर्वज्ञत्व का ज्ञान सर्वज्ञानाधीन है अतः सर्वज्ञ के वाक्य में असर्वज्ञ को विश्वास कैसे होगा ? अत एव इस संकट के परिहार के लिये अनेक सर्वज्ञों की कल्पना करनी होगी । कहा भी है—

सर्वज्ञ के अस्तित्वकाल में भी जिज्ञासुओं को 'यह पुरुष सर्वज्ञ है' यह ज्ञान कैसे हो सकेगा क्योंकि सर्वज्ञता के ज्ञान में सर्वविषयक ज्ञान और उस के विषयों का ज्ञान अपेक्षित है, जो जिज्ञासुओं में नहीं है ॥ १ ॥

सर्वज्ञ का ज्ञान प्राप्त करने के लिये सर्वज्ञ के अस्तित्ववादी को अनेक सर्वज्ञों की कल्पना करनी होगी फिर भी जो कोई व्यक्ति असर्वज्ञ होगा उसे सर्वज्ञ का बोध न हो सकेगा ॥ २ ॥

किञ्च, नित्यसमाधानसंभवे विकल्पाभावाद् कथं सर्वज्ञस्य वचनम् ? । वचने वा विकल्पसंभवात् समाधानविरोधाद् न समाहितत्वं स्यात् । समाधिर्हि चित्तवृत्तिनिरोधः, विकल्पश्च चित्तवृत्तिरिति । अपिच, रागाद्यावरणाभावे परेण सार्वज्ञ्यं वाच्यम्, रजोनीहाराद्यावरणापाये वृक्षादिदर्शनस्येव रागाद्यावरणरूपविज्ञानाऽवैशद्यहेत्वपाये सर्वज्ञज्ञानस्य विशदताऽभिमानात् । तथा च रागाद्यभावे कथं तस्य वचनादि, प्रवृत्तिसामान्ये इच्छाया हेतुत्वात् ! न च रागादीनामावरणत्वमपि प्रसिद्धम्, कुड्यादीनामेव ह्यावारकत्वप्रसिद्धिः, इति कथं तदपगमे सर्वसाक्षात्कारादयः ? इति दिग् ॥ ४ ॥

सर्वज्ञाभावे धर्माऽधर्मव्यवस्थामेव सम्यगुपपादयितुमाह—

धर्माधर्मव्यवस्था तु वेदाख्यादागमात्किल । अपौरुषेयोऽसौ यस्माद्धेतुदोषविवर्जितः ॥ ५ ॥

जिस पुरुष को सर्व का ज्ञान न होगा, उस पुरुष के प्रति उस के वाक्य ठीक उसी प्रकार प्रमाण न हो सकेंगे जैसे मूलभूत प्रमाण का ज्ञान न होने से अन्य पुरुष के वाक्य प्रमाण नहीं होते ॥ ३ ॥

[समाधिमग्नावस्था में वचनप्रयोग अशक्य]

यह भी विचारणीय है कि यदि सर्वज्ञ सर्वदा समाधिमग्न होगा तो उसे विकल्प विषयान्तर का ज्ञान न होने से वह वाक्यप्रयोग न कर सकेगा और यदि वाक्यप्रयोग करेगा तो उस के लिए विकल्प आवश्यक होने से समाधि का भंग हो जाने से वह समाधिमग्न न रह जायगा, क्योंकि समाधि चित्तवृत्तियोंका निरोधरूप है और विकल्प चित्तवृत्तिरूप है ।

दूसरी बात यह है कि राग आदि आवरणों का अभाव होने पर ही जैनों को सर्वज्ञता मान्य है, एवं जैसे धूलि, कुहरा आदि आवरण का अभाव होने पर वृक्ष आदि का दर्शन होता है उसीप्रकार विज्ञान की अविशदता-अस्पष्टता के हेतुभूत रागादि आवरणों का अभाव होने पर सर्वज्ञ के ज्ञान में विशदता-स्पष्टता अभिमत है । किंतु इसप्रकार सर्वज्ञ में जब रागादि का अभाव होगा तो वाक्यप्रयोग में उस की प्रवृत्ति कैसे होगी ? क्योंकि प्रवृत्ति मात्र के प्रति इच्छा कारण होती है ।

यह भी ज्ञातव्य है कि राग आदि में आवरणत्व प्रसिद्ध नहीं है किन्तु भित्ति आदि में ही प्रसिद्ध है अतः रागादि की निवृत्ति होने पर समस्त वस्तुओं के साक्षात्कार की उत्पत्ति कैसे हो सकती है ?

इस सम्बन्ध में अब तक जो कुछ कहा गया वह प्रस्तुत विषय में दिग्दर्शनमात्र है-संकेतमात्र है ॥ ४ ॥

[धर्म—अधर्म की व्यवस्था वेदमूलक]

सर्वज्ञ के अभाव में धर्म-अधर्म की व्यवस्था का सम्यक् उपपादन करने के लिये पाँचवी कारिका प्रस्तुत की गई है । इस का अर्थ इसप्रकार है—

धर्म—अधर्म की व्यवस्था का अर्थ है-'याग आदि धर्म का साधन है' इस ज्ञान से होनेवाली यागादिविषयकप्रवृत्ति और 'ब्रह्महत्या आदि अधर्म का साधन है' इस ज्ञान से होनेवाली ब्रह्महत्यादि कर्मों से निवृत्ति । इस व्यवस्था की उपपत्ति 'वेद' नाम से प्रसिद्ध आगम से

धर्माऽधर्मव्यवस्था तु='यागादि धर्मसाधनम्, ब्रह्महत्याद्यधर्मसाधनम्' इत्यादिज्ञानजन्यप्रवृत्ति-निवृत्त्यादिरूपा तु, **वेदाख्यादागमात्**, 'किल' इति सत्ये, 'घटत एव' इति शेषः । ननु वेदस्यापि सर्वज्ञप्रणीतस्यैवोक्तव्यवस्थानिबन्धनत्वात् सर्वज्ञमूलैवेयं व्यवस्थेत्यत आह—**असौ**=वेदाख्य आगमः, यस्मात् **पौरुषेयः**=नित्यः **हेतुदोषविवर्जितः**=चक्षुर्गतभ्रम—प्रमादविप्रलिप्सा—करणापाटवादिदोषविकल इत्यर्थः । तथा च स्वतःप्रमाणत्वात् युक्ता वेदमूला धर्माऽधर्मादिव्यवस्था । अथाऽप्रमायामिव

उपपन्न होती है । उसी से याग आदि की धर्मसाधनता का ज्ञान प्राप्त कर मनुष्य यागादि के अनुष्ठान में प्रवृत्त होता है । एवं उसी से ब्रह्महत्या आदि में अधर्मसाधनता का ज्ञान प्राप्त कर ब्रह्महत्या आदि कर्मों से निवृत्त होता है । इसप्रकार वेद से ही धर्म-अधर्म की व्यवस्था की उपपत्ति हो जाने से उस के लिये सर्वज्ञ की कल्पना अनावश्यक है ।

[नित्य वेद में दोषों का असम्भव]

यदि यह कहा जाय कि-'वेद भी सर्वज्ञ पुरुष द्वारा रचित होने से ही धर्माधर्म की व्यवस्था का आधार बन सकता है, इसलिये वेदमूलक व्यवस्था भी सर्वज्ञमूलक ही है'-तो उस का उत्तर यह है कि वेद किसी पुरुष द्वारा रचित नहीं है वह नित्य है अतः उस की वाक्यरचना अर्थज्ञानपूर्वक नहीं है । इसलिये जैसे वक्ता को यदि भ्रम हो तो उस का वचन भ्रममूलक होने से भ्रम उत्पन्न कर सकता है । एवं वक्ता यदि प्रमादी हो तो वह प्रमादवश वस्तु का अन्यथा प्रतिपादन कर सकता है अतः उस के वचन से भी विपरीत ज्ञान का उदय हो सकता है, यदि वक्ता में विप्रलिप्सा-दूसरों की वञ्चना करने की इच्छा हो तो वह भी वस्तु को गलत ढंग से प्रस्तुत कर सकता है अतः उस के वचन से भी मिथ्याज्ञान की संभावना हो सकती है । यदि वक्ता के करण-वागिन्द्रिय में अपटुता हो जिस से शब्दों का उच्चारण वह ठीक तरह से न कर सके तो उस के द्वारा उच्चारित शब्द से भी भ्रम की उत्पत्ति हो सकती है । किन्तु जिस वाक्य का कोई वक्ता नहीं है, जो अनादि है, उस में इन दोषों की संभावना न होने से तज्जन्य बोध में भ्रमत्व की संभावना नहीं हो सकती, क्योंकि नित्य होने से वेद स्वतःप्रमाण है उस के प्रामाण्य में वक्ता के ज्ञान के प्रामाण्य की अपेक्षा नहीं है । अतः सर्वज्ञ के अभाव में भी वेद द्वारा धर्म-अधर्म आदि की व्यवस्था हो सकती है ।

कारिका में चर्चित हेतुदोषों का प्रतिपादन करते हुये भ्रम, प्रमाद, आदि को चक्षुगत कहा गया है । आपाततः यह कथन असंगत प्रतीत होता है क्योंकि भ्रम आदि, विभिन्न मतों के अनुसार अन्तःकरणगत तथा आत्मगत होते है, चक्षुगत नहीं होते, किन्तु विचार करने से यहाँ असंगति नहीं प्रतीत होती, क्योंकि व्याख्या में भ्रमपद के पूर्व में प्रयुक्त चक्षुर्गत का सम्बन्ध भ्रम के साथ नहीं है किन्तु अग्रिम दोष शब्द के साथ है । इसलिये चक्षुर्गतभ्रम इत्यादि वाक्य का अर्थ है चक्षुर्गत दोष और भ्रम, प्रमाद आदि दोषों से रहित, चक्षुर्गत दोष उन वाक्यों में होता है जो दोषयुक्त चक्षु से देखे गये अर्थ का प्रतिपादन करने के लिये प्रयुक्त होते हैं, चक्षु उपलक्षण है अतः अन्य इन्द्रियों के दोष से भी वाक्य में दोष आ सकता है ।

[अप्रमा की तरह प्रमा के भी अतिरिक्त हेतु की आपादक शंका का निवारण]

सर्वज्ञ निरपेक्षवेद से धर्म, अधर्म की व्यवस्था के विरोध में यह कहा जा सकता है कि– " जिस

प्रमायामपि ज्ञानसामान्यहेत्वतिरिक्तहेत्वपेक्षणाद् नेतद् युक्तमिति चेत् ? न, अप्रमायां दोषाऽपेक्षणात्, प्रमायां तदभावापेक्षणेऽविरोधाद् । 'विशेषादर्शनाद्यभावभूतदोषाभावस्य भावभूतस्य प्रमायामधिकस्यापेक्षणीयत्वाद् विरोध एवे'ति चेत्? न, तथापि शब्दे विप्रलिप्सादिदोषाणां भावभूतत्वात् समष्ट्या प्रमायां तदभावमात्राधीनायां वक्तृगुणानपेक्षणात् । अथाप्तोक्तत्वनिश्चयस्य शाब्दबोधसामान्ये हेतुत्वाद् वेदे तदभावात् कथं ततः शाब्दबोधः? इति चेत्? न, अनाप्तोक्तत्वशङ्काया एव शाब्दसामान्यविरोधिन्या व्युदासार्थमाप्तोक्तत्वनिश्चयापेक्षणात्, वेदे तु नित्यतया निर्दोषत्वेनैव तच्छङ्काव्युदासात् ।

'नित्यत्वमेव कथं वर्णरूपस्य वेदस्य?' इति चेत्? सत्यम्, वर्णानां नित्यत्वात्, अन्यथा

प्रकार अप्रमा=भ्रम की उत्पत्ति में ज्ञानसामान्य के हेतु से अतिरिक्त हेतु की अपेक्षा होती है उसी प्रकार प्रमा की उत्पत्ति में भी ज्ञानसामान्य के हेतु से अतिरिक्त हेतु की अपेक्षा आवश्यक है। अन्यथा यदि प्रमा की उत्पत्ति ज्ञानसामान्य के हेतु से ही होगी तो अप्रमा की उत्पत्ति के समय ज्ञानसामान्य के हेतुओं का नियतसन्निधान होने से अप्रमा में भी प्रमात्व की आपत्ति होगी, क्योंकि वह भी अतिरिक्त हेतु सहित ज्ञानसामान्य के हेतुओं से उत्पन्न होती है। अतः अप्रमा में प्रमात्व की आपत्ति का परिहार करने के लिये प्रमा के ज्ञानसामान्य हेतुओं से अतिरिक्त भी हेतु मानना आवश्यक है। इस स्थिति में वेद को सर्वज्ञ रचित माने बिना वेद से प्रमात्मक ज्ञान का उदय नहीं हो सकता। क्योंकि वेदजन्य प्रमा शाब्दबोधात्मक प्रमा है। शाब्दबोधात्मक प्रमा में वक्ता का वाक्यार्थ विषयक यथार्थज्ञान अपेक्षित होता है।"-किन्तु यह कथन ठीक नहीं है; क्योंकि अप्रमा की उत्पत्ति में दोष की अपेक्षा होती है इसीलिये प्रमा की उत्पत्ति में दोषाभाव की अपेक्षा मान लेंगे, फिर भी प्रमा को ज्ञानसामान्य के हेतु से अतिरिक्त किसी भावात्मक हेतु से जन्य न मानने से अप्रमा में प्रमात्व की आपत्ति नहीं हो सकती। इस प्रकार वक्तृदोषाभाव से ही वेदजन्य ज्ञान में प्रमात्व की उपपत्ति संभव होने से सर्वज्ञ वेदवक्ता होने की कल्पना अनावश्यक है।

[विशेष दर्शनाभाव से प्रमा में अतिरिक्त हेतु की सिद्धि]

यदि यह कहा जाय कि – "विशेषदर्शनाभावरूप अभावात्मक दोष का अभाव विशेष दर्शनात्मक यानी भावस्वरूप होता है और वह प्रमा की उत्पत्ति में अपेक्षित होता है क्योंकि दूर से दिखायी पड़नेवाले ऊँचे द्रव्य में स्थाणु के वक्र कोटर आदि अथवा पुरुष के कर-चरण आदि विशेष का दर्शन न होने से ही उस में स्थाणुत्व अथवा पुरुषत्व का सन्देह अथवा भ्रम उत्पन्न होता है, अत एव उस सन्देह और भ्रम का उत्पादक विशेषदर्शनाभावरूप दोष ही है किन्तु जब स्थाणु या पुरुष के विशेष धर्म का दर्शन हो जाता है तब विशेषदर्शनाभावरूप दोष के विशेष दर्शनात्मक अभाव से स्थाणुत्व और पुरुषत्व की प्रमा उत्पन्न होती है। इसलिये यह कहना कि प्रमा में अभावात्मक दोषाभाव की ही अपेक्षा होती है, ज्ञान सामान्य हेतुओं से भिन्न एवं अभावात्मक दोषाभाव से भिन्न प्रमा का कोई हेतु नहीं होता यह कथन विरुद्ध है -" तो यह ठीक नहीं है क्योंकि शब्द में विप्रलिप्सा आदि भावभूत ही दोष होते हैं अतएव उन दोषों के अभावमात्र से वेदजन्यप्रमा की उपपत्ति हो सकती है, अतः उस में वाक्यार्थविषयक यथार्थज्ञानरूप वक्तृगुण की अपेक्षा न होने से वेद को सर्वज्ञ रचित मानने की आवश्यकता नहीं है।

परार्थवाक्योच्चारणान्यथानुपपत्तेः। अवगतसंगतिको हि शब्दः स्वार्थं प्रतिपादयति, नान्यथा, अगृहीतसंकेतस्य पुंसः शब्दादर्थप्रतीत्यदर्शनात्। संगत्यवगमश्च प्रमाणत्रयसंपाद्यः; तटस्थेन प्रत्यक्षेण शब्दार्थप्रत्ययात्; अनुमानेन प्रयोज्यवृद्धीयगवादिविषयप्रतिपत्त्यवगमात्, तत्प्रतीत्यन्यथानुपपत्त्या च गवादिशब्दानां गवादौ शक्तिकल्पनात्। इत्थंभूतश्चायं संगत्यवगमो न सकृद्वाक्यप्रयोगात् संभवति,

[वैदिक प्रमा के लिये आप्तोक्तत्व का निश्चय अनावश्यक]

यदि यह कहा जाय कि – 'अनाप्त वाक्य से शाब्दी प्रमा की आपत्ति के परिहारार्थ शाब्दप्रमा में 'शब्द में आप्तोक्तत्व निश्चय' को कारण मानना आवश्यक है। अतः वेदजन्य प्रमा की उत्पत्ति के लिये वेद में भी आप्तोक्तत्व का निश्चय अपेक्षित है। अभ्रान्त पुरुष को यह निश्चय तभी हो सकता है जब वेद को सर्वज्ञकथित माना जाय, इसप्रकार वैदिक प्रमा के लिये सर्वज्ञ की कल्पना आवश्यक है। व्याख्यामें इस बातको यह कहते हुये प्रस्तुत किया है कि वाक्य में आप्तोक्तत्व का निश्चय शाब्दबोध सामान्य का कारण है। वेद आप्तोक्त नहीं है अतः उस में आप्तोक्तत्व का निश्चय न होने से वेदाऽपौरुषेयत्व पक्षमें वेद से शाब्दबोध की उत्पत्ति न होगी। आशय यह है कि वाक्य में यदि आप्तोक्तत्व का संशय अथवा आप्तोक्तत्वाभाव का निश्चय हो जाता है तब शाब्दबोध की उत्पत्ति नहीं होती, किन्तु जब वाक्य में आप्तोक्तत्व का संशय अथवा आप्तोक्तत्वाभाव का निश्चय नहीं रहता तभी शाब्दबोध की उत्पत्ति होती है। इसप्रकार अन्वयव्यतिरेक द्वारा यह सिद्ध होता है कि शाब्दबोधसामान्य में आप्तोक्तत्व का निश्चय कारण है, अतः यह कहना न्यायप्राप्त है कि वेद को अकर्तृक मानने पर वेद में आप्तोक्तत्व का निश्चय न होने से वेद से शाब्दबोध का उदय नहीं हो सकता –" किन्तु यह आक्षेपात्मक कथन ठीक नहीं है क्योंकि अनाप्तोक्तत्वशङ्का ही शाब्दबोधसामान्य की प्रतिबन्धक होती है और यह शङ्का लौकिकवाक्य में ही संभव हो सकती है, अत एव उस शङ्का के परिहार के लिये लौकिकवाक्य में ही आप्तोक्तत्वनिश्चय की अपेक्षा उचित है। वेद तो नित्य एवं निर्दोष है अतः उस में अनाप्तोक्तत्व शङ्का का संभव न होने से वेदजन्य शाब्दबोध के लिये वेद में आप्तोक्तत्व निश्चय की अपेक्षा नहीं है। वेद में तो उक्त शङ्का का परिहार नित्यत्व और निर्दोषत्व से ही सुकर है।

[वर्णात्मक वेद में नित्यत्व का उपपादन]

'वर्णरूप वेद नित्य कैसे हो सकता है' इस प्रश्न का उत्तर यह है कि वर्ण यतः नित्य है अतः तत्स्वरूपवेद भी नित्य है क्योंकि यदि वर्ण को नित्य नहीं माना जायगा तो अन्य पुरुषों को अर्थबोध कराने के लिये वाक्य का उच्चारण न हो सकेगा। आशय यह है कि—

शब्द में जब अर्थ की संगति ज्ञात हो जाती है तभी शब्द अर्थ का बोधक होता है, अन्यथा नहीं होता क्योंकि जिस पुरुष को शब्द का संकेतग्रह नहीं रहता उस पुरुष को शब्द से अर्थबोध नहीं होता, अर्थ में शब्द का संगतिआत्मक सम्बन्ध तीन प्रमाणों से ज्ञात होता है। प्रत्यक्ष अनुमान और अन्यथानुपपत्ति। इन में प्रत्यक्ष, शब्द और अर्थ के सम्बन्ध में तटस्थ रहकर केवल शब्द और अर्थका बोध उत्पन्न करता है। शब्द और अर्थरूप दोनों सम्बन्धियों का ज्ञान हो जाने पर उनके सम्बन्ध का मानस बोध हो जाता है। उक्त रीतिसे शब्दार्थसम्बन्ध परम्परया प्रत्यक्षगम्य होने से शब्दार्थसम्बन्धज्ञान को प्रत्यक्षमूलक कहा जाता है।

भूयः प्रयोगादेवाऽऽवापोद्वापाभ्यामेव शक्तिनिश्चयात् । न चास्थिरस्य पुनःपुनरुच्चारणं संभवतीति सिद्धं तन्नित्यत्वम् । तदुक्तम् – "दर्शनस्य परार्थत्वाद् नित्यः शब्दः" इति । अथ पुनः पुनरुच्चरिताच्छब्दात् सादृश्यादेव प्रतीतिः, न तु नित्यत्वादिति चेत् ? न सादृश्यस्याऽतन्त्रत्वात्, अगृहीतसंकेतादर्थाऽप्रतीतेः; 'य एव संबन्धग्रहणसमये गृहीतः शब्दः स एवायम्' इति प्रत्यभिज्ञानाच्च ।

न च नित्यत्वे शब्दस्य सर्वदा सर्वोपलब्धिप्रसङ्गः, परेषां शब्दोत्पादकानामेव विजातीयवायुसंयोगादीनामस्माभिः शब्दव्यञ्जकत्वेनोपगमात् । न च शब्दनित्यत्वे चैत्रादेः स्वीयमैत्रशुकादीयककारादिप्रत्यक्षे चैत्रादिकर्णावच्छिन्ना विजातीयवायुसंयोगा हेतवो वाच्या इत्यतिगौरवम्, अनित्यत्वपक्षे तु विजातीयवायुसंयोगावच्छेदकतया तथैव विजातीयककारादौ हेतुस्तत्पुरुषीयनिखिलशब्दप्रत्यक्षे तत्पुरुषीयकर्णावच्छिन्नसमवाय इति लाघवमिति वाच्यम्; नित्यत्वपक्षेऽपि विजातीयककारादिप्रत्यक्षेऽवच्छेदकतया विजातीयसंयोगस्य तत्तत्कर्णावच्छिन्नप्रत्यक्षे च तत्तत्कर्णस्य हेतुत्वे गौरवाभावात् । स्वावच्छेदकश्रोत्रसंयुक्तमनःप्रतियोगिकविजातीयसंयोगसंबन्धेन विजातीयपवनस्य हेतुत्वे तत्तत्कर्णानां

प्रयोजक वृद्ध से प्रयुक्त 'गामानय' इस वाक्यको सुनकर प्रयोज्य वृद्धकी गौआनयन में प्रवृत्ति होती है यह प्रवृत्ति प्रयोज्यवृद्ध के गौआनयन व्यापार से अनुमित होती है। प्रवृत्ति के ज्ञान हो जाने पर उसके कारण का अनुमान होता है। उसका कारण है प्रयोजक वृद्धके वाक्य से प्रयोज्यवृद्ध को होनेवाला गो-आनयन में कर्तव्यता का ज्ञान। इस ज्ञान के अनुमित हो जाने पर प्रयोज्यवृद्ध के 'गामानय' इस वाक्यमें गौआनयन में कर्तव्यता बोध की जनकता का अनुमान हो जाता है। इस के अनन्तर 'आनय' पद के साथ द्वितीयान्त गोपद के सन्निधान-असन्निधान रूप आवापउद्वाप से गोआदिपद में गौआदि अर्थ के संकेत का आनुमानिक ज्ञान होता है। इसप्रकार प्रयोजकवृद्ध के वाक्यश्रवण के अनन्तर प्रयोज्य वृद्ध के गौआनयन व्यापार से अतिरिक्त सभी विषयों का अनुमान द्वारा बोध होकर शब्दार्थसम्बन्ध का आनुमानिक ज्ञान होने से शब्दार्थ के संगतिआत्मक सम्बन्धको अनुमानवेद्य कहा जाता है।

सभी शब्दों से सब अर्थोंका बोध नहीं होता है किन्तु नियत शब्दोंसे ही नियत अर्थों का बोध होता है, यह बोध शब्द के साथ अर्थ का सम्बन्ध माने बिना अनुपपन्न है, क्योंकि शब्द को असम्बद्ध अर्थका बोधक मानने पर सब शब्दों से सब अर्थो के बोध की आपत्ति का परिहार नहीं हो सकता। इस प्रकार नियत शब्द से नियत अर्थबोधकी अन्यथानुपपत्ति रहने से गौआदि अर्थमें गोआदि शब्दों के शक्ति सम्बन्ध का ज्ञान होने से शब्दार्थ सम्बन्ध को अन्यथानुपपत्तिप्रमाणवेद्य माना जाता है।

उक्त रीति से होनेवाला शब्दार्थ के संगतिआत्मक सम्बन्ध का बोध वाक्य के एक बार प्रयोग से नहीं हो सकता किन्तु वाक्य के अधिकाधिक प्रयोग से ही हो सकता है। और वाक्य घटक तत्तद् शब्दों में तत्तदर्थक शक्तिसम्बन्ध का निश्चय तत्तद् शब्द के साथ तत्तदर्थबोध के आवापउद्वाप=अन्वयव्यतिरेक से ही हो सकता है। ऐसी स्थिति में वर्ण को नित्य मानना आवश्यक है क्योंकि वर्ण को अनित्य और अस्थिर मानने पर वर्णसमूहरूप वाक्य भी अनित्य और अस्थिर होगा अतः उसका पुनः पुनः उच्चारण नहीं हो सकता, फलतः वाक्य का अधिकाधिक प्रयोग न हो सकने से शब्दार्थ का सम्बन्धग्रह नहीं हो सकता। कहा भी गया है कि–

पृथगहेतुत्वेन प्रत्युत लाघवात्। न च तथाप्यनित्यत्वपक्षे कमत्वशब्दत्वाद्यपेक्षया कत्वादेरेव जन्यतावच्छेदकत्वे लाघवम्, नित्यत्वपक्षेऽपि लौकिकविषयितया कत्वादेरेव तथात्वात्।

न च कोलाहलादौ कत्वादेरग्रहेऽपीदंत्वशब्दत्वादिना ककारादिप्रत्यक्षात् तत्तत्प्रकारक-ककारादिप्रत्यक्षे पृथग्हेतुत्वे गौरवम्, ककारादिनिष्ठगुणत्वादि—लकारभेदादिप्रत्यक्षे तथात्वे चातिगौरवमिति

दर्शन='मनुष्य का अर्थबोध' शब्द द्वारा परार्थ होता है इसलिये शब्द को नित्य मानना आवश्यक है क्योंकि शब्द को अनित्य मानने पर वाक्य का बार बार प्रयोग न हो सकने के कारण शब्दार्थ के सम्बन्ध का ज्ञान न होने से शब्द द्वारा अपने अर्थबोध का पर पुरुषों में सम्प्रेषण नहीं हो सकता।

[सदृश शब्द से बार बार उच्चारण की उपपत्ति अनुचित]

यदि यह कहा जाय कि–'एक ही शब्द का बार बार उच्चारण नहीं होता किन्तु एक शब्दका एक ही बार उच्चारण होता है। एक बार उच्चारित शब्द के सदृश अन्यान्य शब्दोंके उच्चारण को ही प्रथमोच्चरित शब्द का पुन: पुनः उच्चारण कहा जाता है। इसप्रकार के पुन: पुनः शब्दोच्चारण से ही शब्दार्थ का सम्बन्धग्रह हो सकता है, उस के लिये एक शब्द व्यक्ति के पुनः पुनः उच्चारण की आवश्यकता नहीं है। अत: उक्तयुक्ति से शब्द की नित्यता का साधन नहीं हो सकता–' तो यह ठीक नहीं है क्योंकि शब्द से अर्थबोध में सादृश्य अप्रयोजक है। जिस शब्द में जिस अर्थ का संकेतग्रह होगा उस शब्द से ही उस अर्थ का बोध हो सकता है किन्तु जिस शब्द में अर्थ का संकेतग्रह नहीं है उस में गृहीतसंकेतक शब्दका सादृश्य होने पर भी उस से अर्थबोध नहीं हो सकता। जैसे किसी शास्त्रज्ञ मनुष्य का, शास्त्रज्ञानशून्य मनुष्यान्तर में पर्याप्त सादृश्य होने पर भी उस से शास्त्रज्ञमनुष्य के शास्त्राध्यापनरूप कार्य का सम्पादन नहीं होता। इसलिए एकाकार एक ही शब्द की सार्वत्रिकता और सार्वदिकता आवश्यक होने से तदर्थ शब्द को नित्य मानना आवश्यक है। इस के अतिरिक्त प्रत्यभिज्ञारूप प्रत्यक्ष प्रमाण से भी शब्द का नित्यत्व सिद्ध होता है। जैसे, यह सर्वविदित है कि किसी शब्द में किसी अर्थ के सम्बन्ध का ज्ञान प्राप्त करने के बाद मनुष्य जब उस शब्द को पुन: सुनता है तब उसे यह प्रत्यभिज्ञा होती है कि 'सम्बन्धज्ञान के समय जिस शब्द में अर्थ का सम्बन्ध ज्ञान हुआ था–यह वही शब्द है।'

यदि शब्द नित्य न हो तो सम्बन्धज्ञान के समय जो शब्द ज्ञात हुआ था वह अब तक नहीं रह सकता, अत: इस समय सुनाई देनेवाले शब्द में उस शब्द के ऐक्य की प्रत्यभिज्ञा यथार्थ नहीं हो सकती किन्तु है यह यथार्थ, क्योंकि उत्तरकाल में इस का बाध नहीं होता, अतः इस प्रमात्मक प्रत्यभिज्ञा के अनुरोध से शब्द के नित्यत्व की सिद्धि अनिवार्य है।

[शब्द के नित्यत्वपक्ष में सर्वदा सर्वोपलब्धि प्रसंग का निराकरण]

यदि यह कहा जाय कि–'शब्द के नित्य होने पर सब शब्दों के सर्वदा श्रावण-प्रत्यक्ष की आपत्ति होगी–' तो यह ठीक नहीं है क्योंकि शब्द अनित्यत्ववादी के मत में विजातीय वायुसंयोग आदि जो शब्द के उत्पादक माने जाते है,–शब्द नित्यत्ववादी के मत में वे ही सब शब्द के व्यञ्जक होते है, अत: शब्दव्यञ्जकों का सर्वदा सन्निधान न होने से शब्द के सर्वदा प्रत्यक्ष की आपत्ति नहीं हो सकती।

शब्द अनित्यतावादी यह कहता है कि शब्द नित्यत्वपक्ष में अपने तथा मैत्र, शुक आदि के, ककार आदि वर्णों के प्रत्यक्ष में चैत्र आदि के कर्ण में विजातीयवायुसंयोग को हेतु मानना होगा। अन्यथा यदि कार्यदल में चैत्र आदि का निवेश न करेंगे तो मैत्र आदि के कर्ण में मैत्र-शुक आदि के ककार आदि के व्यञ्जक विजातीयवायुसंयोग होने पर चैत्रादि से अन्य दूरस्थ मनुष्यों को भी उक्त ककारादि के प्रत्यक्ष की आपत्ति होगी। एवं कारणदल में चैत्रादिकर्ण का निवेश न करने पर पुरुषान्तर के कर्ण में ककारादि के व्यञ्जक विजातीय वायुसंयोग होने पर चैत्रादि को ककारादि के प्रत्यक्ष की आपत्ति होगी। अतः शब्दनित्यत्व पक्षमें शब्द और विजातीय वायु-संयोग आदि में व्यङ्ग्य-व्यञ्जकभाव की कल्पना करने में अत्यन्त गौरव है। शब्द के अनित्यत्वपक्ष में इसप्रकार का गौरव नहीं है, क्योंकि उस मत में, अवच्छेदकता सम्बन्ध से विजातीय ककार आदि में विजातीय वायु संयोग, अवच्छेदकता सम्बन्ध से कारण होता है, एवं तत्पुरुषीय निखिल शब्द के प्रत्यक्ष में तत्पुरुषीय कर्णावच्छिन्नसमवाय हेतु होता है, इसलिये लाघव है।

कहने का आशय यह है कि शब्दनित्यत्ववाद में क-ख आदि वर्ण सर्वत्र सर्वदा एक ही है, उस की अभिव्यक्ति चैत्र, मैत्र, शुक आदि किसी से भी होने पर उस में कोई विलक्षणता नहीं होती क्योंकि नित्य और एक होने से उस में वैजात्य संभव नहीं है। किन्तु विभिन्न व्यक्तियों से अभिव्यञ्जित एक ही वर्ण का श्रोता को विलक्षण प्रत्यक्ष होता है। इस की उपपत्ति के लिये चैत्र के अपने ककार के प्रत्यक्ष में चैत्रकर्णावच्छेद्यविजातीयवायुसंयोग, मैत्रीयककार के प्रत्यक्ष में दूसरा विजातीय वायुसंयोग और शुक आदि के ककार के प्रत्यक्ष में अन्य विजातीय वायुसंयोग को कारण मानना होगा। इस प्रकार विभिन्न व्यक्तियों में अभिव्यञ्जित एक ही कवर्ण के प्रत्यक्ष में विभिन्न विजातीयवायुसंयोगों को कारण मानना होगा एवं एक श्रोता को जो ककारादि का प्रत्यक्षरूप कार्य होता है उस में विभिन्न उच्चारणकर्त्ताओं का सन्निवेश करना होगा। जैसे,

चैत्रगत चैत्रीयककार प्रत्यक्ष, चैत्रगत मैत्रीयककार प्रत्यक्ष, चैत्रगत शुकादीयककारप्रत्यक्ष में विभिन्न विजातीय वायुसंयोगों को कारण मानना होगा। इस प्रकार कार्यदल में ककारादि में विभिन्न उच्चारण कर्त्ताओं के निवेश करने से प्रति श्रोता को होनेवाले कवर्ण के प्रत्यक्ष को लेकर अनन्त गुरुतर कार्यकारणभाव की कल्पना होने से अपार गौरव है। किन्तु, शब्दाऽनित्यत्वपक्ष में विभिन्न उच्चारण कर्त्ताओं के ककारादि में सहज वैलक्षण्य होता है, अतः उन के मत में अवच्छेदकता सम्बन्ध से विजातीय ककारादि कार्य के प्रति अवच्छेदकता सम्बन्ध से विजातीय संयोग की कारणता होती है। इस कार्यकारणभाव के गर्भ में उच्चारणकर्त्ता का विशेषरूप से निवेश नहीं होता। अतएव इस कार्यकारणभाव में उत्पाद्य विजातीय ककारादि और उत्पादक विजातीय वायुसंयोगादि के कार्यकारणभाव में, उत्पाद्य और उत्पादक के वैजात्यभेद से ही भेद होता है। उच्चारण कर्त्ता के भेद से भेद नहीं होता। श्रोता को जो ककारादि का विलक्षण प्रत्यक्ष होता है वह विषयभूत ककार आदि के वैजात्य से ही सम्पन्न हो जाता है। अतः उस के लिये विजातीय कारण की कल्पना की आवश्यकता नहीं होती, किन्तु सामान्यतः शब्दनिष्ठविषयता सम्बन्ध से तत्पुरुषीयप्रत्यक्ष के प्रति, तत्पुरुषीय कर्णावच्छेद्यसमवाय को, प्रतियोगित्व सम्बन्ध से कारण मान लेने से काम चल जाता है क्योंकि जो भी शब्द तत्पुरुषीय कर्णावच्छेदेन उत्पन्न होगा उस में तत्पुरुषीय कर्णावच्छिन्न समवाय, प्रतियोगित्वसम्बन्ध से रहेगा और उस शब्द में उत्पाद-काधीन जो वैजात्य होगा उस वैजात्य रूप से उस शब्द का तत्पुरुष को प्रत्यक्ष हो जायगा। अतः शब्दाऽनित्यत्व पक्ष में उच्चारण कर्त्ता के भेद से और विजातीय वायुसंयोग आदि के भेद से

न तो शब्द और वायुसंयोग के कार्यकारणभाव में गौरव है और न तत्पुरुषीयशब्दप्रत्यक्ष एवं तत्पुरुषीय कर्णावच्छिन्न समवाय के कार्यकारणभाव में गौरव है। अतः इस पक्ष में शब्द नित्यत्वपक्ष की अपेक्षा लाघव स्पष्ट है।

[शब्द नित्यत्वपक्ष में गौरव का परिहार]

व्याख्या के अनुसार, उक्त गौरव-लाघव के विवेचन के आधार पर शब्दानित्यत्ववादी के पक्ष का समर्थन उचित नहीं प्रतीत होता, क्योंकि नित्यत्वपक्ष में भी ककारादि के विजातीय प्रत्यक्ष में अवच्छेदकता सम्बन्ध से विजातीयसंयोग को और तत्तत्कर्णावच्छिन्न प्रत्यक्ष में तत्तत्कर्ण को कारण मान लेने से गौरव नहीं होगा। प्रथम कार्यकारणभाव में कार्यता और कारणता दोनों अवच्छेदकता सम्बन्ध से अभिमत है। दूसरे कार्यकारणभाव में कार्यता का अवच्छेदक सम्बन्ध है अवच्छेदकता, और कारणता का अवच्छेदक सम्बन्ध है तादात्म्य।

दूसरी बात यह है कि दूसरे कार्यकारणभाव को मानने की आवश्यकता नहीं है किन्तु एक यही कार्यकारणभाव मानना उचित है कि अवच्छेदकता सम्बन्ध से ककारादि के विजातीय प्रत्यक्ष में स्वावच्छेदक श्रोत्रसंयुक्त मनःप्रतियोगिकविजातीय संयोगसम्बन्ध से विजातीय पवन का विजातीय पवनसंयोग कारण है।

आशय यह है कि यज्जातीयपवन के यज्जातीय संयोग सम्बन्ध से चैत्र के कण्ठ से ककार अभिव्यक्त होगा तज्जातीय पवन के तज्जातीयसंयोग की श्रोता के मनः संयुक्तकर्ण में उत्पत्ति होने पर श्रोता को चैत्रकण्ठाभिव्यक्त ककार का प्रत्यक्ष होता है।

व्याख्या में विजातीयपवनसंयोग को जिस सम्बन्ध से कारण कहा गया है, उस सम्बन्ध में स्व-पद से श्रोता के श्रोत्रावच्छेदेन उत्पन्न होनेवाला विजातीयपवनसंयोग विवक्षित है। उस का अवच्छेदक है श्रोत्र, उस से संयुक्त है मन, उस मन का विजातीयसंयोग है आत्मा और मनका संयोग, वह श्रोतृभूत आत्मा में रहता है अतः उस सम्बन्ध से विजातीय पवन संयोग भी आत्मा में रहता है इसलिये विजातीयपवनसंयोग ककारादि के विजातीय प्रत्यक्ष में कारण है। इस कार्यकारणभावको स्वीकार करने पर तत्तत्कर्ण को तत्तत्कर्णावच्छिन्न प्रत्यक्ष के प्रति कारण न मानने से शब्दनित्यत्वपक्ष में गौरवाभाव ही नहीं, किन्तु शब्दानित्यत्वपक्ष की अपेक्षा लाघव भी है।

यदि यह कहा जाय कि 'शब्दानित्यत्वपक्ष में कविषयकप्रत्यक्षत्व आदि की अपेक्षा कत्व आदि को वायुकण्ठादिअभिघात का कार्यतावच्छेदक मानने में लाघव है' तो यह ठीक नहीं है क्योंकि शब्दनित्यत्वपक्ष में भी लौकिकविषयितासम्बन्ध से कत्वादि ही उक्त अभिघात का जन्यतावच्छेदक है।

यदि यह कहा जाय कि-'कोलाहल आदि के समय कत्व आदि का ज्ञान न होने पर भी वर्णत्व-शब्दत्व आदि रूप से ककारादि का प्रत्यक्ष होता है। अतः वर्णत्व-शब्दत्वादि रूप से ककारादि प्रत्यक्ष में पृथक् कारण की कल्पना में गौरव होगा और ककार आदि का गुणत्व आदि एवं खकारभेद आदि रूप से भी प्रत्यक्ष होता है इसलिये तत्तद्रूप से ककारादि के प्रत्यक्ष में भी पृथक् कारण की कल्पना आवश्यक होने से अत्यन्त गौरव होगा। शब्दानित्यत्वपक्ष में यह दोष नहीं है क्योंकि उक्त अभिघात से ककार आदि की उत्पत्ति कत्वादि रूप से ही होती है न कि उन सभी रूपों से, जिन रूपों से उस का प्रत्यक्ष होता है। अतः इस मत में कत्वादि को ही

वाच्यम्; कोलाहले कत्वादिग्रहवारणाय दोषाभावानां कत्वादिप्रत्यक्षे हेतुत्वमपेक्ष्योक्तसंबन्धेन कत्वादेर्विजातीयनिमित्तपवनसंयोगजन्यतावच्छेदकत्वस्यैवौचित्यात्, निमित्तपवना-ऽऽकाशादेः समवायेन शब्दत्वस्य जन्यतावच्छेदकत्वापेक्षया कण्ठाद्यभिघातस्य निमित्तपवनसंयोगोपक्षीणत्वात्, तस्यैवोक्तसंबन्धेन शब्दत्वस्य जन्यतावच्छेदकत्वौचित्यात्, तावतैव कोलाहलप्रत्यक्षस्य सुघटत्वात्। न चैवमुच्चार्यमाणयावद्वर्णविषयत्वाऽनियमे तत्कृतकोलाहलतारतम्यप्रत्ययानुपपत्तिः, व्यञ्जकतारतम्यस्यैव तत्रारोपात्। अस्तु वा स्वाश्रयविषयितया कत्वादिकं तथा, अनन्तशब्दोत्पत्ति-नाशादिकल्पनातो लघुत्वात्; शुकादिककाराद्येव वा विषयितया तथा, तदीयश्रावणसम(वा)य-तदीयश्रावणविशेषणत्वयोस्तदीयसमवेतप्रत्यक्ष-समवेतनिष्ठाभावप्रत्यक्षयोः कारणत्वाच्च न शब्दत्वादिप्रत्यक्षातिप्रसङ्ग इति दिग् ॥ ५ ॥

उक्त अभिघात का जन्यतावच्छेदक मानने से इस पक्ष में गौरव नहीं है-' तो यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि कोलाहल में कत्वादि रूप से ककारादि के प्रत्यक्ष की आपत्ति के वारणार्थ कत्वादि प्रकारक प्रत्यक्ष में दोषाभाव को कारण मानने की अपेक्षा उक्तसम्बन्ध-लौकिकविषयता सम्बन्ध से कत्वादि को ही परमतानुसार ककारादि के निमित्तभूत विजातीयसंयोग का जन्यतावच्छेदक मानना ही उचित है।

एवं शब्दत्व को निमित्तभूत पवन तथा आकाश आदि का समवाय सम्बन्ध से जन्यतावच्छेदक मानने की अपेक्षा लौकिक विषयिता सम्बन्ध से शब्दत्व को विजातीय पवन संयोग का जन्यतावच्छेदक मानना उचित है। कण्ठादि का अभिघात निमित्तभूतपवन के विजातीय संयोग से अभिभूत हो जाता है इसलिये कोलाहल में कत्वादिप्रकारक प्रत्यक्ष नहीं होता क्योंकि कत्वादि प्रकारक प्रत्यक्ष में कण्ठादिअभिघात प्रयोजक होता है, किन्तु शब्दत्वरूप से कोलाहल का प्रत्यक्ष उपपन्न हो सकता है क्योंकि वह प्रत्यक्ष केवल शब्दत्वप्रकारक होता है और लौकिक विषयिता सम्बन्ध से निमित्तभूत पवन के विजातीयसंयोग का ही जन्यतावच्छेदक होता है। शब्दत्वप्रकारक प्रत्यक्ष में कण्ठादिअभिघात प्रयोजक नहीं होता। इसप्रकार स्पष्ट है कि कोलाहल प्रत्यक्ष स्थल में भी शब्दानित्यत्व पक्ष की अपेक्षा शब्द-नित्यत्व पक्ष में लाघव है क्योंकि शब्दानित्यत्वपक्ष में कोलाहल स्थल में शब्दत्वावच्छिन्न की उत्पत्ति और शब्दत्वप्रकारक कोलाहल प्रत्यक्ष की उत्पत्ति माननी होती है किन्तु शब्दनित्यत्वपक्ष में शब्दत्वावच्छिन्न की उत्पत्ति नहीं माननी पड़ती है। केवल शब्दत्वरूप से कोलाहल प्रत्यक्ष की ही उत्पत्ति माननी होती है।

[कोलाहल में तरतमताप्रतीति की अनुपपत्ति का परिहार]

यदि यह कहा जाय कि—"कोलाहल प्रत्यक्ष को यदि उच्चार्यमाण समस्तवर्णविषयक न माना जायगा तो वर्णप्रत्यक्ष द्वारा कोलाहल में तारतम्यप्रतीति की उपपत्ति न होगी। आशय यह है कि कोलाहल मात्र का एकरूप से ही प्रत्यक्ष नहीं होता किन्तु 'अमुक स्थान में कोलाहल हो रहा है, अब पहले से अधिक कोलाहल है और अब बहुत बड़ा कोलाहल है।' इस प्रकार लघु-बृहत्-बृहत्तर रूप में कोलाहल का प्रत्यक्ष होता है। यह प्रत्यक्ष तभी उपपन्न हो सकता है जब कोलाहल के प्रत्यक्ष को उच्चार्यमाण समस्त वर्णविषयक माना जाय, लघु कोलाहल का प्रत्यक्ष जितने वर्णों को विषय करेगा बृहत् प्रत्यक्ष उससे अधिक वर्णों को विषय करेगा और बृहत्तरप्रत्यक्ष उस से भी अधिक वर्णों को विषय करेगा। यह इसलिए होता है कि जब कम

लोग एक साथ बोलते हैं तब लघु कोलाहल होता है और जब पहले से अधिक लोग बोलने लगते हैं तब बृहत् कोलाहल होता है और जब उस से भी अधिक लोग बोलने लगते हैं तब बृहत्तर कोलाहल होता है। किन्तु शब्दनित्यत्वपक्ष में वर्णों की उत्पत्ति न होने से एवं केवल शब्दत्वरूप से ही कोलाहल का प्रत्यक्ष माने जाने के कारण उक्त तारतम्यप्रतीति की उपपत्ति अशक्य है"-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि कोलाहल में विजातीय पवनसंयोगरूप व्यञ्जकों में न्यूनाधिक्यरूप तारतम्य होता है उस तारतम्य का ही कोलाहल में आरोप मानने से विभिन्नरूप से कोलाहल प्रत्यक्ष की उपपत्ति शब्दनित्यत्वपक्ष में भी हो सकती है। अथवा यह भी कहा जा सकता है कि शब्दनित्यत्वपक्ष में भी कोलाहल के समय ककार आदि वर्णों का प्रत्यक्ष होता है अत एव वर्णों के न्यूनाधिक्य के अनुसार कोलाहल में तारतम्य की प्रतीति हो सकती है। यह बात स्वाश्रयनिरूपित लौकिकविषयिता सम्बन्ध से कत्वादि को विजातीय पवनसंयोग का जन्यतावच्छेदक मानने से उपपन्न हो सकती है। अतः अनन्त शब्दों की उत्पत्ति एवं नाश आदि की कल्पना जो शब्दानित्यत्व पक्ष में होती है, शब्दनित्यत्वपक्ष में उस कल्पना न होने से लाघव सुस्पष्ट है।

[विषयिता सम्बन्ध से शुकादि का कादिवर्ण जन्यतावच्छेदक]

अथवा यह भी कहा जा सकता है कि शुकादि का ककार आदि की लौकिकविषयिता सम्बन्ध से विजातीयपवनसंयोग का जन्यतावच्छेदक है, ऐसा मानने पर भी शब्दनित्यत्वपक्ष में कोई गौरव नहीं हो सकता क्योंकि शब्दनित्यत्वपक्ष में ककारादि वर्ण एक ही है। शुकादि के ककारादिप्रत्यक्ष में मनुष्य आदि के ककार आदि प्रत्यक्ष की अपेक्षा जो विलक्षणता है, और मनुष्यों में भी एक के ककारादि प्रत्यक्ष में अन्य के ककारादिप्रत्यक्ष की अपेक्षा (सभी प्रत्यक्षों में एक ही ककार व्यक्ति का भान होने पर भी) जो विलक्षणता प्रतीत होती है वह व्यञ्जकों की विलक्षणता से होती है। कोलाहल में ककारादि वर्णों का स्वरूपतः प्रत्यक्ष होता है उन में कत्व, शब्दत्व आदि किसी धर्म का विशेषणरूप में भान नहीं होता, कोलाहल के समय सुने जाते वर्णों में कत्व शब्दत्वादि का प्रत्यक्ष अथवा एक वर्ण में अन्य वर्ण के भेद का अथवा अन्य वर्ण के धर्माभाव का प्रत्यक्ष इसलिए नहीं होता कि उस समय उन प्रत्यक्षों का कारण विद्यमान नहीं होता।

तत्पुरुष को होनेवाले शब्दात्मक समवेत के श्रावणप्रत्यक्ष में तत्पुरुष के श्रावणप्रत्यक्षविषय का समवाय कारण है। एवं तत्पुरुष को होनेवाले शब्दनिष्ठ अभाव के श्रावण प्रत्यक्ष में तत्पुरुष के श्रावणप्रत्यक्षविषय की विशेषणता कारण है। (यह अर्थ प्रसङ्ग के अनुरोध से 'प्रत्यक्ष' शब्द को श्रावणप्रत्यक्षपरक और 'समवेतनिष्ठाभाव' पद में 'समवेत' शब्द को शब्दार्थक मानने पर लब्ध होता है।) इस कार्यकारणभाव की कल्पना के फलस्वरूप ककार आदि का श्रवण न होने की दशा में ककार आदि में शब्दत्व के श्रावण प्रत्यक्ष की तथा खकारादिभेद के श्रावण-प्रत्यक्ष की आपत्ति का परिहार हो जाता है, क्योंकि ककार आदि का श्रवण न होने पर शब्दत्व आदि में तत्पुरुषीय श्रावणप्रत्यक्ष के विषय का समवाय न रहेगा एवं खकारादिभेद में उस की विशेषणता न रहेगी क्योंकि उक्त कारण की कुक्षि में श्रावणत्व और श्रावणप्रत्यक्षविषयत्व विशेषणरूप से प्रविष्ट है।

शुक आदि द्वारा व्यक्त किये जानेवाले ककार आदि को विषयिता सम्बन्ध से विजातीय-वायुसंयोग का जन्यतावच्छेदक मानने पर ककार आदि के प्रत्यक्ष में विजातीयसंयोगजन्यता

उक्तमेवार्थं तदभियुक्तोक्त्यनुवादेन द्रढयति –

आह चालोकवद्वेदे सर्वसाधारणे सति । धर्माऽधर्मपरिज्ञाता किमर्थं कल्प्यते नरः ? ॥६॥

आह च **कुमारिलादिः –आलोकवत्**=चाक्षुषहेतुप्रकाशवत्, **वेदे सर्वसाधारणे सति**=नित्यनिर्दोषतया प्रतिसर्वप्रमातृ तुल्यप्रमाजनके सति **धर्माऽधर्मपरिज्ञाता**=धर्माऽधर्मसाक्षात्कर्ता **नरः** =मनुष्यः, **किमर्थं कल्प्यते ?** –चोदनैव हि धर्माऽधर्मावबगमयन्ती प्रवृत्तिनिवृत्त्यादिव्यवहारं स्वर्गाऽपवर्गादिफलं च जनयति, इति किमजागलस्तनायमानेन सर्वज्ञेन ? । 'चोदनाप्रामाण्यार्थं सर्वज्ञः कल्प्यते' इति चेत् ? न, उपजीव्यत्वेन महाजनपरिग्रहस्यैव तत्प्रामाण्यव्यवस्थापकत्वादिति भावः ॥६॥

का लाभ होता है जो शब्दनित्यता पक्ष में अभीष्ट है। कोलाहलस्थल में ककार आदि के व्यञ्जक विजातीयवायुसंयोग न होने से ककार आदि का श्रावणप्रत्यक्ष नहीं होता। अतः शब्दत्व आदि में श्रावणप्रत्यक्षविषय का समवाय न होने से, एवं ककारादि भेद में श्रावणप्रत्यक्षविषय की विशेषणता न होने से, उक्त कार्यकारणभाव का अभ्युपगम करने पर कोलाहलस्थल में शब्दत्व आदि एवं ककारादिभेद के प्रत्यक्ष की आपत्ति नहीं हो पाती। अतः शब्दनित्यत्ववादी की ओर से यह कहा जा सकता है कि कोलाहल के समय न शब्द का श्रावण होता है और न उसके परस्परभेद का श्रावण होता है और न उनकी जाति का ही श्रावण होता है किन्तु कान में वर्ण को अभिव्यक्त करने में असमर्थ ध्वनियों की केवल सनसनाहट होती है। कर्ण के अवयवों में उनका आघात मात्र होता है। उस समय मनुष्य को जो यह अनुभव होता है कि कोलाहल सुन पड रहा है यह कोलाहल स्वरूप अव्यक्त शब्दसमष्टि में श्रावणत्व का भ्रम है क्योंकि वस्तुतः उस समय वर्णों का श्रवण नहीं होता।

[वेदप्रामाण्य के लिये सर्वज्ञकर्ता अनावश्यक]

प्रस्तुत छट्ठी कारिका में वेदाऽपौरुषेयत्ववादी विद्वत्समाज के मान्यपुरुष की उक्ति का अनुवाद कर वेदाऽपौरुषेयत्वपक्ष को दृढ किया गया है। कारिका का अर्थ इस प्रकार है-

कुमारिल आदिने कहा है कि जैसे चाक्षुषप्रत्यक्ष के हेतुभूत प्रकाश सर्वसुलभ होने से चाक्षुष प्रत्यक्ष के लिये आलोक से अतिरिक्त तत्सदृश अन्य हेतु की अपेक्षा नहीं होती उसी-प्रकार नित्य निर्दोष होने से सभी प्रमाताओं में समानरूप से प्रमा उत्पन्न करनेवाले वेद के रहते धर्म-अधर्म के साक्षात्कर्त्ता किसी पुरुष की आवश्यकता नहीं है। अतः उसकी कल्पना क्यों की जाय ? आशय यह है कि—

चोदना यानी वेद के विधिभाग से ही धर्म-अधर्म का ज्ञान, धर्मानुष्ठान में प्रवृत्ति और अधर्मानुष्ठान से निवृत्ति आदि व्यवहार एवं स्वर्ग-मोक्ष आदि फल की उपपत्ति हो सकती है अतः बकरी के गले में झुलनेवाले स्तन के समान निरर्थक सर्वज्ञ की कल्पना क्यों की जाय ? यदि यह कहा जाय कि-चोदना='वेद के विधिभाग' के प्रामाण्य के लिये सर्वज्ञ की कल्पना आवश्यक है-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि महाजनों एवं बहुसंख्यक विवेकी पुरुषों द्वारा वेदों का परिग्रह सर्वज्ञकल्पना का उपजीव्य है अतः उसी से वेद के प्रामाण्य का निर्णय संभव होने से तदर्थ सर्वज्ञ की कल्पना निरर्थक है। आशय यह है कि-वेद को सर्वज्ञप्रणीत मानने

यथा वेदाद् धर्माऽधर्मपरिज्ञानं सिध्यति तथाह–

इष्टा–पूर्तादिभेदोऽस्मात् सर्वलोकप्रतिष्ठितः । व्यवहारप्रसिद्धयैव यथैव दिवसादयः ॥७॥

इष्टा–पूर्तादिभेदः **अस्मात्**=वेदात् **सर्वलोकप्रतिष्ठितः**=सर्वजनसिद्धः। ननु सर्गादाविष्टा-पूर्तादिभेदधर्मस्य कथं सिद्धिः, सर्वज्ञाभाव आदिसंप्रदायाऽप्रवृत्तेः ? इत्यत आह–**व्यवहारप्रसिद्धयैव**=व्यवहारस्यानुष्ठानस्य प्रकृष्टाऽनादिपरम्पराप्रयोज्या या सिद्धिस्तयैव, तथा च सर्ग–प्रलयाऽभावात् प्रवाहविच्छेदाभावाद् नाद्यसंप्रदायाऽप्रवृत्तिरिति भावः । कथं व्यवहारोऽनादिः इत्यत्र निदर्शनमाह–**यथैव दिवसादयः** –यथा दिवसादयो दिवसादिपूर्वका एव दृश्यन्ते तथा व्यवहारोऽपि व्यवहारपूर्वक इति भावः ॥७॥

का आधार महाजनों द्वारा वेदों का परिग्रह ही है क्योंकि यदि वेद महाजनों से परिगृहीत न होता तो वेद को सर्वज्ञप्रणीत मानने की आवश्यकता न होती। अतः उचित यही है कि महाजन परिग्रह के आधार पर ही वेद का प्रामाण्य स्वीकार किया जाय न कि महाजन परिग्रह के आधार पर कल्पित सर्वज्ञ की रचना होने के नाते उस का प्रामाण्य स्वीकार किया जाय ॥६॥

[सृष्टि का प्रारम्भ और अन्त असंगत है]

७वीं कारिका में वेद से धर्म-अधर्म के ज्ञान की सिद्धि का प्रकार बताया गया है। कारिका का अर्थ इस प्रकार है–

इष्टापूर्त आदि धर्मभेद वेद से होता है यह सर्वविदित है। सर्वज्ञ न मानने पर आद्य सम्प्रदाय का प्रवर्त्तन अशक्य होने से सर्ग=सृष्टि के प्रारम्भ में इष्टापूर्त आदि विभिन्नधर्म की सिद्धि कैसे हो सकती है-इस प्रश्न का समाधान कारिका के उत्तरार्द्ध में यह कह कर किया गया है कि इष्टा पूर्त आदि धर्मभेद का अनुष्ठानरूप व्यवहार अनादिमान्य परम्परा से सिद्ध है। इस परम्परा से ही उत्तरोत्तर लोगों की स्वर्गादि फल के उद्देश से वेदोक्त धर्मों के अनुष्ठान में प्रवृत्ति होती है। संसार की सृष्टि एवं प्रलय नहीं होता, इस का प्रवाह अविच्छिन्न है। ऐसा कोई समय संभव नहीं है जब वेदों के अध्ययन अध्यापन और वैदिक धर्मों के अनुष्ठान की परम्परा विश्व में कहीं न होती हो। संसार के सम्बन्ध में इस प्रामाणिक मान्यता की स्थिति में सम्प्रदाय के प्रारम्भ का प्रश्न ही नहीं उठता, अतः आद्य सम्प्रदाय की प्रवृत्ति को अशक्य बता कर वैदिक धर्मों के अनुष्ठान परम्परा की अनुपपत्ति का प्रश्न नहीं उठाया जा सकता। वेदमूलक धर्मानुष्ठानरूप व्यवहार की अनादिता बताने के लिये दिवस आदिके अनुष्ठान का दृष्टान्त दिया गया है। इस दृष्टान्त से यह अनायास ही अवगत किया जा सकता है कि जैसे दिन दिनपूर्वक ही होता है, एवं रात्रि रात्रिपूर्वक ही होती है, कोई दिन या कोई रात्रि सर्वप्रथम नहीं होती उसीप्रकार वैदिक व्यवहार भी व्यवहार-पूर्वक ही होता है, कोई व्यवहार सर्वप्रथम नहीं होता। अतः सर्वज्ञ का अभाव होने पर भी वैदिक व्यवहार की अनादि परम्परा के वेद द्वारा गृहीत इष्टापूर्त आदि धर्मों के अनुष्ठान की उपपत्ति में कोई बाधा नहीं है ॥७॥

ऋत्विग्भिर्मन्त्रसंस्कारैर्ब्राह्मणानां समक्षतः । अन्तर्वेद्यां तु यद्दत्तमिष्टं तदभिधीयते ॥८॥
वापी-कूप-तडागानि देवतायतनानि च । अन्नप्रदानमित्येतत्पूर्तमित्यभिधीयते ॥९॥
अतोऽपि शुक्लं यद् वृत्तं निरीहस्य महात्मनः । ध्यानादि मोक्षफलदं श्रेयस्तदभिधीयते ॥१०॥

इष्टादिस्वरूपमाह–ऋत्विग्भिः=यजमानसहायैः; मन्त्रसंस्कारैः पूतं सद् यद् ब्राह्मणानां **समक्षतः**=प्रकृतप्रतिग्रहीत्रतिरिक्तब्राह्मणानां प्रत्यक्षम्, **अन्तर्वेद्यां**=वेदीमध्य एव **दत्तं**=हिरण्यादि, तदिष्टमभिधीयते ॥ ८ ॥

तथा वापी–कूप–तडागानि च=पुनः **देवताऽऽयतनानि** लोकसिद्धानि, तथा **अन्नप्रदानं**=भोजनदानम्, इत्येतत् सर्वं 'पूर्तम्' इत्यभिधीयते, भोगफलत्वात् ॥ ९ ॥

तथा–अतोऽपि इष्टा–पूर्तात्, **शुक्लं**=शुद्धमित्यर्थः, यद् **वृत्तम्**=आचरितम् **निरीहस्य**=निःस्पृहस्य, **महात्मनः**=योगिनः, किं तत् ? इत्याह ध्यानादि । किंभूतम् ? इत्याह–**मोक्षफलदम्**=अपवर्गरूपफलप्रदम्, तत् श्रेयोऽभिधीयते, श्रेयोहेतुत्वात् । एवमिष्टम्, पूर्तम्, श्रेयश्चेति त्रिधा कर्मव्यवस्था वेदादेवेत्युपपादितम् ॥१०॥

[इष्टा–पूर्त्तादि कर्मों का स्वरूप]

आठवीं कारिका में इष्ट का परिचय दिया गया है। कारिका का अर्थ इस प्रकार है-

यजमान और याज्ञिक=यज्ञ के अनुष्ठापक, मन्त्रमूलक संस्कारों से परिपूत जिस वस्तु का प्रतिग्रहीता से अतिरिक्त ब्राह्मणों के समक्ष वेदी के मध्य में दान करते हैं ऐसी सुवर्ण आदि वस्तु को इष्ट कहा जाता है। वस्तुतः सन्दर्भगत इष्ट शब्द यज् धातु से भाव में क्त प्रत्यय से बना है, भाव प्रत्यय का प्रकृत्यर्थ से अतिरिक्त कोई अर्थ नहीं होता अतः यज् धातु का अर्थ ही इष्ट शब्द से बोध्य है और यज् धातु का अर्थ है देवपूजन, यजन, संगतिकरण और दान। यज् धातु से बोधित ये कर्म जब यजमान और याज्ञिकों द्वारा वैदिक मन्त्रों के माध्यम से सुवर्ण आदि संस्कृत द्रव्यों से सम्पादित होते हैं तो ये ही कर्म 'इष्ट' कहे जाते हैं। अतः इष्ट शब्द का इस सन्दर्भ में अभिप्रेत अर्थ है-वेदसाध्ययज्ञ ।८॥

नववीं कारिका में 'पूर्त्त' का परिचय दिया गया है। कारिका का अर्थ इस प्रकार है-

वाव, कूप और तालाब एवं देवमन्दिर आदि सर्वजन उपयोगी पदार्थ एवं सत्पात्रों को शास्त्रोक्त रीति से अन्नदान, इन सब को पूर्त्त कहा जाता है। इन का विधिविधान धर्मशास्त्र और पुराणों से विदित होता है। इसीलिये वापी आदि का निर्माण एवं अन्नदान को पूर्त्त कहा जाता है। इन्हें पूर्त्त इसीलिए कहा जाता है कि इन से समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति होती है ।९॥

दशवीं कारिका में इष्ट और पूर्त्त दोनों से श्रेष्ठ धर्म का प्रतिपादन किया गया है। कारिका का अर्थ इस प्रकार है-

निःस्पृह महात्मा द्वारा की जानेवाली ध्यान आदि क्रिया इष्ट और पूर्त्त से भी श्रेष्ठ है। यह क्रिया मोक्षरूप सर्वश्रेष्ठ पुरुषार्थ की साधक होती है। परमपुरुषार्थरूप श्रेय की साधक होने

व्यवस्थान्तरमपि तत एवोपपादयन्नाह—

वर्णाश्रमव्यवस्थापि सर्वा तत्प्रभवैव हि। अतीन्द्रियार्थद्रष्टा तत्रास्ति किञ्चित्प्रयोजनम् ॥११॥
अत्रापि ब्रुवते केचिदित्थं सर्वज्ञवादिनः। प्रमाणपञ्चकाऽवृत्तिः कथं तत्रोपपद्यते ? ॥१२॥

एवं **वर्णानां** ब्राह्मण–क्षत्रिय–वैश्य–शूद्राणां, **आश्रमाणां** च गृहि–ब्रह्मचारि–वानप्रस्थ–संन्यासिलक्षणानां व्यवस्थापि **सर्वा**=लोकविदिता, **हि**=निश्चितम्, **तत्प्रभवैव**=वेदमूलैव, वेदादिनोपवीतादिना चिह्नेन सन्ध्या–षट्कर्माद्याचारेण च ब्राह्मण्यादिनिर्णयात्, ब्राह्मण्यादिनां कर्मविशेषेऽधिकारनिर्णयाच्चेति भावः। ततः किम्? इत्याह—**अतीन्द्रियार्थद्रष्टा**=अतीन्द्रियार्थदर्शिना पुंसा, नास्ति प्रयोजनं किञ्चित्, तत्साध्यस्य परलोकादिसाधनस्य वेदादेव सिद्धेः। मुक्तिश्च न सार्वज्ञ्यगर्भा, दुःखनिवृत्तिरूपाया नित्यनिरतिशयसुखाभिव्यक्तिरूपायास्तस्यास्तदगर्भत्वादिति निगर्वः ॥११॥

इत्थमापतति जैमिनिशिष्ये नास्तिकत्वमिह यत्खलु गूढम्।
दर्शयन्ति तदनेकसमक्षं वेदनैपुणपटाऽपगमेन ॥ १ ॥

से इस क्रिया को श्रेय कहा जाता है। इस प्रकार इष्ट, पूर्त और श्रेय इस त्रिविध कर्म की व्यवस्था वेद से ही होती है। उस के लिये किसी सर्वज्ञ का अस्तित्व मानना अनावश्यक है ॥१०॥

[वेद से ही वर्णाश्रमादि की व्यवस्था]

ग्यारहवीं कारिका में यह बताया गया है कि धार्मिक और सामाजिक अन्य व्यवस्थायें भी वेद से ही उपपन्न होती हैं। कारिका का अर्थ इस प्रकार है-

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र वर्णों की और ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास इन आश्रमों की लोक-प्रसिद्ध सारी व्यवस्था निश्चितरूप से वेदमूलक ही है, जैसे वेद आदि का अध्ययन–अध्यापन उपवीत सूत्र, शिखा आदि चिह्न, सन्ध्या तथा 'यजन, याजन, अध्ययन, अध्यापन, दान और प्रतिग्रह'रूप षट् कर्म आदि के आचरण से ब्राह्मणत्व का निर्णय होता है। एवं क्षत्रिय आदि के शास्त्रोक्त चिह्न आदि से क्षत्रिय आदि का निश्चय होता है, तथा कर्म विशेष में ब्राह्मण आदि के अधिकार आदि का निर्णय होता है। इसलिये अतीन्द्रिय अर्थों के द्रष्टा किसी सर्वज्ञ की कल्पना का प्रयोजन नहीं है। क्योंकि सर्वज्ञ द्वारा परलोक आदि के जिन साधनों की सिद्धि अपेक्षित है उन की सिद्धि अपौरुषेय वेद से ही हो जाती है। मुक्ति भी सर्वज्ञता से घटित नहीं है किन्तु दुःखनिवृत्तिरूप अथवा नित्य निरतिशय सुख की अभिव्यक्ति स्वरूप है उस में सर्वज्ञता का अन्तर्भाव नहीं है ॥११॥

व्याख्याकारने बारहवीं कारिका के अभिप्राय को अपने एक पद्य के द्वारा संकेतित किया है। जिस का आशय यह है कि—

" उक्त रीति से जैमिनी के शिष्यों में प्रच्छन्न रूपसे नास्तिकता प्रसक्त होती है। सर्वज्ञसत्तावादी विद्वान उस नास्तिकता को अनेक लोगों के समक्ष उन की वेदनिपुणता के पट का अपसारण कर के प्रदर्शित करते हैं। "

अत्रापि=मीमांसकानां सर्वज्ञाभाववादेऽपि समुपस्थिते ब्रुवते **केचित्**=सर्वज्ञवादिनो जैनाः **इत्थम्**=एवं, यदुत–**प्रमाणपञ्चकाऽवृत्तिः**=प्रमाणपञ्चकाविषयत्वम् कथं तत्र=सर्वज्ञे अभावप्रमाणोत्थापकम् उपपद्यते? नैवोपपद्यत इति भावः ॥१२॥

सर्वार्थविषयं तच्चेत्प्रत्यक्षं तन्निषेधकृत् । अभावः कथमेतस्य, न चेदत्राप्यदः समम्? ॥१३॥

तथाहि–यत् तावदुक्तम् **प्रत्यक्षेण**....(श्लो. २) इत्यादि, **तत्**=प्रकान्तम् **तन्निषेधकृत्**=सर्वज्ञनिषेधकारि प्रत्यक्ष, **चेत्**=यदि **सर्वार्थविषयं**=विश्वगोचरम्, तदा **एतस्य**=सर्वज्ञस्य **अभावः** कथम्? विश्वगोचरज्ञानाश्रयस्यैव सर्वज्ञत्वात् । न चेत् तत् प्रत्यक्ष सर्वार्थविषयम्, **अत्रापि**=

बारहवीं कारिका का अर्थ इस प्रकार है–

मीमांसकों द्वारा सर्वज्ञाभाववाद प्रस्तुत होने पर, सर्वज्ञवादी जैनों का यह कहना है कि सर्वज्ञ को प्रमाणपञ्चक का अविषय बताकर उस के निषेध को सिद्ध करने के लिये अभावप्रमाण का उत्थापन कैसे संभव हो सकता है। विचार करने पर यह कथमपि संभव प्रतीत नहीं होता ॥१२॥

[प्रत्यक्ष के अभाव से सर्वज्ञाभावकी सिद्धि अशक्य]

१३वीं कारिका में इस बात का प्रतिपादन किया गया है कि प्रत्यक्ष सर्वज्ञ-सिद्धि में बाधक नहीं हो सकता है। कारिका का अर्थ इस प्रकार है-

सर्वज्ञ का निषेध करनेवाला प्रत्यक्ष यदि सर्वार्थविषयक होगा तो सर्वज्ञ का अभाव नहीं सिद्ध हो सकता क्योंकि सर्वविषयकप्रत्यक्ष ही सर्वज्ञता है और उसे मान लेने पर उस के आश्रयभूत सर्वज्ञ की सिद्धि अपरिहार्य है। और यदि प्रत्यक्ष सर्वार्थविषयक न होगा तो इस पक्ष में भी सर्वज्ञ का अभाव सिद्ध नहीं हो सकता क्योंकि प्रत्यक्ष में सर्वग्राहित्व का नियम न होने पर, प्रत्यक्ष का विषय न होने पर भी सर्वज्ञ का अभ्युपगम सम्भव हो सकता है। इस प्रकार प्रत्यक्ष के सर्वार्थविषयकत्व और सर्वार्थविषयकत्वाभाव दोनों पक्षों में सर्वज्ञाभाव के साधन की अशक्यता तुल्य है।

यद्यपि पूर्वकारिका में सर्वज्ञाभाव की सिद्धि करने के लिये प्रत्यक्ष प्रमाण का उपन्यास नहीं किया गया है अतः इस कारिका में, प्रत्यक्ष प्रमाण में सर्वज्ञ के अभाव की साधकता का निराकरण आपाततः उचित नहीं प्रतीत होता, किन्तु वास्तव में यह अनुचित नहीं है क्योंकि प्रत्यक्षाभाव से सर्वज्ञाभाव का साधन करने से ही यह प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या प्रत्यक्ष सर्वविषयक होता है अर्थात् जो कुछ है उस सब का प्रत्यक्ष होता ही है? यदि ऐसा हो तभी यह निष्कर्ष निकल सकता है कि जिस का प्रत्यक्ष नहीं है वह असत् है। किन्तु यदि ऐसा माना जायगा कि प्रत्यक्ष सर्वविषयक होता है तब तो उस प्रत्यक्ष का जो आश्रय होगा वही सर्वज्ञ हो जायगा, अतः सर्वज्ञाभाव की सिद्धि नहीं हो सकेगी। और यदि सर्वविषयक प्रत्यक्ष का अस्तित्व स्वीकार न किया जायगा तो इस का अर्थ होगा कि अप्रत्यक्ष वस्तु की भी सत्ता होती है अतः अप्रत्यक्ष सर्वज्ञ का निराकरण प्रत्यक्षाभाव द्वारा न हो सकेगा, क्योंकि विद्यमान अर्थ का भी अतिदूरत्व आदि दोष से प्रत्यक्ष द्वारा ग्रहण नहीं होता।

एतत्पक्षेऽपि अद्:=अभाव: कथमेतस्य इति समम्, प्रत्यक्षेण सतोऽप्यर्थस्यातिदूरत्वादिनाऽग्रहणात् तदभावासिद्धेः अन्यथा धर्मादेरप्यभावप्रसङ्गात् । अनिष्टं चैतद् मीमांसकस्यास्तिकताभिमानिनः । चार्वाकस्तु वराकोऽतीन्द्रियमात्रोच्छेदमिच्छन्ननुपलब्धिमात्रादर्थाभावं साधयन् स्वगृहाद् निर्गतः स्वगृहे पुत्रादीनामप्यभावमवगच्छेत् । 'अधिकरणासंनिकर्षाद् न तदवगम' इति चेत् ? नह्यतीन्द्रियाश्रयस्याप्यसंनिकर्षे तदभावाऽसिद्धेर्हतं चार्वाकमतम्, अधिकरणज्ञानमात्रादतीन्द्रियाभावसिद्धौ च प्रकृतेऽप्यधिकरणस्मृतिसत्त्वात् तदापत्तिः । तदुपलम्भकस्वभावेनानुपलब्धेस्तदभावसाधकत्वं त्वसंभवदुक्तिकम्, स्वभावविरोधादिति न किञ्चिदेतत् । तदेवं प्रत्यक्षं न बाधकमित्युक्तम् ॥१३॥

यदि प्रत्यक्ष द्वारा ग्रहण न होने से ही प्रमाणान्तर सिद्ध वस्तु का अभाव माना जायगा तो धर्म-अधर्म आदि का भी अभाव हो जायगा और यह बात आस्तिकाभिमानी मीमांसकों को इष्ट नहीं है ।

[चार्वाकमत का निराकरण]

अतीन्द्रिय वस्तु मात्र का उच्छेद करने के उद्देश से, अनुपलब्धि=प्रत्यक्षाभाव मात्र से अर्थाभाव को सिद्ध करनेवाले बिचारे चार्वाक को क्या कहा जाय, जब कि अपने घर से बाहर निकलने के बाद अपने पुत्रादि का प्रत्यक्ष न होने से अपने घर में अपने पुत्रादि का अभाव सिद्ध हो जाने की आपत्ति से वह पीड़ित है।

यदि यह कहा जाय कि–'घर से बाहर रहने के समय गृहरूप अधिकरण के साथ इन्द्रियसन्निकर्ष न होने से गृह में पुत्रादि के अभावसिद्धि की आपत्ति नहीं हो सकती, अतः तत्प्रयुक्तपीडा का उसे कोई भय नहीं है'–तो यह ठीक नहीं है क्योंकि ऐसा मानने पर अतीन्द्रियपदार्थ के आश्रय का सन्निकर्ष न होने से अतिन्द्रिय पदार्थ के अभाव की सिद्धि न होने के कारण चार्वाक का मत ही व्याहत हो जाता है । यदि अधिकरण के ज्ञान मात्र से अतीन्द्रिय के अभाव की सिद्धि की जायगी तो अपने गृह से दूरस्थचार्वाक को गृहरूप अधिकरण की स्मृतिरूप ज्ञान से गृह में अपने पुत्रादि के अभाव की सिद्धि का प्रसङ्ग अपरिहार्य होगा। यदि यह कहा जाय कि–'तदुपलम्भकस्वभाव से अर्थात् जिस स्वभाव से जो वस्तु उपलम्भ योग्य होती है उस स्वभाव से उस वस्तु की अनुपलब्धि उस वस्तु के अभाव की साधक होती है, अतः उक्त आपत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि पुत्रादि का स्वभाव है इन्द्रियसन्निकृष्ट होने पर उपलब्ध होना, अतः इन्द्रियसन्निकृष्ट होने पर भी यदि पुत्रादि की उपलब्धि न हो तभी पुत्रादि के अभाव की सिद्धि हो सकती है, किन्तु चार्वाक के गृह से दूर रहने के समय इन्द्रियसन्निकृष्ट होते हुये भी पुत्रादि की अनुपलब्धि नहीं है'–किन्तु यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि जिस स्वभाव से जो उपलब्धियोग्य होती है उसी स्वभाव से उस वस्तु की अनुपलब्धि द्वारा उसके अभाव की सिद्धि मानना असंभव है, क्योंकि उपलम्भकस्वभाव और अनुपलम्भकस्वभाव दोनों में विरोध है । अतः जिस स्वभाव से जो उपलब्धियोग्य है उस स्वभाव से उसकी अनुपलब्धि हो ही नहीं सकती । जैसे—

अनुमानं तु तत्साधकमेवेत्याह—

धर्मादयोऽपि चाध्यक्षा ज्ञेयभावाद् घटादिवत् । कस्यचित् सर्व एवेति नानुमानं न विद्यते ॥१४॥

धर्मादयोऽपि च=ये परस्य चोदनागम्याः स्वतन्त्रसिद्धा वाऽजीवकार्यविशेषास्ते धर्मिणः, 'अध्यक्षा' इति साध्यो धर्मः, ज्ञेयभावादिति हेतुः ज्ञेयत्वादित्यर्थः, घटादिवदिति दृष्टान्तः। साध्य-हेतुविकल्पकृतदोषस्तु प्रसिद्धानुमानेऽपि तुल्यः। तथाहि—यदि पर्वतीयो वह्निः साध्यते तदा साध्यविकलो दृष्टान्तः, अथ महानसीयस्तदा बाधः। एवं धूमेऽपि यदि पर्वतीयो हेतुस्तदाऽनन्वयः, यदि च महानसीयस्तदाऽसिद्धता। सामान्योपग्रहोऽप्यतिविलक्षणव्यक्त्योरसंभवीति। यदि च वह्न्यनुमाने

घटादि का स्वभाव है इन्द्रियसन्निकृष्ट अधिकरण में इन्द्रियसन्निकृष्ट होने पर उपलब्ध होना, किन्तु इस स्वभाव से उस का अनुपलम्भ नहीं हो सकता, क्योंकि जब वह इन्द्रिय-सन्निकृष्ट होगा तो उस समय उस का उपलम्भ ही होगा, अनुपलम्भ नहीं होगा। इस प्रकार इस कारिका में उक्त रीति से प्रत्यक्ष में सर्वज्ञसिद्धि में बाधकता की असंभाव्यता बताई गई ॥१३॥

[सर्वज्ञ का साधक अनुमानप्रयोग]

१४वीं कारिका में यह बताया गया है कि अनुमानप्रमाण सर्वज्ञसिद्धि में बाधक नहीं है किन्तु साधक ही है। कारिका का अर्थ इस प्रकार है—

अनुमान से भी सर्वज्ञ की सिद्धि होती है। अनुमानप्रयोग इस प्रकार हो सकता है कि मीमांसकमत में वेद के विधिवाक्य से ज्ञात होनेवाले अथवा स्वतन्त्र-अन्यमतानुसार वेद के बिना ही सिद्ध होनेवाले अजीवकार्यविशेषरूप धर्म आदि पदार्थ प्रत्यक्षग्राह्य हैं क्योंकि ज्ञेय हैं-ज्ञानविषय हैं, जो ज्ञेय होता है वह प्रत्यक्षग्राह्य होता है-जैसे घट आदि।

यदि इस अनुमान के विरोध में साध्य और हेतु का विकल्प प्रस्तुत कर इस प्रकार के दोष प्रदर्शित किये जाय कि-"उक्त अनुमान द्वारा धर्म आदि में जिस प्रत्यक्षग्राह्यत्व की सिद्धि करनी है वह हम लोगों के प्रत्यक्षग्राह्यत्वरूप है अथवा 'हमलोगों से भिन्न अतीन्द्रिय द्रष्टा पुरुष के प्रत्यक्ष से ग्राह्यत्वरूप है। इन में प्रथम को साध्य करने पर बाध होगा क्योंकि हम लोगों को धर्म का प्रत्यक्ष नहीं होता। एवं दूसरे को साध्य करने पर साध्याऽप्रसिद्धि होगी क्योंकि उक्तविध प्रत्यक्ष असिद्ध है। साध्य के समान हेतु के सम्बन्ध में भी विकल्प हो सकता है। जैसे ज्ञेयत्वशब्द से प्रत्यक्षज्ञानविषयत्वरूप हेतु विवक्षित है अथवा परोक्षज्ञानविषयत्वरूप हेतु विवक्षित है। प्रथम में, पक्ष में हेतु के अभावरूप स्वरूपासिद्धि और दूसरे में अप्रयोजकत्व दोष है।"

[बाधादि दोषों का निराकरण]

किन्तु इस प्रकार का दोषोद्भावन उचित नहीं है क्योंकि इस प्रकार का दोषोद्भावन प्रसिद्ध अनुमान में भी संभव होने से अनुमानमात्र का उच्छेद हो जायगा। जैसे-धूमहेतु से पर्वत में अग्नि का अनुमान प्रसिद्ध अनुमान है। इस में भी इस प्रकार दोषोद्भावन हो सकता है कि इस अनुमान में यदि पर्वतीयअग्नि को साध्य किया जायगा तो पाकशालारूप दृष्टान्त में साध्यवैकल्य होने से हेतु में साध्य का व्याप्तिग्रह न हो सकेगा और यदि पाकशालीय अग्नि को साध्य किया जायगा तो पर्वतरूप पक्ष में साध्य का बाध होगा। इसी प्रकार हेतु के सम्बन्ध

पक्ष-दृष्टान्त-हेतु-साध्यव्यक्त्योरत्यन्तवैलक्षण्याननुभवात् सामान्योपग्रहेणैव दोषोद्धारः, व्याप्तिबलात् सामान्यसिद्धावपि पक्षधर्मताबलाद् नियतविशेषसिद्धेरित्युपगम्यते, तदा प्रकृतेऽपि तुल्यम्। न चात्राऽप्रयोजकत्वम्, विपक्षबाधकतर्काभावादिति वाच्यम्, 'ज्ञानं साश्रयम्, गुणत्वात्, रूपादिवत्' इत्यादाविव बाधकाभावे निरुपाधिसहचाररूपस्यैव तर्कस्य सत्त्वात्, अन्यथेदृशानुमानसहस्रोच्छेदात्। यदि चात्र गुणाऽऽश्रययोः कार्यकारणभाव एव परम्परया तर्कः, तदा प्रकृतेऽपि धर्माद्यध्यक्षज्ञानयोः स एवाश्रीयताम्, विना सर्वज्ञं धर्मादिपरिज्ञानस्यान्यतो व्यवस्थापयिष्यमाणत्वात्।

में भी विकल्पमूलक दोष होगा। जैसे-पर्वतीय धूम को हेतु करने पर अन्वय दृष्टान्त में हेतु का अभाव होने से व्याप्तिज्ञान की अनुपपत्ति होगी और पाकशाला के धूम को हेतु करने पर पक्ष में हेतु की असिद्धि होगी। समस्त अग्नि और समस्त धूम का सामान्यरूप से ग्रहण करके भी उक्तदोष का परिहार संभव नहीं होता क्योंकि विभिन्न अग्नि एवं विभिन्न धूम दोनों अत्यन्त विलक्षण हैं और अत्यन्त विलक्षण व्यक्तियों का कोई अनतिप्रसक्त सामान्यधर्म नहीं होता।

यदि यह कहा जाय कि-"पर्वत में पाकशाला के दृष्टान्त के द्वारा जब धूम से अग्नि का अनुमान किया जाता है तब उस में उक्तरीति से दोष नहीं हो सकता क्योंकि उस अनुमान से सम्बद्ध पक्ष, दृष्टान्त, हेतु और साध्य व्यक्तियों में अत्यन्त वैलक्षण्य का अनुभव नहीं होता। अतः पर्वतत्वरूप सामान्यधर्म से सभी पर्वतों को पक्षरूप से, एवं सभी पाकशाला को पाकशालात्वरूप सामान्यधर्म से दृष्टान्तरूप से प्रस्तुत किया जा सकता है। एवं सभी अग्नि को अग्नित्वरूप सामान्यधर्म से साध्यरूप में और सभी धूम को धूमत्वरूप सामान्यधर्म से हेतुरूप में ग्रहण कर उक्त दोषों का परिहार किया जा सकता है। व्याप्तिबल से सामान्यरूप से ही साध्य की सिद्धि होने पर भी पक्षधर्मताबल से पर्वत में पर्वतीयअग्निरूप विशेषसाध्य की सिद्धि हो सकती है।

कहने का आशय यह है कि-उक्त अनुमान में अग्नित्वरूप सामान्य धर्म से अग्नि को साध्य करने पर पाकशाला में पर्वतीयअग्नि का अभाव होने पर भी अग्नि सामान्य का अभाव न होने से दृष्टान्त में साध्यवैकल्य नहीं हो सकता, एवं पर्वत में पाकशालीय अग्नित्वावच्छिन्न का अभाव होने पर भी अग्निसामान्य का अभाव न होने से बाध नहीं हो सकता। एवं धूमत्वरूप सामान्य धर्म से धूम को हेतु करने पर पाकशाला में पर्वतीय धूम का अभाव होने पर भी धूमसामान्य का अभाव न होने से पाकशाला दृष्टान्त में साधनवैकल्य नहीं हो सकता। एवं पर्वत में पाकशालीय धूमाभाव के होने पर भी धूमसामान्य का अभाव न होने से पक्ष में हेतु की असिद्धि भी नहीं हो सकती। धूमसामान्य से अग्निसामान्य का अनुमान करने पर यह भी शङ्का नहीं हो सकती कि-'पर्वत में अनुमान द्वारा अग्निसामान्य की सिद्धि होने पर भी पर्वतीयअग्नि की सिद्धि कैसे हो सकती है?' क्योंकि अग्निसामान्य के अनुमापक द्वारा पर्वत में पर्वतीयअग्नि से भिन्न अग्नि के बाधज्ञानरूप पक्षधर्मता के बल से पर्वत में पर्वतीयअग्नि की सिद्धि निर्बाध है।"-

तो हम भी कह सकते हैं कि जिस ढंग से प्रसिद्ध अनुमान में साध्य और हेतु के विकल्प से संभवित दोषों का निराकरण किया जाता है उस ढंग से धर्म आदि में प्रत्यक्षत्व-साधक अनुमान में भी साध्य-हेतु के विकल्प से संभवित दोषों का परिहार किया जा सकता है। अर्थात् यह कहा जा सकता है कि प्रत्यक्षत्वरूप सामान्य धर्म से घटित प्रत्यक्षविषयत्व को

ईदृशप्रत्यक्षाश्रयं परिशेषयन्नाह–कस्यचिदिति, अस्मदादीनां बुद्धादीनां च छद्मस्थत्वात्, दृष्टेष्टविरुद्धभाषित्वाच्चार्हत्येव धर्मादिसाक्षात्कर्तृत्वविश्रामादिति भावः। तेन न साध्याऽसिद्धिः, इष्टाऽसिद्धिर्वा, साध्यकोटौ विशिष्याऽनिवेशात्, परिशेषस्य विशेषपर्यवसायित्वाच्चेति द्रष्टव्यम्। सर्वज्ञवादिभिरपि कश्चित् सर्वज्ञः कतिपयेष्टार्थवेत्त्वैवाभ्युपगम्यते न तु विश्वद्रष्टा, यदुक्तम्–(प्र.वा. १।३३)

"सर्वं पश्यतु वा, मा वा, तत्त्वमिष्टं तु पश्यतु।
कीटसंख्यापरिज्ञानं तस्य नः क्वोपयुज्यते ? ॥१॥" तथा
"सर्वं पश्यतु वा, मा वा, इष्टमर्थं तु पश्यतु।
प्रमाणं दूरदर्शी चेदेतान् गृध्रान् प्रपूजय ॥१॥" इति। (द्र. प्र. वा. १।३५)

साध्य और ज्ञानत्वरूप सामान्यधर्म से घटित ज्ञानविषयत्व को हेतु करने से उक्त दोष नहीं हो सकते।

यदि यह कहा जाय कि 'प्रत्यक्षत्व के साधनार्थ प्रयुक्त ज्ञेयत्वहेतु अप्रयोजक है क्योंकि 'धर्म आदि ज्ञेय होते हुये भी अप्रत्यक्ष हो' इस विपरीत पक्ष का बाधक कोई तर्क नहीं है' तो यह ठीक नहीं है क्योंकि जैसे ज्ञान के आश्रयरूप में आत्मा को सिद्ध करने के लिये प्रयुक्त-'ज्ञान द्रव्याश्रित है क्योंकि द्रव्याश्रित रूप आदि के समान गुण है'-इस अनुमान में ज्ञान में द्रव्याश्रितत्व का बाध न होने से गुणत्व में द्रव्याश्रितत्व का निरुपाधिक सहचार ही तर्क होता है उसी प्रकार प्रस्तुत अनुमान में भी धर्म आदि में प्रत्यक्षत्वबाधप्रामाणिक न होने से ज्ञेयत्व में प्रत्यक्षत्व का निरूपाधिक सहचार ही तर्क हो सकता है। यदि निरुपाधिक सहचाररूप तर्क की उपेक्षा की जायगी तो ऐसे हजारों अनुमानों का उच्छेद हो जायगा।

यदि यह कहा जाय कि 'गुणत्व से द्रव्याश्रितत्व के अनुमान के लिए गुणत्व में द्रव्याश्रितत्व का जो व्याप्तिज्ञान अपेक्षित है उस में गुण और आश्रय का कार्यकारणभाव ही परम्परया तर्क है। आशय यह है कि गुण यदि द्रव्याश्रित न होगा तो द्रव्यजन्य नहीं हो सकता इस लिए गुण में द्रव्याश्रितत्व आवश्यक होने से गुण में द्रव्याश्रितत्व की विरोधी व्यभिचारशङ्का निवृत्त हो जायगी' तो ऐसा कथन ज्ञेयत्वहेतु से धर्मादि के प्रत्यक्षत्वानुमान के सम्बन्ध में भी सम्भव है। जैसे यह कहा जा सकता है कि यदि धर्म आदि का द्रष्टा कोई सर्वज्ञ न होगा तो धर्म आदि का भी ज्ञान नहीं हो सकता है, यह बात अन्य हेतु से आगे सिद्ध की जाने वाली है।

[सर्वग्राहि प्रत्यक्ष के आश्रयरूप में सर्वज्ञ की प्रसिद्धि]

१४ वीं कारिका के उत्तरार्ध में जैनसम्मत सर्वज्ञ के साधक परिशेषानुमान का संकेत किया गया है। जिस का आशय यह है कि-धर्म आदि पदार्थ किसी पुरुष को प्रत्यक्ष से सिद्ध हैं। 'किसी पुरुष' से तात्पर्य है सामान्य जीव से एवं बुद्ध आदि से भिन्नपुरुष। कहने का तात्पर्य यह है कि उक्त अनुमान से धर्म आदि सब पदार्थों का ग्राहक प्रत्यक्ष सिद्ध हो जाने पर 'वह प्रत्यक्ष किसी पुरुषविशेष में आश्रित है क्योंकि वह ज्ञान है।' इस अनुमान से उक्त प्रत्यक्ष पुरुषाश्रित होकर सिद्ध होता है, यह प्रत्यक्ष विशिष्टकोटि का होने से सामान्य-

तदभिहितनिरासपूर्वकस्वाभिमतसिद्ध्यर्थं पक्षविशेषणमाह–**सर्व एवेति** । **न चैवं** घटादेः पक्षप्रविष्टत्वे सपक्षत्वानुपपत्तिः, तदप्रविष्टत्वे च 'सर्व एव' इत्यसिद्धमिति **वाच्यम्** ; पक्षप्रविष्टत्वेऽपि निश्चितसाध्यधर्मत्वेन सपक्षत्वाऽविरोधात्, तत्र गौरवेण पक्षातिरिक्तत्वानिवेशात् । न च तथाप्यंशतः सिद्धसाधनम्, पक्षसामान्ये साध्यासिद्ध्या तस्यादोषत्वादिति दिग् । वस्तुतस्तत्त्वत एकार्थदर्शनमपि सर्वदर्शनाविनाभावि, तदुक्तम्–"[१]'जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ" [आचारांग०] इत्यादि । एतदनुसारिभिः पूर्वाचार्यैरस्यायमर्थः प्रत्यज्ञायि–[ ]

"एको भावस्तत्त्वतो येन दृष्टः सर्वे भावाः सर्वथा तेन दृष्टाः ।
सर्वे भावाः सर्वथा येन दृष्टा एको भावस्तत्त्वतस्तेन दृष्टः ॥१॥" इति ।

न चैतदयुक्तम्, एकस्यापि पदार्थस्यानुगत–व्यावृत्तधर्मद्वारेण सर्वपदार्थसंबन्धिस्वभावत्वात्, तदवेदने तत्त्वतोऽधिकृतवस्त्ववेदनात् । केवलमभिमानमात्रमेव लोकानां तत्र 'तत्त्वतो दृष्टोऽयमर्थः' इति ।

जीवों में एवं बुद्ध आदि विशेष जीवों में भी आश्रित नहीं हो सकता क्योंकि सामान्य जीव और बुद्ध आदि छद्मस्थ हैं-ज्ञानावरणीय कर्मों से ग्रस्त हैं तथा 'प्रमाणसिद्ध एवं इष्ट अर्थ' से विरुद्ध अर्थ के उपदेशक हैं। इसलिये जो छद्मस्थ नहीं है एवं प्रमाणासिद्ध और इष्टविरुद्ध अर्थ का उपदेशक नहीं है ऐसे 'अर्हत्' नामक पुरुष विशेष की ही धर्म आदि के साक्षात् ज्ञातारूप में सिद्धि हो सकती है।

[कुछ कुछ वस्तु के ज्ञान से सर्वज्ञता-वादी का अभिप्राय]

कुछ सर्वज्ञतावादी ऐसे हैं जो सर्वज्ञ को इष्ट समस्तपदार्थों का ही ज्ञाता मानते हैं, विश्वद्रष्टा नहीं मानते। धर्मकीर्त्ति आदि विद्वानों ने कहा भी है कि-सर्वज्ञपुरुष सब वस्तुओं का प्रत्यक्ष करे अथवा न करे किन्तु समस्त इष्ट पदार्थों का प्रत्यक्ष करता ही है। उसे इष्ट अनिष्ट सब का ज्ञाता मानने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि 'विश्व में कितने कीडे हैं' ऐसे उसके ज्ञान का कोई प्रयोजन नहीं है।

यह भी कहा है कि सर्वज्ञपुरुष सब वस्तुओं का प्रत्यक्ष करे या न करे, इष्टपदार्थ का तो प्रत्यक्ष करता ही है। उस को प्रमाण मानने के लिये उसे दूरदर्शी होना आवश्यक नहीं है, क्योंकि यदि दूरदर्शिता ही प्रमाण मानने का आधार होगी तो दूरदर्शी गीध आदि पक्षी भी प्रमाणरूप से पूजनीय हो जायेंगे।

[कुछ कुछ वस्तु के ज्ञान से सर्वज्ञता अनुपपन्न]

कुछ सर्वज्ञवादियों के इस अभिमत का निरासन करते हुये अपने अभिमत की सिद्धि के लिये १४ वीं कारिका के उत्तरार्ध में 'सर्व'पद का प्रयोग कर यह सूचित किया गया है कि ज्ञेयत्वहेतु से प्रत्यक्षविषयत्व के अनुमान में सब पदार्थ पक्ष है। यदि यह कहा जाय कि 'सभी पदार्थ को पक्ष मानने पर घट आदि का पक्ष में प्रवेश हो जाने से उन में सपक्षत्व की अनुपपत्ति होगी और यदि पक्ष में उन का प्रवेश न किया जायगा तो 'सब पदार्थ पक्ष है' यह कहना असंगत

---

१ य एकं जानाति स सर्वं जानाति ।

अथ सम्बन्धिस्वभावता पदार्थस्य स्वरूपमेव न भवति, यत् केवलं प्रत्यक्षप्रतीतं संनिहितवस्तुमात्रं स एव वस्तुस्वभावः, संबन्धिता तु तत्र पदार्थान्तरप्रतिसंधानसंभवितया परिकल्पितैव। तदुक्तम्–[ ]

"निष्पत्तेरपराधीनमपि कार्यं स्वहेतुना। संबध्यते कल्पनया किमकार्यं कथञ्चन? ॥१॥"

होगा।' तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि घट आदि का पक्ष में प्रवेश होने पर भी उन में सपक्षत्व की अनुपपत्ति नहीं होगी क्योंकि सपक्ष के लक्षण में गौरव के कारण पक्षभिन्नत्व का निवेश न कर 'जिस में साध्य का निश्चय हो वह सपक्ष होता है'-केवल इतना ही सपक्ष का लक्षण मान्य है और यह लक्षण पक्षप्रविष्ट घटादि में भी है क्योंकि उस में प्रत्यक्षत्वरूप साध्य का निश्चय है। घट आदि पक्ष में अन्तर्भूत होने पर उन में प्रत्यक्षत्व के प्रथमतः सिद्ध होने से अंशतः सिद्धसाधन की आपत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि सकल पक्ष में साध्यसिद्धि न होने के कारण सकल पक्ष में प्रत्यक्षत्व का अनुमान करने में अंशतः सिद्धसाधन दोष नहीं हो सकता; कारण, सकल पक्ष में साध्य का निश्चय ही सकल पक्ष में साध्यानुमिति का विरोधी होता है।

[एक पदार्थ के परिपूर्ण ज्ञान से सर्वज्ञता]

सच बात तो यह है कि एक पदार्थ का तत्त्वतः पूर्णरूप से दर्शन भी सभी पदार्थों के दर्शन बिना नहीं होता, अतः एक पदार्थ के दर्शन से सब पदार्थों का दर्शन अनुमानगोचर है। एकपदार्थ के दर्शन में समस्त पदार्थ के दर्शन का अविनाभाव जैनशास्त्र आचारांगके एकवचन से सिद्ध है। वह वचन है 'जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ'=जो एक पदार्थ को जानता है वह समग्रपदार्थ को जानता है।' इस वचन का अनुसरण करनेवाले जैन सम्प्रदाय के पूर्वाचार्योंने इस वचन के अर्थ को इस प्रकार निश्चित किया है कि-'जिस पुरुषने एकभाव-पदार्थ को पूर्णरूप से देख लिया-प्रत्यक्ष कर लिया उसने सब पदार्थों को देख लिया-प्रत्यक्ष कर लिया। एवं जिसने सब भावों को समग्ररूप से देख लिया उसीने एकभाव को तत्त्वतः=पूर्णरूप से प्रत्यक्ष किया।'-व्याख्याकार कहते हैं कि यह बात युक्तियुक्त भी है क्योंकि एकपदार्थ अनुगत और व्यावृत्त-स्वाश्रित एवं स्वानाश्रित धर्म द्वारा समस्त पदार्थों का सम्बन्धी होता है। 'सब पदार्थों का सम्बन्धी होना' प्रत्येक पदार्थ का स्वभाव है, अतः सब पदार्थों के ज्ञान के बिना सब पदार्थों से सम्बद्ध स्वभाव के रूप में किसी एक पदार्थ का भी ज्ञान नहीं हो सकता। सब पदार्थों को बिना जाने किसी एकपदार्थ को देखकर जो लोक में यह व्यवहार प्रचलित है कि 'इस पदार्थ को मैंने तत्त्वतः देख लिया' यह केवल शब्दमात्र है, उसका कोई अर्थ नहीं है क्योंकि सब पदार्थों को जाने बिना किसी एकपदार्थ का तत्त्वतः दर्शन असंभव है।

[सम्बन्धिस्वभावता पदार्थ का स्वरूप नहीं है–शंका]

यदि यह कहा जाय कि-"सम्बन्धिस्वभावता पदार्थ का स्वरूप नहीं होता किन्तु जो वस्तु जिस पदार्थ में प्रत्यक्ष प्रतीत होती है एवं सन्निहित यानी उस में विद्यमान होती है केवल वही वस्तु उस पदार्थ का स्वभाव होती है। सम्बन्धिता ऐसी नहीं है क्योंकि वह अन्य पदार्थ के ज्ञान से गृहीत होती है, अतः वह पदार्थ में कल्पित होती है, उसको स्वभाव नहीं कह सकते। विद्वानों ने इस बात को इस प्रकार कहा है कि-कार्य अपराधीन होते हुये भी अपने हेतु से निष्पन्न होने के कारण कल्पना द्वारा केवल उसी से सम्बद्ध होता है। अतः जो जिस का कार्य नहीं है वह कल्पना द्वारा भी उस से कैसे सम्बद्ध हो सकता है? आशय यह है कि-

इति चेत् ? अयुक्तमेतत्, इत्थं कल्पनायां स्वरूपमात्रसंवेदनादद्वैतपर्यवसाने व्यवहारोच्छेदात्, तद्भिया बहिष्पदार्थाभ्युपगमे च तन्नियतसर्वसंबन्धिताया अप्यवश्याभ्युपेयत्वात्; अन्यथा नियतस्वरूपासिद्धेः। न चातिरिक्तैव सर्वसंबन्धिता न तु स्वाऽपृथग्भूतेति वाच्यम्; अत्यन्तभेदे संबन्धाऽभावात्, भावे वाऽनवस्थानात्। तथा च तत्पदार्थपरिज्ञाने तस्य विशेषणभूता सर्वसंबन्धितापि ज्ञातैव, केवलमस्मदादिज्ञाने तद्विषयत्वमनुमीयते। अनुमेयं ह्यनभ्यासदशायामितरपदार्थसंबन्धित्वम्, अभ्यासदशायां तु यत्र क्षयोपशमलक्षणोऽभ्यासस्तद(? त्र)ग्न्यादिजन्यत्वरूपमग्न्यादिसंबन्धित्वं धूमादेः प्रत्यक्षतोऽपि प्रतीयते। इत्थं च 'विश्वं कस्यचित् घटसाक्षात्कारविषयः, घटसंबन्धित्वस्वभावात्, एतद्भूतलवत्' इत्यनुमानमपि सर्वज्ञे सर्वपदाक्षिप्तं द्रष्टव्यम्। विषयता च विषयांशे स्पष्टताख्याऽभिमता, तेन नास्मदादिना सिद्धसाधनम्, अर्थान्तरं वा। न चात्र घटसाक्षात्कारनियतसाक्षात्कारसामग्रीक-

---

जिन वस्तुओं से किसी कार्य की उत्पत्ति होती है उन वस्तुओं के साथ तो कार्य के सम्बन्ध की कल्पना आवश्यक है क्योंकि असम्बद्ध वस्तुओं से कार्य की उत्पत्ति मानने पर सब वस्तुओं से सब कार्यों की उत्पत्ति का प्रसंग हो सकता है। किन्तु जो पदार्थ जिस का कार्य नहीं है उस के साथ उस के सम्बन्ध की कल्पना निर्युक्तिक है। अतः सर्वपदार्थसम्बन्धिता किसी पदार्थ का स्वभाव नहीं हो सकती क्योंकि पदार्थ को सर्वपदार्थसम्बन्धी मानने में कोई युक्ति नहीं है-"

[शंका का प्रत्युत्तर]

तो यह कथन असंगत है, क्योंकि पदार्थ के सम्बन्ध में ऐसी कल्पना करने पर पदार्थ के स्वरूप मात्र का ही प्रत्यक्ष होगा क्योंकि पदार्थ के स्वरूप से अतिरिक्त उसका और कोई स्वभाव सिद्ध नहीं होता। फलतः अद्वैतमात्र में पदार्थ का पर्यवसान हो जाने से लोकव्यवहार का उच्छेद हो जायगा, क्योंकि उस की उपपत्ति पदार्थों के परस्पर भेद पर ही निर्भर है। यदि व्यवहार लोप के भय से बाह्यपदार्थ की सत्ता स्वीकार की जायगी तो बाह्यत्व से उस की नियतसर्वसम्बन्धिता भी अवश्य स्वीकार करनी होगी क्योंकि उसके बिना बाह्यवस्तु के नियत स्वरूप की सिद्धि नहीं हो सकती।

कहने का आशय यह है कि-जो भी बाह्य वस्तु होती है वह किसी न किसी रूप में अन्य समस्त पदार्थों से सम्बद्ध होती है। जैसे एक घट, दण्ड-चक्र आदि से जन्य होने से, उन से सम्बद्ध होता है। जलाहरण आदि प्रयोजनों का साधक होने से उन प्रयोजनों से सम्बद्ध होता है। अपना उपयोग करने वाले पुरुषों के सुखादि का साधक होने से उन पुरुषों से भी सम्बद्ध होता है। और जिन पदार्थों के साथ इसप्रकार का कोई सम्बन्ध नहीं है उन पदार्थों से विलक्षण होने के कारण वैलक्षण्य द्वारा उन सब पदार्थों से भी सम्बद्ध होता है। इसप्रकार एकपदार्थ का नियतस्वरूप सिद्ध होता है। सर्वसम्बन्धिता भी प्रत्येक वस्तु के अस्तित्व के साथ नियत होने से प्रत्येक वस्तु की अस्तिता उस की सर्वसम्बन्धिता की अनुमापक हो जाती है।

[सर्वसम्बन्धिता यह पदार्थ से सर्वथा अतिरिक्त नहीं है]

यदि यह कहा जाय कि-'उक्तरीति से पदार्थ में सर्वसम्बन्धिता की सिद्धि भले हो, किन्तु वह पदार्थ से अतिरिक्त ही होती है। पदार्थ से अपृथक्भूत यानी 'पदार्थ के स्वरूप में अनुप्रविष्ट'

नहीं होती, अतः पदार्थस्वरूप के लक्षण में उस के दर्शन की अपेक्षा न होने से एक के दर्शन से सर्वदर्शन की सिद्धि नहीं हो सकती[1]-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि सर्वसम्बन्धिता को पदार्थ से अत्यन्तभिन्न मानने पर पदार्थ के साथ उस का सम्बन्ध नहीं हो सकता क्योंकि अत्यन्तभिन्न पदार्थों में सम्बन्ध माना जायगा तो जैसे पदार्थ में उसके स्वरूप से बहिर्भूत सर्वसम्बन्धिता का सम्बन्ध होगा उसी प्रकार उस सम्बन्ध का भी सम्बन्ध और उस का भी सम्बन्ध स्वीकार करना होगा, फलतः सम्बन्धकल्पना में अनवस्था की प्रसक्ति होगी। इसलिये किसी पदार्थ का परिज्ञान होने पर उस के विशेषणभूत सर्वसम्बन्धिता का भी परिज्ञान होता ही है यह मानना पड़ेगा। इस प्रकार सर्वज्ञ के ज्ञान में प्रत्येक पदार्थ में सर्वसम्बन्धिता का ग्राहकत्व सिद्ध है। केवल अन्य मनुष्यों के ज्ञान में सर्वसम्बन्धिताविषयकत्व की सिद्धि में अनुमान अपेक्षणीय है। यह अनुमान भी केवल अनभ्यासदशा में ही अपेक्षित है, अभ्यासदशा में नहीं, क्योंकि जिस वस्तु का अभ्यास होता है वह वस्तु प्रत्यक्ष से गृहीत हो जाती है क्योंकि प्रत्यक्षयोग्यता वस्तुमात्र में होती है। कर्मों के आवरण के नाते प्रत्येक वस्तु का प्रत्यक्ष नहीं होता, किन्तु जब किसी वस्तु का अभ्यास होता है-उपाय द्वारा उस वस्तु के कर्मावरण का क्षयोपशम हो जाता है-तब उस वस्तु का प्रत्यक्ष होने लगता है। जैसे धूम में अग्निआदिजन्यत्वरूप अग्नि आदि सम्बन्धित्व, अपने प्रत्यक्ष के विरोधी कर्मावरण का क्षयोपशमरूप अभ्यास हो जाने पर धूम में प्रत्यक्षगृहीत होता है, धूम में उसके अनुमान की अपेक्षा नहीं होती।

[सर्वज्ञसाधक अनुमान]

इस प्रकार कारिका में प्रदर्शित सर्वज्ञानुमान में पक्ष को 'सर्व' पदार्थ से विशेषित कर देने से सर्वज्ञसाधक अनुमान का यह स्वरूप निखरता है कि 'विश्व किसी पुरुष के घटग्राहकसाक्षात्कार का विषय है, क्योंकि घटसम्बन्धित्वरूप स्वभाव से युक्त है। जो जिस पदार्थ के सम्बन्धित स्वभाव से युक्त होता है वह उस वस्तु के साक्षात्कार का विषय होता है। जैसे घटसम्बन्धित्वस्वभाव से युक्त भूतल, घट को विषय करनेवाले 'घटवद् भूतलम्=भूतल घटसम्बन्धी है' इस साक्षात्कार का विषय होता है। विश्व, घट में विद्यमान व्यावृत्ति=भेद का प्रतियोगी है अतः घटनिष्ठभेदप्रतियोगित्वरूप घटसम्बन्धित्व विश्व में विद्यमान है, अतः जैसे घटसम्बन्धी भूतल घटसाक्षात्कार का विषय होता है उसी प्रकार घटसम्बन्धी विश्व को भी घटसाक्षात्कार का विषय होना आवश्यक है। इस अनुमान में, विश्व में जो घटसाक्षात्कार की विषयता साध्य है वह विषयता स्पष्टतारूप अभिमत है क्योंकि विषयतासामान्य को साध्य मानने पर सिद्धसाधन होगा, वह इस प्रकार कि सामान्य मनुष्य को भी घटसाक्षात्कार में घटसम्बन्धी विश्व का अस्पष्ट भान होता है, क्योंकि जब घट के साथ विश्व का सम्बन्ध है तो घट का भान होने पर तत्सम्बन्धि विश्व का कुछ भान होना स्वाभाविक है। और जिन के मत में घटसाक्षात्कार में विश्व का अस्पष्ट भान नहीं होता उन के मत में सिद्धसाधन न होने पर भी अर्थान्तर का होना अपरिहार्य है क्योंकि घटसाक्षात्कार में विश्व का अस्पष्ट भान मान लेने पर उक्त अनुमान की सफलता हो जाने पर भी उस के द्वारा विश्व के स्पष्टद्रष्टा सर्वज्ञ की सिद्धि नहीं हो सकती। अतः उक्त अनुमान में साध्यकुक्षि में स्पष्टतारूपविषयता का ही निवेश आवश्यक है।

त्वमुपाधिः, अभ्यासेन घटसाक्षात्कारविषयायां दण्डजन्यतया दण्डसंबन्धितायां व्यभिचारेण साध्याव्यापकत्वात् । एवमस्मदादीनां घटसाक्षात्कारो विश्वसंबन्धितांशे दोषप्रतिबद्धः, तद्ग्राहित्वे सति तद्धर्माग्राहित्वात्, श्वैत्याग्राहिशङ्खप्रत्यक्षवत् । न चात्र दृष्टान्ते साध्यवैकल्यम्, शङ्खप्रत्यक्षस्य श्वैत्यांशे दोषाऽप्रतिबद्धत्वात्, श्वैत्याभावज्ञानेनैव श्वैत्यज्ञानानुदयात्, श्वैत्याभावग्रहजनकदोषस्य श्वैत्यज्ञानप्रतिबन्धकत्वे विनश्यदवस्थदोषेण यत्र श्वैत्याभावग्रहो जनितस्तत्र श्वैत्याभावज्ञानोत्पत्त्यनन्तरं श्वैत्यज्ञानोत्पत्तिप्रसङ्गादिति वाच्यम्; तदा बाह्यदोषापगमेऽप्यान्तरदोषानपगमात् आन्तरदोषापगमस्य कार्यैकोन्नेयत्वात्, इतरहेतूनां तदपगम एव व्यापारात्, तस्य च दोषस्य क्वचित् पित्तादिवदेवापगमात्; सिध्यति सर्वज्ञः । तदिदमाह—इति हेतोः नानुमानं न विद्यते—किन्तु विद्यत एव सर्वज्ञेऽनुमानम् ॥१४॥

[हेतु में उपाधि की शंका का निरसन]

इस अनुमान के सम्बन्ध में यह नहीं कहा जा सकता कि-"घटसाक्षात्कार में उसी पदार्थ का भान होता है जिस के साक्षात्कार की सामग्री, घटसाक्षात्कार की सामग्री के साथ नियम से उपस्थित होती है । अतः 'घटसाक्षात्कारसामग्रीनियतसाक्षात्कारसामग्रीकत्व' उपाधि है क्योंकि यह घटसाक्षात्कारविषयत्वरूप साध्य की व्यापक है और जिस पदार्थ के साक्षात्कार की सामग्री घटसाक्षात्कार की सामग्री के साथ नियम से नहीं उपस्थित होती ऐसे घटसम्बन्धी पदार्थ में घटसम्बन्धित्वभावत्वरूप साधन की अव्यापक है" । -क्योंकि घट के दण्डजन्य होने से घट में दण्डसम्बन्धिता होती है और वह अपने साक्षात्कार के लिये अन्य सामग्री का सन्निधान न होने पर भी अभ्यासवश घटसाक्षात्कार का विषय होती है, अतः घटसाक्षात्कारसामग्रीनियतसामग्रीकत्वरूप उपाधि घटनिष्ठदण्डसम्बन्धिता में घटसाक्षात्कारविषयत्व रूप साध्य की अव्यापक है, व्यापक नहीं है ।

[किसी एक घटसाक्षात्कार में विश्वविषयकत्व की सिद्धि]

इस अनुमान के सम्बन्ध में यह शङ्का कि-'घटसम्बन्धित्वभावता से विश्व में घटसाक्षात्कारविषयता का साधन नहीं हो सकता, क्योंकि सामान्य मनुष्य का जो घटसाक्षात्कार सिद्ध है उस की स्पष्टताख्यविषयता विश्व में नहीं है और यदि प्रसिद्ध घटसाक्षात्कार से अन्य साक्षात्कार की विषयता का साधन किया जायगा तो साध्याप्रसिद्धि होगी' । -नहीं की जा सकती, क्योंकि उक्त अनुमान में किसी विशेष घटसाक्षात्कार का साध्यकुक्षि में प्रवेश नहीं है किन्तु घटसाक्षात्कार सामान्य का प्रवेश है । अतः सामान्य मनुष्य के घटसाक्षात्कार में दोषवश विश्व का भान न होने पर भी दोषमुक्त किसी पुरुष के साक्षात्कार में विश्व का स्पष्ट भान संभव होने से उक्त अनुमान में कोई बाधा नहीं है ।

सामान्य मनुष्य के घटसाक्षात्कार में विश्व का अस्पष्ट भान दोषवश नहीं होता यह बात अनुमान से सिद्ध है । अनुमान का प्रयोग इस प्रकार है कि-'सामान्य मनुष्यों का घटसाक्षात्कार विश्वसम्बन्धिता अंश में दोष से प्रतिबद्ध है क्योंकि घट का ग्राहक होने पर भी उस के विश्वसम्बन्धितारूप धर्म का ग्राहक नहीं है । जो साक्षात्कार जिस वस्तु का ग्राहक होते हुये भी उस के जिस धर्म का ग्राहक नहीं होता उस धर्मांश में वह दोष से प्रतिबद्ध होता है जैसे-श्वेतरूप को ग्रहण न करनेवाला 'शंखः पीतः=शंख पीला है' यह साक्षात्कार शंख का ग्राहक

आगमादपि तत्सिद्धिरित्याह–

आगमादपि तत्सिद्धिर्यदसौ चोदनाफलम् । प्रामाण्यं च स्वतस्तस्य नित्यत्वं च श्रुतेरिव ॥१५॥

होते हुये भी शंख के श्वेतता धर्म का ग्राहक न होने से श्वेतता अंश में पीतदोष से प्रतिबद्ध होता है ।

['शंखः पीतः' इस दृष्टान्त में साध्यशून्यता की शंका]

यदि यह कहा जाय कि-'शंखः पीतः=शंख पीला है' इस प्रत्यक्षरूप दृष्टान्त में साध्य का अभाव है क्योंकि श्वेतता के अभाव का ज्ञान होने से ही श्वेतताज्ञान का प्रतिबन्ध हो जाने के कारण उस में श्वेतताअंश में दोषप्रतिबद्धता असिद्ध है । कहने का आशय यह है कि– 'शंखः पीतः' इस प्रत्यक्ष के पूर्व 'शंखः न श्वेतः' इस प्रकार शंख में श्वेतता के अभाव का ज्ञान होता है । यह ज्ञान ही शंख में श्वेत्यज्ञान का प्रतिबन्धक होता है । पीतत्वग्रह का जनक दोष उस का प्रतिबन्धक नहीं होता, वह तो पीतत्वज्ञान के समान श्वेतता के अभाव के ज्ञान को उत्पन्न करता है । यदि उस दोष को ही श्वेतताज्ञान का प्रतिबन्धक माना जायगा तो जब विनश्यदवस्थ (नाशाभिमुख) दोष से यानी अपने नाश के अव्यवहितपूर्वक्षण में विद्यमान दोष से, श्वेतता के अभाव का ज्ञान होगा तो उस के साथ ही दोष का नाश हो जाने से श्वेतता के अभाव ज्ञान के अनन्तर श्वेतताज्ञान की उत्पत्ति की आपत्ति होगी, अतः श्वेतताज्ञान के प्रति श्वेतता के अभावज्ञान को प्रतिबन्धक मानना आवश्यक होने से जिस दशा में दोष और श्वेतता के अभाव का ज्ञान दोनों विद्यमान हैं उस दशा में भी श्वेतता के अभावज्ञान को ही श्वेतताज्ञान का प्रतिबन्धक मानना उचित है ।'–

[शंका का प्रत्युत्तर]

तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि जहाँ विनश्यदवस्थदोष से श्वेतता के अभाव का ज्ञान होता है वहाँ श्वेतता के अभाव के ज्ञान के उत्पत्तिकाल में विनश्यदवस्थ बाह्यदोष का नाश हो जाने पर भी आन्तरदोष का नाश नहीं होता, क्योंकि आन्तरदोष का नाश केवल कार्य से ही अनुमित होता है और यहाँ आन्तरदोष के नाश का कोई कार्य ज्ञात नहीं होता । दूसरी बात यह है कि जिन हेतुओं से बाह्यदोष की निवृत्ति होती है उन हेतुओं से आन्तरदोष की निवृत्ति नहीं होती क्योंकि ये हेतु बाह्यदोष के नाश के लिए ही सक्रिय होते हैं आन्तरदोष के नाश के लिये नहीं । अतः सामान्य मनुष्य के घटसाक्षात्कार में विश्व के स्पष्ट भान का विरोधी आन्तरदोष, पित्त आदि दोष के समान, जिस पुरुष में नष्ट हो जाता है उस पुरुष के घटसाक्षात्कार में विश्व का स्पष्ट भान होने से, वह पुरुष उक्त अनुमान द्वारा सर्वज्ञ सिद्ध होता है । इसी बात को कारिका में 'इति नानुमानं न विद्यते' इस भाग से निषेधमुख से कहा गया है । जिस का अर्थ यह है कि—

सर्वज्ञ साधक अनुमान नहीं है यह बात नहीं किन्तु सर्वज्ञ साधक उक्त अनुमान अक्षुण्ण है ॥१४॥

[आगमप्रमाण से सर्वज्ञसिद्धि]

१५ वीं कारिका में यह बताया गया है कि आगम (जैनागम) से भी सर्वज्ञ की सिद्धि हो सकती है । कारिका का अर्थ इस प्रकार है—

आगमादपि **तत्सिद्धिः**=सर्वज्ञसिद्धिः **यत्**=यस्मात् **असौ**=सर्वज्ञः, **चोदनाफलम्**=विध्युद्देश्यः, 'स्वर्ग–केवलार्थिना तपः कर्तव्यम्' इत्यादि तपःप्रभृतिकर्मविधीनां स्वर्गांश इव केवलांशेऽपि फले प्रामाण्यात् । अथवा **चोदनाफलम्**=चोदनैकवाक्यागमबोधित इत्यर्थः, तथा च "स्वर्गकामो यजेत" इत्यादिविध्येकवाक्यतया "यन्न दुःखेन संभिन्नम्" इत्यादेरिव "आत्मानं पश्येत्" इत्यादिविध्येकवाक्यतया 'स सर्वज्ञ....' इत्यादेरपि स्वार्थे प्रामाण्यमविरुद्धमिति भावः । समर्थयिष्यते चाविशेषेण सर्वेषामेवार्थवादानां प्रामाण्यमिति मा त्वरिष्ठाः ।

श्रुतितुल्यत्वमस्य व्यवस्थापयति—प्रामाण्यं च **तस्य**=सर्वज्ञस्य, **स्वतः**=स्वातिरिक्तानपेक्षोत्पत्तिकत्वात्; नित्यत्वं च दोषक्षयाविर्भूतत्वात् **श्रुतेरिव**=वेदस्येव । इदमभ्युच्चयेनोक्तम् ।

वस्तुत उत्पत्तौ सर्वत्र परत एव प्रामाण्यम् । प्रमाणं चात्र—'प्रामाण्यं ज्ञानहेत्वतिरिक्तहेत्व-

---

आगम से भी सर्वज्ञ की सिद्धि हो सकती है क्योंकि सर्वज्ञ चोदना का फल है, अर्थात् विधिवाक्य का उद्देश्य है। तात्पर्य, सर्वज्ञ होने के उद्देश्य से कर्मविशेष का विधान है, जैसे 'स्वर्ग–केवलार्थिना तपः कर्त्तव्यम' इत्यादि विधिवाक्य स्वर्ग और कैवल्य=सर्वज्ञता चाहनेवाले मनुष्य के लिये तप आदि कर्मों का विधान करते हैं । ये वाक्य जैसे स्वर्ग अंश में प्रमाण हैं उसी प्रकार कैवल्य-सर्वज्ञ अंश में भी प्रमाण हैं। अथवा कारिका में आये 'चोदनाफलम' शब्द का अर्थ है-विधिवाक्य के साथ एकवाक्यतापन्न शास्त्र से बोधित। इस अर्थ के अनुसार कारिका के पूर्वार्ध का यह अर्थ फलित होता है कि विधिवाक्य के साथ एकवाक्यतापन्न आगमवचन से बोध्य होने के कारण, आगम से भी सर्वज्ञ सिद्ध है। आशय यह है कि-

जैसे-'स्वर्गकामो यजेत=स्वर्ग का इच्छुक पुरुष यज्ञ करे। इस विधि वाक्य के साथ एकवाक्यता होने से "यन्न दुःखेन संभिन्नं, न च ग्रस्तमनन्तरम्, अभिलाषोपनीतं च तत्सुखं स्वःपदास्पदम्॥ अर्थः- जो सुख, दुःख से मिश्रित नहीं है, परिणाम में भी दुःख से अनुविद्ध नहीं है एवं इच्छामात्र से अनायास प्राप्त होता है वह सुख स्वर्गपद का प्रतिपाद्य है" यह वाक्य, विधिवाक्य में आये स्वर्गपद के उक्त अर्थ में प्रमाण है—उसी प्रकार 'आत्मानं पश्येत्=आत्मा का दर्शन करे' इस विधिवाक्य के साथ एकवाक्यता होने से 'स सर्वज्ञः स सर्ववित्'...इत्यादि-वचन विधिवाक्य में आये आत्मशब्द से विवक्षित सर्वज्ञरूप स्वप्रतिपाद्य अर्थ में प्रमाण है। अतः विधिवाक्य के समान सिद्धार्थक वाक्य को भी प्रमाण मानने में कोई विरोध नहीं है। 'सभी अर्थवादवाक्य निर्विशेष-समान होने से प्रमाण होते हैं' इस बात का समर्थन यथासमय आगे किया जायगा. उस के लिये अभी त्वरा दिखाना उचित नहीं है ।

कारिका के उत्तरार्ध में सर्वज्ञ में वेद की समानता बताई गई है। उस का आशय यह है कि मीमांसकमत में जैसे वेद स्वतः प्रमाण और नित्य है उसी प्रकार जैन मत में सर्वज्ञ भी स्वतः प्रमाण और नित्य है। स्वतः प्रमाण इसलिये है कि, जिस की उत्पत्ति किसी अतिरिक्त हेतु की अपेक्षा से होती है उस से वह भिन्न है। नित्य इसलिये है कि, ज्ञानावरण कर्मरूप दोष के क्षय होने से उस का आविर्भाव होता है, उत्पत्ति नहीं होती। सर्वज्ञ में प्रामाण्य और नित्यत्व अभ्युच्चय से कहा गया है। अभ्युच्चय से-कहने का एक अर्थ यह है कि प्रामाण्य और नित्यत्व दोनों का सर्वज्ञ में अस्तित्वरूप एक किया से अन्वय बताया गया है। यह कथन अभ्युच्चय कथनरूप है क्योंकि एक किया से दो पदार्थों के सम्बन्धप्रतिपादन को अभ्युच्चय कहा जाता है। अथवा, अभ्युच्चय यानी अभ्युपगमवाद से कथन ।

धीनम्, ज्ञानत्वे सति कार्यत्वात्, अप्रामाण्यवदि'ति । यदि पुनः प्रामाण्यं ज्ञानसामान्यहेतुमात्राधीनं भवेत् तदाऽप्रमापि प्रमा स्यात् । न खलु तत्र ज्ञानसामान्यहेतुर्न विद्यते, तदनुत्पत्तिप्रसङ्गात् । अथ तत्र ज्ञानहेतुसंभवेऽप्यतिरिक्तदोषानुप्रवेशादप्रामाण्यमिति चेत् ? तर्हि दोषाभावमधिकमासाद्य प्रामाण्यमुपजायते, नियमेन तदपेक्षणात् । 'भावहेतुमधिकं नापेक्षते प्रामाण्यमि'ति चेत् ? न, विशेषादर्शनाद्यभावस्य प्रत्यक्षे, अनुमाने च विपर्यासादिदोषाभावातिरिक्तस्य नियमगुणस्यापेक्षणात् । अन्यथा 'शब्दो नित्यः, प्रमेयत्वात्' इत्यादौ प्रमानुमितिप्रसङ्गात् । 'अस्त्वन्यत्र तथा, शब्दे तु विप्रलिप्सादिदोषाभावे वक्तृगुणापेक्षा प्रामाण्यस्य नास्ती'ति चेत् ? अवद्यमेतत्, वक्तृगुणाभावे तत्राऽप्रामाण्यस्य वक्तृदोषापेक्षा नास्तीति विपर्ययस्यापि सुवचत्वात् । 'अप्रामाण्यं प्रति दोषाणामन्वय–व्यतिरेकौ स्तः'

[उत्पत्ति में प्रामाण्य परतः]

सच बात यह है कि उत्पत्ति में सर्वत्र प्रामाण्य परप्रयुक्त ही होता है अर्थात् प्रमा की उत्पत्ति सर्वत्र ज्ञानसामान्य के हेतु से अतिरिक्त हेतु द्वारा ही होती है और यह बात अनुमान प्रमाण द्वारा सिद्ध है, अनुमान का प्रयोग इस प्रकार है—

प्रामाण्य=प्रमा, ज्ञानसामान्य के हेतु से अतिरिक्त हेतु द्वारा जन्य है क्योंकि यह ज्ञानात्मक कार्य है, जो ज्ञानात्मक कार्य होता है वह सब ज्ञानसामान्य के हेतु से अतिरिक्त हेतु द्वारा उत्पन्न होता है, जैसे अप्रमारूप ज्ञानात्मक कार्य ज्ञानसामान्य के हेतु से अतिरिक्त दोषरूप हेतु से उत्पन्न होता है। यदि प्रमा ज्ञानसामान्य के हेतुओं से ही उत्पन्न होगी तो अप्रमा भी प्रमा हो जायगी क्योंकि वह भी ज्ञानसामान्य के हेतुओं से तो उत्पन्न होती ही है। यदि ज्ञानसामान्य के हेतुओं से उस की उत्पत्ति न होगी तो उस की अनुत्पत्ति का प्रसंग होगा, क्योंकि अप्रमा एक विशेषज्ञान है, सामान्यज्ञान के हेतुओं के अभाव में उस की उत्पत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि विशेष कार्य की उत्पत्ति में सामान्य कार्य की सामग्री अपेक्षित होती है।

[प्रामाण्य में अतिरिक्त हेतुओं की आवश्यकता]

यदि यह कहा जाय कि-'अप्रमास्थल में ज्ञानसामान्य के हेतुओं की उपस्थिति होने पर भी उतने मात्र से ही अप्रमा की उत्पत्ति नहीं होती किन्तु ज्ञानसामान्य की सामग्री में अतिरिक्त दोष का प्रवेश होने से अप्रमा की उत्पत्ति होती है'-तो ऐसी बात प्रमा के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। जैसे, यह कहा जा सकता है कि प्रमा की भी उत्पत्ति ज्ञानसामान्य के हेतुओं से अतिरिक्त दोषाभाव का सन्निधान होने पर ही होती है, क्योंकि प्रमा की उत्पत्ति में दोषाभाव का सन्निधान सदा अपेक्षित होता है। यदि अप्रमा और प्रमा में यह अन्तर बताया जाय कि-'अप्रमा की उत्पत्ति में ज्ञानसामान्य के हेतु से अतिरिक्त दोषरूप 'भावात्मक' हेतु की अपेक्षा होती है किन्तु प्रमा में किसी अतिरिक्त भावात्मक हेतु की अपेक्षा नहीं होती'-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि प्रत्यक्षप्रमा में विशेषादर्शनाभावरूप दोष का (विशेषदर्शनस्वरूप) अभाव अपेक्षित होता है जो भावात्मक है। एवं अनुमानप्रमा में विपर्यास-हेतु में साध्यव्याप्ति एवं पक्षधर्मता के भ्रमआदिरूप दोष के अभाव से अतिरिक्त हेतु में साध्यव्याप्ति के यथार्थज्ञानरूप गुण की अपेक्षा होती है। अनुमानप्रमा में यदि व्याप्तिप्रमारूप गुण की अपेक्षा न मानी जायगी तो प्रमेयत्व हेतु से शब्द में नित्यत्व की प्रमात्मक अनुमिति की आपत्ति होगी।

इति चेत्? प्रामाण्यं प्रति गुणानामपि किं न तौ?। 'अननुगतानां गुणानां प्रमासामान्ये न हेतुत्वमि'ति चेत्? अननुगतानां दोषाणामप्रमासामान्येऽपि न हेतुत्वमिति तुल्यम्। 'यद्विशेषेऽतिरिक्तहेत्वपेक्षत्वम् यद्विशेषे.... इत्यादि न्यायोऽपि चोभयत्र तुल्यः। 'न तुल्यः, शङ्खश्वैत्यादिप्रमाविशेषे पित्ताभावाद्यतिरिक्तगुणादर्शनादि'ति चेत्? न, अदर्शनेऽपि तत्र सम्यगुपयोगादिरूपगुणकल्पनात्, अन्यथा देहाऽऽत्माभेदभ्रमेऽपि सम्यग्दर्शनरूपगुणाभावातिरिक्तदोषाऽदर्शनाद् मिथ्याज्ञानवासनारूपं दोषकल्पनं न स्यादिति द्रष्टव्यम्। वस्तुतो दृश्यत एवेन्द्रिये पित्तादिदोषवद् नैर्मल्यादिको गुणोऽपि! न च नैर्मल्यमिन्द्रियस्वरूपमेव, दोषेऽप्येवं सुवचत्वात्, जातमात्रस्याप्युभयरूपदर्शनात्, अनुभवभेदस्तूभयत्र परिणतिभेदे तुल्य इति दिक्।

[शब्द के प्रामाण्य में भी गुणों की अपेक्षा]

यदि यह कहा जाय कि-'अन्यत्र जैसा भी होता हो-होने दो, किन्तु शब्द में ठगने की इच्छा आदि दोष न होने पर प्रमा की उत्पत्ति हो सकती है। उस में वक्ता के वाक्यार्थविषयक यथार्थज्ञानरूप गुण की अपेक्षा नहीं होती'-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि 'वक्तृगुण के अभाव में भी अप्रमा की उत्पत्ति हो सकती है, उस में वक्ता का दोष अपेक्षित नहीं है' इस प्रकार विपरीतपक्ष का भी उपन्यास संभव होने से अपौरुषेय शब्द, प्रमाण होने के बदले अप्रमाण हो जायगा।

यदि यह कहा जाय कि-'अप्रमा में दोषों के अन्वय-व्यतिरेक का अनुविधान है अतः दोष के अभाव में केवल वक्तृगुण के अभाव से अप्रमा की उत्पत्ति नहीं हो सकती'-तो ऐसी बात प्रमा के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। जैसे यह कहा जा सकता है कि प्रमा में गुणों के अन्वयव्यतिरेक का अनुविधान है अतः गुण के अभाव में केवल दोषाभाव से प्रमा की उत्पत्ति नहीं हो सकती।

यदि यह कहा जाय कि-'गुण अननुगत हैं अतः वे प्रमासामान्य के हेतु नहीं बन सकते'-तो ऐसी बात दोषों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। जैसे यह कहा जा सकता है कि दोष अननुगत नहीं हैं अतः वे अप्रमासामान्य के कारण नहीं हो सकते।

यदि इस न्याय की शरण ली जाय कि-'जिस के किसी एक विशेष में अतिरिक्त हेतु की अपेक्षा होती है उस के सभी विशेषों में अतिरिक्त हेतु की अपेक्षा होती है। अतः ज्ञान के अप्रमात्मक प्रत्यक्षरूपविशेष में दोष की अपेक्षा होने पर ज्ञान के सभी अप्रमारूप विशेष में दोष की अपेक्षा होने से दोष के अभाव में केवल वक्तृगुणाभाव से अप्रमा की उत्पत्ति नहीं हो सकती'-तो प्रमा के सम्बन्ध में भी इस न्याय का अवलम्बन किया जा सकता है, अर्थात् यह कहा जा सकता है कि ज्ञान के प्रत्यक्षप्रमारूप विशेष में गुण की अपेक्षा होने से ज्ञान के सभी प्रमारूप विशेषों में उक्तन्याय से गुण की अपेक्षा होगी अतः गुण के अभाव में केवल दोषाभाव से अपौरुषेय शब्द से शाब्दप्रमा की उत्पत्ति नहीं हो सकती।

यदि यह कहा जाय कि-'उक्तन्याय अप्रमा और प्रमा दोनों के सम्बन्ध में समान नहीं है, क्योंकि शंख में श्वैत्य=श्वेतता आदि की प्रमा में पित्ताभावादि से भिन्न किसी गुण की अपेक्षा नहीं देखी जाती'-तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि उक्त प्रमा में किसी बाह्यगुण का दर्शन न होने पर भी उस के कारणरूप में सम्यक् उपयोग (सावधानता) आदि आत्मगतगुण की कल्पना की

इत्थं च "अस्तु पौरुषेयविषयेयं व्यवस्था, अपौरुषेये तु दोषनिवृत्त्यैव प्रामाण्यम्" इत्यपहस्तितम्, गुणनिवृत्त्याऽप्रामाण्यस्यापि संभवात् । 'तस्याऽप्रामाण्यं प्रति सामर्थ्यं नोपलब्धमि'ति चेत् ? दोषनिवृत्तेः प्रामाण्यं प्रति क्व सामर्थ्यमुपलब्धम् ? । लोकवशादिति चेत् ? तदितरत्रापि तुल्यम् । 'लोकवचसामप्रामाण्ये दोषा एव कारणम्, गुणनिवृत्तेस्त्वसामर्थ्यमि'ति चेत् ? प्रामाण्यं प्रति गुणेष्वपि तुल्यमेतत् । 'गुणानां दोषोत्सारणप्रयुक्तः संनिधि'रिति चेत् ? दोषाणामपि गुणोत्सारणप्रयुक्तोऽसावित्यस्तु । अथैवं वेदानामपौरुषेयतया गुण–दोषयोरुभयोरप्यभावे तद्धेतुकयोः प्रामाण्या-

---

जाती है। यदि ऐसा न माना जायगा तो देह में जो आत्मा का अभेद भ्रम होता है उस में भी सम्यक्दर्शनरूप गुण के अभाव से अतिरिक्त दोष का दर्शन न होने के कारण उस के कारणरूप में मिथ्याज्ञानजन्य वासनारूप दोष की कल्पना न हो सकेगी।

[इन्द्रिय में भी दोष की तरह गुण की सत्ता भी वास्तविक]

सत्य बात यह है कि इन्द्रिय में जैसे पित्तादिदोष होता है उसी प्रकार नैर्मल्य आदि गुण भी होता है अतः यह कहना की 'शंख में श्वैत्य की प्रमा पित्त दोष के अभाव से ही उत्पन्न हो जाती है उस में गुण अपेक्षित नहीं होता' ठीक नहीं है। यदि यह कहा जाय कि 'नैर्मल्य इन्द्रिय का गुण नहीं है किन्तु इन्द्रियस्वरूप ही है' तो यह बात भी ठीक नहीं है, क्योंकि यह बात दोष के विषय में भी कही जा सकती है। जैसे यह कहा जा सकता है कि पित्त भी इन्द्रिय का दोष नहीं किन्तु इन्द्रिय स्वरूप ही है क्योंकि जैसे उत्पन्न होते ही इन्द्रिय में नैर्मल्य देखा जाता है वैसे ही उत्पन्न होते ही इन्द्रिय में पित्तदोष भी देखा जाता है अर्थात् जैसे इन्द्रियाँ जन्म से ही निर्मल होती है, वैसे ही अनेकों की इन्द्रियाँ जन्म से ही सदोष भी होती हैं। यदि यह कहा जाय कि 'उत्पन्नमात्र इन्द्रिय में नैर्मल्य का अनुभव होता है किन्तु दोष का अनुभव नहीं होता' तो यह बात भी दोष और गुण दोनों में परिणतिभेद की स्थिति में समान है। अर्थात् इन्द्रिय की निर्मल इन्द्रियरूप में परिणति होने पर जैसे इन्द्रिय के नैर्मल्य का अनुभव होता है उसी प्रकार इन्द्रिय की सदोष इन्द्रियरूप में परिणति होने पर इन्द्रियदोष का भी अनुभव होता है। अथवा परिणतिभेद का यह भी अर्थ हो सकता है कि जैसे वस्तु के यथार्थदर्शनस्वरूप इन्द्रिय की परिणति यानी इन्द्रिय का कार्य होने पर इन्द्रिय का नैर्मल्य अवगत होता है उसी प्रकार वस्तु के अयथार्थ बोधरूप इन्द्रिय की परिणति होने पर इन्द्रिय-दोष भी अवगत होता है।

[अपौरुषेय वाक्य में अप्रामाण्य की आपत्ति]

उक्त रीति से विचार करने पर यह कथन कि–'पौरुषेय वाक्य में तो वक्ता के गुण से प्रामाण्य की व्यवस्था होती है किन्तु अपौरुषेय वाक्य में दोषाभाव से ही प्रामाण्य होता है'– निरस्त हो जाता है क्योंकि अपौरुषेय वाक्य में दोषनिवृत्ति से जैसे प्रामाण्य का संभव है वैसे ही गुणनिवृत्ति से अप्रामाण्य भी संभव हो सकता है।

यदि यह कहा जाय कि–'गुणनिवृत्ति अप्रामाण्य के सम्पादन में समर्थ है यह कहीं उपलब्ध नहीं है'–तो यह भी कहा जा सकता है कि दोषनिवृत्ति प्रामाण्य के सम्पादन में समर्थ है यह कहाँ उपलब्ध है ? यदि इस के उत्तर में लोकव्यवहार में उस की उपलब्धि बतायी जाय तो ऐसा उत्तर गुणनिवृत्ति में अप्रामाण्य सम्पादन के सामर्थ्य के विषय में भी दिया जा सकता है।

ऽप्रामाण्ययोरभावाद् निःस्वभावत्वं स्यादि'ति चेत्? पामर! हन्त! एवं मिथ्यामतिसंनिपातग्रस्तमात्मानमुपालभस्व, यदमीपामकर्तृकत्वं प्रलपसि। करिष्यामोऽत्र निपुणं चिकित्साम्। ततो 'यथाक्रमं द्वेषाभावस्य रागाभावस्य चाऽविनाभावेऽपि यथा प्रवृत्तिनिवृत्तिप्रयत्नयो राग-द्वेषयोरेव हेतुत्वं तथा दोषाभावस्य गुणाभावस्य चाविनाभावेऽपि प्रामाण्य–ऽप्रामाण्ययोर्गुणदोषयोरेव हेतुत्वम्' इति वदन्ति। इत्थं च सर्वज्ञप्रमायां सम्यग्दर्शनादिगुणापेक्षणादुत्पत्तौ परतस्त्वम्, ज्ञप्तौ तु सर्वज्ञज्ञानप्रामाण्यस्य स्वाश्रयेणैव ग्रहणात् स्वतस्त्वमेव।

यदि यह कहा जाय कि–'लौकिकवाक्य के अप्रामाण्य में दोष ही कारण होते हैं। गुणनिवृत्ति उस के प्रति असमर्थ है'-तो यह बात भी प्रामाण्य के प्रति गुणों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। अर्थात् यह कहा जा सकता है कि प्रामाण्य के प्रति गुण ही कारण है। दोषनिवृत्ति प्रामाण्यसम्पादन में असमर्थ है।

यदि यह कहा जाय कि–'गुणों का सन्निधान दोषनिवृत्ति से ही होता है अतः गुण का उपजीव्य होने से दोषनिवृत्ति ही प्रामाण्य की सम्पादक होती है'-तो यह बात दोष के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। अर्थात् यह कहा जा सकता है कि दोषों का सन्निधान भी गुणाभावमूलक होता है अतः दोषसन्निधान का उपजीव्य होने से गुणाभाव ही अप्रामाण्य का सम्पादक होता है।

[अपौरुषेय वेद में निःस्वभावता की आपत्ति]

यदि यह आशंका हो कि–'वेद को अपौरुषेय मानने पर उस में गुणदोष दोनों का ही अभाव होगा अतः गुणहेतुक प्रामाण्य और दोषहेतुक अप्रामाण्य दोनों के न होने से वेद निःस्वभाव हो जायगा क्योंकि ज्ञान के विषय में शब्द के उक्त दो ही स्वभाव होते हैं'-तो इस के सम्बन्ध में व्याख्याकार का कहना है कि उक्त प्रश्न को प्रस्तुत करनेवाला व्यक्ति पामर है, एवं मिथ्याज्ञानरूप सन्निपात से ग्रस्त है। अतः उसे इस आशंका का साहस करने के लिये अपने आप को ही उपालम्भ देना चाहिए, क्योंकि वह स्वयं आगम अकर्तृक होने का प्रलाप करता है। व्याख्याकार का कहना है कि उस का यह प्रलाप जिस मिथ्याज्ञानरूपसन्निपात के कारण है उसकी चिकित्सा वे निपुणता से कर देंगे।

प्रस्तुत विचार का उपसंहार करते हुये व्याख्याकार ने विद्वानों के इस कथन का उल्लेख किया है कि जैसे प्रवृत्ति में द्वेषाभाव का एवं निवृत्ति में रागाभाव का अविनाभाव होने पर भी प्रवृत्ति के प्रति द्वेषाभाव कारण नहीं होता किन्तु राग ही कारण होता है एवं निवृत्ति में रागाभाव कारण नहीं होता किन्तु द्वेष ही कारण होता है उसीप्रकार प्रामाण्य में दोषाभाव का एवं अप्रामाण्य में गुणाभाव का अविनाभाव होने पर भी प्रामाण्य के प्रति गुण ही कारण होता है दोषाभाव कारण नहीं होता, एवं अप्रामाण्य के प्रति दोष ही कारण होता है गुणाभाव कारण नहीं होता।

उक्त रीति से विचार करने पर यह सिद्ध होता है कि सर्वज्ञ की प्रमा में सम्यग्दर्शन आदि गुण की अपेक्षा होने से उसकी उत्पत्ति तो परतः अर्थात् ज्ञानसामान्य के हेतु से अतिरिक्त हेतु से होती है किन्तु प्रमात्वरूप से उस की ज्ञप्ति स्वतः होती है क्योंकि सर्वज्ञ के ज्ञान में विद्यमान प्रामाण्य, अपने आश्रयभूत सर्वज्ञज्ञान से ही गृहीत होता है।

अत्र प्रामाण्यज्ञप्तौ स्वतस्त्व–परतस्त्वयोर्वादिनां विप्रतिपत्तिः । तत्र 'प्रामाण्यं स्वाश्रयेणैव गृह्यते' इति प्राभाकराः; 'स्वानुव्यवसायिना' इति **मुरारिमिश्राः**; 'स्वजन्यज्ञाततालिङ्गकानुमित्या' इति भाट्टाः । इत्थं च स्वतस्त्ववादिनामप्रामाण्याऽग्राहक–यावज्ज्ञानग्राहकसामग्रीग्राह्यत्वमभिमतम्, परतस्त्ववादिनां तु नैवम् । तत्र ज्ञानस्याऽस्वसंविदितत्वस्य ज्ञाततायाश्च निरासाद् मिश्रमतं भट्टमतं चासंभवदुक्तिकम् ।

[प्रभाकर–मिश्र–भट्ट के मत में स्वतः प्रामाण्य का स्वरूप]

प्रामाण्यज्ञान के स्वतस्त्व-परतस्त्व के सम्बन्ध में वादियों में मतभेद है। मीमांसा के सभी प्रस्थानों में प्रामाण्य की ज्ञप्ति में यद्यपि स्वतस्त्व ही माना गया है तथापि उन प्रस्थानों द्वारा स्वीकृत स्वतस्त्व के स्वरूप में पर्याप्त भिन्नता है। जैसे प्रभाकर प्रस्थान के अनुयायी विद्वानों का कहना है कि प्रामाण्य अपने आश्रयभूत ज्ञान से ही गृहीत होता है। मुरारिमिश्र द्वारा प्रतिस्थापित प्रस्थान के अनुगामी विद्वानों का कहना है कि प्रामाण्य अपने आश्रयभूतज्ञान के अनुव्यवसाय से गृहीत होता है। तथा कुमारिलभट्ट द्वारा प्रतिष्ठापित प्रस्थान के अनुसरणकर्ता विद्वानों का कहना है कि प्रामाण्य अपने आश्रयभूत ज्ञान से उत्पन्न ज्ञातता लिङ्ग से होनेवाली स्वाश्रयज्ञान की अनुमिति से गृहीत होता है। तीनों प्रस्थानों के इस त्रिविध स्वतस्त्व को एक शब्द संदर्भ से अभिहित किया जाता है वह शब्द है 'अप्रामाण्याऽग्राहक यावज्ज्ञानग्राहक सामग्रीग्राह्यत्व'–इस का अर्थ यह है कि—

अप्रामाण्य को ग्रहण न करनेवाली और ज्ञान को ग्रहण करनेवाली जितनी सामग्री होती है उन सभी सामग्रियों से गृहीत होना। इस के अनुसार सभी मीमांसकों का यह मत विदित होता है कि 'जिस ज्ञान का ग्रहण उस ज्ञान के अप्रामाण्य को ग्रहण न करनेवाली जितनी सामग्रियों से उत्पन्न होता है उस ज्ञान का प्रामाण्य भी उन सभी सामग्रियों से गृहीत होता है। जैसे—

[प्रभाकर और मिश्र के मत में लक्षण संगति]

प्रभाकर के मत में ज्ञान स्वप्रकाश है, उन के मत में ज्ञान की उत्पादक सामग्री ही ज्ञान की ग्राहक एवं प्रामाण्य की ग्राहक सामग्री है, अतः उसी से ज्ञान का प्रामाण्य गृहीत होता है। इसलिये उन के मत में ज्ञानमात्र "अहमिदं वस्तु प्रमिणोमि=मैं इस वस्तु की प्रमा का आश्रय हूँ" इसी आकार में ही उत्पन्न होता है। प्रभाकर का यह मत ज्ञानत्रिपुटीवाद के नाम से प्रसिद्ध है। जिस का अर्थ यह है कि प्रत्येक ज्ञान; १ ज्ञाता, २ विषय और ३ प्रमात्वरूप से अपने ज्ञानस्वरूप इन तीनों को विषय करता है।

मुरारि मिश्र के मत में ज्ञान का ग्रहण, ज्ञान का मानसप्रत्यक्षरूप अनुव्यवसाय ज्ञान से होता है। अत एव उनके मत में ज्ञान के मानसप्रत्यक्ष की सामग्री ही अप्रामाण्य की अग्राहक एवं प्रामाण्य की ग्राहक होती है। उस सामग्री से ही ज्ञानगतप्रामाण्य का ग्रहण होने से उस के मत में ज्ञान का अनुव्यवसाय 'अहमिदं प्रमिणोमि' इस रूप में ही उत्पन्न होता है। ज्ञान तो 'इदम् अमुकम् वस्तु=यह अमुक वस्तु है'–इस रूप में ही उत्पन्न होता है।

"ज्ञानधर्मत्वाज्ज्ञानप्रामाण्यं स्वत एव गृह्यताम्; अन्यथा ज्ञानत्वस्याप्यग्रहप्रसङ्गात्। न च प्रामाण्यमयोग्यम्, तद्वति तत्प्रकारकत्वरूपस्य तस्य योग्यत्वात्, प्रकारतादेर्ज्ञानरूपत्वात्" इति प्रभाकरमतमपि न रमणीयम्; स्वधर्मस्यापि सर्वस्य स्वेनाऽग्रहात्; अन्यथा सार्वज्ञ्यप्रसङ्गात्। यदि च प्रामाण्यं स्वत एव गृह्येत तदा ज्ञानप्रामाण्यसंशयो न स्यात्, ज्ञानाग्रहे धर्मिज्ञानाभावात्, तद्ग्रहे च प्रामाण्यनिश्चयात्, निश्चिते संशयायोगात्। न च निश्चितेऽपि प्रामाण्ये प्रामाणाऽप्रमाणसाधारणज्ञानत्वदर्शनादेतदुदय इति सांप्रतम्, साधक-बाधकप्रमाणाभावमवधूय समानधर्म-

[भट्ट के मत में स्वतः प्रामाण्य लक्षण संगति]

भट्ट के मत में ज्ञान अतीन्द्रिय है, वह न स्वप्रकाश है और न अनुव्यवसायवेद्य है किन्तु उस के द्वारा विषय में उत्पन्न ज्ञातता नामक धर्म से वेद्य होता है जिसे प्राकट्य और संवित्ति शब्द से भी अभिहित किया जाता है। वह प्रत्यक्ष है क्योंकि घटादि के साथ-इन्द्रिय सन्निकर्ष होने के बाद 'घटो ज्ञातः' इसप्रकार ज्ञातता के प्रत्यक्ष का होना सर्वविदित है। प्रत्यक्षसिद्ध ज्ञातता से ज्ञान की अनुमिति होती है अतः उन के मत में ज्ञातता रूप ज्ञानानुमिति की सामग्री ही अप्रामाण्य की अग्राहक है और ज्ञान की ग्राहक सामग्री है। उस सामग्री से ही ज्ञानगतप्रामाण्य गृहीत होता है। इसलिये उन के मत में 'इयं ज्ञातता स्वसमानविशेष्यक-स्वसमानप्रकारकज्ञानजन्या ज्ञाततात्वात्, अन्यज्ञाततावत्=यह ज्ञातता यद्विशेष्यक यत्प्रकारक रूप में ज्ञात होती है, तद्विशेष्यक तत्प्रकारक ज्ञान से जन्य है क्योंकि ज्ञाततारूप है, जो ज्ञातता यद्विशेष्यक यत्प्रकारकरूप में गृहीत होती है वह तद्विशेष्यक तत्प्रकारकज्ञान से जन्य होती है जैसे ज्ञानान्तर की अनुमापिका अन्य ज्ञातता। अथवा 'अहम् अमुकविशेष्यकामुकप्रकारकज्ञानवान् अमुकविशेष्यकामुकप्रकारकज्ञाततावत्त्वात्=मैं अमुकविशेष्यक अमुकप्रकारक ज्ञान का आश्रय हूँ क्योंकि अमुकविशेष्यक अमुकप्रकारक ज्ञातता के प्रत्यक्ष से साध्य उस के व्यवहार का कर्त्ता हूँ' इस अनुमिति की सामग्री ही अप्रामाण्य की अग्राहक और ज्ञान की ग्राहक सामग्री है। इस सामग्री से ही अनुमेय ज्ञान में विद्यमान प्रामाण्य का ग्रहण होता है। अतः उक्त अनुमिति में ज्ञान का ज्ञानत्वरूप से भान न होकर प्रमात्वरूप से भान होता है। अत एव पहली अनुमिति का आकार 'इयं ज्ञातता स्वसमानविशेष्यक-स्वसमानप्रकारक प्रमाजन्या' और दूसरी अनुमिति का आकार 'अहम् अमुकविशेष्यक-अमुकप्रकारक-प्रमावान्' इस प्रकार होता है।

उक्त चर्चा के अनुसार मीमांसा के उक्त तीनों प्रस्थानों की ओर से यह पक्ष प्रस्तुत होता है कि प्रामाण्य, 'अप्रामाण्य की अग्राहक, ज्ञान की ग्राहक यावत् सामग्री' से ग्राह्य है और परतस्त्ववादी नैयायिक की ओर से उक्त पक्ष के विपरीत यह पक्ष प्रस्तुत होता है कि-

प्रामाण्य, अप्रामाण्य के अग्राहक और ज्ञान के ग्राहक यावत् सामग्री से ग्राह्य नहीं है। उन का आशय यह है कि उत्पन्नज्ञान का अनुव्यवसाय तो होता है, किन्तु अनुव्यवसाय से गृहीत ज्ञान में प्रामाण्य-अप्रामाण्य का संशय होने पर उस ज्ञान से उत्पन्न प्रवृत्ति के साफल्य-वैफल्य से अनुमान द्वारा प्रामाण्य अथवा अप्रामाण्य का ग्रहण होता है, अतः उन के मत में प्रामाण्य की ज्ञप्ति में स्वतस्त्व नहीं होता किन्तु परतस्त्व होता है।

मीमांसा के उक्त तीनों मतों में, मिश्र और भट्ट मत के समर्थन की असंभाव्यता अनायास विदित हो जाती है, क्योंकि ज्ञान में 'स्वसंविदितत्वरूप स्वप्रकाशत्व' का अभाव जो मिश्र

को मान्य है, एवं भट्ट को विषय में जो ज्ञानजन्य ज्ञातता अभिमत है, उन दोनों का निरास युक्तिसिद्ध है ।

[प्रभाकर के मत का निरसन]

प्रभाकर का मत है कि प्रामाण्य ज्ञान का धर्म है इसलिये उस का स्वतः ग्रहण होता है। यदि ज्ञान का धर्म होते हुये भी उस का स्वतः ज्ञान नहीं होगा तो ज्ञान के दूसरे धर्म ज्ञानत्व का भी स्वतः ग्रहण नहीं होगा। फलस्वरूप ज्ञान अज्ञेय हो जायगा।

यदि यह कहा जाय कि-'ज्ञानत्व प्रत्यक्षयोग्य है अतः ज्ञान के ग्रहण के साथ ही ज्ञानत्व का ग्रहण हो सकता है, किन्तु प्रामाण्य का ग्रहण नहीं हो सकता क्योंकि प्रामाण्य अयोग्य है'-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि प्रामाण्य 'तद्वति तत्प्रकारकत्व'रूप है। उसका अर्थ है तद्विशिष्ट-विशेष्यतानिरूपिततद्विशिष्टप्रकारताकत्व । उस के शरीर में विशेष्य और विशेषणभूत पदार्थ, उन का सम्बन्ध एवं विशेष्यता, प्रकारता और संसर्गता का प्रवेश है। इन में विशेष्यता, प्रकारता और संसर्गता ज्ञानरूप है और ज्ञान योग्य होने से उस से अभिन्न ये विशेषताएँ भी योग्य हैं। तथा उक्त प्रामाण्य के स्वरूप में प्रविष्ट विशेष्य, विशेषण और उन दोनों का संसर्ग ये पदार्थ भी योग्य हैं। अतः प्रामाण्य के शरीर में किसी अयोग्य का अन्तर्भाव न होने से प्रामाण्य को अयोग्य नहीं कहा जा सकता, वह अपने पूर्णस्वरूप से योग्य है। अतः उस का स्वतः ग्रहण ही न्याययुक्त है।

किन्तु व्याख्याकार की दृष्टि में प्रभाकर का यह मत समीचीन नहीं है क्योंकि सभी स्वधर्म का स्व से ग्रहण नहीं होता । यदि सभी स्वधर्म का स्व से ग्रहण माना जायगा, तो प्रत्येक ज्ञान में सार्वज्ञ्य-सर्वग्राहिता की आपत्ति होगी। कहने का आशय यह है कि जो कोई ज्ञान उत्पन्न होता है उस के स्वगत धर्मों में समूचा विश्व आ जाता है क्योंकि विश्व की बहुत सी वस्तुएँ ज्ञान का अनुवृत्त धर्म होती हैं जो ज्ञान में आश्रित होती हैं और उन से भिन्न विश्व की समस्त वस्तुएँ उस ज्ञान का व्यावृत्त धर्म होती हैं। इस प्रकार अनुवृत्त-व्यावृत्त रूप से सारा विश्व प्रत्येक ज्ञान का धर्म होता है। अतः यदि अपने को अपने समस्त धर्मों का ग्राहक माना जायगा तो प्रत्येक ज्ञान में सर्वग्राहकता की प्रसक्ति होगी ।

[स्वतः प्रामाण्य मत में संशय की अनुपपत्ति]

दूसरी बात यह है कि प्रामाण्य का यदि स्वतः ग्रहण होगा अर्थात् ज्ञान के ग्रहण के साथ ही प्रामाण्य का ग्रहण होगा तो ज्ञान में प्रामाण्यसंशय न हो सकेगा, क्योंकि ज्ञान की अग्रह दशा में ज्ञानरूप धर्मी का ही ज्ञान न होने से उस में प्रामाण्य का संशय न हो सकेगा क्योंकि संशय में धर्मी का ज्ञान कारण होता है। और ज्ञान का ज्ञान होने पर उस के साथ ही प्रामाण्य का निश्चय हो जाने से प्रामाण्य का संशय न हो सकेगा, क्योंकि संशय में समानधर्मिक समान-प्रकारक निश्चय प्रतिबन्धक होने से निश्चित अंश में संशय का उदय नहीं होता ।

यदि यह कहा जाय कि-'ज्ञान में प्रामाण्य का निश्चय होने पर भी प्रमाण-अप्रमाण दोनों में विद्यमान ज्ञानत्वरूप साधारणधर्म के दर्शन से प्रामाण्य के संशय का उदय हो सकता है'-तो यह कहना उचित नहीं है, क्योंकि साधकप्रमाण एवं बाधकप्रमाण के अभाव की उपेक्षा कर यदि साधारणधर्म के दर्शनमात्र से ही संशय की उत्पत्ति मानी जायगी तो संशय का कभी उच्छेद ही नहीं होगा क्योंकि धर्मिज्ञान और साधारणधर्मदर्शनप्रयुक्त कोटिद्वय का ज्ञान प्रत्येक ज्ञान की उत्पत्ति दशा में अनिवार्यरूप से सन्निहित रहेगा। जैसे, पुरोवर्तीधर्मी का ज्ञान तथा पुरोवर्ती में स्थाणुत्व और स्थाणुत्वाभाव के समानाधिकरण ऊर्ध्वत्व धर्म का दर्शन होने पर,

दर्शनादेव संशयोदये तदनुच्छेदप्रसङ्गात् । अथ निश्चितेऽपि प्रामाण्ये दोषात् तत्संशयः तस्योत्तेजकस्थानीयत्वादिति चेत् ? किमर्थमेषा कल्पना ? । 'प्रामाण्यग्रहहेतुसमाजोपनिपातान्यथानुपपत्ते'रिति चेत् ? न, स्वांऽप्रकाश्ये प्रकाश्यघटितसंबन्धेनावृत्तित्वादिरूपे प्रमेयाव्यभिचारित्वलक्षणे प्रामाण्ये विषयांशेऽभ्यासाख्यक्षयोपशमव्यङ्ग्यत्वादनभ्यासदशायां प्रामाण्यग्रहसामग्र्यसिद्धेः । यत्र च स्वांशे प्रामाण्यग्रहसामग्री स्वजनकक्षयोपशमसामग्र्यन्तर्गता तत्र भवत्येव सदा प्रामाण्यग्रहः; अत एव स्वांशे न क्वापि प्रामाणाऽप्रमाणविभागः; किन्तु विषयांश एव । तदुक्तम्—[ ]

"भावप्रमेयापेक्षायां प्रमाणाभासनिह्नवः । बहिष्प्रमेयापेक्षायां प्रमाणं तन्निभं च ते ॥१॥ इति।

पुरोवर्त्ती में स्थाणु और स्थाणुत्वाभाव के संशय उत्पन्न होने के बाद, जब स्थाणु अथवा स्थाणुभिन्नपदार्थ के विशेषधर्म का दर्शन होता है तब पुरोवर्त्ती में स्थाणुत्व या स्थाणुत्वाभाव का निश्चय हो जाता है। उस समय भी धर्मिज्ञान और एक कोटि का निश्चय तथा अन्य कोटि का मानसज्ञान सन्निहित रहता है। क्योंकि 'अयं स्थाणुः' यह निश्चय धर्मिज्ञान और स्थाणुत्वज्ञानरूप है जो द्वितीयक्षण तक रहता है; एवं उक्त निश्चय स्थाणुत्वरूपप्रतियोगि के ज्ञानस्वरूप होने से द्वितीयक्षण में स्थाणुत्वाभाव का स्मरण अथवा मानसज्ञान हो सकता है। अतः उक्त निश्चय के द्वितीयक्षण में स्थाणुत्व और स्थाणुत्वाभाव के संशय की सामग्री अक्षुण्ण हो जाती है, क्योंकि साधकप्रमाण और बाधकप्रमाण के अभाव-निश्चय को संशय का कारण न मानने से उस समय संशय के किसी कारण का अभाव नहीं रहता, फलतः एककोटिनिश्चय के तीसरे क्षण में संशय की उत्पत्ति अनिवार्य हो सकती है। यह तो हुई ज्ञानान्य धर्मी में प्रामाण्यातिरिक्तधर्म के संशयानुच्छेद की आपत्ति की बात। ठीक इसी प्रकार ज्ञान में प्रामाण्य संशय के अनुच्छेद की आपत्ति होगी क्योंकि ज्ञान में प्रामाण्य, अप्रामाण्यरूप दोनों कोटियों के साधारण धर्मज्ञान से कोटिद्वय की उपस्थिति होने से प्रामाण्य अथवा अप्रामाण्य के निश्चयकाल में भी संशय की सामग्री का सन्निधान हो सकेगा।

[प्रामाण्य निश्चय होने पर भी संशय होने की उपपत्ति--आशंका]

यदि यह कहा जाय कि–" प्रामाण्य का निश्चय होने पर भी दोष से प्रामाण्य–अप्रामाण्य का संशय हो सकता है क्योंकि दोष उत्तेजक के रूप में संशयोत्पत्ति का प्रयोजक हो सकता है। आशय यह है कि–

तदभावप्रकारकबुद्धि में दोषाभावविशिष्टतत्प्रकारकनिश्चय, एवं तत्प्रकारकबुद्धि में दोषाभावविशिष्ट तदभावप्रकारकनिश्चय को प्रतिबन्धक मानने पर, तत् और तदभाव दोनों में किसी एक का निश्चय रहने पर दूसरे की बुद्धि उस दशा में हो सकती है जब दूसरे के भासक दोष का सन्निधान हो। अतः अप्रामाण्य के भासक दोष के विद्यमान रहने पर प्रामाण्यनिश्चय होने पर भी अप्रामाण्यप्रकारक संशय हो सकता है।

उक्त रीति से प्रतिबध्य–प्रतिबन्धकभाव की कल्पना अत्यावश्यक है। क्योंकि ज्ञानग्राहकसामग्री के समय प्रामाण्यग्रह के भी सम्पूर्ण हेतुओं का सन्निधान हो जाता है। और इस सन्निधान के अनन्तर ज्ञान में प्रामाण्य और अप्रामाण्य का संशय भी होता है। इन दोनों बातों की उपपत्ति तभी हो सकती है जब ज्ञानग्रह के साथ ज्ञान में प्रामाण्यनिश्चय की उत्पत्ति मानी

जाय और अप्रामाण्यग्रह के प्रति प्रामाण्यनिश्चय की प्रतिबन्धकता में अप्रामाण्यभासक दोष को उत्तेजक माना जाय, क्योंकि ज्ञानग्रह के समय प्रामाण्यनिश्चय की उत्पत्ति न मानने पर उस के पूर्व प्रामाण्यग्रह के सम्पूर्ण हेतुओं के सन्निधान की उपपत्ति न होगी और अप्रामाण्यग्रह के प्रति प्रामाण्यनिश्चय की प्रतिबन्धकता में दोष को उत्तेजक न मानने पर ज्ञानग्रह के समय प्रामाण्यनिश्चय की उत्पत्ति होने पर उस के अनन्तर ज्ञान में प्रामाण्य-अप्रामाण्य का संशय उपपन्न न होगा-' ।

[अभ्यास के विना प्रामाण्य निश्चय का अभाव-उत्तर]

तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि प्रमेय का अव्यभिचारित्व प्रामाण्य है । ज्ञान में प्रमेय का अव्यभिचारित्व 'प्रकारतावच्छेदक सम्बन्ध से प्रमेयाभाव के अधिकरण में प्रमेयनिष्ठ प्रकारता निरूपितस्वीयविशेष्यता सम्बन्ध से अवृत्तित्व'रूप है। इस की कुक्षि में प्रविष्ट प्रमेयाभावाधिकरण स्वप्रकाश्य नहीं है और इस की कुक्षि में प्रविष्ट प्रमेयनिष्ठप्रकारता निरूपित स्वीय विशेष्यता रूप सम्बन्ध ज्ञानस्वरूप होने से स्वप्रकाश्य प्रकारताविशेष्यता एवं ज्ञानात्मक स्व से घटित है । जैसे-

'इदं रजतम्' यह प्रमात्मक ज्ञान रजतत्वरूप प्रमेय का अव्यभिचारी है, क्योंकि रजतत्व निष्ठप्रकारता के अवच्छेदकीभूतसमवाय सम्बन्ध से रजतत्व के अभाव का अधिकरण जो शुक्ति है जो कि 'इदं रजतम्' इस ज्ञान से अप्रकाश्य है, उस में रजतत्वनिष्ठ प्रकारतानिरूपित स्वीय विशेष्यता सम्बन्ध से वह ज्ञान अवृत्ति है । उस ज्ञान में विद्यमान उक्तप्रमात्व के शरीर में 'अस्वप्रकाश्य' शुक्ति का प्रवेश है और उस की कुक्षि में प्रविष्ट सम्बन्ध में प्रकारता विशेष्यता एवं उक्त प्रमाज्ञानात्मक स्व का प्रवेश है । इस प्रामाण्य के कलेवर में जो रजतत्वादि विषय प्रविष्ट हैं उस अंश में यह प्रामाण्य अभ्यासरूप क्षयोपशम से व्यङ्ग्य होता है। अतः अनभ्यास दशा में प्रामाण्यग्रह की सामग्री का सन्निधान नहीं हो सकता क्योंकि प्रामाण्य के शरीर में प्रविष्ट विषयांश का व्यञ्जक अभ्यासरूप क्षयोपशम अनभ्यास दशा में नहीं रहता ।

कहने का अभिप्राय यह है कि ज्ञानग्रह के समय प्रामाण्यनिश्चय तभी होता है जब प्रामाण्य के शरीर में प्रविष्ट विषयों का अभ्यासरूप क्षयोपशम विद्यमान रहता है और जब वह विद्यमान होता है तब ज्ञानग्रह के समय प्रामाण्यनिश्चय हो जाने से उस के अनन्तर अप्रामाण्य संशय की उत्पत्ति नहीं होती । अप्रामाण्य संशय की उत्पत्ति तभी होती है जब प्रामाण्य की कुक्षि में प्रविष्ट विषय का अभ्यासरूप क्षयोपशम नहीं होता और जब वह क्षयोपशम नहीं होता तब ज्ञानग्रहकाल में प्रामाण्य का निश्चय नहीं होता । अतः प्रामाण्यनिश्चय के रहते अप्रामाण्यसंशय की उत्पत्ति प्रामाणिक न होने से उस की उपपत्ति के लिये अप्रामाण्यग्रह के प्रति प्रामाण्यनिश्चय की प्रतिबन्धकता में दोष को उत्तेजक मानना अनावश्यक है । इस विचार से प्रामाण्य के स्वतस्त्व परतस्त्व के सम्बन्ध में जैन दर्शन की यह दृष्टि स्पष्ट होती है कि प्रामाण्य की ज्ञप्ति में एकान्तरूप से मीमांसकों के समान न स्वतस्त्व ही है और न नैयायिकों के समान परतस्त्व ही है क्योंकि अभ्यस्त अर्थ को ग्रहण करनेवाले ज्ञान का प्रामाण्य स्वतोग्राह्य है और अनभ्यस्त अर्थ के ज्ञान का प्रामाण्य परतोग्राह्य है ।

इसीलिये जैनदर्शन की यह महनीय मान्यता है कि जहां ज्ञानांश में प्रामाण्य की ग्राहिका सामग्री, ज्ञान के उत्पादक क्षयोपशम की सामग्री में अन्तःप्रविष्ट होती है वहाँ ज्ञानग्रह के साथ स्वांश में प्रामाण्यग्रह सदा होता ही है, इसीलिये कहीं भी ज्ञानांश में प्रमाण-अप्रमाण

नैयायिकनये तु स्यादप्ययं दोषः, पुरोवर्तिविशेष्यत्वस्य रजतत्वादिप्रकारत्वस्य चानुव्यवसायग्राह्यत्वाभ्युपगमात्, पुरोवर्तिन इदंत्वेन रजतत्वादिनाप्युपनयवशात् भानसंभवात्, विशेष्यत्वादेरनुपस्थितस्याऽप्रकारत्वेऽपि विशेष्यतया रजतादिमत्त्वे सति प्रकारितया रजतत्वादिमत्त्वस्य प्रामाण्यस्य सुग्रहत्वात्। न चेदंत्ववैशिष्ट्यं पुरोवर्तिनि न भासत इति वाच्यम् विशेष्यतायां पुरोवर्तिनः स्वरूपतो भानानुपपत्तेः, तादृशविशेषणज्ञानाभावात्, समानाकारविषयकज्ञानस्यैवोपनायकत्वात्; यद्विशेष्यकयत्प्रकारकज्ञानत्वावच्छेदेन प्रामाण्यसंशयस्तद्धर्मविशिष्टे तत्प्रकारक एव संशय इति नियमात्, प्रकृते प्रामाण्यसंशयोत्तरं 'रजतमिदं नवा' 'द्रव्यं रजतं नवा' इत्याद्यनियमापोहेन 'इदं रजतं नवा' इत्येव-

---

का विभाग नहीं होता किन्तु विषयांश में ही प्रमाण-अप्रमाण का विभाग होता है। कहा भी गया है कि-

'भावात्मक प्रमेय (ज्ञानांश) की अपेक्षा से प्रमाणाभास का अपलाप होता है और बाह्यप्रमेय की अपेक्षा से प्रमाण एवं प्रमाणाभास दोनों होते हैं।' इस कथन में भावात्मक प्रमेय का तात्पर्य ज्ञान में है और बाह्यप्रमेय का तात्पर्य ज्ञानभिन्न रजतादि में है। इस कथन का सारांश यह है कि ज्ञान स्वांश में सदा प्रमाण ही होता है, कभी अप्रमाण नहीं होता, और विषयांश में कभी प्रमाण और कभी अप्रमाण होता है।

[नैयायिक के मत में संशयानुत्पत्ति का दोष]

नैयायिक के मत में ज्ञान में प्रामाण्यसंशय की अनुत्पत्तिरूप दोष संभव है क्योंकि उन के मत में पुरोवर्ती रजत में रजतत्व का ज्ञान होने पर उस ज्ञान के अनुव्यवसाय से उस ज्ञान में विद्यमान प्रामाण्य का ग्रहण हो सकता है, क्योंकि पुरोवर्ती में जो रजतत्वज्ञान होता है उस में विद्यमान प्रामाण्य 'पुरोवर्त्तिरजतविशेष्यक रजतत्वप्रकारकज्ञानत्व'रूप है; इस की कुक्षि में प्रविष्ट विशेष्यता, प्रकारता और ज्ञानत्व तीनों न्यायमतानुसार अनुव्यवसाय से ग्राह्य हैं और पुरोवर्ती वस्तु इदंत्व और रजतत्वरूप से उपनय सन्निकर्ष से वेद्य है, एवं रजतत्व स्वरूपतः उपनयवेद्य है।

कहने का आशय यह है कि पुरोवर्ती में रजतत्वज्ञान का अनुव्यवसाय उसे पुरोवर्तिरजतविशेष्यक रजतत्वप्रकारक ज्ञानत्वरूप से ग्रहण करता है। उस में विशेष्यता, प्रकारता और ज्ञानत्व का लौकिकज्ञान होता है तथा पुरोवर्तिरजत का एवं रजतत्व का उपनीत भान होता है। इस प्रकार न्यायमत में ज्ञानगतप्रामाण्य, ज्ञान के अनुव्यवसाय से ही विदित होता है। अतः अनुव्यवसित ज्ञान में प्रामाण्य का संशय नहीं हो सकता।

[प्रामाण्यज्ञान में विशेष्यतादि का ज्ञान सम्बन्धरूप से]

यद्यपि यह प्रश्न हो सकता है कि-'प्रामाण्य की कुक्षि में विशेष्यता एवं प्रकारता प्रकाररूप से प्रविष्ट होती है अतः प्रामाण्यज्ञान में प्रामाण्यघटक प्रकारता और विशेष्यता का प्रकार रूप में ही भान होना आवश्यक है। किन्तु यह ज्ञान के अनुव्यवसाय में संभव नहीं है क्योंकि तत्प्रकारकबुद्धि में तद्विषयक ज्ञान के कारण होने से प्रकारता-विशेष्यता को प्रकाररूप में ग्रहण करनेवाले ज्ञान के पूर्व प्रकारता-विशेष्यता का ज्ञान अपेक्षित है, जो ज्ञान के जन्म काल में नहीं रहता अतः ज्ञानग्रहकाल में प्रामाण्य ग्रह कैसे संभव हो सकता है?'- किन्तु इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार दिया जा सकता है कि रजतविशेष्यक

रजतत्वप्रकारकज्ञान में विद्यमान प्रामाण्य, विशेष्यतासम्बन्ध से रजतवत् में प्रकारिता सम्बन्ध से रजतत्ववत्त्वरूप है। अतः प्रामाण्य के शरीर में विशेष्यता-प्रकारता का प्रकाररूप से प्रवेश न होकर सम्बन्धरूप से ही प्रवेश है। इसलिये प्रामाण्य के ज्ञान में विशेष्यता और प्रकारता का सम्बन्धरूप से ही भान होता है। अतः उस भान से पूर्व विशेष्यता और प्रकारता का ज्ञान अपेक्षित नहीं है, क्योंकि तत्संसर्गक ज्ञान में तद्विषयकज्ञान कारण न होने से अनुपस्थित अर्थ का भी संसर्गरूप में भान हो सकता है। अत एव ज्ञानजन्मकाल में विशेष्यता और प्रकारता का ज्ञान न रहने पर भी संसर्गरूप में उन दोनों से घटित उक्त प्रामाण्य का, ज्ञान के अनुव्यवसाय में भान होना सुकर है।

इस आपत्ति के परिहारार्थ नैयायिक की ओर से यदि यह कहा जाय कि-'पुरोवर्त्ति-रजतविशेष्यक रजतप्रकारकज्ञान के अनुव्यवसाय में पुरोवर्त्ती में इदन्त्वविशिष्ट का भान नहीं होता है किन्तु पुरोवर्त्ती का विशेष्यता अंश में वृत्तित्व सम्बन्ध अथवा ज्ञानांश में विशेष्यता सम्बन्ध से पुरोवर्त्ती का स्वरूपतः भान होता है जब कि प्रामाण्य के शरीर में पुरोवर्त्ती स्वरूपतः प्रविष्ट न होकर इदन्त्वरूप से प्रविष्ट होता है। अतः ज्ञान के अनुव्यवसाय में प्रामाण्य का भान न होने से उस के अनन्तरज्ञान में प्रामाण्यसंशय की उत्पत्ति में कोई बाधा नहीं है'-तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि विशेष्यता में वृत्तित्व सम्बन्ध से अथवा ज्ञान में विशेष्यता सम्बन्ध से पुरोवर्त्ती का स्वरूपतः भान नहीं हो सकता, क्योंकि पुरोवर्त्तिविषयक ज्ञान के जन्मकाल में विशेषणभूत पुरोवर्त्ती का स्वरूपतः ज्ञान नहीं है।

इदन्त्वरूप से पुरोवर्त्ती के ज्ञान द्वारा स्वरूपतः पुरोवर्त्ती का उपनयज्ञान नहीं हो सकता क्योंकि समानाकारविषयक ज्ञान ही उपनायक होता है। आशय यह है कि एक ही विषय का कभी स्वरूपतः ज्ञान होता है और कभी किसी धर्म द्वारा ज्ञान होता है। जैसे पुरोवर्त्ती में रजतत्व का कभी 'इदं रजतम्' इस प्रकार स्वरूपतः ज्ञान होता है और कभी 'इदं जातिमत्' इस आकार में जातित्वरूप से होता है। अतः ऐसे द्विविध ज्ञानों की व्यवस्थित उत्पत्ति के लिये यह कार्यकारणभाव माना जाता है कि स्वरूपतः तत्प्रकारकबुद्धि में स्वरूपतः तद्विषयक-ज्ञान एवं तत्तद्धर्मविशिष्टतत्प्रकारकबुद्धि में तत्तद्धर्मविशिष्ट तद्विषयकज्ञान कारण होता है। अतः स्वरूपतः पुरोवर्त्तिविषयक ज्ञान न होने से पुरोवर्त्तित्वविशिष्ट में रजतत्वज्ञान का अनु-व्यवसाय विशेष्यता अंश में अथवा ज्ञानांश में स्वरूपतः पुरोवर्त्तिप्रकारक नहीं हो सकता।

दूसरी बात यह है कि यद्धर्मविशिष्टविशेष्यक यत्प्रकारकज्ञान सामान्य में प्रामाण्य का संशय होता है, उस से तद्धर्मविशिष्ट में तत्प्रकारक ही संशय की उत्पत्ति होती है यह नियम है। पुरोवर्त्ती में रजतत्व को ग्रहण करनेवाले ज्ञान में प्रामाण्यसंशय के अनन्तर 'रजतमिदं नवा' इस प्रकार रजतत्वविशिष्ट में इदन्त्व का संशय एवं 'द्रव्यं रजतं न वा' इस प्रकार द्रव्य-त्वविशिष्ट में रजतत्व का संशय न होकर 'इदं रजतं न वा' इस प्रकार इदन्त्वविशिष्ट में रजतत्व का संशय होता है। अतः विभिन्नप्रकारक संशयों की अनियमित उत्पत्ति का निषेध-कर एकविध नियमित संशय की उत्पत्ति के लिये जिस संशय में जिसरूप से धर्मी का भान होता है उस के पूर्व उसरूप में ही धर्मी का ज्ञान आवश्यक है। अतः 'इदं रजतम्' इस ज्ञान में प्रामाण्यसंशय के अनन्तर होनेवाले 'इदं रजतं न वा' इस संशय के लिये 'इदन्त्वविशिष्ट में रजतत्वप्रकारक' ज्ञानसामान्य में प्रामाण्यसंशय अपेक्षित है और उस संशय के कारणीभूत अनुव्यवसायात्मक धर्मिज्ञान में भी इदन्त्वरूप से ही धर्मी का भान अपेक्षित है। अतः अनु-

संशयार्थमिदंत्वेन धर्मिभानावश्यकत्वाच्च । अथ विधेयताशालिनः स्वातन्त्र्येण वैशिष्ट्यज्ञानेऽनुव्यवसायसामग्र्या असामर्थ्यं कल्प्यते, व्यवसायस्यैव वा प्रतिबन्धकत्वम्, तद्वद्विशेष्यकत्वोपस्थितेरुत्तेजकत्वाच्च तत्सत्त्वे प्रामाण्यग्रह इति चेत् ? नैतत् कमनीयं, गौरवात्, व्यवसायनाशोत्तरं तद्ग्रहप्रसङ्गाच्च । अभ्यासस्य प्रामाण्याश्रयज्ञाने प्रामाण्यग्रहणपरिणामहेतुत्वस्यैव कल्पयितुं युक्तत्वात् । न चेदेवम्, स्वप्रकाशवादोपदर्शितदिशा व्यवसायस्यैव क्षणिकत्वाद् नानुव्यवसायेन ग्रहणमिति कैव कथा प्रामाण्योपस्थितिव्यवहितस्य तस्य ? इति परिभावनीयम् ।

व्यवसाय में पुरोवर्ती का स्वरूपतः भान मानकर अनुव्यवसायात्मक विषयीभूत ज्ञान में प्रामाण्यसंशय के उपपादन का प्रयास क्लेश मात्र है ।

[सामग्री के असामर्थ्य या व्यवसाय के प्रतिबन्धकत्व की शंका]

यदि यह कहा जाय कि–'अनुव्यवसाय की सामग्री विधेय के स्वतंत्र रूप से होनेवाले सम्बन्धज्ञान में असमर्थ होती है । इसलिये अनुव्यवसाय से प्रामाण्य का ग्रहण नहीं हो सकता । आशय यह है कि अनुव्यवसाय आत्मा में ज्ञानवैशिष्ट्य को विषय करता है इसलिये वह ज्ञान में विधेयरूप से प्रमात्व को ग्रहण नहीं कर सकता । वह इसलिये कि ज्ञान में विधेयरूप से प्रमात्व को ग्रहण करनेवाले ज्ञान का आकार 'अमुकविशेष्यकम् अमुकप्रकारकज्ञानं प्रमा–अमुक में अमुक का ज्ञान प्रमा है'–इस प्रकार होता है, उस में ज्ञान मुख्यविशेष्य होता है जब कि अनुव्यवसाय आत्ममुख्यविशेष्यक ज्ञानप्रकारक होता है, जिस का आकार 'अहममुकविशेष्यकामुकप्रकारकज्ञानवान' में अमुक में अमुक के ज्ञानवाला हूँ' इस प्रकार होता है । अनुव्यवसाय की सामग्री इस दूसरे आकार के ज्ञान को उत्पन्न करने में समर्थ होती है, पहले आकार के ज्ञान को उत्पन्न करने में समर्थ नहीं होती । अतः अनुव्यवसाय को विधेयरूप में प्रामाण्यविषयक नहीं माना जा सकता, क्योंकि उस में ज्ञान विशेषण है, जब कि विधेय का भान विशेषण में नहीं किन्तु मुख्यविशेष्य में ही होता है ।

अथवा यह भी कहा जा सकता है कि व्यवसाय स्वयं स्व में प्रामाण्यज्ञान का प्रतिबन्धक होता है । अतएव उस का अनुव्यवसाय प्रामाण्यविषयक नहीं हो सकता, क्योंकि अनुव्यवसाय व्यवसाय के रहते ही उत्पन्न होता है । जब कभी व्यवसाय के द्वितीयक्षण में प्रामाण्य की कुक्षि में प्रविष्ट तद्वद्विशेष्यकत्व की उपस्थिति हो जाती है अथवा व्यवसायकाल में किंवा व्यवसाय के अव्यवहितपूर्वक्षण में तद्वद्विशेष्यकत्व की उपस्थिति हो जाती है, तब व्यवसाय के तृतीयक्षण में अथवा व्यवसाय के द्वितीयक्षण में व्यवसाय में प्रामाण्यग्रह होता है इसलिये प्रामाण्यग्रह के प्रति व्यवसायनिष्ठप्रतिबन्धकता में तद्वद्विशेष्यकत्व की उपस्थिति को उत्तेजक मानकर 'तद्वद्विशेष्यकत्व की उपस्थिति के अभाव से विशिष्ट व्यवसाय' को प्रामाण्यग्रह के प्रति प्रतिबन्धक मान कर उस की उपपत्ति की जा सकती है । और जब इस रीति से व्यवसाय में प्रामाण्यग्रहण हो जाता है तब व्यवसाय में प्रामाण्य का संशय नहीं होता । वह संशय तभी होता है जब तद्वद्विशेष्यकत्व की उपस्थिति नहीं होती । अतः यह कहा जा सकता है कि अनुव्यवसाय से व्यवसाय में प्रामाण्यग्रह का नियम न होने से प्रामाण्य का परतः ग्रहण-पक्ष युक्तियुक्त है ।

[प्रतिबन्धकत्व की कल्पना में गौरव]

किन्तु यह कथन समीचीन नहीं है, क्योंकि तद्वद्विशेष्यकत्व की उपस्थिति को उत्तेजक बना कर व्यवसाय में प्रामाण्यग्रह के प्रतिबन्धकत्व की कल्पना में गौरव है।

दूसरी बात यह है कि व्यवसाय को प्रामाण्यग्रह के प्रति प्रतिबन्धक मानने पर व्यवसायकाल में व्यवसाय में प्रामाण्यग्रह की आपत्ति का वारण सरल होने पर भी व्यवसाय नाश के उत्तरकाल में व्यवसाय में प्रामाण्यग्रह की आपत्ति होगी क्योंकि व्यवसाय के तृतीय क्षण में विद्यमान अनुव्यवसाय से उपनीत व्यवसाय और प्रामाण्य का विशेष्यविशेषणभाव से ज्ञान होने में कोई बाधा नहीं है। फलतः न्यायमत में व्यवसाय के चतुर्थक्षण में व्यवसाय में प्रामाण्य का निश्चय सर्वत्र सम्पन्न हो जाने के कारण अनुव्यवसायविषयीभूत ज्ञान में अनुभवसिद्ध प्रामाण्यसंशय की अनुपपत्ति अनिवार्य है।

उक्त कारण से प्रामाण्य की ज्ञप्ति के विषय में जैनदर्शन की यह मान्यता ही युक्तियुक्त है कि प्रामाण्य के आश्रयभूत ज्ञान में प्रामाण्यज्ञानरूप परिणाम के प्रति विषयाभ्यास=विषय का पुनः पुनः दर्शन ही हेतु है। यदि ऐसा न माना जायगा तो स्वप्रकाशवाद में प्रदर्शितरीति से व्यवसाय क्षणिक होने के कारण अनुव्यवसाय से ही गृहीत न हो सकेगा। फिर यदि वह प्रामाण्य की उपस्थिति से व्यवहित होगा तब तो अनुव्यवसाय द्वारा उस के ग्रहण की बात भी न कही जा सकेगी।

आशय यह है कि ज्ञान की स्वप्रकाशता का उपपादन करने के प्रसङ्ग में उस की अनुव्यवसायवेद्यता की परीक्षा आवश्यक होती है। परीक्षा के प्रसङ्ग में यह विचार उपस्थित होता है कि व्यवसाय को अनुव्यवसाय से ग्राह्य नहीं माना जा सकता क्योंकि ज्ञान क्षणिक होता है अर्थात् न्यायमतानुसार ज्ञान अपनी उत्पत्ति के तृतीय क्षण में नष्ट हो जाता है अतः उस का अनुव्यवसाय नहीं हो सकता। कहने का तात्पर्य यह है कि प्रथमक्षण में उत्पन्न घटज्ञान का 'घटं जानामि' इसप्रकार का अनुव्यवसाय नहीं हो सकता क्योंकि यह ज्ञान आत्मा में घटविशेषित ज्ञानवैशिष्ट्य को विषय करता है अतः उस के पूर्व 'घटीयं ज्ञानम्' इस प्रकार का ज्ञान अपेक्षित है। यह ज्ञान भी ज्ञानत्वविशिष्ट में घट के सम्बन्ध को ग्रहण करता है अतः उस से पूर्व विशेषणीभूत घट का और विशेष्यभूत ज्ञान का ज्ञान अपेक्षित है। इन ज्ञानों में घटज्ञान प्रथमक्षण में उत्पन्न हो जाता है। दूसरे क्षण में 'घटीयज्ञान-ज्ञानत्वे' इस प्रकार ज्ञानांश में निर्धर्मितावच्छेदक घटप्रकारकज्ञानात्मक 'ज्ञान और ज्ञानत्व का निर्विकल्पक' प्रत्यक्ष होता है। तृतीयक्षण में 'घटीयं ज्ञानं' ऐसा ज्ञान होकर चतुर्थक्षण में ही 'घटं जानामि' ऐसा अनुव्यवसाय संभवित है।

किन्तु जब ज्ञान अपने तीसरे क्षण में ही नष्ट हो जाता है तब न तो तीसरे क्षण में 'ज्ञानं घटीयम्' यह ज्ञान और न चौथे क्षण में 'घटं जानामि' यह ज्ञान संभवित हो सकता है क्योंकि इन्द्रियसन्निकृष्ट हो एवं विद्यमान हो ऐसी वस्तु का ही प्रत्यक्ष होता है। इस स्थिति में यदि 'तद्वद्विशेष्यकत्व' विषयक उपस्थिति विरह से विशिष्ट व्यवसाय को प्रामाण्यग्रह के प्रति प्रतिबन्धक मान कर व्यवसाय के अनन्तर 'तद्वद्विशेष्यकत्व' की उपस्थिति होने पर अनुव्यवसाय से व्यवसाय में प्रामाण्यज्ञान की बात की जाती है तो यह कैसे संभव हो सकती है ? ! !

एतेन वस्तुतः 'तद्वद्विशेष्यकत्वे सति तत्प्रकारकत्वमात्रं न प्रामाण्यम्, रजत-शुक्त्योः 'शुक्तिरजते' इत्यादिज्ञानसाधारण्यात्, किन्तु तद्वद्विशेष्यकत्वावच्छिन्नतत्प्रकारकत्वम्, तद्ग्रहे चानुव्यवसायसामग्र्या असामर्थ्यम्, व्यवसायो वा प्रतिबन्धकः, विशेषणतावच्छेदकीभूततद्वद्विशेष्यकत्वज्ञानस्यात्र कारणत्वकल्पनाद् वा न प्रथमानुव्यवसायेन तद्ग्रहः' इति निरस्तम्, तत्प्रकारतावच्छिन्नतद्वद्विशेष्यताकत्वस्य प्रामाण्यत्वेऽविनिगमात्, अनभ्यासे द्वितीयानुव्यवसायेनापि तद्ग्रहाच्च,

[तद्वद्विशेष्यकत्वावच्छिन्नतत्प्रकारकत्वरूप प्रामाण्य लेने पर निर्दोषता की शंका]

यदि अनुव्यवसाय द्वारा प्रामाण्यग्रह हो जाने से व्यवसाय में प्रामाण्यसंशय की अनुपपत्ति का परिहार करने की दृष्टि से अनुव्यवसाय द्वारा प्रामाण्यग्रह की संभावना के निरास के लिये यह कहा जाय कि-

प्रामाण्य तद्वद्विशेष्यकत्वे सति तत्प्रकारकत्वमात्रस्वरूप नहीं हो सकता क्योंकि प्रामाण्य का यह स्वरूप मानने पर शुक्ति में रजतत्व को और रजत में शुक्तित्व को ग्रहण करनेवाले 'ये शुक्ति-रजत हैं' इस ज्ञान में प्रामाण्य की आपत्ति होगी। अतः प्रामाण्य को तद्वद्विशेष्यकत्वावच्छिन्नतत्प्रकारकत्वरूप मानना आवश्यक है। और उस के ग्रहण में अनुव्यवसाय सामग्री समर्थ नहीं है अथवा उस के ग्रहण में व्यवसाय प्रतिबन्धक है किंवा उक्तप्रामाण्यप्रकारकबुद्धि में तद्वद्विशेष्यकत्वरूप विशेषणतावच्छेदकप्रकारकज्ञान कारण है। अतः प्रथम अनुव्यवसाय से प्रामाण्य का ज्ञान नहीं हो सकता।

कहने का आशय यह है कि तद्वद्विशेष्यकत्वावच्छिन्नतत्प्रकारकत्व का अर्थ है अवच्छिन्नत्व सम्बन्ध से तद्वद्विशेष्यकत्वविशिष्टतत्प्रकारकत्व, क्योंकि अवच्छिन्नत्व को विशेषणरूप में प्रामाण्य का घटक मानें तो पूर्व में अवच्छिन्नत्व विशेषण का ज्ञान न होने से प्रकाररूप में उसे विषय करनेवाले ज्ञान की उत्पत्ति न हो सकेगी। प्रामाण्य के उक्तस्वरूप को प्रकाररूप में ग्रहण करनेवाला ज्ञान तद्वद्विशेष्यकत्वविशिष्टतत्प्रकारकत्व के वैशिष्ट्य का ग्राहक होता है। अतः विशिष्टवैशिष्ट्य को ग्रहण करनेवाले ज्ञान में विशेषणतावच्छेदकप्रकारक ज्ञान कारण होने से ज्ञान के जन्मक्षण या द्वितीयक्षण में तद्वद्विशेष्यकत्वरूप विशेषणतावच्छेदक का ज्ञान न होने के नाते तीसरे क्षण में ज्ञान में उक्तप्रामाण्य के ग्राहक अनुव्यवसाय की उत्पत्ति नहीं हो सकती।

[निर्दोषता की आशंका का निरसन]

-तो यह कथन भी निरस्त हो जाता है, क्योंकि तद्वद्विशेष्यकत्व और तत्प्रकारकत्व के विशेष्यविशेषणभाव में कोई विनिगमना न होने से अवच्छिन्नत्व सम्बन्ध से 'तद्वद्विशेष्यकत्वविशिष्ट तत्प्रकारकत्व' के समान उक्त सम्बन्ध से 'तत्प्रकारकत्वविशिष्ट तद्वद्विशेष्यकत्व' को भी प्रामाण्य मानना होगा। फलतः एकविध प्रामाण्य का निश्चय होने पर भी अन्यविध प्रामाण्य के संशय की आपत्ति होगी। दोनों को तुल्यसामग्री से वेद्य मानकर दोनों के निश्चय की नियम से सहोत्पत्ति बता कर उक्त आपत्ति का परिहार नहीं किया जा सकता, क्योंकि एक में तद्वद्विशेष्यकत्वरूप विशेषण के ज्ञान की अपेक्षा है और दूसरे में तत्प्रकारकत्वरूप विशेषण के ज्ञान की अपेक्षा है। उक्त दोनों विशेषणों को नियमतः सहवेद्य मानकर भी आपत्ति का परिहार नहीं किया जा सकता, क्योंकि उक्त आपत्ति का परिहार संभव होने पर भी नियमतः द्विविध प्रामाण्य के सहानुभव की आपत्ति होगी। इस आपत्ति को इष्टापत्ति नहीं माना जा सकता क्योंकि दोनों का नियत सहानुभव अनुभवविरुद्ध है।

कदाचित् प्राक्कोटिस्मरणादिना विलम्बेऽपि तदुत्तरं संशयदर्शनात् । **यत्तु** 'एकसंबन्धेन तद्वति संबन्धान्तरेण तत्प्रकारकज्ञानेऽव्यावृत्तं तेन संबन्धेन तत्प्रकारकत्वं प्रामाण्यं दुर्ग्रहम्' इति; **तदपि** मनोरथमात्रम्, व्यवसायेन संबन्धेन रजतत्वादिकं प्रकारस्तेन तद्वतोऽनुव्यवसाये भानात् । **यदपि** 'इदं रजतम्' इति तादात्म्यारोपव्यावृत्तये मुख्यविशेष्यता प्रामाण्ये निवेशनीयेति मुख्यत्वं दुर्ग्रहम्' इति; **तदपि न,** आरोप्यांशे प्रमात्वेन मुख्यताया अनिवेशादिति दिग् ।

नैयायिक के उक्त समाधान में दूसरा दोष यह है कि–जैसे [1]प्रथम अनुव्यवसाय से उक्त प्रामाण्य का ग्रहण नहीं होता वैसे ही अनभ्यास दशा में [2]द्वितीय अनुव्यवसाय से भी उस का ग्रहण न होगा क्योंकि पूर्व में कोटिस्मरण का अभाव होने से संशय की उत्पत्ति में विलम्ब होने पर भी कोटिस्मरण होने पर द्वितीय अनुव्यवसाय के बाद भी ज्ञान में प्रामाण्य का संशय अनुभवसिद्ध है। कहने का आशय यह है कि प्रथम अनुव्यवसाय से नैयायिक लोग जो ज्ञान में प्रामाण्यग्रह नहीं मानते उस का एकमात्र कारण यही है कि प्रथम अनुव्यवसाय के बाद ज्ञान में प्रामाण्य संशय देखा जाता है अतः यह मानना आवश्यक होता है कि अनुव्यवसाय से प्रामाण्य का ग्रहण नहीं होता क्योंकि प्रामाण्य का ग्रहण मान लेने पर उक्त संशय की उपपत्ति नहीं हो सकती। तो जैसे प्रथम अनुव्यवसाय के बाद ज्ञान में प्रामाण्य का संशय होने से प्रथम अनुव्यवसाय को प्रामाण्य का ग्राहक नहीं माना जाता वैसे ही द्वितीय अनुव्यवसाय के बाद भी ज्ञान में प्रामाण्य का संशय होने से उसे भी प्रामाण्य का ग्राहक नहीं माना जा सकता। अतः प्रथम अनुव्यवसाय से प्रामाण्य के अग्रहण और द्वितीय अनुव्यवसाय से प्रामाण्य के ग्रहण की नैयायिकों की मान्यता उचित नहीं हो सकती, क्योंकि 'प्रथम अनुव्यवसाय के बाद ही ज्ञान में प्रामाण्य का संशय होता है, द्वितीय अनुव्यवसाय के बाद नहीं होता' नैयायिकों की यह धारणा उक्त कारण से निराधार है।

[व्यवसाय में भासमान सम्बन्ध का अनुव्यवसाय में भान अबाधित]

इस सन्दर्भ में नैयायिकों का यह कहना कि–'एक सम्बन्ध से तद्धर्म के अधिकरण में अन्य सम्बन्ध से तद्धर्मप्रकारक ज्ञान में तद्धर्मप्रकारक प्रामाण्य की आपत्ति के वारणार्थ तत्सम्बन्ध से तद्धर्म के अधिकरण में तत्सम्बन्ध से तद्धर्मप्रकारकत्व को ही प्रामाण्य मानना होगा। अतः अनुव्यवसाय में तत्सम्बन्ध से तदधिकरण का ग्रहण न हो सकने से उस से उक्तप्रामाण्य का ग्रहण नहीं हो सकता।'–ठीक नहीं है क्योंकि व्यवसाय में जिस सम्बन्ध से रजतत्व आदि धर्म प्रकार होता है, अनुव्यवसाय में उस सम्बन्ध से उस धर्म के अधिकरण का भान होता है।

नैयायिकों के उक्त कथन का तात्पर्य यह है कि 'यदि तद्वद्विशेष्यकत्वसहित तत्प्रकारकत्व मात्र को प्रामाण्य माना जायगा तो शुक्ति में रजतत्वज्ञान भी प्रमाण हो जायगा क्योंकि शुक्ति भी कालिक सम्बन्ध से रजतत्व का अधिकरण है। अतः वह ज्ञान भी रजतत्ववद्विशेष्यक-रजतत्वप्रकारक है। इस दोष के वारणार्थ समवाय सम्बन्ध से रजतत्वप्रकारक प्रामाण्य का लक्षण करना होगा 'समवाय सम्बन्ध से रजतत्ववद्विशेष्यकत्वसहित समवायसम्बन्ध से रजतत्वप्रकारकत्व'। लक्षण का इस रूप में निर्वचन कर देने पर उक्त दोष नहीं प्रसक्त हो

---

१. ज्ञान के प्रथम अनुव्यवसाय का अर्थ है, किसी वस्तु के प्रथमोत्पन्न ज्ञान का अनुव्यवसाय। २. द्वितीय अनुव्यवसाय का अर्थ है, प्रथम ज्ञात वस्तु के द्वितीय ज्ञान का अनुव्यवसाय।

सकता, क्योंकि शुक्ति में रजतत्वसमवाय न रहने से शुक्ति में रजतत्व का ज्ञान समवायसम्बन्ध से रजतत्ववद्विशेष्यक रजतत्वप्रकारक नहीं है। जब प्रामाण्य का यह स्वरूप बन जाता है तब अनुव्यवसाय से उसके ग्रहण की सम्भाव्यता समाप्त हो जाती है क्योंकि अनुव्यवसाय व्यवसाय के बाह्य विषयों को ज्ञानलक्षणाप्रत्यासत्ति से व्यवसाय के विशेषणरूप में ही ग्रहण करने में समर्थ होता है, बाह्य विषयों के परस्पर सम्बन्ध को ग्रहण करने में समर्थ नहीं होता। अतः उस में रजत में समवाय सम्बन्ध से रजतत्व का भान न होने से वह समवाय सम्बन्ध से रजतत्ववद् से वर्णित प्रामाण्य का ग्राहक नहीं हो सकता।

नैयायिकों के इस कथन को असंगत बतानेवाले व्याख्याकार का आशय यह है कि- 'व्यवसाय जिस रूप में जिस विषय को ग्रहण करता है उस रूप में ही वह उस विषय को अनुव्यवसाय में उपनीत करता है,' ऐसा नियम है, क्योंकि द्रव्यत्व आदि रूपों से गृहीत रजत का अनुव्यवसाय में द्रव्यत्व आदि रूपों से ही भान होता है रजतत्वरूप से नहीं होता। अतः अनुव्यवसाय में व्यवसाय के विशेषणरूप में भासित होनेवाले उस बाह्य विषय में, उस बाह्य विषय के उस सम्बन्ध का भान होने में कोई बाधा नहीं है जिस बाह्य विषय में जिस बाह्य विषय का जो सम्बन्ध व्यवसाय से गृहीत होता है। कहने का आशय यह है कि अनुव्यवसाय मानस प्रत्यक्षरूप होने से उस में किसी बाह्य पदार्थ का स्वतन्त्र रूप से भान नहीं हो सकता पर व्यवसाय के विशेषणरूप में तथा व्यवसायविशेषण के विशेषणरूप में बाह्य पदार्थ का भान उसी प्रकार हो सकता है जैसे पुष्पमाला में लगा सूत और सूत का घटक अंशु (सूत का रेशा) राजा के सिर पर पहुँच जाता है।

[मुख्य विशेष्यता का निवेश असंगत]

कुछ नैयायिकों का यह कहना है कि-" शुक्ति में तादात्म्य सम्बन्ध से रजत के आरोप में रजत में रजतत्व का भान होने से प्रामाण्य की जो आपत्ति होती है उस के परिहारार्थ तत्प्रकारक प्रामाण्य का लक्षण करना होता है-'तद्वन्निष्ठ मुख्यविशेष्यता निरूपित तन्निष्ठप्रकारता-कत्व'। ऐसा लक्षण करने पर उक्त आपत्ति नहीं होती क्योंकि उक्त आरोप में तादात्म्य सम्बन्ध से रजत प्रकार होने से उस में रजतत्व की विशेष्यता मुख्य नहीं है क्योंकि प्रकारता से भिन्न अथवा प्रकारता से अनवच्छिन्न विशेष्यता ही मुख्य होती है। उक्त आरोप में रजतत्व की रजतनिष्ठ विशेष्यता वैसी नहीं है क्योंकि एक ज्ञान की समानाधिकरण विषयताओं में अभेद अथवा अवच्छेद्यावच्छेदक भाव होने से उक्त आरोप में रजतत्व की रजतनिष्ठ विशेष्यता शुक्ति की रजतनिष्ठ प्रकारता से अभिन्न अथवा अवच्छिन्न है और जब उक्त प्रयोजन से प्रामाण्य के लक्षण में विशेष्यता अंश में मुख्यत्व का निवेश आवश्यक है तब अनुव्यवसाय से प्रामाण्य के ग्रहण की आशा नहीं की जा सकती क्योंकि मुख्यत्व के ग्रहण में अनुव्यवसाय का सामर्थ्य नहीं है।" -किन्तु यह कहना संगत नहीं है, क्योंकि उक्त आरोप शुक्ति में तादात्म्य सम्बन्ध से रजत अंश में ही अप्रमाण है। रजत में समवाय सम्बन्ध से रजतत्व अंश में तो वह प्रमाण ही है अतः प्रामाण्य के लक्षण में विशेष्यता अंश में मुख्यत्व का निवेश आवश्यक न होने से उस के कारण अनुव्यवसाय में प्रामाण्यग्रहण की अक्षमता का समर्थन नहीं किया जा सकता।

[अनभ्यास दशा में परतः प्रामाण्य का निश्चय]

उक्त विचार से उपलब्ध निष्कर्ष यह है कि अनभ्यास दशा में ज्ञान में प्रामाण्य का निश्चय परतः होता है। जैसे वह्नि के ज्ञानमात्र से, अर्थात् ऐसे अभिज्ञान से जिस में प्रामाण्य

तस्मादनभ्यासदशायां वह्निज्ञानमात्रतः प्रवृत्तस्य समर्थप्रवृत्त्युपलम्भात् तथैव लिङ्गेन प्रामाण्यं परतो निर्णीयते, निश्चायकस्यानुमानस्य प्रकृतप्रामाण्याश्रयातिरिक्तत्वात् । न चैवं तत्रापि प्रामाण्यग्राहकान्तरापेक्षायामनिष्टापातः, कस्यचित् संवादकस्य स्वत एव प्रामाण्यनिश्चयेनोपरमात् । ततश्चाभ्यासदशायां तज्जातीयज्वलनोपलम्भे तदाहितक्षयोपशमाल्लिङ्गाद्यनपेक्षतया स्वत एव प्रामाण्यनिश्चय इति विवेकः । दृश्यते च प्राग् लिङ्गाद्यपेक्षतया निश्चितस्यापीष्टसाधनतादेः स्वाश्रयनिर्भासिज्ञानेऽभ्यासाहितक्षयोपशमपाटवात् तदनपेक्षतयापि साक्षादनुभवः । स्मृतित्वं च तत्रानुभवबाधितम् । प्राक्

का निश्चय नहीं है, मनुष्य जब अग्नि को प्राप्त करने में प्रवृत्त होता है, तथा अग्नि के प्राप्त होने से उस की प्रवृत्ति का साफल्य गृहीत हो जाता है, तब सफलप्रवृत्तिलिङ्ग से उस के जनक ज्ञान में प्रामाण्य का निश्चय परतः होता है, क्योंकि प्रामाण्य का ग्रहण जिस अनुमान से होता है वह प्रामाण्य के आश्रयभूत ज्ञान से भिन्न है और 'प्रामाण्य के आश्रयभूत ज्ञान से भिन्न हो ऐसे ज्ञान से गृहीत होना' इसी को परतः ग्रहण कहा जाता है। यदि यह कहा जाय कि—'अग्निज्ञान में अनुमान से प्रामाण्यज्ञान मानने पर उस अनुमान में भी किसी अन्य अनुमान से प्रामाण्यज्ञान मानना होगा, एवं उस में प्रामाण्यज्ञान के लिये अनुमानान्तर की अपेक्षा होगी। फलतः परतः प्रामाण्यग्रहण का पक्ष अनवस्थाग्रस्त हो जायगा जो एक अनिष्टापत्ति है'–तो यह ठीक नहीं है क्योंकि किसी संवादक-प्रामाण्यग्राही ज्ञान में स्वतः प्रामाण्य का निश्चय होने से अनवस्था का उपरम हो सकता है।

[परतः प्रामाण्यग्रहण में अनवस्थादोष निरवकाश]

आशय यह है कि अनवस्था तभी हो सकती है जब सभी ज्ञानों में प्रामाण्य जिज्ञासित हो किन्तु सभी ज्ञानों में प्रामाण्य जिज्ञासित नहीं होता क्योंकि प्रामाण्य की जिज्ञासा उसी ज्ञान में होती है जिस में प्रामाण्य का ज्ञान स्वतः नहीं होता, इसलिये प्रामाण्य ग्रहण के सम्बन्ध में विवेकमयी दृष्टि यही है कि अनभ्यासदशापन्न ज्ञान में प्रामाण्य का ज्ञान परतः यानी सफलप्रवृत्तिरूप लिङ्ग से होता है और अभ्यासदशापन्नज्ञान में प्रामाण्य का ज्ञान स्वतः=ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशमभाव से होता है। इस बात को इसप्रकार समझा जा सकता है कि किसी अग्निकामी मनुष्य को दूर से अग्नि का प्रथम उपलम्भ होने पर उसे यह सन्देह होता है कि यह अग्निज्ञान प्रमाण है अथवा अप्रमाण। फिर एककोटिक निश्चय पर पहुँचने की इच्छा से वह अग्नि के समीप जाता है, यदि उसे अग्नि की प्राप्ति होती है तो उसे अपने अग्निज्ञान में प्रामाण्य का अनुमान होता है कि 'मेरा वह अग्निज्ञान जिस में मुझे प्रामाण्य, अप्रामाण्य का सन्देह हुआ था, प्रमाणभूत ज्ञान है क्योंकि उस ज्ञान से अग्नि पाने की जो मेरी प्रवृत्ति हुई वह सफल हो गई, मुझे अग्नि की प्राप्ति हो गयी'। किन्तु, कालान्तर में जब उसे किसी अन्य अग्नि का उपलम्भ होता है तब उसे उस उपलम्भ में प्रामाण्य निश्चय सत्वर हो जाता है, क्योंकि अभ्यास से अग्निज्ञान का जनक ऐसा 'ज्ञानावरणीय कर्म का जो क्षयोपशम' हुआ रहता है वही उस उपलम्भ में प्रामाण्य का निश्चय कराने के लिये पर्याप्त होता है, उस के लिये किसी लिङ्ग आदि अन्य हेतु की अपेक्षा नहीं होती, क्योंकि अग्नि को दूसरी बार देखनेवाला मनुष्य यह सोच लेता है कि जिस अग्नि के उपलम्भ में उसे प्रामाण्य का निश्चय हो चुका है, यह उपलम्भ भी उसी अग्नि के सजातीय अग्नि का ही तो उपलम्भ है, अतः निश्चय ही यह प्रमाणभूत उपलम्भ है।

तदुपस्थितिरपि तत्राऽतन्त्रम्, क्षयोपशमेन ज्ञानप्रत्यासत्त्यन्यथासिद्धेः, तथाविधोपस्थित्यादिनियामकादेव कार्यनियमसिद्धेः "तद्धेतोः" ० इत्यादिन्यायात् । अत एव श्रुतनिश्रितादिमतिज्ञानव्यवस्थापि संगता, तत्र श्रुतानुसारानपेक्षणादित्यन्यत्र विस्तरः । अथ झटिति प्रचुरा च तथाविधा प्रवृत्तिरन्यथानुपपद्यमाना स्वतःप्रामाण्यज्ञप्तिमाक्षिपतीति चेत् ? न, अभ्यासदशोपपन्नविशेषदर्शनादिज्ञानादेर्झटिति सिद्धयादिनैव झटिति प्रवृत्त्यादिसंभवात्, तत्र प्रामाण्यग्रहस्य क्वचिदप्यनुपयोगात्, उपयोगे वा 'स्वतः' इति पक्षपाताऽयोगात् ।

[अभ्यास दशा में इष्टसाधनता बुद्धि की प्रामाण्यग्रह में समानता]

यह ज्ञातव्य है कि अभ्यासदशापन्न ज्ञान में उक्त रीति से प्रामाण्य निश्चय की कल्पना कोई नितान्त नवीन कल्पना नहीं है, क्योंकि इष्टसाधनता के अनुभव का इसी रीति से उदय देखा जाता है । जैसे, किसी वस्तु में अन्वय-व्यतिरेक आदि लिङ्ग से इष्टसाधनता का अनुभव होने के अनन्तर उस वस्तु को देखते ही उस में इष्टसाधनता का अनुभव उस अनुभवाभ्यास से उत्पादित क्षयोपशम से ही हो जाता है । वहाँ अन्वयव्यतिरेक आदि लिङ्ग की अपेक्षा नहीं होती । तो जैसे पूर्व में लिङ्ग आदि से गृहीत होनेवाली इष्टसाधनता का अनुभव कालान्तर में इष्टसाधनीभूत वस्तु का ज्ञान होते ही स्वतः हो जाता है, वैसे ही, पहले प्रामाण्यज्ञान में लिङ्ग की अपेक्षा होने पर भी बाद में उस की अपेक्षा के विना ही प्रामाण्यग्रहण के आवरण के अभ्यासोत्पादित क्षयोपशममात्र से ही प्रामाण्यनिश्चय की भी उत्पत्ति हो सकती है ।

[कालान्तरभावि इष्टसाधनता का निश्चय अनुभवरूप]

यदि यह कहा जाय कि-' पूर्व में लिङ्ग से गृहीत इष्टसाधनता का कालान्तर में लिङ्ग की अपेक्षा किये विना ही जो निश्चय उत्पन्न होता है वह अनुभव नहीं है किन्तु स्मृति है, '-तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि उस निश्चय का अनुभवत्वरूप से ग्रहण होता है, अतः उस में स्मृतित्व बाधित है । इस सन्दर्भ में यह भी नहीं कहा जा सकता कि-' पूर्वानुभूत इष्टसाधनता की स्मृतिरूप ज्ञानलक्षणाप्रत्यासत्ति से कालान्तर में इष्टसाधनता का अनुभव होता है '-क्योंकि क्षयोपशम के विना स्मृति का भी उदय न होने से पूर्ववर्ती क्षयोपशम से स्मृतिरूप ज्ञानलक्षणाप्रत्यासत्ति अन्यथासिद्ध है, क्योंकि ' तद्धेतोरेव तदस्तु किं तेन=जिस के हेतु मात्र से ही जो कार्य संभव है उस कार्य में उसकी खुद की क्या अपेक्षा ?' इस न्याय के अनुसार स्मृतिरूप ज्ञानप्रत्यासत्ति के हेतु क्षयोपशम से सम्पादित इष्टसाधनता के अनुभव में उस से होनेवाली स्मृति को हेतु मानना असंगत है । उक्त न्याय के अनुसार ही *श्रुतनिश्रित-अश्रुतनिश्रित आदि मतिज्ञानों की भी व्यवस्था संगत होती है, क्योंकि अभ्यास के बाद तद्विषयक मतिज्ञान में श्रुत की अपेक्षा नहीं होती, यह बात अन्यत्र विस्तार से वर्णित है ।

यदि यह कहा जाय कि-इच्छित वस्तु का ज्ञान होने पर उसे प्राप्त करने के लिये मनुष्य की त्वरित बलवती प्रवृत्ति होती है, यह प्रवृत्ति इष्ट वस्तु के ज्ञान में स्वतः प्रामाण्यनिश्चय के विना अनुपपन्न है, क्योंकि प्रामाण्य को परतः ग्राह्य मानने पर प्रवृत्ति का त्वरित उदय नहीं हो सकता '-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि उक्त प्रवृत्ति की उपपत्ति प्रकारान्तर से हो सकती

---

* श्रुतनिश्रितः-श्रुतज्ञान के आधार से होनेवाले मतिज्ञान को श्रुतनिश्रित कहा जाता है, जो मतिज्ञान श्रुतावलम्बि नहीं होता उसे अश्रुतनिश्रित कहा जाता है ।

स्यादेतद् अनभ्यासदशायां प्रामाण्यसंदेहादपि प्रवृत्तेः किं प्रामाण्यनिश्चयप्रयोजनम्? इति। **तत्र वदन्ति**—तद्विषयसंशयापगम एव प्रयोजनम्, इति किं प्रयोजनान्तरनिरूपणप्रयासेन?। तत्प्रयोजनं किम्? इति चेत्? अभ्यास एव। 'संदेहात् प्रवर्त्तमानस्य कथं प्रेक्षावत्त्वं स्यात्?' इति चेत्? न कथञ्चित्, प्रेक्षावरणक्षयोपशमाऽऽसादितप्रेक्षावद्व्यपदेशस्यापि संदेहादिदशायां तदभावात् तथाव्यपदेशात्। उक्तं च—

"प्रेक्षवत्ता पुनर्ज्ञेया कस्यचित् कुत्रचित् क्वचित्। अप्रेक्षाकारिताप्येवमन्यत्राशेषवेदिनः ॥१॥" इति।

अयं भावः—तृणारण्यादिस्थले वह्नाविव प्रामाण्यसंशय—निश्चयस्थले प्रवृत्तौ विशेषाऽदर्शनाद् विशिष्य प्रवृत्तौ तयोर्हेतुत्वं न कल्प्यते चेत् तथापि प्रेक्षावरणक्षयोपशमभावाऽभावाभ्यामर्थतस्तयोः प्रेक्षावदप्रेक्षावत्प्रवृत्तित्वविशेषोऽनिवारित एव। न च सकम्पत्व—निष्कम्पत्वयोः प्रवृत्तिगतविशेषधर्मयोरनुभवात् तदवच्छिन्नयोरेव हेतुत्वमिति **निरवद्यम्**; कम्पा-ऽकम्पयोरपि फलानवश्यंभावसंभावनाजनितभय-तदभावनिमित्तत्वात् स्वाभाविकविशेषाऽसिद्धेः।

है। जैसे, इष्टसाधनता का त्वरित ज्ञान होने पर त्वरित प्रवृत्ति हो सकती है। अतः प्रवृत्ति में प्रामाण्यज्ञान का कहीं कोई उपयोग नहीं है और यदि कदाचित् कहीं उपयोग होता हो भी, तो प्रामाण्य के स्वतः ज्ञान में प्रवृत्ति का ऐसा पक्षपात नहीं हो सकता कि वह प्रामाण्य के स्वतः ज्ञान से ही हो, परतः ज्ञान से न हो।

[प्रामाण्यनिश्चय का प्रयोजन संशयह्रास]

प्रामाण्यग्रहण की उक्त द्विविध व्यवस्था मानने पर प्रामाण्य के परतः ग्रहण पक्ष के सम्बन्ध में यह प्रश्न हो सकता है कि अनभ्यासदशा में प्रामाण्य का सन्देह रहते हुये भी जब प्रवृत्ति हो सकती है तब बाद में सफल प्रवृत्तिरूप लिङ्ग से पूर्वज्ञान में प्रामाण्य का निश्चय आवश्यक मानने का क्या प्रयोजन है? इस प्रश्न के उत्तर में विद्वानों का कहना है कि पूर्वज्ञान में प्रामाण्यसंशय की निवृत्ति करना ही उस का प्रयोजन है, अतः उस से भिन्न किसी प्रयोजन के अन्वेषण का प्रयास निरर्थक है।

यदि यह पूछा जाय कि 'पूर्वज्ञान में प्रामाण्यसंशय की निवृत्ति का क्या प्रयोजन है?' तो इस का उत्तर यह है कि उस का प्रयोजन है अभ्यास। अभ्यास का अर्थ है पूर्वज्ञान के अनन्तर होनेवाले उस के विषयभूत पदार्थ के सजातीय विषय को ग्रहण करनेवाले ज्ञान में निश्चितप्रामाण्य के ज्ञान के सजातीयत्व का निश्चय। स्पष्ट है कि यह निश्चय पूर्वज्ञान में प्रामाण्य के निश्चय के विना नहीं हो सकता क्योंकि उक्त सजातीयत्वरूप विषय की कुक्षि में पूर्वज्ञानगत प्रामाण्यनिश्चय समाविष्ट है।

[प्रेक्षावत्ता हानि की शंका का उत्तर]

यदि यह प्रश्न हो कि सन्देह से प्रवृत्त होनेवाला मनुष्य प्रेक्षावान=विवेकशील कैसे कहा जा सकेगा? तो इस का उत्तर यह है कि कथमपि नहीं। क्योंकि प्रेक्षावान् शब्द से उसी मनुष्य का व्यपदेश होता है जिस के प्रेक्षावरण का क्षयोपशम हो जाता है। सन्देह दशा में प्रेक्षावरण का क्षयोपशम न होने से उस दशा में प्रेक्षावान का व्यपदेश न हो इस में कुछ भी असंगति नहीं है। कहा भी गया है कि-अशेषवेदी-सर्वज्ञ से भिन्न पुरुषों में कोई पुरुष, किसी

किञ्च, प्रामाण्याऽनिश्चयेऽपि कोट्यस्मरणादिना संशयाभावाद् निष्कम्पप्रवृत्त्युपपत्तेर्व्यभिचारादपि न तत्र प्रामाण्यनिश्चयस्य हेतुत्वम् । प्रेक्षापूर्वप्रवृत्तौ तु बाधपूर्वनिश्चये विशेषदर्शनस्येव प्रामाण्यनिश्चयस्य हेतुत्वं स्यादपीति । **वस्तुतः** प्रवृत्तावप्रामाण्यज्ञानानास्कन्दितस्यैवेष्टज्ञानस्य हेतुत्वाद् हेतुतावच्छेदक-विघटकाऽप्रामाण्यज्ञानापनयनार्थैव प्रामाण्यनिश्चयादरः । तदिदमुक्तम्–'तद्विषयसंशयापगम एव प्रयोजनम्' इति । अधिकमस्मत्कृतप्रमारहस्यादनुसंधेयम् ।

विशेष समय में, किसी विशेष विषय के बारे में प्रेक्षावान् होता भी है और प्रेक्षावान नहीं भी होता है।

कहने का आशय यह है कि जैसे तृण, अरणि आदि से उत्पन्न अग्नि में विभिन्न जाति-मत्ता का दर्शन न होने से, तृण आदि को विभिन्नजातीय अग्नि का कारण नहीं माना जाता वैसे ही प्रामाण्यसंशय एवं प्रामाण्यनिश्चय से होने वाली प्रवृत्तियों में भी विभिन्नजातीयता का अनुभव न होने से उन्हें भी विभिन्नजातीयप्रवृत्ति का कारण नहीं माना जा सकता। फिर भी प्रेक्षावरण के क्षयोपशम के रहने पर होनेवाली प्रवृत्ति और उसके अभाव में होनेवाली प्रवृत्तियों में क्रम से प्रेक्षावत्प्रवृत्तित्व तथा अप्रेक्षावत्प्रवृत्तित्वरूप वैलक्षण्य का परिहार तो नहीं ही हो सकता है। अतः यह निःशङ्कभाव से कहा जा सकता है कि प्रामाण्यसंदेह से प्रवृत्त होनेवाला मनुष्य उस वक्त प्रेक्षावान् नहीं कहा जा सकता क्योंकि उसे प्रेक्षावरण का क्षयोपशम नहीं प्राप्त है और प्रामाण्यनिश्चय से प्रवृत्त होनेवाला पुरुष उस वक्त प्रेक्षावान कहा जा सकता है क्योंकि उसे उक्त क्षयोपशम प्राप्त है।

यदि यह कहा जाय कि–प्रवृत्ति में सकम्पत्व और निष्कम्पत्व यह दो विलक्षणधर्म अनुभव सिद्ध हैं अतः सकम्पप्रवृत्ति के प्रति प्रामाण्यसंशय को तथा निष्कम्पप्रवृत्ति के प्रति प्रामाण्य-निश्चय को कारण मानने में कोई दोष नहीं है'–तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि कम्प और अकम्प ये प्रवृत्ति के स्वाभाविक धर्मभेद नहीं है किन्तु 'फल के अवश्यम्भाव की सम्भावना के अभाव से उत्पन्न भय से होनेवाली प्रवृत्ति सकम्प होती है और उक्त भय के अभाव में होनेवाली प्रवृत्ति निष्कम्प होती है–इस व्यवस्था के अनुसार प्रवृत्ति का सकम्पत्व और निष्कम्पत्व अन्यमूलक होने से प्रवृत्ति का स्वाभाविक विशेष नहीं है।

[निष्कम्पप्रवृत्ति में प्रामाण्यनिश्चय अहेतु]

दूसरी बात यह भी है कि कोटि का स्मरण आदि न होने की दशा में प्रामाण्य का संशय न होने पर प्रामाण्यनिश्चय के अभाव में भी निष्कम्प प्रवृत्ति की उत्पत्ति होती है, अतः व्यभिचार होने से निष्कम्पप्रवृत्ति के प्रति प्रामाण्यनिश्चय को कारण नहीं माना जा सकता। हाँ, केवल यह माना जा सकता है कि जैसे बाधपूर्वक निश्चय में विशेषदर्शन कारण होता है वैसे ही प्रेक्षापूर्वक प्रवृत्ति में प्रामाण्य का निश्चय कारण हो सकता है। सच बात तो यह है कि अप्रामाण्यज्ञान से अनाक्रान्त 'इष्टवस्तु का ज्ञान' ही प्रवृत्ति का कारण होता है। अप्रामाण्य-ज्ञानाभावरूप हेतुतावच्छेदक को विघटित करनेवाले अप्रामाण्यज्ञान के अपनयन में प्रामाण्य निश्चय की अपेक्षा होती है। इस तथ्य को दृष्टिगत रख कर ही कहा गया है कि प्रामाण्य-संशय की निवृत्त करना ही परतः प्रामाण्यग्रह का फल है। इस विषय में अधिक जिज्ञासा की पूर्ति व्याख्याकार के 'प्रमारहस्य' ग्रन्थ से की जा सकती है।

तत् सिद्धमेतत्—

प्रामाण्यं स्वत एव केवलदृशां ज्ञप्तौ, गुणापेक्षणादुत्पत्तौ परतः, स्वतश्च परतश्छाद्मस्थ्यभाजां पुनः ।
अभ्यासे च विपर्यये च विदितं ज्ञप्तौ, समुत्पद्यते त्वन्यस्मादिति शासनं विजयते जैनं जगज्जित्वरम् ॥१॥१५॥

एवं सर्वज्ञग्रहादुपमानस्याप्यत्र प्रवृत्तिरित्याह—

हृद्गताशेषसंशीतिनिर्णयात् तद्ग्रहे पुनः । उपमान्यग्रहे तत्र न चान्यत्रापि चान्यथा ॥१६॥

हृद्गताऽशेषसंशीतिनिर्णयात्=स्वहृदयगताखिलसंदेहापनयनाद् हेतोः, **तद्ग्रहे**=सर्वज्ञग्रहे सति **पुनः**=तदनन्तरम् **अन्यग्रहे**=तथाविधान्योपलब्धौ सत्याम्, **तत्र**=गृहीते सर्वज्ञे, 'अनेन सदृशोऽसौ' इत्युपमानम् । तदग्रहे चोपमाऽप्रवृत्तौ न क्षतिरित्याह—**न चान्यत्रापि च**=गो-गवयादावपि च **अन्यथा**=उभयदर्शनाभावे उपमासंभवः ।

उक्त विचारों से यह सिद्ध है कि-केवली-सर्वज्ञ को प्रामाण्य का ज्ञान स्वतः और प्रामाण्य का जन्म गुणापेक्ष होने से परतः होता है, किन्तु छद्मस्थ जीवों को अभ्यास दशा में प्रामाण्य का ज्ञान स्वतः और अभ्यास के अभाव में परतः एवं उत्पत्ति में भी परतः होता है। इस मान्यता के कारण ही जैनशासन जगत् को जीतनेवाला, संसार का सर्वोत्कृष्ट शासन है ।१५॥

[सर्वज्ञसाधक उपमान प्रमाण]

१६ वीं कारिका में यह बताया गया है कि प्रमाणान्तर से सर्वज्ञ की सिद्धि हो जाने पर अन्य सर्वज्ञ की सिद्धि उपमान प्रमाण से भी हो सकती है। कारिका का अर्थ इसप्रकार है—

सर्वज्ञ के सम्बन्ध में हृदय में उठनेवाले सम्पूर्ण संशय का उक्त रीति से निराकरण होकर प्रमाण (अनुमान) द्वारा सर्वज्ञ की सिद्धि हो जाने पर उस के अनन्तर उस के सदृश अन्य सर्वज्ञ का ज्ञान होने पर पूर्वसिद्ध सर्वज्ञ में उपलभ्यमान सर्वज्ञ के सादृश्य को ग्रहण करनेवाले 'वह इस के सदृश है' इसप्रकार के उपमानप्रमाण की भी प्रवृत्ति हो सकती है। अतः सर्वज्ञ की सर्वथा असिद्धिदशा में यदि उस में उपमान प्रमाण की प्रवृत्ति नहीं होती है तो कोई क्षति नहीं है, क्योंकि उपमेय और उपमान दोनों के दर्शन न होने की दशा में गो और गवय आदि में भी उपमान प्रमाण की प्रवृत्ति नहीं होती है।

कहने का आशय यह है कि जैसे गो का ज्ञान होने के अनन्तर उस के सदृश गवय का दर्शन होने पर ही गो में गवयसादृश्य का उपमानजन्य बोध होता है, अन्यथा नहीं होता। इतने मात्र से गो-गवय आदि को उपमान का अविषय नहीं माना जाता किन्तु उपमान का विषय माना ही जाता है। उसी प्रकार अनुमान प्रमाण से एक सर्वज्ञ की सिद्धि हो जाने के अनन्तर उस के सदृश अन्य सर्वज्ञ का दर्शन होने पर पूर्वसिद्ध सर्वज्ञ में दृश्यमान सर्वज्ञ के सादृश्य का उपमानजन्य बोध हो ही सकता है। अतः उपमान एवं उपमेयभूत सर्वज्ञ के अज्ञान-दशा में उपमान प्रमाण से यदि सर्वज्ञ की सिद्धि नहीं होती तो इतने मात्र से उसे उपमान प्रमाण का अविषय नहीं कहा जा सकता। अतः यह मानना सर्वथा उचित है कि सर्वज्ञ के साधन में उपमान प्रमाण भी सर्वथा पङ्गु नहीं है।

अत्र **वैशेषिकादयः**—'नोपमानमतिरिच्यते विषयाभावात्। न च सादृश्यं विषयः, तद्धि नातिरिक्तम्, तद्व्यञ्जकत्वाभिमतस्य तदन्यत्वे सति तद्धर्मवत्त्वादेरेव तत्त्वात्। तच्च स्वघटकभेदप्रतियोगिज्ञानसहकृतेन्द्रियग्राह्यम्। **एतेन** 'इन्द्रियसंनिकर्षमात्रात् तदग्रहेण लिङ्गाद्यप्रतिसंधानेऽपि च ग्रहणे तस्यानतिरिक्तत्वेऽपि ग्राहकान्तरमावश्यकम्' **इत्यपास्तम्। ननु** तथापि गवये गोप्रतियोगिकसादृश्यज्ञानकरणकं गवि गवयप्रतियोगिकसादृश्यज्ञानमुपमितिरस्तु। न ह्येतत् प्रत्यक्षम्, विशेष्यस्य गोरसंनिकर्षात्। नापि स्मृतिः, अननुभूतविषयकत्वात्, गोरनुभवेऽपि विशिष्टस्याननुभवात्। तदुक्तम्—

[उपमान स्वतंत्र प्रमाण नहीं है–वैशेषिक]

वैशेषिक आदि कतिपय दर्शनों का मत है कि उपमान यह अतिरिक्त प्रमाण नहीं है क्योंकि उस का कोई अतिरिक्त विषय नहीं है। कहने का आशय यह है कि–

किसी नवीन प्रमाण की सिद्धि तभी होती है जब उस का कोई ऐसा नवीन विषय हो जिस का ग्रहण क्लृप्त (तदन्य प्रसिद्ध) प्रमाणों से न हो सकता हो। यतः क्लृप्त प्रमाणों से ग्रहण न होने योग्य कोई नवीन विषय नहीं है अत: उपमान नामक अतिरिक्त प्रमाण की कल्पना निराधार है।

यदि यह कहा जाय कि-'सादृश्य एक ऐसा अतिरिक्त विषय है जिस का ग्रहण अनुमान आदि से नहीं होता अत: उस के ग्रहण के लिये उपमानप्रमाण मानना उचित है'-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि सादृश्य अतिरिक्त पदार्थ नहीं है किन्तु सादृश्य को अतिरिक्त पदार्थ माननेवाले जिसे सादृश्य का व्यञ्जक मानते हैं-सादृश्य उस से भिन्न नहीं है, किन्तु वही सादृश्य है। जैसे, जो जिस से भिन्न होता है और जिस के बहुतर धर्म का या विशेष धर्म का आश्रय होता है उस में उस के सादृश्य की प्रतीति होती है। जैसे, किसी सुन्दर नारी का मुख चन्द्रमा से भिन्न और चन्द्रमा के आह्लादकत्व धर्म का आश्रय होने से चन्द्रसदृशरूप में गृहीत होता है। सादृश्य को अतिरिक्त पदार्थ माननेवाले लोग नारी–मुख में ज्ञात होनेवाले चन्द्रसादृश्य को चन्द्रभिन्नत्वविशिष्ट चन्द्रगत आह्लादकत्व से व्यङ्ग्य मानते हैं, किन्तु वैशेषिक का कहना यह है कि चन्द्रभिन्नत्वसहित चन्द्रगत आह्लादकत्व यही नारीमुख में चन्द्रमा का सादृश्य है। उस से भिन्न सादृश्य की कल्पना निर्युक्तिक एवं गौरवग्रस्त है। और जब उक्त धर्म ही सादृश्य है तो उस का ग्रहण उस की कुक्षि में प्रविष्ट भेद के प्रतियोगी चन्द्रमा के ज्ञान से सहकृत इन्द्रिय से ही हो सकता है, अतः उस के ग्रहण के लिये उपमाननामक अतिरिक्त प्रमाण का अभ्युपगम अनावश्यक है। इसीलिये यह कथन भी निरस्त हो जाता है कि-"इन्द्रिय-सन्निकर्ष मात्र से सादृश्य का ग्रहण नहीं होता एवं लिङ्ग आदि का ज्ञान न होने पर भी सादृश्य का ग्रहण होता है अत: सादृश्य को अतिरिक्त पदार्थ न मानने पर भी उस के ग्राहक अन्य प्रमाण का अभ्युपगम आवश्यक है, क्योंकि सादृश्य की कुक्षि में प्रविष्ट भेद के प्रतियोगिभूत उपमान का ज्ञान रहने पर इन्द्रिय से उस का ग्रहण हो सकता है।" क्योंकि यह कैसे कहा जा सकता है कि नारी के आह्लादकमुख के साथ नेत्र का सन्निकर्ष होने पर यदि चन्द्रमा की स्मृति हो जाती है तो भी नेत्र से ही यह ज्ञान नहीं होता कि यह नारीमुख चन्द्रमा से भिन्न होते हुये भी चन्द्रदर्शन से होनेवाले आह्लाद को उत्पन्न करता है?! अतः तद्भिन्नत्वसहित

"तस्माद् यत् स्मर्यते तत् स्यात् सादृश्येन विशेषितम्। प्रमेयमुपमानस्य सादृश्यं वा तदन्वितम् ॥१॥" [श्लो०वा०] इत्युपमानमतिरिच्यतामिति चेत्? न, एवं सति 'गवयो गोविधर्मा' इति ज्ञानस्यापि 'गौर्गवयविधर्मा' इति ज्ञानजनकस्य मानान्तरत्वप्रसङ्गात्। यदि च गवये गोप्रतियोगिकवैधर्म्यज्ञाने गवि गवयनिष्ठवैधर्म्यप्रतियोगित्वेन ज्ञानेन गवयप्रतियोगिकवैधर्म्यमनुमीयते, तदा तुल्यम्, प्रकृतेऽपि गवयनिष्ठसादृश्यप्रतियोगित्वेन गवयप्रतियोगिकसादृश्यानुमानात्' इत्याहुः।

तद्गतभूयोधर्मरूप तत्सादृश्य का तद्ग्राहकप्रत्यक्षादिप्रमाण द्वारा ग्रहण संभव होने से उपमान नामक अतिरिक्त प्रमाण की आवश्यकता नहीं है।

[उपमान स्वतंत्र प्रमाण है-मीमांसक]

वैशेषिकों की उक्त मान्यता के विरुद्ध उपमानप्रमाणवादी मीमांसक आदि का कहना यह है कि पुरोवर्ती प्रत्यक्षयोग्यद्रव्य में उक्त रीति से प्रत्यक्षप्रमाण द्वारा सादृश्य का ग्रहण संभव होने पर भी दूरस्थ द्रव्य में पुरोवर्ती द्रव्य के सादृश्य का ग्रहण प्रत्यक्षप्रमाण आदि से संभव नहीं हो सकता। जैसे, अरण्यस्थ पुरुष के शब्द से गवय में गोसादृश्य का ज्ञान होने के अनन्तर अरण्य में गये ग्रामीण पुरुष को गवय का दर्शन होने पर 'मेरी गौ इस के सदृश है' इस प्रकार दूरस्थ गौ में सम्मुखवर्ती गवय के सादृश्य का ज्ञान होता है। यह ज्ञान प्रत्यक्षआदि से विलक्षणप्रमारूप है जिसे उपमिति कहा जाता है, जो अरण्यस्थ पुरुष के वाक्य द्वारा बोधित 'गवय में गो सादृश्य' के स्मरण से उत्पन्न होती है। अथवा जिसे अरण्यवासी पुरुष के द्वारा गवय में गोसादृश्य का बोध नहीं हुआ है उसे भी अरण्य में नेत्र के सम्मुख गवय उपस्थित होने पर, प्रत्यक्षप्रमाण से गवय में गोसादृश्यज्ञान होने के अनन्तर, अपनी ग्रामस्थ गौ में गवय सादृश्य का ज्ञान होता है। उस का यह ज्ञान भी प्रत्यक्षादि से विलक्षण प्रमा है जिस का जन्म गवय में गोसादृश्यज्ञान से होता है। अतः उस ज्ञान के कारणभूत गवयनिष्ठ गोसादृश्य ज्ञान को उपमाननामक अतिरिक्त प्रमाण मानना आवश्यक है, क्योंकि अरण्यगत पुरुष को दूर ग्राम में स्थित गौ में गवयसादृश्य का जो ज्ञान होता है उसे प्रत्यक्ष प्रमा में समाविष्ट नहीं किया जा सकता क्योंकि उस ज्ञान के विशेष्यभूत गौ के साथ इन्द्रियसन्निकर्ष नहीं है। उस ज्ञान को स्मृति में भी समाविष्ट नहीं किया जा सकता, क्योंकि उस का विशेष्यभूत गौरूप विषय यद्यपि पूर्वानुभूत है किन्तु गवयसादृश्यरूप विशेषण पूर्वानुभूत न होने से गवयसादृश्य विशिष्ट गौ पूर्वानुभूत नहीं है, और उक्तज्ञान इस पूर्वाननुभूत विशिष्ट को ग्रहण करता है अतः वह स्मृतिरूप नहीं हो सकता क्योंकि स्मृति अननुभूतविषयक नहीं होती। कहा भी गया है कि-किसी सदृश वस्तु का दर्शन होने पर जिस पदार्थ का स्मरण होता है-दृश्यमान पदार्थ के सादृश्य से विशिष्ट उस पदार्थ का अथवा उस पदार्थ से विशिष्ट दृश्यमान पदार्थ का सादृश्य, उपमानप्रमाण का प्रमेय है, क्योंकि गोसदृश गवय का दर्शन होने पर 'गौः गवयसदृशः' अथवा 'गवि गवयसादृश्यम्' इस प्रकार की प्रमा का उदय आनुमानिक है। अतः इस विलक्षणप्रमा के लिये उपमान नामक अतिरिक्त प्रमाण को मानना आवश्यक है।

[वैधर्म्यग्राहक स्वतंत्र प्रमाण की आपत्ति]

किन्तु वैशेषिकों की दृष्टि में मीमांसक का उक्त कथन संगत नहीं है क्योंकि 'गवयः गोसदृशः' इस ज्ञान को यदि 'गौः गवयसदृशः' इस ज्ञान का जनक अतिरिक्तप्रमाण माना

नैयायिकास्तु–'कीदृग् गवयः?' इति प्रश्ने 'गोसदृशो गवयः' इत्युत्तरवाक्ये श्रुते, वने पर्यटतस्तत्सदृशपिण्डदर्शनानन्तरं तत्र गवयपदशक्तिपरिच्छेद उपमानफलम्, इन्द्रिय-लिङ्ग-शब्दासाध्यत्वात्। **न च** 'गोसदृशो गवयः' इति वाक्यादेव गोसादृश्यविशिष्टे शक्तिग्रहः, 'गोसदृशो गवयपदवाच्यः, असति वृत्त्यन्तरे वृद्धैस्तत्र प्रयुज्यमानत्वात्' इत्यनुमानाद् वेति **शङ्कनीयम्**; गौरवात्, तदज्ञानेऽपि व्यवहारादिना गवयत्वविशिष्टे शक्तिग्रहेण गवयपदप्रयोगाच्च गोसादृश्यस्य गवयपदाऽप्रवृत्तिनिमित्तत्वात्, गवयत्वस्य तादृशस्य प्रागप्रतीतेः, शब्दादनुमानाद् वा तेन रूपेण शक्त्यग्रहात्। **न च** गवय-त्वप्रत्यक्षानन्तरं 'गोसदृशो गवयः' इति वाक्याल्लक्षणया गवयत्वविशिष्टे शक्तिग्रह इति **वाच्यम्**

जायगा तो 'गवयो गोधिधर्मा' इस ज्ञान को भी 'गौः गवयधिधर्मा' इस ज्ञान का जनक एक और अतिरिक्त प्रमाण मानना पड़ेगा।

यदि इस के उत्तर में मीमांसक की ओर से यह कहा जाय कि–'गवय में गो के वैधर्म्य का ज्ञान होने पर गो में गवयनिष्ठ वैधर्म्य के प्रतियोगित्व का ज्ञान हो जाता है। अतः उस प्रतियोगित्व से गो में गवयवैधर्म्य की अनुमिति होती है, इसलिये गौ में गवयवैधर्म्यज्ञान का अनुमिति में अन्तर्भाव हो जाने से उस के लिये पृथक् प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती'-तो यह बात गो में गवयसादृश्य ज्ञान के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। जैसे यह कहा जा सकता है कि गवय में गोसादृश्य का ज्ञान होने पर गो में गवयनिष्ठसादृश्य के प्रतियोगित्व का ज्ञान हो जाता है और उस प्रतियोगित्व से गो में गवयसादृश्य की अनुमिति हो सकती है अतः गो में गवयसादृश्यज्ञान का अनुमिति में अन्तर्भाव हो जाने से उस के लिये उपमान नामक अतिरिक्त प्रमाण की कल्पना निर्युक्तिक है।

['गवय'पद का शक्तिज्ञान उपमान का फल–नैयायिक]

नैयायिकों का कहना है कि गवयरूप पशुविशेष में गवयपद की शक्ति के ज्ञानार्थ उपमान-नामक अतिरिक्त प्रमाण मानना आवश्यक है। उन का आशय यह है कि जब कोई ग्रामीण-ग्रामवासी मनुष्य गाँव में आये हुये किसी अरण्यवासी व्यक्ति से गवय की चर्चा सुन कर पूछता है कि 'गवय कैसा होता है? किस प्रकार के पशु को गवय कहा जाता है?' तब अरण्यवासी व्यक्ति उसे बताता है कि गवय गोसदृश होता है, गोसदृश पशु को गवय कहा जाता है। अरण्यवासी पुरुष के वाक्य से गवय की जानकारी प्राप्त कर ग्रामवासी पुरुष जब कभी अरण्य में जाने पर गोसदृश पशु को देखता है तब उसे अरण्यवासी पुरुष के वाक्यार्थ का स्मरण होने से उसे 'गोसदृशोऽयं गवयः=गोसदृश यह पशु गवय पद का वाच्य है' इस प्रकार की प्रमा उत्पन्न होती है। यह प्रमा गोसदृश पशु में गवयपद की शक्ति को विषय करती है और वह इन्द्रिय, लिङ्ग अथवा शब्द से नहीं उत्पन्न होती किन्तु गोसदृश पशु के दर्शन से उत्पन्न होती है अतः इसे गोसादृश्यज्ञानरूप कारण से ही उत्पन्न मानना आवश्यक है। फलतः सादृश्यज्ञान इस प्रमा का करण होता है। वह प्रत्यक्षादि प्रमाणों में अन्तर्भूत नहीं होता, अत एव उसे स्वतन्त्र प्रमाण मानना और गौरवरूप उपमान को विषय करने से उपमान शब्द से व्यवहृत करना न्यायप्राप्त है।

[वाक्य या अनुमान से शक्तिग्रह का असंभव]

यदि यह कहा जाय कि–"ग्रामवासी पुरुष जब गाँव में आये अरण्यवासी पुरुष के 'गोसदृशो गवयः' इस वाक्य को सुनता है तब उसे उसी समय उस वाक्य से ही गोसादृश्य

विशिष्ट में गवयपद की शक्ति की प्रमा हो जाती है। अथवा यह भी कहा जा सकता है कि गोसदृश पशु में अरण्यवासी पुरुष द्वारा किये गए गवय पद के व्यवहार की जानकारी होने पर ग्रामवासी पुरुष को यह अनुमान होता है कि 'गोसदृश 'गवय' पद से वाच्य होता है; क्योंकि, लक्षणारूप अन्य वृत्ति के बिना भी वृद्ध पुरुषों के द्वारा गवयपद से व्यवहृत होता है। जो अर्थ लक्षणा के बिना भी वृद्ध पुरुषों द्वारा जिस पद से व्यवहृत होता है वह उस शब्द से वाच्य होता है; जैसे घट शब्द से वाच्य घट आदि रूप अर्थ।" इस प्रकार के अनुमान प्रमाण से ग्रामवासी पुरुष को गोसदृश पशु में गवय पद का शक्तिग्रह हो जाता है। अतः गवयपद के शक्तिग्रहरूप प्रयोजन के अनुरोध से प्रमाणान्तर की कल्पना नहीं हो सकती" -तो यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि अरण्यवासी पुरुष के उक्त वाक्य से अथवा उक्त अनुमान से गोसादृश्यविशिष्ट में ही 'गवय' पद का शक्तिग्रह हो सकता है, गवयत्वविशिष्ट में गवयपद का शक्तिग्रह नहीं हो सकता, क्योंकि ग्रामवासी पुरुष को उस समय गवयत्वविशिष्ट का ज्ञान ही नहीं होता। अतः उक्त वाक्य अथवा उक्त अनुमान से गवयपद का शक्तिग्रह मानने पर गोसादृश्य को 'गवय'पद का शक्यतावच्छेदक मानना आवश्यक होने के कारण गौरव होगा।

[अन्योन्याश्रय दोष का निरसन]

यदि यह कहा जाय कि-' गवयत्वविशिष्ट में गवयपद का शक्तिग्रह सिद्ध होने पर ही उस के उपपादनार्थ उपमानप्रमाण की कल्पना हो सकती है और उपमान प्रमाण से ही गवयत्व विशिष्ट में गवय पद का शक्तिग्रह हो सकता है। फलतः गवयत्वविशिष्ट में गवयपद की शक्ति का अभ्युपगम अन्योन्याश्रय दोष से ग्रस्त होने के कारण स्वीकार्य नहीं हो सकता। इसलिये गौरव होने पर भी गोसादृश्यविशिष्ट में ही गवयपद की शक्ति मानना उचित है और उस का ज्ञान उक्तवाक्य एवं उक्त अनुमान से संभव होने के कारण उपमान प्रमाण की कल्पना असंगत है' -तो यह ठीक नहीं है क्योंकि अरण्यवासी पुरुषों को अरण्य में गोसादृश्य अज्ञात होने पर भी व्यवहार द्वारा गवयत्वविशिष्ट में गवयपद का शक्तिग्रह होता है अत एव ग्रामवासी पुरुष को भी गवयत्वविशिष्ट में ही गवयपद का शक्तिग्रह मानना उचित है। और यह शक्तिज्ञान ग्रामवासी पुरुष को गवय-दर्शन के पूर्व नहीं हो सकता। अतः यदि उसे अरण्यवासी पुरुष के उक्त वाक्य से अथवा उक्त अनुमान से गोसादृश्यविशिष्ट में गवयपद का शक्तिग्रह हो भी जाता है तो भी जब वह अरण्य में जाने पर गवय को प्रत्यक्ष देखता है तब उसे अरण्यवासी पुरुष के पूर्वश्रुत वाक्यार्थ का स्मरण होकर गवयत्वविशिष्ट में गवयपद का शक्तिग्रह होता है, और उस के फलस्वरूप ग्राम में रहते समय उत्पन्न गोसादृश्यविशिष्ट में गवयपद के शक्तिग्रह में अप्रामाण्य ज्ञान हो जाता है। फलतः ग्रामवासी पुरुष भी इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि गवयत्वविशिष्ट ही गवयपद का वाच्य है, किन्तु यह निष्कर्ष उपमानप्रमाण के बिना संभव नहीं है। क्योंकि ग्रामवासी पुरुष को अरण्य में गवयदर्शन होने पर जो गवयत्वविशिष्ट में गवय पद का शक्तिग्रह होता है वह प्रत्यक्ष, अनुमान या शब्दप्रमाण से नहीं होता। किन्तु अरण्यवासी पुरुष के पूर्वश्रुत वाक्यार्थ के स्मरण द्वारा सम्मुख (पुरोवर्ती) पशु में गोसादृश्य के दर्शन से होता है। अतः उक्त दर्शन ही कथित रीति से उपमान प्रमाणरूप में सिद्ध होता है।

यदि यह कहा जाय कि-" ग्रामवासी पुरुष को अरण्य में जब गवय का दर्शन होता है तब अरण्यवासी पुरुष के पूर्वश्रुतवाक्य के अर्थ का ही स्मरण नहीं होता किन्तु उस के ' गोसदृशो गवयः ' इस वाक्य का भी स्मरण होता है। अतः गोसदृश शब्द की गवयत्वविशिष्ट में लक्षणा

गोसादृश्यसामानाधिकरण्येन गवयपदवाच्यत्वबोधजननात्, जनितान्वयबोधतयाऽनाकाङ्क्षत्वेन तस्य लक्षणीयं बोधयितुमसमर्थत्वात् । ननु तथापि 'गवयपदं सप्रवृत्तिनिमित्तकम्, पदत्वात्' इति सामान्यतोदृष्टमितरबाधात् लाघवाच्च गवयत्वप्रवृत्तिनिमित्तकत्वबोधकमस्तु; अस्तु वा 'गवयत्वप्रवृत्तिनिमित्तकं तत्, इतराऽप्रवृत्तिनिमित्तकत्वे सति सप्रवृत्तिनिमित्तत्वादि'ति व्यतिरेक्येव तथेति चेत् ? न, अनुमितेर्व्यापकतानवच्छेदकाऽप्रकारकत्वात्, द्वितीये साध्याप्रसिद्धेश्च ।

द्वारा उस वाक्य से ही उसे गवयत्वविशिष्ट में गवयपद का शक्तिग्रह हो सकता है । अतः उस शक्तिग्रह के अनुरोध से भी उपमानप्रमाण की कल्पना नहीं हो सकती"- तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि उक्तवाक्य से गोसादृश्य से उपलक्षितअर्थ में गवयपद की शक्ति का बोध हो सकता है । अतः उक्तवाक्य से लक्षणा द्वारा बोध की उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती, क्योंकि लक्षणा तभी मान्य होती है जब शक्ति द्वारा वाक्यार्थबोध नहीं हो पाता, किन्तु जब शक्ति द्वारा कोई वाक्यार्थ बोध उत्पन्न हो जाता है तब वाक्य अर्थान्तर में (दूसरे अर्थ में) निराकाङ्क्ष हो जाने से लक्षणा का आश्रयण नहीं हो सकता ।

[अनुमान से गवयपद की शक्ति का ग्रह–उपमानप्रतिपक्षी]

उपमानविरोधी लोगों की ओर से यदि यह कहा जाय कि-'उक्तवाक्य से गवयत्वविशिष्ट में गवयपद का शक्तिग्रह न होने पर भी अनुमान से गवयपद का शक्तिग्रह हो सकता है । जैसे, ग्रामवासी पुरुष के अरण्य में जाने पर तथा गवय का दर्शन होने पर उसे यह अनुमान हो सकता है कि "गवयपद 'सप्रवृत्तिनिमित्तक अर्थात् किञ्चिद्धर्मविशिष्ट' का वाचक है क्योंकि वह पद है। जो पद होता है वह सप्रवृत्तिनिमित्तक होता है ।" यदि यह कहा जाय कि-"इस अनुमान से तो केवल इतना ही सिद्ध हो सकता है कि गवयपद का कोई प्रवृत्तिनिमित्त है, किन्तु यह नहीं सिद्ध हो सकता कि गवयत्व ही गवयपद का प्रवृत्तिनिमित्त है । अतः इस सिद्धि के लिये उपमान प्रमाण मानना आवश्यक है"-तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि गवयत्वभिन्न गोत्वादि जातियों में गवयपद की प्रवृत्तिनिमित्तता का बाधज्ञान है और गोसादृश्य आदि की अपेक्षा गवयत्व को गवयपद का प्रवृत्तिनिमित्त मानने में लाघवज्ञान है । अतः इन दोनों ज्ञानों के सहयोग से प्रवृत्तिनिमित्त के साधक उक्त सामान्य अनुमान से भी यह अनुमितिस्वरूप निश्चय हो सकता है कि गवयत्व ही गवयपद का प्रवृत्तिनिमित्त है। दूसरे भी एक अनुमान से गवयपद में गवयत्व प्रवृत्तिनिमित्त होने का निश्चय हो सकता है । जैसे-गवयपद में सप्रवृत्तिनिमित्तकत्व के सामान्यानुमान के बाद यह अनुमान हो सकता है कि 'गवयपद गवयत्वप्रवृत्तिनिमित्तक है क्योंकि गवयत्व से इतरधर्म उस का प्रवृत्तिनिमित्त नहीं है किन्तु वह सप्रवृत्तिनिमित्तक है, जो गवयत्वप्रवृत्तिनिमित्तक न हो किन्तु सप्रवृत्तिनिमित्तक हो वह गवयत्व से भिन्न प्रवृत्तिनिमित्त से शून्य नहीं होता, जैसे, घट आदिपद गवयत्व प्रवृत्तिनिमित्तक नहीं है तो वह गवयत्व से भिन्न प्रवृत्तिनिमित्त से शून्य भी नहीं है, क्योंकि गवयत्वभिन्न घटत्व आदि उस का प्रवृत्तिनिमित्त विद्यमान है।' इस व्यतिरेकी अनुमान से भी गवयपद में गवयत्वप्रवृत्तिनिमित्तकत्व का निश्चय हो सकता है ।

यदि यह कहा जाय कि-"अरण्य में गवयदर्शन होने पर ग्रामवासी पुरुष को अरण्यवासी पुरुष के पूर्वश्रुत वाक्यार्थ का स्मरण होने मात्र से ही उक्त अनुमान के बिना भी गवयपद में गवयत्वप्रवृत्तिनिमित्तकत्व का निश्चय होता है अतः उस की उपपत्ति के लिए उप-

मानप्रमाण मानना आवश्यक है"-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि उपमान प्रमाण मानने पर भी गवयपद में गवयत्वप्रवृत्तिनिमित्तकत्व का निश्चय उक्त सामान्यानुमान के बिना नहीं हो सकता, क्योंकि ग्रामवासी पुरुष को अरण्य में 'गोसदृशो गवयः' इस प्रकार का ही गवयदर्शन, उपमानप्रमाणवादी को भी मानना पड़ता है; क्योंकि सादृश्य दर्शन ही उन के मत में उपमान प्रमाण है। अतः इस दर्शन के अभाव में उपमान से भी गवयत्वविशिष्ट में गवयपद का शक्तिग्रह नहीं हो सकता। और जब गवय का उक्त दर्शन ही आवश्यक है तब गवयत्व और गोसादृश्य दोनों के समान रूप से उपस्थित होने से उपमानप्रमाण द्वारा गोसादृश्यविशिष्ट में गवयपद का शक्तिग्रह हो अथवा गवयत्वविशिष्ट में गवयपद का शक्तिग्रह हो-इस में कोई विनिगमना न होने से गवयत्वविशिष्ट में गवयपद का शक्तिग्रह नहीं हो सकता। अतः उपमानप्रमाण से गवयपद में गवयत्वप्रवृत्तिनिमित्तकत्व का निश्चय करने के लिये गवयपद को गोसादृश्यप्रवृत्तिनिमित्तक मानने की अपेक्षा गवयत्वप्रवृत्तिनिमित्तक मानने में लाघव है-इस प्रकार के लाघवज्ञानरूप विनिगमक की अपेक्षा है। और यह लाघवज्ञान तभी हो सकता है जब यह जिज्ञासा उत्पन्न हो कि गवयपद गोसादृश्यप्रवृत्तिनिमित्तक है अथवा गवयत्वप्रवृत्तिनिमित्तक है। और यह जिज्ञासा प्रवृत्ति-निमित्तविशेष की जिज्ञासारूप है अतः इस का उदय तभी हो सकता है जब गवयपद में सामान्यरूप में सप्रवृत्तिनिमित्तकत्व का निश्चय हो। अतः उपमानप्रमाणवादी को भी गवयपद में सप्रवृत्तिनिमित्तकत्व के सामान्यानुमान की अपेक्षा होने से यह नहीं कहा जा सकता कि 'उक्त अनुमान के अभाव में भी उपमानप्रमाण से गवयपद में गवयत्वप्रवृत्तिनिमित्तकत्व का निश्चय हो सकता है।' और जब उक्त अनुमान और उक्त लाघवज्ञान उपमानप्रमाणवादी को भी अपेक्षित होता है तो उक्त लाघवज्ञानसहकृत उक्त अनुमान से ही गवयपद में गवयत्वप्रवृत्तिनिमित्तकत्व का निश्चय संभव होने से उपमानप्रमाण की कल्पना निरर्थक है।"

[अनुमान से गवयपद की शक्ति का ग्रह असंभव–नैयायिक]

अब नैयायिक विद्वान कहते हैं कि-उपमानविरोधी का उक्त कथन सम्यक् नहीं है, क्योंकि गवयपद में सप्रवृत्तिनिमित्तकत्व का जो सामान्य अनुमान बताया गया है उस से गवयत्वप्रवृत्तिनिमित्तकत्व की अनुमिति नहीं हो सकती, क्योंकि उस सामान्यानुमान के लिये अपेक्षित व्याप्तिज्ञान का आकार यही है कि-'जो पद होता है वह (सामान्यरूप से) सप्रवृत्तिनिमित्तक होता है' न कि 'जो पद होता है वह (विशेषरूप से) गवयत्वप्रवृत्तिनिमित्तक होता है।' क्योंकि पदत्व घटादिपद में गवयत्वप्रवृत्तिनिमित्तकत्व का व्यभिचारी है। इस प्रकार उक्त सामान्यानुमान में अपेक्षित व्याप्तिज्ञान जब सप्रवृत्तिनिमित्तकत्व में ही पदत्व की व्यापकता को विषय करता है और गवयत्वप्रवृत्तिनिमित्तकत्व में नहीं करता तो उस व्याप्तिज्ञान से गवयत्वप्रवृत्तिनिमित्तकत्व की अनुमिति कैसे हो सकती है? क्योंकि यह नियम है-जो व्याप्तिज्ञान जिस रूप से साध्य में हेतुव्यापकता को विषय करता है उस व्याप्तिज्ञान से उस रूप से ही साध्य की अनुमिति होती है। हेतु के व्यापकतानवच्छेदकरूप से साध्य- अनुमिति में प्रकार नहीं होता।

सामान्यानुमान के बाद होनेवाले उक्त व्यतिरेकी अनुमान से भी गवय पद में गवयत्वप्रवृत्तिनिमित्तकत्व की अनुमिति नहीं हो सकती क्योंकि उस अनुमान द्वारा सीधे गवयत्वप्रवृत्तिनिमित्तकत्व ही साध्य है और वह स्वयं अप्रसिद्ध है और अप्रसिद्धवस्तुप्रकारक कोई ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि तत्प्रकारकबुद्धि में तद्विषयक ज्ञान कारण होता है।

अत्र 'सादृश्यादिविशिष्टपिण्डदर्शनं करणम्, उद्बोधकीभूतैतज्जन्यातिदेशवाक्यार्थस्मृतिर्व्यापारः' इति **मिश्राः**। 'एतन्मये वाक्यार्थस्मृत्यव्यवहितोत्तरं सादृश्यविशिष्टपिण्डदर्शने उपमितिर्न स्यात्, इत्यतिदेशवाक्यार्थधीः करणम्, तदर्थस्मृतिर्व्यापारः, सदृशपिण्डदर्शनं च सहकारि' इति **नव्याः**। 'एतन्मयेऽतिदेशवाक्यार्थानुभवोत्तरमेव सदृशपिण्डदर्शने उपमितिर्न स्यादिति वाक्यज्ञानं करणम्, वाक्यार्थानुभवादिकं व्यापारः' **इत्यन्ये**। "अयमपि नयश्चित्रलेखादिना मानसबोधादुपमित्यभावे शोभते। न च निश्चयत्वाऽप्रवेशलाघवादतिदेशवाक्यार्थशाब्दत्वेनैव हेतुत्वात् प्रकृत आभिप्रायिक-शब्दकल्पनाद् नानुपपत्तिरिति **वाच्यम्**; तदर्थज्ञानसत्त्वेऽपि व्यापारभूततन्निश्चयादेव कार्यसंभवात्।

[मिश्र और नव्य नैयायिकों का मतभेद]

उपमान प्रमाण के सम्बन्ध में मिश्र (पक्षधरमिश्र) का यह कहना है कि गोसादृश्यविशिष्ट-पिण्ड (पशु शरीर) का दर्शन उपमिति प्रमा का करण है एवं इस दर्शनरूप उद्बोधक से उत्पन्न 'गोसदृशो गवयः' इस अतिदेश वाक्य के अर्थ का स्मरण व्यापार है और गोसदृश गवय में गवयपद का शक्तिग्रह, उन दोनों का उपमिति प्रमारूप फल है।

किन्तु इस मिश्र मत में, जब किसी अन्य उद्बोधक से उक्त अतिदेशवाक्य के अर्थ की स्मृति होगी, और उस के अव्यवहित उत्तरक्षण में गोसादृश्यविशिष्टपिण्ड का दर्शन होगा, तब गोसदृश गवय में गवयपदवाच्यत्व की उपमिति न हो सकेगी, क्योंकि उस समय उप-मिति-करण और उस के व्यापार के पौर्वापर्य का भंग है। अतः नव्य कुछ नैयायिकों का कहना है कि 'गोसदृशो गवयः' इस अतिदेश वाक्यार्थ का शाब्दबोध उपमिति का करण है, और अतिदेशवाक्यार्थ का स्मरण उस का व्यापार है, एवं गोसदृशपिण्ड का दर्शन उस स्मरण का सहकारी है। अतः उक्त स्मरण और उक्तदर्शन के पौर्वापर्य का कोई नियम न होने से दोनों स्थिति में वाक्यार्थस्मृति के पूर्व अथवा वाक्यार्थस्मृति के बाद उक्त दर्शन होने पर उपमिति होने में कोई बाधा नहीं हो सकती।

[नव्यनैयायिक के साथ दूसरे विद्वानों का मतभेद]

उक्त नव्य मत में-जब 'गोसदृशो गवयः' इस अतिदेश वाक्य के अर्थानुभव के बाद तथा उस अर्थ के स्मरण के पूर्व, गोसदृशपिण्ड का दर्शन होगा तब उपमिति का उदय न हो सकेगा क्योंकि उक्त वाक्यार्थानुभव के उक्त वाक्यार्थस्मरणरूप व्यापार का उस काल में अभाव है। अतः अन्य किसी विद्वानों का कहना है कि उक्त अतिदेश वाक्य का ज्ञान ही करण है और उस वाक्य का अर्थानुभव अथवा अर्थस्मरण ही उस का व्यापार है तथा गोसदृश पिण्ड का दर्शन उस व्यापार का सहकारी है। किन्तु, युक्ति के आधार पर निष्कर्ष का अभ्युपगम करनेवाले विद्वानों का कहना है कि-अन्य विद्वानों द्वारा उक्त मत भी तभी समीचीन हो सकता है जब 'गोसदृशो गवयः' इस वाक्य की लिपि से गोसदृश में गवयपदवाच्यत्व के एवं गवय के चित्र से गोसदृशपिण्ड के मानस ज्ञान से गोसदृश में गवयपदवाच्यत्व की उप-मिति न हो। किन्तु उक्त मानसज्ञान से भी उपमिति होती है जो अन्य विद्वानों के उक्त मत में नहीं हो सकती, क्योंकि उक्त मानसज्ञान के समय न वाक्यज्ञान है न वाक्यार्थ का अनुभव अथवा स्मरण है तथा न गोसदृशपिण्ड का दर्शन ही है।

तस्मात् सादृश्यज्ञानमात्रं करणम्, व्यापारोऽतिदेशवाक्यार्थज्ञानम् सादृश्यविशिष्टपिण्डदर्शनं च, उभयत्रैव विशेषणीभूतसादृश्यज्ञानहेतुत्वात्' इति यौक्तिकाः। अथ 'धिक् करभमतिदीर्घग्रीवं कठोरकण्टकाशिनमपसदं पशूनाम्' इत्यादिवाक्यार्थज्ञानादनन्तरमतिदीर्घग्रीवत्वादिरूपवत्पिण्डदर्शने करभपदवाच्यतोपमितेरत्र पश्वन्तरवैधर्म्यज्ञानमप्युपमितिहेतुः, इति साधर्म्य-वैधर्म्यज्ञानयोरुपमितिहेतुत्वे व्यभिचार इति चेत्? न, इदंत्वाद्यवच्छिन्ने गवयपदवाच्यत्वोपमितौ गवयपदवाच्यत्वप्रमितावच्छेदकप्रकारकज्ञानत्वेन हेतुत्वात्। अस्तु वाऽनुमितिविशेषे परामर्शविशेषवदुपमितिविशेषे तत्तज्ज्ञानानां हेतुत्वम्, अन्यथा तत्तद्प्रामाण्यज्ञानाभावनिवेशानुपपत्तेः' इत्याहुः।

[युक्तिवादीयों के सामने दूसरे विद्वानों की आशंका]

यदि यह कहा जाय कि-अतिदेशवाक्यार्थ का ज्ञान अतिदेशवाक्यार्थविषयकनिश्चयत्वरूप से उपमिति का कारण नहीं है किन्तु अतिदेशवाक्यार्थविषयकशाब्दबुद्धित्वरूप से ही कारण है, क्योंकि निश्चयत्वघटितरूप से कारण मानने की अपेक्षा शाब्दत्वघटितरूप से कारण मानने में लाघव है। अतः निश्चयत्व के अर्थसमाजग्रस्त होने से कार्यतावच्छेदक न हो सकने के कारण निश्चय में तज्जन्यत्वघटितव्यापारत्व न होने पर भी कोई दोष नहीं है। तथा, लिपि और चित्र आदि से होनेवाले मानसबोध के स्थल में उपमिति की अनुपपत्तिप्रयुक्त दोष भी नहीं है, क्योंकि जहाँ अतिदेशवाक्य का श्रवण नहीं होता किन्तु अतिदेशवाक्य के लिपि का ज्ञान होता है वहाँ लिपि द्वारा लिपिकर्ता को अभिप्रेत शब्द का ज्ञान होकर अतिदेशवाक्यार्थ का शाब्दबोध होता है। एवं जहाँ गवय के चित्र से गोसदृशपिण्ड का मानसज्ञान होता है वहाँ भी 'यह गोसदृशपिण्ड का चित्र है' इस प्रकार चित्र अंश में लौकिक और गोसदृशपिण्ड अंश में अलौकिक चाक्षुष दर्शन होता है, अतः उक्तस्थल में वाक्यज्ञानरूप करण, वाक्यार्थानुभवरूप व्यापार तथा गोसदृशपिण्डदर्शनरूप सहकारी के सन्निधान से ही उपमिति का उदय होता है।

[दूसरे विद्वानों की शंका के प्रति युक्तिवादीयों का उत्तर]

-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि अतिदेशवाक्यार्थ का ज्ञान होने पर भी अतिदेशवाक्यार्थ के निश्चयरूप व्यापार से ही उपमितिरूप कार्य की उत्पत्ति होती है। कहने का आशय यह है कि लिपि और चित्र का जहाँ दर्शन होता है वहाँ लिपि से शब्द की कल्पना को और चित्रदर्शन को गोसदृशपिण्डविषयक माने बिना भी उपमिति का उदय आनुभविक है, एवं निश्चयत्व के कार्यतावच्छेदक न होने पर भी निश्चय में अनुभवत्वरूप से जन्यता होने से निश्चय भी व्यापार हो सकता है। अतः यह मानना युक्तिसंगत है कि सादृश्य का ज्ञान मात्र करण है, उसे दर्शनात्मक अथवा अनुभवात्मक होना आवश्यक नहीं है। एवं अतिदेशवाक्यार्थ का ज्ञान और सादृश्यविशिष्टपिण्ड का दर्शन ये दोनों सादृश्यज्ञान का व्यापार है, क्योंकि दोनों सादृश्यविशिष्टविषयक हैं, अतः दोनों में सादृश्यरूप विशेषण का ज्ञान कारण है। इसलिये उन दोनों में सादृश्यज्ञान से जन्य होते हुये सादृश्यज्ञान से जन्य उपमिति का जनकत्वरूप व्यापारत्व संभव है।

उपमिति के सम्बन्ध में मिश्र-नव्य-अन्य और युक्तिवादियों के मतों की चर्चा के आधार

पर यह निष्कर्ष उपलब्ध होता है कि गवय में गवयपद वाच्यत्व की उपमिति तभी होती है जब गोसादृश्यज्ञान से 'गोसदृशो गवयः' इस अतिदेशवाक्यार्थ का ज्ञान और गोसादृश्य-विशिष्टपिण्ड का दर्शन होता है। इस निष्कर्ष के अनुसार उपमिति के उदय की प्रक्रिया निम्न प्रकार से हो सकती है।

[उपमितिज्ञान के प्रादुर्भाव की प्रक्रिया का निष्कर्ष]

ग्रामवासी पुरुष ग्राम में आये आरण्यक पुरुष के वाक्य से गोसदृश में गवयपद्वाच्यत्व का ज्ञान प्राप्त कर जब अरण्य में जाता है और गवय का दर्शन करता है तब उसे गोसादृश्य का स्मरण हो जाता है क्योंकि गोसादृश्य के पूर्वानुभव से उत्पन्न गोसादृश्यविषयक संस्कार गवयदर्शन से प्रबुद्ध हो जाता है। गोसादृश्यस्मरण के बाद उसे 'गोसदृशो गवयः' इस प्रकार गोसादृश्यविशिष्ट गवयपिण्ड का दर्शन होता है। इस दर्शन से उद्बुद्ध संस्कार द्वारा अतिदेशवाक्य का स्मरण होकर उसके अर्थानुभव का उदय होने पर गोसदृश में गवयपद्वाच्यत्व की उपमिति होती है। उक्त दर्शन और स्मृत अतिदेशवाक्य से उत्पन्न वाक्यार्थानुभव दोनों गोसादृश्य ज्ञान से उत्पन्न होने से व्यापारविधया और गोसादृश्य का ज्ञान करणविधया उक्त उपमिति के जनक होते हैं।

इस प्रक्रिया के सम्बन्ध में यह ज्ञातव्य है कि जब गवयदर्शन से अतिदेशवाक्यार्थविषयक संस्कार उद्बुद्ध है तब अतिदेशवाक्यार्थस्मरण के बाद गोसदृश गवयपिण्ड का दर्शन होकर उपमिति होती है, और जब गोसदृशगवय के पिण्ड के दर्शन से उक्त संस्कार उद्बुद्ध होता है। तब सदृशपिण्डदर्शनोत्तर अतिदेशवाक्यार्थ का स्मरण होता है। एवं जब अतिदेशवाक्यार्थ के अनुभव के अनन्तर गोसदृशपिण्ड का दर्शन होता है, तब अतिदेशवाक्यार्थ की स्मृति अपेक्षित नहीं होती किन्तु अतिदेशवाक्यघटक गोसदृशपदार्थ की उपस्थितिरूप सादृश्य ज्ञान से उक्त वाक्यार्थानुभव और सदृश पिण्डदर्शन इन दोनों द्वारा उपमिति का उदय होता है। और जब अतिदेशवाक्य की लिपि से अतिदेशवाक्य का ज्ञान एवं गवय के चित्र से गोसदृशपिण्ड का दर्शन होता है उस समय भी लिपि से अवगत अतिदेशवाक्य के घटक गोसदृशपद से होनेवाले गोसदृशविषयक उपस्थितिरूप सादृश्यज्ञान से उक्त वाक्यार्थविषयकबोध और चित्रदर्शन से उत्पन्न गोसदृशपिण्ड दर्शन के द्वारा उपमिति का जन्म होता है। इस प्रकार जब भी उपमिति का उदय होता है तब सर्वत्र उपमिति के पूर्व सादृश्यज्ञानरूप उपमानप्रमाण एवं अतिदेश-वाक्यार्थज्ञान तथा गोसदृश गवयपिण्ड का दर्शनरूप व्यापारद्वय का सन्निधान अवश्य रहता है।

यदि यह कहा जाय कि-"जैसे गोसदृशपिण्ड के दर्शन से गवयपद्वाच्यत्व की प्रमा के अनुरोध से सादृश्यज्ञान को उपमिति का कारण माना जाता है। उसी प्रकार, 'पशुओं में अधम उस करभ को धिक्कार है जिस की ग्रीवा अत्यन्त लंबी होती है और जो कठोर कांटों का भक्षण करता है।' इस अतिदेशवाक्य से अत्यन्त दीर्घग्रीवा से युक्त कठोर कण्टक के भक्षणकर्ता अधमपशु में करभपद वाच्यत्व का ज्ञान होता है और उसके अनन्तर समस्त पशुओं से विलक्षण ऐसे पशुपिण्ड का दर्शन होने पर उस में करभपद्वाच्यत्व की उपमिति होती है। अतः अन्य पशु के वैधर्म्यज्ञान को भी उपमिति कारणता प्राप्त है। किन्तु, ऐसा मानने पर वैधर्म्यज्ञान से होनेवाली उपमिति के प्रति साधर्म्यज्ञान-सादृश्यज्ञान व्यभिचारी होने से एवं सादृश्यज्ञान से होनेवाली उपमिति के प्रति वैधर्म्यज्ञान व्यभिचारी होने से साधर्म्यज्ञान और वैधर्म्यज्ञान, दोनों में से एक को भी उपमिति का कारण नहीं माना जा सकता। अतः अति-

रिक्त उपमान प्रमाण की कल्पना निर्युक्तिक है।"-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि 'अयं गोसदृशः' तथा 'अयम् अतिदीर्घग्रीवः कठोरकण्टकाशी' इन दोनों ज्ञानों का, अतिदेशवाक्यजन्य ज्ञान में पदवाच्यत्व के धर्मितावच्छेदकरूप में जो धर्म भासित होता है तत्प्रकारकज्ञानत्वरूप से, अनुगम कर के साधर्म्यज्ञान तथा वैधर्म्यज्ञान दोनों को अनुगतरूप से पदवाच्यत्व की उपमिति का कारण मानने से व्यभिचार का परिहार हो सकता है, क्योंकि नियम ऐसा है कि अतिदेशवाक्य से यद्धर्मविशिष्ट में यत्पदवाच्यत्व का ज्ञान होता है तद्धर्मप्रकारकज्ञान यद्धर्मविशिष्ट में उत्पन्न होता है तद्धर्मविशिष्ट में तत्पदवाच्यत्व की उपमिति होती है। जैसे 'गोसदृशो गवयः' इस अतिदेशवाक्य से जन्यज्ञान में गोसादृश्यविशिष्ट में गवयपदवाच्यत्व का ज्ञान होने से 'गोसादृश्य' अतिदेशवाक्यजन्यज्ञान में गवयपदवाच्यत्व का धर्मितावच्छेदक होता है अतएव गोसादृश्यरूप धर्म का इदन्त्व गवयत्व आदि यद्धर्मविशिष्ट में ज्ञान होता है तद्धर्मविशिष्ट में गवयपदवाच्यत्व की उपमिति होती है। इसीप्रकार 'अतिदीर्घग्रीवः कठोरकण्टकभक्षी पश्वन्तरविधर्मा करभपदवाच्यः' इस अतिदेशवाक्य जन्यज्ञान में अतिदीर्घत्व एवं कठोरकण्टकभक्षीत्व यह धर्मयुगल करभपदवाच्यत्व का धर्मितावच्छेदक होता है। अतः इस धर्मयुगल का इदन्त्व, करभत्व आदि धर्म से विशिष्ट में ज्ञान होने पर उक्त धर्मविशिष्ट में करभपदवाच्यत्व की उपमिति होती है। इस प्रकार उक्तरीति से उपमिति के प्रति साधर्म्यज्ञान एवं वैधर्म्यज्ञान के व्यभिचार का वारण हो जाने से उक्त उभयज्ञान को उपमिति का कारण मानने में कोई बाधा न होने के कारण उपमानप्रमाण का अभ्युपगम करने में कोई बाधक नहीं हो सकता।

अथवा उपमिति के प्रति साधर्म्य और वैधर्म्यज्ञान में प्रदर्शित व्यभिचार का वारण करने के लिये यह कहा जा सकता है कि-जैसे तत्तल्लिङ्गक अनुमिति में तत्तल्लिङ्गपरामर्श को कारण मानने से अनुमिति और परामर्श के कार्यकारणभाव में प्रसक्त व्यभिचार का परिहार होता है उसी प्रकार साधर्म्यज्ञान से होनेवाली उपमिति के प्रति साधर्म्यज्ञान को और वैधर्म्यज्ञान से होनेवाली उपमिति के प्रति वैधर्म्यज्ञान को कारण मानने से उपमिति और साधर्म्य-वैधर्म्य ज्ञान के कार्यकारणभाव में प्रसक्त व्यभिचार का परिहार हो सकता है। तथा इसी प्रकार कार्यकारणभाव मानना उचित भी है क्योंकि इस प्रकार कार्यकारणभाव मानने पर अप्रामाण्यज्ञान से आस्कन्दित साधर्म्यज्ञान और वैधर्म्यज्ञान से उपमिति की उत्पत्ति होने की आपत्ति का परिहार करने के लिये साधर्म्यज्ञान और वैधर्म्यज्ञान में विद्यमान उपमितिकारणता की अवच्छेदक कोटि में साधर्म्यविषयक अप्रामाण्य ज्ञानाभाव और वैधर्म्यविषयक अप्रामाण्यज्ञानाभाव का निवेश कर इस प्रकार कार्यकारणभाव की कल्पना की जा सकती है कि साधर्म्यज्ञान से होनेवाली अनुमिति में साधर्म्यविषयक अप्रामाण्यज्ञानाभावविशिष्टसाधर्म्यज्ञान कारण है एवं वैधर्म्यज्ञान से होनेवाली उपमिति में वैधर्म्यविषयक अप्रामाण्यज्ञानाभावविशिष्ट वैधर्म्यज्ञान कारण है। किन्तु यदि साधर्म्य-वैधर्म्य दोनों का पदवाच्यत्व के धर्मितावच्छेदकत्वरूप से अनुगम कर पदवाच्यत्व की उपमिति में पदवाच्यत्व के धर्मितावच्छेदकीभूतधर्मप्रकारकज्ञानत्वरूप से अनुगतकारणता मानी जायगी तब कारणतावच्छेदक कोटि में केवलसाधर्म्यविषयक अप्रामाण्यज्ञानाभाव का निवेश करने पर साधर्म्यविषयक अप्रामाण्यज्ञानाभाव दशा में वैधर्म्यविषयक अप्रामाण्यज्ञान से आस्कन्दित वैधर्म्यज्ञान से उपमिति की आपत्ति होगी, एवं वैधर्म्यविषयक अप्रामाण्यज्ञानाभाव का निवेश करने पर उस अभाव की दशा में साधर्म्यविषयक अप्रामाण्यज्ञान से आस्कन्दित साधर्म्यज्ञान से उपमिति की आपत्ति होगी। यदि साधर्म्यविषयक अप्रामाण्यज्ञानाभाव एवं वैधर्म्यविषयक अप्रामाण्यज्ञानाभाव दोनों का निवेश होगा तो वैधर्म्य-

वयं तु ब्रूमः—गवये गोसादृश्यज्ञानं न प्रत्यक्षम्, अस्पष्टत्वात्, 'उपमिनोमि' इति विलक्षणानुभवाच्च। किन्तु, प्रत्यभिज्ञाविशेष एव, उपमितित्वस्य प्रत्यभिज्ञात्वव्याप्यत्वात्। गवये गोसादृश्यज्ञाने गवि गवयसादृश्यपरिच्छेदोऽपि लिङ्गादिप्रतिसंधानानपेक्षत्वाद् नानुमानिकः, किन्तु विचित्रक्षयोपशमाधीनस्तदर्थैव समानाधिविधपर्यायग्रहपरिणामः। संज्ञा-संज्ञिसंबन्धप्रतीतिरप्येवमेवोपपादनीया, प्रतीतगवयपदवाच्यत्वोपलक्षणताकस्य गोसादृश्यस्य ग्रहेऽतिदेशवाक्यार्थस्मरणे च सति गवयं प्रति व्यापारिते लोचने तथाप्रत्यभिज्ञावरणक्षयोपशमात् 'अयं गवयपदप्रवृत्तिनिमित्तवान्' इति परिच्छेदोपपत्तेः। अन्यथा 'कररेखाविशेषवान् शतवर्षजीवी' इति वाक्यार्थं प्रतिसंदधतः क्वचित् पुरुषे कररेखाविशेषोपलम्भे तत्र 'अयं शतवर्षजीवी' इत्यनुसंधानमपि प्रमान्तरं स्यात्, इति तत्रापि प्रमाणान्तरमन्वेषणीयं देवानांप्रियेण।

विषयक अप्रामाण्य ज्ञानदशा में साधर्म्यविषयक अप्रामाण्यज्ञान न रहने पर भी साधर्म्यज्ञान से, एवं साधर्म्यविषयक अप्रामाण्यज्ञान दशा में वैधर्म्यविषयकप्रामाण्यज्ञान न रहने पर भी वैधर्म्यज्ञान से, उपमिति न हो सकेगी। क्योंकि, उक्त स्थल में उक्त दोनों अप्रामाण्यज्ञानाभावों से विशिष्ट पदवाच्यत्व का धर्मितावच्छेदकप्रकारक ज्ञान नहीं है। फलतः कारणतावच्छेदककोटि में अप्रामाण्यज्ञानाभाव के निवेश की अनुपपत्ति से अनुगत कारणता का समर्थन नहीं हो सकता।

[उपमिति का प्रत्यभिज्ञा में अन्तर्भाव—व्याख्याकार]

प्रस्तुत विषय में जैनदर्शन के सिद्धान्त पक्ष का अवलम्बन करते हुए व्याख्याकार का कहना है कि गवय में जो गोसादृश्य का ज्ञान होता है वह प्रत्यक्षात्मक नहीं है, क्योंकि वह अस्पष्ट है जब कि प्रत्यक्षात्मक ज्ञान स्पष्ट ही होता है। दूसरी बात यह है कि उस ज्ञान का 'उपमिनोमि=गवयं गवा उपमिनोमि' इस प्रकार उपमितित्वरूप से अनुभव होता है। यदि वह प्रत्यक्षरूप हो तो इस अनुभव की उपपत्ति नहीं हो सकती। अतः उक्तज्ञान प्रत्यभिज्ञा का ही एक भेद है, उपमितित्व प्रत्यभिज्ञात्व का व्याप्यधर्म है।

एवं गवय में गोसादृश्य का ज्ञान होने के अनन्तर जो गो में गवयसादृश्य का निश्चय होता है, वह भी लिङ्ग आदि के ज्ञान की अपेक्षा किये विना ही उत्पन्न होने के कारण आनुमानिक नहीं है। विशेष्यभूत गो के साथ इन्द्रिय का संनिकर्ष न होने से उस में प्रत्यक्षात्मकत्व की भी कल्पना नहीं हो सकती। अतः यह मानना उचित है कि गवयनिष्ठ गोसादृश्य एवं गोनिष्ठगवयसादृश्य दोनों समानवित्ति-समानसामग्री से वेद्य गवय और गो के पर्याय हैं और उन का ज्ञान गवय और गो के उन पर्यायों का ही ग्रहण परिणाम है जो विचित्र क्षयोपशम से उत्पन्न होता है। इसलिये गवय में गोसादृश्यज्ञान के बाद होनेवाला गो में गवयसादृश्य का निश्चय भी प्रत्यभिज्ञा का ही भेद है।

[प्रत्यभिज्ञाभेद न मानने पर नये प्रमाण की आपत्ति]

नैयायिकों के मत में उपमान से जो संज्ञा और संज्ञी के सम्बन्ध की प्रतीति मानी जाती है उस की भी उपपत्ति इसी प्रकार हो सकती है। अर्थात् यह कहा जा सकता है कि गोसादृश्य से उपलक्षित पशु में गवयपदवाच्यत्व की प्रतीति होने के बाद गोसादृश्य का ज्ञान एवं अतिदेशवाक्यार्थ का स्मरण होने पर गवय के साथ चक्षु के सन्निकर्ष से 'गोसदृशोऽयं गवयः' इस प्रत्यभिज्ञा के आवरण के क्षयोपशम से 'अयं गवयपदप्रवृत्तिनिमित्तवान्' इस प्रकार का निश्चय हो जाता

अथात्र 'कीदृग्लिङ्गः शतवर्षजीवी ?' इति प्रश्ने 'कररेखाविशेषवान् शतवर्षजीवी' इत्युत्तरवाक्यं व्याप्तिपरम्, इति कररेखाविशेषणलिङ्गेन शतवर्षजीवित्वमनुमीयत इति चेत् ? न, लिङ्गाद्यनुसंधानाभावात्; अन्यथा प्रकृतेऽप्यतिदेशवाक्यस्य सुवचत्वात् । "इन्द्रियव्यापाराभावेऽप्युपलब्धगोसादृश्यविशिष्टगवयपिण्डस्य वाक्यतदर्थस्मृतिमतः कालान्तरेऽप्यनुसंधानबलात् समयपरिच्छेदोपपत्तेर्न प्रत्यभिज्ञानमेतत्" इति तु 'प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्षविशेषः' इति वदतां दूषणम्, नास्माकमत्र परोक्षभेदवादिनाम् । हेतुभेदश्चात्र नाधिक्यसाधकः, प्रत्यक्षविशेषे चाक्षुषादौ चक्षुरादिहेतुभेदवत् प्रत्यभिज्ञाविशेषेऽतिदेशवाक्यादिहेतुभेदोपपत्तेः । नन्वेवमतिदेशवाक्यार्थानुसन्धानानन्तरं झटित्येव सदृशपिण्डदर्शने उपमितिर्न स्यात्, अनुभव-स्मरणोत्तरमेव प्रत्यभिज्ञानोपगमादिति चेत् ? न स्यादेव यदि श्रुतोपयोगानुपरमः, तदुपरमे तु स्मृतिसंपन्त्या स्यादेवेति दिग् ॥१६॥

है। यह निश्चय भी प्रत्यभिज्ञा का ही एक भेद है। यदि इन ज्ञानों को प्रत्यभिज्ञा से भिन्न प्रमा मानकर उस की उपपत्ति के लिये उपमान नामक अतिरिक्त प्रमाण की कल्पना की जायगी तो उसी के समान एक और अतिरिक्तप्रमाण की कल्पना की आपत्ति होगी। जैसे : कोई सामुद्रिक किसी व्यक्ति से कहता है कि जिस के हाथ में अमुक प्रकार की विशेष रेखा होती है वह सौ वर्ष तक जीवित रहता है। फिर वह व्यक्ति जब किसी अन्य मनुष्य के हाथ में उस प्रकार की रेखा देखता है तब उसे सामुद्रिक के वाक्य का अर्थस्मरण होकर उस मनुष्य के विषय में यह ज्ञान होता है कि यह मनुष्य सौ वर्ष तक जीवित रहनेवाला है। यह ज्ञान प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति अथवा शाब्दबोधरूप नहीं है, किन्तु प्रमा है। अतः इस के करणभूत 'हाथ के रेखाविशेष के ज्ञान' को अतिरिक्त प्रमाण मानना आवश्यक है। फिर भी इसे प्रमाण न मानना, और गो में गवयसादृश्यज्ञान के, अथवा गवयपद में गवयत्व प्रवृत्तिनिमित्तकत्वविषयकत्व ज्ञान के करणभूत 'गवय में गोसादृश्य ज्ञान' को अतिरिक्त प्रमाण मानना -यह अज्ञता का ही सूचक है।

[शतवर्षजीवित्वज्ञान का अनुमिति में अन्तर्भाव अनुचित]

यदि यह कहा जाय कि-"कैसे चिह्नवाला व्यक्ति शतवर्षजीवी होता है, इस प्रश्न के उत्तर में यदि यह कहा जाता है कि 'जिस के हाथ में अमुक प्रकार की विशेषरेखा होती है वह शतवर्षजीवी होता है' तो इस कथन का तात्पर्य इस प्रकार की व्याप्ति बताने में होता है कि जिन मनुष्यों के हाथ में अमुक प्रकार की विशेष रेखा होती है वे सभी शतवर्षजीवी होते हैं। अतः किसी मनुष्य के हाथ में विशेषरेखा देख कर जो उस के शतवर्षजीवित्व का ज्ञान होता है वह अनुमितिरूप है क्योंकि वह उक्त व्याप्तिज्ञान से प्रादुर्भूत होता है"-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि उक्त उत्तर से लिङ्ग-लिङ्गत्व-व्याप्ति आदि का ज्ञान नहीं होता और यदि उक्त उत्तर से व्याप्ति आदि का ज्ञान मान कर हाथ के रेखाविशेष से होनेवाले शतवर्षजीवित्व के ज्ञान को अनुमितिरूप माना जायगा तो यह क्रम गवय में गोसादृश्यज्ञान से होनेवाले गो में गवयसादृश्यज्ञान अथवा गवय में गवयपदवाच्यत्वज्ञान के सम्बन्ध में भी कहा जा सकता है। अर्थात् यह कहा जा सकता है कि 'गोसदृशो गवयः' इस अतिदेशवाक्य का भी तात्पर्य गवयनिष्ठ सादृश्य के प्रतियोगित्व में गवयसादृश्य की व्याप्ति बताने में अथवा गोसादृश्य

अर्थापत्त्यापि तद्ग्रहं प्रतिपादयितुमाह—

शास्त्रादतीन्द्रियगतेरर्थापत्त्यापि गम्यते। अन्यथा तत्र नाश्वासश्छद्मस्थस्योपजायते ॥१७॥

शास्त्रात्=वेदात्, **अतीन्द्रियगतेः**=धर्मा-ऽधर्मादिपरिच्छेदात्, **अर्थापत्त्यापि**=परमार्थनीत्या गम्यते सर्वज्ञः। न हि तद्वाच्यवाचकसाक्षात्कारिव्यतिरेकेण सम्यक्शास्त्रादतीन्द्रियार्थगतिरित्यर्थात् तत्सिद्धिरिति। इत्थं चैतदङ्गीकर्तव्यम्। अन्यथा तत्र=अतीन्द्रियार्थे **नाश्वासः**='इदमित्थमेव' इत्येवम् **छद्मस्थस्य**=अक्षीणावरणस्य प्रमातुः उपजायते, वक्ष्यमाणरीत्या शक्तितात्पर्यनिश्चयाभावात्, निश्चितेऽप्यावरणदोषात् संशयाद्युत्पत्तेश्च ज्ञानावरणप्रकृतिकत्वाज्ज्ञानावरणकर्मणः, सर्वज्ञमूलकत्वनिश्च-

---

में गवयपदवाच्यत्व की व्याप्ति बताने में है। अत एव गवय में गोसादृश्यज्ञान से जो मीमांसक मतानुसार गो में गवयसादृश्यज्ञान होता है अथवा न्यायमतानुसार गोसदृश पशुविशेष में गवय-पदवाच्यत्व का ज्ञान होता है वह अनुमितिरूप है।

यदि यह कहा जाय कि-"जिसे गोसादृश्यविशिष्ट गवयपिण्ड का दर्शन और 'गोसदृशो गवयः' इस अतिदेशवाक्यार्थ का स्मरण हो चुका रहता है उसे अन्य काल में जब गवय के साथ चक्षु का सन्निकर्ष नहीं होता तब भी गोसादृश्यविशिष्ट गवयपिण्ड तथा 'गोसदृशो गवयः' इस अतिदेशवाक्यार्थ का स्मरण होकर गवय में गवयपद के समय(=शक्ति) का निश्चय होता है, अतः उसे प्रत्यभिज्ञा रूप नहीं माना जा सकता क्योंकि इन्द्रिय सन्निकर्ष के अभाव में प्रत्यभिज्ञा की उत्पत्ति नहीं होती"-तो यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि इस कथन से जो दोष प्रदर्शित होता है वह प्रत्यभिज्ञा को प्रत्यक्षभेद माननेवाले लोगों पर ही लागू होता है। वह जैन विद्वानों पर लागू नहीं हो सकता, क्योंकि जैन दर्शन में प्रत्यभिज्ञा को परोक्षज्ञान का भेद माना गया है।

यदि यह कहा जाय कि-'उक्त ज्ञान अन्य परोक्ष ज्ञानों के हेतुओं से न उत्पन्न होकर उन से भिन्न हेतु से उत्पन्न होता है अतः वह परोक्षज्ञान से अतिरिक्त है'-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि हेतुभेद से अतिरिक्तता की सिद्धि नहीं हो सकती। जैसे, चाक्षुष-स्पार्शन आदि विभिन्न प्रत्यक्षों के चक्षु त्वक् आदि विभिन्न हेतु होने पर भी वे सब प्रत्यक्षात्मक ही होते हैं उसी प्रकार इन्द्रिय एवं अतिदेशवाक्य आदि विभिन्न हेतुओं से होनेवाले विभिन्न ज्ञान भी प्रत्यभिज्ञात्मक हो सकते हैं।

यदि यह कहा जाय कि-'उपमिति को प्रत्यभिज्ञा का भेद मानने पर अतिदेशवाक्यार्थ के अनुभव के अनन्तर जब गोसदृशपिण्ड का दर्शन झटिति होता है तब उपमिति की उत्पत्ति न हो सकेगी क्योंकि अनुभवोत्तर स्मरण के बाद ही प्रत्यभिज्ञा की उत्पत्ति मानी जाती है' -तो इस का उत्तर यह है कि यदि श्रुतोपयोग-वाक्यार्थबोध का विराम नहीं होता तो उक्त स्थिति में उपमिति की उत्पत्ति ही नहीं होती है और जब उस का उपरम हो जाता है तब वाक्यार्थ की स्मृति के सम्पन्न होने पर उपमिति हो ही सकती है ॥१६॥

[अर्थापत्तिप्रमाण से सर्वज्ञसिद्धि]

कारिका १७ में यह बताया गया है कि अर्थापत्तिप्रमाण से भी सर्वज्ञ की सिद्धि हो सकती है। कारिका का अर्थ इस प्रकार है—

शास्त्र से धर्म-अधर्म आदि अतीन्द्रिय पदार्थ का ज्ञान होता है अतः अर्थापत्ति से भी सर्वज्ञ

यास्य तन्निवृत्तिः सुघटा, "तमेव सच्चं॰" इत्याद्यागमप्रामाण्यात्। वेदमूलकत्वेन तु न तन्निवृत्तिः, वेदमूलकत्वेऽव्यभिचारित्वव्याप्यत्वस्य वेदेनाऽबोधनात्; अन्यतश्चानाश्वासादिति स्फुटीभविष्यत्युपरिष्टात्। एवं वचनविशेषान्यथानुपपत्तिरूपयाऽर्थापत्त्या सर्वज्ञसिद्धिर्भावनीया।

अथाऽसर्वज्ञत्व-वक्तृत्वयोर्वह्नि-धूमयोरिव नियतानुकृतान्वय-व्यतिरेकत्वेन हेतुहेतुमद्भावात् कथमेतत्? न च विवक्षाया एव वचनहेतुत्वम्, तदभावेऽसर्वज्ञत्व-रागादिसद्भावेऽपि वचनाभावेन व्यभिचारादिति वाच्यम्; विवक्षायामपि व्यभिचारोपलब्धेः, अन्यविवक्षायामन्यशब्ददर्शनात्, अन्यथा

की सिद्धि होती है। आशय यह है कि वाच्यअर्थ, वाचकशब्द और उन दोनों के सम्बन्ध के साक्षात्कर्त्ता के अभाव में सम्यक्शास्त्र से अतीन्द्रिय अर्थ का ज्ञान नहीं हो सकता है। अतः यदि शास्त्र से अतीन्द्रिय अर्थ का ज्ञान होता है तो यह स्वीकार करना होगा कि उस शास्त्र की रचना करनेवाला कोई ऐसा सर्वज्ञ पुरुष है जिसे शास्त्र के प्रतिपाद्य अर्थ, उस अर्थ के वाचक शास्त्रघटकशब्द और उन दोनों के सम्बन्ध का साक्षात्कार है। यदि ऐसा न माना जायगा तो अतीन्द्रिय अर्थों के सम्बन्ध में छद्मस्थ पुरुष को-जिस के ज्ञानावरण का क्षय नहीं हुआ है-'यह ऐसा अवश्य है' इस प्रकार का विश्वासात्मक निश्चय न हो सकेगा क्योंकि आगे बतायी जानेवाली रीति से उसे शास्त्रघटक शब्दों की शक्ति का तथा शास्त्र के तात्पर्य का निश्चय नहीं होता।

यदि किसी प्रकार निश्चय हो भी जाय तो आवरणदोष से संशय विपर्यय आदि की उत्पत्ति हो जाती है क्योंकि ज्ञान का आवरण करना (=ज्ञानोत्पत्ति का अवरोध करना) यह ज्ञानावरणकर्म का स्वभाव है। जब कि शास्त्र में सर्वज्ञमूलकत्व के निश्चय से अतीन्द्रिय अर्थों में संशयादि की निवृत्ति उपपन्न हो सकती है क्योंकि आगम से यह प्रमाणित है कि सर्वज्ञ-मूलक वचन ही सत्य होता है। वेदमूलक होने से कभी संशयादि की निवृत्ति नहीं हो सकती क्योंकि वेद द्वारा 'वेदमूलकत्व में अर्थ के अव्यभिचारित्व की व्याप्ति' का बोध नहीं होता। यदि किसी अन्य से उस का बोध माना जाय तो उस में विश्वास नहीं हो सकता, यह बात आगे स्पष्ट की जायेगी। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि अतीन्द्रिय अर्थ के बोधक वचनविशेष की सर्वज्ञ के बिना अनुपपत्तिरूप अर्थापत्ति से सर्वज्ञ की सिद्धि की जा सकती है।

[वक्तृत्व असर्वज्ञता का अनुमापक होने की आशंका]

सर्वज्ञ को वक्ता मानने पर यह प्रश्न हो सकता है कि-जैसे धूम द्वारा वह्नि के अन्वय-व्यतिरेक का नियमेन अनुकरण होने से वह्नि और धूम में हेतु-हेतुमद्भाव होता है वैसे ही वक्तृत्व द्वारा असर्वज्ञत्व के अन्वयव्यतिरेक का नियमेन अनुकरण होने से असर्वज्ञत्व और वक्तृत्व में भी हेतुहेतुमद्भाव है। अतः सर्वज्ञ में वक्तृत्व कैसे हो सकता है?

यदि यह कहा जाय कि-'विवक्षा ही वचन का कारण होती है क्योंकि उस के अभाव में असर्वज्ञत्व और रागादि होने पर भी वचनप्रयोग नहीं होता है। अतः असर्वज्ञत्व को वचन का कारण मानने में व्यभिचार है'-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि अन्य अर्थ की विवक्षा में

---

१. तमेव सच्चं निशंकं जं जिणेहिं पवेइयं-[छाया—तदेव सत्यं निःशंकं यद् जिनैः प्रवेदितम्]

गोत्रस्खलनादेरभावप्रसङ्गात् । अथ विवक्षाव्यभिचारेऽपि शब्दविवक्षायामव्यभिचार इति चेत् ? न, स्वप्नावस्थायामन्यगतचित्तस्य वा तदभावेऽपि वक्तृत्वसंवेदनात् । न चाऽसर्वज्ञत्वादिना वचनस्यान्वयाऽसिद्धावपि 'तदभावे सर्वत्र वक्तृत्वं न भवति' इत्यत्र प्रमाणाभावात् प्रत्यक्षा-ऽनुपलम्भसाध्यः कथं हेतु-हेतुमद्भाव निश्चयः ? इति वाच्यम्; वह्निधूमस्थलेऽप्येवं सुवचत्वात्, तर्कबलेन नियमस्य चोभयत्र सुग्रहत्वादिति चेत् ?

न, वह्नि-धूमयोरिवासर्वज्ञत्व-वक्तृत्वयोः कार्यकारणभावाभावात् ।

तथाहि—'वह्निसद्भावे धूमो दृष्टस्तदभावे न दृष्टः' इत्येतावतैव न धूमस्याग्निकार्यत्वम्, किन्तु वह्निधर्मानुविधायित्वम्, "कार्यं धूमो हुतभुजः कार्यधर्मानुवृत्तितः" [प्र०वा० ३।३५] इति वचनात् । तच्च न दर्शना-ऽदर्शनमात्रगम्यम्, किन्तु विशिष्टात् प्रत्यक्षा-ऽनुपलम्भाख्यात् प्रमाणात् प्रतीयते । प्रत्यक्षमेव

अन्य शब्द के प्रयोग का दर्शन होने से यह सिद्ध है कि जिस अर्थ की विवक्षा नहीं होती उस अर्थ के भी बोधक शब्द का प्रयोग होता है। यदि ऐसा न हो तो गोत्र आदि के बताने में मनुष्य का जो स्खलन होता है वह न हो सकेगा। इस प्रकार विवक्षा में भी वचन के व्यभिचार का उपलम्भ होने से विवक्षा भी वचन का कारण नहीं हो सकती। यदि यह कहा जाय कि-'अन्य की विवक्षा में अन्य शब्द के प्रयोग से अर्थविवक्षा का ही व्यभिचार सिद्ध होता है, शब्दविवक्षा का नहीं अतः शब्दविवक्षा को वचन का कारण कहा जा सकता है' -तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि स्वप्नावस्था में एवं चित्त के अन्यत्र आसक्त होने की दशा में किसी प्रकार की विवक्षा न होने पर भी वक्तृत्व-वचनप्रयोग की उपलब्धि होती है। अतः शब्दविवक्षा को भी वचन का कारण नहीं माना जा सकता है।

यदि यह कहा जाय कि-'असर्वज्ञत्व आदि के साथ वचन का अन्वय असिद्ध है। एवं असर्वज्ञत्व के अभाव में वक्तृत्व का अभाव होता है। इस व्यतिरेक में कोई प्रमाण नहीं है। अतः असर्वज्ञत्व और वक्तृत्व में हेतुहेतुमद्भाव का निश्चय कैसे हो सकता है? क्योंकि वह प्रत्यक्ष और अनुपलम्भ से ही साध्य होता है। वे दोनों ही असर्वज्ञत्व और वक्तृत्व में नहीं है'-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि ऐसी बात वह्नि-धूम के सम्बन्ध में भी बिना किसी अवरोध से कही जा सकती है। अर्थात् यह कहा जा सकता है कि आर्द्रेन्धन के अभाव में वह्नि के रहने पर भी वह्निधूम में अन्वय नियम असिद्ध है। एवं वह्नि शून्य सभी स्थलों के दुर्ज्ञेय होने से उन सभी स्थानों में धूम का अभाव होता है यह किसी प्रमाण से ज्ञात नहीं हो सकता। अतः प्रत्यक्षानुपलम्भ का अभाव होने से वह्नि और धूम में भी हेतुहेतुमद्भाव का निश्चय नहीं हो सकता। 'धूम वह्नि का व्यभिचारी होने पर वह्निजन्य नहीं हो सकता' इस तर्क से यदि धूम में वह्नि के नियम का ग्रहण किया जायगा तो 'वक्तृत्व असर्वज्ञत्व का व्यभिचारी होने से असर्वज्ञत्वजन्य' न हो सकेगा इस तर्क से वक्तृत्व में असर्वज्ञत्व के नियम का भी निर्धारण किया जा सकेगा। फलतः यह प्रश्न बना रहेगा कि असर्वज्ञत्व और वक्तृत्व में हेतुहेतुमद्भाव होने से सर्वज्ञ में वक्तृत्व कैसे हो सकता है ?

इस के उत्तर में व्याख्याकार का कहना है कि वह्नि और धूम में हेतुहेतुमद्भाव के समान असर्वज्ञत्व और वक्तृत्व में हेतुहेतुमद्भाव न होने से उक्त प्रश्न निराधार है।

कार्यकारणाभिमतपदार्थविषयं तद्विविक्तान्यवस्तुविषयं च प्रत्यक्षाऽनुपलम्भशब्दाभिधेयम् । कदाचिद्-नुपलम्भपूर्वकं प्रत्यक्षं तदभावसाधकम्, कदाचिच्च प्रत्यक्षपुरस्सरोऽनुपलम्भः । तत्राद्येन येषां कारणा-भिमतानां संनिधानात् प्रागनुपलब्धं धूमादि यत्संनिधानादुपलभ्यते तस्य तत्कार्यता व्यवस्थाप्यते, 'वह्न्यतिरिक्तकारणसमवहितो धूमो यद्यग्निजन्यो न स्यात्, अग्निसंनिधानात् प्रागपि तत्र देशे स्यात्, अन्यतो वाऽऽगच्छेत्' इत्याद्यव्यतिरेकशङ्काया अनुपलम्भेन निरासात् । संनिहितधूमे जायमानस्य वह्निजन्यत्वनिश्चयस्य सामान्योपयोगेन सामान्ये पर्यवसानात् ।

एतेन प्रागनुपलब्धस्य रासभस्य कुम्भकारसंनिधानानन्तरमुपलभ्यमानस्य तत्कार्यता स्यात् इति निरस्तम् तथाहि—तत्रापि यदि रासभस्य तत्र प्रागसत्त्वम्, अन्यदेशादनागमनम्, अन्याकारणत्वं च

[अग्नि और धूम्र में कार्य-कारणता की सिद्धि]

वह्नि के होने पर धूम का उदय देखा जाता है और वह्नि के अभाव में धूम का उदय नहीं देखा जाता । यद्यपि यह सत्य है फिर भी इतने मात्र से ही धूम में अग्निकार्यत्व नहीं सिद्ध होता किन्तु वह्निधर्म की अनुवृत्ति से उस की सिद्धि होती है। यह तथ्य इस प्रमाण-वार्तिक के वचन से व्यक्त होता है कि "हुतभुक्-वह्नि के कार्यधर्म का अनुवर्तन करने से धूम वह्नि का कार्य समझा जाता है" । यह स्पष्ट है कि दर्शन और अदर्शन मात्र से कार्यत्व की अवगति नहीं होती किन्तु प्रत्यक्षानुपलम्भ नामक विशिष्टप्रमाण से उसकी प्रमिति होती है । प्रत्यक्षा-नुपलम्भ शब्द से किसी अतिरिक्तप्रमाण का अभिधान न होकर उस प्रत्यक्ष का ही अभिधान होता है जो कार्य और कारण रूप में अभिमतपदार्थ को तथा उन दोनों से विलक्षण अन्य वस्तु को विषय करता है । यह प्रत्यक्ष कभी अनुपलम्भपूर्वक प्रत्यक्ष के रूप में कार्यत्व का साधक होता है और कभी प्रत्यक्षपूर्वक अनुपलम्भ के रूप में कार्यत्व का साधक होता है। जिन कारणाभिमत पदार्थों के सन्निधान से पहले उपलब्ध न होनेवाला धूम आदि जिस के सन्निधान से उप-लब्ध होता है, धूम आदि में उसके कार्यत्व की सिद्धि अनुपलम्भपूर्वक प्रत्यक्ष से होती है क्योंकि अनुपलम्भ से "वह्नि से भिन्न अपने समस्त कारणों के सन्निधान देश में धूम यदि अग्नि से जन्य न हो तो अग्नि के सन्निधान के पूर्व भी उस देश में उसे होना चाहिये । अथवा स्थानान्तर से वहाँ आना चाहिये" इस अग्निजन्यत्वरूप आपाद्यव्यतिरेक की शङ्का का निरास होता है और सन्निहित धूम में होनेवाले वह्निजन्यत्व निश्चय का सामान्य उपयोग से धूम सामान्य में पर्यवसान होता है । इस प्रकार अग्नि से भिन्न धूम के समस्त कारणों के सन्निधान काल में अग्निसन्निधान से पूर्व धूम के अनुपलम्भ और अग्निसन्निधान होने पर धूमसामान्य के उपलम्भ में पर्यवसान होने से धूम सामान्य में अग्निजन्यत्व की सिद्धि होती है ।

[गर्दभ में कुम्भकारकार्यत्व के प्रसंग का निरसन]

अनुपलम्भपूर्वक प्रत्यक्ष को कार्यत्व का निश्चायक मानने पर यह शङ्का हो सकती है कि 'कुम्भकार के सन्निधान के पूर्व अनुपलब्ध गर्दभ का कुम्भकार के सन्निधान के अनन्तर उपलम्भ होने की दशा में गर्दभ में कुम्भकार की कार्यता की प्रसक्ति हो सकती है ।' किन्तु यह शङ्का इसलिये निरस्त हो जाती है कि कुम्भकार के सन्निधान के पूर्व गर्दभ का अनुपलम्भ

निश्चेतुं शक्येत तदा स्यादेव कुम्भकारकार्यता, केवलं तदेव निश्चेतुमशक्यमिति । द्वितीयेन यत्संनिधाने प्रवर्तमाने तत्कार्यं दृष्टं तावतां मध्ये यस्याभावात् तद् नोपलभ्यते तत्र तत्कार्यत्वं निश्चीयते । न चाग्नि-काष्ठादिसंनिधाने भवतो धूमस्यापनीते कुम्भकारादावनुपलम्भोऽस्ति, अग्न्यादौ त्वपनीते भवत्यनुपलम्भः । इति परस्परसहितौ प्रत्यक्षा-ऽनुपलम्भौ तन्निश्चायकौ । सर्वकालमग्निसंनिधाने भवतश्च धूमस्यानग्निजन्यत्वं कदाचिदजन्यत्वेनाहेतुकत्वेन अदृश्यहेतुकत्वेन वा शक्येत, तत्र कादाचित्कत्वा-ऽग्न्याद्यन्वयानुविधायित्वज्ञानेन तन्निवृत्तिरिति दिग् ।

न चायं प्रकारोऽसर्वज्ञत्व-वक्तृत्वयोः संभवति, असर्वज्ञत्वधर्मानुविधानस्य वचनेऽदर्शनात् । तथाहि—असर्वज्ञत्वं यदि पर्युदासेन किञ्चिज्ज्ञत्वमुच्यते तदा तद्धर्मानुविधानाऽदर्शनाद् न तज्जन्यता वचनस्य । न हि किञ्चिज्ज्ञत्वतरतमभावाद् वचनस्य तरतमभाव उपलभ्यते, किञ्चिज्ज्ञत्वप्रकर्ष-

---

कुम्भकारजन्यत्वरूपआपाद्यव्यतिरेक की उक्त प्रकार की शंका का निवर्त्तक नहीं है। और वास्तविकता यह है कि उस प्रकार के अनुपलम्भ से सहकृत प्रत्यक्ष ही कार्यत्व का ग्राहक होता है। कहने का आशय यह है कि यदि यह निश्चय हो सके कि कुम्भकार के सन्निधान के पूर्व गर्दभ का उस देश में अभाव होता है अन्य स्थान से वहाँ उस का आगमन नहीं होता और कुम्भकार से अन्य उसका कोई कारण भी नहीं है तो अवश्य उसमें कुम्भकार के कार्यत्व की सिद्धि हो सकती है। किन्तु सच बात यह है कि गर्दभ में उन तीनों बातों का निश्चय शक्य ही नहीं है।

जिन पदार्थों के सन्निधान में जो कार्य उपलब्ध होता है उन पदार्थों में से जिसके अभाव में उस कार्य का उपलम्भ नहीं होता उस कार्य में उस पदार्थ के कार्यत्व का निश्चय होता है। यह निश्चय प्रत्यक्ष पूर्वक अनुपलम्भ से होता है क्योंकि इसमें प्रत्यक्ष पहले उपस्थित होता है और अनुपलम्भ बाद में उपस्थित होता है। यद्यपि अग्निकाष्ठ आदि के साथ कुम्भकार के सन्निधान में धूमरूप कार्य का उपलम्भ होता है, तथापि कुम्भकार का अभाव हो जाने पर धूम का अनुपलम्भ नहीं होता, तथापि अग्नि आदि का अभाव होने पर धूम का अनुपलम्भ होता है। इसलिये प्रत्यक्ष और अनुपलम्भ दोनों मिल कर कार्यता के निश्चायक माने जाते हैं। यदि ऐसा न माना जायगा तो कुम्भकार सन्निधान के अभाव में रासभ के अनुपलम्भ से रासभ में तथा कुम्भकार के सन्निधान में धूम के उपलम्भ से धूम में कुम्भकारकार्यत्व की सिद्धि की आपत्ति होगी। अग्नि से इतर अपने समस्त कारणों के सन्निधान के समग्रकाल में अग्नि का सन्निधान होने पर होनेवाले धूम में कदाचित् अग्नि-अजन्यत्व की —किसी भी समय जन्य न होने से, एवं अहेतुकत्व से तथा अदृश्यहेतुकत्व से यदि अग्निजन्यत्वाभाव की—शङ्का हो तो उसकी निवृत्ति कादाचित्कत्व और अग्नि के अन्वयानुविधायित्व के ज्ञान से हो सकती है।

[वक्तृत्व असर्वज्ञता का कार्य नहीं है]

जो प्रकार अग्नि और धूम में बताया गया वह असर्वज्ञत्व और वक्तृत्व में नहीं है क्योंकि वचन में असर्वज्ञत्व के धर्म का अनुविधान नहीं देखा जाता। जैसे : असर्वज्ञत्व शब्द में नञ् पद का पर्युदास प्रतिषेध अर्थ मानने पर असर्वज्ञत्व का अर्थ होता है किञ्चिज्ज्ञत्व। वचन में

वत्त्वतस्यल्पविज्ञानेषु कृम्यादिषु वचनोत्कर्षानुपलम्भात् । यदि च प्रसज्यप्रतिषेधेनाऽसर्वज्ञत्वं सर्वज्ञत्वाभाव उच्यते, तदा ज्ञानरहिते मृतशरीरे तस्योपलम्भः स्यात्, न च कदाचनापि तत् तत्रोपलभ्यते, ज्ञानातिशयवत्स्वेव सकलशास्त्रव्याख्यातृषु वचनातिशयदर्शनात् । अतो ज्ञानप्रकर्षतारतम्यरूपज्ञानधर्मानुविधानदर्शनात् तत्कार्यता, धूमस्येवाग्न्यादिसामग्रीगतसुरभिगन्धाद्यनुविधायिनोऽग्न्यादिजन्यता । इति यथोक्तप्रत्यक्षाऽनुपलम्भाभ्यामेतावद्व्यापारकज्ञानस्य स्पष्टतानुभवेनोहाख्येन प्रमाणान्तरेण व्यवस्थाप्यत इति । यद् यद् निश्चिताऽविसंवादिवचनं तत् तदविसंवादिज्ञानविशेषपूर्वकतां विना नोपपन्नम्, इत्यात्मन्येवासकृद् निश्चितम्, इत्यविसंवादिवचनविशेषोऽविसंवादिज्ञानवन्तं पुरुषविशेषं सर्वज्ञमर्थापयतीति सिद्धम् । तदुक्तम् –

"यद् यस्यैव गुणान् दोषान् नियमेनानुवर्तते ।
तन्नान्तरीयकं तत् स्यादतो ज्ञानोद्भवं वचः ॥१॥" इति ।

इदं चाभ्युपगम्योक्तम्, वस्तुतोऽर्थापत्तिर्नानुमानादतिरिच्यते । तथाहि 'देवदत्तस्य जीवित्वे

उस के धर्म का अनुविधान नहीं देखा जाता क्योंकि किञ्चिद्ज्ञत्व के तरतम भाव=न्यूनाधिक्य से वचन में तरतमभाव=न्यूनाधिक्य का उपलम्भ नहीं होता। जैसे कृमि आदि अत्यन्त अल्पज्ञजीवों में किञ्चिद्ज्ञत्व का प्रकर्ष होने पर भी वचनप्रकर्ष का उपलम्भ नहीं होता। अतः वचनमें किञ्चिद्ज्ञत्व की जन्यता का निश्चय नहीं हो सकता। इसी प्रकार असर्वज्ञत्व शब्दमें नञ् शब्द का प्रसज्यप्रतिषेध अर्थ मान कर असर्वज्ञत्व का यदि सर्वज्ञत्वाभाव अर्थ किया जाय तो भी वचनमें असर्वज्ञत्व की कार्यता नहीं सिद्ध हो सकती क्योंकि वचन द्वारा सर्वज्ञत्वाभाव के अन्वय का अनुविधान नहीं होता। जैसे-ज्ञानशून्य मृतशरीर में सर्वज्ञत्वाभाव होने पर भी वचन का उपलम्भ नहीं होता किन्तु अतिशय ज्ञानवान् सकल शास्त्रों के व्याख्याता पुरुषों में ही वचनप्रकर्ष देखा जाता है। अतः ज्ञानप्रकर्ष के तारतम्यरूप ज्ञानधर्मका अनुविधान होने से वचन को ज्ञान का ही कार्य मानना उसी प्रकार उचित है-जैसे अग्नि आदि की सामग्री के (चन्दनादि के) सुरभि-गन्ध आदि का अनुविधान करने से धूम को अग्नि आदि से जन्य मानना उचित होता है। इस प्रकार यह सिद्ध है कि यथावर्णित प्रत्यक्ष और अनुपलम्भ से उक्त व्यापारपर्यन्त ज्ञान में स्पष्टता का अनुभव न होने से ऊह नामक अतिरिक्तप्रमाण से कार्यत्व का निश्चय होता है। जिस जिस वचनमें अविसंवाद निश्चित होता है वह अविसंवादिज्ञानविशेष के बिना उपपन्न नहीं होता, यह नियम मनुष्य को अपने ही वचन के सम्बन्ध में अनेकदा निश्चित है। इसलिये अतीन्द्रिय पदार्थका प्रतिपादन करने वाला आगमरूप वचनविशेष अविसंवादिज्ञान से संपन्न पुरुष के बिना असम्पन्न होने से अर्थापत्तिके रूप में सर्वज्ञ का साधक होता है। कहा भी गया है कि 'जो जिस के गुण और दोष का नियम से अनुवर्त्तन करता है वह उस के बिना नहीं होता इसलिये ज्ञान के गुणदोषका अनुवर्त्तन करने से वचन ज्ञान का कार्य होता है।'

[अर्थापत्ति प्रमाण अनुमान से अभिन्न]

अब तक जो यह बात कही गई कि अर्थापत्ति से भी सर्वज्ञ की सिद्धि हो सकती है वह परमत से अर्थापत्ति के प्रमाणान्तरत्व का अभ्युपगम कर के कही गई है। किन्तु सत्य यह है कि अर्थापत्ति, अनुमान से अतिरिक्त प्रमाण ही नहीं है। जैसे अर्थापत्तिप्रामाण्यवादी की यह

सति गृहेऽसत्त्वं बहिः सत्त्वं विनाऽनुपपद्यमानं बहिःसत्त्वमर्थापयति' इति परेषामभिमानः । तत्र बहिःसत्त्वं विनाऽनुपपत्तिर्बहिःसत्त्वाभावव्यापकीभूताभावप्रतियोगित्वं व्यतिरेकव्याप्तिरेव । इति 'देवदत्तो बहिःसन्, जीवित्वे सति गृहासत्त्वात्, यो नैवं स नैवम् यथा गृहवर्ती' इति व्यतिरेक्यनुमानमस्तु, 'बहिर्वृत्तिमद्वत्' इति दृष्टान्तेन कदाचिदन्वय्येव वा । अथ गृहे संनिकृष्टे जीविदेवदत्ताभावो गृहीतो देवदत्ते बहिःसत्त्वकल्पकः, न चेदमनुमानम् वैयधिकरण्यादिति चेत् ? न, विशिष्टेन सह गृहीतान्यथानुपपत्तिकेन लिङ्गेन व्यधिकरणेनापि विशिष्टानुमानोपपत्तेः । 'उदेष्यति शकटम् कृत्तिकोदयात्' 'उपरि सविता, भूमेरालोकवत्त्वात्' इत्यादौ तथा दर्शनात्, पक्षधर्मताया अनुमितावतन्त्रत्वात् । इष्यते च परेणाप्येतत्

"पित्रोश्च ब्राह्मणत्वेन पुत्रब्राह्मणताऽनुमा ।
सर्वलोकप्रसिद्धा न पक्षधर्ममपेक्षते ॥१॥" इत्यभिधानात् ।

"तुल्यवित्तिवेद्यतया तदुत्तरं मनसा वा गृहीतेन गृहनिष्ठाभावप्रतियोगित्वेन देवदत्तनिष्ठेना-

---

मान्यता है कि जीवित रहते हुए भी गृह में न होना बहिः सत्त्व के बिना अनुपपन्न होने से अपने आश्रयभूत देवदत्त आदि के बहिःसत्त्व की अर्थापत्तिरूप प्रमा को उत्पन्न करता है, किन्तु यह मान्यता उचित नहीं है क्योंकि 'बहिःसत्त्व के बिना अनुपपत्ति' का अर्थ है बहिःसत्त्व के अभाव में अभाव होना । अर्थात् बहिः सत्त्वाभाव के व्यापक अभाव का प्रतियोगी होना । फिर यह तो व्यतिरेकव्याप्तिरूप है, अतः जीवित रहते हुये गृह में न होने से बहिःसत्त्व की अर्थापत्ति नहीं होती किन्तु अनुमान ही हो सकता है । और वह अनुमान व्यतिरेकी और अन्वयी दोनों प्रकार का हो सकता है । व्यतिरेकी अनुमान इस प्रकार होगा कि देवदत्त बाहर विद्यमान है क्योंकि जीवित होते हुये गृह में विद्यमान नहीं है । जो बाहर विद्यमान नहीं होता वह जीवित होते हुये गृह में अविद्यमान नहीं होता जैसे गृहवर्त्ती यज्ञदत्त । अन्वयी अनुमान इस प्रकार होगा देवदत्त बाहर विद्यमान है, क्योंकि जीवित होते हुये गृह में अविद्यमान है, जो जीवित होते हुये गृह में अविद्यमान होता है वह बाहर विद्यमान होता है जैसे बाहर में विद्यमान मैं अथवा मेरे जैसा कोई अन्य व्यक्ति ।

यदि यह कहा जाय कि-'सन्निकृष्ट गृह में जीवित देवदत्त के अभाव का ग्रहण होने पर देवदत्त में बहिःसत्त्व का ज्ञान होता है । यह ज्ञान अर्थापत्ति रूप ही हो सकता है अनुमान रूप नहीं हो सकता, क्योंकि 'जीवित देवदत्त का अभाव' रूप साधन गृह में है और बहिः सत्त्वरूप साध्य देवदत्त में है, अतः साध्यसाधन में वैयधिकरण्य है और अनुमान साध्यसाधन में नियत सामानाधिकरण्य से ही होता है ।'-तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि जिस लिङ्ग में विशिष्ट साध्य के साथ अन्यथानुपपत्ति का ज्ञान होता है वह यदि व्यधिकरण भी हो तो उस से विशिष्ट साध्य का अनुमान होता है । जैसे-कृत्तिका नक्षत्र के उदय से शकटोदय का एवं भूमिगत आलोक से ऊर्ध्व अन्तरिक्ष में स्थित सूर्य का अनुमान होता है । इसलिये पक्षधर्मता सर्वत्र अनुमिति की प्रयोजक नहीं होती । यह बात मीमांसक को भी माननी पड़ती है । क्योंकि यह कहा गया है कि 'मातापिता के ब्राह्मणत्व से पुत्र के ब्राह्मणत्व का अनुमान सर्वसम्मत है, अतः अनुमान को नियम से पक्षधर्मता की अपेक्षा नहीं होती ।'

नुमानाद् न वैयधिकरण्यम्, 'उदेष्यति शकटम्' इत्यादावप्येतत्काले संनिहितशकटोदयत्वम् भूमौ संनिहितसवितृकत्वं च साध्यते" इति तु यौगाः।

तच्चिन्त्यम् तथापि 'बहिर्देशो देवदत्तवान्' इत्यस्यानुपपत्तेः। यथेहमनुमितिव्यवस्थाया एव न्याय्यत्वात् विलक्षणानुमितौ विलक्षणशक्तिमत्त्वेन तत्तज्ज्ञानानां हेतुत्वादित्यन्यत्र विस्तरः। एतेन 'अस्त्वन्वयव्याप्तिज्ञानजन्याऽनुमितिः, व्यतिरेकव्याप्तिज्ञानजन्या त्वर्थापत्तिः अन्यथा परस्परव्यभिचारेण हेतुत्वस्याप्यसंभवात्' इति निरस्तम् प्रमाणद्वयसमाहारे परस्परविरोधित्वकल्पने गौरवात्,

[पक्षधर्मता से ही अनुमानोदयवादी नैयायिकमत]

नैयायिकों का इस सम्बन्ध में यह कहना है कि गृह में देवदत्त का अभाव और देवदत्त में गृहनिष्ठ अभाव प्रतियोगित्व दोनों समान ज्ञान से वेद्य हैं। अतः सन्निकृष्ट गृह में जीवित देवदत्त के अभाव का ज्ञान होने पर जीवित देवदत्त में गृहनिष्ठ अभाव के प्रतियोगित्व का भी ज्ञान हो जाता है। यह भी ज्ञातव्य है कि यदि उक्त दोनों समानज्ञानवेद्य न हो तो भी सन्निकृष्टगृह में जीवित देवदत्ताभाव का ज्ञान होने पर देवदत्त में गृहनिष्ठअभावप्रतियोगित्व का मानस ज्ञान हो सकता है। अतः देवदत्त में बहिःसत्त्व की सिद्धि देवदत्तनिष्ठ गृहाभाव से नहीं होती किन्तु गृहनिष्ठ-अभावप्रतियोगित्व से होती है। फलतः साध्य साधन में वैयधिकरण्य न होने से उसे अनुमान माना जा सकता है। इसी प्रकार कृत्तिकोदय से शकटोदय का भी अनुमान नहीं होता, किन्तु कृत्तिकोदय काल में कृत्तिकोदय हेतु से सन्निहित शकटोदयत्व का अनुमान होता है। एवं भूमिगत आलोक से ऊर्ध्व अंतरिक्ष में सूर्य का अनुमान नहीं होता किन्तु भूमि में सन्निहित सूर्यवत्त्व का अनुमान होता है। एवं माता-पिता के ब्राह्मणत्व से पुत्र में ब्राह्मणत्व का अनुमान नहीं होता किन्तु ब्राह्मण मातापितृजन्यत्व से ब्राह्मणत्व का अनुमान होता है। अतः कहीं भी व्यधिकरणहेतु से साध्य का अनुमान नैयायिक को मान्य नहीं है।

[नैयायिकमत की चिन्तनीयता]

किन्तु नैयायिकों का उक्त कथन चिन्तनीय है, क्योंकि उक्त अनुमानों की उपपत्ति उक्त रीति से यद्यपि साध्यसमानाधिकरण लिङ्ग से हो जाती है किन्तु गृह में जीवित देवदत्ताभाव के ज्ञान से जो 'बहिर्देशो देवदत्तवान्' इस प्रकार बहिर्देश में देवदत्त की अनुमिति होती है उसकी उपपत्ति साध्यसमानाधिकरण लिङ्ग से नहीं हो सकती, क्योंकि गृहनिष्ठ अभाव प्रतियोगित्व अथवा गृह में जीवित देवदत्त का अभाव दोनों देवदत्तरूप साध्य के व्यधिकरण हैं। अतः जहाँ जिसप्रकार साध्य के समानाधिकरण अथवा व्यधिकरण हेतु से अनुमिति उसके द्वारा संभव प्रतीत हो, वहाँ उसी प्रकार अनुमिति की व्यवस्था उचित है। विलक्षण हेतुओं से अनुमिति का उदय मानने पर व्यभिचार की शङ्का भी नहीं की जा सकती, क्योंकि विलक्षण अनुमिति में विलक्षण शक्तिमत्त्वरूप से विभिन्न ज्ञानों को कारण मानने से व्यभिचार का परिहार हो सकता है। इस विषय का विस्तृत विचार अन्यत्र द्रष्टव्य है।

यदि यह कहा जाय कि-'अन्वयव्याप्तिज्ञान से अनुमिति और व्यतिरेकव्याप्तिज्ञान से अर्थापत्ति नामके अनुमितिभिन्न प्रमा की उत्पत्ति मानना आवश्यक है, क्योंकि यदि दोनों व्याप्तियों के ज्ञान से अनुमिति की उत्पत्ति मानी जायगी तो अन्वयव्याप्ति ज्ञान से जन्य

अनुभूयमानानुमित्यपलापप्रसङ्गाच्च । 'व्यतिरेकिणो वह्न्यभावाभाववत्त्वेन अन्वयिनस्तु वह्न्यादिनाऽनुमितिः' इत्यन्ये । तत्र नियमश्चिन्त्यः । अथ व्यतिरेकव्याप्तिज्ञानजन्यज्ञाने 'नानुमिनोमि किन्त्वर्थापयामि' इत्यनुव्यवसायात् पार्थक्यमेवास्या इति चेत् ? न, 'नानुभवामि किन्त्वनुमिनोमि' इतिवदस्य पार्थक्याऽव्यवस्थापकत्वात्, अन्यथाऽन्वयव्यतिरेकिणः प्रमाणान्तरत्वप्रसङ्गात्, अनुभवापलापस्यान्यत्रापि तुल्यत्वाच्चेति दिग् ।

अनुमिति के प्रति व्यतिरेकव्याप्ति ज्ञान का एवं व्यतिरेकव्याप्ति ज्ञानजन्य अनुमिति के प्रति अन्वयव्याप्तिज्ञान का व्यभिचार होने से किसी भी व्याप्ति ज्ञान को अनुमिति का कारण मानना असंभव हो जायगा' - तो यह कथन भी निरस्त प्राय: है क्योंकि अन्वय व्याप्ति ज्ञान से अव्यवहित उत्तर में होनेवाली अनुमिति के प्रति अन्वयव्याप्तिज्ञान को तथा व्यतिरेकव्याप्तिज्ञान के अव्यवहित उत्तर होनेवाली अनुमिति में व्यतिरेकव्याप्तिज्ञान को कारण मान लेने से उक्त व्यभिचार का परिहार हो जाता है । अत अन्वयव्याप्ति और व्यतिरेकव्याप्तिज्ञान को अनुमिति का कारण मानने में दोष नहीं है किन्तु विजातीय ज्ञानों को ही कारण मानने में दोष है । जैसे - जब अन्वयव्याप्तिज्ञानरूप अनुमान प्रमाण का और व्यतिरेकव्याप्तिज्ञानरूप अर्थापत्ति प्रमाण का युगपत् सन्निधान होगा तब दोनों को परस्पर के कार्य का प्रतिबन्धक मानना पड़ेगा क्योंकि दो ज्ञानका समकालीनत्व मान्य न होने से उस दशा में अनुमिति और अर्थापत्ति नामक दो ज्ञानों की उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती एवं अनुमितित्व तथा अर्थापत्तित्व में सांकर्य के भयसे 'अनुमिति - अर्थापत्ति' उभयात्मक एक ज्ञान की भी उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती । फलत दोनों व्याप्तिज्ञानों को विलक्षण प्रमाण मानने के पक्ष में उक्त प्रतिबन्धकता की शून्यता के कारण गौरव होगा और उस दशा में अनुभवसिद्ध अनुमिति का अपलाप भी करना पड़ेगा ।

अन्य विद्वानों का कहना है कि व्यतिरेकी अनुमान से वह्न्यभावाभावत्वरूप से वह्नि की अनुमिति होती है और अन्वयी अनुमान से वह्नित्वरूप से वह्नि की अनुमिति होती है । अत: अन्वयव्याप्ति और व्यतिरेकव्याप्ति दोनों के ज्ञान को अनुमिति का कारण मानने में व्यभिचार की प्रसक्ति नहीं हो सकती । किन्तु यहाँ नियम निर्युक्तिक होने से चिन्तनीय है । अत: दोनों व्याप्ति ज्ञानों को अनुमिति का कारण मानने पर प्रसक्त होने वाले व्यभिचार का वारण इस व्यवस्था द्वारा ही करना उचित है कि अन्वयव्याप्तिज्ञानाव्यवहितोत्तर अनुमिति में अन्वयव्याप्तिज्ञान कारण होता है और व्यतिरेक व्याप्तिज्ञानाव्यवहितोत्तर अनुमिति में व्यतिरेकव्याप्तिज्ञान कारण होता है ।

[व्यतिरेकव्याप्तिज्ञान स्वतन्त्र प्रमाण नहीं है]

यदि यह कहा जाय कि:- "व्यतिरेकव्याप्तिज्ञान से उत्पन्न ज्ञान का 'न अनुमिनोमि किन्तु अर्थापयामि' इस प्रकार अनुमिति भिन्नत्व और अर्थापत्तित्वरूप से अनुव्यवसाय होता है अत: अर्थापत्ति को अनुमिति से भिन्न मानना आवश्यक है" -तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि जैसे अन्वयव्याप्तिज्ञान से जन्य ज्ञान के 'नानुभवामि किन्तु अनुमिनोमि' इस अनुव्यवसाय से अनुमिति में अनुभव के पार्थक्य की सिद्धि नहीं होती उसी प्रकार उक्त अनुव्यवसाय से भी अर्थापत्ति में अनुमिति के पार्थक्य की सिद्धि नहीं हो सकती । अन्यथा यदि अन्वयव्याप्तिज्ञानजन्य अनुमिति से व्यतिरेकव्याप्तिज्ञानजन्यज्ञान को विलक्षण प्रमा मान कर व्यतिरेकव्याप्तिज्ञान को अर्थापत्तिरूप अतिरिक्त

अथ जीवद्गृहाभावग्रहसमय एव बहिःसत्त्वग्रहाद् प्रमेयानुप्रवेशदोषाद् नेदमनुमानमिति चेत् ? न, असिद्धेः, धूमा(? मसद्)भावग्रहोत्तरमेव दहनप्रतीतिवज्जीवतो गृहाभावग्रहोत्तरमेव बहिःसत्त्वप्रतीतेः । अथ 'देवदत्तः क्वचिदस्ति जीवित्वात्' इत्यनुमानजन्यं क्वचित्त्वेन गृहविषयकं ज्ञानम् अनुपलब्धिजन्यं च 'गेहे नास्ति' इति ज्ञानम्, इत्यनयोर्विरोधज्ञानात् करणीभूतात् 'क्वचित्'

प्रमाण माना जायगा तो अन्वयव्याप्ति और व्यतिरेकव्याप्ति दोनों के समूहालम्बन ज्ञान से विलक्षण प्रमा की उत्पत्ति मान कर उसे और एक अतिरिक्त प्रमाण मानना होगा।

यदि यह कहा जाय कि-'उक्त समूहालम्बन ज्ञान से जन्य ज्ञान को अनुमित्यादि से विलक्षण प्रमा मानने पर उस ज्ञान के अनुमितित्वरूप से अनुभव का अपलाप होगा'-तो इस दोष का उद्भावन उचित नहीं हो सकता क्योंकि व्यतिरेकव्याप्तिज्ञान को अर्थापत्ति प्रमाणवादी के मत में भी अनुभव का अपलाप होता है। जैसे अन्वयव्याप्तिज्ञान और व्यतिरेकव्याप्तिज्ञान दोनों का युगपद् सन्निधान होने पर अनुमिति और अर्थापत्ति किसी की भी उत्पत्ति न मानने पर वहाँ होनेवाले अनुमित्यादि अनुभव का अपलाप होता है। एवं व्यतिरेकव्याप्तिज्ञान मात्र से होनेवाले ज्ञान में अनुमितित्व के अनुभव का भी अपलाप होता है।

[हेतु और साध्य का ज्ञान क्रमिक होता है]

यदि कहा जाय कि-'गृह में जीवित देवदत्त के अभावज्ञान के समय ही देवदत्त में बहिःसत्त्व का ज्ञान हो जाता है। अत एव गृहनिष्ठजीवितदेवदत्ताभाव भी बहिःसत्त्व के समान प्रमेयकोटी में प्रविष्ट हो जाता है अतः उसे बहिः सत्त्व का प्रमापक अनुमान नहीं कहा जा सकता, क्योंकि प्रमेयकोटि में अप्रविष्ट ही प्रमापक होता है।'-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि गृह में जीवितदेवदत्ताभाव के ज्ञानकाल में ही बहिःसत्त्व के ज्ञान का होना असिद्ध है। सत्य यह है कि जैसे वह्निमत्तया प्रथमतः अनिर्णीत धर्मी में धूम के सद्भावज्ञान के बाद ही अग्नि की प्रतीति होती है उसी प्रकार गृह में जीवित देवदत्ताभाव के ज्ञान के अनन्तर ही देवदत्त में बहिःसत्त्व की प्रतीति होती है।

[विरोध ज्ञान अर्थापत्ति प्रमाणरूप नहीं है]

यदि यह कहा जाय कि-"अर्थापत्ति को अनुमान से गतार्थ नहीं किया जा सकता क्योंकि अर्थापत्ति से एक ऐसा कार्य होता है जो अनुमान से संभव नहीं है। जैसे: जीवित देवदत्त में गृहासत्त्व का ज्ञान होने पर यह अनुमान होता है कि देवदत्त 'किसी स्थान' में है क्योंकि जीवित है। यह अनुमान 'किसी स्थान' के रूप में गृह को भी विषय करने से देवदत्त में गृहास्तित्व को भी विषय करता है और गृह में देवदत्त की अनुपलब्धि से उत्पन्न होनेवाला 'देवदत्तो गृहे नास्ति'=देवदत्त गृह में नहीं है' यह ज्ञान देवदत्त में गृहास्तित्वाभाव को विषय करता है, अतः विरुद्धार्थविषयक होने से इन दोनों में विरोधज्ञान होता है। इस विरोधज्ञानरूप कारण से 'देवदत्तः क्वचिदस्ति' इस अनुमान में 'क्वचिद्' रूप से गृहान्य-विषयकत्व की बुद्धि होती है जिस से उक्त ज्ञानों में अविरोध की उपपत्ति होती है। अतः उक्तज्ञानों में जो विरोधज्ञान होता है उसे अर्थापत्तिप्रमाण मानना और उस से उक्त अनुमान में जो गृहान्यविषयकत्व की सिद्धि होती है उसे अर्थापत्ति प्रमा मानना; अथवा उक्त ज्ञानों में विरोध ज्ञान से होनेवाले उक्त अनुमान में गृहान्यविषयकत्व के ज्ञान को अर्थापत्ति प्रमाण मानना और उक्त ज्ञानों में अविरोध ज्ञान को अर्थापत्ति प्रमा मानना आवश्यक है।"-तो यह

इत्यत्र गेहान्यविषयकत्वार्थापत्तिरविरोधापादिका जायत इति चेत् ? न, तयोर्ज्ञानयोरेककालीनत्वेनाऽविरोधात् । "क्वचिदिति ज्ञानं यदि गेहविषयकं स्याद् 'गेहे नास्ति' इतिज्ञाने विरुद्धं स्यात्" इति विरोधापादनं च 'क्वचित्' इति न गेहविषयकम् 'गेहे नास्ति' इत्यविरुद्धत्वादित्यनुमानोत्थापकमेव । 'गृहसत्त्व-गृहासत्त्वयोर्विरोधो गृहासत्त्वबहिःसत्त्वयोर्व्याप्तिद्योतकः एव' इत्यन्ये । अथ सामान्यानुमितिसामग्र्यामेवैकविशेषबाधज्ञानकरणिका विशेषान्तरप्रकारिकाऽर्थापत्तिरिति चेत् ? न एवं सति पर्वते वह्न्यनुमितेरपि जायमानायाः शिखरावच्छेदेन बाधज्ञानाद् नितम्बावच्छेदेन पर्यवस्यन्त्याः सामान्यप्रत्यक्षादेरप्येकविशेषबाधाद् विशेषान्तरपर्यवसायिनोऽर्थापत्तित्वप्रसङ्गादिति दिग्॥१७॥

ठीक नहीं है क्योंकि उक्त अनुमानजन्यज्ञान और अनुपलब्धिजन्य उक्त ज्ञान, दोनों एक काल में उत्पन्न होते हैं । अतएव उन में अविरोध स्वतःसिद्ध है । अत एव उस की उपपत्ति के लिये प्रमाणान्तर की कल्पना अनावश्यक है ।

दूसरी बात यह है कि, उक्त ज्ञानों में विरोध का आपादान इसी प्रकार होगा कि 'देवदत्तः क्वचिदस्ति' यह ज्ञान यदि गेहविषयक होगा तो 'देवदत्त गृह में नहीं है'-इस ज्ञान के साथ विरोध होगा-तो यह विरोध आपादान इस अनुमान का ही उत्थापक होगा कि 'देवदत्तः क्वचिदस्ति' यह ज्ञान क्वचिद्रूप से गेहान्यविषयक है, गृहविषयक नहीं है । क्योंकि 'देवदत्तो गृहे नास्ति' इस ज्ञान से अविरुद्ध है । अतः उक्त ज्ञानों के विरोधज्ञान से अविरोधसाधिका अर्थापत्ति की सिद्धि नहीं हो सकती ।

अन्य विद्वानों का कहना है कि-गृहसत्त्व और गृहासत्त्व का विरोध गृहासत्त्व में बहिःसत्त्व की व्याप्ति का द्योतक है । क्योंकि गृहासत्त्व में बहिःसत्त्व की व्याप्ति होने पर ही गृहासत्त्व में गृहसत्त्व का विरोध हो सकता है ।

[विशेषान्तरप्रकारक बुद्धि अर्थापत्तिरूप नहीं है]

यदि यह कहा जाय कि-'सामान्य अनुमिति की सामग्री में एकविशेष के बाधक ज्ञानरूप करण से जो विशेषान्तरप्रकारक बुद्धि होती है वह अर्थापत्ति है । जैसे: पर्वत में वह्निव्याप्य धूम का परामर्श होने पर यदि पर्वत में पर्वतीय वह्नि से इतरवह्नि का बाधज्ञान होता है तो पर्वत में वह्नि का पर्वतीयवह्नित्वरूप से 'पर्वतः पर्वतीयवह्निमान्' इस प्रकार का ज्ञान होता है । इस ज्ञान को अनुमितिरूप नहीं माना जा सकता, क्योंकि यह धूमरूपहेतु के व्यापकतावच्छेदक पर्वतीयवह्नित्वरूप से वह्नि को विषय करता है । अत एव यह ज्ञान अर्थापत्तिप्रमारूप है और पर्वत में पर्वतीयवह्नीतर का बाधज्ञान अर्थापत्ति प्रमाण है और वह्निसामान्य का अनुमापक परामर्श उस का सहकारी है'-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि ऐसा मानने पर प्रसिद्ध अनुमिति और प्रसिद्ध प्रत्यक्ष में भी अर्थापत्तित्व की प्रसक्ति होगी । जैसे-धूम से जो पर्वत में वह्नि की अनुमिति होती है वह शिखरावच्छेदेन वह्नि के बाधज्ञान से नितम्बावच्छेदेन वह्निज्ञान में पर्यवसित होती है । एवं सन्निहित पर्वत में वह्निमद्देश के साथ इन्द्रियसन्निकर्ष होने पर जो पर्वत में वह्नि का प्रत्यक्ष होता है वह भी शिखर आदि में वह्नि का बाधज्ञान होने से नितम्ब में ही वह्न्यवगाहिज्ञान में पर्यवसित होता है । अतः जैसे-नितम्बावच्छेदेन अग्निज्ञान में पर्यवसित होनेवाली पर्वत में वह्नि की अनुमिति अनुमिति ही है, अर्थापत्ति नहीं है, एवं पर्वत के

यतश्चैवम्, अत आह—

प्रमाणपञ्चकावृत्तिरेवं तत्र न युज्यते । तथाप्यभावप्रामाण्यमिति स्वान्ध्यविजृम्भितम् ॥१८॥

प्रमाणपञ्चकाऽवृत्तिः=भावोपलम्भकयावत्प्रमाणाविषयत्वम् **एवम्**=उक्तरीत्या, **तत्र**=सर्वज्ञे **न युज्यते**=न घटते । **तथापि**=एवमपि व्यवस्थिते, **अभावप्रामाण्यम्**=अभावप्रमाणस्य सर्वज्ञाभावनिश्चायकत्वम् इति अदः **स्वान्ध्यविजृम्भितम्**=स्वाज्ञानविलसितम्, सदुपलम्भकसाम्राज्येनाभावप्रमाणस्यैवानुत्थानात् । वस्तुतोऽभावस्य पृथक्प्रमाणत्वमेवाऽसिद्धम्, भावांशग्राहिणेन्द्रियेणैवाभावांशग्रहणात् । न च सम्बन्धाभावः, योग्यतारूपस्य तस्याभावायोगात् संयोगस्य च भावांशोपलम्भेऽप्यतन्त्रत्वात्, चक्षुषोऽप्राप्यकारित्वव्यवस्थितेः । कथमेतदेवम् ? इति चेत् । शृणु, प्रसङ्गसंगतमेतत्तत्त्वं निरूपयामः —

चक्षुर्न प्राप्यकारि, अधिष्ठानाऽसंबद्धार्थग्राहकेन्द्रियत्वात्, मनोवत् । न चाप्रयोजकत्वम्

निकटस्थ देश में अग्नि ग्रहण में पर्यवसित होनेवाला पर्वत में वह्निप्रत्यक्ष प्रत्यक्ष ही है, अर्थापत्ति नहीं है उसी प्रकार सामान्यानुमिति की सामग्री के समय एकविशेष के बाध ज्ञान से होनेवाली विशेषान्तरप्रकारक अनुमिति भी अनुमिति ही है, अर्थापत्ति नहीं है ॥१७॥

[सर्वज्ञ को अभावप्रमाण का विषय मानने में अज्ञान]

१८ वीं कारिका में यह बताया गया है कि सर्वज्ञ के विषय में भावसाधक पाँचों प्रमाणों को अशक्त बताना तथा 'अभावप्रमाण' से उस के नास्तित्व का साधन करना अयुक्त है । कारिका का अर्थ इस प्रकार है–

भाव के साधक जितने प्रमाण हैं सर्वज्ञ उन सभी का अविषय है, यह बात पूर्वोक्तरीति से युक्तिसंगत नहीं है । "सर्वज्ञ की अनुपलब्धिरूप अभाव प्रमाण से सर्वज्ञ का अभाव सिद्ध होता है" यह कथन असर्वज्ञवादी के अज्ञान का ही फल है क्योंकि सर्वज्ञ के अस्तित्व को सिद्ध करनेवाले अनेक प्रमाण विद्यमान रहने से 'अभाव' प्रमाण का उत्थान असंभव है ।

सच तो यह है कि अभाव का अतिरिक्त प्रामाण्य ही असिद्ध है, क्योंकि जिस इन्द्रिय से भाव का ग्रहण होता है उसी से अभाव का भी ग्रहण सम्पन्न हो सकता है । "अभाव के साथ इन्द्रिय का सम्बन्ध न होने से इन्द्रिय द्वारा उसका ग्रहण अशक्य है।" यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि योग्यतारूप सम्बन्ध अभाव के साथ भी सुलभ है और संयोगसम्बन्ध तो भावग्रहण में भी अपेक्षित नहीं है, क्योंकि युक्ति द्वारा यह निर्णीत है कि चक्षु अप्राप्यकारि =असम्बद्ध अर्थ का ग्राहक होता है । चक्षु असम्बद्ध अर्थ का ग्राहक होने में क्या युक्ति है, यह विषय यद्यपि प्रस्तुत विचार का अङ्ग नहीं है फिर भी प्रसङ्गप्राप्त है, अतः इस की चर्चा कर लेना उचित है ।

[चक्षु-अप्राप्यकारिता वादस्थल]

चक्षु प्राप्यकारी (सम्बद्ध अर्थ का ग्राहक) नहीं है क्योंकि वह अपने अधिष्ठान-स्थान से असम्बद्ध अर्थ की ग्राहक इन्द्रिय है, जो इन्द्रिय अपने अधिष्ठान से असम्बद्ध अर्थ की ग्राहक

१. मुद्रिते मूलपुस्तके 'स्यान्ध्यवि' इति पाठः ।

संबद्धार्थग्राहकत्वे तस्य वह्निजलावलोकनादिना दाहक्लेदादिप्रसङ्गात्, अधिष्ठानाच्चक्षुषो विभागेऽन्धत्वप्रसङ्गाच्च । अथ नयनाद् नायना रश्मय एव निर्गत्य प्राप्य च वस्तु रविरश्मय इव प्रकाशमादधति, सूक्ष्मत्वेन तैजसत्वेन च तेषां वह्न्यादिभिर्दाहादयो न भविष्यन्तीति चेत् ? न, चक्षुषस्तैजसत्वस्यैवासिद्धेः । न च 'चक्षुस्तैजसम्, रूपादिषु मध्ये रूपस्यैवाभिव्यञ्जकत्वात्, प्रदीपवत्' इत्यनुमानात् तत्सिद्धिः, चक्षुःविषयसंयोगेनानैकान्तिकत्वात्, 'द्रव्यत्वे सति' इति विशेषणेऽप्यञ्जनविशेषेणानैकान्तिकत्वाच्च । एतेन 'रूपसाक्षात्कारासाधारणकारणं तैजसम्, रसाऽव्यञ्जकत्वे सति स्फटिकाद्यन्तरितप्रकाशकत्वात्, प्रदीपवत्' इत्यपि निरस्तम् 'अञ्जनादिभिन्नत्वे सति' इति विशेषणदाने चाऽप्रयोजकत्वात्, अञ्जनादिवच्चक्षुषोऽतैजसत्वेऽप्यक्षतेः, चक्षुःप्रदीपयोरेकया जात्या व्यञ्जकत्वाऽसिद्धेश्च ।

होती है वह सम्बद्ध अर्थ की ग्राहक नहीं होती, जैसे : मन अपने अधिष्ठान शरीर देश से असम्बद्ध मेरु आदिरूप अर्थ का अथवा अपने अधिष्ठान शरीर से असम्बद्ध दूरस्थ वस्तुओं का चिन्तनरूप में ग्राहक इन्द्रिय होने से अपने से असम्बद्ध तत्तत् अर्थों का ग्राहक होता है। उक्त हेतु में अप्रयोजकत्व की शङ्का नहीं की जा सकती–अर्थात् अधिष्ठान से असम्बद्ध अर्थ-ग्राहक इन्द्रियत्व में असम्बद्ध अर्थ के ग्राहकत्वरूप साध्य के व्यभिचार की शङ्का को निवृत्त करनेवाले तर्क के अभाव की शङ्का नहीं की जा सकती, क्योंकि इस शङ्का के फलस्वरूप चक्षु में सम्बद्ध अर्थ की ग्राहकता प्रसक्त होगी जो मान्य नहीं हो सकती, क्योंकि चक्षु यदि सम्बद्ध अर्थ का ग्राहक होगा तो अग्नि का अवलोकन करने पर उसके दाह की और जल का अवलोकन करने पर उस में क्लिन्नता=आर्द्र होने की आपत्ति होगी । यह कैसे सम्भव हो सकता है कि जो अग्नि से संयुक्त हो उसका दाह न हो और जो जल से संयुक्त हो वह क्लिन्न न हो ।

दूसरी बात यह है कि चक्षु से दीख पड़नेवाले पदार्थ तो चक्षु के अधिष्ठान से दूर ही रहते हैं । अतः चक्षु को ही अधिष्ठान से पृथक् होकर उनके पास जाना होगा, फलतः अधिष्ठान देश चक्षुहीन हो जाने से दृष्टि अन्ध हो जायगी, क्योंकि एकबार अधिष्ठान से निकल जाने के बाद चक्षु के पुनः अधिष्ठान में प्रत्यावर्तित होने का कोई उपाय नहीं है ।

[चक्षु तैजस किरणमय होने की आशंका]

यदि यह कहा जाय कि-"चक्षु दृश्य विषय के पास स्वयं नहीं जाता किन्तु उसकी किरणें वहां तक फैलती हैं । द्रष्टव्य विषय चक्षु की किरणों से सम्बद्ध होने से ही चक्षु से सम्बद्ध होते हैं । यह किरणें द्रष्टव्य विषय का दर्शन हो जाने पर पुनः चक्षु में लौट आती हैं । यह कल्पना कोई अनहोनी कल्पना नहीं है क्योंकि सूर्य की किरणों में यह बात देखी जाती है । तो जैसे सूर्य के अपने स्थान में अवस्थित रहते हुये उसकी किरणों का सुदूर तक फैलाव होने से सुदूरवर्ती पदार्थों का प्रकाश होता है और जब सूर्य अस्त होने को होता है तब सारी किरणें लौटकर सूर्य में समाहित हो जाती हैं । उसी प्रकार चक्षु के अपने अधिष्ठान में ज्यों के त्यों बने रहते हुये उसकी किरणें दूर तक अवस्थित वस्तुओं का स्पर्श कर उनका अवलोकन सम्पन्न करती हैं तथा चक्षु को बन्ध करने का विचार होते ही सारी किरणें लौटकर चक्षु में समाहित हो जाती हैं । अतः किसी वस्तु के अवलोकनार्थ चक्षु के बाहर होने पर द्रष्टा के अन्धत्व का प्रसङ्ग नहीं हो सकता । अग्नि के अवलोकन से दाह की तथा जल के अवलोकन

अथ चक्षुषोऽप्राप्यकारित्वे कुड्यादिव्यवहितस्यापि ग्रहणं स्यात्, असंनिहितत्वाऽविशेषात्, योग्यता च स्थैर्यपक्षे न परावर्तत इति चेत्? हन्त! एवं तवापि कथं नायं दोषः! स्फटिकादिव्यवहितग्रहणेऽप्यतिप्रसंगस्य दुर्निवारत्वात्, स्फटिकादिकं निर्भिद्य विषयदेशं यावद् नायनरश्मीनां गमने च तूलपटलादेस्तैः सुतरां सुभेदत्वात्, तूलपटलाद्यन्तरितस्याप्युपलम्भप्रसङ्गात्?। यत् पुनरुदयनेनोक्तम्–'स्फटिकाद्यन्तरितोपलब्धिः प्रसादस्वभावतया स्फटिकादीनां तेजोगतेरप्रतिबन्धकतया प्रदीपप्रभावदेवोपपन्ना' इति–तद् दूषितं वृद्धैः–प्रसन्नताद्यमूर्तद्रव्यकृतगत्यप्रतिबन्धस्य क्वाप्यदर्शनात्,

---

से क्लेद की पूर्वोक्त आपत्ति भी नहीं हो सकती, क्योंकि चक्षु की जो किरणें अग्नि या जल से संयुक्त होती हैं वे सूक्ष्म एवं तैजस होती हैं। दाह या क्लेद स्थूल एवं अतैजस वस्तु में ही सम्भव होता है।"

[चक्षु में तैजसत्व का निराकरण–उत्तर]

किन्तु यह ठीक नहीं है क्योंकि चक्षु में तैजसत्व असिद्ध है। यदि यह कहा जाय कि "अनुमान से चक्षु में तैजसत्व सिद्ध है, अनुमान का प्रयोग इस प्रकार है–चक्षु तैजस है क्योंकि वह रूप आदि के मध्य में केवलरूप को ही अभिव्यक्त करता है। जो रूप आदि के मध्य केवल रूप को ही अभिव्यक्त करता है वह तैजस होता है, जैसे प्रदीप, वह पुष्प के रस, गन्ध, स्पर्श को अभिव्यक्त न कर केवल उसके रूप को ही अभिव्यक्त करने से तैजस है" -तो यह ठीक नहीं है क्योंकि ग्राह्यद्रव्य के साथ चक्षु का संयोग ग्राह्यद्रव्य के रूप आदि में से केवल रूप को ही अभिव्यक्त करने पर भी तैजस नहीं है। अतः उक्त हेतु व्यभिचारी होने से तैजसत्व का साधक नहीं हो सकता। हेतु के शरीर में द्रव्यत्व विशेषण देने से यद्यपि उक्त संयोग में प्रदर्शित व्यभिचार का वारण हो सकता है, तथापि 'अञ्जन' द्रव्य में व्यभिचार बना रहेगा, क्योंकि चक्षु में लगाया जानेवाला 'अञ्जन' ग्राह्यद्रव्य के रूप आदि गुणों में से उसके केवल रूप का ही अभिव्यक्त करनेवाला द्रव्य होने पर भी तैजस नहीं है किन्तु पार्थिव है।

उक्त अञ्जनद्रव्य में व्यभिचार के कारण ही चक्षु के तैजसत्व की सिद्धि इस अनुमान से भी नहीं की जा सकती है कि 'रूपसाक्षात्कार का असाधारण कारण (चक्षु) तैजस है क्योंकि रस का व्यञ्जक न होते हुये स्फटिक आदि से व्यवहित द्रव्य का ग्राहक है, जैसे प्रदीप'। यदि उक्त व्यभिचार के वारणार्थ हेतु के शरीर में 'अञ्जनादिभिन्नत्व' का निवेश किया जाय तो हेतु दूसरे दोष से ग्रस्त होगा। वह दोष है अप्रयोजकत्व, अर्थात् उक्त हेतु में उक्त साध्य के व्यभिचार की शङ्का को निवृत्त करनेवाले तर्क का अभाव। कहने का आशय यह है कि चक्षु को ग्राह्यद्रव्य के रूप आदि में केवल रूप का व्यञ्जक, अञ्जनादिभिन्न द्रव्य मानते हुये अथवा रस का अव्यञ्जक होते हुए स्फटिक आदि से व्यवहित का प्रकाशक मानते हुये भी यदि तैजस न माना जाय तो कोई आपत्ति न होने से उक्त हेतु से चक्षु में तैजसत्व का साधन नहीं हो सकता। फलतः अञ्जन आदि के समान चक्षु को अतैजस मानने में कोई क्षति नहीं है, क्योंकि चक्षु और प्रदीप दोनों तैजसत्वरूप एक जाति से व्यञ्जक होते हैं यह बात असिद्ध है।

[दिवारादि से व्यवहितवस्तु के ग्रहण की आपत्ति]

यदि यह शङ्का की जाय कि–"चक्षु के अप्राप्यकारी–असम्बद्ध अर्थ का ग्राहक होने पर कुड्य=भित्ति आदि से व्यवहित द्रव्य के ग्रहण की आपत्ति होगी क्योंकि भित्ती आदि से

तुलादिना जलादिगत्यप्रतिबन्धस्य प्रशिथिलावयवारब्धत्वनिमित्तकस्यैव दर्शनात् । स्फटिकान्तर्गतप्रदीप-रश्मयस्तु न तं भित्त्वा प्रसरन्ति, किन्तु तत्संपर्कमासाद्य स्फटिकपरमाणुपुञ्ज एव तथा परिणतः

अव्यवहित और व्यवहित दोनों में चक्षु की असम्बद्धता समान है। यह कथन कि 'भित्ति आदि से अव्यवहितद्रव्य प्रत्यक्षयोग्य होने से चक्षु से असम्बद्ध होने पर भी गृहीत हो सकता है किन्तु भित्ति आदि से व्यवहित द्रव्य अयोग्य होने से गृहीत नहीं हो सकता' संगत नहीं है; क्योंकि जो द्रव्य भित्ति आदि के व्यवधान की दशा में गृहीत नहीं होता वही व्यवधान हट जाने पर गृहीत होने लगता है। एवं जो द्रव्य भित्ति आदि के अव्यवधानदशा में गृहीत होता है वही बाद में व्यवधान आ जाने पर गृहीत नहीं होता। यह भी नहीं कहा जा सकता कि 'अव्यवधानदशा में जो द्रव्य प्रत्यक्षयोग्य होता है वह व्यवधानदशा में अयोग्य हो जाता है'-क्योंकि भाव के स्थैर्यपक्ष में उस के रहते उस की योग्यता का अपाय नहीं हो सकता। अपाय की बात भाव की क्षणिकता के पक्ष में ही सम्भव हो सकती है। नैयायिक भावक्षणिकत्ववादी नहीं है, किन्तु भावस्थैर्यवादी हैं, अतः उस के सामने उक्त बात का अभिधान अथवा समर्थन सम्भव नहीं है।"

[प्राप्यकारित्व पक्ष में उक्त दोष तदवस्थ—प्रत्युत्तर]

किन्तु उक्त शङ्कात्मक दोष उचित नहीं है, क्योंकि यह दोष चक्षु के प्राप्यकारित्वपक्ष में भी है। जैसे: उस पक्ष में भी यह अतिप्रसङ्ग उद्भावित किया जा सकता है कि चक्षु में जैसे स्फटिक आदि से व्यवहित का ग्रहण होता है उसी प्रकार अन्य द्रव्य से व्यवहित का भी चक्षु द्वारा ग्रहण होना चाहिये। "चक्षु की किरणें स्फटिक आदि का भेदन कर उस से व्यवहित द्रव्यविषय तक पहुँच जाती हैं, अतः चक्षु से स्फटिक आदि से व्यवहित द्रव्य का ग्रहण हो सकता है किन्तु अन्य द्रव्य का भेदन सम्भव न होने से अन्य द्रव्य से व्यवहित द्रव्य के ग्रहण की प्रसक्ति नहीं हो सकती" ऐसा कहना भी उचित नहीं है क्योंकि चक्षु की जिन किरणों से स्फटिक जैसे कठोर द्रव्य का निर्भेदन हो सकता है उन से कोमल रुई के गोलक का निर्भेदन तो और सुकरता से हो सकता है। अतः रुई के गोलक से व्यवहित द्रव्य के ग्रहण की आपत्ति अनिवार्य है।

[उदयनाचार्य के समाधान का निरसन]

उदयनाचार्य ने उक्त आपत्ति का उत्तर देते हुये जो यह कहा है कि "स्फटिक आदि स्वभावतः स्वच्छ द्रव्य है वह तेज की गति का विरोधी नहीं है अतः जैसे प्रदीप की प्रभा स्फटिक आदि के पार निकल जाती है उसी प्रकार चक्षु की किरणें भी स्फटिक को पार कर सकती हैं, इसलिये उन से व्यवहित अर्थ का ग्रहण चक्षु से हो सकता है, किन्तु जो द्रव्य स्वभावतः स्वच्छ नहीं है उन से तेज की गति का प्रतिबन्ध हो जाने से उन से व्यवहित द्रव्य के साथ चक्षु का सम्बन्ध न होने से चक्षु द्वारा ग्रहण नहीं हो सकता"-किन्तु वृद्धों के कथनानुसार यह ठीक नहीं है, क्योंकि स्वच्छ द्रव्य से गति का प्रतिबन्ध न होना कहीं देखा नहीं गया है। प्रत्युत यह देखा गया है कि रुई आदि से जल आदि की गति का अप्रतिबन्ध होता है क्योंकि रुई पर पानी डालने पर पानी रुई के पार चला जाता है और यह इसलिये होता है कि रुई अवयवों के अत्यन्त शिथिल संयोग से तैयार होती है। स्फटिक आदि का

सर्वतः प्रसरति । अत एव पीतरक्तादिकाचकूपिकातो रश्मयोऽपि तच्छायाः प्रसरन्तो दृश्यन्ते । अथ यथा पारदस्याऽयस्पात्र भेदे सामर्थ्यं, न पुनरलाबुपात्रभेदे, तथा लोचनरोचिषामपि स्फटिकादिभेदे शक्तिर्भविष्यति न तूलपटलभेद इति चेत्? न, प्रत्यभिज्ञाबाधात् । तस्मात् कुड्याद्यन्तरितचाक्षुषजनकक्षयोपशमाभावादेवास्मदादीनां न तदन्तरितचाक्षुषम्, तादृशक्षयोपशमवतामतिशयितज्ञानिनां तु भवत्येव तच्चाक्षुषम् ।

अथानन्तरितस्यापि कदाचिदन्तरितत्वात् कुड्यादिव्यवधानकालीनघटादिचाक्षुषे ज्ञानावरणप्रकृतिविशेषस्य प्रतिबन्धकत्वेऽपि तद्दशायां तद्व्यवधानकालीनचाक्षुषापत्तिवारणाय तादृशचाक्षुषे तत्तत्कुड्या-

---

निर्माण अवयवों के शिथिल संयोग से नहीं होता किन्तु दृढतर संयोग से होता है, अतः चक्षु की किरणों का उस के पार जाना सम्भव नहीं है । सच बात यह है कि स्फटिक में जब प्रदीप की किरणें प्रवेश करती हैं तो वे उस का भेदन नहीं करती किन्तु उन का सम्पर्क पाकर स्फटिक का परमाणुपुञ्ज तद्वर्ण के रूप में परिणत होकर चारों ओर फैल जाता है । उसके फैलाव से ही स्फटिक आदि से व्यवहित द्रव्य का ग्रहण सम्पन्न होता है? यह देखा ही जाता है कि पीत, रक्त आदि वर्ण के काच की कुप्पी से उसी वर्ण की किरणें फैलती हैं ।

[स्फटिक में अभेद प्रत्यभिज्ञा की अनुपपत्ति]

यदि यह कहा जाय कि–"जैसे पारा लोहे के कठोर पात्र को तोड देने में समर्थ होता है पर कोमल लकडी की तुंबडी को तोडने में समर्थ नहीं होता, उसी प्रकार चक्षु की किरणें स्फटिक आदि को तोडने में समर्थ होती हुई भी रूई के गोले को तोडने में असमर्थ हो सकती है । अतः चक्षु से स्फटिक से व्यवहित द्रव्य का ग्रहण मानने पर रूई के गोले से व्यवहित द्रव्य के ग्रहण की आपत्ति नहीं दी जा सकती । इसलिये चक्षु के प्राप्यकारित्व पक्ष का निराकरण युक्त नहीं है"–तो यह ठीक नहीं है क्योंकि चक्षु की किरणों से स्फटिक का भेदन मानने पर चक्षु की किरणों के प्रवेश के पूर्व और बाद के स्फटिक में जो अभिन्नता की प्रत्यभिज्ञा होती है वह न हो सकेगी, क्योंकि चक्षु की किरणों से पूर्व स्फटिक का भेदन हो जाने पर बाद में अन्य स्फटिक की उत्पत्ति माननी पडेगी, अतः चक्षु की किरणों के प्रवेश और बाद के स्फटिक में भिन्नता अनिवार्य है ।

उक्त त्रुटियों के कारण चक्षु को प्राप्यकारी मानना सम्भव न होने से यह मानना न्यायसंगत है कि जब जिस द्रव्य के चाक्षुषज्ञान का जनक क्षयोपशम विद्यमान होता है तब उस द्रव्य का चाक्षुषज्ञान होता है । स्फटिक आदि स्वच्छ द्रव्य अपने से व्यवहित द्रव्य के चाक्षुषज्ञान के जनक क्षयोपशम का प्रतिबन्धक नहीं होते । अतः उन से व्यवहित द्रव्य का चाक्षुषज्ञान होता है किन्तु दिवार आदि अस्वच्छ निबिडद्रव्य अपने से व्यवहित द्रव्य के चाक्षुषज्ञान के जनक क्षयोपशम का प्रतिबन्धक होते हैं । अतः उन से व्यवहित द्रव्य का चाक्षुषज्ञान नहीं होता । यही कारण है कि जिन ज्ञानातिशय से सम्पन्न महापुरुषों को भित्ति आदि से व्यवहित वस्तुओं के भी चाक्षुषज्ञान का जनक क्षयोपशम विद्यमान होता है–जिन के क्षयोपशम का प्रतिबन्ध भित्ति आदि व्यवधायक द्रव्यों से नहीं हो पाता, उन्हें उन व्यवहित वस्तुओं का भी चाक्षुषज्ञान होता ही है ।

दिग्व्यवधानाभावहेतुत्वे स्वप्राचीस्थपुरुषसाक्षात्कारे स्वप्रतीचीवृत्तित्वसंबन्धेन कुड्यादीनां प्रतिबन्धकत्व-कल्पने वा गौरवाच्चक्षुषः प्राप्यकारित्वमेव युक्तम्, चाक्षुषत्वावच्छिन्न एव चक्षुःसंयोगत्वेन हेतुता-कल्पने लाघवात्, कुड्यादीनां नयनादिप्राप्तिप्रतिबन्धकत्वकल्पनागौरवस्य फलमुखत्वात्, तत्तत्क्रियातत्-तदुत्तरदेशादीनामेव संयोगनियामकत्वेनानतिप्रसङ्गाद्, भित्त्यादीनां प्रतिबन्धकत्वाऽकल्पनाद् वेति चेत् ?

[अप्राप्यकारितापक्ष में गौरव दोष का आपादन]

यदि यह कहा जाय कि–" जो द्रव्य कुड्य(=दिवार) आदि से अव्यवहित होने की दशा में चक्षु से गृहीत होता है वह कभी कुड्य आदि से व्यवहित भी हो जाता है और उस दशा में वह चक्षु से गृहीत नहीं होता। अतः कुड्य आदि के व्यवधान में अवस्थित घट आदि के चाक्षुषज्ञान में ज्ञानावरणप्रकृतिविशेष को प्रतिबन्धक मानना आवश्यक होता है, किन्तु इस प्रतिबन्धक के होते हुये भी यह आपत्ति हो सकती है कि कुड्य आदि के व्यवधान काल में जो घटचाक्षुष होता था उसे कुड्य आदि के व्यवधानकाल में होना चाहिये। कहने का आशय यह है कि जो घट कुड्य से एककाल में अव्यवहित और अन्यकाल में व्यवहित होता है उस के दो चाक्षुष होते हैं। एक कुड्य का अव्यवधानकालीन और दूसरा कुड्य का व्यवधान-कालीन, दूसरे चाक्षुष में जो प्रतिबन्धक होता है, उस से पूर्वचाक्षुष का प्रतिबन्ध नहीं होता अतः कुड्य से व्यवहित घट को ग्रहण करनेवाले कुड्य के अव्यवधानकालीन चाक्षुष का होना आवश्यक है। इस आपत्ति का परिहार दो प्रकार से हो सकता है–एक यह कि कुड्य आदि के अव्यधानकालीन घटादि के चाक्षुष में कुड्य आदि के व्यवधानाभाव को कारण माना जाय और दूसरा यह कि कुड्य आदि की पूर्व दिशा में स्थित पुरुष के 'विषयता सम्बन्ध से साक्षात्कार' के प्रति कुड्य आदि व्यवधायक द्रव्य को स्वपश्चिम दिग् वृत्तित्व सम्बन्ध से प्रतिबन्धक माना जाय। किन्तु इन दोनों ही पक्षों के अवलम्बन में गौरव है, क्योंकि पहले प्रकार में अतिरिक्त कारणता की कल्पना और दूसरे प्रकार में अतिरिक्त प्रतिबन्धकता की कल्पना करनी होती है। अतः चक्षु का 'प्राप्यकारित्व=सम्बद्ध अर्थ का ग्राहकत्व' पक्ष ही उचित है, क्योंकि उस पक्ष में द्रव्य के चाक्षुषज्ञानमात्र के प्रति चक्षु के संयोग को कारण मानने में लाघव है, क्योंकि जब घट आदि कुड्य आदि से व्यवहित होता है तब उस के साथ चक्षु का संयोग न होने से उस समय उसके चाक्षुष की आपत्ति नहीं हो सकती। इसलिये उस समय चाक्षुष की आपत्ति के परिहारार्थ किसी प्रतिबन्धक की कल्पना आवश्यक नहीं होती। हाँ, इस पक्ष में कुड्य आदि से व्यवहित घट आदि के साथ चक्षु का संयोग न हो सके, इस के लिये कुड्य आदि को चक्षु की किरणों की गति का प्रतिबन्धक मानना पड़ता है। जो चक्षु के अप्राप्यकारित्वपक्ष में आवश्यक न होने से इस पक्ष में गौरवापादक है, किन्तु यह गौरव चक्षु के प्राप्यकारित्वपक्ष में बाधक नहीं हो सकता, क्योंकि चक्षु में प्राप्यकारित्व सिद्ध हो जाने पर कुड्य आदि से व्यवहित घट आदि के साथ चक्षु की प्राप्ति रोकने के लिये उक्त प्रतिबन्धक की कल्पना आवश्यक होती है अतः फलमुख होने से अर्थात् चक्षु के प्राप्यकारित्व की सिद्धिरूप फल के अनन्तर उपस्थित होने से पूर्वप्राप्त उक्त सिद्धि का विघटन उस से नहीं हो सकता।

दूसरी बात यह है कि कुड्य आदि को चक्षु की गति का प्रतिबन्धक मानने की कोई आवश्यकता नहीं है, कुड्य आदि के भीतर से होकर चक्षु आदि के पार हो जाने पर भी

१. 'समाधानेन निर्वाहादिति तु विवेचितं प्राक्' । इति पाठान्तरम्

न, अन्धकारादिसाधारण्येन कुड्यादीनामेकशक्तिमत्त्वेनावारकत्वकल्पने गौरवाभावात् । एतेन 'परभागेऽन्धकारवति भित्त्यादौ चाक्षुषोदयाच्चक्षुःसंयोगावच्छेदकावच्छिन्नालोकसंयोगत्वेन द्रव्यचाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रति हेतुत्वाच्चक्षुषः प्राप्यकारित्वसिद्धिः' इत्यपि **निरस्तम्** ; कुड्यादिवदर्वाग्भागावस्थितस्यैवान्धकारस्यावरणत्वात् अन्धकारव्यवधानस्य च विषयव्याप्तस्य व्यवधानकालीनचाक्षुषप्रतिबन्धकत्वाद् नान्धकारमध्यावस्थितस्यालोकस्थस्य साक्षात्कारानुपपत्तिः । प्रतिबन्धकत्वं च प्रकृतिविशेषशक्त्युद्बोधकत्वमिति नानुपपत्तिः ।

कुड्य आदि से व्यवहित घट आदि के साथ उस का संयोग नहीं हो सकता क्योंकि जिस क्रिया से जिस क्रियावान् का जिस उत्तर देश के साथ संयोग होना प्रमाणसिद्ध है, उस क्रिया से वह उत्तरदेश ही उस क्रियावान् के संयोग का नियामक होता है। कुड्य आदि से व्यवहित घटादि के साथ चक्षु की किरणों का संयोग प्रमाणसिद्ध नहीं है अतः उक्त घटादि उस का नियामक न होने से उस के साथ चक्षु की किरणों का संयोग नहीं हो सकता। इसलिये चक्षु के प्राप्यकारित्वपक्ष में उक्त प्रतिबन्धकता की कल्पना से होनेवाला गौरव भी असम्भव है। 'तत्तत् क्रिया और तत्तत् उत्तरदेश को संयोग का नियामक मानने में कोई युक्ति नहीं है' यह नहीं कहा जा सकता क्योंकि एक क्रिया से क्रियावान् द्रव्य का किसी एक ही उत्तरदेश के साथ संयोग होता है, सब उत्तरदेशों के साथ नहीं होता, इस वस्तुस्थिति की उपपत्ति उक्तरूप से नियामक माने बिना नहीं हो सकती।"—

[गौरव दोष का परिहार]

—किन्तु विचार करने पर चक्षु के प्राप्यकारित्ववादी की उक्त बात उचित नहीं प्रतीत होती, क्योंकि अन्धकारस्थित घटादि के चाक्षुषज्ञान की आपत्ति के वारणार्थ अन्धकार को तो चाक्षुष के प्रति प्रतिबन्धक मानना ही होता है। अतः चाक्षुष के सभी प्रतिबन्धकों में प्रतिबन्धप्रयोजिका एक शक्ति मान कर तादृशशक्तिमत्त्वरूप से सभी प्रतिबन्धकों में एक प्रतिबन्धकता हो जाने से विभिन्नप्रतिबन्धकों में प्रतिबन्धकताभेद की कल्पना का गौरव नहीं हो सकता।

[कुड्य और अन्धकार में प्रतिबन्धकता का समर्थन]

चक्षु को प्राप्यकारित्व सिद्ध करने के लिये नैयायिकों की ओर से एक यह युक्ति दी जाती है कि–'भित्ति आदि के पृष्ठभाग में अन्धकार रहने पर भी उस के सम्मुखभाग में आलोक होने पर उस का चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है; किन्तु एकभाग में चक्षु का और अन्यभाग में आलोक का संयोग होने पर चाक्षुष नहीं होता, अतः द्रव्य के चाक्षुष प्रत्यक्ष में अन्धकार को प्रतिबन्धक न मान कर चक्षुःसंयोग के अवच्छेदकदेश से अवच्छिन्न आलोकसंयोग को कारण मानना आवश्यक होता है। यदि चक्षु को प्राप्यकारी न माना जायगा तो प्रत्यक्ष्यद्रव्य के साथ चक्षु के संयोग की अपेक्षा न होने पर उक्तरूप से कारण की कल्पना न हो सकेगी, अतः उक्त कारणकल्पना की उपपत्ति के लिये चक्षु को प्राप्यकारी मानना आवश्यक है। अन्यथा पृष्ठभाग में स्थित अन्धकार के आवरणवश सम्मुखभाग में आलोक होने पर भी भित्ति के चाक्षुष की उत्पत्ति न हो सकेगी'–किन्तु यह युक्ति भी निरस्तप्राय है क्योंकि जैसे सम्मुखस्थित कुड्य आदि ही चाक्षुषज्ञान का आवरण होती है उसी प्रकार सम्मुखभागस्थ अन्धकार ही चाक्षुषज्ञान का आवरण होता है। अतः उक्तदोष नहीं हो सकता। यह भी ज्ञातव्य है कि अन्धकार का विषयव्याप्तव्यवधान ही व्यवधानकालीन चाक्षुष का प्रतिबन्धक होता है। इसलिये

प्राप्यकारित्वे च चक्षुषः शाखा–चन्द्रमसोर्युगपद्ग्रहानुपपत्तिः, युगपदुभयसंयोगाभावात् । न च 'तिर्यग्भागावस्थितयोः शाखा–चन्द्रमसोर्युगपद् संयोगोपपत्तिः' इति वर्धमानोक्तं निरवद्यम्, ऊर्ध्वं प्रसृतानामेव नयनरश्मीनां तयोस्तिर्यग्भागेऽवस्थानोपपत्तेरूर्ध्वस्थितवस्तुग्रहणप्रसङ्गात् । न चाग्रभागावच्छेदेन संयुक्तस्यैव चक्षुषो ग्राहकत्वम्, अत एव न नयनस्थिताञ्जनादिग्रहोऽपीति नायं प्रसङ्ग इति वाच्यम्; तथापि तावत्पर्यन्तं प्रसृतस्यान्तरालिकवस्त्वन्तरग्रहणप्रसङ्गात्, संनिहितं विमुच्याऽसंनिहितसंयोगानुपपत्तेः, अनन्यगत्या वेगादिविशेषात् विनैव संनिकृष्टदेशविशेषसंयोगं विप्रकृष्टदेशसंयोगोपपादने चानन्यगत्या देशविशेषस्य तत्तच्चाक्षुषहेतुत्वमस्तु, अनन्तचक्षुःक्रियासंयोग-

अन्धकार के मध्य में अवस्थित आलोकस्थ वस्तु के साक्षात्कार की अनुपपत्ति नहीं होती क्योंकि जिस आलोक के चारों ओर अन्धकार है उस आलोक में स्थित वस्तु में अन्धकार की व्याप्ति न होने से उस का चाक्षुष अन्धकार से अवरुद्ध नहीं हो सकता । यह भी ध्यान देने योग्य है कि वस्तुतः ज्ञानावरणीयकर्म ही ज्ञान का प्रतिबन्धक होता है । प्रतिबन्धिका शक्ति वस्तुतः उसी में होती है । कुड्य, अन्धकार आदि बाह्यव्यवधायक तो उस शक्ति के उद्बोधक होने से प्रतिबन्धक कहे जाते हैं । अतः चक्षु के अप्राप्यकारित्व पक्ष में कोई आपत्ति या अनुपपत्ति नहीं है ।

[प्राप्यकारितापक्ष में एक साथ शाखा–चन्द्र ग्रहणापत्ति]

चक्षु के प्राप्यकारित्वपक्ष में एक और दोष है । वह है, वृक्ष की शाखा और उस से ऊपर बहुत दूर अन्तरिक्ष में स्थित चन्द्रमा के युगपत् प्रत्यक्ष की अनुपपत्ति । यह सार्वजनीन अनुभव है कि जब कोई मनुष्य रात में वृक्ष की शाखा की ओर आँख डालता है तब उसे तीर्छेभाव में अवस्थित शाखा और चन्द्रमा साथ ही दीख पड़ते हैं । यह बात चक्षु को अप्राप्यकारी मानने पर तो बन सकती है, पर प्राप्यकारी मानने पर नहीं बन सकती, क्योंकि शाखा के समीपस्थ होने से उस के साथ चक्षु का संयोग पहले होगा और दूरस्थ चन्द्रमा के साथ बाद में होगा । अतः शाखा का प्रत्यक्ष पहले और चन्द्रमा का प्रत्यक्ष बाद में होना चाहिये न कि एक साथ । इस के उत्तर में ''वर्धमान'[1] का कहना है कि शाखा और चन्द्रमा सीधी रेखा में अवस्थित नहीं होते किन्तु तिर्यक्-तिरछे अवस्थित होते हैं. अतः चक्षु की किसी किरण का शाखा के साथ और किसी अन्य किरण का चन्द्रमा के साथ युगपत् संयोग सम्भव होने से दोनों के युगपद् ग्रहण में कोई बाधा नहीं है । शाखा यद्यपि संनिकृष्ट है और चन्द्रमा ऊर्ध्व है तथापि मध्य में किरण की गति का कोई अवरोधक न होने से समान समय में दोनों तक चक्षु की किरण पहुँचने में कोई असंगति नहीं है ।'–किन्तु यह उत्तर निर्दोष नहीं है क्योंकि जब शाखा और चन्द्रमा का तिर्यक् अवस्थान होगा तब शाखा के साथ चक्षुकिरण के संयोग के समय चन्द्रमा के साथ चक्षुकिरण का संयोग सम्भव ही नहीं हो सकता, क्योंकि चक्षु की किरणें जब शाखा की ओर फैलती हैं तब उन का फैलाव शाखा के ऊपर ही होता है न कि पार्श्व में. अतः उस समय चन्द्रमा का ग्रहण न होकर शाखा के ऊपर अवस्थित अन्यवस्तुओं के ग्रहण की आपत्ति होगी । अथवा यों कहा जा सकता है कि शाखा और चन्द्रमा का तिर्यक् अवस्थान मान कर उन के साथ चक्षु की विभिन्न किरणों के युगपत्

१. गंगेशोपाध्याय का पुत्र वर्धमानोपाध्याय ।

संयोग की उपपत्ति द्वारा दोनों के युगपत् ग्रहण की उपपत्ति कर सकते हैं किंतु ऐसा हो जाने पर भी ऊपर फैलनेवाली चक्षुर्किरणों को चन्द्र के उपर अवस्थित वस्तुओं के साथ भी संयोग होने से उन वस्तुओं के भी ग्रहण की आपत्ति होगी किन्तु चन्द्र के ऊपर स्थित वस्तुओं का ग्रहण नहीं होता है।

[एक आपत्ति का परिहार करने पर अन्य आपत्ति]

यदि यह कहा जाय कि–'ग्राह्य द्रव्य के अग्रभाग से संयुक्त चक्षु ही द्रव्य का ग्राहक होता है, इसीलिये नेत्रस्थित अञ्जन आदि का चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता, क्योंकि नेत्र के अधिष्ठान से उपर की ओर निर्गत नेत्र किरणें अञ्जन के अग्रभाग से संयुक्त न होकर उस के पृष्ठभाग से ही सम्बद्ध हो सकती हैं। अतः जैसे अञ्जन के अग्रभाग से संयुक्त न होने के कारण चक्षु से नेत्रस्थित अञ्जन का ग्रहण नहीं होता उसी प्रकार चक्षु चन्द्रमा के ऊपर अवस्थित द्रव्यों के अग्रभाग से संयुक्त न होने के कारण उन के पृष्ठभाग से संयुक्त भी चक्षु से उन का ग्रहण न होना ही युक्तिसंगत होने से उन के ग्रहण की आपत्ति नहीं हो सकती'-तो यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि इस कथन से उक्त एक आपत्ति का परिहार हो जाने पर भी चक्षु के प्राप्यकारित्वपक्ष में होनेवाली अन्य आपत्तियों का परिहार नहीं हो सकता। जैसे चक्षु को प्राप्यकारी मानने पर द्रष्टा के नेत्र और द्रष्टव्य शाखा आदि के मध्य जितने द्रव्य हैं उन सभी के साथ चक्षु का संयोग होने के कारण उन सभी द्रव्यों के चाक्षुष की आपत्ति होगी। चक्षु को अप्राप्यकारी माननेवाले जैनमत में यह आपत्ति नहीं हो सकती क्योंकि द्रष्टा के नेत्र तथा शाखा आदि के मध्य अवस्थित द्रव्यों के चाक्षुषज्ञान के आवरण का क्षयोपशमरूप कारण सन्निहित नहीं रहता। उक्त आपत्ति के परिहारार्थ यह नहीं कहा जा सकता कि मध्यस्थित द्रव्यों के साथ चक्षु का संयोग ही नहीं होता, क्योंकि मध्यस्थित द्रव्य शाखा आदि की अपेक्षा समीपस्थ होते हैं अतः यह संभव नहीं हो सकता कि समीपस्थ द्रव्यों के साथ चक्षु का संयोग न हो और दूरस्थ शाखा आदि के साथ हो जाय। यह भी नहीं कहा जा सकता कि 'मध्यस्थित द्रव्यों के चाक्षुषज्ञान की आपत्ति के परिहार का कोई अन्य उपाय न होने से यह माना जा सकता है कि वेगातिशय के कारण नेत्र किरणें मध्य के द्रव्यों से संयुक्त न होकर दूर तक फैल जाती हैं। अतः दूरस्थ द्रव्यों से ही उन का संयोग होता है' क्योंकि इस की अपेक्षा यह मानना अधिक उचित है कि जिस देश में स्थितद्रव्य का चाक्षुष आनुभविक है, विषयता सम्बन्ध से द्रव्यचाक्षुष के प्रति वृत्तित्व सम्बन्ध से वह देश ही कारण है। यह कार्य-कारणभाव भी मध्यदेशस्थित द्रव्यों के चाक्षुषज्ञान की आपत्ति के परिहार का अन्य किसी उचित उपाय के न होने से मान्य किया जा सकता है। इस कार्यकारणभाव को मानने का औचित्य इसलिये है कि द्रव्यचाक्षुष में चक्षुद्रव्यसंयोग को कारण मानने पर चक्षु की क्रिया, पूर्वस्थान से चक्षु का विभाग, उस स्थान के साथ चक्षुसंयोग का नाश, ग्राह्यद्रव्यरूप उत्तरदेश के साथ चक्षुसंयोग, चक्षु की क्रिया का नाश इन सभी पदार्थों के बीच बहुतर कार्यकारणभाव की कल्पना में अत्यधिक गौरव है और वृत्तित्व सम्बन्ध से देशविशेष को चाक्षुष-प्रत्यक्ष का कारण मानने में उक्त अनन्त कार्यकारणभावों की कल्पना की आवश्यकता न होने से लाघव है।

विभाग-तत्कार्यकारणभावाद्यकल्पनलाघवात् । अस्तु वा नयनप्राप्तिनियामकं विशिष्टाभिमुख्यमेव तत्कार्यनियामकम् । एतेन 'क्रमिकोभयसंयोगवता चक्षुषा शाखा-चन्द्रमसोर्ग्रहणे कालसन्निकर्षाद् यौगपद्याभिमानः' इत्यपि निरस्तम्, चन्द्रज्ञानानुव्यवसायसमये शाखाज्ञानस्य नष्टत्वेन 'शाखाचन्द्रौ साक्षात्करोमि' इत्यनुव्यवसायानुपपत्तेश्च । न च क्रमिकतदुभयजनितसंस्काराभ्यां जनितायां समूहालम्बनस्मृतावेवानुभवत्वारोपात् तथाऽनुव्यवसाय इति सांप्रतम्; तादृगारोपादिकल्पनायां महागौरवादिति । अधिकं ज्ञानार्णवादौ ।

तदेवं भावांश इवाभावांशेऽपि विषयग्रहणपरिणामरूपभावेन्द्रियस्य प्राप्ततापरिणामाख्ययोग्यता-

---

उक्त उत्तर के अतिरिक्त यह भी कहा जा सकता है कि, नेत्र के जिस विशिष्ट आभिमुख्य से नेत्रप्राप्ति=नेत्रसंयोग का नियमन होता है वही, नेत्रसंयोग से उत्पादनीयतया अभिमत द्रव्यचाक्षुषरूप कार्य का नियामक है । अतः नेत्र के विशिष्ट आभिमुख्य से ही द्रव्य के चाक्षुष की उपपत्ति हो जाने से तदर्थ द्रष्टव्य द्रव्य के साथ नेत्रसंयोग की कल्पना अनावश्यक एवं अनुचित है ।

[शाखा-चन्द्र के एक साथ ग्रहण का समर्थन]

चक्षु को प्राप्यकारी मानने पर शाखा और चन्द्रमा के युगपद् ग्रहण की जो अनुपपत्ति बताई गई उस के उत्तर में कुछ विद्वानों का यह कहना है कि-' शाखा और चन्द्रमा के साथ चक्षु का युगपत् संयोग न होने के कारण उन का युगपद् ग्रहण होता ही नहीं किन्तु दोनों प्रत्यक्षों के बीच अत्यन्त स्वल्प काल का ही अन्तर होने से उन में यौगपद्य-सहोत्पन्नता का भ्रम होता है। अतः जब शाखा और चन्द्रमा का युगपत् प्रत्यक्ष ही होता नहीं तो उस की अनुपपत्ति बता कर चक्षु के प्राप्यकारित्वपक्ष का खण्डन करना अयुक्त है '-किन्तु यह कथन असंगत है, क्योंकि जब शाखा और चन्द्रमा का प्रत्यक्ष क्रम से होगा तब चन्द्रदर्शन के अनुव्यवसाय के समय चन्द्रदर्शन से पूर्वोत्पन्न शाखादर्शन का नाश हो जाने से 'शाखा-चन्द्रौ साक्षात्करोमि=शाखा और चन्द्र को देखता हूं' इस प्रकार चन्द्रदर्शन के अनुव्यवसाय के साथ शाखादर्शन का अनुव्यवसाय न हो सकेगा । यदि यह कहा जाय कि-' उक्त अनुव्यवसाय शाखा और चन्द्र के दर्शन का अनुव्यवसाय नहीं है किन्तु दोनों दर्शनों से क्रमोत्पन्न दो संस्कारों से उत्पन्न शाखा और चन्द्र के समूहालम्बन स्मरणरूप अनुव्यवसाय है जो स्मरण को स्मरणत्वरूप से विषय न कर अनुभवत्व-साक्षात्कारत्वरूप से विषय करता है ।'-तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि ऐसा मानने में उक्त समूहालम्बन स्मरण की कल्पना, उस में स्मरणत्वभान के प्रतिबन्धक की कल्पना और साक्षात्कारत्व के आरोपजनक दोष की कल्पना आदि के आवश्यक होने से महान गौरव है ।

इस विषय के ऊपर और विस्तृत विचार व्याख्याकार के 'ज्ञानार्णव' आदि ग्रन्थों में उपलब्ध है ।

[अभावांश का ग्रहण इन्द्रिय से]

उक्त रीति से विचार करने पर यह सिद्ध होता है कि इन्द्रिय से अभाव का ग्रहण दुर्घट नहीं है, क्योंकि जैसे भाव के साथ इन्द्रिय का सम्बन्ध होता है उसी प्रकार अभाव के

संबन्धसत्त्वादिन्द्रियेण तद्ग्रहणं न दुर्घटम् । यच्चोक्तम्—'प्रतियोगिग्रहणपरिणामाभावरूपं तदन्यवस्तुविज्ञानरूपं वाऽभावाख्यं प्रमाणमेष्टव्यम्' इति—तन्न पेशलम्, आद्यस्य समुद्रोदकपलपरिमाणेनानैकान्तिकत्वात् ; द्वितीयस्य च विविक्ताधिकरणज्ञानरूपस्येन्द्रियान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वेन प्रत्यक्षत्वादेव । यदप्युक्तम् 'न चैवमभावज्ञाने' इत्यादि....तदप्ययुक्तम्, प्रतियोग्यधिकरणसंसृष्टताऽसंसृष्टताभ्यामधिकरणग्रहण—प्रतियोगिस्मरणयोरपेक्षायां बाधात्, प्रत्यक्षेणैव सिद्धौ वैयर्थ्याच्च; अन्याऽसंसृष्टतादिग्रहेऽभावव्यापारे

साथ भी इन्द्रिय का सम्बन्ध होता है । इस सम्बन्ध को यों समझा जा सकता है-इन्द्रिय दो प्रकार की होती हैं-द्रव्यइन्द्रिय और भावइन्द्रिय । चक्षु आदि द्रव्यइन्द्रिय है और विषयग्रहणानुकूल उन का परिणाम भावइन्द्रिय है । भावइन्द्रिय के द्वारा ही द्रव्यइन्द्रिय का सम्बन्ध होता है । वह सम्बन्ध संयोग आदिरूप नहीं है किंतु ग्राह्यपदार्थ का ग्राह्यतापरिणामरूप है । इस ग्राह्यनिष्ठ परिणाम को ही इन्द्रिय से गृहीत होने की योग्यता कही जाती है । यह ग्राह्य की योग्यता ही ग्राह्यपदार्थ के साथ इन्द्रिय का सम्बन्ध है । ग्राह्य के साथ इन्द्रिय का यह सम्बन्ध जैसे भाव के साथ है उसी प्रकार अभाव के साथ भी है । कहने का आशय यह है कि चक्षु आदि इन्द्रिय में जैसे भावात्मकविषयग्रहणरूप परिणाम होता है और इस परिणाम से भावात्मकविषय में ग्राह्यतापरिणाम होता है, उसी प्रकार इन्द्रिय में अभावात्मक विषय का भी ग्रहण परिणाम और उक्त परिणाम से अभावात्मक विषय में ग्राह्यतापरिणाम होता है । अभावनिष्ठ वही ग्राह्यतापरिणाम योग्यतारूप है और वही ग्राह्यनिष्ठ योग्यता यह इन्द्रिय के साथ ग्राह्यविषय के सम्बन्ध का काम करती है । तात्पर्य, ग्राह्य उस योग्यतारूप संबंध से इन्द्रियसंबद्ध होता है । अतः भाव के समान अभाव भी उक्त योग्यतारूप सम्बन्ध से इन्द्रियसम्बद्ध होने के कारण इन्द्रिय से गृहीत हो सकता है । इसलिये अभावग्रहण के लिये अनुपलब्धिरूप अभाव को पृथक् प्रमाण मानना अनावश्यक है ।

अभावप्रमाणवादी की ओर से जो यह कहा गया कि-'प्रतियोगी के ग्रहणरूप इन्द्रियपरिणाम के अभाव को अथवा प्रतियोगी से भिन्न अधिकरणात्मक वस्तु के ज्ञान को अभावप्रमाण मानना आवश्यक है क्योंकि उस के विना किसी अन्यप्रमाण से अभावग्रहण सम्भव नहीं है ।' -वह ठीक नहीं है क्योंकि विषयग्रहणरूप परिणाम का अभाव विषय के अभावग्रहण का व्यभिचारी होने से अभाव में प्रमाण नहीं हो सकता । जैसे-समुद्र के उदकबिन्दु के परिणाम का ग्रहणात्मक इन्द्रियपरिणाम का अभाव होने पर भी उस का अभाव नहीं होता । इन्द्रिय से गृहीत न होने पर भी समुद्र के जलबिन्दुओं में पलपरिमाण का अभाव नहीं होता । किन्तु सूक्ष्म जलबिन्दु के समान उस का परिमाण अपना अस्तित्व धारण करता ही है । अतः विषयानुपलब्धि विषयाभाव के ग्राहक प्रमाणरूप में मान्य नहीं हो सकती ।

प्रतियोगी से अन्य अधिकरणात्मकवस्तु के ज्ञान को भी अभावरूप अतिरिक्त प्रमाण के रूप में स्वीकृत नहीं किया जा सकता, क्योंकि इन्द्रिय के अन्वय-व्यतिरेक का अनुविधान करने से अधिकरणज्ञान प्रत्यक्षरूप है । अतः उस से अभाव को ग्राह्य मानने पर अभाव की प्रत्यक्षग्राह्यता सिद्ध होगी न कि अभावरूप भिन्नप्रमाण की ग्राह्यता ।

[अभाव प्रमाण न मानने पर भी अपेक्षा की उपपत्ति]

अभाव को अतिरिक्त प्रमाण सिद्ध करने के लिये जो यह बात कही गई कि-''अभावज्ञान

न चक्रकादिदोषाः । न च संसृष्टताऽसंसृष्टतोदासीनं तज्ज्ञानमात्रं तथा, इदंत्वादिनाऽभावज्ञाने व्यभिचारात्, विशिष्टाभावज्ञानेऽनन्ताधिकरण–प्रतियोगिज्ञानहेतुताकल्पने गौरवाच्चेन्द्रियोपयोगसमय एवाधिकरणप्रतियोगिज्ञानापेक्षां विनैव भावांशवदभावांशस्य प्रत्यक्षत्वाभ्युपगमौचित्यात्, भूतलाऽसंसृष्टघटदर्शनाहितसंस्कारस्य पुनः घटाऽसंसृष्टभूभागदर्शनानन्तरं तथाविधघटस्मरणे सति 'अत्र घटो-नास्ति' इति प्रत्यभिज्ञानमात्रात् न चात्र किञ्चिदधिकं कल्पनीयम्, विशिष्टवैशिष्ट्यज्ञानसामग्रीमात्रेणैव निर्वाहात्—इति तु विवेचितं प्राक् ।

में अधिकरणज्ञान और प्रतियोगी के स्मरण की अपेक्षा होती है। यह अपेक्षा अभावज्ञान को अभावप्रमाणजन्य मानने पर ही उपपन्न हो सकती है, इन्द्रियजन्य मानने पर नहीं उपपन्न हो सकती, क्योंकि अधिकरणज्ञान आदि के बिना भी इन्द्रिय से भावात्मक पदार्थ का ग्रहण होता है अतः इन्द्रिय को विषयग्रहण के जनन में अधिकरणज्ञानादि सापेक्ष नहीं माना जा सकता।''-यह कथन भी अयुक्त है, क्योंकि इन्द्रिय से होनेवाला कोई ग्रहण ऐसा होता है जो प्रतियोगी और अधिकरण से संसृष्ट वस्तु को विषय करता है और कोई उन से असंसृष्ट वस्तु को विषय करता है भावात्मक वस्तु का इन्द्रियजन्य ज्ञान प्रतियोगी और अधिकरण को विषय नहीं करता पर अभाव का ग्रहण उन दोनों को विषय करता है। अतः भावग्रहण में इन्द्रिय को अधिकरणज्ञान और प्रतियोगी स्मरण की अपेक्षा न होने पर भी अभावग्रहण में उन की अपेक्षा में कोई बाधा नहीं हो सकती। दूसरी बात यह है कि जब अधिकरणज्ञान और प्रतियोगिस्मरण सापेक्ष प्रत्यक्ष से अभाव का ग्रहण हो सकता है तब उस के लिये अभावात्मक प्रामाणान्तर की कल्पना व्यर्थ भी है।

[अतिरिक्त अभावप्रमाणवादी को चक्रकदोषापत्ति]

यह भी ध्यातव्य है कि अनुपलब्धि को अभावग्राहक अतिरिक्त प्रमाण मानने में चक्रक आदि दोष भी है। जैसे: घट की अनुपलब्धि को घटाभाव के ग्रहण में भूतल में घटसंसर्गाभाव का ज्ञान अपेक्षित है क्योंकि संसर्गाभाव द्वारा ही संसर्गी का अभाव होने से घटसंसर्गाभाव के बिना घटाभाव नहीं हो सकता और घटाभाव न होने पर घटानुपलब्धि मात्र से उस का ग्रहण नहीं हो सकता क्योंकि घट के रहने पर भी प्रतिबन्धकवश अथवा घटदर्शन के किसी कारण की अनुपस्थितिवश घट की अनुपलब्धि हो सकती है। अतः घटाभाव के ग्रहण में घटानुपलब्धि को घटसंसर्गाभाव के ज्ञान की अपेक्षा स्पष्ट है और घटसंसर्गाभाव के ज्ञान में घटाभावज्ञान की अपेक्षा है क्योंकि संसर्ग के संसर्गिपरतंत्र होने से संसर्ग का अभाव भी संसर्गी के अभावाधीन होता है, अतः घटाभाव होने से ही घटसंसर्गाभाव सम्भव है। और घटाभाव के ज्ञान में घटानुपलब्धि की अपेक्षा है, इस प्रकार घटाभाव ग्रहण में घटानुपलब्धि को तीसरी कक्षा में अपनी ही अपेक्षा हो जाने से चक्रक स्पष्ट है। इसलिये यह नहीं कहा जा सकता कि–''घटानुपलब्धिरूप अभावप्रमाण से ही 'भूतले घटो नास्ति' इस प्रकार भूतल से संसृष्ट घट के अभाव का ग्रहण हो जाने से इस ग्रहण के जनन में अधिकरणज्ञान आदि को कारण नहीं मानना पड़ता, अतः अभाव को अतिरिक्त प्रमाण मानने में लाघव है और इन्द्रिय से अभाव का ग्रहण मानने पर तज्जन्य अभावग्रहण में अधिकरणज्ञान आदि को कारण मानना आवश्यक होने से गौरव है।''

न चैवं प्रतियोगिग्राहिणेन्द्रियेणाधिकरणज्ञानस्य हेतुत्वे वायौ रूपाभावप्रतीतिरपि संगच्छते, तत्र रूपाभावस्य रूपानुपलम्भेनाप्यनुमातुमशक्यत्वात्, प्राकट्यनिरासेन तदभावेन तस्यानुमातुमप्यशक्यत्वात्। न चानुपलम्भे विशेषाभावादभावग्रहविशेष आलोकाद्यपेक्षोपपत्तिरपि, अधिकरणविशेषेऽपि करणविशेषं विना क्रियाविशेषानुपपत्तेः, अधिकरणज्ञानस्य करणत्वे च गतमभावप्रमाणेन। न चाधिकरणाऽभावाज्ञानद्वयं क्रमेणोत्पद्यमानमुपलभ्यतेऽपि येनैषे कल्पना सावकाशापि स्यात्।

[अधिकरणादि अविषयक इदंत्वरूप से अभावज्ञान का सम्भव]

यदि यह कहा जाय कि-'संसृष्टता-असंसृष्टता आदि में उदासीन अर्थात् घट में भूतल की संसृष्टता अथवा असंसृष्टता के ज्ञान की अपेक्षा न कर घट की केवल अनुपलब्धि ही 'भूतले घटो नास्ति' इस प्रकार भूतलसंसृष्टघटाभाव के ग्रहण का जनक है'-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि घट की अनुपलब्धि से अधिकरण और प्रतियोगी को विषय न करनेवाला भी घटाभावग्रहण होता है जो केवल इदंत्वरूप से घटाभाव को विषय करने से 'अयम्' इस आकार में उत्पन्न होता है। अतः केवलघटानुपलब्धि को 'भूतले घटो नास्ति' इस प्रकार के अभावग्रहण का जनक मानने पर केवल घटानुपलब्धि से इस प्रकार का अभावग्रहण न होकर 'अयम्' इस रूप में घटाभाव का ग्रहण होने पर अन्वयव्यभिचार होना दुर्निवार है। अतः चाहे अनुपलब्धिरूप अभावप्रमाण से अभाव का ज्ञान माना जाय और चाहे इन्द्रिय से अभाव का ज्ञान माना जाय, दोनों दशा में विभिन्न अधिकरणों में प्रतियोगी से विशेषित अभावज्ञान के प्रति अनन्त अधिकरणज्ञान और प्रतियोगि ज्ञान को कारण मानने में गौरव है। इसलिये उचित यही है कि जैसे अधिकरण और प्रतियोगी के ज्ञान की अपेक्षा विना ही इन्द्रिय से भाव का ग्रहण होता है उसी प्रकार उक्त ज्ञानों की अपेक्षा किये विना ही इन्द्रिय से अभाव का भी ग्रहण होता है। किंतु जो 'अत्र घटो नास्ति-यहाँ घट का अभाव है' इस प्रकार अधिकरणविशेष में घटविशेषित अभाव का ज्ञान होता है वह घटाभाव का प्रथम ज्ञान न होकर उस का प्रत्यभिज्ञारूप ज्ञान होता है। जिस पुरुष को भूतल से असंसृष्ट घट के 'घटः' इस प्रकार के दर्शन से घटविषयक संस्कार प्राप्त रहता है उसे घट से असंसृष्ट भूतल का 'भूतलं' इस प्रकार का दर्शन होने के बाद घट का स्मरण होने पर उक्त प्रत्यभिज्ञात्मक ज्ञान उत्पन्न होता है, यद्यपि यह ज्ञान दृश्यमान वस्तु के साथ पूर्वदृष्ट, स्मृत वस्तु के ऐक्य का ग्राहक न होने से विषय की दृष्टि से प्रत्यभिज्ञा नहीं है किंतु प्रत्यभिज्ञा के समान स्मरण और दर्शन से प्रादुर्भूत होने के कारण प्रत्यभिज्ञा शब्द से व्यपदिष्ट होता है। उक्त रीति से 'अत्र घटो नास्ति' इस ज्ञान की उत्पत्ति मानने पर उस के लिये कोई अतिरिक्त कल्पना नहीं करनी पडती, किन्तु विशिष्ट के वैशिष्ट्य को विषय करनेवाले ज्ञान की सामग्री से ही इसका निर्वाह हो जाता है। [1]इस बात का विवेचन पहले किया भी जा चुका है।

[वायु में रूपाभावप्रतीति न होने की आपत्ति]

चक्षु के प्राप्यकारित्वपक्ष में किंवा अभाव के पृथक् प्रामाण्यपक्ष में प्रतियोगी के ग्राहक इन्द्रिय से उत्पन्न अधिकरणज्ञान को जो अभावज्ञान का कारण बताया गया है वह भी संगत

१. द्रष्टव्यः प्रथमस्तबक-पृष्ठ २२५

नहीं है, क्योंकि चक्षु से वायु का ग्रहण न होने से वायु में रूपाभाव की प्रतीति न हो सकेगी। 'रूपानुपलम्भ से वायु में रूपाभाव की आनुमानिक प्रतीति होती है' यह भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि वायु में रूपानुपलम्भ का भी ज्ञान दुर्घट है। 'वायु में रूप के अप्राकट्य से वायु में रूपानुपलम्भ का अनुमान हो सकता है' यह भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि 'उपलम्भ से अर्थ में प्राकट्य-ज्ञातता की उत्पत्ति होती है' इस मत का खण्डन हो चुका है। अतः जब प्राकट्य ही नहीं है तब उस के अभाव से अनुपलम्भ का अनुमान कैसे हो सकता है?

अनुपलम्भ को अभावप्रमाण मानने पर एक यह भी दोष है कि अनुपलम्भ में कोई वैलक्षण्य न होने से अभाव के ग्रहणविशेष में आलोक आदि की अपेक्षा न हो सकेगी। कहने का आशय यह है कि अन्धकार में घट के त्वाच अनुपलम्भ से घटाभाव का ग्रहण होता है, उस में आलोक की अपेक्षा नहीं होती, किन्तु अन्धकार में घट के चाक्षुष अनुपलम्भ से घटाभाव का ग्रहण नहीं होता अतः चाक्षुष अनुपलम्भ से होनेवाले अभावग्रहण में आलोक की अपेक्षा मानी जाती है किन्तु यदि अनुपलम्भ ही अभाव का ग्राहक प्रमाण होगा तो अनुपलम्भ तो सब समान है चाहे वह त्वक् से घट का उपलम्भ न होने से हो या चाहे चक्षु से घट का उपलम्भ न होने से; उपलम्भाभावात्मक अनुपलम्भ में तो कोई भेद होता नहीं तो फिर उसे किसी अभावग्रहण में आलोक की अपेक्षा न हो और किसी अभावग्रहण में आलोक की अपेक्षा हो, यह बात कैसे बन सकती है?

[करणवैलक्षण्य के विना अभावग्रहण के वैलक्षण्य का असंभव]

यदि यह कहा जाय कि-'अभाव के ग्रहण में अनुपलम्भ को आलोक की अपेक्षा कहीं नहीं होती किन्तु जिस अधिकरण में अभावज्ञान होता है उस अधिकरण के ज्ञानविशेष में उस के हेतु को आलोक की अपेक्षा होती है। जैसे: यदि चक्षु से गृहीत भूतल में घटानुपलब्धि से घटाभाव का ग्रहण करना होता है तब भूतलरूप अधिकरण के चाक्षुषज्ञान के लिये चक्षु को आलोक की अपेक्षा होती है न कि आलोक सापेक्ष चक्षु से गृहीत भूतल में घटाभावग्रहण के लिये घटानुपलब्धि को आलोक की अपेक्षा होती है'-तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि अन्धकार में त्वक् से गृहीत भूतल में होनेवाले घटाभावग्रहण में और प्रकाश में चक्षु से गृहीत भूतल में होनेवाले घटाभावग्रहण में वैलक्षण्य स्पष्ट है, किन्तु यह क्रियागत वैलक्षण्य करणवैलक्षण्य के विना नहीं हो सकता और प्रकृत में अनुपलम्भरूप करण में कोई वैलक्षण्य है नहीं और यदि अभावग्रहण के वैलक्षण्य की उपपत्ति के लिये विलक्षण अधिकरणज्ञान को उस का करण माना जायगा तो अभावप्रमाण का अस्तित्व ही समाप्त हो जायगा।

यदि यह कहा जाय कि-'अभावज्ञान का करण तो अभावप्रमाण ही है, अधिकरणज्ञान तो उस का सहकारी है। अतः करण में सहज वैलक्षण्य न होने पर भी सहकारीमूलक वैलक्षण्य से ग्रहणक्रिया में वैलक्षण्य हो सकता है और अधिकरणज्ञान से अभावप्रमाण की व्यर्थता भी नहीं हो सकती'-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि अधिकरणज्ञान और अभावज्ञान यदि क्रम से हो तभी उक्त कल्पना हो सकती है, किन्तु ऐसा नहीं है, उलटे दोनों की क्रमिक उत्पत्ति न होकर अधिकरण और अभाव का एक ही विशिष्टज्ञान उत्पन्न होता है। अतः उक्त कल्पना सत्य नहीं है।

अपि च, अज्ञातकरणत्वादप्यभावज्ञानमपरोक्षं स्वीकरणीयम्, ज्ञाताया अनुपलब्धेः करणत्वे ऽनवस्थानात् । न च प्रागनास्तिताबुद्धौ ज्ञातैव सा करणम्, अभावप्रत्यक्षमात्रे प्रतियोगिज्ञानस्याऽहेतुत्वेन गृहसंनिकर्षकाले मैत्राऽस्मरणेऽपि तदभावानुभवेन मैत्रस्मरणे सति प्रागनास्तिताधियः प्रत्यभिज्ञामात्रत्वात् । अवधानं च तत्रानुपयोगादिकृताभावसंभावनानिरासार्थमुपयुज्यते । 'स्मरणार्हाऽस्मरणानुमितसंनिकर्षादिकालीनानुपलब्धिलिङ्गकैव प्रागनास्तिताधीः' इत्यन्ये । दोषेणाप्यनुपलब्धेरभावरूपाया उपघाताभावादिन्द्रियस्यैव दुष्टत्वोपपत्तेरभावप्रमा(?भ्रम)करणत्वा(?त्वव)दभावभ्रम(?प्रमा)करणत्वमपीन्द्रियस्यैव युक्तम् ।

[अज्ञातकरण से जन्य अभावज्ञान की अपरोक्षरूपता]

यह भी ज्ञातव्य है कि-' घट आदि के अभावज्ञान में घट आदि की अनुपलब्धि स्वयं अज्ञात होकर ही करण होती है। अतः अज्ञातकरण से जन्य होने के नाते अभावज्ञान की अपरोक्षरूपता अनिवार्य है क्योंकि अज्ञातकरणक ज्ञान को ही अपरोक्षज्ञान कहा जाता है। इस दोष के निरासार्थ यह मानना सम्भव नहीं हो सकता कि ज्ञात अनुपलब्धि ही अभावज्ञान का करण है; क्योंकि अनुपलब्धि ज्ञान को अभावज्ञान का करण मानने पर अनवस्था होगी, जैसे घटाभाव के ज्ञानार्थ घटोपलम्भाभाव का ज्ञान अपेक्षित है और उस ज्ञान के लिये घटोपलम्भ की अनुपलब्धि=उपलम्भाभाव का ज्ञान अपेक्षित है तथा घटोपलम्भ के उपलम्भाभावज्ञान के लिये घटोपलम्भोपलम्भ के उपलम्भाभाव का ज्ञान अपेक्षित है। इस प्रकार प्रत्येक उपलम्भात्मक प्रतियोगी के अभावज्ञान में उस के उपलम्भाभावज्ञान की अपेक्षा होने से अनवस्थादोषवश घटानुपलब्धि का ज्ञान सामान्य पुरुष के लिये असाध्य हो जायगा। अतः उसे घटाभावज्ञान का जनक मानना सम्भव नहीं हो सकता।

[ज्ञात अनुपलब्धि करण होने की संभावना का प्रतिक्षेप]

यदि यह कहा जाय कि-" प्रागनास्तिताबुद्धि में अर्थात् अभाव के प्रथमज्ञान में ज्ञात ही अनुपलब्धि करण होती है। जैसे-जो स्थान आलोकसंयुक्त एवं प्रत्यक्षयोग्य होता है तथा अनन्यमनस्क पुरुष का खुला नेत्र उस स्थान पर पड़ता है तो वहाँ के घट के विद्यमान होने पर उस का उपलम्भ अवश्य होता है किन्तु जब वैसी स्थिति में भी घट का उपलम्भ नहीं होता तब मनुष्य को यह आरोपात्मक बुद्धि होती है कि यदि इस स्थान में घट होता तो उस का उपलम्भ अवश्य होता क्योंकि घट और घटेन्द्रियसन्निकर्ष के अतिरिक्त घटोपलम्भ के समस्त कारण विद्यमान हैं। इस आरोपात्मक बुद्धि के फलस्वरूप उसे यह ज्ञान होता है कि यतः यहाँ घट का अनुपलम्भ है अतः यहाँ घट का अभाव है। इस प्रकार घट के अभाव का जो प्रथमज्ञान होता है वह घटानुपलम्भ के ज्ञान से होता है। ऐसा मानने में अनवस्था भी नहीं है क्योंकि घटाभाव के प्रथम ज्ञान में ही घटानुपलम्भज्ञान की अपेक्षा है किन्तु इस अपेक्षणीय घटानुपलम्भ के ज्ञान में उस के प्रतियोगी घटोपलम्भ की अनुपलब्धि का ज्ञान अपेक्षित नहीं है क्योंकि घटोपलम्भाभाव के ज्ञान का उदय इस प्रणाली से आनुभविक नहीं है कि यदि घटोपलम्भ होता तो उस का उपलम्भ होता, यतः घटोपलम्भ का अनुपलम्भ है अतः घटोपलम्भ का अभाव है।"-तो यह कथन उचित नहीं प्रतीत होता क्योंकि अभाव प्रत्यक्षमात्र

में प्रतियोगिज्ञान कारण होता है ऐसा नियम न होने से मैत्रशून्य गृह के साथ चक्षु के सन्निकर्षकाल में मैत्र का स्मरण न होने पर भी मैत्राभाव का मैत्र से अविशेषित अभाव के रूप में अनुभव होने के बाद मैत्र का स्मरण होने पर 'गृहे मैत्रो नास्ति-गृह में मैत्र का अभाव है' इस प्रकार मैत्र से विशेषित अभाव का प्रथमज्ञान होता है, जो अभाव के पूर्वानुभव एवं मैत्र के स्मरण से उत्पन्न होने से प्रत्यभिज्ञा मात्र है। इन दो अभावज्ञानों में प्रथम अभावज्ञान मैत्र के अस्मरण दशा में उत्पन्न होता है अतः उस में मैत्रानुपलब्धि के ज्ञान से उत्पन्न होने की कोई सम्भावना ही नहीं हो सकती। और दूसरा अभावज्ञान पूर्वानुभूत अभाव का ग्राहक होने से प्रत्यभिज्ञारूप है। अतः वह भी मैत्रानुपलब्धि के ज्ञान की अपेक्षा नहीं करता किन्तु उस में अभावांश में मैत्र के भान के लिये मैत्रस्मरणमात्र की ही अपेक्षा होती है। अतः यह कहना निराधार है कि प्राभाकसिताबुद्धि यानी अभाव का प्रथमग्रहण ज्ञान अनुपलब्धि से उत्पन्न होता है।

यह ज्ञातव्य है कि मैत्राभाव की प्रत्यभिज्ञात्मक उक्त बुद्धि में जो अवधान=मैत्र स्मरण की अपेक्षा होती है वह मैत्रानुपलब्धि के ज्ञानार्थ नहीं होती किन्तु प्रतियोगी से अविशेषित अभावज्ञान का कोई उपयोग न होने से जो उस के अभाव की सम्भावना उत्पन्न होती है उस के निराकरणार्थ होती है, क्योंकि मैत्रस्मरण द्वारा मैत्रविशेषित अभावज्ञान हो जाने पर मैत्र के अस्तित्वबुद्धि के निराकरण आदि में उस का उपयोग हो सकता है।

[अनुपलब्धि का ज्ञान अनुमान से—अन्यमत]

अन्य विद्वानों का कहना है कि मैत्रशून्य गृह के साथ चक्षु के सन्निकर्ष काल में मैत्र का स्मरण न होने पर मैत्रानुपलब्धि का अनुमान होता है। वह यद्यपि इस प्रकार नहीं हो सकता कि "मैत्र अनुपलब्ध है क्योंकि स्मरणयोग्य होते हुये भी स्मृति में नहीं आ रहा है-जैसे पूर्व में अननुभूत, अस्मर्यमाण स्मरणयोग्य घट आदि अन्य पदार्थ।" क्योंकि इस अनुमान में मैत्र का पक्षविधया प्रयोग होने से मैत्र की अस्मरणदशा में इस की प्रवृत्ति असम्भव है। किन्तु "गृहगत अभाव अनुपलब्धप्रतियोगिक है क्योंकि स्मरणयोग्यप्रतियोगिक होने हुये भी अस्मर्यमाणप्रतियोगिक है, जो उक्तसाध्यक नहीं होता वह उक्तहेतुक भी नहीं होता जैसे पूर्वोपलब्ध स्मर्यमाणप्रतियोगिक घटाद्यभाव अथवा घटादिपदार्थ।"

उक्त रीति से अनुपलब्धि का अनुमान हो जाने से अनुपलब्धिरूप लिङ्ग से अभाव की अनुमिति होती है। वह इस प्रकार कि 'गृह में अनुपलभ्यमान का अभाव है क्योंकि अनुपलभ्यमान के आश्रयरूप में उपलब्धियोग्य होने पर भी उस के आश्रयरूप में अनुपलब्ध है, अथवा 'गृह में अनुपलभ्यमान पदार्थ, गृहनिष्ठअभाव का प्रतियोगी है, क्योंकि उपलम्भयोग्य होने पर भी गृह में अनुपलब्ध है।' अतः अभावज्ञान में अनुपलब्धि का अनुमान के रूप में ही उपयोग है, किन्तु स्वतन्त्रप्रमाण के रूप में नहीं।

[अन्यदीय मत में अरुचि का बीज]

इस मत को व्याख्याकार ने अन्यमत के रूप में प्रस्तुत कर इस में अपनी अरुचि सूचित की है। अरुचि का कारण यह है कि अनुपलब्धि के उक्त अनुमान के पूर्व अभाव का ज्ञान अपेक्षित है, क्योंकि उस अनुमान में गृहनिष्ठ अभाव पक्षविधया उपात्त है। इसी प्रकार अनुपलब्धि लिङ्ग से जो गृह में अभाव का अनुमान बताया गया है, उस में भी अनुमान के पूर्व अभावज्ञान की अपेक्षा रही है क्योंकि उस में साध्यविधया उस का उपन्यास है और साध्यविधया

किञ्च, प्रमाणयोर्विरोधादधिकरणविशिष्टाभावधीरप्येवं न युज्यते, अभावज्ञानेऽधिकरण-प्रतियोगिनोरुपनीतयोर्भानानभ्युपगमेऽधिकरणांशे 'साक्षात्करोमि' इत्यनुभवानुपपत्तेः, अनुमानाऽभावप्रमाणयोः समाहारे व्यापकाभाव-व्याप्याभावप्रतीत्यनुपपत्तेश्च, द्वयोर्मिथः प्रतिरोधेऽनुभवस्यैवानुपपत्तेः, अप्रतिरोधे च सांकर्यात्, तत्स्थलीयानुभवे जात्यन्तरस्वीकारे च तत्र करणान्तरस्यावश्यकत्वात्

उपन्यास साध्य के ज्ञान के विना नहीं हो सकता। इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष के कारण अभाव का ज्ञान नहीं हो सकता। दूसरी बात यह है कि अनुपलब्धिलिङ्गक उक्त अनुमान से अभाव के प्रतियोगीरूप में भाव का विशेषरूप से भान न होने से विशेषरूप से मैत्रादि-विशेषित अभाव का ज्ञान नहीं हो सकता।

अभावज्ञान को इन्द्रियजन्य मानने में एक और युक्ति है। वह यह कि दुष्ट करण से ही भ्रम की उत्पत्ति का नियम होने से अभावभ्रम को भी दुष्ट करण से ही उत्पन्न मानना होगा। किन्तु यदि अनुपलब्धि को अभावज्ञान का करण माना जायगा तो दोष से अनुपलब्धि का उपघात न होने से अभावभ्रम में दुष्टकरणजन्यत्व की उपपत्ति न होगी अतः उसे दुष्टेन्द्रियजन्य ही मानना होगा, तो जैसे अभावभ्रम दोषयुक्त इन्द्रिय से जन्य होगा वैसे ही अभावप्रमा को भी दोषहीन इन्द्रिय से जन्य मानना ही युक्ति संगत हो सकता है। क्योंकि-जो करण सदोष होने पर जिस का भ्रम उत्पन्न करता है वही निर्दोष होने पर उसी की प्रमा भी उत्पन्न करता है-ऐसा नियम है।

[अधिकरणविशिष्ट अभाव के ज्ञान की अनुपपत्ति]

दूसरी बात यह भी ज्ञातव्य है कि अभाव को स्वतन्त्रप्रमाण मानने पर अभावप्रमाण के विषय में प्रमाणान्तर की प्रवृत्ति और प्रमाणान्तर के विषय में अभाव प्रमाण की प्रवृत्ति में विरोध होने से भूतलरूप अधिकरण के ग्राहक इन्द्रिय से घटाभाव का ग्रहण अशक्य होने से एवं घटाभाव के ग्राहक घटानुपलब्धिरूप अभावप्रमाण से भूतल का ग्रहण अशक्य होने से 'भूतले घटो नास्ति=भूतल में घटाभाव है' इस प्रकार का अधिकरणविशिष्ट अभावज्ञान न हो सकेगा। और यदि अभावज्ञान में अधिकरण एवं प्रतियोगी का भान प्रमाणमूलक न मान कर उपनयज्ञानमूलक माना जायगा तो अधिकरणांश के ज्ञान का साक्षात्काररूप से अनुभव न हो सकेगा।

अभाव को स्वतन्त्रप्रमाण मानने में एक और दोष है, वह यह कि व्यापकाभाव-वह्न्यभाव से व्याप्याभाव-धूमाभाव के साधक अनुमान और वह्न्यभाव एवं धूमाभाव के ग्राहक वह्नि और धूम की अनुपलब्धिरूप अभाव प्रमाण, इन दोनों का सहसन्निधान आवश्यक होने से वह्न्यभावरूप व्यापकाभाव और धूमाभावरूप व्याप्याभाव की प्रतीति न हो सकेगी, क्योंकि अभाव के आनुपलब्धिक अनुभव की सामग्री से अभाव के आनुमानिक अनुभव का, और अभाव के आनुमानिक अनुभव की सामग्री से अभाव के आनुपलब्धिक अनुभव का, प्रतिरोध हो जाने से अभाव के किसी भी अनुभव की उत्पत्ति ही न हो सकेगी। और इस त्रुटि के निराकरणार्थ यदि उक्त अनुभवों की सामग्रियों को परस्पर कार्य का प्रतिबन्धक न माना जायगा तो दोनों प्रमाणों से आनुमितिक-आनुपलब्धिक उभयात्मक एक अनुभव के उत्पन्न होने से उस में अनुमितित्व और आनुपलब्धिकत्व दोनों का सांकर्य होगा। और यदि सांकर्य के निरासार्थ उन दोनों

प्रमाणसंख्याव्याघातापत्तेः, एकतरदलसत्त्वे चाविनिगमात् । अपि च, अभावग्रहे भावानुपलब्धिवद् भावग्रहेऽप्यभावानुपलब्धेर्हेतुत्वात् प्रत्यक्षकथैवोत्सीदेत्, घटादिग्रहेऽपि घटाभावानुपलब्धेर्व्यापारात्, इन्द्रियसहकारित्वे तु तस्या उभयत्र तुल्यमिति दिग् । ततो नाभावप्रमाणप्रवृत्तिः सर्वज्ञे इति व्यवस्थितम् ।

यच्च 'एवं विप्रतिपन्नप्रत्यक्षं यदि'....(पृ. १५) इत्यादि प्रसङ्गसाधनमुद्भावितम्; तदप्यापाद्यापादकयोस्तद्विपर्यययोश्च व्याप्यव्यापकभावे सिद्धे शोभते, स चाद्यापि न सिद्ध इति न किञ्चिदेतत् । यदपि (पृ. १५) 'यत्राप्यतिशयो दृष्टः, येऽपि सातिशया दृष्टाः'....इत्याद्युक्तानुरोधेन स्वविषयस्वग्राह्य-

---

प्रमाणों से किसी विजातीयप्रमा की उत्पत्ति मानी जायगी तो उस प्रमा के करण को एक अतिरिक्त विजातीयप्रमाण भी मानना पड़ेगा । फलतः प्रमाणों की स्वीकृत संख्या का व्याघात होगा । यदि उक्त सभी दोषों के भय से उक्तस्थल में किसी एक ही प्रमाण का कार्य माना जायगा तो ऐसा मानने में कोई विनिगमना न होगी ।

अभाव को अतिरिक्तप्रमाणस्वीकृत मानने में सब से बड़ी बाधा यह है कि जब अभावग्रह में भावानुपलब्धि करण होगी तब तुल्ययुक्ति से भावग्रहण में अभावानुपलब्धि भी करण क्यों न होगी ? क्योंकि घट आदि भाव पदार्थों के ग्रहण में घट आदि के अभाव की अनुपलब्धि भी अपेक्षित होती है । फलतः प्रत्यक्षप्रमाण की कथा ही समाप्त हो जायगी । यदि यह कहा जाय कि-'भावपदार्थ का ग्रहण केवल अभाव की अनुपलब्धि से ही नहीं हो जाता किन्तु इन्द्रिय की भी अपेक्षा होती है अतः भावग्रहण इन्द्रियकरणक ही होता है, अभाव की अनुपलब्धि तो उस की सहकारी होती है'-तो यह बात अभावग्रहण के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है । जैसे यह कहा जा सकता है कि अभावग्रहण इन्द्रियकरणक ही होता है भावानुपलब्धि उस की सहकारी होती है ।

अभाव के पृथक् प्रामाण्य के विरोध में जिन युक्तियों का संकेत किया गया उन से अभाव के प्रामाण्य का निरास हो जाने से यह सिद्ध है कि सर्वज्ञ में अभावप्रमाण की प्रवृत्ति सम्भव न होने से सर्वज्ञ के अभाव का साधन असम्भव है ।

[सर्वज्ञविरोधी प्रसंगसाधन का निरसन]

सर्वज्ञ के विरोध में एक प्रसङ्गसाधन—तर्कमूलक अनुमान का उद्भावन जो इस प्रकार किया गया था कि (पृ.१५) 'विप्रतिपन्नप्रत्यक्ष—धर्म, अधर्म आदि अतीन्द्रिय पदार्थों का वह ज्ञान जिस में प्रत्यक्षत्व-अप्रत्यक्षत्व की विप्रतिपत्ति है—यदि किसी पुरुष में आश्रित हो तो उस पुरुष की उपलब्धि होनी चाहिये । चतः ऐसा कोई पुरुष उपलब्ध नहीं है अतः उक्त विप्रतिपन्न प्रत्यक्ष किसी पुरुष में आश्रित नहीं है । इस प्रसङ्गसाधन से धर्म, अधर्म आदि के द्रष्टा सर्वज्ञपुरुष का अभाव सिद्ध हो सकता है ।' व्याख्याकार का कहना है कि यह उद्भावन तभी समीचीन हो सकता है जब उक्त प्रत्यक्ष के आश्रयभूत पुरुषरूप आपादक में उक्त प्रत्यक्ष के आश्रयपुरुष की उपलब्धिरूप आपाद्य की व्याप्ति एवं उक्तप्रत्यक्षाश्रय पुरुष की उपलब्धिरूप आपाद्य के अभाव में उक्त प्रत्यक्ष के आश्रय पुरुषरूप आपादक के अभाव की व्याप्ति सिद्ध हो; क्योंकि प्रसङ्ग=तर्कात्मक बुद्धि में आपादक में आपाद्यव्याप्ति का और प्रसङ्गसाधन=तर्कमूलक अनुमान में आपाद्याभाव में आपादकाभावव्याप्ति का ज्ञान कारण होता है । किन्तु उक्त व्याप्ति सिद्ध नहीं है, अतः उक्त उद्भावन अकिञ्चित्कर है ।

ज्ञात्यतिक्रान्तप्रत्यक्षं प्रत्येषि, तदपि 'दृष्टजातीयचक्षुरादय एव सर्वे पुरुषाः' इति नियमग्रहे शोभते, स एव चाऽसर्वज्ञस्य दुर्ग्रहः । दृश्यते च चक्षुरपि केषाञ्चित् प्रज्ञादिमन्त्रादिद्वारेण संस्कृतं काल-विप्रकृष्टार्थग्राहकम्, मूषिकादेर्नक्तञ्चरश्वपदंशादेश्चान्धकारव्यवहितार्थग्राहकम्, अञ्जनविशेषादिसंस्कृतं च केषाञ्चित् कुड्यादिव्यवहितार्थग्राहकम्, दीपावतारादौ च समुद्र-सेना-नग-नगरादिग्राहकम्; तद्वद् यदि पुरुषविशेषस्यापि कस्यचिच्चक्षुरादि धर्मादेरपि-देश-काल-स्वभावविप्रकृष्टस्य ग्राहकं भवति तदा को नाम दृष्टस्वभावातिक्रमः ?; चक्षुःश्रवसां चक्षुषैव शब्दश्रवणस्य प्रसिद्धत्वेन विषयातिक्रमस्याप्य-

[यात्राप्यतिशयो....का निरसन]

सर्वज्ञ के विरोध में एक और बात कही गई है वह यह कि, (पृ. १६) जिस किसी इन्द्रिय में अतिशय-उत्कर्ष देखा जाता है वह इन्द्रिय, देश और काल के विप्रकर्ष की अपेक्षा कर अपने ग्राह्य पदार्थों के सजातीय सभी पदार्थों को तो ग्रहण कर सकती है किन्तु अपने उत्कर्ष के कारण वह अपने द्वारा ग्रहणयोग्य पदार्थों से विजातीयपदार्थों को नहीं ग्रहण करती । जैसे-अतिशययुक्त नेत्र दूरस्थ पदार्थ को एवं वर्तमान के समान अतीत तथा अनागत रूप एवं रूपवान् पदार्थ को देख सकता है, पर रस, गन्ध आदि को नहीं देख सकता क्योंकि उन पदार्थों के ग्रहण में वह स्वभावतः अयोग्य है । यही स्थिति उन पुरुषों की भी है जो तप आदि से विशेष सामर्थ्य प्राप्त कर लेते हैं, वे भी प्रत्यक्षयोग्य पदार्थों का ही (देशकाल का विप्रकर्ष होने पर भी) प्रत्यक्ष कर सकते हैं किन्तु जो पदार्थ स्वभावतः प्रत्यक्ष के अयोग्य हैं, उन का प्रत्यक्ष वे भी नहीं कर सकते ।—

उक्त कथन से धर्म, अधर्म आदि पदार्थ जो प्रत्यक्षविषय एवं प्रत्यक्षग्राह्यजाति से शून्य होने के कारण स्वभावतः प्रत्यक्ष के अयोग्य हैं उन के प्रत्यक्षज्ञान का प्रतिषेध कर धर्म-अधर्म आदि के द्रष्टा सर्वज्ञपुरुष के अस्तित्व का निराकरण किया गया है । किन्तु यह कथन भी तभी समीचीन हो सकता है जब यह नियम ज्ञात हो सके कि सभी पुरुष सामान्यपुरुष के चक्षु आदि इन्द्रियों के सदृश इन्द्रियों से ही सम्पन्न होते हैं। किन्तु यह नियम जो सर्वज्ञ नहीं है, उसे ज्ञात नहीं हो सकता, क्योंकि असर्वज्ञ पुरुष संसार के सभी पुरुषों को और उन के चक्षु आदि इन्द्रियों को कैसे जान सकता है ? प्रत्युत, उक्त नियम के विपरीत यह देखा जाता है कि कुछ पुरुषों का नेत्र प्रज्ञादि और मन्त्र आदि से संस्कृत होकर देश-काल से विप्रकृष्ट वस्तु को भी ग्रहण करता है ।

पुरुषविशेष की बात छोडिये, स्थिति यह है कि मूषक, नक्तंचर, श्वपदंश आदि तिर्यग् जातीय जीवों का नेत्र अन्धकार में ढँकी वस्तुओं को भी ग्रहण करता है । कितने लोगों का अञ्जनविशेष आदि से संस्कृत नेत्र भित्ति आदि से व्यवहित वस्तुओं के भी ग्रहण में समर्थ होता है । एवं दीपावतार आदि में समुद्र, सेना, पर्वत तथा नगर आदि को भी देख पाने में समर्थ होता है। तो जैसे कुछ पुरुषों के नेत्र उक्त रीति से सामान्य स्थिति में न दिखाई देनेवाले पदार्थों को भी देख लेते हैं, उसी प्रकार यदि किसी विशिष्टपुरुष का नेत्र देश काल और स्वभाव से विप्रकृष्ट भी धर्म, अधर्म आदि को देखने में समर्थ होता हैं तो इस में दृष्ट-स्वभाव का अतिक्रमण क्या होता है ? विषय के अदृष्ट अतिक्रमण होने की भी बात नहीं कही जा सकती क्योंकि चक्षुःश्रवा=सर्प को चक्षु से शब्द के श्रवण की प्रसिद्धि होने से विषया-

दृष्टस्याऽकल्पनात् । 'कर्णच्छिद्रानुपलब्धेर्दंदशूकचक्षुर्जात्यन्तरमेवे'ति चेत् ? तुल्यमेतदुत्तरमन्यत्रापि, प्रकृष्टपुण्यसंभारजनितसर्वविच्चक्षुषो जात्यन्तरत्वात् । अभ्युपगमवादश्चायम्, वस्तुतो घातिकर्मक्षयाविर्भूतत्वेन केवलज्ञानस्याऽतीन्द्रियत्वादिन्द्रियजज्ञानस्यावग्रहादिक्रमानुविद्धत्वादिति द्रष्टव्यम् ।

ये तु यौगाः संगिरन्ते—'मनःकरणकमेव योगिनां प्रत्यक्षम्, योगजधर्मप्रत्यासत्त्या मनसैव निखिलार्थसाक्षात्कारात्' इति—तेऽपि भ्रान्ताः, योगजधर्मस्य मनःप्रत्यासत्तित्वं चक्षुरादिप्रत्यासत्तित्वं वेत्यत्राऽविनिगमात् । 'धर्मविशेषसहकारेण मानसं प्रातिभप्रत्यक्षं दृष्टमिति योगिप्रत्यक्षमपि धर्मविशेष-

---

तिक्रमण भी अदृष्ट नहीं है । कर्णच्छिद्र न होने से सर्प के सम्बन्ध में यदि यह कहा जाय कि-'सर्प का चक्षु रूपदर्शीचक्षु से विलक्षण है और शब्द उसका विषय ही है अतः विषयातिक्रमण के समर्थन में चक्षु द्वारा सर्प के शब्दश्रवण को निमित्त नहीं बनाया जा सकता'-तो यह उत्तर सर्वज्ञ पुरुष के सम्बन्ध में भी समान है, क्योंकि यह निर्बाधरूप से कहा जा सकता है कि पुण्यप्रकर्ष से सर्वज्ञ को रूपादिदर्शीचक्षु से विलक्षण ऐसे चक्षु की प्राप्ति होती है जो धर्म-अधर्म आदि को भी देखने में समर्थ होता है ।

सर्वज्ञ की सर्वदर्शिता का उक्तरीति से समर्थन करते हुये जो यह कहा गया कि सर्वज्ञ धर्म-अधर्म सभी पदार्थों का ज्ञान इन्द्रिय से अर्जित कर सकता है, वह अभ्युपगमवाद या प्रौढिवादमात्र है । सच यह है कि सर्वज्ञ का केवलज्ञान समग्र घातीकर्मों के क्षय से आविर्भूत होने के कारण अतीन्द्रिय यानी इन्द्रियाजन्य होता है, क्योंकि इन्द्रियजन्य ज्ञान अवग्रह, ईहा आदि के क्रम से उत्पन्न होता है और केवलज्ञान में यह क्रम नहीं होता ।

[योगिप्रत्यक्ष में मन करण नहीं होता]

नैयायिकों का कहना है कि योगी को जो सर्वविषयक प्रत्यक्ष होता है वह मनःकरणक है, योगजधर्मरूप प्रत्यासत्ति से योगी को मन से ही सभी पदार्थों का साक्षात्कार होता है । इस के विरुद्ध व्याख्याकार का कहना है कि उक्त बात को कहनेवाले नैयायिक भ्रमग्रस्त हैं, क्योंकि 'योगजधर्म मन की प्रत्यासत्ति है अथवा चक्षु आदि बाह्य इन्द्रियों की प्रत्यासत्ति है' इस में कोई विनिगमना नहीं है । कहने का आशय यह है कि 'योगजधर्म' न्यायमतानुसार विषय के साथ इन्द्रिय की प्रत्यासत्ति भी हो सकती है । इस प्रत्यासत्ति के अनुयोगी हैं समस्तपदार्थ और प्रतियोगी है इन्द्रिय, प्रतियोगिता का नियामक सम्बन्ध है विजातीय स्वाश्रय-संयोग । स्व का अर्थ है योगजधर्म, उस का आश्रय है योगी की आत्मा, उस का विजातीय संयोग है उस की इन्द्रिय के साथ । अतः इन्द्रिय 'योगजधर्मरूप' प्रत्यासत्ति का प्रतियोगी है। उस की अनुयोगिता का नियामक है स्वाश्रयसंयुक्तसंयुक्तविशेषणता, स्व का अर्थ है योगजधर्म, उस का आश्रय है योगी की आत्मा, उस से संयुक्त है उस का शरीर और उस शरीर से संयुक्त है महाकाल, उस की विशेषणता है समस्त पदार्थों में, क्योंकि महाकाल कालिकविशेषणता सम्बन्ध से सम्पूर्ण पदार्थ का आश्रय है । अतः समस्तपदार्थ इस प्रत्यासत्ति के अनुयोगी हैं । ऐसी स्थिति में यह कैसे कहा जा सकता है कि योगजधर्म मन की ही प्रत्यासत्ति है, चक्षु आदि की नहीं है-जब कि उस की प्रतियोगिता का नियामक सम्बन्ध मन के समान चक्षु आदि में भी विद्यमान है । इसलिये यह कथन भ्रममूलक है कि योगी को योगजधर्मरूप प्रत्यासत्ति से मन से ही समस्तपदार्थों का साक्षात्कार होता है, चक्षु आदि से नहीं होता ।

सहकृतमनोजन्यमेव कल्प्यते" इति चेत् ? न, अञ्जनविशेषोद्बुद्धधर्मविशेषसहकृतचक्षुरादिजन्यस्य निध्यादिसाक्षात्कारस्य दर्शनाद् योगिनां सर्वार्थविषयचाक्षुषादिकल्पनस्यापि सुशकत्वात् । "अञ्जनादिना निध्यादिसाक्षात्कारोऽपि मानस एव, 'पश्यामि' इति प्रतीतिस्तु तत्र तत्र चाक्षुषत्वारोपादि"ति चेत् ? न, बाधकाभावात् । नयनप्राप्त्यभावस्य तस्याप्राप्यकारित्वेऽबाधकत्वात् । अपि च जन्यज्ञानत्वावच्छिन्नं प्रत्येव मनसः कारणत्वं त्वया कल्प्यते । तत्र जन्यत्वमीश्वरज्ञानादिव योगिज्ञानादपि व्यावृत्तमस्तु, योगजधर्मप्रत्यासत्त्यकल्पनलाघवात् ।

अथ केवलिनामपि मनःसत्त्वात् कथं न तत्करणकं तेषां ज्ञानम् ? इति चेत् ? सत्यम्, तत्सत्त्वेऽपि तद्व्यापाराभावात् । 'संयोगातिरिक्ततद्व्यापारस्याऽसिद्धिरेवे'ति चेत् ? न, सुषुप्तिव्यावृत्त्यनुपपत्तेः । 'अस्त्येव तेषामनुत्तरसुरसंशयनिवर्तको मनोव्यापारोऽपी'ति चेत् ? सत्यमस्त्येव, प्राश्निका-

[योगजधर्मसहकृत नेत्र से योगिसाक्षात्कार की सम्भावना]

यदि यह कहा जाय कि–'धर्मविशेष से सहकृत मन से प्रातिभप्रत्यक्ष का होना दृष्ट है । अतः योगी के प्रत्यक्ष को भी धर्मविशेष से सहकृत मन से ही जन्य मानना उचित है'–तो यह ठीक नहीं है क्योंकि अञ्जनविशेष से उद्बुद्ध धर्मविशेष से सहकृत चक्षु से पृथ्वी के भीतर छीपे हुये निधि का साक्षात्कार भी दृष्ट है, अतः यह भी कहा जा सकता है कि जैसे गुप्तनिधि का साक्षात्कार धर्मसहकृत चक्षु से होता है उसी प्रकार योगजधर्म से सहकृत चक्षु से ही योगी को समस्त वस्तुओं का साक्षात्कार होता है । यदि यह कहा जाय कि–'अञ्जन आदि से जो निधि आदि का साक्षात्कार होता है वह भी मानस ही है, 'निधि पश्यामि=निधि को देखता हूँ' इस रूप से जो उस में दर्शनत्व का अनुभव होता है वह दर्शनत्वअंश में आरोपात्मक है'–तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि उक्त साक्षात्कार में दर्शनत्वानुभव का कभी बाध न होने से उसे आरोपात्मक कहना असंगत है, 'गुप्तनिधि के साथ चक्षु का सन्निकर्ष नहीं है । अतः उसे चाक्षुष नहीं माना जा सकता' यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि चक्षु के अप्राप्यकारित्व पक्ष में चक्षु का असन्निकर्ष चाक्षुष की उत्पत्ति में बाधक नहीं हो सकता।

दूसरी बात यह है कि जन्यज्ञान के प्रति ही मन की कारणता नैयायिकों को अभिमत है, अतः यदि ईश्वरज्ञान के समान योगिज्ञान को अजन्य मान लिया जाय तो उसे मनोजन्य कहना संगत नहीं हो सकता और यही उचित भी है क्योंकि योगिज्ञान को अजन्य मान लेने पर योगजधर्मरूप प्रत्यासत्ति की कल्पना अनावश्यक हो जाने से ऐसा मानने में लाघव है ।

प्रश्न हो सकता है कि केवली को भी मन तो होता है, तो फिर उस का ज्ञान मनःकरणक क्यों नहीं होता ? इस का उत्तर यह है कि–यह सत्य है कि केवली को भी मन होता है पर वह निर्व्यापार होता है, अतः उस से ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती । यदि यह कहा जाय कि–'आत्मा के साथ मन के संयोग से भिन्न कोई मन का व्यापार सिद्ध नहीं है और मन का संयोग तो केवली आत्मा के साथ है ही, अतः वह निर्व्यापार कैसे है ?'–तो यह ठीक नहीं है क्योंकि यदि मन का संयोग ही मन का व्यापार होगा तो सुषुप्ति समय में भी मन की निर्व्यापारता सिद्ध न होगी, फलतः उस समय भी ज्ञान की उत्पत्ति का प्रसङ्ग होगा । यदि यह कहा जाय कि–'केवली के मन का भी व्यापार है ही जिस से अनुत्तर देवलोक निवासी

नामर्थानुमापकः सः, परं न क्षयोपशमाऽनिष्पादकतया स्वप्रतिपत्त्यनुकूलः, इन्द्रियव्यापारस्य तद्द्वारैव ज्ञानहेतुत्वात्, अन्यथा व्यभिचारात्। अत एव क्षयोपशमभेदादेव ज्ञानभेदः, न त्विन्द्रियभेदात्। इत्थमेव संभिन्नश्रोतोलब्धिमतां श्रोत्रेणापि रूपग्रहणोपपत्तेः। न चैवं चाक्षुषत्व-श्रावणत्वादिसांकर्यम्, तस्य जात्यन्तरत्वात्। अत एव च इन्द्रियादिबहिरङ्गपरहेतुकत्वादस्मदादिचाक्षुषादीनां निश्चयतः परोक्षत्वम्, संशयास्पदत्वाच्च; योगिज्ञानस्य चात्मातिरिक्तानपेक्षत्वात् संशयानास्पदत्वाच्च तत्त्वतोऽपरोक्षत्वम्' इत्यामनन्ति।

यदप्युक्तम्-(पृ. १६) 'कथं च धर्मादिग्राहिज्ञानस्योत्पत्तिः?....' इत्यादि। तदपि न पेशलम्, सर्वज्ञप्रणीतमागममनुसृत्याभ्यासादेव सामर्थ्ययोगेन तदुत्पत्तेः। न चैवं चक्रकावतारः, अनादित्वात्

देवताओं के संशय की निवृत्ति होती है'-तो इस का समाधान यह है कि केवली का मन भी सव्यापार अवश्य है पर यह व्यापार प्राश्निकों को प्रष्टव्य अर्थ का अनुमापकमात्र होता है, उस व्यापार से केवली प्रश्नकर्ता के जिज्ञास्य का उत्तर दे देता है, किन्तु उसका मनोव्यापार उस के अपने ज्ञान का साधक नहीं होता, क्योंकि उस से क्षीणघातीकर्मा केवली को क्षयोपशम नहीं होता। और हमारे मत से मनोव्यापार क्षयोपशम द्वारा ही ज्ञान का जनक होता है, क्योंकि यदि ऐसा न माना जायगा तो जिन पदार्थों के ज्ञानावरण का क्षयोपशम नहीं होता उन पदार्थों के भी ज्ञान की आपत्ति होगी। क्षयोपशम द्वारा ज्ञान का जन्म होने से ही उस के भेद से ज्ञान का भेद होता है, इन्द्रियभेद से नहीं होता।

मनोव्यापार से क्षयोपशम होने पर ज्ञान का जन्म होता है इसीलिये जिन पुरुषों को संभिन्नश्रोतोलब्धि विकसित होती है उन के श्रोत्र और चक्षु में अन्योन्य शक्ति का मिश्रण हो जाता है, उन्हें श्रोत्र से भी रूप का ग्रहण होता है, वे शब्द को सुनकर श्रोत्र से उच्चारणकर्त्ता के रूप को भी देख लेते हैं। ऐसा होने पर भी चाक्षुषत्व और श्रावणत्व में सांकर्य नहीं होता, क्योंकि चक्षु और श्रोत्र आदि इन्द्रियों से उन लब्धिधारीयों को जिस ज्ञान की उत्पत्ति होती है वह केवल चक्षु एवं केवल श्रोत्र से होनेवाले ज्ञानों से विजातीय होती है, उन में केवल चक्षु की जन्यता का अवच्छेदक चाक्षुषत्व और केवल श्रोत्र की जन्यता का अवच्छेदक श्रावणत्व नहीं रहता, अतः उन के साङ्कर्य की सम्भावना नहीं हो सकती।

केवली का ज्ञान इन्द्रियादिजन्य नहीं होता और सामान्य मनुष्यों का ज्ञान इन्द्रियादिजन्य होता है, यही कारण है जिस से यह माना जाता है कि सामान्यजनों का चाक्षुष आदि ज्ञान इन्द्रिय आदि आत्मभिन्न बहिरंग हेतुओं से उत्पन्न होने से तथा संशयास्पद होने से निश्चयतः परोक्ष होता है और केवली का ज्ञान आत्मा से भिन्न हेतु की अपेक्षा न करने से एवं संशयास्पद न होने से तत्त्वतः अपरोक्ष होता है।

[धर्म-अधर्मादि ग्राहक सर्वज्ञज्ञान का उपपादन]

सर्वज्ञ के विरोध के सन्दर्भ में जो यह कहा गया था (पृ. १७) कि उचित साधन न होने से धर्म, अधर्म आदि के ग्राहक ज्ञान की उत्पत्ति कैसे सम्भव हो सकेगी?-वह कथन भी युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि सर्वज्ञ निर्मित आगम के अनुसार तप आदि के अभ्यास से सामर्थ्ययोग द्वारा धर्म आदि का ग्रहण उत्पन्न हो सकता है। यदि यह कहा जाय कि-"ऐसा मानने पर चक्रक दोष होगा, जैसे: धर्मादि के ज्ञान के लिये आगमानुसारी अभ्यास अपेक्षित है, और उस के लिये सर्वज्ञ

सर्वज्ञपरम्परायाः । अत एव "[1]तप्पुव्विया अरहया"....[आव० नि० गाथा ५६७] इत्यादावन-वस्थादिदोषस्यापि परिहारः । अर्थज्ञानशब्दरूपत्वाच्चागमस्य मरुदेव्यादीनां सार्वज्ञ्यस्य वचनरूपागमा-भ्यासाऽपूर्वकत्वेऽपि न क्षतिः, आगमार्थप्रतिपत्तित एव तेषामपि तथात्वसिद्धेस्तत्त्वतस्तत्पूर्वकत्वात् । अभ्यासेनाऽस्पष्टस्य स्पष्टत्वायोगदोषश्चानुक्तोपालम्भमात्रम्, ततोऽस्पष्टज्ञानमुपमृद्य स्पष्टज्ञानान्तरोत्पत्ते-रेवोपगमात् "[2]नट्ठम्मि उ च्छाउमत्थिए नाणे" [आव० नि० गाथा ४२१] इति वचनात् । अत एव 'प्रेरणाजनितं ज्ञानमस्मदादीनामप्यतीता--ऽनागत–सूक्ष्मादिपदार्थविषयमस्तीति सर्वज्ञत्वं स्यात्' इति मीमांसकमनोरथतरुरुन्मूलितः, अभ्यासजन्यस्पष्टविज्ञानस्य सकलपदार्थविषयस्यास्मदादीनामभावात्,

प्रणीत आगम की अपेक्षा है, तथा आगमप्रणयन के लिये प्रणेता को धर्म आदि का ज्ञान अपेक्षित है। अतः तीसरे पर्याय में धर्मादिज्ञान में धर्मादिज्ञान की ही अपेक्षा होने से चक्रक स्पष्ट है"-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि सर्वज्ञपरम्परा अनादि है, अतः सर्वज्ञ होने को इच्छुक प्रत्येकजन पूर्वपूर्व सर्वज्ञप्रणीत आगम द्वारा कर्तव्य तप का ज्ञान प्राप्त कर उस के अभ्यास से सर्वज्ञान का सामर्थ्य अर्जित कर सर्वज्ञता प्राप्त कर सकता है । इसीलिये अर्हत् को अन्य अर्हत् पूर्वक मानकर अनवस्था आदि दोष का भी परिहार किया गया है ।

[आगम सीर्फ शब्दात्मक ही नहीं है]

आगम अर्थज्ञान और शब्द उभयात्मक है, इसीलिये मरुदेवीमाता आदि की सर्वज्ञता शब्दरूपागमाभ्यासपूर्वक न होने पर भी कोई क्षति नहीं होती, क्योंकि आगमार्थ के ज्ञान से ही उन में सर्वज्ञान की सिद्धि होने से उन की सर्वज्ञता में भी सर्वज्ञपूर्वकत्व की सिद्धि हो जाती है । सर्वज्ञता को आगममूलक मानने पर जो यह बात कही गई कि 'अस्पष्टज्ञान कभी अभ्यास से स्पष्ट नहीं हो सकता' वह अनुक्त का उपालम्भ है, न कही गई बात को त्रुटिपूर्ण बताना है, क्योंकि 'नष्टे तु च्छाद्मस्थिके ज्ञाने' इस आशय को प्रकट करनेवाले वचन से यह स्पष्ट कर दिया गया है कि आगम के अभ्यास से मति-श्रुतादि छाद्मस्थिक अस्पष्टज्ञान का उपमर्दन होकर स्पष्ट केवलज्ञानरूप ज्ञानान्तर की उत्पत्ति होती है।

आगम से सर्वज्ञता की सिद्धि मानने पर मीमांसकों के मन में ऐसे मनोरथ द्रुम का उदय हो जाता है कि यदि आगम से सर्वज्ञता होगी तब तो उन जैसे सामान्य मनुष्यों को भी आगम द्वारा अतीत, अनागत, सूक्ष्म आदि पदार्थों का ज्ञान होने से उन जैसे मनुष्य भी सर्वज्ञ हो जायेंगे । किन्तु मीमांसकों का यह मनोरथ द्रुम इसलिये धराशायी हो जाता है कि उन जैसे मनुष्यों को समस्त पदार्थों का अभ्यासजन्यज्ञान भी स्पष्टज्ञानरूप नहीं होता और इस प्रकार का स्पष्ट ज्ञान ही सर्वज्ञता का नियामक होता है। जो ज्ञान स्पष्ट नहीं होता वह संशयाक्रान्त होने से स्वतन्त्र प्रवृत्ति में उपयोगी नहीं होता । दूसरी बात यह है कि सब पदार्थों के अस्पष्टज्ञान से सर्वज्ञता मानने पर निर्मूल परम्परा की प्रसक्ति होगी क्योंकि परम्परा के मूल में स्पष्टज्ञान का अभाव होगा और स्पष्ट ज्ञान ही किसी स्वच्छ परम्परा का प्रवर्तक होता है ।

१. तप्पुव्विया अरहया पूइयपूया य विणयकम्मं । च कयकिच्चो वि जह कहं कहए णमए तहा तित्थं ॥
२. उप्पण्णम्मि अणंते, नट्ठम्मि उ छाउमत्थिए नाणे । राईए संपत्तो महसेणवणंमि उज्जाणे ॥

इतरस्य च संशययोग्यतया स्वतन्त्रप्रवृत्त्यनुपयोगित्वात्, निर्मूलपरम्पराप्रसक्तेः । कामादिविप्लुतविशदज्ञानवत इव भावनाबललब्धविशदज्ञानवतः सर्वज्ञस्य तद्वदुपप्लुतत्वप्रसञ्जनापादनं च वृथैव, 'भावनाबलाज्ज्ञानं वैशद्यमनुभवति' इत्येतावन्मात्रेण दृष्टान्तस्योपात्तत्वात्, सकलदृष्टान्तधर्माणां साध्यधर्मिण्यासञ्जनस्याऽयुक्तत्वात्, अन्यथा सकलानुमानोच्छेदप्रसक्तेः ।

यच्च परोक्षादपरोक्षोत्पत्त्यदर्शनमुद्भावितम्, (पृ. १७)तदज्ञानविलसितम्, परोक्षादपि तत्तास्मरणात् स्वयमपरोक्षतत्ताविषयकप्रत्यभिज्ञानस्वीकारात् । यस्तु श्रवणादेः प्रत्यक्षप्रमाकरणत्वेन प्रत्यक्षप्रमाणत्वप्रसङ्ग उक्तः, स तु 'साक्षात्कारिप्रमायाः करणं प्रत्यक्षम्' इति वदतो नैयायिकान् प्रति शोभते न तु "स्पष्टं प्रत्यक्षम्"[1] इति वदतोऽस्मान् प्रति । अभेद एव प्रदीप—प्रकाशयोरिव क्रिया-करणशक्ति-

---

[सर्वज्ञ में कामादि विकार की आपत्ति का निरसन]

सर्वज्ञ को आगमार्थ की भावना से सब पदार्थों का विशद ज्ञान प्राप्त होता है, इस मान्यता के विरोध में प्रतिपक्षी द्वारा जो यह आपत्ति दी जाती है कि-जैसे विशदज्ञान से सम्पन्न भी मनुष्य काम आदि विकारों से अभिभूत होते हैं उसी प्रकार भावना से विशदज्ञान को अर्जित किये हुये सर्वज्ञ भी कामादि विकारों से अभिभूत हो सकते हैं वह आपत्ति व्यर्थ है। सर्वज्ञ के ज्ञान की विशदता के समर्थन में अन्य मनुष्य के भावनामूलक विशदज्ञान का जो दृष्टान्त दिया जाता है वह केवल इतना ही बताने के लिये कि भावना के बल से विशदज्ञान होता है । यह नहीं कि भावनाबल से ज्ञान प्राप्त करनेवाले मनुष्य की सर्वज्ञ में सब प्रकार समानता होती है। अतः साधनीय धर्मी में दृष्टान्त के समस्त धर्मों का आपादान अयुक्त है, क्योंकि यदि साध्य धर्मी में दृष्टांत के समस्त धर्मों का आपादान होगा तब अनुमान मात्र का उच्छेद हो जायगा, क्योंकि उस स्थिति में दृष्टान्त का समानधर्मा पक्ष भी असन्दिग्धसाध्यक अथवा निश्चितसाध्यक ही होगा, फिर उस में साध्य का अनुमान नहीं हो सकेगा, क्योंकि सन्दिग्ध किंवा असिद्ध ही साध्य का अनुमान आनुभविक है ।

[सर्वज्ञविरोधी की अनेक पूर्वपक्षयुक्तियों का निरसन]

सर्वज्ञता को आगमप्रभव मानने पर जो इस दोष का उद्भावन किया गया कि (पृ. १८) 'परोक्ष से अपरोक्षज्ञान की उत्पत्ति कहीं दृष्ट नहीं है, अतः आगमरूप परोक्षप्रमाण से सर्वविषयक अपरोक्षज्ञान का अभ्युपगम असंगत है', वह अज्ञानमूलक है क्योंकि तत्ता के परोक्ष स्मरण से तत्ता की अपरोक्ष प्रत्यभिज्ञा का प्रतिपक्षी ने स्वयं स्वीकार कर रखा है । श्रवण आदि को प्रत्यक्षप्रमा का कारण मानने पर उन में प्रत्यक्षप्रमाणत्व की जो आपत्ति दी गई, व्याख्याकार के मत से वह आपत्ति ठीक ढंग से नैयायिकों को ही हो सकती है क्योंकि वे साक्षात्कारिप्रमा के करण को प्रत्यक्षप्रमाण मानते हैं किन्तु जैनों को वह आपत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि वे स्पष्टज्ञान को प्रत्यक्षप्रमाण मानते हैं। यदि यह शङ्का की जाय कि 'स्पष्टज्ञान तो प्रत्यक्षप्रमा है वह प्रत्यक्षप्रमाण कैसे हो सकता है? क्योंकि दोनों में अभेद होने पर भेदनियत क्रिया-करणभाव न हो सकेगा'-तो यह शङ्का उचित नहीं है क्योंकि जैसे प्रदीप और प्रकाश में वस्तुतः अभेद होने पर भी शक्तिभेद से भेद की उपपत्ति होती है उसी प्रकार क्रिया और

---

१ प्रमाणनयतत्त्वालोके २-२ ॥

भेदोपपत्तेः । योऽपि च 'सर्वज्ञज्ञानेन....' (पृ० १०७-६)इत्यादिप्रसङ्ग उक्तः सोऽपि न युक्तः, उत्पन्नस्य तस्य सर्वथाऽनाशेनोत्तरकालमकिञ्चिज्ज्ञत्वानुपपत्तेः । स्यान्मतम्—द्वितीयादिक्षणे गृहीतग्राहित्वाद् प्रामाण्यापत्तिरिति । मैवम्, अगृहितग्राहित्वस्य प्रमाया अलक्षणत्वात्, धारावाहिकप्रमायामव्याप्तेः, भ्रमेऽतिव्याप्तेश्च । तदुक्तमुदयनेनापि—"अव्याप्तेरधिकव्याप्तेरलक्षणमपूर्वदृग्" इति । अथ 'यथार्थत्वे सति' इति विशेषणाद् नातिव्याप्तिः, धारावाहिके च पूर्वज्ञानजन्यज्ञाततायाः पूर्वज्ञानाऽविषयाया उत्तर-

करण में अभेद होने पर भी शक्तिभेद से भेद की उपपत्ति हो सकती है और इसी भेद से अभिन्न एक वस्तु में भी क्रियाकरणभाव हो सकता है ।

सर्वज्ञ के सम्बन्ध में जो यह आपत्ति दी गई कि-' सर्वज्ञज्ञान से एक क्षण में सर्वार्थग्रहण हो जाने पर उत्तरकाल में सर्वज्ञ में अकिञ्चिज्ज्ञता (कुछ भी न जानने) की आपत्ति होने से उस की सर्वज्ञता का लोप हो जायगा '-यह युक्त नहीं है, क्योंकि सर्वविषयक ज्ञान जब एक बार उत्पन्न हो जाता है तब उसका कदापि नाश नहीं होता, अतः उत्तरकाल में अकिञ्चिज्ज्ञता सर्वाऽविषयकज्ञानवत्ता-अल्पज्ञता की आपत्ति नहीं हो सकती।

[गृहीतग्राहित्व अप्रामाण्यप्रयोजक नहीं है]

यदि यह कहा जाय कि-' उक्त दोष भले न हो किन्तु द्वितीय, तृतीय आदि क्षणों में सर्वज्ञ के ज्ञान में अप्रामाण्य की आपत्ति अनिवार्य है क्योंकि उन क्षणों में वह गृहीत अर्थ का ही ग्राहक होता है और प्रमाण वही होता है जो अगृहीत अर्थ को ग्रहण करता है !'-तो यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि अगृहीत अर्थ को ग्रहण करना, यह प्रमा का लक्षण नहीं है। यतः यदि इसे प्रमा का लक्षण माना जायगा तो धारावाहिक प्रमा में अव्याप्ति होगी क्योंकि वह भी द्वितीय, तृतीय आदि क्षणों में प्रथमक्षण में गृहीत अर्थ को ही ग्रहण करती है। एवं भ्रम में उक्त प्रमालक्षण की अतिव्याप्ति होगी क्योंकि शुक्ति में रजतत्व का ग्राहक भ्रम भी पूर्व में शुक्ति में अगृहीत ही रजतत्व को ग्रहण करता है । उदयनाचार्यने भी इन्हीं दो दोषों से प्रमा के उक्त लक्षण को त्याज्य बताया है, उन्होंने कहा है कि 'अपूर्वदृक्-पूर्व में अज्ञात अर्थ का ग्राहकज्ञान प्रमा है' यह प्रमा का लक्षण नहीं है क्योंकि यह लक्षण धारावाहिक प्रत्यक्ष प्रमा में अव्याप्त और अपूर्व भ्रम में अतिव्याप्त है ।

[लक्षण में यथार्थत्वादि के प्रवेश से दोषपरिहार अशक्य]

यदि यह कहा जाय कि-'उक्त लक्षण में यथार्थत्व का निवेश कर देने से भ्रम में अतिव्याप्ति का परिहार हो सकता है और धारावाहिक ज्ञानों को पूर्वज्ञान से अगृहीत पूर्वज्ञानजन्य ज्ञातता का ग्राहक मान लेने से उन में अव्याप्ति का भी निरास हो सकता है । अतः यथार्थत्व से घटित अगृहीतग्राहिज्ञानत्व को प्रमालक्षण मानने में कोई दोष नहीं है । ऐसी व्यवस्था करने पर यदि ऐसी शङ्का हो कि-" लक्षण में यथार्थत्व के निवेश से भ्रम में अतिव्याप्ति का वारण हो जाने पर भी धारावाहिक प्रमा में अव्याप्ति का वारण जिस रीति से किया गया है, वह रीति ठीक नहीं है क्योंकि गृह्यमाण अर्थ में ज्ञानविषयता के व्यवहार की उपपत्ति यदि ज्ञान से अर्थ में ज्ञातता की उत्पत्ति मान कर की जायगी तो अतीत अनागत

१. न्यायकुसुमाञ्जली चतुर्थस्तबके कारिका ९ ।

ज्ञानविषयत्वाद् नाव्याप्तिः, भाव्यतीतघटादौ घटत्वादिगतज्ञाततयैव धर्म-धर्मिणोरभेदस्वीकारेण घटादेरपि विषयत्वोपपत्तेर्ज्ञाततायाः निरासाऽयोगादिति वाच्यम्[1]; यथार्थत्वमात्रस्यैव लक्षणत्वेऽधिकस्य व्यर्थत्वात्, विषयाऽबाधेन स्मृतेरपि प्रमात्वात्, अन्यापेक्षतया प्रामाण्यस्य चानुमित्यादौ दुर्वचत्वात्, स्वभावविशेषेणैव विषयतानियमे ज्ञाततायाः निरासाच्च; अन्यथा भाविघटप्रकारकभाविभूतलज्ञानादौ

पदार्थों में ज्ञातता की उत्पत्ति सम्भव न होने से उन में ज्ञानविषयता की उपपत्ति न हो सकेगी"-तो यह शङ्का उचित नहीं है क्योंकि अतीत अनागत घट, पट आदि को ग्रहण करनेवाले ज्ञान से घट आदि में ज्ञातता की उत्पत्ति सम्भव न होने पर भी उन के घटत्व आदि विद्यमान धर्मों में ज्ञातता की उत्पत्ति हो सकती है और धर्म एवं धर्मी में अभेद होने से घटत्व आदि में उत्पन्न ज्ञातता का आश्रय घट आदि पदार्थ भी हो सकते हैं। अतः घटत्व आदि में उत्पन्न ज्ञातता से घट आदि में ज्ञानविषयत्व की उपपत्ति सम्भव होने से ज्ञातता का निराकरण न होने के कारण उस के द्वारा धारावाहिक प्रमास्थल में द्वितीय आदि क्षणों में अगृहीतग्राहित्व का उपपादन कर अव्याप्ति का भी परिहार किया जा सकता है"-किन्तु यह ठीक नहीं है क्योंकि लक्षण में यथार्थत्व का निवेश कर देने पर उतने मात्र को ही प्रमा का लक्षण मानना सम्भव होने के कारण शेष अंश व्यर्थ हो जायगा, क्योंकि शेषभाग का उपादान स्मरण में प्रमालक्षण की अतिव्याप्ति के वारणार्थ ही स्वीकार्य हो सकता है, किन्तु विषय का बाध न होने पर स्मरण को भी प्रमा मान लेने में कोई आपत्ति न होने से शेष भाग का उक्त प्रयोजन भी नहीं रह जाता।

यदि यह कहा जाय कि 'स्मरण अन्यापेक्ष-पूर्वानुभवापेक्ष होने से प्रमाण नहीं हो सकता' तब तो अनुमिति आदि में भी प्रामाण्य का उपपादन दुष्कर हो जायगा क्योंकि वह भी अन्यापेक्ष-हेतु में साध्यव्याप्तिग्रहापेक्ष एवं आधाराभावापेक्ष होती है।

[ज्ञान में ज्ञानविषयता का नियमन स्वभाव से]

मुख्य बात तो यह है कि अर्थ में ज्ञानविषयता का नियमन स्वभाव से ही सम्पन्न हो जाता है अर्थात् अर्थ में ज्ञानविषयता के सम्बन्ध में यह मानना ही युक्तिसंगत होता है कि स्वभाव से ही कोई अर्थविशेष किसी ज्ञानविशेष का विषय होता है, उस के नियमनार्थ किसी अन्य की आवश्यकता नहीं होती। अतः ज्ञातता का अस्तित्व ही असिद्ध होने से उसके द्वारा धारावाहिक प्रमा में अगृहीतग्राहित्व का उपपादन दुःसम्भाव है। यह ध्यान देने की बात है कि ज्ञानविषयता को स्वभावनियम्य ही माना जा सकता है, ज्ञाततानियम्य नहीं माना जा सकता, क्योंकि यदि ज्ञानविषयता ज्ञाततानियम्य होगी तो भावी घट और भावीभूतल को विषय करनेवाले 'घटवद्भूतलं भविता' इस ज्ञान की विषयता भावी घट और भावी भूतल में कथमपि उपपन्न न हो सकेगी क्योंकि भावी घट और भावी भूतल, ज्ञान के समय अविद्यमान हैं अतः उन में ज्ञातता की उत्पत्ति नहीं हो सकती। यद्यपि घटत्व, भूतलत्व में वह उत्पन्न हो सकती है और घटत्व, भूतलत्व में विद्यमान ज्ञातता से घट और भूतल में तो स्वतन्त्र ज्ञानविषयता की उपपत्ति हो सकती है पर उस से घटविशिष्टभूतल में ज्ञानविषयता की उपपत्ति कैसे हो सकेगी, हाँ, यदि घट और भूतल में भी अभेद होता तो घटत्वगत ज्ञातता घट के समान भूतल में भी होती और भूतलत्वगत ज्ञातता भूतल के समान घट में भी होती तो कदाचित्

---

१. 'वाच्यम्' इति पदमत्र 'इति चेत्' इत्यर्थे प्रयुक्तं द्रष्टव्यम्।

गत्यभावात् । न हि घट-भूतलयोरप्यभेदो भट्टानामभिमत इति दिग् ।

यदपि 'किञ्च, परसंतानवर्तिरागादिसाक्षात्करणादस्य रागादिमत्त्वमपि स्यात्' (पृ० १८–५)इत्युक्तम्; **तदपि** न चेतोहरम्, न हि रागादिसंवेदनमात्रं रागादिनिमित्तम्, किन्तु तथापरिणाम इति; अन्यथा स्वप्ने मद्यपानानुभवे, 'मद्यं पीतम्' इति शब्दार्थनिबोधे वा श्रोत्रियस्य मद्यपत्वनिमित्तकप्रायश्चित्त-प्रसङ्गात् । **यदप्यभाणि**–'अपि च अतीतकालाद्याकलितस्य वस्तुनः' (१८–१) इत्यादि; **तदप्यसारम्**, अतीतादेरतीतत्वादिनैव केवलज्ञानेन ग्रहणात्, स्पष्टतया प्रत्यक्षत्वोपपत्तेः, वर्तमानतायास्तत्राऽतन्त्रत्वात्; अन्यथा वर्तमानार्थानुमित्यादावगतेः । न चातीतादेरसत्त्वाद् न तद्ग्रह इति शङ्कनीयम्, वर्तमानस्य

उन दोनों शालाओं से भिन्न घट पारिभाषिक भूतल में ज्ञानविषयता की उपपत्ति होती पर घट और भूतल का अभेद तो ज्ञातताबादी भट्ट को भी मान्य नहीं है ।

[परकीयरागादि के साक्षात्कार से कोई आपत्ति नहीं है]

सर्वज्ञ के विरोध में जो यह बात कही गई है कि-' सर्वज्ञ को सर्वविषयक प्रत्यक्ष होने से उसे परसन्तान यानी छद्मस्थ जीव में विद्यमान राग आदि का भी साक्षात्कार अवश्य होगा । अतः सर्वज्ञ में अपना राग न होने पर भी अन्य राग से रागित्व की आपत्ति होगी '– यह ठीक नहीं है क्योंकि रागादि का संवेदन=साक्षात्कार रागादिमत्ता का निमित्त नहीं है किन्तु रागाद्यात्मक परिणाम उस का निमित्त है । सर्वज्ञ यतः क्षीणघातीकर्मा होता है अतः रागादिरूप में उसका परिणाम न होने से उस में रागादिमत्ता की आपत्ति नहीं हो सकती और यदि तत्तद् अर्थ के संवेदन को ही तत्तद् अर्थ के सम्बन्ध का निमित्त माना जायगा तो स्वप्न में मद्यपान का अनुभव होने पर, अथवा अन्य मनुष्य के ' मया मद्यं पीतम् ' इस वाक्य से मद्यपान का शाब्द अनुभव होने पर, श्रोत्रिय=वेदोक्त आचार सम्पन्न पुरुष में भी मद्यपान का सम्बन्ध हो जाने से उसे मद्यपान के प्रायश्चित्त की आपत्ति होगी ।

[सर्वज्ञज्ञान भ्रान्त हो जाने की आपत्ति निरवकाश]

सर्वज्ञता के विरोध में जो एक बात यह कही गई कि–' सर्वज्ञ के प्रत्यक्ष को अतीत आदि पदार्थ का ग्राहक मानने पर उन पदार्थों के विषय में भी सर्वज्ञज्ञान की प्रत्यक्षरूपता की उपपत्ति के लिये सर्वज्ञ प्रत्यक्ष को वर्तमानत्वरूप से अतीतादि का ग्राहक मानने से उस में भ्रमत्व की आपत्ति होगी '–यह ठीक नहीं है क्योंकि केवलज्ञान अतीत आदि पदार्थों को अतीतत्व आदि रूप में ही ग्रहण करता है । उन पदार्थों में भी उस की प्रत्यक्षरूपता उन पदार्थों के स्पष्ट भान के कारण होती है । क्योंकि वर्तमानग्राहिता ज्ञान की प्रत्यक्षता का नियामक नहीं होती, अन्यथा वर्तमान अर्थ को ग्रहण करनेवाले अनुमिति आदि ज्ञानों में भी प्रत्यक्षरूपता की आपत्ति का परिहार न हो सकेगा ।

यदि यह कहा जाय कि–' अतीत आदि की सत्ता न होने से उस का ग्रहण नहीं हो सकता क्योंकि सत्ताशून्य का ग्रहण मानने पर आकाशपुष्प आदि अनन्त सत्ताशून्यों के प्रत्यक्षग्रहण की आपत्ति होगी '–तो यह ठीक नहीं है क्योंकि यह सत्य है कि जिस की सत्ता नहीं होती, प्रत्यक्ष द्वारा उस का ग्रहण नहीं होता, पर अतीत आदि सत्ताशून्य नहीं हैं किन्तु वे भी अपने काल में सत्तायुक्त हैं और यदि उन्हें अपने काल में सत्तायुक्त न माना जायगा

वर्तमानकालसंबन्धित्वेनैवातीतादेरपि स्वकालसंबन्धित्वेन सत्त्वात्; अन्यथा निखिलशून्यताप्रसङ्गात्। एतेन 'अपि च वस्तुनः....' (१८-३) इत्याद्यपि निरस्तम्, यथाकालं वस्तुनो ध्वंस-प्रागभावभावेन युगपज्जात-मृतव्यपदेशाऽनापत्तेः। यदपि 'किञ्च, सर्वज्ञकालेऽपि....' (१८-४) इत्यादि न्यगादि; तदपि न साधु, विषयाऽपरिज्ञाने विषयिणोऽप्यपरिज्ञानाभ्युपगमे सकलवेदार्थपरिज्ञानाऽनिश्चये तद्व्याख्यातार्थाश्रयणादग्निहोत्रादौ स्वप्रवृत्तिव्याघातात्, व्याकरणादिसकलशास्त्रार्थाऽपरिज्ञाने व्यवहारिणां तदर्थज्ञतानिश्चयानुपपत्तेश्च।

तो वर्तमान पदार्थ भी अपने काल में सत्तायुक्त न होंगे। क्योंकि इस बात में कोई युक्ति नहीं है कि अतीत आदि अपने काल में सत्तायुक्त नहीं और वर्तमान अपने काल में सत्तायुक्त हो, फलतः सर्वशून्यता की प्रसक्ति होगी।

[समानकाल में उत्पाद–व्यय के व्यवहार की आपत्ति का परिहार]

सर्वज्ञता के विरोध में जो यह बात कही गई कि-'जो सर्वज्ञ होगा वह एककाल में अतीत; अनागत, वर्तमान सभी पदार्थों का साक्षात्कार करेगा। फलतः उसे वस्तु के जन्म और मरण का एकसाथ ही ज्ञान होने से इस प्रकार के व्यवहार की आपत्ति होगी कि यह वस्तु जिस समय उत्पन्न हुई उसी समय नष्ट हुई, एवं यह मनुष्य जिस समय पैदा हुआ उसी समय मर गया'-यह ठीक नहीं है क्योंकि वस्तु का ध्वंस और प्रागभावाभाव=जन्म यथोचितकाल में होता है। एक ही काल में नहीं होता, सर्वज्ञ को वस्तु के जन्म और ध्वंस दोनों का ज्ञान एक समय में ही अवश्य होता है, पर जिस वस्तु का जिस काल में जन्म होता है उस काल में ही उस के जन्म का और जिस काल में ध्वंस होता है उस काल में ही उस के ध्वंस का ज्ञान होता है न कि जिस काल में ज्ञान पैदा होता है उस काल में उस का जन्म और ध्वंस होने का ज्ञान होता है। अतः उक्त आपत्ति नहीं हो सकती।

[सर्वज्ञ के विना भी सर्वज्ञ का ज्ञान शक्य]

सर्वज्ञता के विरोध में जो दूसरी बात यह कही गई कि 'सर्वज्ञ का अस्तित्व किसी काल में नहीं सिद्ध हो सकता क्योंकि जिस काल में सर्वज्ञ का अस्तित्व सर्वज्ञवादी को मान्य है उस काल में भी 'यह सर्वज्ञ है' इस प्रकार का ज्ञान किसी को नहीं होता क्योंकि सर्वज्ञता का ज्ञान सर्वज्ञानाधीन है और सर्वज्ञान किसी असर्वज्ञ को सम्भव नहीं है तो फिर उस समय भी जब उस का अस्तित्व है यह किसी को ज्ञात नहीं हो सकता तो समयान्तर में जब उस की सत्ता सर्वज्ञवादी की भी दृष्टि में नहीं है तब उस का अस्तित्व कैसे सिद्ध हो सकता है क्योंकि जो किसी भी समय ज्ञात न हो सके उस के अस्तित्व को स्वीकार करने का आधार ही क्या रह जाता है?'

विचार करने पर यह बात भी ठीक नहीं जँचती, क्योंकि सर्वज्ञ के अस्तित्वकाल में उस समय विद्यमान लोगों को उस का ज्ञान होना सर्वथा सम्भव है। उस के ज्ञान की असम्भाव्यता में जो यह कारण बताया गया कि 'सर्व का ज्ञान न होने से सर्वज्ञ का ज्ञान दुर्घट है' वह ठीक नहीं है क्योंकि विषय का ज्ञान न होने से यदि विषयी का ज्ञान न माना जायगा तो सकल वेदार्थ का ज्ञान न होने से सकलवेदार्थज्ञ का भी ज्ञान न होगा, फलतः उस के द्वारा किये गये वेदव्याख्यान में श्रद्धा न हो सकने से उस के व्याख्यान के आधार पर अग्निहोत्र आदि वैदिक कर्मों में मनुष्य की प्रवृत्ति का लोप हो जायगा। एवं व्याकरण आदि सकल

यदपि 'किञ्च, नित्यसमाधानसंभवः' (१९-१) इत्याद्यभिहितम्; तत्रापि न सुष्ठ्वभिहितम्, मन्त्राविष्टकुमारिकावद् विकल्पाभावेऽपि केवलिनो वचनोपपत्तेः। 'धर्मविशेषहेतुकं मन्त्राविष्टकुमारिकावचनं न विकल्पमपेक्षत' इति चेत्? केवलिवचनमपि किं न तथा, अर्थाववोधस्य तत एव सिद्धेः!; यदागमः

"[1]केवलनाणेणत्थे णाउं जे तत्थ पन्नवणजोग्गे।
ते भासइ तित्थयरो वइजोगसुअं हवइ सेसं[2] ॥१॥" [आव०नि० ७८]

इत्थं च रागाद्यभावे वचनादिप्रवृत्तिरपि व्याख्याता, तदभावेऽप्यदृष्टविशेषात् तदुपपत्तेः, तीर्थंकरनामवेदनार्थत्वाद् भगवद्देशनायाः, "तं च कहं वेइज्जई अगिलाए धम्मदेसणाईहिं"(आव०नि०७४३)

शास्त्रों के समूचे अर्थ का ज्ञान न होने से उन शास्त्रों के अभिज्ञ का भी ज्ञान न हो सकने के कारण 'अमुक व्यक्ति महान वैयाकरण=सम्पूर्णव्याकरणविद्' है एवं 'अमुक व्यक्ति महान नैयायिक=सम्पूर्णन्यायशास्त्र का विद्वान है' इन व्यवहारों की उपपत्ति न हो सकेगी। अतः विषयी के ज्ञान में विषयज्ञान की कारणता का परित्याग कर देना आवश्यक होने से, सर्वज्ञ का ज्ञान न होने पर सर्वज्ञान का ज्ञान सम्भव न होने मात्र से सर्वज्ञ का ज्ञान होने में कोई कठिनाई नहीं हो सकती।

[वचनप्रयोग से समाधि का भंग नहीं होता]

आगम की सर्वज्ञमूलकता के विरुद्ध जो यह बात कही गई कि–'सर्वज्ञ केवली सभी समय समाधिस्थ होता है, अतः उस के द्वारा वचनप्रयोग सम्भव न होने से वह 'आगम' का प्रणेता नहीं हो सकता'–वह भी सावधानीपूर्वक नहीं कही गई क्योंकि समाधि से भंग न होने पर भी उसके वचन की उपपत्ति हो सकती है। आशय यह है कि जैसे-मन्त्राविष्ट-मन्त्रद्वारा बाह्यव्यापार से विरत की हुई कुमारी कन्या उस अवस्था में भी मन्त्रप्रभाव से वचनप्रयोग करती है उसी प्रकार केवली समाधि=बाह्यव्यापार से वैमुख्य की दशा में भी अपने निरतिशय ज्ञानप्रभाव से वचनप्रयोग कर सकते हैं। यदि यह कहा जाय कि–'मन्त्राविष्ट कुमारी का वचन धर्मविशेष से उद्भूत होता है अतः वचनप्रयोग के लिये विकल्प=बाह्यव्यापारनिष्ठता की अपेक्षा नहीं होती तो यह बात केवली के वचनप्रयोग के सम्बन्ध में भी क्यों नहीं कही जा सकती! क्योंकि केवली के उक्तरीति से प्रकट वचन से भी अर्थबोध होने में कोई बाधा नहीं है, जैसा कि आगम में कहा गया है कि—

तीर्थंकर केवलज्ञान द्वारा समस्त पदार्थों को जान लेते हैं, उन में जो अभिलाप योग्य होते हैं, उन्हें बताने के लिये वचनप्रयोग करते हैं, वह वचनराशि वाग्योग ही होता है किन्तु शेष यानी उपचार से वह श्रुत-कहलाता है।

सर्वज्ञ द्वारा आगमप्रणयन की असम्भाव्यता बताने के सन्दर्भ में जो यह बात कही गई कि 'केवली में राग, द्वेष आदि का अभाव होता है, अतः वचन प्रयोग में उसकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती क्योंकि वचनप्रयोग में मनुष्य की प्रवृत्ति रागादिमूलक ही होती है' यह भी उचित नहीं है क्योंकि रागादि के अभाव में भी वचनप्रयोग में केवली की प्रवृत्ति उसके अदृष्टवश हो सकती है क्योंकि 'तच्च कथं वेद्यते? अग्लानया धर्मदेशनयेह'–केवली का कर्मदोष उस की

१. केवलज्ञानेनार्थान् ज्ञात्वा ये तत्र प्रज्ञापनयोग्याः। तान् भाषते तीर्थंकरो वाग्योगश्रुतं भवति शेषम् ॥१॥
२. मुद्रितावश्यकनिर्युक्तौ पृ. १२। ३. तच्च कथं वेद्यते अग्लानया धर्मदेशनयेह।

इत्याद्यागमप्रामाण्यात् । न चैवमदृष्टस्य दृष्टघातकत्वापत्तिः, दृष्टहेतुवैचित्र्यस्याप्यदृष्टनियम्यत्वात् । देशना-बीजं भगवतो निरुपधिपरदुःखप्रहाणेच्छा न रागः, सामायिकचिद्विवर्त्तरूपत्वात् । अत एव "तो मुअइ नाणवुट्ठिं भविअजणविबोहणट्ठाए" [आव०नि० ८९] इत्यागमोक्तिरित्यपि वदन्ति । न चैवं कृतकृत्यत्व-हानिः, क्षीणघातिकर्मकत्वेन कथञ्चित्कृतकृत्यत्वेऽपि जीवदघातिकर्मविपाकभाजनतया सर्वथा तत्त्वा-ऽसिद्धेः । आह च **भाष्यकृत्**–

"णेगंतेण कयत्थो जेणोदिन्नं जिणिंदनामं से । तदवंझफलं, तस्स य खवणोवाओऽयमेव जओ ॥१॥"

उत्कृष्ट धर्मदेशना से वेद्य होता है' इस आशय के आगमप्रमाण से यह सिद्ध है कि भगवान् का धर्मोपदेश उन के तीर्थकरनामकर्म का फल है।

[दृष्टकारणविघात की आपत्ति का निरसन]

यदि यह शङ्का की जाय कि 'अदृष्ट से सीधे कार्य का उत्पाद मानने पर दृष्टकारण का विघात होगा क्योंकि सर्वत्र सभी कार्य अदृष्ट से सीधे सम्पन्न हो जायेंगे'–तो यह ठीक नहीं है क्योंकि दृष्ट कारणों का वैचित्र्य भी अदृष्ट से ही नियम्य है। कहने का आशय यह है कि यह देखा जाता है कि कभी जिस कार्य को करने में अनेक साधनों की अपेक्षा होती है वही कालान्तर में थोडे ही साधनों से सम्पन्न हो जाता है। एवं जिस कार्य को करने के लिये कुछ लोग बडा प्रयत्न करता है उसे ही कुछ अन्य लोग थोडे ही प्रयत्न से कर डालते हैं, तो कार्यों के उत्पादन के सम्बन्ध में जो यह वैषम्य उन के दृष्ट हेतुओं में देखा जाता है वह कर्ता के अदृष्टवैचित्र्य से ही होता है। अतः किसी कार्य को स्थितिविशेष में सीधे अदृष्टजन्य मानने पर दृष्ट हेतुओं के सर्वथा लोप की प्रसक्ति नहीं हो सकती किन्तु कतिपयदृष्टहेतुओं का त्यागमात्र सिद्ध होता है। अथवा एक हेतु के बदले अन्य हेतु की अपेक्षा सिद्ध होती है। फलतः भगवान के उपदेश के विषय में यह कहा जा सकता है कि भगवान् जो उपदेश करते हैं वह राग से नहीं किन्तु अन्य जीवों के दुःख को दूर करने की निःस्वार्थकामना से करते हैं। उन के उपदेश में राग की अपेक्षा नहीं होती किन्तु समभावयुक्त चैतन्य के विवर्त्तरूप इच्छा होती है। वह चैतन्य का परिणामरूप होने से केवली में भगवान् का उपदेश रागमूलक न होकर कृपामूलक है इस सत्य की पुष्टि एक आगमवचन से भी होती है जिस का अर्थ यह है कि–"केवली समग्र पदार्थ का साक्षात्कार प्राप्त कर लेने पर भव्यजनों के अवबोधनार्थ ज्ञान की वृष्टि करते हैं।"

यदि यह शङ्का हो कि–'केवली में कर्तृत्व मानने पर उसकी कृतकृत्यता का व्याघात होगा, केवली होने पर भी वह अकृतार्थ रहेगा'–तो इस का उत्तर यह है कि केवली पूर्णरूप से कृतकृत्य नहीं ही होता, क्योंकि जो अघातीकर्म उसे कैवल्यअवस्था में भी जीवित रखते हैं उन के फल का भोग उसे करना ही होता है, अतः वह कृतकृत्य केवल उन घाती कर्मों के ही कार्यों के विषय में होता है जिन्हें वह चारित्र के प्रखर तेज से दग्ध कर चुका होता है। भाष्यकारने कहा भी है कि 'केवली एकान्त रूप से कृतकार्य नहीं हो जाता क्योंकि तीर्थकर नाम कर्म का उदय प्रवर्त्तमान है, वह अवन्ध्यफल होता है, उसके फल का अवरोध

---

१. ततो मुञ्चति ज्ञानवृष्टिं भविकजनविबोधनार्थतया । २. मुद्रितावश्यकनिर्युक्तौ पृ. १४ । ३. विशेषावश्यक भाष्ये गाथा–११०३ । ४. नैकान्तेन कृतार्थो येनोदीर्णं जिनेन्द्रनाम तस्य । तदवन्ध्यफलं, तस्य च क्षपणोपायोऽयमेव यतः ॥१॥

ये तु जैनाभासाः परोक्तदोषभीता अक्षररूपाया वाचो रागनियतत्वाद् नियत्यैव मुखाद् मूर्ध्नो निरित्वरीं ध्वनिरूपामेव पारमेश्वरीं वाचमुपयन्ति; तेऽभिनिवेशलुप्तविवेकाः, ध्वनिरूपायास्तस्याः प्रतिसर्वज्ञं श्रोतृभाषापरिणामवदक्षरपरिणामाऽयोगात्, अव्यक्तैकरूपतया सत्या-असत्यामृषादल्द्वयनिष्पादकवाग्योगद्वयवैयर्थ्यात्, "अद्धमागहीए भासाए भासंति" इति सूत्रविरोधात्; नियत्यैव प्रयत्नं विना वचनोपपत्तौ च तथैव तद्विनापि परानुग्रहोपपत्तेः। ध्वनेरपि पौरुषेयतयाऽक्षररूपतया तुल्ययोगक्षेमत्वात्, अन्यथा बाह्यमतप्रवेशाच्चेत्यन्यत्र विस्तरः।

यदप्युक्तम्–'न च रागादीनामावरणत्वमपि प्रसिद्धम्, कुड्यादीनामेव ह्यावारकत्वप्रसिद्धिः' (पृ० १९-५)इति; तदपि न क्षोदक्षमम्, कुड्यादीनामेव स्वातन्त्र्येणावरणत्वाऽसिद्धेः, तद्व्यवहितानामप्यर्थानां

नहीं होता, उसे निवृत्त करने का एक ही उपाय है, वह यह कि वह जगत के जीवों को आत्मोद्धार के मार्ग का उपदेश करे।'

[निरक्षरभगवद्भाषा–वादी दिगंबर मत का परिहार]

भगवान की भाषा के सम्बन्ध में कतिपय परोक्त दोष से भयभीत जैनाभास=दिगम्बरों का मत है कि भगवान् की भाषा अक्षरात्मक नहीं हो सकती क्योंकि वह रागादिनियत होती है और भगवान में रागादि का अभाव है। अतः भगवान की भाषा ध्वनिरूप है और वह नियतिवश ही मुख या मूर्धा से निर्गत होती है; व्याख्याकार के शब्दों में ऐसा कहनेवाले जैनाभासों का विवेक आग्रहवश लुप्त है क्योंकि भगवान् की ध्वनिरूप भाषा का प्रति सर्वज्ञ में श्रोतृभाषा परिणाम के समान अक्षरपरिणाम नहीं हो सकता तथा वह केवल अव्यक्तरूप होने से उस के सत्य तथा असत्याऽमृषा–ऐसे दो वाग्योग स्वीकार करना व्यर्थ हो जायेगा। तथा निरक्षरत्व की कल्पना 'भगवान् अर्धमागधी में भाषण करते हैं' इस सूत्रोक्ति से विरुद्ध है। दूसरी बात यह है कि प्रयत्न के बिना भी केवल नियति से ही भगवद्भाषा की उपपत्ति करने पर यह भी कहा जा सकेगा कि जैसे बिना प्रयत्न के केवल नियति से ही भगवान की भाषा उपपन्न हो सकती है उसी प्रकार भाषा के बिना केवल नियति से ही परानुग्रह की भी उपपत्ति हो सकती है। अतः भगवान के वचन का भी अभ्युपगम निरर्थक है। साथ ही यह भी कहा जा सकता है कि अक्षर के समान ध्वनि भी पौरुषेय है। दोनों का योगक्षेम एक जैसा है, अतः रागादि के अभाव में पुरुष यदि अक्षरमय भाषा का प्रयोग नहीं कर सकता तो ध्वनिमय भाषा का भी प्रयोग नहीं कर सकता। यदि ऐसा न माना जायगा तो बाह्यमत का प्रवेश होगा अर्थात् जैसे जैनेतर दर्शन मीमांसा में शब्द की नित्यता मान्य है, उसी प्रकार जैन दर्शन में भी शब्द नित्यता की मान्यता प्रसक्त होगी। इस विषय का विस्तृत विचार अन्यत्र प्राप्य है।

[रागादि दोष में आवारकत्व का उपपादन]

प्रस्तुत सन्दर्भ में एक बात यह कही गई थी कि 'आवारकत्व कुड्य=दीवार आदि में ही प्रसिद्ध है और राग आदि में आवरणत्व असिद्ध है।' विचार करने पर यह बात भी ठीक नहीं जँचती, क्योंकि स्वतन्त्र रूप से कुड्य आदि में ही आवरणत्व असिद्ध है। यतः स्वप्रा-

---

१ अर्धमागध्यां भाषायां भाषन्ते।

सत्यस्वप्नज्ञानेन स्वप्नदशायां, जाग्रद्दशायां च शब्दलिङ्गाऽक्षव्यापाराभावेऽपि 'श्वो भ्राता मे आगन्ता' इत्याद्याकारेण प्रातिभेन च ग्रहणात्, सकलार्थग्रहणस्वभावे ज्ञाने प्रतिबिम्बस्वभाव आदर्शे मलस्येव रागादीनामेवावरणत्वौचित्यात् । अथ रागादीनामावारकत्वेऽपि कथमात्यन्तिकः क्षयः ? इति चेत् ? सम्यग्दर्शन–वैराग्यादीनां परमप्रकर्षेण; 'यदुत्कर्षतारतम्याद् यस्यापचयतारतम्यं तस्य परमप्रकर्षे तदत्यन्तं क्षीयते, यथोष्णस्पर्शस्य परमप्रकर्षे शीतस्पर्शः' इति नियमात् । न च लङ्घन–उदकतापादिवदभ्यस्यमानस्यापि सम्यग्दर्शन-वैराग्यादेर्न परमप्रकर्षप्राप्तिरिति शङ्कनीयम्, पूर्वप्रयत्नसाध्यस्य लङ्घनस्य व्यवस्थितत्वाभावेनोत्तरोत्तरप्रयत्नानामपरापरलङ्घनातिशयोत्पत्तौ व्यापाराऽयोगेन तत्परमप्रकर्षाऽसिद्धेः, व्यायामानपनीतश्लेष्मानासादितपटुभावतयैव कायेन भाव्यावलङ्घयितव्यस्यालङ्घनात् । न च विज्ञानस्यापि

वस्था में दीवार आदि से व्यवहित पदार्थ का भी सत्यस्वप्नात्मकज्ञान से ग्रहण होता है। एवं जाग्रद् अवस्था में भी शब्द, लिङ्ग तथा इन्द्रिय का व्यापार न होने पर भी प्रातिभज्ञान से उस का ग्रहण होता है। यह ग्रहण उसी प्रकार होता है जैसे किसी कुमारी को कभी कभी 'कल ही मेरा भाई आयेगा' इस प्रकार अपने दूरस्थ भाई के भावी आगमन का ग्रहण हो जाता है। अतः यही मानना ही उचित है कि जैसे स्वभावतः प्रतिबिम्बग्राही दर्पण में मल-आवरण होता है उसी प्रकार स्वभावतः समस्तपदार्थों को ग्रहण करने में सक्षम ज्ञान में राग आदि आवरण होता है।

यदि यह प्रश्न हो कि जब राग आदि आवारक है तो उस का आत्यन्तिक क्षय कैसे होगा ? तो इस का उत्तर यह है कि सम्यग्दर्शन एवं वैराग्य आदि के परम प्रकर्ष से उस का आत्यन्तिक क्षय हो सकता है। 'उष्णस्पर्श के परमप्रकर्ष से शीतस्पर्श के आत्यन्तिक क्षय' के दृष्टान्त से यह नियम सिद्ध है कि जिस के उत्कर्षतारतम्य से जिस के अपचय का तारतम्य होता है उस का परमप्रकर्ष होने पर उस का अत्यन्तक्षय होता है। इस नियम के अनुसार सम्यगदर्शन आदि का परमप्रकर्ष होने पर राग आदि का अत्यन्त क्षय होना सिद्ध हो सकता है क्योंकि सम्यगदर्शन आदि का ज्यों ज्यों उत्कर्ष होता है, राग आदि का त्यों त्यों अपचय देखा जाता है।

[अभ्यास से परमप्रकर्षाभाव की शंका का परिहार]

यदि यह शङ्का की जाय कि-'जैसे पुनः पुनः अभ्यास करने पर भी लङ्घन और उदकताप आदि का परमप्रकर्ष नहीं होता अर्थात् लङ्घन का बराबर अभ्यास करने पर भी मनुष्य सारी भूमि का लङ्घन नहीं कर पाता एवं उदक को पुनः पुनः अग्नि से तप्त करने पर भी वह अग्नि नहीं बन जाता उसी प्रकार सम्यगदर्शन एवं वैराग्य आदि का अत्यन्तदीर्घकाल तक निरन्तर अभ्यास करने पर भी परमप्रकर्ष नहीं हो सकता'-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि पूर्वप्रयत्न से उत्पन्न लङ्घन स्थिर न होने से अन्यान्य सातिशय लङ्घन को उत्पन्न करने में उत्तरोत्तर प्रयत्न का व्यापार नहीं हो पाता। इसीलिये लङ्घन के अभ्यास से लङ्घन का तारतम्य होने पर भी परमप्रकर्ष नहीं होता। यदि यह पूछा जाय कि 'जब लंघनाभ्यास से कोई अतिशयाधान नहीं होता तो तीसरे-चौथे-पाँचवे लंघन के प्रयत्न में जो कुछ अधिक लंघन होता है वही पहले प्रयत्न से क्यों नहीं होता'-तो उत्तर यह है कि उत्तरोत्तर लंघन प्रयत्न

प्राक्तनाभ्यासादासादितातिशयस्य शीघ्रमेव विनाशादव्यवस्थिततयाऽपराभ्यासादन्यस्यैवातिशयवतो ज्ञानस्योत्पत्तेर्न परमप्रकर्षसिद्धिरिति वाच्यम्; तत्र पूर्वाभ्यासजनितसंस्कारस्योत्तरत्रानुवृत्तेः, अन्यथा शास्त्रपरावर्तनादिवैयर्थ्यप्रसङ्गात्। उदकतापे त्वतिशयेन क्रियमाणे तदाश्रयस्यैव क्षयाद् नातिताप्यमानमप्युदकमग्निरूपतामासादयति, विज्ञानस्य त्वाश्रयोऽभ्यस्यमानेऽपि तस्मिन् न क्षयमुपयाति, इति कथं तस्य व्यवस्थितोत्कर्षताऽशक्यता वक्तुम्?! न च 'यदुत्कर्षतारतम्यात्....' इत्यादिव्याप्तौ निम्बाद्यौषधोपयोगप्रकर्षतारतम्यानुविधाय्यपचयतारतम्यवता श्लेष्मणा व्यभिचारः, तत्र निम्बाद्यौषधोपयोगपरमप्रकर्षस्यैवाऽसिद्धेः, तदुपयोगेऽपि श्लेष्मपुष्टिकारणानामपि तदैवासेवनात्; अन्यथौषधोपयोगाधारस्यैव विनाशप्रसङ्गात्, चिकित्साशास्त्रस्य धातुदोषसाम्यापादनाभिप्रायेणैव प्रवृत्तेः, तत्प्रति-

---

एक व्यायाम है जिस से श्लेष्म का दोष दूर होता है और देह को पटुता=चपलता प्राप्त होती है। पहले प्रयत्न में श्लेष्म का दोष दूर नहीं होने से पटुताके अभाव में उतना लङ्घन नहीं हो पाता जितना अग्रिम प्रयत्न से हो सकता है।

यदि यह कहा जाय कि-'विज्ञान की भी स्थिति तो लङ्घन की ही स्थिति के समान है क्योंकि प्राक्तन अभ्यास से जो सातिशयज्ञान उत्पन्न होता है, शीघ्र विनाश हो जाने से वह भी स्थिर नहीं होता। अतः नये अभ्यास से नये ही सातिशयज्ञान की उत्पत्ति न होने से पूर्वजात विज्ञान का भी परमप्रकर्ष नहीं हो सकता'-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि पूर्वाभ्यासजनित विज्ञान से उत्पन्न संस्कार स्थिर रहता है अतः उस की सहायता से उत्तरोत्तर अभ्यास से संस्कार में अतिशयाधान द्वारा ज्ञान का परमप्रकर्ष हो सकता है क्योंकि यदि ऐसा न हो तो शास्त्र के पुनः पुनः अध्ययन की कोई सार्थकता नहीं हो सकती।

पुनः पुनः ताप करने पर भी उदकताप का जो परमप्रकर्ष नहीं होता उस दृष्टान्त से भी ज्ञान के परमप्रकर्ष की अनुपपत्ति की शङ्का करना उचित नहीं है-क्योंकि उदक का अतिशय ताप करने पर ताप के आश्रय उदक का ही नाश हो जाता है तो फिर निराश्रयताप के परमोत्कर्ष की सम्भावना कैसे हो सकती है। पर विज्ञान की बात उस से अत्यन्त भिन्न है क्योंकि विज्ञान का अधिकाधिक अभ्यास होने पर भी उस के आश्रय का नाश नहीं होता अतः उस के उत्कर्ष को अव्यवस्थित कह कर उस के परमप्रकर्ष की अशक्यता कैसे बतायी जा सकती है?!

[उत्कर्ष—अपकर्ष के उक्त नियम के भंग की शङ्का का परिहार]

यदि यह शङ्का हो कि-'जिस के उत्कर्षतारतम्य से जिस के अपचय का तारतम्य होता है उस के परमप्रकर्ष से उस का अत्यन्त क्षय होता है' यह नियम श्लेष्मा=कफ में व्यभिचरित है, क्योंकि निम्ब आदि औषधों के सेवन से उत्कर्षतारतम्य से कफ के अपचय का तारतम्य होने पर भी कफ का अत्यन्त क्षय नहीं होता अतः उक्त नियम के असिद्ध होने से उस के बल से सम्यग् ज्ञानादि के परमप्रकर्ष से रागादि के अत्यन्त क्षय की सिद्धि नहीं की जा सकती'-तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि कफनाशक औषधियों के सेवनकाल में कफ के पोषक तत्त्वों का भी सेवन होते रहने से निम्ब आदि औषधियों के सेवन का परमप्रकर्ष कभी हो ही नहीं पाता। अन्यथा यदि कफ के नाशक औषधि का ही प्रकृष्ट सेवन होता रहे तो औषधसेवन के आधारभूत शरीर का ही नाश हो जाय। बात यह है कि चिकित्साशास्त्र

पादितौषधोपयोगस्योद्रिक्तधातुदोषसाम्यविधान एव व्यापारात्, तदत्यन्तनिर्मूलने तद्व्यापारे च दोषान्तरस्याप्यत्यन्तक्षये श्लेष्माद्यधिष्ठितशरीरानवस्थानात्। न च सम्यग्दर्शनादिपरमप्रकर्षेऽपि पुन-र्मिथ्याज्ञानादिप्रवृत्तिसंभवाद् न वाञ्छितासिद्धिरिति वाच्यम्; प्रकृष्टेऽपि मिथ्याज्ञानादौ दोषदर्शनात् तद्विपक्षे च गुणदर्शनादभ्यास–प्रवृत्त्युपपत्तावपि प्रकृष्टसम्यग्ज्ञानादि–तद्विपक्षयोर्दोष–गुणाऽदर्शनात् तदनुपपत्तेः, इति वदन्ति। अभ्यासः क्षयोपशमवृद्धावुपयुज्यते, सा च क्षायिकभावोत्पत्ताविति तत्त्वम् ॥१८॥

परोदितधर्माऽधर्मव्यवस्थानिमित्तं विचारयति—

वेदाद्धर्मादिसंस्थापि हन्तातीन्द्रियदर्शिनम्। विहाय गम्यते सम्यकुत एतद्विचिन्त्यताम् ॥१९॥

वेदाद् **धर्मादिसंस्थापि**=परोदिता धर्मादिव्यवस्थापि, 'हन्त' खेदे, **अतीन्द्रियदर्शिनं**=धर्मादिसाक्षात्कारिणं प्रमातारम् **विहाय**=अनादृत्य **कुतः**=केनोपायेन **सम्यक्**=यथावत्, गम्यते? एतद् **विचिन्त्यताम्**=उपयुज्य विमृश्यताम् ॥१९॥

धातुदोषों में समता लाने के लिये ही प्रवृत्त है। अतः उस से उपदिष्ट औषध का सेवन धातु के बढ़े हुये दोष को दूर करने के लिये ही किया जाता है। यदि दुष्ट धातु के अत्यन्त निर्मूलन तक औषध सेवन किया जाय तो दोषान्तर का भी अत्यन्त क्षय होने से कफाश्रित शरीर की स्थिति ही समाप्त हो सकती है।

यदि यह शङ्का हो कि-'सम्यग् दर्शन आदि का परमप्रकर्ष हो जाने पर भी मिथ्याज्ञान आदि प्रयुक्त प्रवृत्ति का संभव होने से रागादि के अत्यन्त क्षय रूप अभीष्ट की तथा उस के द्वारा मोक्षरूप अभिमत की सिद्धि नहीं हो सकती'-तो इस का उत्तर यह है कि अत्यन्त उत्कृष्ट भी मिथ्याज्ञान आदि में दोष और उस के विरोधी सम्यग्दर्शन आदि में गुण का दर्शन होने से सम्यग्ज्ञान आदि के अभ्यास में तो प्रवृत्ति की उपपत्ति हो सकती है, पर प्रकृष्ट सम्यग्ज्ञान आदि में दोष तथा उस के विरोधी मिथ्याज्ञान आदि में गुण का दर्शन न होने से सम्यग्ज्ञान आदि का प्रकर्ष प्राप्त होने पर मिथ्याज्ञान आदि प्रयुक्त पुनः प्रवृत्ति की उपपत्ति नहीं हो सकती।

यह ज्ञातव्य है कि विज्ञान के अभ्यास से-विज्ञान साधनों के अभ्यास से क्षयोपशम की अभिवृद्धि होती है और उस क्षयोपशमाभिवृद्धि से क्षायिक भाव की उत्पत्ति होती है ॥१८॥

[सर्वज्ञ के बिना वेद से धर्माधर्म व्यवस्था की उपपत्ति]

१९ वीं कारिका में धर्म-अधर्म आदि की व्यवस्था के वैदिक विद्वानों द्वारा स्वीकृत निमित्त के सम्बन्ध में विचार किया गया है। कारिका का अर्थ इस प्रकार है—

वैदिक विद्वान यह तो कहते हैं कि धर्म-अधर्म आदि की व्यवस्था वेद से होती है, किन्तु खेद की बात यह है कि वे वेदार्थ के प्रत्यक्षद्रष्टा पुरुष का ही अस्तित्व नहीं स्वीकार करते। उन्हें अपनी इस मान्यता के सम्बन्ध में विचार करना चाहिये कि धर्म-अधर्म आदि के प्रमातापुरुष के बिना वेद द्वारा धर्म, अधर्म आदि का परिज्ञान कैसे हो सकता है? किस आधार पर वेद की सत्यता का अवधारण हो सकता है? ॥१९॥

एतदेव भावयति—

न वृद्धसंप्रदायेन छिन्नमूलत्वयोगतः । न चार्वाग्दर्शिना तस्यातीन्द्रियार्थोऽवसीयते ॥२०॥

न वृद्धसंप्रदायेन=वृद्धपारम्पर्येणैव वेदाद् धर्मादिसंस्था ज्ञायते । कुतः ? इत्याह **छिन्नमूलत्वयोगतः**=आदावेव तत्त्वतः केनचिदज्ञानाद् मूलस्यैवोच्छेदात् । न चाचारात् स्मृतिः, स्मृतेराचार इत्यनादिपरम्परायां न दोषः, यावदर्थदर्शनाभ्यासपरिपक्वज्ञानैरेव स्मृतिप्रणयनात्, परैस्तदुपजीवनादिति **वाच्यम्**; तत एव वेदार्थसिद्धेर्वेदवैयर्थ्यात् । 'तयोः स्वातन्त्र्येणाऽप्रामाण्याद् वेदमूलकत्वमावश्यकम्, अत एव शिष्टाचारविशेषादप्रत्यक्षस्यापि वेदस्यानुमानम्' इति चेत् ? न, शिष्टाचारत्वेनैव कर्तव्यतामनुमाय तया मूलशब्दानुमानाऽनुपयोगात्, तदर्थस्य प्रागेव सिद्धेः । यदि

बीसवीं कारिका में उक्त मान्यता की निर्मूलकता का ही चिन्तन किया गया है । कारिका का अर्थ इस प्रकार है—

उक्त प्रश्न के उत्तर में यदि यह कहा जाय कि-'वेद धर्म-अधर्म का निर्णायक है, यह बात वृद्ध=ज्ञानवृद्ध पूर्वपुरुषों की परम्परा से ज्ञात की जा सकती है'-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि वृद्धपरम्परा से ज्ञात होने का अर्थ यदि यह हो कि पूर्व पुरुषों द्वारा किये गये वेदव्याख्यान से पश्चाद्वर्ती पुरुषों को वेदप्रतिपाद्य धर्म-अधर्म आदि का ज्ञान होता है, तो यह अर्थ उचित नहीं हो सकता क्योंकि इस प्रक्रिया में वेद के प्रथम व्याख्याता को वेदार्थ का ज्ञान न होने से वेदव्याख्यान की परम्परा नहीं बन सकती ।

यदि यह कहा जाय कि-'वृद्धपरम्परा का अर्थ वेदव्याख्यान की परम्परा नहीं है अपितु आचार और स्मृति की परस्परापेक्ष परम्परा है। तात्पर्य यह है कि आचार से स्मृति और स्मृति से आचार की प्रवृत्ति का क्रम अनादि है । जिन पुरुषों का ज्ञान यावद्अर्थ के दर्शनानुसार आचार के अभ्यास से परिपक्व हो जाता है वे ही स्मृति की रचना करते हैं। स्मृतिरचना के बाद के मनुष्य स्मृति से कर्तव्य का ज्ञान अर्जित कर उस के आचार अनुष्ठान में प्रवृत्त होते हैं'-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि आचार और स्मृति की अनादि परम्परा स्वीकार करने पर आचारानुसार रचित स्मृति से ही वेदार्थ का ज्ञान हो जाने से वेद का अस्तित्व मानना व्यर्थ हो जायगा ।

[आचार और स्मृति में वेद विना भी प्रामाण्य की शक्यता]

यदि यह कहा जाय कि-'आचार और स्मृति स्वतन्त्र प्रमाण न होने से उन के वेदमूलक प्रामाण्य की उपपत्ति के लिये वेद के अस्तित्व को मानना आवश्यक है। यही कारण है जिस से शिष्टाचारविशेष से अप्रत्यक्ष वेद का अनुमान होता है'-तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि शिष्टाचार से कर्तव्यता के अनुमान द्वारा आचार की उपपत्ति हो जाने से मूल शब्द के अनुमान की यौक्तिकता नहीं बन सकती क्योंकि वेदप्रतिपाद्य कर्तव्यता का बोध वेदानुमान के पूर्व शिष्टाचार से ही सम्पन्न हो जाता है। यदि शिष्टाचार में वेदमूलकत्व व्याप्ति से शिष्टाचार द्वारा वेद का अनुमान किया जायगा तो वाक्यमात्र प्रत्यक्ष अथवा अनुमानमूलक होता है इस व्याप्ति से वेद में प्रत्यक्ष अथवा अनुमानमूलकत्व का अनुमान होने से वेद के स्वतः प्रामाण्य का लोप हो जायगा । 'वेद के अनादि होने से उसे प्रत्यक्ष अथवा अनुमान की अपेक्षा नहीं होती' यह कल्पना करने पर तो यह कल्पना भी सम्भव हो सकती है कि कोई अनादि

च व्याप्तेरेव तस्यागममूलत्वम्, तदा तस्य प्रत्यक्षाऽनुमानमूलत्वमप्यत एवानुमेयम् अनादेस्तदनपेक्षायां चाचारोऽपि कश्चिदीदृशः स्यादिति 'नित्यानुमेयो वेद' इति 'चोदनैव धर्मे प्रमाणमि'ति च भज्येत । किञ्च, शाखोच्छेदे कृत्स्नस्यापि वेदस्य कदाचिदुच्छेदात् कथममे स्वतन्त्रपुरुषं विना संप्रदायः, धर्मादिव्यवस्था वा ? । 'गतानुगतिक एव लोक' इत्यप्रामाणिक एवाचारो न तु शाखोच्छेदः अनेकशाखागतेतिकर्तव्यतापूरणीयत्वादेकस्मिन्नपि कर्मण्यनाश्वासप्रसङ्गात्' इत्युपगमे तु वेदानामपि गतानुगतिकतयैव लोकैः परिग्रहादप्रमाणत्वप्रसङ्गाद् । दोषान्तरमाह–न चार्वाग्दर्शिना=छद्मस्थेन प्रमात्रा तस्य=वेदस्य अतीन्द्रियार्थः=धर्मादिप्रतिपादनशक्तिलक्षणः अवसीयते=निश्चीयते ॥ २० ॥

प्रामाण्यं रूपविषये संप्रदाये न युक्तिमत् । यथाऽनादिमदन्धानां तथात्रापि निरूप्यताम् ॥२१॥

ततश्च–**रूपविषये**=नील-पीतादिविषये व्यवस्थाकारिणि **यथाऽनादिमदन्धानां** संप्रदाये

आचार ही, आचार और स्मृति की परम्परापेक्ष परम्परा का मूल है अत: आचार से वेद का अनुमान न हो सकने से 'जिस आचार की कर्तव्यता का बोधक वेद उपलब्ध नहीं है उस आचार का प्रवर्तकवेद नित्यानुमेय है' एवं 'विधिवाक्य ही धर्म में प्रमाण है' इन दोनों मान्यताओं का भंग हो जाता है ।

[स्वतन्त्रपुरुष के बिना वेदसम्प्रदायप्रवृत्ति असंगत]

इस के अतिरिक्त यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि यदि वेद की किसी शाखा का उच्छेद माना जायगा तो कभी समूचे वेद का भी उच्छेद मानना पड सकता है । अत: वेदार्थवेत्ता स्वतन्त्रपुरुष माने बिना उत्तरकालीन वेदसम्प्रदाय की प्रवृत्ति तथा धर्म आदि की व्यवस्था कैसे हो सकेगी ? यदि यह कहा जाय कि–'संसार गतानुगतिक है, संसार के लोग 'गत' का ही अनुगमन करते हैं, चलते मार्ग से ही चलते हैं । अत: संसार में प्रचलित आचार अप्रामाणिक ही है । उस का प्रचलन संसार के गतानुगमन की प्रवृत्ति से ही प्रवृत्त है । उस के बोधक वेदशाखा का उच्छेद नहीं होता, यदि वेदशाखा का उच्छेद माना जायगा तो कर्म की इतिकर्तव्यता के अनेक वेदशाखाओं से बोध्य होने के कारण वेदबोध्य किसी एक भी कर्म में मनुष्य को इस आशङ्का से विश्वास न हो सकेगा कि कदाचित् इस कर्म की किसी इतिकर्तव्यता के बोधक वेदशाखा का उच्छेद न हो गया हो'–किन्तु यह कहना उचित नहीं है क्योंकि ऐसा मानने पर इस मान्यता का भी औचित्य प्रसक्त हो सकता है कि संसार द्वारा वेद का परिग्रह भी उस की गतानुगमन की प्रकृति के कारण ही है अत: वेद अप्रमाण ही है ।

उपर्युक्त के अतिरिक्त एक दोष यह भी है कि अर्वाग्दर्शी छद्मस्थ जीव को वेद में धर्म आदि का प्रतिपादन करने की शक्तिरूप अतीन्द्रिय अर्थ का निश्चय भी नहीं हो सकता । अत: सामान्यजन को यह समझ पाना अत्यन्त कठिन है कि वेद में धर्म, अधर्म आदि अतीन्द्रिय पदार्थों का प्रतिपादन करने की शक्ति है या नहीं ? 'फलत: वेद से धर्म, अधर्म आदि की व्यवस्था होती है' इस बात को प्रमाणित करना अशक्य है ॥२०॥

[अनादि अन्धसम्प्रदायवत् वेदसम्प्रदाय का अप्रामाण्य]

२१ वीं कारिका में उपर्युक्त विचार का फल बताया गया है । कारिका का अर्थ इस प्रकार है–

वेदार्थ के जिज्ञासु को वेद में प्रामाण्य सिद्ध न होने से वेद के वास्तविक अर्थ का

व्यामोहदोषाद् यथाकथञ्चित् प्रवृत्तेऽपि, प्रामाण्यं न युक्तिमत् मूलासंभवात्, स्वतोऽपरिच्छेदशक्तेश्च; तथाऽत्रापि=वेदाद् धर्मादिसंप्रदायेऽपि **निरूप्यतां**=विभाव्यताम् ॥२१॥

ननु लौकिकपदार्थतुल्यतया प्रसिद्धशब्दार्थत्वमेव वेदपदानाम्, अतो नात्र वृथा[1] नाम कल्पना, इति न निर्मूलत्वं संप्रदायस्येत्याशङ्क्याह—

न लौकिकपदार्थेन तत्पदार्थस्य तुल्यता । निश्चेतुं पार्यतेऽन्यत्र तद्विपर्ययभावतः ॥२२॥

न लौकिकपदार्थेन=न लोकोक्ताग्न्यादिपदप्रतिपाद्येनाऽग्न्यादिना सह **तत्पदार्थस्य**=वेदोक्ताग्न्यादिपदार्थस्य **तुल्यता**=एकत्वम् **निश्चेतुं पार्यते** । कुतः ? इत्याह—**अन्यत्र**=नित्यत्वादौ, **विपर्ययभावतः**=लौकिकपदतुल्यताविपर्ययभावात् । तथा चाग्न्याद्यर्थकाऽनग्न्याद्यर्थकलौकिकाग्नि—घटादिपदव्यावृत्तनित्यत्वादिधर्मजनिते वेदस्थाग्न्यादिपदेऽग्न्यर्थकत्वादिसंशयसाम्राज्यमिति भावः ॥२२॥

नित्यत्वाऽपौरुषेयत्वाद्यस्ति किञ्चिदलौकिकम् । तत्रान्यत्राप्यतः शङ्का विदुषो न निवर्तते ॥२३॥

निश्चय नहीं हो सकता-यह बात अन्धसम्प्रदाय के दृष्टान्त से अवगत हो सकती है । जैसे जन्मान्धों का सम्प्रदाय यदि यह व्यवस्था करे कि अमुक नील है और अमुक पीत है, तो व्यामोहवश अन्य अन्धों को उक्त व्यवस्था मान्य होने पर भी उस सम्प्रदाय में प्रामाण्य का अभ्युपगम युक्तिसंगत नहीं हो सकता क्योंकि जन्मान्धों द्वारा की जानेवाली विभिन्न रूपों की व्यवस्था का कोई मूल नहीं है और कोई अन्धा अन्यापेक्ष हुये बिना नील, पीत आदि का निश्चय कर नहीं सकता अतः नील, पीत आदि रूपों की व्यवस्था करनेवाले जन्मान्धों के सम्प्रदाय में प्रामाण्य का अवधारण नहीं हो सकता । उसी प्रकार निर्मूल परम्परा से वेदार्थ का भी निर्णय नहीं हो सकता ॥२१॥

[वेदार्थ में लौकिकपदार्थतुल्यता अघटित]

२२ वीं कारिका में वेदसम्प्रदाय के निर्मूल न होने की शङ्का का निराकरण किया गया है । कारिका का अर्थ इस प्रकार है—

यदि यह कहा जाय कि-'वैदिक पदों और लौकिक पदों के अर्थों में तुल्यता है, अतः वेदपदों के प्रसिद्धार्थक होने से वेदों में आये नामों से वेदवक्ता के नाम की कल्पना व्यर्थ= असंगत नहीं है, अत एव वेदसम्प्रदाय की निर्मूलता नहीं हो सकती'-तो इस का उत्तर यह है कि लोकोक्त अग्नि आदि पद और वेदगत अग्नि आदि पदों के अर्थों में समानता नहीं है, क्योंकि वेदस्थ अग्नि आदि पदों में लोकोक्त अग्नि आदि पदों से विलक्षणता है क्योंकि लौकिक अग्नि आदि पद अनित्य है तथा वैदिक अग्नि आदि पद नित्य हैं । नित्य इस अर्थ में कि वे किसी पुरुष द्वारा अर्थविशेष में इदम्प्रथमतया प्रयुक्त नहीं हैं जब कि लौकिक पदों का बहुधा तत्तत् अर्थ में इदम्प्रथमतया प्रयोग होता है । अतः इस विलक्षणता के कारण वैदिक पदों में इस प्रकार के संशय को अत्यधिक अवकाश है कि वेद में आये अग्निपदों का वही अर्थ है जो लौकिक अग्नि आदि पदों का होता है अथवा उन का कोई अन्य अर्थ है ? ॥२२॥

२३ वीं कारिका में पूर्वकारिका में कही बात को ही स्पष्ट रूप में कहा गया है । कारिका अर्थ इस प्रकार है—

---

१. प्रत्यन्तरेषु 'वृद्धानाम' ।

एतदेवाह—नित्यत्वाऽपौरुषेयत्वादि आदिनाऽतीन्द्रियार्थाभिधायकत्वादिग्रहः, **अस्ति किञ्चिदलौकिकम्**=लोकातीतम्, **तत्र**=वेदे यतश्चैवम्, **अतः**=अस्मात् कारणात्, **अन्यत्रापि**=पदार्थादौ, **विदुषः**=असाधारणधर्मज्ञस्य, शङ्का न निवर्तते—'किं लौकिकपदार्थतुल्य एवास्यार्थः, किंवा विलक्षणः, नित्यत्वादिः ?' इति ॥२३॥

न चैतन्निवृत्त्युपायः परस्येत्याह—

तन्निवृत्तौ न चोपायो विनातीन्द्रियवेदिनम् । एवं च कृत्वा साध्वेतत् कीर्तितं धर्मकीर्तिना ॥२४॥

तन्निवृत्तौ=यथोदिताशङ्कानिवृत्तौ न चोपायोऽन्यः कश्चित्, विनाऽतीन्द्रियवेदिनं प्रमातारम्, शङ्काबीजकर्मदोषराहित्य एव निःशेषशङ्काराहित्यस्य तत्त्वत उपपत्तेः, स च वो नास्ति। **एवं च कृत्वा**=इदं चाभिप्रेत्य **साधु**=शोभनम् **एतत्**=वक्ष्यमाणम् **कीर्तितम्**=उद्भावितम् **धर्मकीर्तिना**=धर्मकीर्तिनाम्ना बौद्धाचार्येण ॥२४॥

स्वयं रागादिमान्नार्थं वेत्ति वेदस्य नान्यतः । न वेदयति वेदोऽपि वेदार्थस्य कुतो गतिः?॥२५॥

(प्र०वा० ३–३१८ उत्त० ३१९ पूर्वार्धः०)

तथाहि—**स्वयम्**=अन्यानपेक्षतया रागादिमान् पुरुषः नार्थं **वेत्ति**=निश्चिनोति वेदस्य,

---

वेद में कुछ अलौकिकता है, वह यह कि वैदिक मतानुसार वेद नित्य एवं अपौरुषेय है तथा अतीन्द्रिय अर्थ का बोधक है, अतः वेद के इस असाधारण धर्म को जाननेवाले पुरुष की यह शङ्का कथमपि निवृत्त नहीं हो सकती कि वैदिक पदार्थ लौकिक पदार्थ के तुल्य ही है अथवा लौकिक पदार्थ से विलक्षण है ? क्योंकि लौकिकपदों से नित्यत्वादि धर्मों द्वारा विलक्षण अर्थ ही वैदिकपदों द्वारा उपस्थित होता है ॥२३॥

२४ वीं कारिका में यह बताया गया है कि वेदार्थ के विषय में उत्थित उक्त शङ्का को निवृत्त करने का कोई उपाय वेदाऽपौरुषेयत्ववादी मीमांसक के पास नहीं है। कारिका का अर्थ इस प्रकार है—

वेद में वर्णित धर्म-अधर्म आदि अतीन्द्रिय पदार्थों का द्रष्टा न मानने पर "वैदिक शब्दों का वही अर्थ है जो लौकिक शब्दों का होता है अथवा कुछ अन्य अर्थ है" इस शङ्का को निवृत्त करने का कोई अन्य उपाय सम्भव नहीं हो सकता, क्योंकि शङ्का के जनक कर्मदोष की निवृत्ति होने पर ही निःशेष शङ्का की निवृत्ति की वास्तव उपपत्ति हो सकती है। कहने का आशय यह है कि धर्म, अधर्म आदि के प्रतिपादक शास्त्र को क्षीणसर्वकर्मा सर्वथानिःशङ्कपुरुषमूलक मानने पर ही उस के अर्थ के बारे में सम्भावित शङ्काओं का परिहार हो सकता है जो मीमांसक को मान्य नहीं है। इस तथ्य को मनोगत कर के बौद्धाचार्य धर्मकीर्ति ने वेदप्रामाण्य के विरुद्ध जो दोषोद्भावन किया है वह सर्वथा शोभन ही है ॥२४॥

२५ वीं कारिका में पूर्वकारिका में संकेतित धर्मकीर्ति के दोषोद्भावन को प्रदर्शित किया गया है। कारिका का अर्थ इस प्रकार है—

रागादिग्रस्त मनुष्य अन्य की अपेक्षा किये बिना स्वयं वेदार्थ का निश्चय नहीं कर सकता क्योंकि वह स्वभावतः संशयालु होता है, किसी अन्य पुरुष के सहयोग से भी वह यह कार्य

संशयालुस्वभावत्वात्, **नान्यतः**=नाप्यन्यतः पुरुषविशेषात्, तस्यापि रागादिमत्तया विश्वासाऽनास्पदत्वात्। न वेदयति वेदोऽपि 'भो ब्राह्मण ! ममायमर्थः' इति, एवमप्रतीतेः। **एवं च वेदार्थस्य**=अग्निहोत्रादेः, **कुतो गतिः**=कथं परिच्छित्तिः ? ॥२५॥

यतश्चैवम्, अत आह—

तेनाग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकाम इति श्रुतौ । खादेत् श्वमांसमित्येष नार्थ इत्यत्र का प्रमा?॥२६॥

(प्र०वा० ३१९ उ०—३२० पू०)

तेन कारणेन "अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः" इति श्रुतौ 'भूतविशेषे घृतादि प्रक्षिपेत्' इत्यर्थिकायामभ्युपगम्यमानायाम् 'खादेत् श्वमांसम्' इत्येष नार्थः किन्तु भवदभिप्रेत एव—इत्यत्र का प्रमा ? नात्र किञ्चिद् विशेषार्थनिर्धारकं प्रमाणमिति भावः ॥२६॥

पराभिप्रायमाशङ्क्य परिहरति—

प्रदीपादिवदिष्टश्चेत्तच्छब्दोऽर्थप्रकाशकः । स्वत एव, प्रमाणं न किञ्चिदत्रापि विद्यते ॥२७॥

प्रदीपादिवदिष्टश्चेत् **तच्छब्दः**=श्रुतिशब्दः **अर्थप्रकाशकः**=स्वार्थबोधजनकः **स्वत एव**=तथास्वाभाव्यादेव। **अत्रापि**=एवंभूतस्वभाववादेऽपि न किञ्चित् **प्रमाणं**=प्रत्यक्षादि विद्यते ॥२७॥

नहीं कर सकता क्योंकि अन्य समस्त पुरुषों के भी रागग्रस्त होने से उन में विश्वास नहीं हो सकता। वेद स्वयं भी नहीं बताता कि मेरा अमुक अर्थ है. अतः वेद प्रतिपाद्य अग्निहोत्र आदि अर्थों का निश्चय कैसे हो सकता है ? ॥२५॥

२६ वीं कारिका में वेदार्थ के निर्णय का कोई विश्वसनीय आधार न होने से उपस्थित होनेवाले दोष का प्रतिपादन किया गया है। कारिका का अर्थ इस प्रकार है—

यतः वेदार्थ के निर्णय का कोई उपयुक्त आधार नहीं है अतः 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' इस श्रुतिवाक्य का मीमांसक जो यह अर्थ करते हैं कि 'स्वर्ग चाहनेवाला पुरुष भूतविशेष-अग्नि में घृत आदि का प्रक्षेप करे' वही उस का अर्थ है अथवा 'स्वर्ग चाहनेवाला पुरुष कुत्ते का मांस खाय' यह अर्थ है!' इस बात का निर्धारण कैसे होगा, मीमांसक सम्मत अर्थ ही उस श्रुति वाक्य का अर्थ है, अन्य कोई कुत्सित अर्थ नहीं है, यह कैसे कहा जा सकेगा ॥२६॥

२७ वीं कारिका में उक्त आक्षेप के मीमांसकसम्मत समाधान की शङ्का कर के उस का परिहार किया गया है। कारिका का अर्थ इस प्रकार है—

मीमांसक की ओर से उक्त आक्षेप का यदि यह उत्तर दिया जाय कि-'जैसे प्रदीप आदि अपने अर्थ का स्वयं प्रकाशक होता है, उसे किसी अन्य की सहायता अपेक्षित नहीं होती उसी प्रकार वैदिक वाक्य भी अपने वास्तवअर्थ का स्वयंबोधक होता है, अतः जैसे प्रदीप आदि से उस के प्रकाश्य विषय से अतिरिक्त विषय के प्रकाश की आपत्ति नहीं होती उसी प्रकार वेद-वाक्यों से भी उन के वास्तव अर्थ से भिन्न अर्थ के बोध की आपत्ति नहीं हो सकती' तो यह ठीक नहीं है क्योंकि 'वेदवाक्यों में निश्चित अर्थविशेष को अवगत कराने का स्वभाव है'

१. अग्नि=श्वा तस्य उत्रं मांसमिति कृत्वेत्यर्थः ।

किञ्च, एवं भ्रमजनकत्वमपि क्वचिद् वेदस्य स्यादित्याह—

विपरीतप्रकाशश्च ध्रुवमापद्यते क्वचित् । तथाहीन्दीवरे दीपः प्रकाशयति रक्तताम् ॥२८॥

विपरीतप्रकाशश्च=अतथाभूतार्थवाचकत्वं च **ध्रुवं**=निश्चितम् आपद्यते, **क्वचित्**=विषयान्तरे । प्रदीपादिदृष्टान्तेनैतदेव भावयति—तथा **हीन्दीवरे**=नीलोत्पले दीपः **प्रकाशयति**=प्रदर्शयति, **रक्ततां**=पाटलिमानम् । एवं च चन्द्रः पीतवाससि शुक्लताम्, इत्यादि द्रष्टव्यम् ॥२८॥

तस्मान्न चाऽविशेषेण प्रतीतिरुपजायते । संकेतसव्यपेक्षत्वे स्वत एवेत्ययुक्तिमत् ॥२९॥

ननु यथा दीपस्य चाक्षुषजननशक्तिरेव कार्यदर्शनात् कल्प्यते न घ्राणीयादिजननशक्तिः, तथा वेदानामपि स्वार्थे प्रमाजननशक्तिरेव कल्प्यते न भ्रमजननशक्तिरिति नानुपपत्तिरिति चेत् ? **न,** ततः प्रमाकार्यस्यैवाऽदर्शनात् । न च तद्गताग्न्यादिपदेभ्यो नियतार्थबोधोऽपि दृश्यते, जलादौ संकेतितेभ्यस्तेभ्यो जलादिबोधस्यापि दर्शनात्, नियतसंकेतापेक्षायामपि स्वतस्त्वभङ्गो दुर्निवारः इत्यभिप्रेत्याह—

इस विषय में प्रत्यक्ष आदि कोई प्रमाण नहीं है और निष्प्रमाण बात कहने पर तो निष्प्रमाण अन्य बात भी जो मीमांसक को मान्य नहीं है, कही जा सकती है ॥२७॥

[वेद में प्रदीपादिवत् भ्रमकारकता]

२८वीं कारिका में वेद को निर्दोषपुरुषमूलक न मानने पर उस में प्रमाजनकत्व के समान भ्रमजनकत्व की भी आपत्ति का प्रदर्शन किया गया है। कारिका का अर्थ इस प्रकार है...

वेद को प्रदीप आदि के समान अर्थ का बोधक मानने पर प्रदीप आदि के समान ही उसे कहीं भ्रम का जनक भी मानना होगा क्योंकि यह युक्तिसंगत नहीं है कि अपनी अनुकूलता के लिये तो वेद में प्रदीप आदि की समता बतायी जाय और समता स्वीकार करने पर प्रसक्त होनेवाली प्रतिकूलता से पलायन किया जाय । कहने का आशय यह है कि प्रदीप आदि को तथा वेद को अर्थबोधन में यदि समानभाव माना जायगा तो जैसे प्रदीप से नीलकमल में रक्तता का दर्शन होता है एवं चन्द्रमा की चाँदनी से पीतवस्त्र में धवलता का दर्शन होता है उसी प्रकार वेद से कहीं धर्मजनक क्रिया में अधर्मजनकत्व और कहीं अधर्मजनक क्रिया में धर्मजनकता का भी बोध होना चाहिये, किन्तु यह मान्य नहीं हो सकता क्योंकि ऐसा मानने पर वेद धर्म-अधर्म आदि का व्यवस्थापक नहीं हो सकता ॥२८॥

[संकेतापेक्षा होने पर स्वतःप्रामाण्य भंग]

२९वीं कारिका में वेद को स्वार्थबोध के जनन में नियत सङ्केतसापेक्ष मानने पर उस के स्वतः प्रामाण्य के भङ्ग की आपत्ति बताई गई है । कारिका का अर्थ इस प्रकार है--

यदि यह कहा जाय कि-'जैसे दीप से चाक्षुषप्रत्यक्ष का उदय देखा जाता है अतः उस में चाक्षुषप्रत्यक्ष की उत्पादिका शक्ति ही मानी जाती है, घ्राणजप्रत्यक्ष आदि के जनन की शक्ति नहीं मानी जाती, उसी प्रकार वेद से स्वार्थ की प्रमा का उदय होने के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वेद में स्वार्थ की प्रमा उत्पन्न करने की ही शक्ति है, भ्रमजनन की शक्ति नहीं है । अतः वेद से भ्रमात्मकज्ञान की उत्पत्ति का आपादान शक्य नहीं है'-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि वेद से प्रमारूप कार्य का होना दृष्ट नहीं है, इसलिये उक्त कल्पना नहीं हो सकती । दूसरी बात यह है कि वेदस्थ अग्नि आदि पदों का किसी पुरुष द्वारा जल में

तस्मात्=श्रुतिपदात्, न चाविशेषेण प्रदीपादित इव रूपादौ, प्रतीतिरुपजायते। संकेतसव्यपेक्षत्वे=इष्टवाच्यविषयसंकेतमपेक्ष्येष्टार्थप्रतीतिजनकत्वस्वभावत्वे, 'स्वत एव' इत्ययुक्तिमत् प्रदीपादितुल्यत्वतः प्रकाशकत्वभङ्गात् ॥२९॥

नियतसंकेतापेक्षायामपि दोषमाह—

साधुर्नवेति संकेतो न चाशङ्का निवर्तते। तद्वैचित्र्योपलब्धेश्च स्वाशयाभिनिवेशतः ॥३०॥

इतेर्व्यवहितसंबन्धाद् **न च**=नैव, **संकेतः**=श्रुतिस्थाग्न्यादिपदानामग्न्यादिविषयोऽभिप्रायः, **साधुः**=प्रकृतयथार्थवाच्यार्थधीजनकः न वा इति एवमाकारा आशङ्का निवर्तते। कुतः ? इत्याह—**स्वाशयाभिनिवेशतः**=स्वाशयेन स्वाभिप्रायेणाभिमुखो **निवेशः**=तथा तथा व्याख्यारचनं ततः, तद्वैचित्र्योपलब्धेश्च संकेतवैचित्र्यदर्शनाच्च ॥३०॥

ननु व्याख्याप्यपौरुषेयी स्मृता केवलं जैमिन्यादिभिः, इति वेदवत् तद्व्याख्यायामपि न साधुत्वाशङ्केत्याशङ्क्याह—

व्याख्याप्यपौरुषेय्यस्य मानाभावान्न संगता। मिथो विरुद्धभावाच्च तत्साधुत्वाद्यनिश्चितेः ॥३१॥

व्याख्याप्यस्य=वेदस्य **अपौरुषेयी, मानाभावात्**=जैमिन्यादीनां स्मरणादौ प्रमाणाभावात् न संगता। करणेऽपि स्मरणोक्तेरन्यार्थतयोपपत्तेर्बाधकाभावात्। अनन्यगतिकत्वेनात्र मानमित्यत्र

संकेत कर देने पर उन पदों से जल आदि के बोध का होना भी देखा जाता है, न कि प्रदीप आदि से जैसे रूप आदि का ही प्रत्यक्ष होता है उस प्रकार वेदस्थ पदों से नियत अर्थ का बोध होना इष्ट है। और इस दोष के निवारणार्थ यह कल्पना की जाय कि वेदस्थ पदों का निश्चित अर्थों में नियतसंकेत होता है। उस की अपेक्षा से ही वेद स्वार्थ का बोधक होता है -तो उसे स्वतः प्रमाण कहना असंगत होगा। अतः वेद में प्रदीप के समान स्वतः प्रकाशकता की सिद्धि न होकर उस का भङ्ग ही सिद्ध होता है ॥२९॥

३०वीं कारिका में वेद को स्वार्थबोधन में नियतसंकेत सापेक्ष मानने पर भी दोष बताया गया है। कारिका का अर्थ इस प्रकार है-'साधुर्नवेति' में श्रूयमाण 'इति' पद का 'आशङ्का निवर्तते' इस के साथ व्यवहित सम्बन्ध मानने से उपलब्ध होता है।

वेद को नियतसङ्केत सापेक्ष मानने पर भी 'वेदस्थ अग्नि आदि पदों का अग्नि आदि अर्थों में जो संकेत है वह प्रकृत में यथार्थ वाच्यार्थ का बोधक है या नहीं है' इस शङ्का की निवृत्ति नहीं होती क्योंकि विद्वानों द्वारा अपने अपने अभिप्राय के अनुसार वेद की व्याख्या की जाती है और उस व्याख्या से नियतसंकेत का ज्ञान न होकर संकेतवैचित्र्य का ही ज्ञान होता है ॥३०॥

[वेदव्याख्या में अपौरुषेयता का असंभव]

३१वीं कारिका में 'वेद की व्याख्या अपौरुषेयी है' इस मत का निरसन किया गया है। कारिका का अर्थ इस प्रकार है—

यदि यह कहा जाय कि-'वेद के समान वेद की व्याख्या भी पौरुषेय नहीं किन्तु अनादि नित्य है, जैमिनि आदि ने उस व्याख्या का केवल स्मरण किया है। अतः वेद के

आह—मिथः=कापिलेयादिव्याख्यया सह, विरुद्धभावाच्च=व्याहतार्थत्वाच्च जैमिनीयादिव्याख्यायाः। व्याख्याभेदेऽपि यस्यां साधुत्वं सैवाद्रियत इत्यत आह—तत्साधुत्वाद्यनिश्चितेः='इयं साधुः, इयं च कल्पिता' इति निश्चयाभावात् ॥३१॥

नान्यप्रमाणसंवादात्तत्साधुत्वविनिश्चयः। सोऽतीन्द्रिये न यन्न्याय्यस्तत्तद्भावविरोधतः ॥३२॥

एतदेव भावयति—**नान्यप्रमाणसंवादात्**=न प्रत्यक्षादिप्रमाणसंवादेन 'तद्गोचरगतेन' इति गम्यते, **तत्साधुत्वविनिश्चयः**=अधिकृतव्याख्यायाः साधुत्वनिश्चयः, गृहीतप्रामाण्यकप्रमाणान्तरसंवादित्वेनाऽप्रामाण्यशङ्कानिवृत्तेरिति भावः। कुतः? इत्याह—**सः**=अन्यप्रमाणसंवादः, **यत्**=यस्मात्, **अतीन्द्रिये**=व्याख्यागोचरे **न न्याय्यः**=न युक्त्युपपन्नः। कुतः? इत्याह—**तत्तद्भावविरोधतः**=तस्यातीन्द्रियस्य व्याख्याविषयस्य तद्भावविरोधतः, अन्यप्रमाणग्रहेऽतीन्द्रियत्वविरोधादित्यर्थः ॥३२॥

तस्माद्व्याख्यानमस्येदं स्वाभिप्रायनिवेदनम्। जैमिन्यादेर्न तुल्यं किं वचनेनापरेण वः? ॥३३॥

यतश्चैवं **तस्मात्** कारणाद्, **व्याख्यानमस्य**=वेदस्य, **इदं**=भवत्कल्पितम्, **स्वाभिप्रायनिवेदनं**=स्वतः स्वाभिप्रायमात्रम्, **जैमिन्यादेः**=व्याख्यानकर्तुः, न तु नित्यार्थस्मरणम्,

---

समान वेद की व्याख्या में भी साधुत्व की शङ्का नहीं होती'—तो यह ठीक नहीं है क्योंकि वेदव्याख्या के अपौरुषेय होने में और जैमिनि आदि द्वारा मात्र उस का स्मरण होने में कोई प्रमाण नहीं है; क्योंकि वेदव्याख्या की रचना को ही अन्य दृष्टि से स्मरण कहने की उपपत्ति में कोई बाधा नहीं है। यदि यह कहा जाय कि-'अपौरुषेय माने बिना वेदव्याख्या की प्रामाणिकता प्रकारान्तर से नहीं उपपन्न हो सकती, अतः यह अनन्यगतिकता=अन्यथानुपपत्ति ही वेदव्याख्या के अपौरुषेयत्व में प्रमाण है'—तो यह उचित नहीं है क्योंकि जैमिनि आदि द्वारा की गई वेदों की व्याख्या कपिल आदि द्वारा की गई व्याख्या से विरुद्ध है। अतः विभिन्न आचार्यों द्वारा की गई वेदव्याख्याओं में 'यह व्याख्या समीचीन है और यह व्याख्या कल्पित है' इस निश्चय का कोई आधार न होने से किसी व्याख्या को असाधु मान कर उस का त्याग और किसी व्याख्या को साधु मानकर उसका आदर करना सम्भव नहीं हो सकता ॥३१॥

३२ वीं कारिका में उक्त अर्थ की ही पुष्टि की गई है। कारिका का अर्थ इस प्रकार है—

वेद की अभीष्ट व्याख्या में अप्रामाण्य शङ्का की निवृत्ति नहीं हो सकती क्योंकि जिस प्रमाण में प्रामाण्य निर्णीत होता है उस अन्य प्रमाण के संवाद से ही प्रस्तुत व्याख्या में अप्रामाण्य शङ्का की निवृत्ति होती है किन्तु प्रकृत में इस प्रकार का कोई प्रत्यक्ष आदि प्रमाण नहीं है, क्योंकि अन्य प्रमाण का संवाद वेद की व्याख्या से गम्य अतीन्द्रिय अर्थों में सम्भव नहीं हो सकता, यतः वेदव्याख्या से बोधित अतीन्द्रिय अर्थ यदि प्रत्यक्षादि प्रमाण से गम्य होगा तो उस के अतीन्द्रियत्वरूप भाव का विरोध होगा ॥३२॥

उक्त कारण से मीमांसक को अभिमत वेद का व्याख्यान, व्याख्याता द्वारा अब अपने ही अभिप्राय का प्रकाशन है न कि जैमिनि आदि वेदव्याख्याकारों द्वारा वेद के नित्य अर्थ का स्मरण है क्योंकि वेद का अर्थ सूत्रवद् व्यवस्थित नहीं है, तो फिर वेदवादी मीमांसक का वचन बौद्धवचन के तुल्य क्यों नहीं होगा? कहने का आशय यह है कि जैसे बौद्ध सम्प्रदाय का वचन उस सम्प्रदाय के प्रवर्तक रागादिमान् पुरुष का अपने आशय का प्रकाशक होने से

सूत्रवदर्थस्य व्यवस्थितस्याऽदर्शनात् । 'अतः' इति गम्यते, अपरेण=बौद्धादिवचनेन, किं न तुल्यम्, वः-युष्माकम्, रागादिमतः स्वस्याभिप्रायनिवेदनाऽविशेषात्, तादृशस्य च पुंसः स्वतन्त्रवचनेऽविश्वासाऽविशेषादिति भावः ॥३३॥

न च स्वाऽनिर्देशमात्रेऽपि स्वातन्त्र्यमपयातीत्याह—

एष स्थाणुरयं मार्ग इति वक्तीह कश्चन । अन्यः स्वयं ब्रवीमीति तयोर्भेदः परीक्ष्यताम् ॥३४॥

'एष स्थाणुः, अयमेतदभिमुखो मार्ग' इति कश्चन वक्ता स्वनामानभिनिवेशेन इह=जगति वक्ति । अन्यः=तदपरः 'स्वयं ब्रवीमि यदुतायं मार्ग' इति स्वनामाभिनिविष्टेन वक्ति । तयोः=वक्त्रोः भेदः=विशेषः परीक्ष्यताम्, स्वाभिप्रायनिवेदनं प्रति न कश्चिद् भेदः फलिष्यतीति भावः । स्यादेत-

---

सर्वमान्यता प्राप्त करने में सफल नहीं हो पाता उसी प्रकार मीमांसक को अभीष्ट वेदव्याख्या भी रागादिमान् व्याख्याता पुरुष के अभिप्राय का प्रकाशक होने से सर्वमान्यता नहीं प्राप्त कर सकती क्योंकि यहाँ विश्वास करने का कोई आधार नहीं है कि-'अभीष्ट व्याख्या से ज्ञातव्य अर्थ प्रामाणिक है' क्योंकि रागादिमान् पुरुष का स्वतन्त्र=प्रमाणनिरपेक्ष वचन विश्वसनीय नहीं होता ॥३३॥

[स्वनामनिर्देश के विना भी स्वाभिप्राय निवेदन का सम्भव]

३४ वीं कारिका में यह बताया गया है कि वक्ता द्वारा अपने कथन को अपने नाम से निर्दिष्ट न करने मात्र से उस कथन में उस की स्वतन्त्रता का अभाव नहीं हो जाता । कारिका का अर्थ इस प्रकार है—

यदि कोई वक्ता अपने नाम का उल्लेख न कर के केवल यह कहे कि 'यह स्थाणु-ठूठावृक्ष है' अथवा 'यह मार्ग अमुक ओर जाता है' और अन्य वक्ता अपना उल्लेख करते हुये कहे कि 'मैं स्वयं कहता हूँ कि यह मार्ग अमुक ओर जाता है' तो इन दोनों ही वक्ता अपने अभिमत का ही प्रकाशन करते हैं। ऐसा नहीं है कि उक्त बात को अपनी बात कह कर कहनेवाले एवं उक्त बात को 'अपनी बात' कहे विना कहनेवाले दोनों की बात में कुछ भेद हो, क्योंकि दोनों ही उक्त बात के स्वतन्त्र वक्ता हैं। उन के वचन का जो अर्थ है उस की सत्यता वा असत्यता दोनों की बात में समान है। अतः वेद की व्याख्या को अपनी व्याख्या न बताने पर भी उस व्याख्या से बोध्य अर्थ के प्रति व्याख्याकार ही उत्तरदायी है. इसलिये व्याख्याकार के व्याख्यात अर्थ में अन्य प्रमाण न होने पर स्वीकार्यता का निश्चय शक्य नहीं है ।

[पदों की शक्ति अर्थमात्र में सम्भव]

यदि यह कहा जाय कि-'लाघव आदि तर्क से अन्य अर्थ में शक्ति के संशय का निरास होने से अग्नि आदि अर्थों में ही अग्निपद की शक्ति निश्चित है, और कोई बाधक न होने पर शक्य अर्थ में ही वेदों का प्रामाण्य होता है। इसलिये वेदस्थ पदों के शक्यार्थबोधन में बाधकाभाव तथा विवक्षित अर्थ में उन की शक्ति आदि का प्रदर्शन करने के लिये वेद की व्याख्या की उपयोगिता अनिवार्य है'-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि विनिगमक के अभाव एवं लाघव से प्रतीति के अनुसार समस्त अर्थों में पदों की शक्ति मानना उचित है। जो अर्थ

दृष्ट्यादिपदानामन्यायादावेव शक्तिनिश्चितः आधवादित्वेन संशयनिरासात्, अस्ति बाधके शक्यार्थ
एवं च वेदानां प्रामाण्यम्, इति वेदादिपदानां बाधकाभावादिशक्त्यादिप्रदर्शनार्थीया व्याख्याया
उपयोग इति। **नैवम्**, विनिगमकाभावेन लाघवेन च यथाप्रतीति निखिलार्थशक्तिकल्पनायाः
पदानां युक्तत्वात्, आवश्यकसङ्केतान्तराश्रयणेनैव लक्षणानुच्छेदात्, नियतसंकेतस्यातीन्द्रियार्थे दुर्ग्रह-
त्वात्, अर्वाग्दृशामप्रसिद्धार्थेऽपि प्रामाण्याऽक्षयत्वात्, बाधकं विनापि च तात्पर्यविशेषेण प्रसिद्धार्थस्य
परित्यागाऽदर्शनात्, अप्रसिद्धशक्तिकानां वेदपदानां विना मूलं शक्तिग्रहस्य दुःशकत्वाच्चेति दिग् ॥२४॥

जिस पद के शक्यार्थरूप में प्रसिद्ध नहीं है उस में उस की शक्ति के बोधनार्थ अन्य संकेत
का आश्रयण करने से ही लक्षणा का अनुच्छेद-समन्वय हो सकता है। कहने का आशय यह
है कि अमुक अर्थ में ही अमुक पद की शक्ति है अन्य में नहीं है, ऐसा मानने में कोई
विनिगमक नहीं है तथा किसी अर्थ में पद की शक्ति और किसी अर्थ में लक्षणा मानने की
अपेक्षा सभी अर्थों में पद की शक्ति मानने में लाघव है। अतः यह मानना ही उचित है कि
'सर्वे सर्वार्थवाचकाः=सब पदों की सब अर्थों में शक्ति होती है।' अन्तर केवल यह होता है
कि जिस अर्थ में जिस पद का बहुलता से प्रयोग होता है उस अर्थ में उस पद का नियत संकेत
होता है और जिस अर्थ में उस पद का अल्प प्रयोग होता है उस में संकेतान्तर यानी अनियत
-आधुनिक संकेत होता है। जैसे जल के विशिष्ट प्रवाह में गङ्गापद का संकेत नियत एवं
प्रसिद्ध है और 'गङ्गायां घोषः' इत्यादि स्थानों में तीर में गङ्गा पद का संकेत अनियत-
आधुनिक एवं अप्रसिद्ध है। अप्रसिद्ध अर्थ में पद का संकेतान्तर मानने से, जिस अर्थ में
जिस पद का संकेत होता है उस अर्थ में वह पद शक्त होता है अथवा वह अर्थ उस पद का
शक्य होता है यह लक्षण प्रसिद्धसंकेत वाले और अप्रसिद्ध संकेत वाले दोनों में समान रूप
से उपपन्न हो जाता है। अतः यह कहना उचित नहीं हो सकता कि अर्थविशेष में वेदस्थपदों
की शक्ति का ज्ञान कराने के लिये वेद की व्याख्या आवश्यक है।

[सर्वज्ञप्रणेता के बिना प्रामाण्य की अनुपपत्ति]

यह भी ज्ञातव्य है कि वेद यदि सर्वज्ञ का वचन न होगा तो उस की व्याख्या के आधार
पर वह उपादेय न हो सकेगा, क्योंकि अतीन्द्रिय अर्थों में पद के नियत संकेत का ज्ञान
दुष्कर होने से ऐसे पदों से घटित वेद की व्याख्या सम्भव ही न हो सकेगी। इस सन्दर्भ में
यह कहना उचित नहीं हो सकता कि-जैसे अर्वाग्दर्शी-असर्वज्ञ को किसी प्रमाणविशेष के
बिना ही अप्रसिद्ध अर्थ में पद का संकेतग्रह होता है उसी प्रकार अतीन्द्रिय अर्थ में भी वेद
व्याख्याता को वेदस्थ पदों का संकेतग्रह होता है'-क्योंकि असर्वज्ञ को अप्रसिद्ध अर्थ में जो
संकेतग्रह होता है वह भी प्रमाणमूलक ही होता है, इसीलिये अप्रसिद्ध अर्थ में असर्वज्ञ की
प्रमाणता की हानि नहीं होती। अप्रसिद्ध अर्थ में असर्वज्ञ को अप्रमाणता तब होती जब उसे
वह बिना प्रमाण के ही ग्रहण करता, किन्तु ऐसा नहीं है, क्योंकि प्रसिद्ध अर्थ को ग्रहण करने
में बाधक न होने पर केवल तात्पर्यविशेष से प्रसिद्ध अर्थ का परित्याग नहीं किया जाता।
इस प्रकार प्रसिद्ध अर्थ का बाध ही अप्रसिद्ध अर्थ को स्वीकार करने में प्रमाण बन जाता है।

यह भी ध्यान देने योग्य है कि जिन वेदस्थ पदों की शक्ति प्रसिद्ध नहीं है उन पदों का
किसी मूल आधार के बिना शक्तिग्रह अशक्य है अतः स्पष्ट है कि वेद को सर्वज्ञवचन न
मानने पर उस का लोकपरिग्रह उपपन्न नहीं हो सकता ॥२४॥

प्रस्तुत एव दोषान्तरमाह—

न चाप्यपौरुषेयोऽसौ घटते सूपपत्तितः । वक्तृव्यापारवैकल्ये तच्छब्दानुपलब्धितः ॥३५॥

न चाप्य**सौ**=वेदः, **सूपपत्तितः**=सुयुक्त्या अपौरुषेयो घटते । कुतः ? इत्याह—**वक्तृव्यापारवैकल्ये**=वक्तृताल्वादिव्यापाराभावे **तच्छब्दानुपलब्धितः**=वेदशब्दानुपलब्धेः, शब्दत्वावच्छिन्न एव ताल्वादिव्यापाराणां हेतुत्वादिति भावः ॥३५॥

ननूक्तयुक्त्या वर्णानां नित्यत्वाद् वक्तृव्यापारो व्यञ्जकपवनोत्पाद एवोपक्षीण इत्याशङ्क्याह—

वक्तृव्यापारभावेऽपि तद्भावे लौकिकं न किम् । अपौरुषेयमिष्टं वो वचो द्रव्यव्यपेक्षया ॥३६॥

वक्तृव्यापारभावेऽपि=शब्दे ताल्वाद्यन्वय-व्यतिरेकानुविधानेऽपि **तद्भावे**=अपौरुषेयत्वेऽभ्युपगम्यमाने, लौकिकं वचः किं न वः=युष्माकं द्रव्यव्यपेक्षयाऽपौरुषेयमिष्टम् ? तत्रापि हि द्रव्याण्यपौरुषेयाण्येव, द्रव्यतो नित्यत्वस्य पर्यायतश्चोत्पादव्यययोस्तत्रापि प्रामाणिकत्वात् । ईदृशाऽपौरुषेयत्वेन लौकिकस्यापि वेदतुल्यत्वं स्यादिति निगर्वः ।

---

३५ वीं कारिका में प्रस्तुत विषय में ही अन्य दोष का प्रदर्शन किया गया है। कारिका का अर्थ इस प्रकार हैं—

'वेद अपौरुषेय है'—यह बात उचित युक्तियों से संगत भी नहीं हो सकती, क्योंकि शब्द मात्र के प्रति तालु आदि का व्यापार कारण होता है, अत: वक्ता के तालु आदि का व्यापार न होने पर वेद के शब्दों की उपलब्धि सम्भव ही नहीं हो सकती ॥३५॥

[वेदवत् लौकिक वाक्यों में अपौरुषेयत्व की प्रसक्ति]

३६ वीं कारिका में इस पक्ष का परिहार किया गया है कि–वर्ण पूर्वोक्त युक्ति से नित्य हैं, सीर्फ वक्ता का व्यापार वर्णों के व्यञ्जक पवन का उत्पन्न कर कृतकार्य हो जाता है। कारिका का अर्थ इस प्रकार है-

यदि यह कहा जाय कि-'शब्द यद्यपि तालु आदि के अन्वय-व्यतिरेक का अनुविधान करता है तथापि वह अपौरुषेय है, तालु आदि के व्यापार की अपेक्षा उस को उत्पन्न करने में नहीं होती किन्तु उस के व्यञ्जक पवन को उत्पन्न करने में होती है । अत: व्यञ्जक पवन में तालु आदि के व्यापार के अन्वय-व्यतिरेक का अनुविधान होने से व्यङ्ग्य शब्द में भी उस का व्यवहार होता है । एतावता उस के अपौरुषेयत्व की हानि नहीं हो सकती ।'-तो इस के प्रतिकार में यह भी कहा जा सकता है कि यदि वर्ण की नित्यता से वेद को अपौरुषेय मानना अभिमत है तब तो लौकिक वाक्य को भी वेदापौरुषेयत्ववादी को अपौरुषेय मानना अभिमत होना चाहिये, क्योंकि लौकिकवाक्य में भी वर्णात्मना परिणत होनेवाले द्रव्य अपौरुषेय ही हैं, वे भी द्रव्यात्मना नित्य और पर्यायात्मना उत्पत्ति-विनाशशाली हैं, यह बात प्रमाणसिद्ध है । कहने का आशय यह है कि जैनदर्शन में वर्णित युक्तियों से शब्द पौद्गलिक है, शब्दवर्गणा के पुद्गल द्रव्य ही तालु आदि का व्यापार होने पर वर्णात्मक पर्याय के आस्पद होते हैं, अत: शब्दमात्र मूलपुद्गल के रूप में नित्य और वर्णात्मक पर्याय के रूप में जन्य एवं नश्वर हैं, अत: वर्णों के मूलस्वरूप की अपौरुषेयता की दृष्टि से वेद और लौकिक वाक्यों में अपौरुषेयता समान होने से वेद को अपौरुषेय और लौकिक वाक्य को पौरुषेय कहना उचित नहीं है ।

किञ्च, एवं कारणत्वाभिमतानां व्यञ्जकस्थाननिवेशे घटादावपि दण्डादीनां व्यञ्जकतयैवोपपत्तेर्गतं कार्यद्रव्यचर्चयापि, घटाद्युत्पाद-विनाशाऽकल्पनलाघवात्। अतिसूक्ष्मेक्षिकया ग्राहकविश्रामे च गतं घटादिना बाह्यतयैव। यच्च परार्थवाक्योच्चारणानुपपत्तेर्नित्यत्वं वर्णानामुक्तम्, तदयुक्तम्, अनित्यस्यापि शब्दस्य धूमादेरिवावगतसंबन्धस्यार्थप्रत्यायकत्वसंभवात्, भूयोदृष्टासु धूमव्यक्तिषु वह्निसंबन्धग्रहवत् पुनः पुनरुच्चरितासु शब्दव्यक्तिष्वर्थसम्बन्धग्रहोपपत्तेः। 'जातावेव संबन्धग्रहो व्यक्तिनां चाक्षेप' इति पुनरुभयत्र सुवचम्, अयुक्तं च, जातिविशिष्टव्यक्तावेककालमेव संबन्धग्रहात्। अथ धूमे धूमत्वजातिसत्त्वाद् धूमत्वविशिष्टे वह्निसंबन्धग्रहोऽस्तु, गादौ तु शब्दत्वादिजात्यभावाद् न

[व्यंजकपक्ष में कार्यद्रव्य के असत्त्व की आपत्ति]

दूसरी बात यह है कि तालु आदि का व्यापार जो वस्तुतः शब्द का कारण है उसे शब्द का व्यञ्जक मानकर यदि शब्द को नित्य माना जायगा तब घट आदि के कारणों को भी घट आदि का व्यञ्जक मान कर कार्यद्रव्य की कथा ही समाप्त की जा सकेगी, क्योंकि उत्पत्ति-विनाश की कल्पना आवश्यक न होने से घट आदि को नित्य मानने में लाघव है। इतना ही नहीं कि उक्तरीति से वस्तु की नित्यता का स्वीकार सम्भव होने से अनित्य वस्तु का अस्तित्व समाप्त होगा, किन्तु सूक्ष्मदृष्टि से थोडा और विचार करने से घट आदि के ग्राहकज्ञान में ही विचार की विश्रान्ति होने से घट आदि की बाह्य सत्ता का ही लोप हो जायगा। जैसे यह कहा जा सकता है कि घट आदि की अज्ञात सत्ता का व्यवहार में कोई उपयोग न होने से यह मानना अधिक युक्ति संगत है कि घट आदि का बाह्य अस्तित्व नहीं है। किन्तु केवल ज्ञात अस्तित्व है अर्थात् घटादिज्ञान से भिन्न घटादि के अस्तित्व का स्वीकार अनावश्यक है। फलतः बाह्य अर्थ का लोप हो जाने से विज्ञानवाद बलात् गले पड जायगा।

[अनित्य पक्ष में परार्थोच्चारण की उपपत्ति]

वर्ण की नित्यता के समर्थन में जो एक बात यह कही गई कि-'यदि वर्ण नित्य न होगा तो अन्य व्यक्ति को स्वज्ञात अर्थ का बोध कराने के लिये वाक्य का उच्चारण न हो सकेगा, क्योंकि वर्ण के अनित्य-क्षणिक होने पर वर्णसमूहरूप वाक्य की निष्पत्ति सम्भव न होने से शब्द द्वारा अर्थ का बोध सम्भव न हो सकेगा'-वह युक्तिसंगत नहीं है, यतः वाक्यभावापन्न शब्द को स्वरूपतः अर्थबोध का जनक नहीं माना जाता किन्तु उस में अर्थ के सम्बन्धज्ञान को अर्थबोध का जनक माना जाता है। अतः जैसे अनित्य धूम में वह्नि के व्याप्तिसम्बन्ध का ज्ञान होने से धूम को देखकर वह्नि का बोध होता है। उसी प्रकार अनित्य शब्द में अर्थ के शक्ति-सम्बन्ध का ज्ञान होने पर अनित्य शब्द को सुनकर उस के अर्थ का बोध हो सकता है। अनित्यशब्द में अर्थ के सम्बन्ध का ज्ञान दुर्घट भी नहीं है, क्योंकि जैसे भूयोदर्शन से विभिन्न धूमव्यक्तियों में वह्नि के व्याप्तिसम्बन्ध का ज्ञान होता है उसी प्रकार भूयःप्रयोग=पुनः पुनः उच्चारण से अनित्य शब्दव्यक्तियों में अर्थ के शक्तिसम्बन्ध का भी ज्ञान हो सकता है।

[जाति में शक्तिमानी मीमांसकमत का परिहार]

यदि यह कहा जाय कि-'शब्द का सम्बन्धज्ञान व्यक्ति में न होकर केवल जाति में ही होता है, अतः शब्द के सम्बन्धज्ञान से जाति का ही बोध होता है व्यक्ति का नहीं होता।

तद्विशिष्टे शक्तिग्रह इति चेत्? न, गादावप्यनुगतव्यवहारसिद्धाया जातेः प्रतिक्षेपाऽयोगात्, श्रोत्रग्राह्यत्वादिना तद्व्यवहारान्यथासिद्ध्ययोगात्, तस्यातीन्द्रियघटितत्वात्, जातेराकृतिव्यङ्ग्यत्वनियमे मानाभावाच्च। यच्च प्रत्यभिज्ञयैव ज्ञात-ज्ञायमानशब्दैक्यमभिहितम्, तदसत्, लूनपुनर्जातकेश-नखादिष्विव तस्या भ्रान्तत्वात्, अन्यथोत्पाद-विनाशप्रतीत्यनुपपत्तेः तार-मन्द-शुक-सारिकाप्रभवा-दिशब्देन नानाविधेष्वपि वर्णेषु प्रत्यभिज्ञादर्शनात् तस्या भ्रमत्वाऽवश्यकत्वाच्च ।

व्यक्ति तो जाति से आक्षिप्त होती है शब्द से ज्ञात जाति के द्वारा उस के आश्रयभूत व्यक्ति का अनुमिति किंवा अर्थापत्ति के रूप में आक्षेपात्मक बोध होता है। अतः धूम-वह्नि को शब्द-अर्थ के दृष्टान्तरूप से प्रस्तुत करना उचित नहीं हो सकता'-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि उक्त बात दोनों में समान है, यतः यह निर्विवादरूप से कहा जा सकता है कि जैसे अनित्य अर्थ में अनित्य शब्द का सम्बन्धग्रह नहीं होता किन्तु अर्थगत जाति में शब्दगत जाति का सम्बन्धग्रह होता है और उस सम्बन्धग्रह से अर्थगत जाति का बोध होने पर अर्थ का आक्षेप होता है, उसी प्रकार धूम में वह्नि का सम्बन्धग्रह नहीं होता किन्तु धूमत्व में वह्नित्व का सम्बन्धग्रह होता है और उस सम्बन्धग्रह से वह्नित्व का बोध होने पर वह्नि का आक्षेपात्मक बोध होता है। किन्तु सत्य तो यह है कि 'जाति में ही शब्द का सम्बन्धज्ञान होता है व्यक्ति में नहीं' यह बात भी अयुक्त है क्योंकि एक साथ ही जातिविशिष्ट व्यक्ति में शब्द का सम्बन्धग्रह होता है।

[गकारादि में शब्दत्वजाति अनिवार्य]

यदि यह कहा जाय कि-'समस्त धूमों में धूमत्वजाति होती है अतः उस जाति से समस्त धूमव्यक्तियों का अनुगम सम्भव होने से समस्त धूमव्यक्तियों में तो वह्नि के व्याप्तिसम्बन्ध का ग्रह हो सकता है। पर गकार आदि वर्णों में शब्दत्व आदि जाति न होने से उस के द्वारा विभिन्न शब्दों का अनुगम शक्य न होने से समस्त शब्दव्यक्तियों में अर्थ के शक्तिसम्बन्ध का ज्ञान नहीं हो सकता'-तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि जाति अनुगत व्यवहार से सिद्ध होती है अतः जब गोत्व आदि जातियों में जातिपद के अनुगत व्यवहार से उन में भी जातिसिद्धि का परिहार नहीं हो सकता, तब गकार आदि में शब्द के अनुगत व्यवहार से सिद्ध होने-वाली शब्दत्वजाति का परिहार नहीं हो सकता है। अतः शब्दत्व जाति से अनुगतीकृत समस्त शब्दव्यक्तियों में अर्थ के शक्ति सम्बन्धग्रह को दुर्घट नहीं कहा जा सकता।

यह भी नहीं कहा जा सकता कि 'गकार आदि में अनुगत शब्दव्यवहार श्रोत्रग्राह्यगुणत्व को विषय करता है न कि शब्दत्वजाति को, अतः गकार आदि में शब्दत्वजाति की सिद्धि असम्भव है'-क्योंकि श्रोत्रग्राह्यगुणत्व अतीन्द्रिय श्रोत्र से घटित होने के कारण दुर्ग्रह है अतः उस के द्वारा शब्द के अनुगत व्यवहार की उपपत्ति सम्भव न होने से उस के उपपादक विषय के रूप में शब्दत्व जाति की सिद्धि अनिवार्य है।

यह भी नहीं कहा जा सकता कि 'जाति आकृति से व्यङ्ग्य होती है अतः गकार आदि की कोई आकृति न होने से उस में शब्दत्वजाति की परिकल्पना असम्भव है'-क्योंकि 'जाति-मात्र आकृतिव्यङ्ग्य होती है' इस नियम में कोई प्रमाण नहीं है।

एतेन 'उत्पाद-विनाशप्रतीतीनामेव भ्रमत्वमस्तु । न चोत्पाद-विनाशप्रतीतीनां भ्रमत्वकल्पनामपेक्ष्य प्रत्यभिज्ञामात्रस्य तत्कल्पने लाघवम्, प्रत्यभिज्ञानामप्यानन्त्यात्, विषयबाहुल्यस्य ज्ञानबाहुल्याऽप्रयोजकत्वात् । न च 'उत्पन्नो गकारः, विनष्टो गकारः' इति वैधर्म्यज्ञानकालोत्पत्तिकायाः प्रत्यभिज्ञायास्तज्जातीयाऽभेदविषयकत्वम्, 'श्यामो नष्टः, रक्त उत्पन्नः' इति ज्ञानकाले 'स एवायं घटः' इति व्यक्त्यैक्यप्रतीतिस्तु तत्र विशिष्टोत्पादादिप्रतीतेः शुद्धव्यक्त्यभेदाऽविरोधित्वात्; इह तु शुद्धस्यैव गकारादेरुत्पादादिधीरिति विशेषादिति वाच्यम्; तादृशवैधर्म्यज्ञानाभावकालोत्पन्नपूर्वापरकालीनव्यक्त्यभेदविषयकप्रत्यभिज्ञया तदैक्यसिद्धावुत्पादादिप्रतीतेर्वायुसंयोगाद्युत्पादादिविषयकत्वस्य सुवचत्वात्, वह्न्यादौ धूमादिव्याप्तिभ्रमवद् नित्येऽपि शब्दे स्वत्वगर्भस्यापि सखण्डोत्पादस्य भ्रमसंभवात् साक्षाद्विरोधिनस्तथाविधोत्पादस्य व्यावर्तकत्वेनाऽगृहीतत्वात् तद्बुद्धेर्व्यक्त्यभेदबुद्ध्यविरोधित्वाच्च' इत्युक्तावपि न क्षतिः ।

[प्रत्यभिज्ञा से शब्द में एकत्व सिद्धि का असंभव]

ज्ञात और ज्ञायमान शब्दों में प्रत्यभिज्ञा द्वारा जो ऐक्य की सिद्धि बताई गई, वह भी संगत नहीं है, क्योंकि कर्तित केश और छिन्न नख में पुनः उत्पन्न केश और नख का भेद होने पर भी उन में ऐक्य की प्रत्यभिज्ञा होने से प्रत्यभिज्ञा भ्रमात्मक होती है अतः उस के द्वारा कभी भी ऐक्य की सिद्धि नहीं हो सकती । अन्यथा ज्ञात और ज्ञायमान शब्दों के ऐक्य की प्रत्यभिज्ञा से यदि शब्द को नित्य माना जायगा तो गकारादि वर्णों में जो 'गकार उत्पन्न हुआ, गकार विनष्ट हुआ' इस प्रकार के उत्पत्ति-विनाश की प्रतीति होती है उस की उपपत्ति न हो सकेगी । सच सत्य तो यह है कि श्रुत एवं श्रूयमाण शब्दों में ऐक्य की प्रत्यभिज्ञा भ्रम ही है, क्योंकि तार, मन्द, शुकप्रभव, सारिकाप्रभव आदि भेद से अनेकविध गकारादि वर्णों में भी ऐक्य की प्रत्यभिज्ञा इस प्रकार होती है कि 'जो गकार पहले तार सुनाई पडा वही अब मन्द सुनाई पड रहा है।' एवं 'जो गकार शुक के मुख से सुन पडा वही सारिका के मुख से भी सुन पड रहा है।' यह प्रत्यभिज्ञा विविध वर्णों में ऐक्य को विषय करने से निर्विवादरूप से भ्रम हैं । अतः जैसे शब्दविषयक यह प्रत्यभिज्ञायें भ्रम हैं उसी प्रकार श्रुत तथा श्रूयमाण शब्दों में ऐक्य की प्रत्यभिज्ञा का भी भ्रमरूप होना ही उचित है । इसलिये उस के बल से शब्द की नित्यता का साधन असम्भव है ।

[शब्दनित्यतावादी का सविस्तर प्रतिपादन अबाधक]

शब्दनित्यत्ववादी का कहना यह है कि-गकार आदि वर्णों में जो उत्पत्ति और विनाश की प्रतीति होती है वही भ्रम है, श्रुत और श्रूयमाण वर्णों में जो ऐक्य की प्रत्यभिज्ञा होती है, वह भ्रम नहीं है । यदि यह कहा जाय कि 'उत्पत्ति और विनाश की बहुतर प्रतीतियों को भ्रम मानने की अपेक्षा प्रत्यभिज्ञात्मक एक प्रतीति को भ्रम मानने में लाघव है' तो यह ठीक नहीं है क्योंकि प्रत्यभिज्ञा भी विषयदृष्टि से एक होते हुये भी स्वरूपदृष्टि से अनन्त है । यदि यह कहा जाय कि 'उत्पत्ति उत्पद्यमान के भेद से, तथा विनाश प्रतियोगी के भेद से अनन्त है, अतः उन्हें विषय करनेवाली प्रतीतियों का आनन्त्य उचित है, पर प्रत्यभिज्ञा तो पूर्वज्ञात और वर्तमान में ज्ञायमान विषय के अभेदात्मक एकविषय को ग्रहण करती है, इसलिये उसका आनन्त्य अनुचित है' तो यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि अनेक विषयों को ग्रहण करनेवाले समूहालम्बन ज्ञान के एक होने से तथा एक ही विषय को ग्रहण करनेवाले क्रमोत्पन्नज्ञानों में भेद होने से विषयबाहुल्य में ज्ञानबाहुल्य की प्रयोजकता असिद्ध है ।

[ज्ञात और ज्ञायमान में ऐक्य निरापद]

यदि यह कहा जाय कि-' गकार में विरुद्ध धर्मों के उत्पत्ति और विनाश रूप वैधर्म्य के ज्ञानकाल में जो पूर्वज्ञात और वर्तमान में ज्ञायमान गकार में ऐक्य की प्रत्यभिज्ञा होती है वह ज्ञायमानव्यक्ति में ज्ञातव्यक्ति के अभेद को विषय नहीं करती किन्तु ज्ञायमान में ज्ञात के सजातीय के अभेद को विषय करती है। अतः ज्ञात और ज्ञायमान गकार में भेद होने पर भी दोनों में साजात्य होने से ज्ञायमान गकार में ज्ञातगकार के सजातीय के अभेद को विषय करने से प्रत्यभिज्ञा के प्रामाण्य की भी उपपत्ति हो जाती है और उस से ज्ञात और ज्ञायमान में ऐक्यसिद्धि की आपत्ति भी नहीं होती। ज्ञात और ज्ञायमान गकार में प्रत्यभिज्ञा की उक्त रूप से उपपत्ति करने पर यद्यपि यह शंका हो सकती है कि-' श्याम घट नष्ट हो गया, रक्त घट उत्पन्न हुआ ' इस ज्ञान के समय होनेवाली ' यह वही घट है ' इस प्रकार की श्याम और रक्त घट के ऐक्य की प्रत्यभिज्ञा भी ' यह वही गकार है ' इस प्रत्यभिज्ञा के समान व्यक्ति-अभेदविषयक न होकर सजातीयाभेदविषयक हो जायगी। अतः इस प्रत्यभिज्ञा से भी व्यक्त्यभेद की सिद्धि न होगी '-किन्तु विचार करने पर यह शङ्का उचित नहीं प्रतीत होती क्योंकि श्यामरूपविशिष्टघट के नाश की प्रतीति एवं रक्तरूपविशिष्टघट के उत्पाद की प्रतीति विशेषण के नाश और उत्पाद के द्वारा उपपन्न हो सकने से शुद्धघटव्यक्ति के अभेद की विरोधिनी नहीं होती, अतः पूर्व में श्याम और वर्तमान में रक्त घट के अभेद को विषय करनेवाली उक्त प्रतीति व्यक्तिअभेदविषयतया प्रमा हो सकती है; पर पूर्वज्ञात और वर्तमान में ज्ञायमान गकार में ऐक्य को विषय करनेवाली प्रत्यभिज्ञा व्यक्त्यभेदविषयक प्रमा नहीं हो सकती क्योंकि शुद्ध गकार के उत्पाद और विनाश की प्रतीति से उत्पन्न एवं विनष्ट गकार में भेद सिद्ध होने से उक्त प्रतीति द्वारा उत्पन्न-विनष्ट गकार का अभेद बाधित है।'-तो यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि गकार में उत्पत्ति और विनाश की प्रतीति की अभावदशा में जो ' यह वही गकार है' यह प्रत्यभिज्ञा होती है उस से पूर्वज्ञात और ज्ञायमान गकार में ऐक्य के सिद्ध होने में कोई बाधा न होने से, गकार में होनेवाली उत्पत्ति और विनाश की प्रतीति के विषय में यह कहा जा सकता है कि यह प्रतीति गकार के व्यञ्जक वायुसंयोग की उत्पत्ति और विनाश को विषय करती है अथवा यह भी कहा जा सकता है कि यह प्रतीति नित्य शब्द में उत्पत्ति आदि को विषय करने से भ्रम है।

[उत्पत्ति की प्रतीति में भ्रान्तता अनुपपन्न नहीं]

यदि यह कहा जाय कि-' उत्पत्ति स्वाधिकरणक्षणध्वंसानधिकरणक्षण सम्बन्धरूप है। जैसे जो व्यक्ति जिस क्षण में उत्पन्न होता है वह क्षण उस व्यक्ति के अधिकरणभूतक्षणों के ध्वंस का अनधिकरण होता है क्योंकि उस के पूर्व उस व्यक्ति का अभाव होने से उस के पूर्व का क्षण उस का अधिकरण नहीं होता। और जो क्षण उस व्यक्ति के अधिकरण होते हैं उन में उस का उत्पत्तिक्षण सर्वप्रथम क्षण है जो उस क्षण में नष्ट न होकर उस के अगले क्षण में नष्ट होता है अतः उस क्षण के साथ उस व्यक्ति के सम्बन्ध को ही उस व्यक्ति की उत्पत्ति कही जाती है। नित्यव्यक्ति सभी क्षणों में रहता है अतः प्रत्येक क्षण उस के अधिकरणभूत अपने पूर्वक्षण के ध्वंस का अधिकरण होता है, इसलिये उत्पत्ति के उक्त लक्षण में स्वशब्द से नित्य व्यक्ति को ग्रहण करने पर उत्पत्ति की अप्रसिद्धि हो जाने से नित्य में उस का भ्रम

न च तारत्वादिकं ध्वनिधर्म एव शब्द आरोप्यते, न तु शब्दस्य स्वाभाविकं रूपमिति वाच्यम्; तस्य तारत्वादिधर्मवत्तयैव नित्यमनुभूयमानतया तत्र तारत्वाद्यारोपाऽयोगात्। तदुक्तम्——

"यो ह्यन्यरूपसंवेद्यः संवेद्येतान्यथापि वा। स मिथ्या न तु तेनैव यो नित्यमुपलभ्यते ॥१॥" इति

नहीं हो सकता क्योंकि एकत्र प्रसिद्ध का ही अन्यत्र भ्रम होता है'–तो यह ठीक नहीं है क्योंकि इस दृष्टि से विचार करने पर वह्नि में धूम की व्याप्ति का भी भ्रम नहीं होगा। यतः व्याप्ति स्वव्यापकसामानाधिकरण्यरूप है, जैसे: धूम में धूमव्यापकवह्नि का सामानाधिकरण्य यही धूम में वह्नि की व्याप्ति है, किन्तु व्याप्ति के लक्षण में स्वशब्द से वह्नि को पकडने पर धूम में वह्नि की व्याप्ति वह्निव्यापकधूमसामानाधिकरण्यरूप होगी जो कि धूम वह्नि का व्यापक न होने से अप्रसिद्ध है। अतः वह्नि में धूमव्याप्ति के भ्रम की उपपत्ति यह कहकर करनी होगी कि यद्यपि वह्निव्यापकधूमसामानाधिकरण्य अखण्डरूप में प्रसिद्ध नहीं है किन्तु वह्निव्यापकत्व और धूमसामानाधिकरण्य इन दो खण्डों में प्रसिद्ध है। अतः वायु में प्रसिद्ध वह्निव्यापकत्व का धूम में अवगाहन कर वह्नि 'स्वव्यापक धूम का समानाधिकरण है' इस प्रकार वह्नि में धूम व्याप्ति का भ्रम हो सकता है। तो जैसे वह्नि में धूम की सखण्डव्याप्तिभ्रम की उपपत्ति होगी उसी प्रकार नित्यपदार्थ में सखण्ड उत्पाद के भी भ्रम की उपपत्ति हो सकती है। जैसे-यह कहा जा सकता है कि यद्यपि नित्यपदार्थ के अधिकरणभूतक्षणों के ध्वंस का अनधिकरणक्षण अप्रसिद्ध होने से अखण्डरूप में नित्य का उत्पाद अप्रसिद्ध है, तथापि नित्याधिकरण समानाधिकरणत्व और क्षणसम्बन्ध इन दो खण्डों में प्रसिद्ध है अतः गगन आदि में प्रसिद्ध नित्याधिकरणक्षणध्वंसानधिकरणत्व का क्षण में अवगाहन कर नित्यपदार्थ में स्वाधिकरणक्षणध्वंसानधिकरणक्षणसम्बन्धरूप सखण्ड उत्पाद का भ्रम हो सकता है।

[प्रत्यभिज्ञा में सजातीयाभेदविषयकता का निराकरण]

जो यह कहा गया कि–'गकार में उत्पत्ति–विनाश की प्रतीति के समय 'यह वही गकार है' इस प्रकार श्रुत और श्रूयमाण गकार में अभेदग्राहिणी प्रत्यभिज्ञा नहीं हो सकती अतः वह व्यक्त्यभेदविषयक न होकर सजातीयाभेदविषयक है' यह भी ठीक नहीं है क्योंकि उक्त उत्पत्ति विनष्टव्यक्ति के अभेद का अभावरूप न होने से उस के अभेद का साक्षाद् विरोधी नहीं है और अभेद के व्यावर्तक अभेदाभाव के व्याप्यरूप में गृहीत भी नहीं है। अतः उस का ज्ञान विनष्टव्याप्ति की अभेद बुद्धि का विरोधी नहीं हो सकता। इसलिये गकार में उत्पत्ति और विनाश की प्रतीति के समय भी उत्पन्नरूप में प्रतीत श्रूयमाण गकार में विनष्टरूप में प्रतीत श्रुत गकार के अभेद को ग्रहण करनेवाली प्रत्यभिज्ञा का सम्भव होने से उस के बल से शब्द की नित्यता प्रतिष्ठित करने में कोई बाधा नहीं है।

[सविस्तर प्रतिपादन का निरसन]

शब्दनित्यत्ववादी के उक्त सविस्तर कथन पर यदि विचार किया जाय तो यह निश्चित होता है कि उक्त कथन से भी शब्द के अनित्यतापक्ष की कोई क्षति नहीं है क्योंकि लून–पुनर्जात केश आदि की प्रत्यभिज्ञा के समान श्रुत एवं श्रूयमाण गकार आदि के ऐक्य की प्रत्यभिज्ञा को भी भ्रम मान लेने में कोई आपत्ति न होने से तथा प्रत्यभिज्ञा से भिन्न शब्द की नित्यता का साधक कोई प्रमाण न होने से गकार आदि की उत्पत्ति और विनाश की प्रतीति के अनुरोध से शब्द की अनित्यता का अभ्युपगम निष्कंटक है।

न च ध्वनिधर्मत्वे तारत्वादीनां ग्रहणमप्युपपद्यते, स्पर्शाद्यनन्तर्भावेन त्वगादीनामशब्दधर्मत्वेन च श्रोत्रस्य तत्राऽव्यापारात् । 'सन्तु तर्हि ध्वनयो नाभसाः' इति चेत् ? न, तथापि व्यक्तियोग्यतान्तर्भूतत्वाज्जातियोग्यतायाः 'तारोऽयम्' इत्यादौ ध्वन्यस्फुरणे तद्गततारत्वाद्यस्फुरणप्रसङ्गात् । न चेदेवम्; कत्वादिकमपि वायुगतमेवारोप्यतेति शब्दैक्यं स्यात्, कादेरपि वा वायुधर्मत्वं स्यात् । 'अस्त्वेवं को दोषः ?' इति चेत् ? वायुगतयोग्यधर्मत्वे तद्गतस्पर्शादिवत् त्वचा ग्रहप्रसङ्गः, अवयविगुणत्वेऽनित्यत्वस्य, परमाणुगुणत्वे चाग्रहणस्य प्रसङ्गः ।

[तार-मन्दता शब्दों में आरोपित नहीं है]

यदि यह कहा जाय कि-'तारत्व मन्दत्व ध्वनि का धर्म है, शब्द में उस का आरोप होता है, शब्द का वह स्वाभाविक धर्म नहीं है । अतः तार और मन्द प्रतीत होने वाले शब्दों में भेद न होने से तार और मन्द शब्द की ऐक्य प्रत्यभिज्ञा को कहना सम्भव न होने से उस के दृष्टान्त से ज्ञात और ज्ञायमान गकार आदि में ऐक्य की प्रत्यभिज्ञा को भ्रम नहीं कहा जा सकता-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि शब्द का अनुभव तारत्व आदि रूपों से ही सर्वदा होता है अतः उस में तारत्व आदि का आरोप नहीं माना जा सकता । कहा भी गया है कि-जो पदार्थ बहुधा किसी एक रूप से संविदित होता है वह यदि कभी अन्य रूप से भी संविदित होने लगता है तो वह अन्य रूप उस का आरोपित रूप होता है किन्तु जिस रूप से जो पदार्थ सदा संविदित होता है वह उस का आरोपित रूप नहीं होता ।

[तार—मन्दता को ध्वनि के धर्म मानने में आपत्ति]

सत्य तो यह है कि तारत्व आदि शब्द की ही स्वाभाविक धर्म हैं ध्वनि का नहीं, क्योंकि यदि उसे ध्वनि का धर्म माना जायगा तो उस का ज्ञान ही न हो सकेगा क्योंकि वायु आदि स्वरूप ध्वनि के तारत्व आदि धर्मों का स्पर्श आदि में अन्तर्भाव न होने से उसके ग्रहण में त्वक् आदि का, तथा शब्द का धर्म न होने से उसके ग्रहण में श्रोत्र का व्यापार नहीं हो सकता । यदि यह कहा जाय कि-'ध्वनि को वायु आदि स्वरूप मानने पर ही उक्त दोष हो सकता है अतः उसे वायु आदि स्वरूप न मानकर नाभस=आकाशमय मान कर उक्त दोष की सम्भावना समाप्त की जा सकती है'-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि जाति की प्रत्यक्षयोग्यता व्यक्ति=आश्रय की प्रत्यक्ष योग्यता पर निर्भर होती है अतः 'तारोऽयम्=यह तार है' इस प्रतीति में नाभस होने के नाते अयोग्य ध्वनि का भान न होने पर उसके तारत्व आदि धर्म का भी भान न हो सकेगा । और यदि अयोग्य ध्वनि का धर्म होने पर भी तारत्व आदि को प्रत्यक्ष योग्य माना जायगा तो यह भी कहा जा सकेगा कि ककार, खकार आदि जो धर्म शब्द में प्रतीत होते हैं उन में अनेकत्व नहीं है किन्तु शब्द एक ही है। कत्व, खत्व आदि जो धर्म शब्द में प्रतीत होते हैं वे शब्द के धर्म न होकर वायु के धर्म हैं, शब्द में उस का आरोपमात्र होता है। अथवा यह भी कहा जा सकेगा कि ककार आदि भी वायु के ही धर्म हैं, शब्द का कोई अतिरिक्त अस्तित्व ही नहीं है । यदि यह कहा जाय कि 'कोई दोष न होने से इस पक्ष का अभ्युपगम हो सकता है' तो यह ठीक नहीं है क्योंकि कत्व आदि को अथवा ककार आदि को वायु का प्रत्यक्षयोग्य धर्म मानने पर वायु के स्पर्श आदि के समान त्वगिन्द्रिय से उसके ग्रहण की आपत्ति होगी । एवं अवयवी वायु का गुण मानने पर अनित्यता की तथा वायुपरमाणु का गुण मानने पर उसके अप्रत्यक्षत्व की आपत्ति होगी ।

किञ्च, नित्यत्वे शब्दस्य सर्वदा सर्वोपलब्धिप्रसङ्गः। विजातीयवायुसंयोगादीनां व्यञ्जकत्वं च नित्यसर्वगतस्य गकारादेर्वर्णस्य, श्रोत्रस्य, उभयस्य वाऽऽवारकाणां वायूनामपनयनाद् वर्ण–श्रोत्र–तदुभयसंस्कारक्रमेण वक्तव्यम्। तत्र वर्णसंस्कारपक्ष आवारककृतविज्ञानजनकशक्तिप्रतिबन्धापनयनद्वारा विज्ञानजनकशक्त्याविर्भावने शक्ति-शक्तिमतोः कथञ्चिदभेदाद् वर्णस्वरूपमेवाविर्भावितं भवति, इति कथं न वर्णस्य व्यञ्जकजन्यत्वम्?, जनकसंनिधानप्रागुत्तरकालीनज्ञानजननाऽजननस्वभावभेदावश्यकत्वाच्चेति किमभिव्यक्त्या? अपि च, वर्णाभिव्यक्तिपक्षे कोष्ठ्येन वायुना यावद्वेगमभिसर्पता यावान् वर्णविभागोऽपनीतावरणः कृतस्तावत एव श्रवणं स्याद् न समस्तस्य वर्णस्य, इति खण्डशस्तत्प्र-

[विजातीय वायु संयोग में व्यंजकता की अनुपपत्ति

शब्द के नित्यत्वपक्ष में दूसरा दोष यह है कि शब्द यदि नित्य होगा तो सब को सर्वदा उसके प्रत्यक्ष की आपत्ति होगी। इस के अतिरिक्त यह भी दोष होगा कि विजातीय वायुसंयोग आदि उस का व्यञ्जक न हो सकेगा क्योंकि उस में तीन ही प्रकार से व्यञ्जकता सम्भव है। एक यह कि वह वर्ण के आवारक का अपनयन कर के वर्ण का संस्कारक होने से वर्ण का व्यञ्जक हो। दूसरा यह कि वह श्रोत्र के आवारक का अपनयन कर श्रोत्र का संस्कार होने से वर्ण का व्यञ्जक हो। और तीसरा यह कि वह वर्ण और श्रोत्र दोनों के आवारक का अपनयन कर दोनों का संस्कारक होने से वर्ण का व्यञ्जक हो। इन तीनों प्रकारों में यदि वर्णसंस्कार पक्ष को स्वीकार किया जायगा तो वर्ण में व्यञ्जकजन्यता की आपत्ति होगी क्योंकि आवारक से वर्ण की अपनी विज्ञानजनकशक्ति का जो प्रतिबन्ध होता है उसके अपनयन से वर्ण की विज्ञान जनक शक्ति का आविर्भाव कर के ही विजातीय वायुसंयोग को वर्ण का व्यञ्जक कहना होगा, अतः शक्ति और शक्तिमान में कथंचित अभेद होने से वि० वायुसंयोग द्वारा शक्ति का आविर्भाव होने पर शक्तिमान वर्ण का ही आविर्भाव मानना होगा, तो जब वर्ण वायुसंयोग से आविर्भूत होगा तो उस का अर्थ ही यह होगा कि वह वायुसंयोग से जन्य है, क्योंकि आविर्भाव उत्पत्ति का ही नामान्तर है। दूसरी बात यह है कि शब्द में जब यह स्वभावभेद मानना आवश्यक है कि वह जनक-व्यञ्जक के सन्निधान से पूर्व अपने ज्ञान का अजनक होता है और जनक सन्निधान के उत्तरकाल में अपने ज्ञान का जनक होता है तो वह तो जन्य का ही स्वभाव है अतः वायुसंयोग से शब्द की उत्पत्ति मानना ही युक्तिसंगत है न कि उसे अस्वीकार कर अभिव्यक्ति मानना।

[खण्डितवर्ण–श्रवण की आपत्ति]

वर्णाभिव्यक्ति पक्षमें एक और दोष है वह यह कि कोष्ठगत वायु से वर्ण की यदि अभिव्यक्ति होगी तो वायु पूरे वेग से वर्ण के जितने भाग तक पहुंच कर उस के आवरण का अपनयन कर सकेगा, वर्ण के उतने ही भाग का श्रवण होगा, पूरे वर्ण का श्रवण न होगा। फलतः वर्ण की खण्डशः प्रतिपत्ति स्वीकार करनी पडेगी। यदि कहा जाय कि 'वर्ण निर्भाग है अतः एक ओर आवरण का अपनयन होने पर वह सर्वश आवरण मुक्त हो जाता है इसलिये उक्त दोष नहीं हो सकता'-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि वर्ण की निर्भागता के आधार पर जैसे उक्त बात कही जायगी उसी प्रकार यह भी बात कही जा सकेगी कि वर्ण जब एकत्र आवरणयुक्त होगा तो सर्वत्र आवरणयुक्त होगा। फलतः वर्ण का किंचित् भी श्रवण न हो सकेगा क्योंकि

तिपत्तिः स्यात् । 'निर्विभागत्वादेकत्रोत्सारितावरणः सर्वत्रापनीतावरणोऽयमि'ति चेत् ? तर्हि तत एवैकत्रानपनीतावरणः सर्वत्र तथेति मनागपि श्रवणं न स्यात् ।

अथार्धावृतघटादिवदभिव्यक्तः सन् सर्व एवायं गृह्यते यदवच्छेदेन संस्कारस्तदवच्छेदेन ग्रहणनियमाद् नातिप्रसङ्गः । तदुक्तम्—"यथैवोत्पद्यमानोऽयं न सर्वैरवगम्यते । दिग्देशाद्यविभागेन सर्वान् प्रति भवन्नपि ॥१॥ तथैव तत्समीपस्थैर्नादैः स्याद् यस्य संस्कृतिः । तैरेव गृह्यते शब्दो न दूरस्थैः कथञ्चन ॥२॥" [श्लो.वा. ६/८४-८५] इति न दोष इति चेत् ? न, असिद्धमसिद्धेन साधयतो महासाहसिकतापत्तेः, घटस्याप्यावृताऽनावृतदेशयोः खण्डाऽखण्डप्रतिभासभेदेन भेदसाधनात्, तद्वदस्य सविभागत्वप्रसङ्गात्, संस्कृताऽसंस्कृतदेशभेदात्, अन्यथा सर्वात्मना संस्काराधानेऽन्यत्रावारकाणां शक्तेः प्रतिबद्धुमशक्यत्वेना-

---

एकत्र सुन पडनेवाला भी वर्ण सर्वत्र नहीं सुन पडता । अतः जिन स्थानों में वह नहीं सुन पडता उन स्थानों में उसे आवरणयुक्त मानना आवश्यक है और जब वह कहीं आवरणयुक्त होगा तो उक्त रीति से उस का सर्वत्र आवरणयुक्त होना अपरिहार्य है ।

[संस्कारावच्छेदकावच्छेदेन शब्दग्रहण की आशंका]

यदि यह कहा जाय कि-' पूर्णरूप से ज्ञान और सर्वत्रज्ञान में भेद है । अतः एक वस्तु पूर्णरूप में ज्ञात होकर भी सर्वत्र अज्ञात हो सकती है । इसलिये यह कहा जा सकता है कि जैसे आधे भाग में ढका हुआ घट अभिव्यक्त होने पर पूर्ण रूप से गृहीत होते हुये भी आवृत्त भाग में अगृहीत रहता है उसी प्रकार शब्द भी अभिव्यक्त होने पर पूर्णरूप से ही गृहीत होता है । किन्तु जिन स्थानों में आवृत्त रहता है उन स्थानों में अगृहीत रहता है । क्योंकि जिस देश में व्यञ्जक वायुसंयोग से शब्द का आवरणापनयन द्वारक संस्कार होता है उस संस्कार से उस देश में ही शब्द ग्रहण का नियम है । अतः एकत्र शब्द के अनावृत्त होने पर सर्वत्र अनावृत्त होने अथवा एकत्र आवृत्त होने पर सर्वत्र आवृत्त होने के प्रसंग से एकत्र अभिव्यक्त शब्द के सर्वत्र ग्रहण अथवा एकत्र अनभिव्यक्त शब्द के सर्वत्र अग्रहण का प्रसङ्ग नहीं हो सकता । यह बात इस प्रकार स्पष्ट भी की गई है कि-"जैसे शब्द के अनित्यतापक्ष में जो शब्द उत्पन्न होता है वह दिग्देशविभाग से हीन होने के कारण सब मनुष्यों के लिये समान रूप में उत्पन्न होता है, फिर भी सब मनुष्यों द्वारा गृहीत नहीं होता किन्तु जिस के श्रोत्र से सन्निकृष्ट होता है उसी को गृहीत होता है, उसी प्रकार जिस मनुष्य के समीपस्थ नाद-ध्वनि से जिस शब्द का आवरणापनयन द्वारक संस्कार होता है वह शब्द उसी मनुष्य को गृहीत होता है । व्यञ्जक ध्वनि से दूरस्थ मनुष्यों को कथमपि गृहीत नहीं होता" । अतः शब्दनित्यतापक्ष में उद्भावित उक्त दोष नहीं हो सकता ।

[घटवत् शब्द में सभागत्व की प्रसक्ति-उत्तर]

तो यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि असिद्ध से असिद्ध का साधन करने पर साधक में महासाहसिकता की आपत्ति होगी और महासाहसिक यानी अविवेककारी का कार्य मान्य नहीं होता । कहने का आशय यह है कि आवृतदेश में खण्डप्रतिभास और अनावृतदेश में अखण्डप्रतिभास के भेद से घट की भी भिन्नता सिद्ध होती है । अर्थात् घट के विषय में यह सिद्ध होता है कि घट विभिन्न अवयवों के संयोग से उत्पन्न एक अखण्ड अवयवी द्रव्य नहीं है किन्तु अवयवों का समूह है, क्योंकि जब उस के कुछ अवयव आवृत होते हैं तब उस का खण्डप्रतिभास-आंशिक

ऽकिञ्चित्करतयाऽतिप्रसङ्गस्य तादवस्थ्यात् । उत्पत्तिपक्षे त्वव्यापकत्वाद् यत्समीपवर्ती वर्ण उत्पन्न-
स्तेनैवासौ गृह्यते न दूरस्थैरिति नातिप्रसङ्गः । दिग्देशाद्यविभागेन....इति वार्तावासंगतम्, अविभा-
गस्य कस्यचिद् वस्तुनोऽसंभवेनाऽनभ्युपगमात् । किञ्च, व्यापकत्वेन वर्णानामेकावरणापायेन समान-
देशत्वे सर्वेषामनावृतत्वाद् युगपत् सर्ववर्णश्रुतिः स्यात् । न च प्रतिनियतवर्णश्रवणान्यथानुपपत्त्या
व्यञ्जकभेदसिद्धेर्नायं दोषः स्यादिति वाच्यम्, तद्भेदो ह्यावारकभेदेस्यात्, अभिन्नावारकापनेतृत्वे
तद्भेदाऽसिद्धेः । आवारकभेदश्च वर्णदेशभेदे स्यात्, समानदेशानामेकावारकेणैवापरावरणदर्शनात् ।
देशभेदोऽपि वर्णानामव्यापकत्वे सति स्यात्, व्यापकत्वे तु परस्परदेशपरिहारेण तेषामनवस्थानाद्
देशभेदासिद्धेः । न चाऽव्यापकत्वं वर्णानामभ्युपगम्यते भवद्भिरिति ।

दर्शन होता है और जब उस के समस्त अवयव अनावृत होते हैं तब उस का अखण्डप्रतिभास
पूर्णदर्शन होता है । तो जैसे आवृत अनावृतदेश के भेद से घट सभाग होता है उसी प्रकार
वायुसंयोगरूप व्यञ्जक से संस्कृत और असंस्कृत देश के भेद से शब्द में भी सभागत्व की प्रसक्ति
अपरिहार्य होगी । इस दोष के निवारणार्थ यदि वायुसंयोग से शब्द का सर्वात्मना संस्कार
माना जायगा तो उस से अन्यत्र-व्यञ्जक वायुशून्यस्थान में आवारक की शक्ति का प्रतिबन्ध
शक्य न होने से व्यञ्जक वायु के समीप भी उस से आवारक की शक्ति का प्रतिबन्ध न होगा ।
फलतः व्यञ्जकवायु के समीप भी आवृत्त ही शब्द का श्रवण मानना होगा और जब एकत्र
आवृत्त शब्द का ही श्रवण होगा तो अन्यत्र भी उस के श्रवण की आपत्ति दुर्वार होगी । शब्द
के उत्पत्तिपक्ष में यह दोष सम्भव नहीं है क्योंकि उस पक्ष में शब्द अव्यापक है अतः जो शब्द
जिस के समीप उत्पन्न होगा उस का श्रवण उसी को होगा दूरस्थ पुरुषों को नहीं होगा । शब्द
के अनित्यतापक्ष में जो यह बात कही गई कि 'शब्द दिग्-देश आदि के विभाग से हीन
होकर सब के प्रति समानरूप से उत्पन्न होता है' यह ठीक नहीं है, क्योंकि निर्विभाग किसी
भी वस्तु का सम्भव न होने से निर्विभाग शब्द की उत्पत्ति का अभ्युपगम अशक्य है ।

[एक शब्द के श्रवण में सर्वशब्द श्रवणापत्ति]

शब्दनित्यता पक्ष में एक दोष और है, वह यह कि नित्यतापक्ष में शब्द व्यापक होता
है, सभी वर्ण सर्वत्र विद्यमान होते हैं अतः किसी एक देश में एकवर्ण के अनावृत होने
पर उस देश में स्थित सभी वर्ण अनावृत होंगे, फलतः एक शब्द के श्रवण के समय सभी
शब्दों के सहश्रवण की आपत्ति होगी । यदि यह कहा जाय कि-'एकस्थान में सभी वर्णों का
श्रवण न होकर जो प्रतिनियत वर्णों का ही श्रवण होता है उस की प्रकारान्तर से उपपत्ति न
हो सकने से विभिन्न शब्दों के लिये विभिन्न व्यञ्जकों की कल्पना होने से उक्त दोष नहीं हो
सकता'-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि व्यञ्जक का भेद आवारक के भेद पर निर्भर है । व्यञ्जक
को अभिन्न आवारक का अपनयनकर्ता मानने पर उस में भेद की सिद्धि नहीं हो सकती ।
व्यञ्जकभेद की सिद्धि के लिये आवारक का भेद भी तभी सिद्ध होगा जब वर्णों के देश में
भेद हो क्योंकि एकदेश में स्थित पदार्थों का एक ही आवरण आवारक होता है । वर्णों का
देशभेद भी तभी होगा जब वर्ण अव्यापक हो, क्योंकि व्यापक मानने पर एक के देश को
त्याग कर दूसरे का अवस्थान सम्भव न होने से देशभेद की सिद्धि नहीं हो सकती और
वर्ण की अव्यापकता शब्दनित्यत्ववादी को मान्य नहीं है ।

व्यञ्जकत्वाभिमतानां नावारकापनेतृत्वेन व्यञ्जकत्वम्, किन्तु वर्णे दृश्यस्वभावाधानात्, इत्युपगमे तु स्ववाचैव तस्य परिणामित्वमभिहितम्। 'स्वप्रतिपत्तौ सहकारित्वेनैव व्यञ्जकत्वम्', इत्यप्येकान्तनित्यस्य सहकार्यपेक्षाऽयोगाद् न शोभते, विजातीयवायुसंयोगानां कत्वादेरेव जन्यतावच्छेदकत्वौचित्याच्च, अन्यथा कोलाहलप्रत्ययानुपपत्तेः, तत्र कादिविषयकत्वे च तारतम्यानुपपत्तेः। न च ध्वनिगतमेव तारतम्यं तत्रारोप्यत इति सांप्रतम्, तस्याऽश्रावणत्वात्, विलक्षणतारतम्यानुभवाच्च। कत्वादिशब्दत्वादिप्रकारकप्रत्यक्षे पृथग्धेतुत्वे तु गौरवम्। न च कत्वादिप्रकारकप्रत्यक्षे दोषाभावहेतुत्वमपेक्ष्य विजातीयवायुसंयोगहेतुत्वमावश्यकमिति युक्तम्, तत्र कोलाहलादावपि बहु-बहुविधादिमतिज्ञानभेदवतः कत्वादि-शुक्लत्वादिप्रकारकप्रत्यक्षोदयात्, तत्र दोषाऽभावहेतुत्वावश्यकत्वात्। न च

[दृश्यस्वभाव के आधान में शब्द-परिणामिता सिद्धि]

यदि यह कहा जाय कि-' शब्दनित्यत्ववादी जिसे शब्द का व्यञ्जक मानते हैं वह शब्द के आवारक का अपनयन करने से शब्द का व्यञ्जक नहीं होता अपितु वर्ण में दृश्यस्वभाव का आधान करने से व्यञ्जक होता है।'-तो इस कथन से शब्द का परिणामित्व शब्दनित्यत्ववादी के अपने वचन से ही उक्त हो जाता है जिस से शब्द का नित्यतापक्ष अनायास निरस्त हो जाता है।

वर्ण के प्रत्यक्ष में सहकारी होने से भी वायुसंयोग को वर्ण का व्यञ्जक मानना समीचीन नहीं हो सकता क्योंकि शब्दनित्यतावादी के मत में वर्ण एकान्त नित्य है और एकान्तनित्य में सहकारी की अपेक्षा युक्तिसंगत नहीं हो सकती क्योंकि सहकारी की अपेक्षा उसी वस्तु में युक्तिसंगत होती है जो सहकारी से उपकृत होता है। एकान्तनित्य वस्तु को सहकारी से उपकृत नहीं माना जा सकता क्योंकि उसे सहकारी से उपकृत मानने पर उपकारात्मना उस में अनित्यत्व की प्रसक्ति होने से उस की एकान्तनित्यता का भङ्ग हो जायगा।

वर्ण को जन्य न मान कर नित्य तथा व्यङ्ग्य मानने में एक और दोष है वह यह कि ककारादिवर्ण के नित्य होने पर उस के प्रत्यक्ष को विजातीयवायुसंयोग से जन्य मानना होगा और ऐसा मानने में ककारादिविषयक प्रत्यक्षत्व को विजातीयवायुसंयोग का जन्यतावच्छेदक मानने में गौरव होता है, अतः लाघव की दृष्टि से कत्व, खत्व आदि वर्णधर्मों को ही विजातीयवायुसंयोग का जन्यतावच्छेदक मानना उचित है, इसलिये ककारादि वर्ण जन्य ही है, नित्य एवं व्यङ्ग्य नहीं है।

[शब्द-अनुत्पत्तिपक्ष में कोलाहलप्रतीति की अनुपपत्ति]

यह भी ज्ञातव्य है कि विजातीयवायुसंयोग से ककार आदि की उत्पत्ति न मान कर कत्व आदि रूपों से ककारादि का प्रत्यक्ष मानने पर कोलाहल की प्रतीति की उपपत्ति न हो सकेगी क्योंकि जिस प्रतीति में शब्द के कत्वादि धर्मों का भान न होकर शब्दत्व मात्र का ही भान होता है उसे ही 'कोलाहल प्रतीति' कही जाती है, किन्तु विजातीयवायुसंयोग जब ककार आदि का जनक न होकर कत्वादिप्रकारक प्रत्यक्ष का ही जनक होगा तो कत्वादि के भान से शून्य शब्दप्रतीति के सम्भव न होने से कोलाहल प्रतीति न हो सकेगी। हाँ, जब ककार आदि की उत्पत्ति मानी जायगी तब तो अनेक वर्णों की एकस्थान में सहोत्पत्ति के दोष से कत्वादि के ज्ञान का प्रतिबन्ध होने से कत्वादिभानशून्य शब्दमात्र की प्रतीतिरूप कोलाहलप्रतीति के होने में कोई बाधा न होगी।

कोलाहलादिकालीन-कत्वादिप्रकारकप्रत्यक्षे गुणविशेषस्यैव हेतुत्वम्, तथापि विजातीयवायुसंयोगानां विशिष्य हेतुत्वे गौरवानपायात्, गुणविशेषस्य क्षयोपशमविशेषद्वारकत्वेन 'यद्विशेष'० इति न्यायात् सामान्यत एव क्षयोपशमस्य हेतुत्वाच्च । न च स्वाश्रयविषयतयापि कत्वादिकं जन्यतावच्छेदकमिति वक्तुं युक्तम्, कादेः स्वगतधर्मानुविधायित्वेन साक्षादेव कत्वादेस्तत्त्वौचित्यात्, अन्यथा घटत्वादेरपि ज्ञानगतस्यैव तथात्वप्रसङ्गात् । एतेन शुकादिककारादेरपि विषयितया तथात्वं निरस्तम्, शब्दत्वादिप्रहेऽतिप्रसङ्गाऽनिरासाच्च । तदीयश्रवणसमवाये श्रावणत्वस्योपलक्षणत्वेऽतिप्रसक्तत्तादवस्थ्यात् । विशेषणत्वे तु प्रथमं केवलशब्दप्रत्यक्षस्वीकारेऽपसिद्धान्तापाताच्चेति न किञ्चिदेतत् । एतेन 'नित्यत्वपक्षेऽपि' इत्यारभ्य दिगन्तं पूर्वपक्षोक्तं प्रत्युक्तम् । तत्र वर्णसंस्कारपक्षो ज्यायान् ।

"कोलाहल की प्रतीति ककार आदि जन्य वर्णों को विषय नहीं करती किन्तु दोषवश कत्वादि को विषय न कर नित्य ककार आदि को ही विषय करती है" ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ऐसा मानने पर कोलाहल में प्रतीत होनेवाले तारतम्य की उपपत्ति न हो सकेगी। "युगपद् प्रतीयमान वर्णसमूहरूप कोलाहल में तारतम्य नहीं होता किन्तु उस के व्यञ्जक ध्वनियों में तारतम्य होता है, कोलाहल में उस ध्वनितारतम्य का ही आरोप होता है"- ऐसा भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि ध्वनि वायुरूप है, अतः उस के श्रवणाऽयोग्य तारतम्य का श्रवणार्ह कोलाहल में आरोप नहीं हो सकता । दूसरी बात यह है कि कोलाहल में ध्वनि के तारतम्य से विलक्षण तारतम्य का अनुभव होता है जो कोलाहल में ध्वनितारतम्य के आरोप से नहीं उपपन्न हो सकता ।

[भिन्न भिन्न वायुसंयोग को कारण मानने में गौरव]

यदि कत्वादिप्रकारक प्रत्यक्ष में अन्यवायुसंयोग को तथा शब्दत्वादिप्रकारक प्रत्यक्ष में अन्यवायुसंयोग को कारण मानकर कत्वादिग्राहक वायुसंयोग के अभाव में शब्दत्वादिग्राहक वायुसंयोग से कोलाहलप्रतीति की उपपत्ति की जायगी तो यहां दो प्रकार के विभिन्न कार्य-कारणभाव की कल्पना करने में गौरव होगा । यदि कत्वादि प्रकारक प्रत्यक्ष में विरोधी दोष के अभाव को भी कारण मानने की अपेक्षा विजातीय वायुसंयोग को ही उसका कारण माना जायगा, एवं कोलाहलस्थल में उस संयोग का अभाव होने से कत्वादिप्रकारक प्रत्यक्ष की अनुत्पत्ति का उपपादन किया जायगा-तो यह प्रकार भी उचित न होगा क्योंकि जिस पुरुष को बहु-बहुविध आदि विभिन्न मतिज्ञान होते हैं, उसे कोलाहल आदि में भी कत्व आदि एवं शुकीयत्व आदि का ग्रहण होता है, वह कोलाहलगत ककार आदि वर्णों को कत्वादिरूप से और यदि वे वर्ण शुकादि के होते हैं तो उन्हें शुकीयत्व आदि रूप से भी ग्रहण करता है अतः कोलाहल के प्रत्यक्षस्थल में भी दोषाभावरूप हेतु का सन्निधान आवश्यक होने से कत्वादिप्रकारक प्रत्यक्ष में दोषाभाव की हेतुता आवश्यक है ।

[गुणविशेष की कारणता की शंका का उत्तर]

यदि यह कहा जाय कि-'कोलाहल आदि के समय जो कत्वादि प्रकारक प्रत्यक्ष होता है उसमें गुणविशेष ही कारण होता है जो बहु-बहुविध आदि विभिन्न मतिज्ञान के धारक पुरुष में विद्यमान होने से उसे कोलाहल में कत्वादि का प्रत्यक्ष उत्पन्न करता है, अतः कत्वादि

प्रकारक प्रत्यक्ष में दोषाभाव को कारण मानने में कोई युक्ति नहीं है'-तो यह कथन भी उचित नहीं है क्योंकि कोलाहल स्थानीय कत्वादि प्रत्यक्ष में गुणविशेष को कारण मानने पर भी अन्यस्थानीय कत्वादि प्रत्यक्ष में विजातीयवायुसंयोग को कारण मानना अनिवार्य होने से विभिन्न कार्यकारणभाव की कल्पना से प्रसक्त गौरव की निवृत्ति नहीं होती । दूसरी बात यह कि गुणविशेष को भी क्षयोपशम विशेष द्वारा ही कारण मानना होगा, अतः प्रत्यक्षविशेष और क्षयोपशमविशेष में कार्यकारण भाव होने से 'यद्विशेषयोः कार्यकारणभावः स तत्सामान्ययोरपि=जिन वस्तुओं में विशेषरूप से कार्यकारणभाव होता है उनमें सामान्य रूप से भी कार्यकारणभाव होता है' इस नियम के अनुसार प्रत्यक्ष और क्षयोपशम में सामान्यरूप से कार्यकारणभाव का अभ्युपगम अनिवार्य है । अतः कत्वादि प्रकारक प्रत्यक्ष के विषय में यह व्यवस्था ही उचित है कि जब कत्वादि धर्मों के आवरण का क्षयोपशम होता है तब कत्वादिप्रकारक प्रत्यक्ष होता है और जब उक्त क्षयोपशम नहीं होता तब कत्वादिप्रकारक प्रत्यक्ष नहीं होता । अतः विजातीयवायुसंयोग को कत्वादिप्रकारक प्रत्यक्ष का जनक न मान कर ककार आदि का ही जनक मानना उचित है । क्योंकि कत्वादिप्रकारक प्रत्यक्षत्व को विजातीयवायुसंयोग का जन्यतावच्छेदक मानने की अपेक्षा कत्वादि को उसका जन्यतावच्छेदक मानने में लाघव है ।

[विषयिता सम्बन्ध से जन्यतावच्छेदकता मानने पर आपत्ति]

यदि यह कहा जाय कि-'वर्णनित्यतापक्ष में भी कत्वादिप्रकारकप्रत्यक्षत्व को विजातीयवायुसंयोग का जन्यतावच्छेदक न मान कर स्वाश्रयविषयकत्वसम्बन्ध से कत्वादि को ही जन्यतावच्छेदक मानने से गौरव न होगा'-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि ककार आदि वर्ण अपने कत्व आदि धर्मों का अनुविधान करते हैं, अतः कत्वप्रकारक प्रत्यक्ष के कारण द्वारा ही उस में ककारादिविषयकत्व की उपपत्ति हो जाने से ककार आदि से घटित स्वाश्रयविषयकत्व सम्बन्ध से कत्वादि को जन्यतावच्छेदक मानने की अपेक्षा समवायरूप साक्षात् सम्बन्ध से ही कत्वादि को जन्यतावच्छेदक मानना उचित है । यदि समवाय और विषयिता दोनों के साक्षात् सम्बन्ध रूप होने से विषयिता सम्बन्ध से कत्वादि को जन्यतावच्छेदक मानकर वर्णनित्यतापक्ष का समर्थन किया जायगा तो विषयिता सम्बन्ध से ज्ञानगत घटत्व आदि को जन्यतावच्छेदक मान कर घट आदि की भी जन्यता के अपलाप की आपत्ति होगी ।

वर्ण नित्यत्ववादी की ओर से यह भी कहा जा सकता है कि 'वर्णनित्यतापक्ष में ककार आदि वर्ण अनेक न होकर एक-एक व्यक्तिरूप हैं अतः उनमें कत्वादि सामान्य धर्म का अस्तित्व अप्रामाणिक होने से शुकादि से व्यक्त ककार आदि ही विषयिता सम्बन्ध से विजातीयवायुसंयोग का जन्यतावच्छेदक है ।' किन्तु यह कथन भी निर्दोष नहीं है क्योंकि शब्दत्वादिप्रत्यक्ष का कोई अन्य कारण न मानने पर ककार आदि के प्रत्यक्ष के कारण का सन्निधान होने पर सदैव शब्दत्वादिरूप से ककार आदि के प्रत्यक्ष की आपत्ति होने से विविक्तरूप में ककार आदि का प्रत्यक्ष न हो सकेगा ।

यदि यह कहा जाय कि- "ककार आदि का प्रत्यक्ष होने पर शब्दत्व आदि का प्रत्यक्ष होता ही है, साथ ही तत्तद्व्यक्तित्वरूप से भी प्रत्यक्ष होने से ककार आदि के विविक्त प्रत्यक्ष की अनुपपत्ति भी नहीं होती । एवं कोलाहल स्थल में भी ककार आदि का प्रत्यक्ष न होने से शब्दत्व आदि के प्रत्यक्ष का अतिप्रसङ्ग भी नहीं हो सकता, क्योंकि तत्पुरुष के श्रवण में

नापि श्रोत्रसंस्कारपक्षो युक्तः, तस्मिन्नपि पक्षे हि सकृत् संस्कृतं श्रोत्रं सर्ववर्णान् युगपत् शृणुयात्। न ह्यञ्जनादिना संस्कृतं चक्षुः संनिहितं स्वविषयं किञ्चित् पश्यति किञ्चिद् नेति दृष्टम्। न वा बाधिर्यनिराकरणद्वारा तैलविशेषादिसंस्कृतं श्रोत्रं गकारादिकमेव शृणोति न खकारादिकमिति दृष्टम्।

न च—समानेन्द्रियग्राह्येष्वप्यर्थेषु व्यञ्जकप्रतिनियमो दृष्टः, तैलाभ्यक्तस्य मरीचिभिर्भूमेर्मेघोदकसेकेन गन्धाभिव्यक्तिभेदात्। तथा च व्यञ्जकैर्वायुभिर्भिन्नेषु कर्णमूलावयवेषु वर्तमानैः प्रतिनियतवर्णग्राहकतयैव श्रोत्रे संस्काराधायकत्वाद् नैकवर्णग्राहकत्वेन संस्कृतं श्रोत्रं सर्ववर्णान् युगपद् गृह्णाति। तदुक्तम्—

समवेत वस्तु के प्रत्यक्ष में तत्पुरुष के श्रवण का समवाय कारण होता है अतः कोलाहलस्थल में ककारादि का श्रावण न होने से शब्दत्व में श्रावण समवाय न होने से उसका प्रत्यक्ष नहीं प्रसक्त हो सकता"–तो यह ठीक नहीं है क्योंकि श्रावणसमवायरूप कारण के शरीर में श्रावणत्व को उपलक्षण मानने पर कोलाहलस्थल में ककार आदि का श्रावण न होने पर भी उसके श्रावणत्व से उपलक्षित होने से कारण का सन्निधान ध्रुव है और यदि श्रावणत्व को विशेषण माना जायगा तो सर्वप्रथम शब्दत्वादि से मुक्त शब्दमात्र का श्रावणप्रत्यक्ष मान कर ही शब्दत्वादि का प्रत्यक्ष मानने से अपसिद्धान्त होगा क्योंकि शब्दत्वादि से मुक्त शब्द का प्रत्यक्ष सिद्धान्तविरुद्ध है। उक्त रीति से विचार करने पर प्रस्तुत स्तवक की पांचवी कारिका की व्याख्या में नित्यत्वपक्षेऽपि से(पृ० २४ पं० २)प्रारम्भ कर द्विग शब्दपर्यन्त (पृ० २५ पं० ८) चर्चित पूर्वपक्ष निरस्त हो जाता है। अतः वर्णसंस्कारपक्ष समीचीन नहीं है।

[व्यञ्जक द्वारा श्रोत्र के संस्कारपक्ष में सर्ववर्णग्रहणापत्ति]

व्यञ्जक से श्रोत्र का संस्कार होता है –यह पक्ष भी समीचीन नहीं है क्योंकि विजातीय वायुसंयोग से श्रोत्र का एक बार संस्कार हो जाने पर उससे सभी वर्णों का एक साथ ग्रहण होना चाहिये, पर ऐसा नहीं होता। ग्रहण के साधन का संस्कार होने पर उसके ग्राह्य पदार्थों में से किसी का ग्रहण हो, किसी का न हो, ऐसा नहीं हो सकता। जैसे यह नहीं देखा जाता कि अञ्जन आदि से चक्षु का संस्कार होने पर उससे किसी सन्निहित वस्तु का दर्शन हो और अन्य सन्निहित वस्तु का दर्शन न हो। किन्तु देखा यह जाता है कि सन्निहित ग्रहण योग्य सभी वस्तुओं का युगपद् दर्शन होता है। इसी प्रकार यह भी नहीं देखा जाता कि तैलविशेष आदि से श्रोत्र का संस्कार होने पर बाधिर्य आदि का निरास हो जाने पर श्रोत्र से गकार आदि वर्णों का ही श्रवण हो और खकार आदि का न हो। किन्तु देखा यह जाता है कि संस्कृत श्रोत्र से समानरूप से सभी वर्णों का ग्रहण होता है। अतः शब्द के व्यञ्जक द्वारा श्रोत्र का संस्कार मानने पर सभी शब्दों के युगपत् श्रवण की आपत्ति अनिवार्य है क्योंकि शब्द नित्यता पक्ष में सभी शब्द सदैव श्रोत्र से सन्निहित होते हैं।

[प्रतिनियतवर्णग्रहणानुकुल संस्कार जनक व्यञ्जक की आशंका]

आपाततः यद्यपि यह कहा जा सकता है कि –एक इन्द्रिय से ग्रहणयोग्य पदार्थों में भी व्यञ्जक की पृथक् पृथक् व्यवस्था देखी जाती है। जैसेः सभी गन्ध घ्राण से ग्राह्य होते हैं, किन्तु व्यञ्जक भेद से घ्राण द्वारा उनका ग्रहण विलक्षण होता है। उदाहरण के रूप में तैल-

"व्यञ्जकानां हि वायूनां भिन्नावयवदेशता । जातिभेदश्च तेनैव संस्कारो व्यवतिष्ठते ॥१॥
अन्यार्थप्रेरितो वायुर्यथाऽन्यं न करोति च । तथान्यवर्णसंस्कारशक्तो नान्यं करिष्यति ॥२॥
अन्यैस्ताल्वादिसंयोगैर्नान्यो वर्णो यथैव हि । तथा ध्वन्यन्तरोच्चारो न ध्वन्यन्तकारिभिः ॥३॥
तस्मादुत्पत्त्यभिव्यक्त्योः कार्यार्थापत्तितः समः । सामर्थ्यभेदः सर्वत्र स्यात् प्रयत्न-विवक्षयोः ॥४॥"

[द्रष्टव्य–श्लो० वार्ति० सू० ६ श्लो० ७९ तः ८२]—इति वाच्यम्;

इन्द्रियसंस्कारिणां व्यञ्जकानां समानदेशसमानेन्द्रियग्राह्येष्वर्थेषु प्रतिनियतविषयग्राहकत्वेनेन्द्रिय-संस्कारकत्वस्य कचिदप्यदर्शनात् । मरीचि-मेघोदकयोस्तु विषयसंस्कारकत्वमेव, नेन्द्रियसंस्कारकत्वम्,

---

सिक्त पदार्थ और भूमि के गन्ध को लिया जा सकता है । तैलसिक्त पदार्थ जब तैजस किरणों से सम्पृक्त होता है तब उसके गन्ध का ग्रहण होता है, एवं भूमि जब निदाघान्त में मेघमुक्त जल से सिक्त होती है तब उसके गन्ध का ग्रहण होता है और यह दोनों ग्रहण एक दूसरे से विलक्षण होते हैं, उनके विषयभूत गन्धों में वैजात्य होता है, यहाँ व्यञ्जक की व्यवस्था का पार्थक्य स्पष्ट है क्योंकि तैलसिक्त पदार्थ का गन्ध तैजस किरणों से ही व्यक्त होता है मेघमुक्त जल से नहीं होता । एवं भूमि का गन्ध मेघमुक्त जल से ही व्यक्त होता है तैजस किरणों से नहीं होता । गन्ध व्यञ्जक के दृष्टान्त से शब्दव्यञ्जक की व्यवस्था का भी पार्थक्य समझा जा सकता है और यह कहा जा सकता है कि व्यञ्जक वायु कर्ण के मूल अवयवों में उपस्थित होकर प्रतिनियत वर्ण के ग्रहणार्थ ही श्रोत्र को संस्कृत करते हैं, अतः किसी एक वर्ण के ग्रहणार्थ संस्कृत श्रोत्र से अन्य सभी वर्णों के युगपद् ग्रहण की आपत्ति नहीं हो सकती । कहा भी गया है कि-"व्यञ्जक वायु कर्ण के विभिन्न अवयवों से सम्बद्ध होते हैं और उन से श्रोत्र का विभिन्नजातीय संस्कार होता है। शब्दोत्पत्तिपक्ष में जैसे अन्य शब्द के उत्पादनार्थ प्रेरित वायु शब्दान्तर को नहीं उत्पन्न करता उसी प्रकार अन्य वर्ण के ग्रहणार्थ अपेक्षित संस्कार के जनन में समर्थ वायु वर्णान्तर के ग्रहणार्थ अपेक्षित संस्कार का जनन नहीं कर सकता । एवं जैसे अन्य वर्ण के उत्पादक तालुआदिवायुसंयोग से वर्णान्तर की उत्पत्ति नहीं होती उसी प्रकार अन्य ध्वनि के कारणों से ध्वन्यन्तर की भी उत्पत्ति नहीं हो सकती । उक्त कारण से कार्यमूलक अर्थापत्ति द्वारा शब्द की उत्पत्ति अथवा अभिव्यक्ति दोनों पक्षों में समस्त शब्दों के प्रति समान रूप से प्रयत्न और विवक्षा का सामर्थ्यभेद सिद्ध होता है ।"

[इन्द्रियसंस्कारजनक व्यञ्जक से पृथक् पृथक् संस्कार अयुक्त–उत्तर]

किन्तु विचार करने पर यह कथन भी उचित नहीं प्रतीत होता क्योंकि इन्द्रिय को संस्कृत करने वाले व्यञ्जकों में यह कहीं भी नहीं देखा गया है कि वे एक इन्द्रिय से ग्रहण योग्य पदार्थों में एक एक अर्थ के ग्रहणार्थ इन्द्रिय में पृथक् पृथक् एक एक संस्कार उत्पन्न करते हों । गन्ध व्यञ्जक तैजस किरण और मेघमुक्त जल का जो दृष्टान्त दिया गया वह शब्दव्यञ्जक के विषय में नहीं घटित होता क्योंकि उक्त किरण और उक्त जल विषय के संस्कारक हैं, इन्द्रिय के संस्कारक नहीं है क्योंकि उनसे तैल सिक्त पदार्थ और भूमि के अतिशयित गन्ध की भी अभिव्यक्ति होती है । कहने का आशय यह है कि उक्त व्यञ्जकों के सन्निधान से पूर्व उन पदार्थों में घ्राण द्वारा जो गन्ध गृहीत होता है वही उनका सन्निधान होने पर अतिशययुक्त गृहीत होने लगता है अतः उनसे ग्राह्य विषय ही संस्कृत होता है ।

तैलाभ्यक्तभुवोर्गन्धातिशयस्येव ताभ्याममिव्यक्तेः । किञ्च, इन्द्रियसंस्कारकत्वमिन्द्रियगतोपकारजननं विना दुर्वचम्, उपकारश्च भेदाऽभेदविकल्पोपहतः, अन्यथा च व्यञ्जकभेदोपलोप इति न किञ्चिदेतत् । एतेन व्यवहितनिध्यादिमात्रव्यञ्जकमन्त्रादिवत् संनिहितककारादिमात्रव्यञ्जकवायुभेदोक्तावपि न क्षतिरिति श्रोत्रसंस्कारपक्षोऽपि न साधीयान् । उभयसंस्कारपक्षस्तु प्रत्येकपक्षोक्तदोषोपहत एवेति दिग् । एवं च वर्णानामेवाऽनित्यत्वात् कथं तत्समुदायरूपस्य वेदस्य नित्यत्वम् ? इति परिभावनीयम् ।

किन्तु शब्दव्यञ्जक वायु के विषय में यह बात नहीं है क्योंकि श्रोत्र के साथ उसके सम्पर्क के पूर्व श्रोत्र से किसी भी रूप में वर्ण का ग्रहण होता ही नहीं, अत एव उससे श्रोत्र का ही संस्कार मानना आवश्यक होता है ।

[वायुसंयोग से श्रोत्र संस्कार की अनुपपत्ति]

एक दूसरी बात यह है कि वस्तुतः वायुसंयोग से श्रोत्र का संस्कार माना ही नहीं जा सकता क्योंकि जो इन्द्रिय के संस्कारक माने जायेंगे वे इन्द्रिय का कोई उपकार किये बिना उसके संस्कारक नहीं हो सकेंगे और इन्द्रिय में उपकार का जनन माना नहीं जा सकता क्योंकि इन्द्रिय में जननीय उपकार इन्द्रिय के साथ भेद और अभेद का विकल्प सहन करने में असमर्थ होने से सिद्ध ही नहीं हो सकता । जैसे व्यञ्जक द्वारा इन्द्रिय में उत्पाद्य उपकार यदि इन्द्रिय से भिन्न होगा तो उसे भी इन्द्रिय का उपकारक मानना होगा, क्योंकि उससे इन्द्रिय का यदि कोई उपकार न हो तो उसका जन्म निरर्थक है । अतः इन्द्रिय भिन्न उपकार का अभ्युपगम पक्ष अनन्त उपकार की कल्पना के कारण अनवस्थाग्रस्त है । इस संकट से निस्तार पाने की दृष्टि से यदि व्यञ्जक द्वारा इन्द्रिय के उत्पाद्य उपकार को इन्द्रिय से अभिन्न माना जायगा तो व्यञ्जकसन्निधान से पूर्व और बाद में इन्द्रिय में कोई वैशिष्ट्य न होने से व्यञ्जक सन्निधान के बाद भी इन्द्रिय से वर्णग्रहण न हो सकेगा ।

व्यञ्जक से इन्द्रिय में उपकार का आधान मानने पर प्रसक्त होने वाले उक्त संकटों से मुक्ति पाने के विचार से यदि यह कहा जाय कि 'इन्द्रिय को व्यञ्जक का सन्निधान मात्र होता है और कुछ नहीं होता' तो यह ठीक नहीं है क्योंकि ऐसा मानने पर व्यञ्जक भेद का लोप हो जायगा क्योंकि व्यञ्जक द्वारा जब कुछ उत्पाद्य न होगा केवल उसका सन्निधान मात्र ही होगा तो उसमें वैविध्य मानना निरर्थक होगा । अतः इन्द्रिय में उपकार का आधान किये बिना व्यञ्जक वायु को इन्द्रिय का संस्कारक कहने में कोई तथ्य नहीं है ।

इस सन्दर्भ में यह भी कहा जा सकता है कि जैसे मन्त्रादि व्यवहितनिधि आदि का ही व्यञ्जक होता है, अन्य वस्तु का नहीं, उसी प्रकार भिन्न वायु सन्निहित ककार आदि का ही व्यञ्जक होता है । अतएव एक वर्ण के व्यञ्जकवायु का सन्निधान होने पर अन्य सभी वर्णों के ग्रहण की आपत्ति नहीं होती । इस प्रकार अन्य रीति से प्रतिनियत वर्ण के ग्रहण की व्यवस्था हो जाने से तथा वायु से इन्द्रिय का संस्कार मानने में उक्त दोष के प्रसङ्ग से श्रोत्र के संस्कार का पक्ष भी समीचीन नहीं है ।

वर्ण और श्रोत्र दोनों शब्द व्यञ्जक वायु से संस्कृत होते हैं । यह तीसरा पक्ष भी मान्य नहीं हो सकता क्योंकि यह पक्ष भी प्रत्येक के संस्कार पक्ष में प्रदर्शित दोषों से ग्रस्त है ।

अतः उक्त रीति से जब वर्ण ही अनित्य हैं तब उनका समूहरूप वेद कैसे नित्य हो सकता है ! यह बात विद्वानों के लिये सोचने-समझने की वस्तु है ।

अत्र नैयायिकाः—

वर्णो न नित्य इति तावदवादि युक्तं, द्रव्यत्वमस्य पुनरर्थवशाद् यदुक्तम् ।
व्योमैकवर्तिनि गुणे न विराजते तद्, गुञ्जेव राजवनितामणिहारमध्ये ॥१॥

तथाहि–'शब्दो गुणः, बहिरिन्द्रियव्यवस्थापकत्वात्, रूपादिवत्' इत्यनुमानात् परिशेषेणाम्बरगुणत्वसिद्धेः कथं तस्य द्रव्यत्वम् ? । तथात्वे हि श्रोत्रेण तस्य ग्रहणं न स्यात्–'श्रोत्रेन्द्रियं

[शब्द द्रव्य नहीं–गुण है–नैयायिक पूर्वपक्ष]

इस परिसंवाद में नैयायिकों का कहना यह है कि जैन विद्वानों ने जो यह बताया कि वर्ण नित्य नहीं है यह तो युक्ति संगत अवश्य है पर प्रत्यक्ष अर्थानुरोध से जो यह बताया कि वर्ण द्रव्य स्वरूप है यह युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि वर्ण एक मात्र आकाश का गुण है अतः उसे द्रव्य के मध्य गिन लेना उसी प्रकार अशोभन है जैसे राजरानी के मणिमयहार के बीच गुञ्जा का ग्रथन अशोभन होता है ।

शब्द गुण है, द्रव्य नहीं है यह तथ्य निम्न रीति से सिद्ध होता है— जैसे 'शब्द गुण है क्योंकि वह बहिरिन्द्रिय का व्यवस्थापक है–'उससे बहिरिन्द्रिय की सिद्धि होती है' । जो बहिरिन्द्रिय का व्यवस्थापक होता है–जिससे बहिरिन्द्रिय की सिद्धि होती है, वह गुण होता है, जैसे रूप आदि गुण । कहने का आशय यह है कि इन्द्रिय दो प्रकार की होती हैं—बहिरिन्द्रिय और अन्तरिन्द्रिय । बहिरिन्द्रियाँ पाँच हैं--घ्राण, रसन, चक्षु, त्वक् तथा श्रोत्र । अन्तरिन्द्रिय एक है-मन । इन दोनों में अन्तर यह है कि बहिरिन्द्रिय अपने ग्राह्यगुण के सजातीय गुण का आश्रय होती है जैसे—घ्राण, गन्ध का, रसन रसका, चक्षु रूप का, त्वक् स्पर्श का तथा श्रोत्र शब्द का; किन्तु अन्तरिन्द्रिय मन अपने ग्राह्यगुण सुख, दुःख आदि के सजातीय गुण का आश्रय नहीं होता ।

[शब्द से बहिरिन्द्रिय की सिद्धि और शब्द आकाश का गुण]

शब्द से बहिरिन्द्रिय की सिद्धि इस प्रकार होती है—'शब्द अपने सजातीय गुण के आश्रयभूत इन्द्रिय से ग्राह्य है, क्योंकि लौकिक सन्निकर्ष से प्रत्यक्ष योग्य न होते हुये भी प्रत्यक्ष है, जैसे रूप आदि के आश्रयभूत इन्द्रिय से ग्राह्य रूप आदि गुण । इस प्रकार शब्द में बहिरिन्द्रिय का व्यवस्थापकत्व सिद्ध होने से उस हेतु से शब्द में गुणत्व की सिद्धि होती है ।

शब्द में गुणत्व सिद्ध होने पर परिशेषानुमान से उसमें आकाशगुणत्व की सिद्धि होती है । उसका प्रकार यह है 'शब्द पृथिवी आदि आठ द्रव्यों से भिन्न द्रव्य में आश्रित है क्योंकि पृथिवी आदि आठ द्रव्यों में आश्रित न होते हुये द्रव्य में आश्रित है । जो उक्त साध्य का आश्रय नहीं होता वह उक्त हेतु का भी आश्रय नहीं होता जैसे पृथिवी आदि में आश्रित रूपादि अथवा कहीं भी आश्रित न होने वाला महाकाल आदि ।

[हेतु के उभय अंश की सार्थकता]

उक्त हेतु में द्रव्याश्रितत्व का सन्निवेश न करने पर नित्य द्रव्य में हेतु साध्य का व्यभिचारी हो जाता है । उसमें भी द्रव्य का निवेश न करके आश्रितत्व मात्र का निवेश करने पर गुणत्व आदि में हेतु साध्य का व्यभिचारी हो जाता है । अतः इन दोनों व्यभिचारों के निरासार्थ हेतु की कुक्षि में द्रव्याश्रितत्व का निवेश किया जाता है, यदि केवल द्रव्याश्रितत्व को ही

हेतु रखा जाय तो गन्ध आदि में वह साध्य का व्यभिचारी हो जाता है। अतः हेतु के शरीर में पृथ्वी आदि आठ द्रव्यों में अनाश्रितत्व का निवेश आवश्यक होता है। उक्त विशिष्ट हेतु के शरीर में प्रविष्ट द्रव्याश्रितत्व अंश शब्द रूप पक्ष में गुणत्व हेतु से सिद्ध होता है और पृथ्वी आदि आठ द्रव्यों में अनाश्रितत्व अंश निम्न तीन अनुमानों से सिद्ध होता है।

(१) शब्द पृथ्वी जल तेज और वायु में अनाश्रित है यह बात इस अनुमान से सिद्ध होती है कि शब्द स्पर्शवान् द्रव्य (पृथिवी, जल, तेज और वायु) का गुण नहीं है क्योंकि पाक से अजन्य एवं कारण गुणजन्य से भिन्न तथा प्रत्यक्षत्व का विषय है, जैसे सुख आदि आत्मगत योग्य गुण। इस हेतु में प्रथम अंश पाकजन्य रूप आदि में, दूसरा अंश अवयवगुणजन्य अवयवी के गुण में और तीसरा अंश जलपरमाणु आदि के रूपादि में व्यभिचार के वारणार्थ प्रविष्ट है।

(२) शब्द दिक्, काल और मन इन तीन द्रव्यों में भी अनाश्रित है यह इस अनुमान से सिद्ध होता है कि 'शब्द दिक्, काल और मन का गुण नहीं है क्योंकि विशेष गुण है, जैसे रूप आदि'। शब्द में विशेषगुणत्व भी अनुमान से सिद्ध होता है जैसे 'शब्द विशेष गुण है क्योंकि चक्षु से प्रत्यक्ष होने के अयोग्य तथा बहिरिन्द्रिय से प्रत्यक्ष होने योग्य (जात्यत्व) जाति का आश्रय है, जो उक्तविध जाति का आश्रय होता है, वह विशेषगुण होता है जैसे उक्त विध स्पर्शत्व जाति का आश्रय स्पर्श।' 'विशेषगुणत्व' का अर्थ है 'न्याय किंवा वैशेषिक दर्शन में विशेष गुण शब्द से परिभाषितत्व'। उक्त दर्शनों में विशेष गुण शब्द रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, स्नेह, सांसिद्धिक द्रवत्व, शब्द, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म तथा भावनाख्य संस्कार इन सोलह गुणों में परिभाषित है।

(३) शब्द आत्मा में भी अनाश्रित है, यह बात इस अनुमान से सिद्ध होती है कि शब्द आत्मा का गुण नहीं है क्योंकि बहिरिन्द्रिय से ग्राह्य गुण है जैसे रूप आदि।

उक्त तीन अनुमानों से शब्द में क्रमशः पृथिवी आदि चार द्रव्यों में तथा दिक्, काल, मन में एवं आत्मा में अनाश्रितत्व सिद्ध होने से पृथिवी आदि आठ द्रव्यों में अनाश्रितत्व सिद्ध हो जाता है अतः उक्त विशिष्ट हेतु (पृथिवी आदि अष्ट द्रव्यों में अनाश्रितत्व से विशिष्ट द्रव्याश्रितत्व) से शब्द पृथिवी आदि अष्ट द्रव्यों से भिन्न द्रव्य में आश्रितत्व की सिद्धि होती है। इस प्रकार पृथिवी आदि आठ द्रव्यों से भिन्न जो द्रव्य शब्द के आश्रय रूप में सिद्ध होता है उसी को आकाश कहा जाता है।

[साध्याप्रसिद्धि की शंका का निरसन]

उक्त साध्य के विषय में भी यह प्रश्न उठ सकता है कि—'उक्त परिशेषानुमान के पूर्व पृथिवी आदि अष्ट द्रव्यों से भिन्न द्रव्य न सिद्ध होने से उससे घटित उक्त साध्य अप्रसिद्ध है। अतः उसकी अन्वय व्याप्ति किंवा व्यतिरेक व्याप्ति का ज्ञान सम्भव न होने से उसका अनुमान कैसे हो सकता है?'—तो इस प्रश्न के उत्तर में यह कहा जा सकता है कि पृथिवी आदि अष्ट द्रव्यों से भिन्न द्रव्य में आश्रितत्व यथाश्रुत रूप में साध्य नहीं है। किन्तु, उसके स्थान में स्वाश्रयाश्रितत्व सम्बन्ध से पृथिवीभेद, जलभेद आदि भेदाष्टक तथा द्रव्यत्व यह उभय साध्य है। उक्त सम्बन्ध कपालत्व आदि के सम्बन्ध रूप में प्रसिद्ध है, साध्य की कुक्षि में प्रविष्ट पृथिवीभेद आदि भेदाष्टक गुण आदि में प्रसिद्ध है, द्रव्यत्व पृथिवी आदि में प्रसिद्ध है, अतः साध्य एवं उस का सम्बन्ध दोनों के प्रसिद्ध होने से उक्त साध्य की अनुमिति में बाधा नहीं

द्रव्याऽग्राहकम्, रूप-स्पर्शाऽग्राहकबहिरिन्द्रियत्वात् रसनवत्' इत्यनुमानेन श्रोत्रस्य द्रव्याऽग्राहकत्वसिद्धेः । अपि च, शब्दो न द्रव्यम्, एकद्रव्यत्वात्, रूपादिवत् । एकद्रव्यत्वे च तत्र 'एकद्रव्यः शब्दः, सामान्यविशेषवत्त्वे सति बाह्यैकेन्द्रियप्रत्यक्षत्वात्, रूपादिवत्' इत्यनुमानेन सिद्धम् । न च वायौ व्यभिचारः, तस्य बाह्येन्द्रियाऽप्रत्यक्षत्वाद् मूर्तप्रत्यक्षत्वस्यैव संग्राहकत्वलाघवेनोद्भूतरूपकार्यतावच्छेदकत्वात्, द्रव्यचाक्षुषत्वस्य तथात्वे गगनादिस्पार्शनवारणाय द्रव्यस्पार्शनं प्रत्युद्भूतस्पर्शत्वेन हेतुत्वे स्पर्शत्वप्रवेशे गौरवात्, अनुद्भूतत्वाभावकूट-स्पर्शत्वयोर्विशेष्यविशेषणभावे विनिगमनाविरहात् । मम तु स्पर्शनिष्ठानुद्भूतावच्छिन्नप्रतियोगिताकानुद्भूताभावकूटत्वेनैव हेतुत्वात्, गगनादौ रूपाभावादेव त्वाचापत्तेरभावात्, सामान्यसामग्रीमादायैव विशेषसामग्र्याः कार्यजनकत्वनियमात् । अपि च एवं त्वगिन्द्रियत्वत्यनुद्भूताभावस्याप्यनिवेशाल्लाघवम् ।

हो सकती, इसलिये इस अनुमान से उक्त सम्बन्ध के घटक रूप में उक्त भेदग्राहक तथा द्रव्यत्व इन दोनों के आश्रय भूत आकाश की सिद्धि सुकर हो जाती है ।

[शब्द को द्रव्य मानने में बाधक और संकट]

निष्कर्ष यह है कि जब उक्त रीति से परिशेषानुमान द्वारा शब्द में आकाशगुणत्व सिद्ध है तो वह द्रव्य कैसे हो सकता है ? यहाँ इतना ही नहीं समझना है कि गुणत्व शब्द में द्रव्यत्व की सिद्धि में बाधक है, अतः उसे द्रव्य नहीं माना जा सकता, अपितु यह भी समझना है कि उसे द्रव्य मानने में संकट भी है । जैसे शब्द यदि द्रव्य होगा तो श्रोत्र से उसका ग्रहण न हो सकेगा क्योंकि श्रोत्र द्रव्य का ग्राहक नहीं होता । यह बात अनुमान से सिद्ध है जैसे 'श्रोत्र द्रव्य का अग्राहक है क्योंकि रूप और स्पर्श का अग्राहक बहिरिन्द्रिय है, जैसे रसनेन्द्रिय ।'

शब्द में द्रव्यत्व की सिद्धि न होने का दूसरा कारण है शब्द में द्रव्यभिन्नत्व की सिद्धि, जो इस अनुमान से सम्पन्न होती है कि 'शब्द द्रव्य से भिन्न है क्योंकि एक द्रव्यमात्र में आश्रित है जैसे रूप आदि ।

शब्द एकद्रव्यमात्र में आश्रित है, इस बात की सिद्धि इस अनुमान से होती है कि-'शब्द एकद्रव्यमात्र में आश्रित है क्योंकि सामान्य विशेष-परापरजाति का आश्रय होते हुये केवल एक बहिरिन्द्रिय से जन्य प्रत्यक्ष का विषय है, जैसे रूप आदि ।'

[एकद्रव्याश्रित्व हेतु वायु में व्यभिचारी होने की शंका का निरसन]

यदि यह शङ्का हो कि 'उक्त हेतु वायु में एकद्रव्यत्व का व्यभिचारी है अतः उस हेतु से शब्द में एकद्रव्यत्व का अनुमान नहीं हो सकता' तो इस का उत्तर यह दिया जा सकता है कि वायु के अप्रत्यक्ष होने से उक्तहेतु वायु में नहीं प्रतीत रहता, अतः वह वायु में साध्य का व्यभिचारी नहीं हो सकता । वायु में उक्त हेतु के न रहने का कारण यह है कि मूर्त प्रत्यक्षसामान्य में उद्भूतरूप कारण है, यदि वायु का प्रत्यक्ष होगा तो वह भी मूर्तप्रत्यक्ष होगा, अतः वह उद्भूतरूपहीन वायु में नहीं उत्पन्न हो सकता । यदि यह कहा जाय कि-'उद्भूतरूप को मूर्तप्रत्यक्षसामान्य का कारण मानना निर्युक्तिक है, वह तो द्रव्यचाक्षुष का ही कारण है, इसलिये वायु के स्पार्शनप्रत्यक्ष में उद्भूतरूपहीनता बाधक नहीं हो सकती, अतः वायु में उक्तहेतु सम्भव

एतेन 'प्रामाणिकस्य घट-पटादिनिष्ठोपादानप्रत्यक्षादिजन्यत्वस्यावच्छेदकं कार्यत्वमस्तु, संग्राहकत्वात्, न तु घटे घटत्वं पटादौ पटत्वादिकम्, गौरवात्। प्रकृते तु स्पर्शनस्य रूपजन्यत्वे मानाभावाद् निश्चिताऽव्यभिचारकत्वाच्च द्रव्यचाक्षुषत्वमेव तथा। अस्तु वा मूर्तप्रत्यक्षत्वावच्छिन्ने स्पर्शहेतुता' इत्यपास्तम्, वायोश्चाक्षुषतापत्तेश्च। यदि चापेक्षाबुद्धिभेदेन कूटत्वस्य नानात्वाद् न तादृशानुद्भूता-

---

होने से व्यभिचार अनिवार्य है'-तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि उद्भूतरूप को द्रव्यचाक्षुष का कारण मानने पर गगन आदि के स्पार्शनप्रत्यक्ष का परिहार करने के लिये द्रव्यस्पार्शन के प्रति स्पर्शत्व के साथ उस के उद्भूतस्पर्श को कारण मानना पड़ेगा और स्पर्शगत उद्भूतत्व अनुद्भूतत्वाभावकूटरूप है, अतः विशेष्यविशेषणभाव में विनिगमना न होने से द्रव्य स्पार्शन के प्रति अनुद्भूतत्वाभावकूटविशिष्ट स्पर्शत्वरूप से एवं स्पर्शत्वविशिष्ट अनुद्भूतत्वाभावकूटरूप से स्पर्श को कारण मानने में गौरव होगा। किन्तु जब उद्भूतरूप को मूर्तप्रत्यक्षसामान्य का कारण माना जायगा तब द्रव्यस्पार्शन के प्रति स्पर्शनिष्ठ अनुद्भूतत्व से अवच्छिन्न प्रतियोगिता के निरूपक अनुद्भूतत्वाभावकूट को ही कारण माना जायगा, यद्यपि यह अभाव अनुद्भूतस्पर्शाभावरूप होने से गगनादि में भी रहेगा तथापि गगनादि के स्पार्शन की आपत्ति नहीं होगी क्योंकि द्रव्यस्पार्शन विशेष कार्य है, मूर्तप्रत्यक्षसामान्यकार्य है, विशेषकार्य की उत्पत्ति सामान्यकार्य की उत्पादकसामग्री के सन्निधान में ही होती है यह नियम है। मूर्तप्रत्यक्षरूपसामान्यकार्य का कारण उद्भूतरूप गगन आदि में नहीं होता, अतः केवल विशेषकार्य की सामग्री से उस के स्पार्शन की आपत्ति नहीं हो सकती।

द्रव्यस्पार्शन में उक्तरूप से अनुद्भूतस्पर्शाभावकूट को कारण मानने पर कारणशरीर में त्वगिन्द्रिय में विद्यमान अनुद्भूतस्पर्श के अभाव का निवेश आवश्यक नहीं होता अतः उस के अनिवेश से द्रव्यस्पार्शन में अनुद्भूतस्पर्शाभावकूट को कारण मानने में लाघव भी है।

[उद्भूतरूपजन्यता द्रव्यचाक्षुष में ही सीमित करने में गौरव]

'मूर्तप्रत्यक्षसामान्य में उद्भूतरूप कारण है और द्रव्यस्पार्शन में अनुद्भूतस्पर्शाभावकूट कारण है, न कि द्रव्यचाक्षुष में उद्भूतरूप एवं द्रव्यस्पार्शन में उद्भूतस्पर्श'-इस के विरुद्ध कुछ विद्वानों का यह कहना है कि-"उद्भूतरूप को द्रव्यचाक्षुष का कारण न मान कर मूर्तप्रत्यक्षसामान्य का कारण मानने पर यह भी बात कही जा सकती है कि घट, पट आदि में जो उपादान प्रत्यक्षादि की प्रमाणसिद्ध जन्यता है, संग्रह के अनुरोध से उस का भी अवच्छेदक कार्यत्व है न कि घटनिष्ठतादृशजन्यता का अवच्छेदक घटत्व एवं पटनिष्ठ तादृशजन्यता का अवच्छेदक पटत्व, क्योंकि ऐसे अनन्त धर्मों को कार्यतावच्छेदक मानने में गौरव है, प्रकृत में स्पार्शन के रूपजन्य होने में कोई प्रमाण न होने से तथा रूप में द्रव्यचाक्षुष के अव्यभिचारी का निश्चय होने से द्रव्यचाक्षुष के ही प्रति उद्भूतरूप को कारण मानना उचित है। अथवा यह भी कहा जा सकता है कि मूर्तप्रत्यक्षसामान्य के प्रति स्पर्श कारण है। फलतः इन दोनों ही स्थितियों में वायु के बाह्य एकेन्द्रियजन्य प्रत्यक्षविषयत्व हेतु में एकद्रव्यत्वरूप साध्य का व्यभिचार अनिवार्य है।"-किन्तु यह कथन इस कारण निरस्त हो जाता है कि द्रव्यचाक्षुष के प्रति उद्भूतरूप को कारण मानने पर गगन आदि के स्पार्शन प्रत्यक्ष के वारणार्थ द्रव्यस्पार्शन के प्रति उद्भूत स्पर्श को पृथक् कारण मानना पड़ेगा और ऐसा मानने में गौरव बताया जा चुका है।

भावकूटत्वेन हेतुता, अपि त्वनुद्भूतत्वाभावकूटस्पर्शत्वयोर्व्यासज्यवृत्त्यवच्छेदकतोपगमेनानुद्भूतत्वाभावकूटवत्स्पर्शत्वेनैव तथात्वमिति विभाव्यते; तदा मूर्तप्रत्यक्षत्वावच्छिन्नं प्रत्येव महत्त्वोद्भूतरूपस्पर्शवत्त्वेन हेतुत्वमस्तु, इति वायुप्रभादेरुच्छिन्नैव प्रत्यक्षत्वकथा, स्पर्श-रूपादिप्रत्यक्षेणैव तदनुमिति-स्मृत्यादिसंभवात् । द्रव्यस्पार्शनजनकतावच्छेदकैकत्वनिष्ठजातेः सांकर्यवारणाय द्रव्यचाक्षुषजनकतावच्छेदकैकत्वनिष्ठजातिव्याप्यत्वस्वीकारात् कुतो वाय्वादेः स्पार्शनम् ?, प्रकृष्टमहत्त्वोद्भूतस्पर्शयोर्द्रव्यस्पार्शनं प्रति गौरवेणाऽहेतुत्वात्, एकस्य विजातीयैकत्वस्यैव तत्त्वौचित्यात् । यदि च त्रसरेणोरचाक्षुषत्वा-

---

यदि मूर्तप्रत्यक्षसामान्य के प्रति स्पर्श को कारण माना जायगा तब वायु के चाक्षुष की आपत्ति होगी और यदि उस के वारणार्थ द्रव्यचाक्षुष के प्रति उद्भूतरूप को कारण माना जायगा तो अनुद्भूतत्वाभावकूटरूप उद्भूतत्व और रूपत्व के विशेष्य-विशेषणभाव में विनिगमनाविरह से उद्भूतरूप में गुरुरूप से दो कारणता की कल्पना होने से गौरव होगा, और यदि द्रव्यचाक्षुष में अनुद्भूतरूपाभावकूट को कारण माना जायगा तो पुनः वायु के चाक्षुषप्रत्यक्ष की आपत्ति होगी ।

[वायु में स्पार्शन प्रत्यक्ष विषयता की शंका का उत्तर]

यदि यह शङ्का हो कि-'अभावगत कूटत्व संख्यारूप न हो सकने से अपेक्षाबुद्धिविशेषविषयत्वरूप होने के कारण अपेक्षाबुद्धि के भेद से भिन्न-भिन्न होता है, अतः कूटत्वरूप अवच्छेदक के भेद से कारणता के प्रसक्त बाहुल्य के भय से द्रव्यस्पार्शन में अनुद्भूतस्पर्शाभावकूट को कारण नहीं माना जा सकता किन्तु अनुद्भूतत्वाभावकूट और स्पर्शत्व में व्यासज्यवृत्ति एकावच्छेदकता मान कर अनुद्भूतत्वाभावकूट विशिष्ट स्पर्शत्व रूप से ही द्रव्य स्पार्शन के प्रति कारणता मानना उचित है । अतः द्रव्यचाक्षुष के प्रति ही उद्भूतरूप को कारण मानना सम्भव होने से वायु के स्पार्शनप्रत्यक्ष में कोई बाधा न होने के कारण उस में बाह्य एकेन्द्रियजन्यप्रत्यक्षविषयत्व में एक द्रव्यत्वरूप साध्य का व्यभिचार अनिवार्य है ।'-तो इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि महत्त्व, उद्भूतरूप तथा उद्भूतस्पर्श में एक व्यासज्यवृत्ति अवच्छेदकता मानकर मूर्तप्रत्यक्षसामान्य में महत्त्व उद्भूतरूप, उद्भूतस्पर्शवत् कारण है ऐसा मानने पर वायु और प्रभा दोनों का प्रत्यक्षत्व यद्यपि समाप्त हो जाता है तथापि उनकी असिद्धि नहीं हो सकती क्योंकि वायु के उद्भूतस्पर्श का प्रत्यक्ष होने से उस स्पर्श से वायु की और प्रभा के उद्भूतरूप का प्रत्यक्ष होने से उस रूप से प्रभा की अनुमिति हो सकती है । तथा उस अनुमिति से उत्पन्न संस्कार द्वारा कालान्तर में दोनों की स्मृति भी हो सकती है । उक्त कारण की कल्पना के फलस्वरूप वायु का प्रत्यक्ष सिद्ध न होने से उसमें उक्त हेतु में साध्य के व्यभिचार की प्रसक्ति नहीं हो सकती ।

[वायु के स्पार्शनप्रत्यक्ष के प्रतिक्षेप में स्वतन्त्रमत]

इस विषय में कतिपय स्वतन्त्र विचारकों का यह कहना है कि-जिनद्रव्यों का चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है उन द्रव्यों की एकत्वसंख्या में एक वैजात्य मानकर द्रव्यचाक्षुष के प्रति विजातीय एकत्व को कारण मानना चाहिये, एवं जिन द्रव्यों का स्पार्शन प्रत्यक्ष होता है उन द्रव्यों के एकत्व में भी अन्य वैजात्य मानकर द्रव्यस्पार्शन के प्रति भी विजातीय एकत्व को कारण

भ्युपगमेन द्रव्यचाक्षुषजनकतावच्छेदकैकत्वनिष्ठजातेरेव द्रव्यस्पार्शनजनकतावच्छेदकैकत्वनिष्ठजातिव्याप्यत्वं किं न स्यात् इति विभाव्यते; तदाप्येकस्या एवैकत्वनिष्ठजातेर्द्रव्यचाक्षुष-स्पार्शनोभयजनकतावच्छेदकत्वाद् न वाय्वादेः स्पार्शनत्वमिति तु स्वतन्त्राः ।

यत्तु 'घटाकाशसंयोगद्वित्वादेः स्पार्शनप्रसङ्गात् द्रव्यान्यसत्त्वावच्छिन्नं प्रति स्वाश्रयसमवेतत्व-संबन्धेन लौकिकविषयत्वावच्छिन्नत्वाचाभावस्य प्रतिबन्धकत्वं कल्प्यते, व्यासज्यवृत्तिगुणत्वाचत्वावच्छिन्नं प्रति तथात्वे गुणादित्वाचं प्रति प्रकृष्टमहत्त्ववदुद्भूतस्पर्शवत्समवायस्य पृथक्कारणत्वकल्पनापत्तेः ।

मानना चाहिये क्योंकि द्रव्यस्पार्शन में प्रकृष्ट महत्त्व और उद्भूतस्पर्श को कारण मानने में गौरव है अतः एक विजातीय एकत्व को ही द्रव्यस्पार्शन का कारण मानना उचित है । इन दोनों जातियों में सांकर्य न हो इस दृष्टि से द्रव्यस्पार्शन की जनकता के अवच्छेदक एकत्वनिष्ठ जाति को व्याप्य मान लेना चाहिये । वायु में द्रव्यचाक्षुष की जनकता के अवच्छेदक जाति से विशिष्ट एकत्व के न रहने से उसमें द्रव्यस्पार्शन की जनकता के अवच्छेदक जाति से विशिष्ट एकत्व भी नहीं रहता, अतः वायु का स्पार्शनप्रत्यक्ष सम्भव न होने से बाह्य एकेन्द्रियजन्यप्रत्यक्ष विषयत्वरूप हेतु उसमें एकद्रव्यत्वरूप साध्य का व्यभिचारी नहीं हो सकता।

यदि यह शङ्का हो कि–'त्रसरेणु को अचाक्षुष मान कर द्रव्यचाक्षुष की जनकता के अवच्छेदक एकत्वनिष्ठजाति को ही द्रव्यस्पार्शन की जनकता के अवच्छेदक एकत्वनिष्ठजाति का व्याप्य क्यों न माना जाय ? और यदि यह मानना सम्भव हो सकता है तो वायु का स्पार्शनप्रत्यक्ष सम्भव होने से वायु में बाह्य एकेन्द्रियजन्यप्रत्यक्षविषयत्व में एक द्रव्यत्व के व्यभिचार का वारण असम्भव है'–तो इस का उत्तर यह हो सकता है कि द्रव्य के चाक्षुष और स्पार्शन दोनों की जनकता का अवच्छेदक लाघव की दृष्टि से एकत्वनिष्ठ एक ही जाति को मानना चाहिये, वायु का चाक्षुष न होने से उसमें तज्जातीय एकत्व का अभाव होने के कारण वायु का प्रत्यक्ष न होने से उसमें उक्त हेतु में उक्त साध्य का व्यभिचार नहीं प्रसक्त हो सकता।

[स्वाश्रयसमवायसम्बन्ध से त्वाचाभाव की प्रतिबन्धकता–एकदेशी]

प्रस्तुत प्रसङ्ग में कुछ विद्वानों का यह कहना है कि द्रव्यसमवेत के स्पार्शन प्रत्यक्ष का कारण उद्भूतस्पर्श स्वाश्रयसमवेतत्व सम्बन्ध से तथा त्वक्संयुक्तसमवायसम्बन्ध से घटाकाश के संयोग तथा घटाकाशगत द्वित्व आदि में विद्यमान है, अतः उनके स्पार्शनप्रत्यक्ष की आपत्ति होती है, इसलिये द्रव्य से भिन्न सत् के त्वाचप्रत्यक्ष के प्रति लौकिकविषयता सम्बन्ध से त्वाचप्रत्यक्षाभाव को स्वाश्रयसमवेतत्व सम्बन्ध से प्रतिबन्धक मानना आवश्यक है–स्व का अर्थ है त्वाचाभाव, उसका आश्रय है आकाश, उसमें समवेत है उक्त संयोग और द्वित्व, अतः उनका प्रत्यक्ष नहीं होता, क्योंकि वे दोनों द्रव्य से भिन्न सत् हैं। अतः उनका त्वाचप्रत्यक्ष आकाशनिष्ठ त्वाचाभाव से प्रतिबद्ध हो जाता है । प्रतिबध्यदल में सत् में द्रव्यभिन्नत्व न कहने पर पृथिवी आदि के चतुरणुक का स्पार्शन भी प्रतिबद्ध हो जायगा, क्योंकि त्रसरेणु का त्वाचप्रत्यक्ष न होने से त्वाचाभाव रूप प्रतिबन्धक उक्त सम्बन्ध से चतुरणुक में रहेगा । प्रतिबध्यदल में द्रव्यभिन्न सत् का निवेश न कर द्रव्यभिन्नमात्र का निवेश करने पर अभाव का स्पार्शन भी प्रतिबध्यवर्ग में आ जायगा किन्तु उसमें त्वाचाभाव रूप प्रतिबन्धक उक्त सम्बन्ध से नहीं रहता ।

द्रव्यान्यसत्प्रत्यक्षत्वावच्छिन्नं प्रति चाक्षुषाभावस्य तथात्वे च घट-प्रभासंयोगादिस्पार्शनापत्तेर्दुर्निवारत्वात्, इति वायूष्मादेरस्पार्शनत्वेन तद्वृत्तिस्पार्शनानुपपत्तिः। न च स्पर्शेतरद्रव्यान्यसत्त्वाचत्वे तत्प्रतिबध्यतावच्छेदकम्, स्पर्शेतरत्वप्रवेशे गौरवात्; घटा-ऽऽकाशसंयोगादौ [1]स्पार्शनसामान्यापत्तिवारणाय [2]स्वस्पर्शस्पार्शनं प्रति स्पर्शत्वेन, परमाण्वादिस्पर्शस्पार्शनवारणाय प्रकृष्टमहत्त्वेन चातिरिक्तकारणत्वकल्पनाच्च' इति—तदसत्, त्रसरेण्वादिघटितसंनिकर्षेण द्रव्यत्वादित्वाचप्रसङ्गवारणाय द्रव्यान्यद्रव्य-

---

उक्त संयोग और द्वित्व आदि के स्पार्शनप्रत्यक्ष के वारणार्थ यदि ऐसी कल्पना की जाय कि व्यासज्यवृत्ति (=उभयवृत्ति) गुण के त्वाचप्रत्यक्ष के प्रति उक्त त्वाचाभाव उक्त सम्बन्ध से प्रतिबन्धक है, तो इस कल्पना के अनुसार उक्त संयोग और द्वित्व के उभयवृत्तिगुण होने से उनके स्पार्शनापत्ति का परिहार तो हो जायगा किन्तु गुणादि के त्वाचप्रत्यक्ष के प्रति प्रकृष्ट महत्त्व एवं उद्भूतस्पर्श का जो आश्रय, उसके समवाय को पृथक् कारण मानना आवश्यक होने से गौरव होगा।

द्रव्यभिन्न सत् के प्रत्यक्षसामान्य में लौकिकचाक्षुषाभाव को स्वाश्रयसमवेतत्व सम्बन्ध से प्रतिबन्धक मानने पर भी उक्त संयोग और द्वित्व के प्रत्यक्ष का वारण हो सकता है किन्तु घट और प्रभा के संयोग के स्पार्शन का वारण नहीं हो सकता, क्योंकि घट और प्रभा दोनों का चाक्षुष प्रत्यक्ष होने से चाक्षुषाभावरूप प्रतिबन्धक स्वाश्रयसमवेतत्व सम्बन्ध से घटप्रभासंयोग में नहीं रहता।

इस स्थिति में जब कि द्रव्यभिन्न सत् के त्वाचप्रत्यक्ष में स्वाश्रयसमवेतत्व सम्बन्ध से लौकिकत्वाचाभाव प्रतिबन्धक है तब वायु और उष्मा के स्पर्श का स्पार्शनप्रत्यक्ष नहीं उपपन्न हो सकता और इस कारण ही वायु का बहिरिन्द्रिय से प्रत्यक्ष न हो सकने के कारण उसमें बहिरिन्द्रियजन्यप्रत्यक्ष विषयत्व, एकद्रव्यत्वरूप साध्य का व्यभिचारी नहीं हो सकता।

यदि यह कहा जाय कि "वायु और उष्मा के स्पर्श का प्रत्यक्ष अनुपपन्न न हो इस दृष्टि से स्पर्श से इतर द्रव्यभिन्न सत् के त्वाचप्रत्यक्ष के प्रति ही उक्त सम्बन्ध से लौकिकत्वाचाभाव प्रतिबन्धक है न कि द्रव्यभिन्न सत् मात्र के त्वाचप्रत्यक्ष के प्रति"–तो यह ठीक नहीं है क्योंकि प्रतिबध्यकुक्षि में स्पर्शेतरत्व का निवेश करने में गौरव है।

दूसरी बात यह है कि यदि प्रतिबध्यदल में स्पर्शेतरत्व का निवेश होगा तो स्पर्श का त्वाचप्रत्यक्ष प्रतिबध्य न होगा, फलतः घटाकाशसंयोग आदि में [1]विषयतासम्बन्ध से स्पर्श के स्पार्शन की आपत्ति होगी अतः इस आपत्ति के वारणार्थ [2]विषयतासम्बन्ध से स्पर्श प्रत्यक्ष के के प्रति तादात्म्यसम्बन्ध से स्पर्श को कारण मानने में गौरव होगा, एवं स्पर्शप्रत्यक्ष के प्रतिबध्य न होने पर परमाणुस्पर्श के भी प्रत्यक्ष की आपत्ति होगी। अतः प्रकृष्टमहत्त्व को भी स्पर्शप्रत्यक्ष के सामानाधिकरण्य सम्बन्ध से कारण मानना आवश्यक होने से यह एक और गौरव होगा।

[एक देशी के मत की असमीचीनता]

किन्तु कुछ विद्वानों का यह कथन समीचीन नहीं है, क्योंकि त्रसरेणु आदि से घटित

---

१ यहाँ 'स्पार्शनसामान्यापत्ति' के स्थान में 'स्पर्शस्पार्शनापत्ति' पाठ होना उचित है।

२ यहाँ 'स्वस्पर्शस्पार्शन' के स्थान में 'स्पर्शस्पार्शन' पाठ होना उचित है।

समवेतस्पार्शनत्वावच्छिन्नं प्रति त्वक्संयुक्तप्रकृष्टमहत्त्वोद्भूतस्पर्शवत्समवायत्वेन प्रत्यासत्तित्वावश्यकत्वात्, द्रव्यान्यसत्त्वाचत्वस्य प्रतिबध्यतावच्छेदकत्वे घटा-ऽऽकाशसंयोगादौ जातिस्पार्शनं प्रति जातित्वादिना हेतुत्वकल्पने गौरवात्, व्यासज्यवृत्तिगुणनिष्ठविषयतया त्वाचत्वावच्छिन्नं प्रत्येवोक्तप्रत्यासत्त्या त्वाचाभावस्य यावदाश्रयत्वाचस्य वा हेतुत्वाच्च।

न च द्रव्यान्यद्रव्यसमवेतस्पार्शनत्वावच्छिन्नं प्रति त्वक्संयुक्तत्वाचवत्समवायेनैव प्रत्यासत्तित्वम्, महदुद्भूतरूपयोरुभयोः प्रवेशे गौरवात्, तथा च वाय्वादेरस्पार्शनत्वे कथं तद्वृत्तिस्पर्शादिस्पार्शनम्? इति वाच्यम्, त्वाचत्वस्य विशेषगुणत्वे गुण-गुणिनोर्युगपद्ग्रहणप्रसङ्गात्। उपलक्षणत्वे च पाकज-

सन्निकर्ष से अर्थात् त्वक्संयुक्तत्रसरेणुसमवाय से त्रसरेणु आदि में द्रव्यत्व आदि के त्वाच-प्रत्यक्ष की आपत्ति के वारणार्थ यह मानना आवश्यक है कि द्रव्यभिन्न जो द्रव्यसमवेत, उसके स्पार्शन के प्रति त्वक्संयुक्त जो प्रकृष्टमहत्त्व और उद्भूतस्पर्श का आश्रय, उसका समवाय त्वक् की प्रत्यासत्ति है।

यह भी ध्यान देने योग्य है कि द्रव्यभिन्न सत् के त्वाचप्रत्यक्ष के प्रति स्वाश्रयसमवेतत्व सम्बन्ध से लौकिकत्वाचाभाव को प्रतिबन्धक स्वीकार करने पर भी घटाकाशसंयोग आदि में विषयतासम्बन्ध से जातिविषयकस्पार्शन का परिहार नहीं हो सकता क्योंकि जाति द्रव्य से भिन्न होने पर भी सत्ता जाति से शून्य होने के कारण सत् नहीं है, अतः जाति का स्पार्शन त्वाचाभाव के द्रव्यभिन्नसद्विषयक त्वाचत्वरूप प्रतिबध्यतावच्छेदक से आक्रान्त नहीं है, अतएव उक्त संयोग आदि में विषयतासम्बन्ध से जातिस्पार्शनापत्ति के निरासार्थ विषयतासम्बन्ध से जातिप्रत्यक्ष के प्रति तादात्म्य सम्बन्ध से जातित्व रूप से जाति को कारण मानना आवश्यक होने से गौरव है।

उपर्युक्त कारण से घटाकाशसंयोग आदि के स्पार्शन के परिहारार्थ यह मानना उचित है कि व्यासज्यवृत्ति (=उभयवृत्ति) गुणनिष्ठ विषयतासम्बन्ध से त्वाचप्रत्यक्ष के प्रति स्वाश्रयसमवेतत्व सम्बन्ध से लौकिकत्वाचाभाव प्रतिबन्धक है अथवा यावद्आश्रय का त्वाचप्रत्यक्ष कारण है। उक्तसंयोग आदि के यावद्आश्रयों में आकाश का त्वाचप्रत्यक्ष न होने से उसमें विषयता-सम्बन्ध से त्वाचप्रत्यक्ष की आपत्ति नहीं हो सकती क्योंकि उसके उभयवृत्ति न होने से त्वाचाभाव उसके स्पार्शन का प्रतिबन्धक नहीं हो सकता। तथा वायु में प्रकृष्टमहत्त्व और उद्भूतस्पर्श के होने से उसमें त्वक् की उक्त प्रत्यासत्ति का अभाव भी नहीं है।

[महत्त्व उद्भूतस्पर्श के प्रवेश में गौरव का निरसन]

यदि यह शंका हो कि—'द्रव्य से भिन्न द्रव्यसमवेत के स्पार्शन में त्वक्संयुक्त त्वाचवत्समवाय प्रत्यासत्ति है, न कि त्वक्संयुक्त प्रकृष्ट महत्त्ववदुद्भूतस्पर्शवत्समवाय, क्योंकि इस में [1]महत्त्व और उद्भूतस्पर्श का निवेश होने से गौरव है, अतः वायु का स्पार्शन न मानने पर उसके स्पर्श में त्वक्संयुक्त त्वाचप्रत्यक्षविषय का समवाय न होने से उसका स्पार्शन कैसे हो सकता है?'—तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि उक्त प्रत्यासत्ति के शरीर में त्वाचत्व (=त्वाच-

१ - यहाँ 'महदुद्भूतरूपयोरुभयोः' के स्थान में 'महदुद्भूतस्पर्शयोरुभयोः' पाठ होना उचित है।

स्पर्शोत्पत्तिकालेऽपि स्पर्शादिग्रहणप्रसङ्गात्, एकस्यामेव व्यक्तौ कालभेदेनानन्त्यात्त्वाचसंभवेन तावत्त्वाचनिवेशापेक्षया महत्त्वोद्भूतस्पर्शयोरुभयोरेव निवेशौचित्याच्चेति दिग् ।

एवं चोद्भूतरूपाभावाच्छब्दस्य मूर्त्तद्रव्यत्वे वायुपिशाचादिवद् बहिरिन्द्रियप्रत्यक्षत्वमेव न घटते । विभुत्वे तु नित्यत्वाज्जन्यत्वमेव न स्यादिति मीमांसकमतप्रवेशः । कर्णावच्छिन्नश्रोत्रसमवायस्य शब्दग्राहकप्रत्यासत्तित्वाच्च न तस्य द्रव्यत्वम्, कर्णावच्छिन्नश्रोत्रसंयोगस्य तथात्वे श्रोत्रेण द्रव्यान्तरग्रहणप्रसङ्गादिति ।

सेयं कदक्षरमयी बत ! गीः परेषां घर्मव्यथेव विदुषां हृदये दुनोति ।
कुर्मस्तदत्र गिरमाशमताद् वितत्य पीयूषवृष्टिसदृशं प्रतिकारसारम् ॥१॥

प्रत्यक्षविषयत्व) को विशेषण मानने पर स्पर्शगुण और उसके आश्रयद्रव्य का महग्रहण न हो सकेगा क्योंकि स्पर्श के आश्रयद्रव्य का पूर्व में स्पार्शन हुये बिना वह त्वाचप्रत्यक्षविषयता से विशिष्ट न होगा । अतः स्पर्श के साथ त्वक्संयुक्तत्वाचप्रत्यक्षविषयताविशिष्ट का समवायरूप प्रत्यासत्ति न होने से द्रव्य के साथ उसका स्पार्शन न हो सकेगा और यदि त्वाचत्व को उपलक्षण माना जायगा तो पाकजस्पर्श के जन्मकाल में उसके स्पार्शन की आपत्ति होगी क्योंकि पाकपूर्ववर्ती स्पर्श के साथ द्रव्य का स्पार्शन पाक से पहले हुआ रहता है । अतः पाकजस्पर्श के जन्मकाल में उसका स्पार्शन न होने पर भी वह त्वाचत्व से उपलक्षित रहता है । अत एव उस काल में भी पाकजस्पर्श के साथ त्वक्संयुक्त, त्वाचत्वोपलक्षित का समवायरूप त्वक की प्रत्यासत्ति हो सकती है ।

उपर्युक्त दोष के अतिरिक्त यह भी द्रष्टव्य है कि कालभेद से एक व्यक्ति का भी त्वाचप्रत्यक्ष अनन्त होता है, अतः विनिगमनाविरह से सभी त्वाच का प्रत्यासत्ति के कलेवर में प्रवेश होने से महान् गौरव होगा, इसलिये उस की अपेक्षा महत्त्व और उद्भूतस्पर्श का प्रवेश कर पूर्वोक्त प्रत्यासत्ति का स्वीकार करने में ही लाघव है ।

उक्त विचार का सार यह है कि शब्द में उद्भूतरूप तो होता नहीं, अतः उसे मूर्तद्रव्य मानने पर वायु, पिशाच आदि के समान बहिरिन्द्रिय से उसका प्रत्यक्ष न हो सकेगा और यदि विभु माना जायगा तो नित्य हो जाने से जन्य न हो सकेगा, अतः शब्द को द्रव्य मानने पर मीमांसक मत में प्रवेश की आपत्ति होगी ।

शब्द को द्रव्य मानने में दूसरा बाधक यह है कि शब्द का ग्रहण कर्णावच्छिन्न श्रोत्रसमवायरूप प्रत्यासत्ति से होता है । यदि वह द्रव्य होगा तो श्रोत्र में समवेत न हो सकने से उक्त प्रत्यासत्ति से गृहीत न हो सकेगा । यदि उक्त समवायरूप प्रत्यासत्ति से उसे ग्राह्य न मान कर कर्णावच्छिन्न श्रोत्रसंयोगरूप प्रत्यासत्ति से ग्राह्य माना जायगा तो श्रोत्र का संयोग अन्य द्रव्य में भी होने से श्रोत्र से अन्य द्रव्यों के भी ग्रहण की आपत्ति होगी ।

[शब्दगुणत्ववादी नैयायिकमत का प्रतिकार–उत्तरपक्ष]

शब्द के सम्बन्ध में नैयायिकों की उक्त स्थापना के विरोध का उपक्रम करते हुए व्याख्याकार का कहना है कि-शब्द को क्षणिक अद्रव्य बताने वाले नैयायिकों की उक्ति का प्रत्येक अक्षर कुत्सित है, वह विद्वानों के हृदय को घर्मजनित पीडा के समान उद्विग्न करती है ।

तथाहि—यत् तावद् बहिरिन्द्रियव्यवस्थापकत्वात् शब्दस्य गुणत्वमुक्तम् तदसत् रूपादीनामपि द्रव्यविविक्तानामसत्त्वेनाऽतथात्वाद् दृष्टान्ताऽसिद्धेः, इन्द्रियान्तराऽग्राह्यग्राहकत्वस्यैव भिन्नेन्द्रियत्वव्याप्यत्वेन तत्र गुणप्रवेशस्य गौरवकरत्वाच्च। एतेन 'श्रोत्रेन्द्रियं द्रव्याऽग्राहकम्' इत्याद्यपि निरस्तम्, अप्रयोजकत्वात्। तस्याऽद्रव्यत्वसाधकमनुमानं च बलवता द्रव्यत्वसाधकानुमानेन बाधितमेव। तथाहि—शब्दो द्रव्यम्, क्रियावत्त्वात्, शरवत्। निष्क्रियत्वे च तस्य स्वाऽसंबद्धश्रोत्रेण ग्रहणे तस्याऽप्राप्यकारित्वप्रसङ्गः। संबन्धकल्पनायां च श्रोत्रं वा शब्ददेशं गत्वा शब्देन संबध्येत, शब्दो वा श्रोत्रदेशमागत्य तेनाभिसंबध्येत ? । नाद्यः नभोरूपस्य श्रोत्रस्य निष्क्रियत्वेन गत्यभावात्। अपान्तरालवर्तिनामप्यन्यान्यशब्दानां ग्रहणप्रसङ्गात्, अनुवातप्रतिवात—तिर्यग्वातेषु प्रतिपत्त्यप्रतिपत्तीषत्प्रतिपत्तिभेदाभावप्रसङ्गाच्च, श्रोत्रस्य गच्छतस्तत्कृतोपकाराद्ययोगात्। नापि द्वितीयः शब्दस्य श्रोत्रदेशागमने स्वयमेव सक्रियत्वाभिधानात्।

अतः आप्तपुरुष जिन भगवान के सिद्धान्त से अपनी वाणी का विस्तार करके विद्वानों की मनः पीडा का अमृत-वृष्टि जैसा सारपूर्ण प्रतीकार हम अभी करते हैं।

प्रतीकार में सर्वप्रथम यह कहना है कि बहिरिन्द्रिय का व्यवस्थापक होने से जो शब्द को गुण कहा गया है, वह असंगत है। असंगति के दो कारण हैं—एक यह कि द्रव्य से भिन्न रूपादि की भी सत्ता न होने से रूप आदि में गुणत्व का अभाव होने से दृष्टान्त असिद्ध है, दूसरा यह कि 'इन्द्रियान्तर से अग्राह्य का ग्राहकत्व' ही भिन्नइन्द्रियत्व का व्याप्य है। अतः उस की कुक्षि में गुणप्रवेश की कोई आवश्यकता न होने से गुण से घटित को व्याप्य मानने में गौरव है। फलतः व्यर्थ विशेषण से घटित होने के कारण व्याप्यत्वाऽसिद्धि की प्रसक्ति है।

[शब्द में द्रव्यत्व साधक अनुमान]

शब्द की द्रव्यात्मकता के विरोध में जो इस अनुमान का प्रयोग किया गया कि श्रोत्रेन्द्रिय स्वसमवेत का ग्राहक होने से द्रव्य का अग्राहक है वह ठीक नहीं है, क्योंकि स्वसमवेत ग्राहकत्व में द्रव्य के अग्राहकत्व की साधकता का कोई प्रयोजक नहीं है। प्रत्युत, शब्द में अद्रव्यत्व का साधक अनुमान शब्द में द्रव्यत्व साधक बलवान् अनुमान से बाधित है। शब्द में द्रव्यत्व का साधक अनुमान इस प्रकार है—'शब्द द्रव्यस्वरूप है, क्योंकि क्रिया का आश्रय है, जैसे बाण।' इस अनुमान में अप्रयोजकत्व की शंका नहीं हो सकती क्योंकि शब्द को निष्क्रिय मानेंगे तो श्रोत्र से स्व से असम्बद्ध का ग्रहण होने पर उस में अप्राप्यकारित्व की आपत्ति होगी। इस भय से शब्द के साथ यदि श्रोत्र के सम्बन्ध की कल्पना की जायगी, तो इस की उपपत्ति दो ही प्रकार से की जा सकेगी—एक यह कि श्रोत्र शब्द के जन्मस्थान में पहुँच कर शब्द से सम्बन्ध करे, दूसरा यह कि शब्द स्वयं श्रोत्रस्थान में जाकर उस से सम्बन्ध स्थापित करे। इन में प्रथम पक्ष ठीक नहीं है क्योंकि श्रोत्र आकाशस्वरूप होने से निष्क्रिय होने के कारण गतिहीन है और यदि उसे गतिशील माना जायगा तो वक्ता और श्रोता के मध्य में उपस्थित अन्य अनेक शब्दों के भी श्रावण प्रत्यक्ष की आपत्ति होगी। साथ ही यह भी दोष होगा कि अनुवात में अर्थात् वक्ता की ओर से श्रोता की ओर वायु का बहाव होने की दशा में शब्द की श्रावण प्रतीति होती है, एवं प्रतिवात में अर्थात् श्रोता की विरुद्ध दशा में वायु का बहाव होने की स्थिति में शब्द की प्रतिपत्ति का जो अभाव होता है, तथा वायु

नन्विदं स्वविकल्पजल्पमात्रम्, अस्मन्मते तु वीणाद्याकाशसंयोगेन स्वावच्छेदकावच्छेदेन जनितेनाद्यशब्देन दशदिक्षु निमित्तपवनतारतम्ये कदम्बगोलकन्यायेन तार-मन्द्रादिरूपा दश शब्दा आरभ्यन्ते, निमित्तपवनाऽतारतम्ये तु दशदिक्षु वीचीतरङ्गन्यायेनैक एव शब्द आरभ्यते, एवं तैरपि वा शब्दान्तरारम्भक्रमेण श्रोत्रप्राप्तेः सुघटत्वाद् नानुपपत्तिरिति चेत् ? नन्वेवं 'बाणादयोऽपि पूर्व-पूर्वसमानजातीयक्षणप्रभवा अन्या एव लक्ष्येणाभिसंबध्यन्ते' इति किं नाभ्युपगम्यते ? । 'प्रत्यभिज्ञानाद् बाणादौ स्थायित्वसिद्धेर्नेयं कल्पने'ति चेत् ? शब्देऽपि तर्हि मा भूदियम्, तत्राप्येकत्वग्राहिणः प्रत्यभिज्ञानस्य 'देवदत्तोच्चारित एवायं शब्दः श्रूयते' इत्येवमाकारेणोपजायमानस्याऽबाधितत्वात् ।

के एक बहाव की दशा में शब्द की जो अस्पष्ट प्रतीति होती है उस सब की अनुपपत्ति होगी, क्योंकि जब श्रोत्र शब्द के जन्मस्थान में जाता है तो वह ठीक वहीं पहुँचेगा क्योंकि अनुवात, प्रतिवात किंवा तिर्यग्वात से श्रोत्र का कोई उपकार अथवा अपकार सम्भव नहीं है ।

शब्द ही श्रोत्र देश में जाता है यह द्वितीय पक्ष भी समीचीन नहीं है, क्योंकि इस पक्ष में शब्द की सक्रियता स्वयं स्वीकार कर लेने से उस की द्रव्यरूपता की सिद्धि का पथ प्रशस्त एवं निष्कंटक हो जाता है ।

[शब्दान्तरारम्भवाद से श्रवणप्राप्ति–नैयायिक]

नैयायिक की ओर से यदि यह कहा जाय कि–"जैनों का उक्त कथन अपने कपोल कल्पित विकल्पों का ही उद्गार है क्योंकि न्याय का मत इस से विपरीत है । उस का मत यह है कि वीणा आदि शब्दोत्पादक वाद्य और आकाश का संयोग अपने अवच्छेदक देश -वीणा आदि के स्थितिदेश से अवच्छिन्न आकाश में जिस आद्य शब्द को उत्पन्न करता है, उस से निमित्त भूत वायु के तारतम्य के अनुसार दिशाओं में एक ही साथ तार मन्द्र आदि दश शब्द ठीक उसी प्रकार उत्पन्न होते हैं जैसे कदम्ब के पुष्प में एक ही साथ दश दल उत्पन्न होते हैं, अथवा निमित्तभूत वायु का तारतम्य न होने पर दशों दिशाओं में एक ही शब्द उत्पन्न होता है । यह उत्पत्ति वीची-तरङ्ग जैसी होती है । जैसे सरोवर में वेग से कङ्कर का प्रक्षेप करने पर एक वीची उठती है, जिस से क्रम से कई तरङ्गें पर्याप्त दूरी तक उत्पन्न होती रहती हैं और प्रत्येक तरङ्ग चारों ओर फैलती है उसी प्रकार वीणा आदि से पहला शब्द उत्पन्न होने पर उस से क्रम से कई शब्द उत्पन्न होते हैं और प्रत्येक शब्द निमित्तभूत वायु के प्रसारानुसार दशों दिशाओं में प्रसृत होता है । दिशाओं में उस का प्रसार उस के अद्रव्य होने से संयोगात्मक न होकर स्वरूपात्मक होता है । स्वरूपात्मक होने का अर्थ है एक ही शब्द का दशों दिशाओं के साथ स्वरूप सम्बन्ध । आद्य शब्द से उत्तर शब्द उत्पन्न होने पर क्रम से पूर्व-पूर्व शब्द से उत्तरोत्तर शब्द की उत्पत्ति के क्रम से आद्य शब्द का सजातीय शब्द श्रोता के कर्णाकाश में उत्पन्न होकर श्रोत्र समवाय सन्निकर्ष द्वारा श्रोता से गृहीत होता है, अतः शब्द के अद्रव्यत्व पक्ष में भी शब्द के जन्मस्थल में दूरस्थ श्रोता को उस के श्रवण की अनुपपत्ति नहीं हो सकती ।"–

[बाणादि द्रव्य में क्षणिकत्वापत्ति–जैन]

नैयायिकों के इस कथन के प्रतिवाद में व्याख्याकार का यह कहना है कि शब्द क्षणिक होते हुए भी जिस रीति से अपने जन्मस्थल से दूर स्थान में भी कार्य करता है । उस रीति

'दूरस्थ-नैकट्याभ्यां तार-मन्दादिभेदेन भेदे ध्रुवे साजात्यमेव प्रत्यभिज्ञाविषय' इति चेत् ? न, परिणामभेदेऽपि रक्ततादशायां घटस्येव परिणामिनस्तस्य सर्वथाऽभेदात् । अत एवानुश्रेण्यां विश्रेण्यां वा मिश्राणामेव पराघातवासितानामेव च शब्दद्रव्याणां श्रवणाभ्युपगमेऽपि न क्षतिः । न च क्षणिकत्वं शब्दस्य प्रत्यभिज्ञायां बाधकम्, तत्र मानाभावात्, शब्दजनकशब्दस्य कार्यशब्देन शब्दजन्यशब्दस्य कारणशब्दनाशेन नाशकल्पने गौरवात्, उच्चरितशब्दस्य श्रोत्रदेशागमनकल्पनस्यैवौचित्यात्; अन्यथा कत्वादिविशिष्टलौकिकप्रत्यक्षानुपपत्तेश्च ।

से धनुष से छूटनेवाला बाण भी क्षणिक होने पर भी अन्यान्य सजातीय बाण की उत्पत्ति के क्रम से दूरस्थ लक्ष्य का वेधरूप कार्य कर सकता है । अतः बाण को भी स्थिर न मान कर क्षणिक मानने की आपत्ति होगी । यदि धनुष से पृथक् होने वाले और लक्ष्य का वेध करने वाले बाण में ऐक्य की प्रत्यभिज्ञा होने से उस की क्षणिकता को अस्वीकार्य माना जायगा तो शब्द की भी क्षणिकता स्वीकार्य न हो सकेगी क्योंकि देवदत्त आदि के कण्ठोत्पन्न शब्द और श्रूयमाण शब्द के ऐक्य को विषय करने वाली 'देवदत्त से उच्चारित शब्द को ही सुन रहा हूँ' इस प्रकार की अबाधित प्रत्यभिज्ञा होती है ।

यदि यह कहा जाय कि—'श्रोता से दूरस्थ वक्ता का शब्द तार, और निकटस्थ वक्ता का शब्द मन्द होता है । अतः तार मन्द आदि के भेद से दूरस्थ और निकटस्थ शब्द में भेद के निर्विवाद होने पर भी जैसे उन के सजातीयाऽभेद की प्रत्यभिज्ञा होती है, उसी प्रकार सर्वत्र सजातीयाभेद द्वारा शब्दविषयक प्रत्यभिज्ञा की उपपत्ति सम्भव होने से उस के द्वारा शब्द के स्थैर्य का साधन नहीं हो सकता—'तो यह ठीक नहीं है क्योंकि जैसे परिणामभेद होने पर भी रक्ततादशा का घट श्यामतादशा के घट से अभिन्न होता है, उसीप्रकार तारत्व मन्दत्व आदि परिणामों का भेद होने पर भी परिणामी शब्द की अभिन्नता अबाधित रह सकती है ।

[शब्द परिणामी द्रव्य होने से शास्त्रकथनसंगति]

शब्द को द्रव्य मानने पर यह शंका हो सकती है कि 'यदि श्रोता को आद्योत्पन्न शब्द का ही श्रवण मानेंगे तो अनुश्रेणी=उच्चारकों की क्रमिक पङ्क्ति-में एवं विश्रेणी=उच्चारक की पङ्क्ति से भिन्न श्रेणी में मिश्र एवं पराघातवासित शब्दों का श्रवण होता है-आपके इस शास्त्र-कथन में असंगति की आपत्ति होगी-' तो ऐसी शंका में कोई औचित्य नहीं है, क्योंकि ऐसा होने पर भी मिश्र और पराघातवासित शब्द मूल शब्द के ही परिणामविशेष होने से परिणामी शब्द की अभिन्नता बनी रहती है ।

यदि यह कहा जाय कि 'क्षणिकत्व शब्द की प्रत्यभिज्ञा में बाधक है, अतः प्रत्यभिज्ञा से शब्द की स्थिरता नहीं सिद्ध हो सकती-'तो यह भी ठीक नहीं हो सकता क्योंकि शब्द के क्षणिक होने में कोई प्रमाण नहीं है । कहने का आशय यह है कि शब्द को क्षणिक मानने पर उस की उत्पत्ति के लिए जन्य शब्द से जनक शब्द का तथा जनक शब्द (उपान्त्य शब्द) से जन्य चरम शब्द का नाश मानना होगा । अतः शब्द का क्षणिकत्व पक्ष शब्दनाश की द्विविध कल्पना से गौरवग्रस्त होगा । इसलिए यही मानना उचित है कि अन्यत्र उच्चारित शब्द श्रोता के श्रोत्र तक वेग से पहुँचता है ।

यैस्त्वेतदुपपादनाय संप्रदायं परित्यज्य–'प्रतियोगितया शब्दनाशे विजातीयपवनसंयोगनाशत्वेन, स्वप्रतियोगिजन्यतासंबन्धेन नाशत्वेनैव वा हेतुत्वमुपगम्य विजातीयपवनसंयोगनाशादेव जनकशब्दनाशादेव वा शब्दानां नाशः, इति पवनसंयोगस्योत्सर्गतः क्षणचतुष्टयस्थायितया शब्दोत्पत्तिचतुर्थक्षणे निमित्तपवनसंयोगनाशात् पञ्चमक्षणे शब्दनाशः, इति शब्दस्य चतुःक्षणस्थायितया न तृतीयक्षणवर्तिध्वंसप्रतियोगित्वरूपं क्षणिकत्वम्; नापि निमित्तपवनसंयोगनाशक्षणोत्पन्नशब्दस्य क्षणिकतापत्तिः, निमित्तपवनसंयोगस्योत्पत्तिसंबन्धेन कार्यसहभावेन वा शब्दहेतुत्वात्; अवच्छेदकतया तारे शुकीयककारादौ वा तादृशभावस्य हेतुत्वाद् वा। अत एव नैकावच्छेदेन सदृशनानाशब्दोत्पत्तिरपि'–इति नव्यदृशा

यह भी ज्ञातव्य है कि यदि उच्चारणदेश से चल कर श्रोत्रदेश में शब्द का आगमन न माना जायगा, तथा शब्द को क्षणिक माना जायगा तो कत्व आदि से विशिष्ट ककारादि का लौकिक प्रत्यक्ष न हो सकेगा क्योंकि 'क' का उच्चारण होने पर दूसरे क्षण में क और कत्व का निर्विकल्पक होगा और तीसरे क्षण में जब कत्व विशिष्ट का लौकिक प्रत्यक्ष अपेक्षित है तब 'क' का तो नाश हो गया है।

[ककारादि के लौकिक प्रत्यक्ष की नव्यदृष्टि से उपपत्ति]

कुछ ऐसे भी नैयायिक हैं जो कत्वादि विशिष्ट ककार आदि शब्द का लौकिक प्रत्यक्ष उपपन्न करने के लिए सम्प्रदाय=परम्परागत मान्यता का त्याग कर एक नयी दृष्टि अपनाते हैं। उन का कहना यह है कि—शब्दजनक शब्द का कार्यशब्द से और चरम शब्द का जनकशब्द से नाश नहीं होता किन्तु जनक के नाश से नाश होता है। जनकनाश विजातीयपवनसंयोग का भी नाश है और उत्पादक शब्द का भी नाश है। अत: उन के अनुसार प्रतियोगिता सम्बन्ध से शब्द नाश के प्रति विजातीयपवनसंयोगनाश अथवा सामान्य रूप से नाश स्वप्रतियोगिजन्यत्व सम्बन्ध से कारण है। जैसे स्व का अर्थ है विजातीयपवनसंयोगनाश अथवा पूर्वशब्द, उस की जन्यता है उत्तर शब्द में, अतः उक्तसंयोगनाश अथवा पूर्वशब्दनाश के अनुसार उक्तसंयोगजन्य शब्द में अथवा पूर्वशब्दजन्यशब्द में प्रतियोगिता सम्बन्ध से शब्दनाश की उत्पत्ति होती है। इस कार्यकारणभाव के अनुसार शब्द का नाश शब्द के पञ्चमक्षण में उत्पन्न होगा। अत: शब्द की स्थिति चार क्षण तक होने से उस में तृतीयक्षणवृत्ति ध्वंस का प्रतियोगित्वरूप क्षणिकत्व न होने से तीसरे क्षण उस का लौकिक प्रत्यक्ष होने में कोई बाधा नहीं हो सकती। इस मान्यता में उक्त संयोगनाश से शब्द के पञ्चमक्षण में शब्दनाश होने का क्रम यह है कि उक्तसंयोग के दूसरे क्षण में शब्द उत्पन्न होगा और उसी क्षण में उक्त संयोग के उत्पादक पवनकर्म का नाश होगा। संयोग के तीसरे क्षण पवन में दूसरा कर्म उत्पन्न होगा; चौथे क्षण में पूर्वदेश से पवन का विभाग होगा। पाँचवे क्षण में पूर्वपवनसंयोग का नाश होगा। छठें क्षण में यानी शब्द के पाँचवे क्षण में शब्द का नाश होगा।

इस कार्यकारणभाव के अभ्युपगम पक्ष में पवनसंयोग से उस के द्वितीयक्षण में उत्पन्न होने वाला शब्द तो उक्त क्रम से अपने पाँचवें क्षण में नष्ट होने से चार क्षण तक स्थायी हो सकता है। पर जो शब्द उक्त संयोग से उस के नाश क्षण में उत्पन्न होगा वह तो उक्त संयोग नाश से दूसरे क्षण ही नष्ट हो जाएगा। अत: उस शब्द में द्वितीयक्षणवृत्ति ध्वंस प्रतियो-

निरीक्ष्यते; तेषां बहुक्षणस्थायितामुपेक्ष्य प्रत्यभिज्ञाकदर्थनं व्यसनमात्रम्। वस्तुतो 'दूरादागतोऽयं शब्दः समीपादागतोऽयं शब्दः' इति 'दूरादागतोऽयं बकुलपरिमलः, समीपादागतोऽयं बकुलपरिमलः' इति घ्राणेन गन्धक्रियाविशेषवत् श्रोत्रेण शब्दक्रियाविशेषः साक्षादेव गृह्यते। इत्थमेव श्रोत्राऽप्राप्यकारित्वाभिमानिशाक्यसिंहविनेयमतनिरासात्, क्रियाविशेषग्रहादेव दूरादिव्यवहारोपपत्तेः, दूरस्थत्वादेः श्रोत्रेण ग्रहीतुमशक्यत्वात्, दूरस्थस्यैव शब्दस्य ग्रहे दूरस्थेन महता भेर्यादिशब्देनाल्पस्य मशकादिशब्दस्यानभिभवप्रसङ्गाच्च। न च पवनगतैव गतिः शब्द आरोप्यते, स्वाभाविकगतेरन्यगत्यनुविधानानुपपत्तेरिति वाच्यम्, इन्द्रनीलप्रभागतेरिन्द्रनीलगत्यनुविधानवदुपपत्तेः।

गित्वरूप सूक्ष्म क्षणिकत्व की आपत्ति यद्यपि प्राप्त होती है, तथापि इस आपत्ति का परिहार पवनसंयोग के नाशक्षण में शब्दोत्पत्ति को असम्भव बता कर किया जा सकता है। जैसे यह कहा जा सकता है कि विजातीयपवनसंयोग उत्पत्ति सम्बन्ध से शब्द का जनक है, अथवा कार्यसहभावेन जनक है। अतः शब्द का जन्म पवनसंयोग के रहते ही हो सकता है, उस के नाश क्षण में नहीं हो सकता है।

अथवा यह भी कहा जा सकता है कि अवच्छेदकतासम्बन्ध से तार शब्द के प्रति किं वा शुकादिप्रभव ककार आदि के प्रति सदृशभाव कारण है। अतः पवनसंयोग के नाशक्षण में उस से शब्द की उत्पत्ति नहीं हो सकती क्योंकि वह उस काल में नाश से ग्रस्यमान होने के कारण उत्पद्यमान शब्द के सदृशभाव नहीं है। इस कार्यकारणभाव को मान्यता प्रदान कर देने से एक पवनसंयोग से एकावच्छेदेन सदृश अनेक शब्दों की उत्पत्ति का भी प्रसंग नहीं हो सकता क्योंकि जब अनेक शब्द उत्पाद्य होंगे, तो एकपवनसंयोग उन के सदृश न होगा क्योंकि कारणीभूत भाव में कार्य का सादृश्य उत्पाद्य-उत्पादकत्व एवं समसंख्याकत्व उभय रूप से विवक्षित है।

[नयदृष्टि से किये गये कथन की आलोचना]

जैसे नैयायिकों के सम्बन्ध में व्याख्याकार का कहना है कि जब वे तीसरे क्षण में शब्दनाश की परम्परागत मान्यता का त्याग कर शब्द को चार क्षण तक स्थायी मानने को तैयार हैं तब उन्हें और भी अधिक काल तक स्थायी मान लेने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। अतः उन का एक पक्षमात्र केवल इस बात का सूचक मात्र है कि शब्द को बहुक्षणस्थायी न मानना, तथा शब्द की सम्प्रदायानुमत क्षणिकता को विकृत करना, एवं भिन्न व्यक्तियों द्वारा उच्चारित ककार में 'यह वही ककार है' इस प्रत्यभिज्ञाको साजात्यविषयक बता कर कदर्थित करना यह उन का व्यसन है।

सत्य यह है कि जैसे 'यह सुगन्ध दूर से आया है—यह सुगन्ध समीप से आया है।' इस प्रकार गन्ध परिमल के क्रियाविशेष का घ्राण से ग्रहण होता है, उसीप्रकार 'यह शब्द दूर से आया है-यह समीप से आया है' इस प्रकार शब्द का क्रियाविशेष श्रोत्र से प्रत्यक्ष गृहीत होता है।

शाक्यसिंह के शिष्यों का जो यह मत है कि श्रोत्र अप्राप्यकारी यानी असम्बद्ध का ग्राहक होता है– यह मत भी इस रीति से निरस्त हो जाता है, क्योंकि दूर-समीप आदि का व्यवहार क्रियाविशेष के ज्ञान से ही उपपन्न होता है और दूरस्थत्व आदि का ग्रहण अप्राप्त श्रोत्र से सम्भव नहीं हो सकता। दूसरी बात यह है कि यदि दूरस्थ ही शब्द का ग्रहण माना जाएगा तो भेरी आदि के दूरस्थ महान शब्द से भेरी के समीप होनेवाले मशक आदि के शब्दों का

अपि च, गुणवत्त्वादपि द्रव्यं शब्दः । न च गुणवत्त्वमसिद्धम्, कांस्यपात्र्यादिध्वानाभिसम्बन्धेन कर्णशष्कुल्याख्यस्य शरीरावयवस्याभिघातदर्शनेन स्पर्शवत्तया तस्य तत्सिद्धेः, स्पर्श-वेगसापेक्षक्रियाया अभिघातहेतुत्वात् । 'स्पर्शवता शब्देन कर्णविवरं प्रविशता वायुनेव तद्द्वारलग्नतूलांशुकादेः प्रेरणं स्यात्–' न स्याद् धूमेनानेकान्तात् । धूमो हि स्पर्शवान्, तदभिसंबन्धेन चक्षुषोऽस्वास्थ्योपलब्धेः, न च तेन चक्षुःप्रदेशं प्रविशता तत्पक्ष्ममात्रस्यापि प्रेरणं समुपलभ्यत इति । न च स्पर्शवत्त्वे शब्दस्य वायोरिव स्पार्शनप्रसङ्गः, धूम-प्रभादिवदनुद्भूतस्पर्शत्वात् । नापि धूमादिवच्चाक्षुषप्रसङ्गः, जलसंयुक्तानलवदनुद्भूतरूपत्वात् । अथ जलसहचरितेनानलेनोष्णस्पर्शवता शरीरप्रदेशदाहवत् तथाविधेन शब्दसहचरितेन वायुनैव श्रवणाख्यशरीरावयवाभिघाताद् न शब्दस्य स्पर्शवत्त्वमिति चेत् ? न, शब्दतीव्रतानुविधायित्वेनाभिघातविशेषस्य तद्धेतुकत्वात् । न चानुद्भूतस्पर्शवताऽभिघात इति सांप्रतम्, तादृशस्यापि पिशाचादेः पादप्रहारेण तत्संभवात् । 'वेगवत्क्रियावयव-

---

अभिभव न हो सकेगा, क्योंकि शब्दश्रवण के लिए तब शब्द और श्रोत्र की प्राप्ति अपेक्षित न होगी । तब भेरी और मशक दोनों के शब्द दूर से सुन पडने चाहिए ।

यदि यह कहा जाय कि-' शब्द गुण होने से गतिहीन है, उस में पवन की गति का ही आरोप होता है । यदि शब्द को द्रव्य मान कर उस में स्वाभाविक गति मानी जायगी तो वह पवन-गति का अनुविधान न कर सकेगी–' तो यह ठीक नहीं है क्योंकि इन्द्रनील की प्रभा की स्वाभाविक गति इन्द्रनील की गति का अनुविधान करती है अतः यह नियम असिद्ध है कि स्वाभाविक गति अन्य गति का अनुविधान नहीं करती ।

[गुणवान् होने से शब्द में द्रव्यत्व-सिद्धि]

उत्पत्ति स्थल से श्रोता के श्रोत्र तक पहुँचने के लिए अपेक्षित गति से जैसे शब्द में द्रव्यत्व सिद्ध होता है वैसे ही गुण से भी शब्द में द्रव्यत्व सिद्ध होता है । शब्द में गुण असिद्ध है—यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि कांस के बर्तन आदि की ध्वनि का सम्बन्ध होने पर शरीर के अवयव ' कर्णशष्कुली ' का अभिघात देखा जाता है । अभिघात, स्पर्श एवं वेगसापेक्ष क्रिया से होता है । अतः उक्त ध्वनि में स्पर्श की सत्ता सिद्ध होने से शब्द में गुण सिद्ध है ।

यदि शंका हो कि-" स्पर्शवान् शब्दद्रव्य जब कर्णछिद्र में प्रवेश करेगा तब श्रोत्रद्वार पे लगे हुए कर्पासतूल या सूक्ष्म तंतु आदि को वायुप्रवेश की तरह धक्का लगेगा " -तो यह ठीक नहीं है । कारण स्पर्शवान् द्रव्य से धक्का लगे ही ऐसा कोई नियम नहीं है क्योंकि धूम में वैसा नहीं देखा जाता । धूम भी स्पर्शवान् द्रव्य ही है और रजकण स्पर्श की तरह धूम स्पर्श से चक्षु में पीडा होती है यह भी देखा जाता है, किन्तु नेत्र में जब उस का प्रवेश होता है तब नेत्र के बाल को धक्का लगता हो, बाल कुछ हीलते हो ऐसा दीखता नहीं है । अतः शब्दप्रवेश से श्रोत्रस्थ कर्पासतूल आदि को धक्का न लगे तो कोई आश्चर्य नहीं है । " शब्द को स्पर्शवान् मानेंगे तो वायु की तरह उस के स्पार्शन प्रत्यक्ष की आपत्ति होगी " –यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि धूम और प्रभा की तरह शब्द का स्पर्श भी अनुद्भूत होता है । ' धूमादि की तरह शब्द के चाक्षुष प्रत्यक्ष की आपत्ति ' को भी अवकाश नहीं है क्योंकि उष्णजल गत सूक्ष्म अग्नि-अंशों की तरह शब्द का रूप भी अनुद्भूत होता है ।

क्रिययैवाभिघातः, तत्र स्पर्शो न तन्त्रमिति चेत् ? अस्त्वेवम्, तथापि गुणवत्त्वम-व्याहतमेव ।

अल्पत्व—महत्त्वाभिसंबन्धादपि गुणवान् शब्दः, 'अल्पः शब्दो, महान् शब्दः' इति सार्वजनीनानुभवात् । न च वक्तृगतं व्यञ्जकगतं वाऽल्प-महत्त्वमारोप्यत इति वाच्यम्, बाधकाभावात् । न चेयत्तानवधारणं बाधकम्, वाय्वादौ तदनवधारणेऽप्यल्प-महत्त्वावधारणात् । न च तारत्वमन्दत्वजातिभ्यामेव शब्दगताभ्यामल्प-महत्त्वव्यपदेशोपपत्तेर्न तत्र परिमाणकल्पनमिति वाच्यम्; तारत्वादेः शब्दगतजातित्वाऽसिद्धेः, कत्वादिना सांकर्यात्, 'कत्वादिव्याप्यं तारत्वादिकं भिन्नमेव' इत्यस्य च दुर्वचत्वात्, 'तारत्वादिव्याप्यं कत्वादिकमेव भिन्नमस्तु' इत्यपि वक्तुं शक्यत्वात् ।

यदि यह कहा जाय कि—' जैसे जलसंयुक्त-उष्णस्पर्शवान् अग्नि से शरीर प्रदेश का दाह होता है उसीप्रकार शब्द के सहचारी स्पर्शवान् वायु से ही शरीर के कर्ण रूप अवयव का अभिघात हो जाने से शब्द में स्पर्श की सिद्धि न हो सकने के कारण शब्द में गुण असिद्ध है ।–' तो यह ठीक नहीं है क्योंकि अभिघातविशेष शब्द की तीव्रता का अनुविधायी होने से अभिघात को शब्दजन्य मानना होगा. अतः उस की उपपत्ति के लिए शब्द को स्पर्शवान् मानना आवश्यक है ।

' शब्द में अनुद्भूत स्पर्श मानने पर उस से कर्ण का अभिघात नहीं हो सकता । ' यह शंका नहीं की जा सकती क्योंकि पिशाच आदि में अनुद्भूत स्पर्श होने पर भी उस के पाद-प्रहार से अभिघात होना प्रामाणिक है । यदि यह कहा जाय कि-वेगवान् निबिडावयव द्रव्य की क्रिया से ही अभिघात होता है । उस में स्पर्श की अपेक्षा नहीं होती । अतः पिशाच के वेगवान् निबिडावयव होने से उस के पादप्रहार से अभिघात हो सकता है' तो इस कथन से भी शब्द में गुण का व्याघात नहीं हो सकता, क्योंकि उस से कर्ण का अभिघात उपपन्न करने के लिए उस में वेग मानना आवश्यक होने से वेगात्मक गुण से उस की गुणाश्रयता अव्याहत है ।

[अल्पतादि के अनुभव से शब्द में गुणसिद्धि]

अल्पत्व-महत्त्व परिमाण के अभिमत सम्बन्ध से भी शब्द में गुण सिद्ध है क्योंकि 'अल्पः शब्दः-छोटा शब्द, महान् शब्दः-बडा शब्द' इस प्रकार के सर्वजनसिद्ध अनुभव से शब्द में अल्पत्व-महत्त्व सिद्ध है । ' वक्ता के अथवा व्यञ्जक के अल्पत्व महत्त्व का शब्द में आरोप होता है ' यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि शब्द में होनेवाले अल्पत्व आदि के अनुभव का कोई बाधक नहीं है और अबाधित अनुभव आरोपात्मक नहीं होता । यदि यह कहा जाय कि-शब्द में इयत्ता का अवधारण नहीं होता कि ' अमुक शब्द इतना छोटा अथवा इतना महान् है, ' जब कि जो परिमाणवान् होता है उस की इयत्ता का अवधारण होता है । अतः इयत्ता का अवधारण न होना ही शब्द में अल्पत्व-महत्त्वादि के अनुभव का बाधक है '–तो यह कहना उचित नहीं है क्योंकि वायु में इयत्ता का अवधारण न होने पर भी उस में अल्पत्व-महत्त्व आदि परिमाण सर्वमान्य है ।

' तारत्व-मन्दत्व जाति से ही शब्द में महत्त्व-अल्पत्व का व्यवहार हो सकता है, अतः उन में परिमाण की कल्पना व्यर्थ है ' यह कहना भी उचित नहीं है क्योंकि कत्व में मन्द ककार में तारत्वाभाव का सामानाधिकरण्य और तार खकार में तारत्व में कत्वाभाव का सामानाधिकरण्य एवं ' क ' में कत्व-तारत्व दोनों का सामानाधिकरण्य होने से कत्व आदि

कार्यमात्रवृत्तिजातेः कार्यतावच्छेदकत्वनियमेन नानातारत्वाद्यवच्छिन्ने नानाहेतुकल्पनागौरवाच्च । 'मन्दतीव्रताभिसंबन्धादल्प–महत्त्वप्रत्ययसंभवे मन्दवाहिनि गङ्गानीरे 'अल्पमेतत्' इति प्रत्ययोत्पत्तिः स्यात्, तीव्रवाहिनि गिरिसरिन्नीरे 'महत्' इति च प्रतीतिप्रसङ्गः' इत्यपि वदन्ति । न चात्र क्रियानिष्ठयोरेव मन्दत्व–तीव्रत्वयोः प्रत्ययः, शब्दे तु स्वगतयोरेवेति विशेष इति वाच्यम् ; शब्देऽपि 'मन्दमायाति, तीव्रमायाति शब्दः' इति क्रियानिष्ठयोरपि तयोः प्रतीयमानत्वात्, क्रिया-धर्मस्य क्रियावत्युपचाराच्च नीरेऽपि दृश्यत एव 'इदं नीरं मन्दम्, इदं तीव्रम्' इति न किञ्चिदेतत् ।

वायुना प्रतिनिवर्तनात् संयोगादपि तथा, गन्धादिवत् प्रतिकूलवायुनाऽऽश्रयनिवर्तनस्य दुर्वचत्वात्, तदाश्रयस्य भवद्भिर्व्यापकस्याभ्युपगमात्, शब्दात् शब्दोत्पत्तेश्च निरस्तत्वात् । 'तन्निरासे

के सांकर्य से तारत्व आदि में शब्दगत जातिरूपता असिद्ध है। 'कत्व, खत्व आदि की व्याप्य तारत्व आदि जाति अनेक हैं' यह कहना भी कठिन है क्योंकि विनिगमनाविरह से तारत्व आदि का व्याप्य कत्व आदि अनेक हैं, यह भी कहना सुकर है। इस के अतिरिक्त तारत्व आदि को अनेक मानने में एक यह भी दोष है कि कार्य मात्र में रहनेवाली जाति कार्यतावच्छेदक होती है यह नियम है; अतः इस नियम की उपपत्ति के लिए विभिन्न तारत्व आदि को विभिन्न कारणों का कार्यतावच्छेदक बनाने के निमित्त से अनेक कार्यकारणभाव की कल्पना आवश्यक होने से गौरव होगा।

[तीव्र–मन्दता से अल्प–महत्त्व प्रतीति मानने में दोष]

यह भी ज्ञातव्य है कि यदि शब्द में होने वाली अल्पत्व महत्त्व की प्रतीतियों की उपपत्ति मन्दता और तीव्रता द्वारा की जायगी तो मन्दवाही अगाध गंगाजल में अल्पत्व की एवं तीव्रवाही पहाडी झरनों में महत्त्व की प्रतीति की आपत्ति होगी। यदि यह कहा जाय कि-'गंगानीर में अल्पत्व और पहाडी झरनों में महत्त्व की प्रतीति का आपादान नहीं हो सकता, क्योंकि मन्दता, तीव्रता गंगानीर में न होकर उस की क्रिया में है। अतः तद्गत मन्दता तीव्रता को ही तद्गत अल्पत्व-महत्त्व प्रतीति का नियामक मानने से उक्त आपत्ति नहीं हो सकती। और शब्द में उक्त प्रतीति की उपपत्ति हो सकती है, क्योंकि वह शब्द की ही मन्दता और तीव्रता से सम्पादनीय है'-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि यदा कदा शब्द में भी क्रिया की ही मन्दता-तीव्रता से अल्पत्व-महत्त्व की प्रतीति होती है। जैसे: 'शब्दः मन्दमायाति=शब्द मन्दता से आ रहा है' इस प्रतीति से 'शब्द अल्प है' इस प्रतीति की, एवं 'शब्दः तीव्रमायाति=शब्द तीव्रता से आ रहा है' इस प्रतीति से 'शब्द महान् है' इस प्रतीति की उत्पत्ति होती है।

दूसरी बात यह है कि क्रियाधर्म का क्रियावान में उपचार=गौण व्यवहार देखा भी जाता है। जैसे मन्द बहते हुए नीर को मन्द शब्द से और तीव्र बहते हुए नीर को तीव्र शब्द से लोक में शतशः व्यवहृत होते हुए देखा जाता है। अतः 'तद्गत मन्दता-तीव्रता से ही तद्गत अल्पता, महत्ता की आरोपात्मक प्रतीति होती है' यह नियम असिद्ध है।

[वायु प्रतिनिवर्तन से सिद्ध संयोग से शब्द में द्रव्यत्वसिद्धि]

वायु से शब्द का प्रतिनिवर्तन यानी पीछे की ओर प्रेरण होने से शब्द में वायु का संयोग सिद्ध है, अतः संयोग से भी शब्द में द्रव्यत्व का अनुमान हो सकता है। यह मानना

कथमेक एव शब्दो बहुभिः प्रतीयते ?' इति चेत् । यथैक एव चम्पकादिगन्धो बहुभिः प्रतीयते तथेति विभावय । तदवयवानां दिक्षु प्रसरणवत् शब्दावयवानामपि तदुपगमात् । 'चम्पकादिभ्यो निर्गता द्रव्यान्तरीभूता एव चम्पकावयवा यथावातं प्रसरन्ति न तु चम्पकोऽपि, अदृष्टवशाद् बीजाद्युच्छूनतायामिव नियतावयवान्तराऽऽगमनाच्च न चम्पके च्छिद्राद्यापत्तिः, न चायं शब्दे न्याय' इति चेत् ? न चम्पकीयगन्धप्रत्यभिज्ञानादवयवान्तरागमकल्पने गौरवाच्चावस्थितस्यैव चम्पकस्य तथापरिणामकल्पनात् शब्दस्याप्यवस्थितस्यैव दिग्भिदिग्व्याप्तिसंभवात् । आगममूलश्चायमर्थ इति दिक् ।

संभव नहीं है कि 'जैसे प्रतिकूल वायु से आश्रय निवर्तन द्वारा गन्ध आदि गुणों का निवर्तन होता है उसीप्रकार आश्रय निवर्तन के द्वारा शब्द आदि का भी निवर्तन हो सकता है'- क्योंकि शब्दगुणत्ववादी नैयायिक के मत में शब्द का आश्रय आकाश व्यापक माना जाता है अतः उस का निवर्तन सम्भव नहीं है। प्रतिकूल वायु से शब्द निवर्तन के अनुभवस्थल में यदि यह कहा जाय कि 'शब्द का निवर्तन नहीं होता अपितु वायु के प्रतिकूल होने पर शब्द की अभिमुख दिशा में शब्द की उत्पत्ति न होकर पीछे की ओर शब्द की उत्पत्ति होने लगती है' -तो यह कहना शक्य नहीं है क्योंकि शब्द से शब्द की उत्पत्ति का इस आधार पर निरास किया जा चुका है कि शब्द को द्रव्य मान लेने पर वक्ता के मुख से अथवा वीणा आदि से उद्भूत शब्द ही गति द्वारा श्रोता के कान तक पहुँच सकता है। अतः शब्द के जन्मस्थल से श्रोता के कान तक अनेक शब्दों के जन्म की कल्पना में महान गौरव है।

[अनेक पुरुषों द्वारा एक शब्द के ग्रहण की उपपत्ति]

यदि यह शंका हो कि-'शब्द से शब्द की उत्पत्ति न मानने पर शब्द के जन्मस्थल के चारों ओर उपस्थित अनेक श्रोताओं को एक ही शब्द का ग्रहण कैसे होगा ?'-तो इस का उत्तर यह है कि जैसे चम्पक आदि पुष्पों का एक ही गन्ध विभिन्न स्थानों में अवस्थित पुरुषों द्वारा गृहीत होता है उसी प्रकार एक शब्द भी अनेक पुरुषों द्वारा गृहीत हो सकता है, क्योंकि पुष्प के अवयव जैसे दिशाओं में फैल जाते हैं उसी प्रकार शब्द द्रव्य के अवयव भी दिशाओं में फैल जाते हैं।

यदि यह कहा जाय कि-'चम्पक आदि से निकले चम्पक आदि के अवयव अवयवी चम्पक से भिन्न द्रव्य हैं। अतः वायु के साथ उन का फैलाव हो जाता है। किन्तु मूल पुष्प अपने स्थान में ही अवस्थित रहता है। और जैसे भूमि के गर्भ में बड़े बीज के फूलने पर बीजावयव से अन्य अवयवों का सम्पर्क होकर अङ्कुरादि की उत्पत्ति होती है, उसीप्रकार चम्पक के कुछ अवयवों के पृथक हो जाने पर भी अदृष्टवश नियत नवीन अवयवों से निकले अवयवों की रिक्तता की पूर्ति हो जाने से पुष्प में छिद्रादि नहीं होता। किन्तु, यह बात शब्द में सम्भव नहीं है क्योंकि ऐसा अनुभव नहीं है कि विभिन्न पुरुषों को शब्द के अवयव सुनाई पड़ते हैं और मूल शब्द अपने स्थान में यथापूर्व बना रहे' -तो यह ठीक नहीं है क्योंकि चम्पक के गन्ध की प्रत्यभिज्ञा होती है अर्थात् चम्पक के गन्ध का एक बार अनुभव होने के बाद जब गन्ध का पुनः अनुभव होता है तो इसप्रकार की प्रत्यभिज्ञा होती है कि जो गन्ध एक घण्टे के पूर्व गृहीत हुआ था वही अब भी गृहीत हो रहा है। एवं पुष्प के गन्ध

एकत्वादिसंख्यायोगादपि तथा, 'एकः' शब्दः, द्वौ शब्दौ, बहवः शब्दाः' इति प्रतीतेः । न चाधारसंख्योपचारात् तथाव्यपदेश इति युक्तम् आधारस्यैकत्वाद् बहुष्वप्येकत्वव्यपदेशापत्तेः । विषयसंख्योपचारे च गगना-ऽऽकाशव्योमशब्देषु बहुत्वव्यपदेशानापत्तिः, गगनलक्षणस्य विषयस्यैकत्वात् । न स्याच्च 'एको गोशब्दः' इति स्वप्नेऽपि प्रतीतिः, गवामनेकत्वात् । अपि च, घटादाविव निरुपचरितमेव शब्दे एकत्वादिकं प्रतीयते, परम्परासम्बन्धेन वैलक्षण्येन वा तदप्रत्ययात् । एतेन 'यथाऽविरोधं संख्योपचारः' इति पदार्थेषु पटत्ववदेकत्वादिकम्, बुद्धिविशेषविषयत्वमेव

का अनुभव कर पुरुष के कुछ दूर आने पर जब पुनः गन्धानुभव होता है उस समय भी यह प्रत्यभिज्ञा होती है कि 'पुष्प के निकट जो गन्ध गृहीत हुआ था वह पुष्प से इतनी दूर पर भी गृहीत हो रहा है' किन्तु चम्पक के अवयवों का निर्गम और नवीन अवयवों के सम्पर्क से चम्पक के निर्गत अवयवों की रिक्तता की पूर्ति मानने पर उक्त प्रत्यभिज्ञाओं की उपपत्ति नहीं हो सकती क्योंकि मूल चम्पक और आगन्तुक अवयवों से पूर्ण होने वाले चम्पक में भेद होने के कारण उन के गन्ध में भी भेद होता है । एवं अवयव-अवयवी में भेद होने के कारण चम्पक और उस से निर्गत अवयवों के गन्ध में भी भेद होता है । अतः चम्पक के विषय में यही मानना उचित है कि चम्पक के अवयव उस से निर्गत नहीं होते किन्तु चम्पक अपने अवयवों के साथ अपने स्थान में समान रूप से अवस्थित रहता है । किन्तु उस के ऐसे परिणाम उत्पन्न होते हैं जो दूर तक फैल कर चम्पक के गन्ध का अनुभव उत्पन्न करते हैं । यही बात शब्द के विषय में भी मानना उचित है क्योंकि ऐसा स्वीकार करने में कोई बाधा नहीं है कि शब्द अपने स्थान में यथापूर्व अवस्थित रहता है फिर भी विभिन्न दिशाओं और अवान्तर दिशाओं में उस की व्याप्तिरूप उसका परिणाम उत्पन्न होता है और इसीलिये एक ही शब्द विभिन्न दिशाओं में विभिन्न पुरुषों द्वारा गृहीत होता है ।

व्याख्याकार का कहना है कि शब्द द्रव्यात्मक है यह उन की कोरी कल्पना नहीं है किन्तु यह विषय आगमप्रमाणमूलक है, जैन आगमों में शब्द द्रव्य होने का कहा गया है ।

[एकत्वादि संख्या के योग से शब्द में द्रव्यत्व सिद्धि]

एकत्व आदि संख्या के सम्बन्ध से भी द्रव्यत्व की सिद्धि होती है क्योंकि 'एक शब्द, दो शब्द, बहुत शब्द' इस प्रकार की प्रतीतियों से शब्द में एकत्वादि संख्या सिद्ध है । संख्या गुणस्वरूप है और गुण द्रव्य में ही आश्रित होता है, इसलिए संख्या का आश्रय होने से शब्द को द्रव्यात्मक मानना आवश्यक है । आश्रय की संख्या से शब्द में संख्या के उक्तव्यवहार की उपपत्ति नहीं की जा सकती क्योंकि न्याय मत में उस का आश्रय आकाश एक है, अतः उस की संख्या से द्वित्व, बहुत्व आदि के व्यवहार का उपपादन अशक्य है । प्रत्युत, आश्रय की संख्या से शब्द में संख्या व्यवहार का समर्थन करने पर आश्रय के एक होने से बहुत शब्दों में भी एकत्व व्यवहार की आपत्ति होगी । शब्दप्रतिपाद्य अर्थ की संख्या का भी शब्द में गौण व्यवहार नहीं माना जा सकेगा क्योंकि ऐसा मानने पर आकाश के एक होने से उस के बोधक 'गगन आकाश व्योम' आदि शब्दों में भी बहुत्व व्यवहार की अनुपपत्ति होगी । और गो शब्द से प्रतिपाद्य गौ के असंख्य होने से 'गोशब्दः एकः' इसप्रकार गो शब्द में एकत्व प्रतीति की स्वप्न में भी उपपत्ति न हो सकेगी ।

वा' इत्यादि निरस्तम् । एवं 'क्रियावत्त्वात् गुणवत्त्वाच्च शब्दो द्रव्यम्' इति बाधितं तस्याऽद्रव्यत्वसाधकानुमानम् ।

अपिच 'एकद्रव्यत्वात्' इति हेतुरप्यसिद्धः, 'एकद्रव्यः शब्दः' इत्याद्यनुमाने वायुनैव व्यभिचारात्, तस्याऽप्रत्यक्षत्वे घटादेरपि तथात्वप्रसङ्गात्, त्वचा स्पर्शस्येव चक्षुषापि रूपस्यैव प्रतीतेः सुवचत्वात् 'पश्यामि, स्पृशामि' इति धिया घटादेर्दर्शनस्पर्शनाभ्यां प्रत्यक्षत्वोपगमे च वायावपि 'खरः, मृदुः, उष्णः, शीतो वायुर्मे लगति' इति प्रतीतेस्तथात्वं किं नोपेयते ? । न चेयं प्रतीतिर्न स्पार्शनी, अपि तु मानसीति वाच्यम्; त्वग्व्यापार एव तदुदयात्, 'स्पृशामि' इत्या-

[घट और शब्द में समानरूप से एकत्वादि की प्रतीति]

दूसरी बात यह है कि जैसे घट आदि में एकत्व आदि का प्रत्यय एवं व्यवहार औपचारिक न होकर मुख्य होता है, उसीप्रकार शब्द में भी एकत्व आदि का प्रत्यय और व्यवहार अनौपचारिक एवं मुख्य ही होता है। ऐसा नहीं होता कि घटादि में एकत्व आदि की प्रतीति साक्षात् सम्बन्ध से हो और शब्द में परम्परा सम्बन्ध से हो, घट और शब्द में होने वाली एकत्वादि की प्रतीतियों में वैलक्षण्य भी नहीं अनुभूत होता । अतः घट और शब्द में होने वाली एकत्वादि की प्रतीतियों में वैषम्य की कल्पना निराधार है।

यह मत भी उक्त कारण से ही निरस्त हो जाता है कि संख्या का उपचार अविरोध के आधार पर होता है। अतः जैसे द्रव्य, गुण आदि में षट्त्व संख्या बुद्धिविशेषविषयत्वरूप है उसीप्रकार शब्द में प्रतीत होनेवाला एकत्व आदि बुद्धिविशेषविषयत्वरूप ही है, क्योंकि घट आदि द्रव्यों में होनेवाली तथा द्रव्य, गुण आदि में होनेवाली षट्त्व की प्रतीति में तथा शब्द में होनेवाली एकत्व आदि की प्रतीतियों में जब सम्बन्धकृत अथवा स्वरूपकृत वैलक्षण्य आनुभविक नहीं है तब सदृश प्रतीतियों में एक को संख्याविषयक मानने और अन्य को बुद्धिविशेषविषयत्वविषयक मानने में कोई विनिगमना नहीं है।

इसप्रकार क्रिया और गुण से शब्द में द्रव्यत्व की सिद्धि होने से उस में अद्रव्यत्व का साधक अनुमान बाधित हो जाता है। अतः शब्द को द्रव्यभिन्न मानना अत्यन्त निर्युक्तिक है।

[नैयायिकप्रोक्त अनुमान में एकद्रव्यत्व हेतु की असिद्धि]

शब्द में अद्रव्यत्व सिद्ध करने के लिए जो एकद्रव्यत्व हेतु का प्रयोग किया गया वह भी समीचीन नहीं है, क्योंकि शब्द में 'एकद्रव्यत्व-एकद्रव्य मात्र में समवेतत्व' असिद्ध है। इस असिद्धि के परिहार के लिए शब्द में एकद्रव्यत्व सिद्ध करने के लिए जिस अनुमान का प्रयोग किया गया वह भी संगत नहीं है, क्योंकि एकद्रव्यत्व के साधनार्थ प्रयुक्त बाह्य-एकेन्द्रियजन्य-प्रत्यक्षविषयत्वरूप हेतु वायु में एकद्रव्यत्व का व्यभिचारी है। इस व्यभिचार का अभाव तभी हो सकता है जब वायु अप्रत्यक्ष हो । किन्तु यह मानना उचित नहीं है क्योंकि वायु को अप्रत्यक्ष मानने पर घट आदि में भी अप्रत्यक्षत्व की आपत्ति होगी। यतः बिना किसी कठिनाई के यह कहा जा सकता है कि जैसे त्वक् से वायु के स्पर्श का ही ग्रहण होता है वायु का नहीं होता, उसीप्रकार चक्षु से घट आदि के रूप का ही ग्रहण होता है, घटादि का ग्रहण नहीं होता । और यदि 'घटं पश्यामि' एवं 'घटं स्पृशामि' इस प्रतीति के बल पर

कारानुपपत्तेश्च । अथ 'स्पृशामि' इति धीर्भ्रान्ता, मूर्तप्रत्यक्षत्वस्योद्भूतरूपकार्यतावच्छेदकत्वेन कारणाभावस्य बाधकस्य सत्त्वादिति चेत् ? न, चाक्षुषे स्पार्शने वा विलक्षणक्षयोपशमरूपयोग्यताया एव हेतुत्वात् प्रभादिवृत्त्यनुद्भूतस्पर्शादेः स्पार्शनादिप्रतिबन्धकत्वाऽकल्पनात्, योग्यताऽभावादेव तत्र स्पार्शनाद्यनुदयात् । अत एव योग्यताविशेषवतः पुरुषविशेषस्य शब्दे बाह्येन्द्रियान्तरेणापि प्रतीतौ प्रकृतहेतावसिद्धतामप्युद्भावयन्ति संप्रदायवृद्धाः, अन्यथा चक्षुषैवास्मदादिभिरुपलभ्यमानैश्चन्द्राऽर्कादिभिर्व्यभिचारात्, 'सर्वदा सर्वत्र सर्वैर्बाह्यैकेन्द्रियग्राह्यः शब्दः, बाह्येन्द्रियग्राह्यत्वे सति विशेषगुणत्वात्, रूपादिवत्' इत्यत्र च शब्दस्य गुणत्वनिषेधेन हेतोरसिद्धत्वात् ।

अपि च, मूर्तप्रत्यक्षत्वावच्छिन्न उद्भूतरूपस्य हेतुत्वं मीमांसकानुसारिभिरेव निरस्तम्, मूर्तप्रत्यक्षत्वस्य कार्याऽकार्यवृत्तितया कार्यतानवच्छेदकत्वात् । मूर्तलौकिकप्रत्यक्षत्वापेक्षया च द्रव्यनिष्ठलौकिकविषयतया चाक्षुषत्वस्यैव लाघवेन कार्यतावच्छेदकत्वौचित्यात् । अस्तु वा शक्तिविशेषस्य

घट का स्पर्श और त्वक् से प्रत्यक्ष माना जायगा तो फिर वायु के प्रत्यक्षत्व का अस्वीकार कैसे हो सकेगा, क्योंकि वायु की भी इसप्रकार प्रत्यक्ष प्रतीति होती है कि 'वायु रूक्ष लग रहा है, मृदु लग रहा है, गर्म लग रहा है, ठण्डा लग रहा है।' इन प्रतीतियों के बारे में यह कहना सम्भव नहीं है कि-'ये प्रतीतियाँ त्वगिन्द्रियजन्यप्रत्यक्षरूप नहीं हैं किन्तु मनोजन्य प्रत्यक्षरूप हैं-' क्योंकि त्वगिन्द्रिय का व्यापार होने पर ही इन प्रतीतियों का उदय होता है। यदि इन प्रतीतियों को मानस प्रत्यक्षरूप मानेंगे तो-' वायुं स्पृशामि ' ' खरं, मृदुं, उष्णं, शीतं वायुं स्पृशामि ' इसप्रकार स्पार्शनत्व रूप से अनुभव न हो सकेगा ।

[विलक्षण क्षयोपशम ही मूर्तप्रत्यक्ष का जनक है]

यदि यह कहा जाय कि-'उक्त प्रतीतियों की 'स्पृशामि' इसप्रकार की बुद्धि स्पार्शनत्व अंश में भ्रमरूप है क्योंकि मूर्तविषयकप्रत्यक्षत्व उद्भूतरूप का कार्यतावच्छेदक है और वायु में उद्भूतरूप न होने से वायु का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, क्योंकि कारणाभाव कार्याभाव का साधक होता है । अतः वायु की प्रतीति में मूर्तप्रत्यक्षत्व का अभाव उस में स्पार्शनत्व का बाधक है-' तो यह ठीक नहीं है क्योंकि चाक्षुष और स्पार्शन प्रत्यक्ष में विलक्षण क्षयोपशमरूप योग्यता ही कारण होती है । अर्थात् जिस वस्तु के चाक्षुष और स्पार्शन के विघटक आवरणीयकर्म का क्षयोपशम होता है, उस का चाक्षुष एवं स्पार्शन प्रत्यक्ष होता है । वायु में स्पार्शन प्रत्यक्ष के प्रयोजक इस योग्यता के विद्यमान होने से उस का स्पार्शन हो सकता है । प्रभा आदि में उक्त योग्यता का अभाव होने से उस का स्पार्शन नहीं होता । यदि यह बात नहीं मानी जाएगी तो प्रभा आदि के अनुद्भूत स्पर्श को उस के स्पार्शन का प्रतिबन्धक मानने से गौरव होगा । इसीलिए जैन सम्प्रदाय के वृद्ध-मान्य विद्वान वायु में एकद्रव्यत्व के साधनार्थ प्रयुक्त बाह्य एकेन्द्रियमात्र जन्यप्रत्यक्षविषयत्व रूप हेतु में असिद्धि का भी उद्भावन करते हैं, क्योंकि योग्यताविशेष सम्पन्न पुरुष को श्रोत्रभिन्न बाह्येन्द्रिय से भी शब्द का प्रत्यक्ष होता है । इस के अतिरिक्त अन्य प्रकार से भी उक्त हेतु एकद्रव्यत्वरूप साध्य का व्यभिचारी है । जैसे : चन्द्र, सूर्य आदि का हम लोगों को केवल चक्षु से ही प्रत्यक्ष होने के कारण उन में उक्त हेतु एकद्रव्यत्व रूप साध्य का व्यभिचारी है । "शब्द सर्वदा सर्वत्र सभी को एक ही बाह्येन्द्रिय से

शक्तिविशेषवत्त्वेन विषयस्यैव वा चाक्षुषे स्पार्शने च हेतुत्वमिति न वाय्वादेरस्पार्शनत्वम्। न चैवं वायुगतसंख्या-परिमाणादेः प्रत्यक्षतापत्तिः, सजातीयसंवलनाभावे भूयोऽवयवावच्छेदेन त्वक्संनिकर्षे चेष्टत्वात्, पार्श्वद्वयजन्यफूत्कारद्वयसंख्यापरिमाणमहत्त्वानुभविकत्वादिति। एतेन स्वतन्त्रोक्तनीत्या 'विजातीयैकत्वाभावादस्पार्शनत्वं वायोः' इत्यपि **निरस्तम्**, स्पार्शनजनकतावच्छेदकवैजात्यव्यापक-त्रसरेण्वेकत्वसाधारणवैजात्यस्य नित्यैकत्वसाधारणत्वे महत्त्वोद्भूतरूपयोः पृथक्कारणताद्वयकल्पनस्या-वश्यकत्वात्, निखिलद्रव्यावृत्तत्वे च कार्यमात्रवृत्ति(त्या ?)जातितया तदवच्छिन्नं प्रति कस्यचित् कार-

---

गृहीत होता है क्योंकि यह बाह्येन्द्रिय से ग्राह्य विशेषगुण है जैसे रूप आदि," इस अनुमान से भी यह सिद्ध नहीं किया जा सकता कि शब्द एक ही बाह्येन्द्रिय से गृहीत होता है, क्योंकि शब्द में गुणत्व का निषेध होने से उक्त हेतु शब्द में असिद्ध है।

[मूर्तप्रत्यक्ष के प्रति उद्भूतरूप की कारणता का अस्वीकार]

दूसरी बात यह है कि मूर्त प्रत्यक्ष के प्रति उद्भूतरूप कारण है इस बात को मीमांसकानुयायी विद्वानों ने ही अस्वीकृत कर दिया है, क्योंकि मूर्तप्रत्यक्षत्व जन्य और नित्य उभयविधमूर्तप्रत्यक्ष का धर्म होने से कार्यता का अवच्छेदक नहीं हो सकता। मूर्तविषयक लौकिक प्रत्यक्षत्व भी उद्भूतरूप का कार्यतावच्छेदक नहीं हो सकता, क्योंकि उस की अपेक्षा लघु होने से द्रव्यनिष्ठलौकिकविषयतासम्बन्ध से चाक्षुषत्व को ही उद्भूतरूप का कार्यतावच्छेदक मानना उचित है।

अथवा सिद्धान्ती जैन की ओर से यह भी कहा जा सकता है कि शक्तिविशेष कि वा शक्तिविशेष से विशिष्ट द्रव्य ही चाक्षुष एवं स्पार्शन प्रत्यक्ष का कारण होता है। वायु आदि में भी स्पार्शनजनक शक्तिविशेष को स्वीकार करने से उन का भी स्पार्शन हो सकता है। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि वायु आदि का स्पार्शन नहीं हो सकता। यदि यह शंका की जाय कि 'वायु का स्पार्शन मानने पर उस के संख्या, परिमाण आदि के भी स्पार्शन प्रत्यक्ष की आपत्ति होगी।' -तो यह कोई दोष नहीं है क्योंकि सजातीय का संवलन न होने पर तथा वायु के बहुल अवयवों के साथ त्वक् का सन्निकर्ष होने पर वायु की संख्या और वायु के परिमाण का स्पार्शन प्रत्यक्ष मान्य है। जब कई वायु साथ बहने लगता है उसी समय वायु की संख्या का स्पार्शन नहीं हो पाता। एवं जब वायु के स्वल्प अवयवों के साथ ही त्वक् का सन्निकर्ष होता है, केवल उसी समय उस के परिमाण का ग्रहण नहीं हो पाता। अन्यथा होता ही है। क्योंकि किसी मनुष्य के दोनों पार्श्वों में जब फूत्कार से वायु उत्पन्न किया जाता है, तो उसे उस वायु की संख्या और उस के परिमाण के स्पार्शन का स्पष्ट अनुभव होता है।

[विजातीय एकत्व को प्रत्यक्ष का कारण मानने में गौरव]

स्वतन्त्र तार्किकों का अपनी नीति के अनुसार जो यह कहना है कि 'प्रत्यक्ष में विजातीय एकत्व कारण है। वायु में विजातीय एकत्व न होने से उस का स्पार्शन नहीं होता'- यह कथन भी निरस्तप्राय है क्योंकि विजातीय एकत्व को प्रत्यक्ष का कारण मानने में गौरव है। जैसे: प्रत्यक्ष में यह कार्यकारणभाव 'स्पार्शन प्रत्यक्ष में विजातीय एकत्व कारण है, एवं चाक्षुषप्रत्यक्ष में विजातीय एकत्व कारण है' इन दो कार्यकारण भावों में पर्यवसित होता है। इस के अनुसार एकत्वगत एक वैजात्य स्पार्शन का और अन्य वैजात्य चाक्षुष का जनकतावच्छेदक होता है। त्रसरेणु का स्पार्शन प्रत्यक्ष नहीं होता। अतः त्रसरेणुगत एकत्व में

णस्यावश्यकतया द्रव्यचाक्षुषे प्रत्येकत्वकारणतामादाय कारणताद्वयकल्पनस्यावश्यकत्वात्, वैजात्यकल्पनस्य पुनरधिकत्वात्, उक्त विजातीयैकत्वस्यैव संयुक्तसमवायप्रत्यासत्तिमध्ये निवेशेन वायोरस्पार्शनत्वे तद्वृत्तिस्पर्शाद्यस्पार्शनप्रसङ्गात्, अन्यथा प्रभादौ चाक्षुषजनकतावच्छेदिकया सांकर्यादिति दिग्।

एवं च 'उद्भूतरूपाभावाद् मूर्तत्वे शब्दस्य प्रत्यक्षत्वं न स्यात्' इति व्याहतं वचनम्,

---

स्पार्शनजनकता का अवच्छेदक वैजात्य नहीं रहेगा, किन्तु चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है अतः चाक्षुष जनकता का अवच्छेदक वैजात्य रहेगा। फलतः चाक्षुषजनकता का अवच्छेदक वैजात्य स्पार्शनजनकता के अवच्छेदक वैजात्य का व्यापक होगा। अब यह व्यापक वैजात्य यदि नित्य एकत्व में भी रहेगा तो पृथिवी आदि के परमाणु तथा आकाश आदि में प्रत्यक्षजनक विजातीयएकत्व के होने से उन के प्रत्यक्ष की आपत्ति होगी। अतः उस के परिहारार्थ महत्त्व और उद्भूतरूप इन दोनों को भी प्रत्यक्ष के प्रति पृथक् कारण मानना आवश्यक होने से स्पष्ट गौरव है।

यदि उक्त प्रत्यक्षापत्ति के भय से एकत्वगत प्रत्यक्षजनकतावच्छेदक वैजात्य को सभी नित्य एकत्वों में अवृत्ति माना जायगा तो वह कार्यमात्रवृत्तिजातिरूप होगा। अतः उस जाति से विशिष्ट के प्रति किसी एक कारण की कल्पना करनी होगी क्योंकि कार्य मात्र में रहनेवाली जाति में कारणप्रयोज्यत्व का नियम है। फलतः उक्तजाति से विशिष्ट के प्रति एक कारणता तथा चाक्षुष प्रत्यक्ष के प्रति उक्तजातिमत् एकत्व की एककारणता, इसप्रकार दो कारणता स्वतन्त्रोक्त मत में भी आवश्यक होगी। एकत्व में प्रत्यक्षजनकतावच्छेदक वैजात्य की कल्पना उक्त मत में अधिक होगी।

उक्त गौरव के अतिरिक्त दूसरा दोष यह होगा कि द्रव्यसमवेतविषयक प्रत्यक्ष में जो संयुक्तसमवायरूप प्रत्यासत्ति कारण होती है, उस के मध्य में विजातीय एकत्व का प्रवेश कर संयुक्तविजातीय एकत्ववत् समवाय को ही प्रत्यक्ष का कारण मानना होगा। अन्यथा वायु के स्पार्शनाभाव का उपपादन न हो सकेगा, क्योंकि स्थूलवायु में त्वक् संयुक्त समवायरूप प्रत्यासत्ति के होने से उस का स्पार्शन अनिवार्य होगा। किन्तु जब उक्त प्रत्यासत्ति के मध्य में विजातीयएकत्व का निवेश होगा तब वायु में विजातीयएकत्व न होने से वायु के स्पर्श आदि में उक्त प्रत्यासत्ति का सम्भव न होने से, वायु के स्पर्श आदि के भी स्पार्शन की अनुपपत्ति का नया दोष आ पड़ेगा।

यदि यह कहा जाय कि 'स्पार्शन एवं चाक्षुष के प्रति विजातीय एकत्व कारण नहीं है किन्तु विजातीय द्रव्य कारण है। स्पार्शन जनकता का अवच्छेदक वैजात्य स्पार्शन प्रत्यक्ष योग्य द्रव्य में ही रहता है. वायु में स्पार्शन जनकतावच्छेदक वैजात्य न रहने से उस का स्पार्शन नहीं होता' तो यह ठीक नहीं है क्योंकि ऐसा मानने पर प्रभा आदि में तैजसत्व जाति चाक्षुष जनकतावच्छेदक जाति से संकीर्ण हो जायगी। जैसे: तैजसत्व उष्मा में चाक्षुषजनकतावच्छेदक जाति का व्यभिचारी है और चाक्षुषजनकतावच्छेदक जाति घट आदि में तैजसत्व का व्यभिचारी है, किन्तु दोनों जातियाँ प्रभा में विद्यमान हैं।

"क्षयोपशमविशेषरूप योग्यता को अथवा शक्तिविशेष को चाक्षुष एवं स्पार्शन का जनक मान लेने पर शब्द को मूर्त द्रव्य मानने पर उद्भूतरूप न होने से उस का प्रत्यक्ष न हो सकेगा।" पूर्वपक्षी का यह वचन भी अब व्याहत हो जाता है, क्योंकि प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक

योग्यतायाः शक्तिविशेषस्य वा तत्राप्यव्याहतत्वात् । प्रत्यासत्तिश्च शब्दे श्रोत्रस्य संयोग एव, मनो-नयनवर्जानामिन्द्रियाणां व्यञ्जनावग्रहप्रतिपादनात्, " पुट्ठं सुणेइ सद्दं " [आव. नि. श्लो. ५] इत्यागमात्, द्रव्यान्तरस्याऽग्रहणं च श्रोत्रेणाऽयोग्यत्वादिति किमनुपपन्नम् ? । तदेवं द्रव्यापेक्षया सर्वं वचोऽपौरुषेयम्, पर्यायापेक्षया तु पौरुषेयमेवेति व्यवस्थितम् ॥ ३६ ॥

अभ्युपगम्य परमतं दोषान्तरमाह—

दृश्यमानेऽपि चाऽऽशङ्काऽदृश्यकर्तृसमुद्भवा ।
नातीन्द्रियार्थद्रष्टारमन्तरेण निवर्तते ॥ ३७ ॥

दृश्यमानेऽपि च=श्रूयमाणेऽपि च स्वतन्त्रवक्तृव्यापारवैकल्ये वेदशब्दे, आशङ्का **अदृश्यकर्तृसमुद्भवा** दृश्यकर्त्रश्रवणे 'पिशाचकर्तृकोऽयं भविष्यति' इति पिशाचकर्तृत्वोत्कटकोटिविषया न निवर्तते 'प्रेक्षापूर्वकारिणः' इति शेषः । किं सर्वथा न निवर्तत एव ? नेत्याह—अतीन्द्रियार्थद्रष्टारमन्तरेण । यदि त्वसौ स्वीक्रियेत तदा तद्वचस्तो निवर्तेतापि, प्रत्यक्षादिभ्यः सर्वज्ञवचनस्य बलवत्त्वादिति भावः ॥ ३७ ॥

योग्यता अथवा शक्तिविशेष मूर्तद्रव्यात्मक शब्द में भी अव्याहत है ।

शब्द को द्रव्य मानने पर उस के साथ श्रोत्र की प्रत्यासत्ति संयोग ही होगा क्योंकि मन और नयन से भिन्न इन्द्रियों से व्यञ्जनावग्रहप्राप्त का ग्रहण होना बताया गया है, जैसे कि 'पुट्ठं सुणेइ सद्दं-स्पृष्टं शृणोति शब्दम्' इस आगम से स्पष्ट है कि श्रोत्र स्पृष्ट=सम्बद्ध शब्द को सुनता है । श्रोत्र से शब्द द्रव्य का ग्रहण मानने पर उस से अन्य द्रव्य के ग्रहण की आपत्ति नहीं दी जा सकती, क्योंकि शब्द द्रव्य को श्रोत्रयोग्य तथा अन्य द्रव्य को श्रोत्राऽयोग्य मान कर श्रोत्र से शब्द का ग्रहण और द्रव्यान्तर का अग्रहण मानने में कोई अनुपपत्ति नहीं है । निष्कर्ष; द्रव्य की अपेक्षा सभी वचन अपौरुषेय हैं और पर्याय की अपेक्षा वचनमात्र पौरुषेय होते हैं यह सिद्ध हुआ ॥ ३६ ॥

'वेद किसी स्वतन्त्र पुरुष की रचना नहीं है' इस परमत को अल्प काल के लिये स्वीकार कर ३७ वीं कारिका में उस मत में सम्भावित अन्य दोष का उद्भावन किया गया है। कारिका का अर्थ इसप्रकार है—

"वेदात्मक शब्द राशि में किसी स्वतन्त्रवक्ता का व्यापार नहीं है, परम्परा से वह कथित एवं श्रुत होता आ रहा है । उस का कोई दृश्यकर्ता नहीं सुना जाता ।" -इस बात को मान लेने पर भी विवेकशील पुरुष को यह शंका अनिवार्य है कि 'वेद दृश्यकर्तृक न होने पर भी अदृश्यकर्तृक किसी पिशाच द्वारा रचित हो सकता है,' और यह शंका तब तक निवृत्त नहीं हो सकती जब तक किसी अतीन्द्रियार्थदर्शी सर्वज्ञ पुरुष का अस्तित्व न मान लिया जाय । सर्वज्ञ पुरुष का अस्तित्व मानने पर उस के वचन से यह शंका अवश्य निवृत्त हो सकती है क्योंकि सर्वज्ञ का वचन प्रत्यक्ष आदि से बलवान् होता है । अतः स्पष्ट है कि सर्वज्ञ पुरुष द्वारा वेद को अकर्तृक बता दिए जाने पर ही उस के अदृश्यकर्तृकत्व की शंका का निराकरण हो सकता है, अन्यथा नहीं ॥ ३७ ॥

परः शंकते—

पापादत्रेदृशी बुद्धिर्न पुण्यादिति न प्रमा ।
न लोको हि विगानत्वात् तद्बहुत्वाद्यनिश्चितेः ॥ ३८ ॥

पापात्=दुरदृष्टात् **अत्र**=वेदे—**ईदृशी बुद्धिः** उक्ताऽऽशङ्कारूपा; ततः क एतां निवर्तयेद् विनाऽऽस्तिक्यपरिपाकनिमित्तमदृष्टम् ? इति भावः । उत्तरयति—**न पुण्यात्**=न पुण्यादीदृशी बुद्धिरिति **न प्रमा**=नात्र प्रमाणं किञ्चिदिति भावः । 'लोक एवात्र प्रमाणमि' त्याशङ्क्याह—**न लोको हि**=न लोक एवात्र प्रमाणम् । कुतः ? इत्याह—**विगानत्वात्**=विरुद्धं गानमभ्युपगमो यस्येति बहुव्रीहिस्तस्य भावस्तत्त्वं ततः । तथा च केषांचिद् विप्रतिपत्तेर्नात्र सकललोकैकवाक्यतेति भावः । 'यद्यप्येवम्, तथापि बहवोऽस्मत्पक्ष एव, इति बहूनामभ्युपगमः प्रमाणमि'त्याशङ्क्याह तद्बहुत्वाद्यनिश्चितेः—तेषामुक्ताभ्युपगमवतां बहुत्वस्य, आदिना तदन्येषामल्पत्वस्य वा, अनिश्चितेः सर्वाऽदर्शनेनाऽनिश्चयात् ॥ ३८ ॥

---

३८ वीं कारिका में उक्त कथन के सम्बन्ध में पराभिमत को पूर्व पक्ष के रूप में प्रस्तुत कर उस का उत्तर दिया गया है । कारिका का अर्थ इसप्रकार है–

[पाप–पुण्य और लोकबहुत्वाल्पत्व का अनिश्चय]

पूर्वपक्षी की ओर से यदि यह कहा जाय कि–'वेद वस्तुतः अकर्तृक है, उस के अदृश्य कर्ता की शंका पापी पुरुषों को ही हो सकती है । पुण्यशाली विवेकी पुरुषों को नहीं हो सकती और आस्तिक्यपरिपाक कारक अदृष्ट के बिना उस का निवर्तन कौन करेगा ?' -तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि इस बात में कोई प्रमाण नहीं है कि वेद के अदृश्यकर्ता की शंका पाप से ही होती है, पुण्य से नहीं होती । अपितु यही मानना उचित प्रतीत होता है कि उक्त शंका पुण्य से ही होती है, क्योंकि उक्त शंका हो जाने पर पुण्यवान पुरुष वेदवर्णित अप्रमाणिक अनुष्ठानों के जाल में फँसने से बच जाता है ।

यदि यह कहा जाय कि–'वेद की अदृश्य कर्ता की शंका पापमूलक है यह बात लोकसिद्ध है' -तो यह भी उचित नहीं है क्योंकि वेद के अकर्तृत्व के सम्बन्ध में अनेक लोगों का विपरीत मत होने से उक्त शंका के पापमूलक होने में लोक को प्रमाण नहीं माना जा सकता, क्योंकि लोक उसी बात में प्रमाण हो सकता है, जिस में सभी का ऐकमत्य हो । उक्त बात में सब का ऐकमत्य नहीं है, अतः उसे लोकसिद्ध नहीं कहा जा सकता ।

पूर्वपक्षी की ओर से यदि यह कहा जाय कि–'वेद के अदृश्यकर्ता की शंका पापमूलक है, इस बात में यद्यपि सब का ऐकमत्य नहीं है किन्तु यह बात बहुसंख्यक लोगों को अभिमत हैं, अतः बहुसंख्यकों की अभिमति ही इस बात में प्रमाण है' -तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि संसार के सभी पुरुषों का दर्शन अपने को शक्य न होने से यह निश्चय करना कठिन है कि जिन्हें उक्त बात अभिमत है उन की संख्या अधिक है और जिन्हें उक्त बात अभिमत नहीं है उन की संख्या अल्प है ॥ ३८ ॥

बहूनामपि संमोहभावाद् मिथ्याप्रवर्तनात् ।
मानसंख्याविरोधाच्च कथमित्थमिदं ननु ? ॥ ३९ ॥

कथञ्चिद् निश्चयेऽप्याह बहूनामपि–तथाऽभ्युपगन्तॄणाम्, संमोहभावात्=मूलाज्ञानदोषात्, मिथ्याप्रवर्तनात्=विगीतप्रवृत्त्युपपत्तेः पारशीकादीनामिव मातृविवाहादौ । तथा च 'शतमप्यन्धानां न पश्यति' इति न्यायाद् बहूनामप्यभ्युपगमोऽत्राप्रमाणमिति भावः । अभ्युपगम्यापि दोषमाह मानसंख्याविरोधाच्च=लोकस्य मानत्वे सप्तममानापत्त्या 'षडेव प्रमाणानि' इति विभागव्याघाताच्च 'ननु' इत्याक्षेपे इदं='पापादत्रेदृशी बुद्धिः' इत्युक्तम् इत्थं कथम्=युक्तं कुतः ? ॥३९॥

'नातीन्द्रियार्थद्रष्टारमन्तरेण' इत्युक्तं विवेचयति–

अतीन्द्रियार्थद्रष्टा तु पुमान् कश्चिद्यदीष्यते ।
संभवद्विषयापि स्यादेवंभूतार्थकल्पना ॥ ४० ॥

अतीन्द्रियार्थद्रष्टा तु पुमान्=सर्वदर्शी तु पुरुषः यदि कश्चिदिष्यते=स्वीक्रियते ऋषभोऽन्यो

[बहुलोक को प्रमाण मानने में संख्याव्याघातादि दोष]

३९ वीं कारिका में बहु संख्यकों के अभ्युपगम की अप्रमाणता सिद्ध की गयी है, कारिका का अर्थ इसप्रकार है—

यदि किसीप्रकार यह निश्चय हो भी जाय कि वेद के अदृश्यकर्ता की शंका पापमूलक है –इस बात को माननेवालों की संख्या अधिक है तो भी उन के अभ्युपगम को प्रमाण नहीं माना जा सकता, क्योंकि जैसे पारसी लोगों की माता के साथ विवाह में प्रवृत्ति होती है उसीप्रकार बहुसंख्यकों की भी अज्ञानवश अनेक मिथ्याप्रवृत्तियाँ होती हैं । अतः यह कहा जा सकता है कि बहुसंख्यकों द्वारा वेद के अदृश्यकर्ता की सम्भावना को पापमूलक मानना भी अज्ञानप्रयुक्त है । इसलिए 'अन्धे मनुष्य सैंकडों की संख्या में मिल कर भी किसी वस्तु को नहीं देख सकते' इस सर्वसम्मत सत्य के आधार पर यह निष्कर्ष प्राप्त किया जा सकता है कि बहुसंख्यकों का अभ्युपगम भी इस बात में प्रमाण नहीं हो सकता कि वेद के अदृश्यकर्ता की शंका पापमूलक है, पुण्य मूलक नहीं है ।

'वेद के अदृश्य कर्ता की शंका पापमूलक है' इस बहुसंख्यक अभ्युपगम मान लेने पर इस से उक्त बात की प्रामाणिकता नहीं हो सकती, क्योंकि लोक अथवा लोकाभ्युपगम को प्रमाण मानने पर सप्तम प्रमाण की आपत्ति होने से 'प्रमाण छः ही होते हैं' इसप्रकार के प्रमाण विभाग का व्याघात प्रसक्त होने से लोक अथवा लोकाभ्युपगम को प्रमाण नहीं माना जा सकता । इस स्थिति में यह कथन कैसे युक्तिसंगत हो सकता है कि वेद के अदृश्यकर्ता की शंका पापजन्य है, पुण्यजन्य नहीं है ? ॥ ३९ ॥

सैंतीसवीं कारिका में कहा गया था कि अतीन्द्रिय अर्थों के द्रष्टा पुरुष को माने बिना वेद के अदृश्यकर्ता की शंका निवृत्त नहीं हो सकती । ४० वीं कारिका में उसी को विशद किया गया है । कारिका का अर्थ इसप्रकार है-हाँ, यदि यह स्वीकार कर लिया जाय कि अतीन्द्रिय अर्थों का द्रष्टा कोई सर्वज्ञ पुरुष है । भले वह ऋषभदेव हो या अन्य हो । तो ऐसी कल्पना

वा । ततः किम् ? इत्याह—संभवद्विषयापि स्यात्=संभवदुक्तिकापि स्यात्, तदुपदेशमूलज्ञानसामर्थ्यात् एवंभूतार्थकल्पना='पापादत्रेदृशी बुद्धिः' इति संभावना ॥ ४० ॥

नन्वपौरुषेयत्वसिद्धे विशेषदर्शनादेवोक्ताशङ्का निवर्तते, इत्यतस्तत्साधनमपि विना सर्वज्ञं न इत्याह-

अपौरुषेयताप्यस्य नान्यतो ह्यवगम्यते ।
कर्तुरस्मरणादीनां व्यभिचारादिदोषतः ॥ ४१ ॥

अपौरुषेयतापि अस्य=वेदस्य नान्यतः—न सर्वज्ञादन्यस्मात् प्रमाणात् हि=निश्चितम् अवगम्यते, अतीतस्य वक्तुरनुपलब्धिमात्रादभावाऽसिद्धेः । ननु चात्र हेतवः सन्तीत्येतदाशङ्कयाह- **कर्तुरस्मरणादीनां**—वक्ष्यमाणानां हेतूनां **व्यभिचारादिदोषतः**=अनैकान्तिकाऽसिद्धत्वादिदोषदुष्टत्वात् ॥ ४१ ॥

तथाहि—'वेदोऽपौरुषेयः, 'कर्तुरस्मरणात्' इति व्यधिकरणो हेतुः । अस्मर्यमाणकर्तृकत्वं च भारतादौ व्यभिचारि, परकीयकर्तृस्मरणं च वेदेऽपि तुल्यम् । 'न तुल्यम्, वेदे विगानेन कर्तृस्मरणादि'ति चेत् ? किमिदं विगानम् ? कर्तृविशेषविप्रतिपत्तिर्वा, स्मर्यमाणकर्तविशेषे प्रकृतकार्यान्य-

---

अवश्य सम्भव हो सकती है कि वेद के अदृश्य कर्ता की शंका पापमूलक है पुण्यमूलक नहीं है, क्योंकि सर्वज्ञ पुरुष को उक्त शंका के पापमूलकत्व का ज्ञान सम्भव होने से वह कह सकता है कि उक्त शंका पापमूलक है और उस के कथन से यह बात सर्वमान्य भी हो सकती है ॥ ४० ॥

४१ वीं कारिका में यह बताया गया है कि सर्वज्ञ के अभाव में अपौरुषेयत्व की सिद्धि नहीं हो सकती । अतः अपौरुषेयत्वरूप विशेषदर्शन से भी वेद में अदृश्यकर्तृकत्व की शंका की निवृत्ति नहीं हो सकती । कारिका का अर्थ इसप्रकार है-सर्वज्ञ से अन्यप्रमाणद्वारा वेद के अपौरुषेयत्व का निश्चय नहीं हो सकता । क्योंकि अनुपलब्धि मात्र से अतीत वक्ता के अभाव की सिद्धि नहीं होती । अनुमान से भी वेद का अपौरुषेयत्व नहीं हो सकता, क्योंकि कर्ता का अस्मरण आदि जो अनुमान के सम्भावित हेतु हैं वे व्यभिचार-असिद्धि आदि दोषों से ग्रस्त हैं ॥ ४१ ॥

[कर्तृ-अस्मरणहेतुक अपौरुषेयत्व का अनुमान दूषित]

जैसे यदि इसप्रकार अनुमान प्रयोग किया जाय कि-वेद अपौरुषेय है क्योंकि उस के कर्ता का स्मरण नहीं होता -तो इस में हेतु साध्य का व्यधिकरण हो जाता है क्योंकि साध्य की सिद्धि वेद में अभिमत है और हेतु वेदनिष्ठ न होकर पुरुषनिष्ठ है । अतः हेतु विरोध (=साध्य का असमानाधिकरण्य) और असिद्धि (=पक्षवृत्तित्वाभाव) से ग्रस्त है ।

अस्मर्यमाणकर्तृकत्व हेतु का अर्थ है जिस का कर्ता स्मरण का विषय हो तदन्यत्व-इस हेतु से भी वेद में अपौरुषेयत्व का अनुमान नहीं हो सकता-क्योंकि भारत आदि के कर्ता का स्मरण जिन्हें नहीं है उन की दृष्टि से भारत आदि में यह हेतु साध्य का व्यभिचारी है क्योंकि भारत आदि वस्तुतः पौरुषेय हैं । यदि यह कहा जाय कि-' कुछ व्यक्तियों को भारत आदि के कर्त्ता का स्मरण न होने पर भी अन्य व्यक्तिओं को उस के कर्ता का स्मरण होता है । अतः किसी भी व्यक्ति को कर्ता का स्मरण न होने के अर्थ में पर्यवसित-अस्मर्यमाणकर्तृकत्व भारत आदि

सजातीयकार्यकर्तृत्वसंभावना वा ? नाद्यः, कर्तृविशेषविप्रतिपत्त्या तद्विशेषस्मरणस्याऽसत्यत्वेऽपि कर्तृमात्रस्मरणस्याऽसत्यत्वाऽयोगात्; अन्यथा कादम्बर्यादावपि कर्तृविशेषविप्रतिपत्त्याऽस्मर्यमाणकर्तृत्वेनानैकान्तिकत्वप्रसङ्गात्। अत एव न द्वितीयोऽपि, कर्तृविशेषे प्रकृतजातीयकार्यान्तरकर्तृत्वसंभावनायामपि प्रकृते कर्तृमात्रस्मरणाऽबाधात्; अन्यथा च वक्ष्यमाणस्थले व्यभिचारात्–इत्याशयवानाह—

ना'ऽभ्यास' एवमादीनामपि कर्त्रविगानतः ।
स्मर्यते च विगानेन हन्तेहाप्यष्टकादिकः ॥४२॥

'अभ्यास०' एवमादीनामपि—

"अभ्यासः कर्मणां सत्यमुत्पादयति कौशलम्। धात्रापि तावदभ्यस्तं यावत्सृष्टा मृगेक्षणा ॥१॥"

में साध्य का व्यभिचारी नहीं है ' -तो जैसे भारत आदि में अस्मर्यमाणकर्तृकत्व का अभाव है उसीप्रकार वेद में भी उस का अभाव है, क्योंकि वेदपौरुषेयत्व वादियों को वेद के कर्ता का स्मरण होता है। अतः अस्मर्यमाणकर्तृकत्व हेतु वेद में असिद्ध है।

[विगान के सम्भवित पक्षद्वय में हेतु की अनुपपत्ति]

यदि यह कहा जाय कि-' वेद और भारत आदि के कर्तृ-स्मरण में तुल्यता नहीं है क्योंकि भारत आदि के कर्ता के स्मरण के बारे में किसी का विगान-वैमत्य नहीं है। किन्तु, वेद कर्ता के स्मरण के बारे में वेदाऽपौरुषेयत्ववादियों की विमति है। अतः भारत में अस्मर्यमाणकर्तृकत्व के न होने और वेद में उस के होने से उक्त दोष नहीं हो सकता ' -तो यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि विगान=विप्रतिपत्ति के किसी भी सम्भावित पक्ष में हेतु की उक्त व्याख्या निर्दोष नहीं हो सकती। जैसे कर्ता के विषय में विगान की दो व्याख्या हो सकती है (१) एक यह कि कर्तृ-विगान का अर्थ है कर्तृ विशेष के विषय में विप्रतिपत्ति और (२) दूसरी यह कि स्मर्यमाणकर्ता में प्रकृत कार्य के सजातीय अन्य कार्य के कर्तृत्व की सम्भावना।

इस में प्रथम व्याख्या स्वीकार नहीं हो सकती क्योंकि जिस विशेष कर्ता में विप्रतिपत्ति होगी उस कर्ता के स्मरण के असत्य होने पर भी कर्तामात्र का स्मरण असत्य नहीं हो सकता। अन्यथा कादम्बरी आदि काव्यग्रन्थों के विशेष कर्ता के सम्बन्ध में भी विप्रतिपत्ति होने से उन ग्रन्थों के भी कर्ता का स्मरण असत्य हो जायगा। फलतः अस्मर्यमाणकर्तृकत्व उन में साध्य का व्यभिचारी हो जायगा।

कर्तृ-विगान की दूसरी व्याख्या भी ग्राह्य नहीं हो सकती क्योंकि विशेष कर्ता में वेद-रचना रूप प्रकृत कार्य के सजातीय अन्य कार्य के कर्तृत्व की सम्भावना होने पर भी सामान्य-रूप से वेदकर्ता के स्मरण का बाध नहीं हो सकता। और यदि विशेषकर्ता में प्रकृत कार्य के सजातीय अन्य कार्य के कर्तृत्व की सम्भावना में प्रकृत कार्य के कर्ता मात्र के स्मरण का बाध होगा, तो 'स्मर्यमाणकर्तृकत्व का अभाव' रूप हेतु आगे कहे जाने वाले स्थल में साध्य का व्यभिचारी हो जायगा। प्रस्तुत ४२ वीं कारिका में यही आशय व्यक्त किया गया है। कारिका का अर्थ इसप्रकार है—

[अभ्यास....आदि वाक्यवत् वेद में भी कर्तृस्मरण में वैमत्य]

वेदापौरुषेयत्व-वादियों का कहना है कि-' कर्ता के स्मरणाभाव से वेद में अपौरुषेयत्व

अन्ये तु पश्चार्धमन्यथा पठन्ति–"मिथ्या तत्तादृशी येन न धात्रा निर्मिता परा"–इत्यादीनामपि, कर्त्रऽविगानतः=एकवाक्यतया न स्मर्यते; स्मर्यते च विगानेन–अनेकवाक्यतया, हन्त! इहापि= वेदेऽपि अष्टकादिकः=अष्टका नामकब्रह्मादिरिति। अथ "अभ्यासः"....एवमादौ कर्तृमात्रे न विगानमस्ति, वेदे तु कर्तृमात्रेऽपि तदस्ति। तथाहि–वेदे सौगताः कर्तृमात्रं स्मरन्ति न मीमांसकाः, इति तत्र कर्तृस्मरणमसत्यमिति चेत्? नन्वेवमस्मर्यमाणकर्तृकत्वहेतुरेवासिद्धः। अथ च्छिन्नमूलं वेदे कर्तृस्मरणम्, अनुभवो हि स्मरणस्य मूलम्, न चासौ तत्र तद्विषयत्वेन विद्यत इति न दोष इति चेत्? न, स्वप्रत्यक्षेण कर्त्रनुभवस्यागमान्तरेऽप्यभावात्, सर्वप्रत्यक्षाभावस्य चार्वाग्दृशा निश्चेतुम-

---

का अनुमान हो सकता है, क्योंकि पौरुषेय वाक्यों में कर्तृस्मरण का अभाव न होने से व्यभिचार नहीं है। जैसे—

अभ्यासः कर्मणां सम्यगुत्पादयति कौशलम्। धात्रापि तावदभ्यस्तं यावत्सृष्टा मृगेक्षणा ॥

कुछ अन्यों के अनुसार इस श्लोक के उत्तरार्ध का पाठ इस प्रकार है—

"मिथ्या तत्तादृशी येन न धात्रा निर्मिताऽपरा"

अर्थ: यह सत्य है कि 'कर्म का अभ्यास कौशल उत्पन्न करता है। ब्रह्माने भी अभ्यास से कौशल प्राप्त कर के ही मृगनयना की रचना की।' अन्य उत्तरार्ध के मत के अनुसार उक्त कथन सत्य नहीं किन्तु मिथ्या है क्योंकि ब्रह्मा ने उस के जैसी किसी अन्य सुन्दरी की रचना नहीं की। -इन पौरुषेय वाक्यों के कर्तृस्मरण में एकवाक्यता-ऐकमत्य नहीं है, किन्तु एकवाक्यता का अभाव यानी वैमत्य है। अतः इन में कर्तृस्मरणाभावरूप हेतु नहीं है, अत एव उस में व्यभिचार नहीं है"-किन्तु यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि कर्तृस्मरण में वैमत्य होने से यदि कर्तृस्मरणाभाव को अस्वीकार कर व्यभिचार का वारण किया जायगा तो वेद में भी कर्तृस्मरणाभाव का अस्वीकार होगा, क्योंकि वेद में भी अष्टकादि कर्ता के स्मरण में वैमत्य है। फलतः वेद में कर्तृस्मरणाभावरूप हेतु स्वरूपासिद्ध हो जायगा।

यदि यह कहा जाय कि "उक्त पौरुषेय वाक्य के सामान्यकर्ता के विषय में विगान= वैमत्य नहीं है किन्तु विशेष कर्ता के ही विषय में वैमत्य है, पर वेद के तो सामान्यकर्ता के विषय में भी वैमत्य है। जैसे-बौद्ध तो वेद का कोई न कोई कर्ता अवश्य मानते हैं किन्तु मीमांसक वेद का कोई भी कर्ता नहीं मानते। अतः उक्त पौरुषेय वाक्य के सामान्य कर्ता में वैमत्य न होने से कर्तृस्मरण का अभाव नहीं माना जा सकता, पर वेद के सामान्य कर्ता में भी वैमत्य होने से वेद में कर्तृस्मरण का अभाव माना जा सकता है। इसलिए कर्तृस्मरणाभाव हेतु पौरुषेय वाक्यों में न तो व्यभिचारी है और न वेद में असिद्ध है। फलतः उस से वेद में अपौरुषेयत्व की सिद्धि हो सकती है"-तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि बौद्धादि को वेद में कर्तृस्मरण होने का आपने ही कह दिया, इसलिये वेद में अस्मर्यमाणकर्तृकत्वरूप हेतु ही असिद्ध हो गया।

[किसी एक को प्रत्यक्ष न होने मात्र से उस का अभाव असिद्ध]

यदि यह कहा जाय कि-'बौद्धादि को वेद में जो कर्तृस्मरण है उस का कोई मूल नहीं है, स्मरण का मूल अनुभव है, वेद के कर्ता का किसी भी बौद्धादि को अनुभव नहीं है।

शक्यत्वात्, "हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे" (ऋग्वेद ८–१०–१२१) इत्याद्यागमेन, रचनाविशेष-कार्यानुमानेन च तत्र कर्त्रनुभवस्यानपायाच्च, अन्यथा कारणाभावे कार्यानुत्पत्तेश्छिन्नमूलकर्तृस्मरणस्याऽसंभवदुक्तिकत्वादिति न किञ्चिदेतत् ।

अथ स्मरणयोग्यत्वेऽपि सत्यस्मर्यमाणकर्तृकत्वं हेतुः; अस्ति चात्रापि कर्ता स्मरणयोग्यः, यद्यसौ स्यात् तदाऽग्निहोत्रादिप्रवृत्तिसमये स्मर्येत, स्वयमदृष्टफलेषु कर्मसु पित्राद्युपदेशमूलायां प्रवृत्तौ 'पित्रादिभिरेतदुपदिष्टम्' इति पित्रादिस्मरणावश्यंभावदर्शनात्; न चाभियुक्तानामपि वेदार्थानुष्ठातॄणां

अतः उस के कर्ता का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। फलतः वेद में कर्तृस्मरण का सम्भव न होने से वेद में कर्तृस्मरणाभाव को असिद्ध नहीं कहा जा सकता'–तो यह ठीक नहीं है। क्योंकि यदि अपने को कर्ता का प्रत्यक्ष न होने के नाते कर्ता के अनुभव का अभाव माना जायगा। तब आगमान्तर यानी वेदान्य शास्त्र के कर्ता का भी अपने को प्रत्यक्ष न होने से उस के कर्त्ता का भी अनुभव अमान्य होगा। फलतः आगमान्तर के भी कर्ता का स्मरण न हो सकने से कर्तृस्मरणाभाव उस के अपौरुषेयत्व का व्यभिचारी हो जायगा। और यदि मनुष्यमात्र को कर्ता का प्रत्यक्ष न होने के आधार पर कर्ता के अनुभव को अमान्य किया जायगा तो अर्वाग्दर्शी='सर्वज्ञ से भिन्न मनुष्य' को सर्वप्रत्यक्षाभाव का ज्ञान न हो सकने से किसी के भी कर्ता के अनुभव को भी अमान्य न किया जा सकेगा। अतः वेद के कर्तृस्मरण के मान्य हो सकने से वेद में कर्तृस्मरणाभाव का उपपादन नहीं किया जा सकता।

दूसरी बात यह है कि 'हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे=पूर्व में हिरण्यगर्भ हुए जिसने वेद की रचना की' इस आगम से, एवं वेद की विशिष्ट रचनारूप कार्य से सम्पाद्य अनुमान द्वारा वेदकर्ता का अनुभव सुकर होने से, वेद कर्ता के अनुभव का अभाव सिद्ध न होने से, तन्मूलक वेदकर्ता का स्मरण भी सम्भव होने से वेद में कर्तृस्मरणाभाव की उत्पत्ति नहीं की जा सकती।

यह भी ज्ञातव्य है कि जिस के कर्ता का प्रत्यक्ष नहीं है, उस के कर्ता के अनुभव का अभाव मान कर यदि उस के स्मरण को अस्वीकृत किया जायगा तो किसी भी छिन्नमूल स्मरण वाले विषय में यह कहना सम्भव नहीं होगा कि 'उस के कर्ता का स्मरण हो सकता है' –क्योंकि उस के कर्ता का प्रत्यक्ष न होने से उस के कर्ता का अनुभव सिद्ध नहीं होगा और जिस का अनुभव न होगा उस का स्मरण भी न होगा। क्योंकि अनुभव स्मरण का मूल=कारण होता है। कारण के अभाव से कार्य का अभाव होता है, यह नियम है।

['स्मृतियोग्य रहते हुए स्मृतिविषयत्वाभाव' हेतु का निरसन]

यदि यह कहा जाय कि–"स्मरणयोग्यकर्तृकत्व विशिष्ट अस्मर्यमाणकर्तृत्व से अपौरुषेयत्व का अनुमान किया जा सकता है, क्योंकि वह उक्त पौरुष वाक्यों में अपौरुषेयत्व का व्यभिचारी नहीं है। आशय यह है कि कर्ता होने पर जिस के कर्ता के स्मरण का आपादान हो सके, वही स्मरणयोग्यकर्तृक होता है। उक्त पौरुषेय वाक्य का कर्ता होने पर भी उस के कर्तृस्मरण का आपादान नहीं होता क्योंकि उस के कर्ता के अस्तित्व में कर्तृस्मरण की व्याप्ति नहीं है। अतः उस में स्मरणयोग्यकर्तृकत्व न होने से उस में उक्त हेतु का भी अभाव है। वेद में उक्त हेतु की स्वरूपासिद्धि भी नहीं है क्योंकि उस का कर्ता होने पर उस के कर्तृस्मरण का आपादन

त्रैवर्णिकानां कर्तुः स्मरणमस्ती'ति चेत् ? न, आगमान्तरे व्यभिचारात् । न हि तत्रापि तत्कर्ता न स्मरणयोग्यः, न वा स्मर्यत इति । न चायं नियमः 'अनुष्ठातारोऽभिप्रेतार्थानुष्ठानसमये तत्कर्तारमनुस्मृत्यैव प्रवर्तन्ते' इति । न हि पाणिन्यादिप्रणीतव्याकरणप्रतिपादितशब्दव्यवहारानुष्ठानसमये तदनुष्ठातारोऽवश्यं व्याकरणप्रणेतारं पाणिन्यादिकमनुस्मृत्यैव प्रवर्तन्त इति दृष्टम्, निश्चिततत्समयानां कर्तृस्मरणव्यतिरेकेणाप्यविलम्बितं 'भवति' आदिसाधुशब्दप्रयोगव्यवहारदर्शनात् । अनाप्तोक्तत्वशङ्का च मात्रसंशयपर्यवसायिनी न प्रतिबन्धिका । प्रतिबन्धिका चेत् तदाप्तोक्तत्वज्ञानमात्रं मृग्यम्, न तु तद्विशेषोक्तत्वज्ञानमपीति न किञ्चिदेतत् ॥ ४२ ॥

इसप्रकार हो सकता है कि यदि वेद का कोई कर्ता होता तो अग्निहोत्र आदि कर्मों के अनुष्ठान में प्रवृत्त होने वाले पुरुषों को उस का स्मरण अवश्य होता । क्योंकि यह नियम है कि जिन कर्मों का फल कर्ता को स्वयं दृष्ट नहीं होता, उन कर्मों में कर्ता की प्रवृत्ति उन कर्मों की कर्तव्यता बताने वाले पुरुष के स्मरण से होती है । जैसे, जिस बालक को जिस कर्म का फल स्वयं ज्ञात नहीं होता, फिर भी पिता या गुरु के उपदेश से उस में प्रवृत्त होता है तो प्रवृत्त होने के समय उसे यह स्मरण अवश्य होता है कि पिता ने या गुरुजी ने इस कर्म को करने का उपदेश दिया है । किन्तु वेदार्थ का अनुष्ठान करने वाले विद्वान त्रैवर्णिकों को भी वेद कर्ता का स्मरण नहीं होता है । अतः वेद के कर्ता का अस्तित्व होने पर उक्त रीति से उस के स्मरण का आपादान हो सकने से वेद में स्मरणयोग्य कर्तृकत्व तथा स्मर्यमाणकर्तृकत्वाभाव रहने से उस में उक्त विशिष्ट हेतु विद्यमान है । इसलिए उस हेतु से वेद में अपौरुषेयत्व का अनुमान होने में कोई बाधा नहीं है"

–सो यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि उक्त हेतु अन्य के आगम में अपौरुषेयत्व का व्यभिचारी है । यतः यह बात नहीं है कि अन्य आगम का कर्ता स्मरणयोग्य नहीं है अथवा अस्मर्यमाण नहीं है । अत एव उस में स्मरण योग्य कर्तृकत्व तथा अस्मर्यमाण कर्तृकत्व दोनों के होने से एवं अपौरुषेयत्व न होने से उस में उक्त हेतु में अपौरुषेयत्व का व्यभिचार स्पष्ट है ।

[उपदेशकर्ता के स्मरणपूर्वक प्रवृत्ति का नियम असिद्ध]

आगमान्तर में व्यभिचार के अतिरिक्त वेद में उस की स्वरूपासिद्धि भी है क्योंकि जिस रीति से वेद में स्मरणयोग्य कर्तृकत्व की उपपत्ति की गयी है उस रीति के निराधार होने से वेद में स्मरणयोग्यकर्तृकत्व की सिद्धि नहीं हो सकती । आशय यह है कि वेद में स्मरणयोग्य-कर्तृकत्व की सिद्धि इस नियम के आधार पर की गयी है कि 'कर्मानुष्ठान में प्रवृत्त होने वाले पुरुष कर्मानुष्ठान के उपदेशकर्ता का स्मरण करके ही कर्मानुष्ठान में प्रवृत्त होते हैं ।' किन्तु यह नियम असिद्ध है क्योंकि यह नहीं देखा जाता कि पाणिनि आदि द्वारा रचित व्याकरण द्वारा निष्पन्न शब्दों का व्यवहार करने वाले पुरुष उन शब्दों का व्यवहार करने के समय उन शब्दों का अनुशासन करने वाले व्याकरण के रचयिता पाणिनि आदि का स्मरण अवश्य करते हों । अपितु देखा यह जाता है कि जिन पुरुषों को जिन शब्दों की निष्पत्ति के नियम ज्ञात होते हैं वे उन नियमों के निर्देशकर्ता का स्मरण किए बिना ही 'भवति' आदि साधु शब्दों का प्रयोग बिना विलम्ब करते हैं ।

'आद्याभिमतं हिरण्यगर्भवेदाध्ययनं गुरुमुखाधीतवेदाध्ययनपूर्वकम्, वेदाध्ययनत्वात्, इदानींतनवेदाध्ययनवत्' इत्येतदप्यसाधनमित्यभिधातुमाह—

स्वकृताध्ययनस्यापि तद्भावो न विरुध्यते। गौरवापादनार्थं च तथा स्यादनिवेदनम् ॥४३॥

स्वकृताध्ययनस्यापि स्वरचितपाठस्यापि, तद्भावः—आद्याध्ययनभावः न विरुध्यते कालिदासादिकृतकुमारसंभवादौ तथा दर्शनात्; तथा चायं व्यभिचारी हेतुरिति भावः। कृतापलापे कारणमाह —गौरवापादनार्थं च—प्रस्तुतग्रन्थस्यार्वाग्दृगनिर्मितत्वसंभावनादिनाऽत्यादरार्थं च, तथा स्यादनिवेदनं—प्रदुत 'मत्कृतोऽयम्' इति ॥४३॥

यदि यह कहा जाय कि-'जिन नियमों से शब्द की निष्पत्ति होती है। उन नियमों के बोधक शास्त्र में अनाप्तोक्तत्व की शंका होने पर, एवं जिस शास्त्र से जिन कर्मों के अनुष्ठान में प्रवृत्ति होती है उस शास्त्र में अनाप्तोक्तत्व की शंका हो जाने पर शब्दप्रयोग में तथा शास्त्रोक्त कर्मानुष्ठान में मनुष्य की प्रवृत्ति का प्रतिबन्ध हो जाता है। अतः शब्दसाधुत्वबोधक व्याकरण में तथा कर्मानुष्ठान के बोधकशास्त्र में आप्तोक्तत्व का निश्चय आवश्यक है' -तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि व्याकरण में अनाप्तोक्तत्व की शंका होने से व्याकरण से निष्पन्न होने वाले शब्दों के साधुत्व की शंका हो जाती है, एवं कर्मानुष्ठान के बोधक शास्त्र में अनाप्तोक्तत्व की शंका होने से कर्म में कर्त्तव्यत्व की शंका हो जाती है -यह बात ठीक है; किन्तु ये शंकाएँ शब्द में ग्राह्य साधुत्व की शंका एवं कर्म में ग्राह्य कर्त्तव्यत्व की शंकारूप होने से शब्द के साधुत्व निश्चय में तथा कर्म में कर्त्तव्यत्व के निश्चय में प्रतिबन्धक नहीं हो सकती, क्योंकि ग्राह्यसंशय कभी भी ग्राह्यनिश्चय का प्रतिबन्धक नहीं होता। और तत्तत् शास्त्र से होने वाली प्रवृत्ति के लिए तत्तत् शास्त्र में सामान्यरूप से आप्तोक्तत्व निश्चयमात्र को ही अपेक्षणीय मानना उचित है न कि आप्तविशेष द्वारा उक्तत्व निश्चय को अपेक्षणीय मानना चाहिए। फलतः कर्मानुष्ठान के समय अनुष्ठाता को कर्मानुष्ठान बोधक शास्त्र में उस के कर्ता का विशेष रूप से स्मरण की अपेक्षा न होने से, उक्त नियम के सिद्ध न हो सकने से उसके आधार पर वेद में स्मरणयोग्य कर्तृकत्व की सिद्धि न हो सकने के कारण, वेद में उक्त विशिष्ट हेतु की स्वरूपासिद्धि अनिवार्य है ॥ ४२ ॥

[आद्याभिमत वेदाध्ययन में गुरुमुखाधीत वेदाध्ययनपूर्वकत्व की असिद्धि]

४३ वीं कारिका में यह बात बताई गयी है कि वेदपौरुषेयत्वावादी हिरण्यगर्भ के जिस अध्ययन को आद्य अध्ययन मानते हैं उस में इदानीन्तन वेदाध्ययन के दृष्टान्त से वेदाध्ययनत्व हेतु से गुरुमुखाधीन वेदाध्ययनपूर्वकत्व का साधन कर के वेद की अपौरुषेयता का समर्थन नहीं किया जा सकता। कारिका का अर्थ इसप्रकार है-

हिरण्यगर्भ के वेदाध्ययन को आद्य अध्ययन मानने में कोई विरोध नहीं है। यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि हिरण्यगर्भ ने वेद की रचना कर के उस का अध्ययन प्रवृत्त किया है। केवल इस नाते उस अध्ययन को आद्य अध्ययन मानना उचित नहीं हो सकता कि 'हिरण्यगर्भ ने अपने अधीत वेद को अपने द्वारा रचित नहीं कहा है,' क्योंकि वेद को अर्वाग्दर्शी से अनिर्मित कहने पर उस का गौरव हो सकता है, लोक में उस का आदरपूर्वक ग्रहण हो सकता है, इस दृष्टि से भी वेद के कर्ता द्वारा उस में स्वकृतत्व का गोपन हो सकता है। अन्यथा, कालीदासकृत कुमारसम्भव आदि में कालिदास द्वारा स्वकृतत्व का प्रदर्शन

'वैदिकमन्त्रशब्दा अपौरुषेयाः, समर्थत्वात्, व्यतिरेके शब्दान्तरं दृष्टान्तः' इत्यप्यसाधनमित्यभिधातुमाह—

मन्त्रादीनां च सामर्थ्यं शावराणामपि स्फुटम् ।
प्रतीतं सर्वलोकेऽपि न चाप्यव्यभिचारि तत् ॥ ४४ ॥

मन्त्रादीनां च सामर्थ्यं विषापहरणादौ, **शावराणामपि**=पौरुषेयाणामपि, **स्फुटं**=सर्वसाक्षिकं सर्वलोकेऽपि प्रतीतम्, तथा च व्यभिचार इति भावः । असिद्धतामप्याह—न चापि **तत्**=भवदभिमतं वेदमन्त्रसामर्थ्यम् अव्यभिचारि, सुप्रयुक्तमन्त्रेऽपि विवाहादिकर्मणि वैधव्यादिदर्शनात् । तदेवमपौरुषेयत्वमपि नान्यतः सिद्ध्यतीति व्यवस्थितम् ॥ ४४ ॥

करने से यह भी कहा जा सकता है कि कुमारसम्भव का भी आद्य अध्ययन नहीं है किन्तु, कुमारसम्भव के इदानीन्तन अध्ययन के समय आद्य माने जाने वाले कुमारसम्भव के अध्ययन में भी गुरुमुखाधीन कुमारसम्भव के अध्ययनपूर्वकत्व का अनुमान कर कुमारसम्भव के भी अपौरुषेयत्व की सिद्धि की आपत्ति हो सकती है । कहने का आशय यह है कि वेदाध्ययनत्व में गुरुमुखाधीनवेदाध्ययनपूर्वकत्व की व्याप्ति तभी मान्य हो सकती है कि जब सामान्य रूप से यह व्याप्ति मान्य हो सके कि तत् तत् का अध्ययन गुरुमुखाधीन तत्तदध्ययनपूर्वक होता है–किन्तु ऐसी व्याप्ति नहीं है, क्योंकि कुमारसम्भव आदि के आद्य अध्ययन में गुरुमुखाधीन कुमारसम्भवाध्ययनपूर्वकत्व नहीं है । फलतः वेदाध्ययनत्व भी आद्य वेदाध्ययन में गुरुमुखाधीनवेदाध्ययनपूर्वकत्व का व्यभिचारी होने से आद्याभिमत वेदाध्ययन में गुरुमुखाधीनवेदाध्ययनपूर्वकत्व का अनुमापक नहीं हो सकता । यदि यह कहा जाय कि–' आद्याभिमत वेदाध्ययन पक्ष है अतः उस में हेतु में साध्य का व्यभिचार नहीं बताया जा सकता, अन्यथा पक्ष में साध्य का निश्चय न होने से अनुमान मात्र का उच्छेद हो जायगा । ' –तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि पक्ष द्वारा हेतु में साध्यव्यभिचार के प्रदर्शन का तात्पर्य हेतु में अप्रयोजकत्व के प्रदर्शन में होता है । कहने का भाव यह है कि वेदाध्ययनत्व में गुरुमुखाधीन वेदाध्ययनपूर्वकत्व की व्याप्ति का कोई प्रयोजक प्रबल तर्क न होने से वेदाध्ययनत्व में गुरुमुखाधीन वेदाध्ययन पूर्वकत्व की व्याप्ति का ग्रह नहीं हो सकता । अतः वेदाध्ययनत्व हेतु से आद्याभिमत वेदाध्ययन में गुरुमुखाधीन वेदाध्ययनपूर्वकत्व का अनुमान नहीं हो सकता । ४३ ॥

[वेदमन्त्रों में अपौरुषेयत्वसाधक सामर्थ्यहेतु साध्यद्रोही]

४४ वीं कारिका में यह बताया गया है कि शब्दान्तररूपी व्यतिरेकी दृष्टान्त से सामर्थ्य हेतु द्वारा वेद के मन्त्रात्मक शब्दों में अपौरुषेयत्व का साधन नहीं किया जा सकता । कारिका का अर्थ इसप्रकार है–

' वेद के मन्त्रात्मक शब्द अपौरुषेय हैं क्योंकि सामर्थ्ययुक्त हैं जो शब्द अपौरुषेय नहीं होता, उस में सामर्थ्य नहीं होता । जैसे सामान्य मनुष्य का किसी को शाप देने या वर देने का शब्द । ' –इसप्रकार का अनुमान नहीं हो सकता क्योंकि विष का अपहरण करने के लिए पुरुष प्रणीत शाबर मन्त्रों में विषापहरण का सामर्थ्य सर्वमान्य होने से उन मन्त्रों में सामर्थ्य अपौरुषेयत्व का व्यभिचारी है ।

वेदेऽपि पठ्यते ह्येष महात्मा तत्र तत्र यत् ।
स च मानमतोऽप्यस्याऽसत्त्वं वक्तुं न युज्यते ॥ ४५ ॥

अन्यदप्याह वेदेऽपि पठ्यते ह्येषः सर्वज्ञः महात्मा=शुद्धसत्त्वः, तत्र तत्र "स सर्वविद् यस्यैष महिमा" इत्यादौ यत्=यस्मात्, स च=वेदः मानं प्रमाणं भवताम्, अतोऽपि हेतोः अस्य=सर्वज्ञस्य असत्त्वं वक्तुं न युज्यते ॥ ४५ ॥

न चाप्यतीन्द्रियार्थत्वाज्ज्यायो विषयकल्पनम् ।
असाक्षाद्दर्शिनस्तत्र रूपेऽन्धस्येव सर्वथा ॥४६॥

न चेहार्थवादादिकल्पनया परिहार इत्याह–

न चाप्यतीन्द्रियार्थत्वात्=साक्षात् तदर्थाऽदर्शनात्, ज्यायः=शोभनम् विषयकल्पनम्=अर्थवादादिकल्पनम् असाक्षाद्दर्शिनः=छद्मस्थस्य, तत्र=वेदे, निदर्शनमाह–सर्वथाऽन्धस्य=जात्यन्धस्य रूप इव=नीलादौ विषय इव । यथा हि जात्यन्धस्य न सम्यग् नीलादिमहणश्लाघा युज्यते, तथा च्छद्मस्थस्यापि सर्वविस्वश्लाघेति । न च सिद्धार्थस्य स्वार्थेऽप्रामाण्यमपि वक्तुं युक्तम्,

---

व्यभिचार के अतिरिक्त सामर्थ्य हेतु वेद मन्त्रों में स्वरूपासिद्ध भी है क्योंकि वेद मन्त्रों के सम्यक् प्रयोग द्वारा विवाहादि संस्कार होने पर भी विवाहित स्त्री का वैधव्य आदि होने से वैवाहिक वेद मन्त्रों में सामर्थ्य का अभाव स्पष्ट है । तो जैसे विपरीत फल होने से वेद मन्त्रों में सामर्थ्य नहीं सिद्ध होता उसीप्रकार किसी भी हेतु से उस में अपौरुषेयत्व भी नहीं सिद्ध हो सकता ॥ ४४ ॥

४५वीं कारिका में वेद में अपौरुषेयत्व की सिद्धि के विरुद्ध अन्य बात भी बताई गयी है कारिका का अर्थ इसप्रकार है-वेद में भी तत्तत् स्थलों में शुद्ध बुद्ध सर्वज्ञ के अस्तित्व का स्पष्ट उल्लेख है । जैसे 'स सर्वविद् यस्यैष महिमा=जिस की यह सृष्टि की रचना आदि महिमा है वह सर्ववेत्ता है,' इसप्रकार वेद में अनेक स्थान में सर्वज्ञ का उल्लेख है और वेदाऽपौरुषेयत्ववादी के मत में वेद प्रमाण है। अतः वेदात्मक प्रमाण से ही सर्वज्ञ की सिद्धि होने से उस का असद्भाव बताना युक्तिसंगत नहीं हो सकता ॥ ४५ ॥

[असर्वज्ञ का सर्वज्ञ रूप में अर्थवाद अनुचित]

४६ वीं कारिका में यह बताया गया है कि वेद में जो सर्वज्ञ की सत्ता के बोधक वाक्य प्राप्त होते हैं उन्हें सामान्य मनुष्य की अपेक्षा अधिकवेत्ता की प्रशंसा में प्रयुक्त-अर्थवाद मान कर उन से सर्वज्ञ की सिद्धि की आपत्ति का परिहार नहीं किया जा सकता । कारिका का अर्थ इसप्रकार है–

जो पुरुष छद्मस्थ=मिथ्याज्ञान के संस्कार से सम्पन्न यानी असर्वज्ञ होता है, उस के लिए वेद में वर्णित अनेक अर्थ अतीन्द्रिय होते हैं जिन का साक्षाद् दर्शन उन्हें नहीं होता । अतः उन के विषय में वेद में अर्थवाद की कल्पना उचित नहीं हो सकती, क्योंकि असर्वज्ञ की सर्वज्ञ के रूप में प्रशंसा उतनी ही अनुचित है जितनी जन्मना अन्ध मनुष्य की नील आदि रूपों के द्रष्टा रूप में ।

प्रथमं गृहीतायाः अपि शब्दत्वावच्छेदेन कार्यत्वविशिष्टशक्तेरुत्तरकालं बाधकदर्शनेन त्यागात्, प्रथमं गृहीताया इव चन्द्र-तारादिस्वल्पताया उत्तरप्रवृत्तागमादिमूलतन्महत्त्वज्ञाने अनुभावकत्वे आकाङ्क्षादि-वत्साध्यतोपरागस्याऽप्रामाणिकगौरवेणाऽप्रयोजकत्वाच्च; अन्यथा 'परिणतिसुरसमाम्रफलम्' इत्यादि-वाक्यश्रवणानन्तरं सुरसाम्रफलानुभवाभावेन प्रवृत्त्यनुपपत्तिप्रसङ्गात्। न च तत्र क्रियापदमध्याहृत्यैव प्रवृत्तिरिति वाच्यम्; अध्याहारे मानाभावात्। किञ्च, 'पुत्रो जातस्ते' इति श्रवणे हर्षप्रयुक्त-मुखप्रसाददर्शनाद् हर्षस्य ज्ञानसाध्यत्वात् पुत्रजन्मज्ञाने उपचितस्य वाक्यस्यैव हेतुत्वौचित्यात्; अन्यथा 'गामानय' इत्यादावपि प्रमाणान्तरजन्यज्ञानेनान्यथासिद्धिप्रसङ्गात् कथं न सिद्धार्थस्यानु-भावकत्वम्?। यदि चाप्रवृत्तिपराद् वाक्यादननुभव एव, तदा तत्र मूकतैव स्यात्, व्यवहाराभावात्। असंसर्गग्रहादेव तत्र व्यवहारोपपादने चान्यत्रापि तत एव तदुपपत्तिः किं न स्यात्?। इति प्रवृत्तिवद् व्यवहारस्याप्यनुभवप्रमाणतया सिद्धं सिद्धार्थस्यानुभावकतया ॥४६॥

यदि यह कहा जाय कि-'सिद्धार्थक=विधिप्रत्यय से अनधीत वाक्य, स्वार्थ में प्रमाण नहीं होता। अतः सर्वज्ञबोधक वचन भी सिद्धार्थक होने से सर्वज्ञ की सत्ता में प्रमाण नहीं हो सकता'-तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि प्रयोजक और प्रयोज्य वयस्क पुरुषों के व्यवहार से जिज्ञासु बालक को सर्वप्रथम शब्दसामान्य का शक्तिग्रह यद्यपि कार्यत्व किया से अन्वित अर्थ में ही होता है किन्तु बाद में लाघव-गौरव का विचार करने पर पूर्वज्ञात शक्तिग्रह को त्याग कर लाघववश स्वार्थ में ही शक्ति का अवधारण होता है। पूर्व में गृहीत के त्याग की कल्पना कोई अप्रामाणिक अपूर्वकल्पना नहीं है, क्योंकि चन्द्रमा-नक्षत्र आदि में पहले स्वल्प-परिणाम का ग्रहण होने पर भी बाद में शास्त्र से उन के महत्परिणाम का ज्ञान होने पर पूर्व-गृहीत परिमाण को अमान्य कर दिया जाता है।

दूसरी बात यह है कि आकाङ्क्षा आदि जिस प्रकार शब्द में अर्थ की अनुभावकता का प्रयोजक होता है उसप्रकार साध्यता का उपराग यानी कार्यता का सम्बन्ध अनुभावकता में प्रयोजक नहीं होता। अतः जिस अर्थ में साध्यता का उपराग नहीं है किन्तु सिद्धता है शब्द में उस की अनुभावकता का अपलाप नहीं किया जा सकता, क्योंकि शब्द से सिद्धार्थ के बोध का अपलाप किया जायगा तो "परिणतिसुरसमाम्रफलम्=आम का फल पकने पर सुमधुर रस से भर जाता है।"-इस वाक्य का श्रवण होने के अनन्तर मीठे रस वाले आम्रफल का अनुभव न होने से आम्रफल के ग्रहण में उक्त वाक्य के श्रोता की प्रवृत्ति न हो सकेगी क्योंकि अध्याहार में प्रमाण न होने से 'गृहाण=ग्रहण करो' या 'भुङ्क्ष्व=खाओ' इत्यादि क्रियापद का अध्याहार कर के उक्त वाक्य से अर्थानुभव की उत्पत्ति नहीं की जा सकती।

इस के अतिरिक्त यह भी ज्ञातव्य है कि 'पुत्रस्ते जात=तुम्हें पुत्र उत्पन्न हुआ' इस वाक्य को सुनने पर श्रोता का मुख प्रसन्न हो उठता है उस की इस प्रसन्नता से उस के हर्ष का, हर्ष से हर्ष के कारण पुत्रजन्म ज्ञान का अनुमान होकर उस ज्ञान का अन्य साधन उपस्थित न होने से उस ज्ञान से उक्त वाक्य में ही उस ज्ञान की कारणता का अनुमान होता है। अतः सिद्धार्थक वाक्य में भी अर्थानुभावकता निर्विवाद सिद्ध है।

सर्वज्ञेन ह्यभिव्यक्तात्सर्वार्थादागमात् परा। धर्माधर्मव्यवस्थेयं युज्यते नान्यतः क्वचित् ॥४७॥

उपसंहरन्नाह–**सर्वज्ञेन हि**=सर्वज्ञेनैव, **अभिव्यक्तात्**=प्रकाशितात् **सर्वार्थात्**=सर्वविषयात् आगमात्, **परा**=मुमुक्षु-सत्साधुपरिग्रहादुत्कृष्टा, **इयं**=प्रत्यक्षलक्ष्यमाणा धर्मा-ऽधर्मव्यवस्था युज्यते, **नान्यतः**=नान्यस्मादपौरुषेयत्वाभिमतादागमात्, **क्वचित्**=कदाचनेयं युज्यते।

धर्मा-ऽधर्मव्यवस्थेयं कृतविश्वपरिग्रहा। यतः प्रवर्तते शश्वत् तं सर्वज्ञमुपास्महे ॥४७॥

यदि यह कहा जाय कि–' उक्त वाक्य के अन्तर्गत तत्तत् पदों से तत्तत् अर्थ की उपस्थिति होने पर तत्तत् अर्थों का सम्बन्धज्ञान ज्ञानलक्षणसन्निकर्ष सहकृत मन से प्रत्यक्षात्मक होता है, न कि उक्त वाक्य से शाब्दबोधात्मक। अतः सिद्धार्थक वाक्य में अनुभावकता असिद्ध है'–तो यह ठीक नहीं है क्योंकि 'पुत्रस्ते जातः' इस वाक्य में उक्त रीति से अर्थानुभावकत्व का निरास करने पर 'गामानय=गौ ले आओ' इस वाक्य की अर्थानुभावकता भी निरस्त हो जाएगी। यतः उस वाक्य के विषय में भी यह कहा जा सकेगा कि वाक्यघटक तत्तत् पदों से तत्तत् अर्थ की उपस्थिति होने पर ज्ञानलक्षण सन्निकर्ष सहकृत मन से तत्तत् अर्थ के सम्बन्ध का प्रत्यक्षात्मक ही ज्ञान होता है, शाब्दबोधरूप नहीं होता। फलतः यह निर्बाधरूप से सिद्ध हो सकता है कि जैसे प्रवर्तक वाक्य अर्थ का अनुभावक होता है, उसीप्रकार सिद्धार्थक वाक्य भी अर्थ का अनुभावक होता है।

यदि यह कहा जाय कि–' जो वाक्य प्रवृत्तिपरक नहीं होता उस से अनुभव की उत्पत्ति नहीं ही होती'–तो यह ठीक नहीं है क्योंकि ऐसा मानने पर अप्रवर्तक वाक्य के विषय में मनुष्य को मूक ही रह जाना होगा क्योंकि उस से कोई व्यवहार नहीं हो सकता। और यदि अप्रवर्तक वाक्य के पदों से उपस्थित अर्थों का संसर्गबोध न होने पर भी उन के असंसर्ग के अग्रह से व्यवहार की उत्पत्ति की जाएगी तो प्रवर्तक वाक्य से भी अर्थानुभव की उत्पत्ति मानना व्यर्थ होगा। क्योंकि उस वाक्य के भी पदों से उपस्थित अर्थों के असंसर्ग के आग्रह से प्रवृत्ति की उपपत्ति हो जाएगी। अतः जैसे प्रवृत्ति अनुभवप्रमाणक=अनुभवमूलक होने से उस की उपपत्ति के लिए प्रवर्तक वाक्य को अनुभावक माना जाता है। उसी प्रकार व्यवहार भी अनुभवमूलक होने से उस की उपपत्ति के लिए सिद्धार्थक वाक्य को भी अनुभावक मानना आवश्यक है ॥ ४६ ॥

[सर्वज्ञसिद्धि वार्ता उपसंहार]

४७ वीं कारिका में, सर्वज्ञ की सिद्धि के विषय में किए गये विचारों का उपसंहार किया गया है। कारिका का अर्थ इसप्रकार है–

सर्वज्ञ से ही अभिव्यक्त होने पर आगम सर्वार्थविषयक हो सकता है और आगम के सर्वार्थ-विषयक होने पर ही धर्म-अधर्म की ऐसी व्यवस्था हो सकती है जो मोक्षार्थी एवं सच्चे साधुओं के द्वारा परिगृहीत होने से उत्कृष्ट कही जा सके। आगम को अपौरुषेय मानने पर उस से धर्म–अधर्म की उत्कृष्ट व्यवस्था नहीं हो सकती क्योंकि आगम के अपौरुषेय होने पर आगमोक्त अर्थ में प्रामाणिकता का निश्चय नहीं हो सकता। अतः व्याख्याकार उस सर्वज्ञ की उपासना में अपने को सतत संलग्न बताते हैं जिस के द्वारा धर्म-अधर्म की ऐसी उत्कृष्ट व्यवस्था होती है जिस का परिग्रह समग्र संसार करता आया है ॥ ४७ ॥

वार्त्तान्तरमाह—

अत्रापि प्राज्ञ इत्यन्य इत्थमाह सुभाषितम् । इष्टोऽयमर्थः शक्येत ज्ञातुं सोऽतिशयो यदि ॥४८॥

अत्रापि—अनन्तरोदितवार्त्तायामपि, **प्राज्ञः**-पण्डितः, **इति**—अस्माद्धेतोः, **अन्यः**—सौगतः, **इत्थं**-वक्ष्यमाणनीत्या आह 'सुभाषितम्' इत्युपहसति । **इष्टोऽयमर्थः**—'सर्वज्ञेन ह्यभिव्यक्तात्' इत्यादिनोक्तः, शक्येत ज्ञातुम् **सः**—अर्थः 'अयं सर्वज्ञः, अयं च तदभिव्यक्तार्थ आगमः' इत्येवं विभक्तस्वभावः **यद्यतिशयो**-गुणविशेषः स्यात् । ॥४८॥ एतदेवाह—

अयमेवं न चेत्यन्यदोषो निर्दोषतापि वा । दुर्लभत्वात् प्रमाणानां दुर्बोधेत्यपरे विदुः ॥४९॥

अयमेवं=सर्वज्ञः, न च=अयं न सर्वज्ञश्च, इति=एवम् **अन्यदोषः**=संतानान्तरवर्तिदोषः, **निर्दोषतापि वा**=संतानान्तरवर्तिदोषाभावोऽपि वा, प्रमाणानां परचेतसाम् **दुर्लभत्वात्**=अप्रत्यक्षत्वात् **दुर्बोधा**=दुर्ज्ञाना, **इत्यपरे**-सौगताः **विदुः**-जानन्ति ॥४९॥

अत्र समाधानवार्त्तान्तरमाह—

अत्रापि ब्रुवते वृद्धाः सिद्धमव्यभिचार्यपि ।
लोके गुणादिविज्ञानं सामान्येन महात्मनाम् ॥५०॥

[सर्वज्ञ और तद्रचित आगम की प्रतीति दुर्लभ-बौद्धवादी]

४८ वीं कारिका में पूर्वकारिका में वर्णित विषय के सम्बन्ध में एक अन्य बात कही गयी है जो इसप्रकार है-

इस कारिका द्वारा ग्रन्थकार ने एक प्रकार का उपहास करते हुए यह कहा है कि पूर्वोक्त विषय में भी अपने को प्राज्ञ मान कर बौद्ध का यह कहना है कि सर्वज्ञ पुरुष द्वारा अभिव्यक्त समग्र अर्थजात के प्रतिपादक आगम से धर्म-अधर्म की व्यवस्था होती है यह बात तब ज्ञात हो सकती है जब कोई ऐसा अतिशय यानी ऐसा विशिष्ट गुण हो जिस के द्वारा यह निश्चय किया जा सके कि 'अमुक व्यक्ति सर्वज्ञ है और अमुक आगम उस के द्वारा अभिव्यक्त किया गया है' ॥ ४८ ॥

४९ वीं कारिका द्वारा अन्य कतिपय बौद्ध विद्वानों का यह मन्तव्य प्रगट किया गया है कि यतः प्रमाण (=पर चित्तवृत्ति) दुर्लभ=दुर्ज्ञेय होता है अतः यह विषय अत्यन्त दुर्ज्ञेय है कि 'अमुक व्यक्ति सर्वज्ञ है और अमुक सर्वज्ञ नहीं है'। अमुक सन्तान (=ज्ञानप्रवाह) दोषयुक्त है और अमुक सन्तान निर्दोष है।

दोनों कारिकाओं से बौद्ध विद्वानों का यह आशय प्रकट किया गया है कि सर्वज्ञ और उस से प्रणीत आगम की पहचान कठिन है। अतः धर्म अधर्म की व्यवस्था को सर्वज्ञमूलक बताना एक दुष्कर कार्य है ॥ ४९ ॥

५० वीं कारिका द्वारा सर्वज्ञ के सम्बन्ध में बौद्धों द्वारा प्रकट किये गये विचारों का एक समाधान बताया गया है

बौद्धों द्वारा प्रस्तुत किए गये विचार के सम्बन्ध में सिद्धान्त वेत्ता जैन विद्वानों का कहना है कि संसार में ऐसे अनेक महात्मा=प्राज्ञजन हैं जिन्हें प्रत्यक्षप्रमाण से नहीं किन्तु सामान्यतो-

अत्रापि=सौगतोदितविचारेऽपि **ब्रुवते**=समादधति **वृद्धाः**=सिद्धान्तपारीणाः । किम् ?
इत्याह—**सिद्धं**=प्रतिष्ठितम्, **अव्यभिचार्यपि**=नियमवदपि **लोके**=जगति **गुणादिविज्ञानं**=गुण-दोष-
विज्ञानम् **सामान्येन**=सामान्यतोदृष्टानुमानरूपप्रज्ञया, न तु साक्षात्कारेण, **महात्मनां**=प्राज्ञानाम् ॥५१॥

अत्रैव हेतुं दर्शयति—

तन्नीतिप्रतिपत्त्यादेरन्यथा तन्न युक्तिमत् । विशेषज्ञानमप्येवं तद्वदभ्यासतो न किम् ? ॥५१॥

तन्नीतिप्रतिपत्त्यादेः=दिग्नागाचार्यन्यायानुसरणादेः 'यद् वृद्धन्यायानुसारि विज्ञानं तद्
गुणपूर्वकम्' इति व्याप्तेः, **अन्यथा तत्**=नीतिप्रतिपत्त्यादि **न युक्तिमत्**, अप्रेक्षापूर्वकारिनीतित्वात् ।
सामान्यसिद्धौ विशेषज्ञानमप्यस्त्वित्याह—**विशेषज्ञानमपि**=अधिकृते पुंसि विशिष्टगुणज्ञानमपि **एवम्**=
उक्तप्रज्ञादिशा, **तद्वत्**=सामान्यगुणवत् **अभ्यासतो**=न **किम्** ?—भवत्येव साध्यतल्लिङ्गाद्यनुमानपरम्परा-

---

हृष्ट अनुमान से गुण-दोष का व्यवस्थित और अव्यभिचरित ज्ञान होता है । अतः यह कहना
ठीक नहीं है कि सर्वज्ञता-असर्वज्ञता दोषवत्ता और निर्दोषता आदि का ज्ञान प्राप्त करना
शक्य नहीं है ॥५०॥

[विज्ञान में गुणपूर्वकत्व साधक अनुमान]

५१ वीं कारिका द्वारा पूर्व कारिका में उक्त विषय के समर्थक हेतु का प्रतिपादन किया
गया है—
आचार्य दिग्नाग की नीति के अनुसरण के आधार पर विज्ञान में गुणपूर्वकत्व की प्रति-
पत्ति-सिद्धि हो सकती है । अर्थात् इसप्रकार सामान्यतः अनुमान किया जा सकता है कि
अमुक विज्ञान गुणपूर्वक है, क्योंकि आचार्य दिग्नाग की नीति के अनुरूप है । जो भी विज्ञान
वृद्ध=विद्वान पुरुषों की नीति के अनुरूप होता है वह गुणपूर्वक होता है यह व्याप्ति है । यदि
यह व्याप्ति न मानी जायगी तो दिग्नाग की नीति के अनुरूप होने वाली प्रतिपत्ति भी युक्ति-
संगत न हो सकेगी, क्योंकि वह उक्त व्याप्ति की अभाव दशा में, प्रेक्षापूर्वकारि वाली सद्सत
के विवेक से कार्य करने की प्रकृतिवाले पुरुष की नीति के अनुरूप न होकर विपरीत नीति
के अनुरूप होगी । आचार्य दिग्नाग बौद्धसम्प्रदाय के सर्वमान्य मनीषी हैं । अतः उन की नीति
के अनुरूप उत्पन्न विज्ञान में गुणपूर्वकत्व की उपेक्षा बौद्ध भी नहीं कर सकते । फलतः उक्त
व्याप्ति के बल से सामान्यरूप से यह अनुमान निर्बाधरूप से सम्भव हो सकता है कि विद्वज्जनों
के न्याय के अनुरूप विज्ञान गुणपूर्वक होता है ।

[परमप्रकृष्ट गुणसाधक अनुमान]

कारिका के उत्तरार्ध में यह बात बताई गई है कि जैसे उक्त व्याप्ति के बल से सामान्य-
रूप से विज्ञान में गुणपूर्वकत्व की सिद्धि होती है उसीप्रकार उपर्युक्त व्याप्ति के बल से विशेष
ज्ञान भी हो सकता है । अर्थात् अधिकृत व्यक्ति में विशिष्ट गुण का ज्ञान भी हो सकता है ।
यही बात " अभ्यासतो न किम् " ? इसप्रकार प्रश्न की मुद्रा में कही गयी है । जिस का
आशय यह है कि अभ्यास से अर्थात् विशिष्ट गुणरूप साध्य के लिङ्ग के पुनः पुनः ज्ञान से
अधिकृत पुरुष में विशिष्टगुण का अनुमान क्यों नहीं हो सकता ? आशय यह है कि विशिष्ट

रूपादभ्यासात् प्रकृतपक्षकं विशिष्टगुणसाध्यकं व्यतिरेक्यनुमानमिति भावः। तत्र 'अयं परमप्रकृष्ट-गुणवान्, अशेषसंशयापनायकत्वात्, दृष्टेष्टाविरुद्धवचनत्वाद् वा, यो नैवं स नैवं यथा रथ्यापुरुषः' इति व्यतिरेकिणि साध्यप्रसिद्धये 'रागादीनामत्यन्तक्षयः परमप्रकृष्टगुणपूर्वकः, तत्तारतम्यानुविधाय्य-त्यन्तापकर्षत्वात्, यो यत्तारतम्यानुविधाय्यत्यन्तापकर्षः स परमप्रकृष्टतत्पूर्वकः, यथा शीतस्पर्शात्यन्तक्षयः परमप्रकृष्टोष्णस्पर्शपूर्वकः' इत्यन्वय्यनुमानमुपयुज्यते; तत्र च पक्षज्ञानार्थं 'रागादय क्वचिदत्यन्त क्षीयन्ते, क्षीयमाणत्वात्' इत्युपयुज्यते ॥५१॥

एतदेवाह—

दोषाणां ह्रासदृष्टयेह तत्सर्वक्षयसंभवात्। तत्सिद्धौ ज्ञायते प्राज्ञैस्तस्यातिशय इत्यपि ॥५२॥

गुण का अपेक्षित अनुमान साध्य के उपर्युक्त लिङ्गज्ञान से निर्बाध रूप से सम्भव है। यह अनु-मान केवलान्वयी या अन्वयव्यतिरेकी न होकर व्यतिरेकी होगा और इस का प्रयोग इसप्रकार होगा-"अमुक पुरुष परमप्रकृष्ट गुण का आश्रय है क्योंकि वह सर्वविध समग्र संशय का परिहार करने में समर्थ है, अथवा दृष्ट और इष्ट के अविरोधी वचन का प्रयोक्ता है। जो पुरुष परमप्रकृष्ट गुण का आश्रय नहीं होता, वह सर्वविध समग्र संशय का परिहार करने में समर्थ नहीं होता, अथवा दृष्ट और इष्ट के अविरोधी वचन का प्रयोक्ता नहीं होता है। जैसे गलीयों में घूमने वाला पामर पुरुष।

इस अनुमान में परमप्रकृष्ट गुण साध्य है। उस की प्रसिद्धि के बिना उक्त अनुमान प्रयोग की निर्दोषता सम्भव नहीं है-अतः इस की सिद्धि के लिए इसप्रकार का अन्वयी अनुमान आवश्यक है कि राग आदि दोषों का आत्यन्तिकक्षय परमप्रकृष्ट गुणजन्य है क्योंकि वह गुण-तारतम्य का अनुविधान करने वाले अत्यन्त अपकर्षरूप है। जो जिस के तारतम्य का अनु-विधान करने वाला अत्यन्त अपकर्ष होता है वह उस के परम प्रकर्ष से जन्य होता है। जैसे शीतस्पर्श का अत्यन्त क्षय परमप्रकृष्ट उष्णस्पर्श से होता है।

इस अनुमान में प्रस्तुत पक्ष का ज्ञान तब तक नहीं हो सकता, जब तक यह सिद्ध न हो कि राग आदि के अत्यन्त क्षय का कोई स्थान है। अतः यह भी अनुमान अपेक्षित है कि राग आदि का किसी पुरुषविशेष में अत्यन्त क्षय होता है क्योंकि राग आदि बराबर क्षीय-माण भी हैं, जो निरन्तर क्षीयमाण होता है उस के अत्यन्त क्षय का कोई स्थान होता है जैसे क्षीयमाण दीपमाला का अत्यन्त क्षय आधारभूत दीप में होता है।

इसप्रकार इस कारिका से यह बात स्पष्ट की गयी कि अशेष संशय का परिहर्ता विश्व-सनीय आगम का प्रणेता परमप्रकृष्ट गुण का आश्रयभूत पुरुष-मान्य तीर्थंकर की अनुमान द्वारा सिद्धि निर्विवाद है ॥ ५१ ॥

[रागादि के ह्रास से अतिशय सिद्धि]

५२ वीं कारिका द्वारा पूर्वकारिका में उक्त अर्थ का ही एक दूसरे प्रकार से समर्थन किया गया है। कारिका का आशय यह है कि राग आदि दोषों का विरोधी भावना के बल से उत्तरोत्तर ह्रास-अंशतः नाश देखा जाता है। इस से यह सिद्ध होता है कि पूरे राग आदि का अत्यन्त क्षय भी किसी न किसी दिन हो सकता है। और जब प्रतिपक्ष भावना के उत्कर्ष से राग आदि के आत्यन्तिक क्षय की सिद्धि हो जाती है तो प्राज्ञ जनों को यह समझने में

दोषाणां=रागादीनाम्, **ह्रासदृष्ट्या**=प्रतिपक्षभावनाबलेन देशतो नाशदर्शनेन । तेन जन्मादीनामपि ह्रासदर्शनात् कदाचिदत्यन्तह्रासस्सम्भवाद् महाप्रलयाभ्युपगमः परेषां निरस्यते, तत्प्रतिपक्षाभावेन तदत्यन्तह्रासाऽयोगात्, धर्मह्रासेन तन्मूलशुभजन्मादिह्रासेऽपि षष्ठारकादावधर्ममूलजन्मादिपरिग्रहादिति द्रष्टव्यम् । इह=जगति, **तत्सर्वक्षयसंभवात्**=तेषां रागादीनां प्रतिपक्षोत्कर्षेण सर्वक्षयोपपत्तेः, **तत्सिद्धौ**=क्वचिदतिशयसिद्धौ ज्ञायते प्राज्ञैः **तस्य**=अधिकृतस्य अतिशय इत्यपि ।।५२।।

कथम् ? इत्याह—

हृद्गताशेषसंशीतिनिर्णयादिप्रभावतः । तदात्वे, वर्तमाने तु तद्व्यक्तार्थाऽविरोधतः ।।५३।।

हृद्गतानामशेषसंशीतीनां **निर्णयो**=निराकरणम् आदिना दृष्टेष्टाऽविरुद्धोक्तिसामर्थ्यग्रहः, तयोः **प्रभावो**ऽतिशयव्याप्यत्वं ततः, **तदात्वे**=सर्वज्ञसद्भावकाले ह्याद्यप्यतः, **वर्तमाने तु**=सांप्रतं पुनः, **तद्व्यक्तार्थाविरोधतः**=तेनातिशयवता व्यक्त उपदिष्टो च आगमस्तदर्थपौर्वापर्याऽव्याघातेन केवलेनैवेति ।।५३।।

कोई कठिनाई नहीं होती कि अमुक अधिकारी पुरुष उस अतिशय से सम्पन्न है, जिस से सर्वज्ञता की प्राप्ति हो सकती है ।

राग आदि दोषों के ह्रास से राग आदि के आत्यन्तिकक्षय की जो बात कही गयी है । उस से यह नहीं समझना चाहिए कि-'जन्म आदि का कभी अत्यन्त ह्रास हो सकता है, जिस से किसी दिन विश्व का महाप्रलय भी सम्भव है जैसा कि नैयायिकों का कथन है' -क्योंकि प्रतिपक्ष के बल से ही अत्यन्त ह्रास सम्भव होता है । जन्म आदि का ऐसा कोई प्रतिपक्ष नहीं है जिस के उत्कर्ष से जन्म आदि का अत्यन्त ह्रास हो सके । धर्म जन्म का एक कारण है और उस का ह्रास भी होता है किन्तु उस के ह्रास से शुभ जन्म का ह्रास अवश्य हो सकता है किन्तु उस से अधर्ममूलक जन्म आदि की निवृत्ति नहीं हो सकती क्योंकि शुभ जन्म के कारणभूत धर्म का ह्रास हो जाने पर छट्ठा आरा इत्यादि काल में अधर्ममूलक जन्म आदि होने की बात आगमों द्वारा वर्णित है । अतः किसी काल में विश्व के महाप्रलय की सम्भावना नहीं हो सकती । इसलिए रागादि दोषों से अतिशय गुणविशेष सम्पन्न पुरुष की सिद्धि में कोई बाधा नहीं है । अतः प्राज्ञ जनों द्वारा पुरुष विशेष में अतिशय का अवबोध दुष्कर नहीं है ।। ५२ ।।

[संशय का उच्छेद और पूर्वापर अव्याघात से अतिशय का पता]

५३ वीं कारिका में पूर्व कारिका द्वारा उक्त अर्थ की उपपत्ति का प्रकार बताया गया है- जिस से यह विषय स्पष्ट होता है कि अतिशय सम्पन्न सर्वज्ञ पुरुष के जीवनकाल में उस के अतिशय का ज्ञान दो बातों से होता है । एक यह कि उस में मनुष्य के हृदय में विद्यमान सम्पूर्ण संशयों को दूर करने की शक्ति होती है और दूसरी बात यह है कि उस का वचन दृष्ट और इष्ट का विरोधी नहीं होता है । यह दोनों ही बातें अतिशय की व्याप्य है अर्थात् जिस पुरुष में अतिशय नहीं है उस में उपर्युक्त बातें नहीं होती है । उस के अतिशय का ज्ञान उस के द्वारा रचित आगम के प्रतिपाद्य विषयों में पौर्वापर्य का व्याघात न होने से सम्पन्न होता है, क्योंकि जो व्यक्ति अतिशय से युक्त नहीं होता वह जिस ग्रन्थ की रचना करता है उस में वर्णित पूर्वापर अर्थों में विरोध की सम्भावना अवश्य होती है, सर्वथा अव्याहत अर्थ का प्रतिपादन अतिशय सम्पन्न पुरुष ही कर सकता है ।। ५३ ।।

एवंभूतोऽपीदानीं न दृश्यते, अतो नास्त्येवेत्याशङ्कानिवृत्त्यर्थमाह—

न चास्याऽदर्शनेऽप्यद्य साम्राज्यस्येव नास्तिता । संभवो न्याययुक्तस्तु पूर्वमेव निदर्शितः ॥५४॥

न **चास्य**=अशेषसंशयनिर्णयकर्तुः अदर्शनेऽप्यद्य=सांप्रतम् **साम्राज्यस्येव**=चक्रवर्त्यादि-राज्यस्येव **नास्तिता**=अभाव एव, किन्त्वस्तित्वेव । न हीदानीं साम्राज्यमपि (न ?) दृश्यते न च कदापि नास्तीति । स्यादेतत्—संभवति तदिति न तदभावः, इत्यत्राह—संभवस्तु—'अस्य' इति वर्तते, **न्याययुक्तः**=अनुकूलतर्कोपस्कृतः पूर्वमेव निदर्शितः 'दोषाणां ह्रासदृष्ट्या' (का० ५२) इत्यादिनेति समानमेतदिति ॥५४॥

एवमनुमानातिशयज्ञानमुक्त्वा भूयोऽनुभवाहितपटुक्षयोपशमबलाद् व्याप्त्यादिप्रतिसंधाननिरपेक्षेण प्रकृष्टमतिज्ञानेनापि तदाह—

प्रातिभालोचनं तावदिदानीमप्यतीन्द्रिये । सुबद्धसंयतादीनामविसंवादि दृश्यते ॥५५॥

प्रातिभालोचनम्=ध्यादिपरिणामविषयमनपेक्षितव्याप्त्यादिप्रतिसंधानं मानसज्ञानम्, तावच्छब्दः

---

५४ वीं कारिका द्वारा इस शंका का निराकरण किया गया है कि-'अतिशय युक्त सर्वज्ञ पुरुष का दर्शन वर्तमान में कहीं नहीं होता। अतः उस का कभी न होना ही मानना उचित है।' कारिका का आशय यह है कि-जैसे चक्रवर्ती का साम्राज्य सम्प्रति नहीं देखा जाता, किन्तु इतने मात्र से यह नहीं माना जा सकता कि चक्रवर्ती का साम्राज्य कभी नहीं था। उसीप्रकार मनुष्य के समग्र संशयों को दूर करने में समर्थ अतिशयसम्पन्न सर्वज्ञ पुरुष का इस काल में दर्शन न होने पर भी यह मानना उचित नहीं हो सकता कि उस का अस्तित्व कभी नहीं था। यदि यह कहा जाय-चक्रवर्ती का साम्राज्य होना सम्भव है, इसलिए उस के अदर्शन से उस का सार्वदिक अभाव नहीं माना जा सकता, पर सर्वज्ञ पुरुष का अस्तित्व सम्भव नहीं है। अतः उस के अदर्शन से उस का सार्वदिक अभाव मानना ही उचित है' -तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि सर्वज्ञ पुरुष के सम्भव होने के समर्थक तर्क का 'दोषाणां ह्रासदृष्ट्या'...इस कारिका (५२) द्वारा कर दिया गया है। अर्थात् उस कारिका द्वारा यह स्पष्ट कर दिया गया है कि चारित्र के पालन से राग आदि दोषों का ह्रास देखा जाता है। अतः यह सम्भव है कि चारित्र के पालन में और ज्ञान की साधना में निरन्तर लगे पुरुष के सम्पूर्ण रागादि दोषों का किसी दिन क्षय हो जाय और वह क्षीणदोष हो कर सर्वज्ञ बन जाय। इसलिए चक्रवर्ती-साम्राज्य और सर्वज्ञ पुरुष दोनों का अस्तित्व समानरूप से सम्भावित है ॥ ५४ ॥

[अतीन्द्रिय अर्थों के प्रातिभज्ञान का अस्तित्व]

उक्त रीति से अनुमान द्वारा अतिशय का ज्ञान होता है, यह बता कर ५५ वीं कारिका द्वारा यह बताना है कि दीर्घ अनुभव से उत्पन्न सामर्थ्यशाली क्षयोपशम के बल से ऐसा प्रकृष्ट मतिज्ञानात्मक अतिशयज्ञान हो सकता है जिस में व्याप्ति आदि ज्ञान की अपेक्षा नहीं होती। कारिका का आशय यह है - यह प्रसिद्ध है कि- इसप्रकार का प्रातिभालोचन अर्थात् बुद्धि आदि के परिणामों को विषय करने वाला मानसिक ज्ञान होता है, जिस में व्याप्ति आदि ज्ञानों की अपेक्षा नहीं होती। इस ज्ञान का अस्तित्व वर्तमान काल में भी उपलब्ध होता है।

प्रसिद्धयर्थः, **इदानीमपि**=अस्मिन् कालेऽपि **अतीन्द्रिये**=अनागतव्याध्यादिपरिणामे **सुवैद्य-संयतादीनां**=निपुणभिषग्वरपरिणतयोगमुनिप्रभृतीनाम्, **अविसंवादि**=अर्थक्रियाक्षमम् दृश्यते ॥५५॥

प्रकृते योजनामाह—

एवं तत्रापि तद्भावे न विरोधोऽस्ति कश्चन ।
तदुक्तार्थाविरोधादौ ज्ञानभावाच्च सांप्रतम् ॥५६॥

एवं=सुवैद्यादीनां व्याध्यादिपरिणाम इव **तत्रापि**=गुणवत्पुरुषेऽपि **तद्भावे**=विशिष्टचेष्टोपलब्ध्या प्रातिभातिशयालोचनभावे, **न विरोधोऽस्ति कश्चन**=न बाधकमस्ति किञ्चित्, असाक्षाद्दर्शिनोऽपि न संभवत्येतदित्यर्थः । तथा, **तदुक्तार्थाऽविरोधादौ**=तदुपदिष्टागमार्थाऽव्याघातादौ विषये, आदिना संवादादिग्रहः, **ज्ञानभावात्**=ज्ञानोत्पादाच्च, **सांप्रतम्**=इदानीम्, चकारेण तत्कालेऽपि समुच्चीयते, 'न विरोधोऽस्ति कश्चन' इत्यनुषज्यते । ननु किमेतत् प्रातिभम् ?, चेष्टादिलिङ्गज्ञानाल्लिङ्गिज्ञानमेवैतत् ? न, व्याप्त्यादिप्रतिसन्धानानपेक्षत्वात् । 'अस्तु तर्हि अनुमितविषयं स्मरणं प्रत्यभिज्ञानं वा ।' न, विशदत्वात्, तद्वदनपेक्षत्वाच्चेति द्रष्टव्यम् ॥५६॥

जैसे : ऐसे अनेक सद् वैद्य हैं जिन्हें रोग के भावी परिणामों का-जो सम्प्रति अतीन्द्रिय है-प्रातिभज्ञान हो जाता है, एवं ऐसे अनेक मुनिजन हैं जिन की योगसाधना परिपक्व हो चुकी है उन्हें भी अतीन्द्रिय अर्थ का मानसज्ञान हो जाता है और वह विसंवादी (=अन्यथा) नहीं होता अपितु उस के द्वारा वांच्छित अर्थक्रिया का सम्पादन होता है ॥ ५५ ॥

[गुणवान् पुरुष में प्रातिभातिशय अविरुद्ध]

५६वीं कारिका में प्रातिभज्ञान के अस्तित्व में जो युक्ति बतायी गई है, प्रस्तुत कारिका द्वारा उस की योजना सर्वज्ञ पुरुष के अतिशय ज्ञान के साधन में बतायी गयी है । कारिका का अर्थ इसप्रकार है-

जिसप्रकार सुवैद्य आदि को व्याधि आदि के भावी परिणामों का प्रातिभज्ञान होता है उसीप्रकार अतिशयगुण सम्पन्न पुरुष की भी विशिष्ट चेष्टाओं को देख कर उस में विद्यमान अतिशय का ज्ञान उस के असाक्षाद्दर्शी को भी हो सकता है-ऐसा मानने में कोई विरोध नहीं है । एवं पुरुष द्वारा रचित आगम के प्रतिपाद्य पूर्वोत्तरवर्ती विषयों में अव्याघात एवं अन्य-प्रमाणों के साथ संवाद आदि के ज्ञान से भी उस पुरुष के अतिशय का ज्ञान होने में कोई विरोध नहीं है । यह अविरोध वर्तमान समय और ऐसे पुरुष के अस्तित्व के समय में भी निर्विवाद है । यदि यह कहा जाय कि-'जिस प्रातिभज्ञान से पुरुषविशेष के अतिशय की जानकारी प्राप्त होने की बात कही जा रही है वह प्रातिभज्ञान, चेष्टा आदि लिङ्ग के ज्ञान से उत्पन्न अतिशयरूप लिङ्गी के ज्ञान से भिन्न नहीं है' -तो यह ठीक नहीं है क्योंकि लिङ्गी का ज्ञान अर्थात् अनुमान, व्याप्ति आदि के ज्ञान की अपेक्षा करता है किन्तु प्रातिभज्ञान उस की अपेक्षा नहीं करता है । यदि यह कहा जाय कि-' प्रातिभज्ञान अनुमितिविषय का स्मरण है अथवा पूर्वज्ञात की उत्तरकाल में होने वाली प्रत्यभिज्ञा है' -तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि प्रातिभज्ञान विशद=स्पष्ट होता है और स्मरण-प्रत्यभिज्ञात्मक ज्ञान विशद नहीं होता है । साथ

ननु यदि नाम दृष्टे संवादः, तथाप्यदृष्टेऽर्थे तथाविधप्रातिभस्याऽप्रामाण्याशङ्का न निवर्तत एवेत्यप्रयोजकं तदित्याशङ्कापोहायाह—

सर्वत्र दृष्टे संवादाददृष्टे नोपजायते। ज्ञातुर्विसंवादाशङ्का तद्वैशिष्ट्योपलब्धितः ॥५७॥

सर्वत्र दृष्टेऽर्थे **संवादात्**=अर्थक्रियाक्षमत्वदर्शनात्, **अदृष्टे**=धर्मादौ नोपजायते **ज्ञातुः**=प्रमातुः **विसंवादाशङ्का**='किमित्थमन्यथा वा' इति। कुतः ? इत्याह—तस्य व्यञ्जकस्य व्यक्तस्य वा माध्यस्थ्याद्युपायाभिधानादिना विषयतोऽविसंवादिजातीयत्वेन स्वरूपतश्च वैशिष्ट्योपलब्धितः—प्रामाण्यव्याप्यधर्मवत्तोपलम्भात् ॥५७॥

ही स्मरण को पूर्व अनुभव तथा प्रत्यभिज्ञा को पूर्व अभिज्ञा की अपेक्षा होती है और प्रातिभज्ञान को उन की भी अपेक्षा नहीं होती है। अतः प्रातिभज्ञान एक निरपेक्ष ज्ञान है जिस से पुरुष विशेष को अतिशय का ज्ञान निर्बाधरूप से सम्पन्न हो सकता है ॥ ५६ ॥

[अदृष्ट वस्तु में विसंवाद की आशंका का निराकरण]

५७ वीं कारिका द्वारा इस शंका का परिहार किया गया है कि दृष्ट अर्थ में प्रातिभज्ञान को संवादी=अर्थक्रिया की क्षमता के दर्शन से प्रमाणभूत माना जा सकता है किन्तु अदृष्ट अर्थ के प्रातिभज्ञान में अप्रामाण्य शंका की निवृत्ति नहीं होगी, क्योंकि उस में संवाद सम्भव नहीं है। अतः वह अदृष्ट अर्थ की सिद्धि में अप्रयोजक है। कारिका का अर्थ इसप्रकार है-

सभी दृष्ट अर्थों में प्रातिभज्ञान का संवाद मिलने से अदृष्ट अर्थ के विषय में भी प्रातिभज्ञान में ज्ञाता को विसंवाद की-अर्थात् 'यह वस्तु जिस रूप में ज्ञात हो रही है वैसी ही है अथवा अन्यप्रकार की है' इसप्रकार की शंका नहीं हो सकती, क्योंकि प्रातिभज्ञान विषय की दृष्टि से अविसंवादी-दृष्टार्थविषयक-प्रातिभज्ञान का सजातीय है और स्वरूप की दृष्टि से इस में वैशिष्ट्य की-प्रामाण्यव्याप्यधर्म की उपलब्धि होती है। इसलिए अविसंवादीजातीयत्व एवं विशेषधर्म के दर्शन से और प्रामाण्यव्याप्य धर्म के दर्शन से अप्रामाण्य शंका का प्रतिबन्ध हो जाता है। और अप्रामाण्य शंका के विरोधी ये दोनों ज्ञान आगमकर्ता पुरुष अथवा उस के द्वारा प्रणीत आगम में माध्यस्थ्य आदि उपाय के प्रतिपादन से सम्पन्न होते हैं। कहने का आशय यह है कि आगम कर्ता पुरुष मध्यस्थ होता है। किसी भी पक्षविशेष में उस का पक्षपात नहीं होता। उस से प्रणीत आगम में इसप्रकार के पक्षपात का अभाव होता है इसलिए आगमकर्ता के सम्बन्ध में जो अतिशयग्राही प्रातिभज्ञान उत्पन्न होता है उस में अविसंवादजातीयता और प्रामाण्यव्याप्यधर्म का ज्ञान होने में कोई बाधा नहीं होती है। इसलिए प्रातिभज्ञान द्वारा प्रामाण्यशंका का प्रतिबन्ध मानने में कोई आपत्ति नहीं है।

तात्पर्य यह है कि जब प्रातिभज्ञान सभी दृष्ट अर्थों में यथार्थ होता है तब यह शंका करने का कोई औचित्य नहीं है कि अदृष्ट अर्थ में वह अयथार्थ होगा। अतः प्रातिभज्ञान से पुरुष विशेष में अतिशय की सिद्धि को अवास्तविक कहना कथमपि उचित नहीं हो सकता ॥ ५७ ॥

अस्त्वेवमविसंवादकत्वाभिमानात् प्रातिभं प्रवृत्त्याद्युपयोगि, वस्तुस्थित्या तु तद् विसंवाद्येवेत्याशङ्कयाह-—

वस्तुस्थित्यापि तत्तादृग् न विसंवादकं भवेत् ।
यथोत्तरं तथा दृष्टेरिति चैतन्न सांप्रतम् ॥५८॥

वस्तुस्थित्यापि=परमार्थेनापि **तादृग्**=मार्गानुसारि **तत्**=प्रातिभम् न **विसंवादकम्**=अर्थक्रियाऽक्षमम् भवेत् । कुतः ? इत्याह—**यथोत्तरं**=क्रियाप्रवृत्त्यनन्तरम्, (तथा=) सुवैद्यप्रातिभवदर्थक्रियोपधानेनाऽविसंवादकतया **दृष्टेः** । **इति च**=एवं च सति, **एतद्**=वक्ष्यमाणम् न **सांप्रतम्**=न भजमानम् ॥५८॥

किं तत् ? इत्याह-—

सिद्धयेत्प्रमाणं यद्येवमप्रमाणमथेह किम् । न ह्येकं नास्ति सत्यार्थं पुरुषे बहुभाषिणि ॥५९॥

सिद्धयेत् प्रमाणमागमात्मम यदि, एवम्=एकवाक्यार्थसंवादित्वेन, अथेहाप्रमाणं किम् ? न ह्येवं सति किञ्चिदप्रमाणं नाम पौरुषेयं वचनं युज्यते । कुतः ? इत्याह—न ह्येकं किमपि नास्ति सत्यार्थं वचनम्, किन्तु किञ्चिद् भवत्यपि पुरुषे **बहुभाषिणि**=भृशं जल्पनशीले । तथा च सर्वेषां वचनं प्रमाणमापन्नमिति महाननर्थः ॥५९॥

---

५८ वीं कारिका द्वारा इस शंका का निराकरण किया गया है कि प्रातिभज्ञान अविसंवादित्व के अभिमान से प्रवृत्ति आदि में उपयोगी हो सकता है, किन्तु विषयभूतवस्तु की दृष्टि से वह विसंवादी=अयथार्थ ही है ।

कारिका का वक्तव्य यह है कि उक्त प्रकार से उत्पन्न होने वाला प्रातिभज्ञान परमार्थ दृष्टि से–विषयभूत वस्तु की दृष्टि से भी विसंवादी-अर्थक्रिया के सम्पादन में अक्षम नहीं हो सकता, क्योंकि सुवैद्य के प्रातिभज्ञान के समान उक्त ज्ञान से होने वाली प्रवृत्ति के अनन्तर अर्थक्रिया सम्पन्न होने से उसे प्रातिभज्ञान में भी अविसंवादित्व की उपलब्धि होती है । अत: उसे प्रमाण मानने पर अप्रमाणभूत ज्ञान के लोप हो जाने की निम्नोक्त शंका समीचीन नहीं है ॥ ५८ ॥

५९ वीं कारिका में, पूर्व कारिका में निर्दिष्ट शंका का स्वरूप प्रस्तुत किया गया है । कारिका का अर्थ इसप्रकार है-

किसी एक वाक्य में अर्थ का संवाद होने के आधार पर यदि पूरे आगम को प्रमाण माना जायगा–तो फिर अप्रमाण क्या होगा ? उक्त आधार से प्रामाण्य का निर्णय करने पर किसी भी पुरुष के किसी भी वचन को अप्रमाण कहना युक्तिसंगत न होगा, क्योंकि बहुभाषी मनुष्य भी कोई ऐसा नहीं होता है जिस का एक वचन भी सत्य न हो, कोई-कोई वचन तो सत्य होता है । अत: उस एक सत्यवचन के दृष्टान्त से उस का सारा वचन प्रमाण हो जायगा। और यह आपत्ति मनुष्य मात्र के वचन के सम्बन्ध में होगी अतः अप्रमाणभूत वचन का सर्वथा लोप हो जाने का महान् अनर्थ उपस्थित होगा ॥ ५९ ॥

[आगमवचन में घुणाक्षरन्याय और विसंवाद का निरसन]

६० वीं कारिका में, पूर्व कारिका में उक्त आशंका की असंगति बताई गयी है । कारिका का अर्थ इसप्रकार है-

यथैतदसांमतं तथाभिधातुमाह—

यत एकं न सत्यार्थं किन्तु सर्वं यथाश्रुतम् । यत्रागमे प्रमाणं स इष्यते पण्डितैर्जनैः ॥६०॥

यतः=यस्मात् **एकं**=किञ्चिदेव वचनम् न सत्यार्थं घुणाक्षरन्यायेन, किन्तु सर्वमेव—**यथाश्रुतं**=यथानुयोजित वचनम् यत्रागमे सत्यार्थम् **सः**=आगमः **पण्डितैर्जनैः**=परीक्षकैर्लोकैः, **इष्यते**=आमुष्मिकफलसिद्ध्यर्थमाद्रियते । तथा च भूयःसंवादिदर्शनाद् न घुणाक्षरीयत्वाशङ्का, विषयशुद्धिज्ञानाच्च न क्वचिद् विसंवादाऽऽशङ्केति भावः ॥६०॥

विषयशुद्धिमेव व्यनक्ति—

आत्मा नामी पृथक्कर्म तत्संयोगाद्भवोऽन्यथा ।
मुक्तिर्हिंसादयो मुख्यास्तन्निवृत्तिःससाधना ॥६१॥

आत्मा **नामी**=नारकादिरूपेण परिणामवान्, तथा **पृथक्**=पौद्गलिकत्वेनात्मनो भिन्नम् **कर्म**, **तत्संयोगात्**=कर्मसंबन्धात् **भवः**=संसारः; **अन्यथा** वस्तुसत्कर्मवियोगात् **मुक्तिः**। हिंसादयः कर्मसंयोगहेतवः **मुख्याः**=निरुपचरिताः; तथा **तन्निवृत्तिः** हिंसादिनिवृत्तिः **ससाधना**=सह साधनैरूपदेशक्षयोपशमादिभिर्निमित्तैर्वर्तमाना मुख्या ॥६१॥ तथा—

अतीन्द्रियार्थसंवादो विशुद्धो भावनाविधिः ।
यत्रेदं युज्यते सर्वं योगिव्यक्तः स आगमः ॥६२॥

आगम को इसलिए प्रमाण नहीं माना जाता कि उस का कोई एक वचन सत्य सिद्ध हुआ है, क्योंकि किसी एक वचन का सत्य होना पूरे आगम की सत्यता का आधार उसी प्रकार नहीं हो सकता जैसे कीडे द्वारा कतरन किये गये किसी काष्ठ में कभी कोई अक्षर बन जाना कीडे की लिपिज्ञता का आधार नहीं हो सकता। अतः विद्वान पुरुष उसी आगम को प्रमाण मानते हैं जिस का यथासंभव सम्पूर्ण वाक्य सत्य होता है। पारलौकिक फल की सिद्धि के लिए विद्वान पुरुष ऐसे ही आगम को प्रमाण का सम्मान देते हैं। इसलिए आगम के प्रतिपाद्य बहुतर अर्थों में संवाद का दर्शन होने से उस में घुणाक्षर न्याय होने जैसी शंका नहीं की जा सकती और प्रतिपाद्य विषय की शुद्धता का ज्ञान होने से किसी अंश में विसंवाद की भी आशंका नहीं हो सकती ॥ ६० ॥

६१ वीं कारिका द्वारा आगम की विषय शुद्धि व्यक्त की गयी है। कारिका का अर्थ इसप्रकार है–

आत्मा नामी होती है, नारक आदि रूपों में परिणमनशील होती है। कर्म पौद्गलिक होने से आत्मा से भिन्न तत्त्व है। उस के सम्बन्ध से आत्मा को संसार प्राप्त होता है और आत्मा और कर्म के वियोग से आत्मा को विमुक्ति की प्राप्ति होती है। हिंसा आदि कर्मसंयोग का मुख्य हेतु है। उपदेश और क्षयोपशम आदि साधनों से हिंसा आदि की वास्तव निवृत्ति होती है। ॥ ६१ ॥

चन्द्रोपराग के निमित्त आदि अतीन्द्रिय अर्थों का संवाद एवं अनित्यत्व आदि की भावना का विधान जो स्वरूप और फल की शुद्धि से नितान्त निर्मल होता है तथा पूर्व कारिका में

अतीन्द्रियार्थानां चन्द्रोपरागनिमित्तादीनां संवादः; तथा **विशुद्धः**=संभवस्वरूपफलशुद्ध्या निर्मलः **भावनाविधिः**=अनित्यत्वादिभावनामार्गः। यत्रेदं अनन्तरोदितम् सर्वं **युज्यते**-विचार्यमाणमुपपद्यते, **योगिव्यक्तः**=सर्वज्ञप्रकाशितः **सः**=आगमः, नान्यः, परीक्षाक्षमवचनस्यैव सम्यगागमलक्षणत्वात् ॥६२॥

'ज्ञः अज्ञो वाऽस्याधिकारी स्यात्? उभयथापि सिद्ध्यऽसिद्धिभ्यां वैयर्थ्यम्' इति कुवादिकुतर्कनिराकरणार्थमाह—

अधिकार्यपि चास्येह स्वयमज्ञो हि यः पुमान्। कथितज्ञः पुनर्धीमांस्तद्वैयर्थ्यमतोऽन्यथा ॥६३॥

अधिकार्यपि च **अस्य**=आगमस्य **इह**=जगति 'सः' इति गम्यते यो हि पुमान् **स्वयम्**=आगमश्रवणनैरपेक्ष्येण **अज्ञः**=विषयाऽपरिज्ञाता; कथितज्ञः पुनः, न तु कथितमपि यो न जानात्येव। अत एवाह-**धीमान्** बुद्ध्यावरणक्षयोपशमवान्। अतोऽन्यथा=उक्तविपर्यये सर्वथा ज्ञत्वेऽज्ञत्वे वा **तद्वैयर्थ्यम्**=आगमवैयर्थ्यम्, तत्कथाप्रीत्यादिलिङ्गेनावेत्यैवाधिकारितां पुनरध्यापनादौ न तद्वैयर्थ्यम्। अनधिकारिप्रयोगे हि लोकसंज्ञाप्रवेशात् प्रयोक्तैव प्रयोज्याऽविधिसमासेवनजनितं महदकल्याणमासादयेत्। इति लिङ्गैरधिकारितामवेत्याध्यापने नागमाऽऽगमज्ञादिवैयर्थ्यमिति निपुणं विभावनीयम् ॥६३॥

कही हुई सारी बातें जहाँ विचार के निकष पर कसने पर सत्य सिद्ध होती है, वही आगम आगम सर्वज्ञरचित होता है, क्योंकि जो वचन परीक्षा करने पर सत्य सिद्ध होता है, उसी को सम्यक् आगम कहा जाता है ॥ ६२ ॥

[स्वयं अज्ञ और कथितज्ञ पुरुष आगम बोध का अधिकारी]

आगम के सम्बन्ध में कुवादियों का यह कुतर्क है कि विज्ञ अथवा अज्ञ किसी को भी आगम का अधिकारी मानने में आगम का वैयर्थ्य होगा, क्योंकि विज्ञ के लिए आगम की कोई आवश्यकता नहीं है और अज्ञ के लिए उस की कोई उपयोगिता नहीं है। प्रस्तुत ६३ वीं कारिका में इस कुतर्क का निराकरण किया गया है। कारिका का अर्थ इसप्रकार है–

जो पुरुष स्वयं अज्ञ है, अर्थात् आगम के बिना जिसे आगमार्थ का ज्ञान नहीं है किन्तु कथित को समझने की जिसे बुद्धि है, जिस के बुद्धि के आवरण का ऐसा क्षयोपशम हो चुका है, जिस से वह उपदेश को समझ सकता है, ऐसा पुरुष आगम का अधिकारी है। ऐसे पुरुष से भिन्न पुरुष को तथा सर्वथा अज्ञ को अधिकारी मानने पर ही आगम का वैयर्थ्य हो सकता है। आशय यह है कि आगम में वर्णित विषयों के श्रवण में प्रीति श्रद्धा आदि लिङ्ग से अधिकारिता का ज्ञान कर के आगम का अध्यापन करने पर उस का वैयर्थ्य नहीं हो सकता। अनधिकारी के प्रति यदि आगम का प्रयोग किया जाय तो प्रयोक्ता की वह प्रवृत्ति लौकिक जनरञ्जनप्रधान हो जाती है और प्रयोज्य के इस अविधि सेवन से प्रयोक्ता का महान् अकल्याण होता है। इसलिए यह ज्ञातव्य है कि उचित लिङ्ग द्वारा अधिकारी को पहचान कर आगम का अध्यापन करने पर आगम और आगमज्ञ आदि की व्यर्थता नहीं हो सकती ॥ ६३ ॥

अन्यचित्त-चैतसिकाद्यगतेरसर्वार्थविषयोऽयं स्यादित्याशङ्कापोहायाह—

परचित्तादिधर्माणां गत्युपायाभिधानतः । सर्वार्थविषयोऽप्येष इति तद्भावसंस्थितिः ॥६४॥

परचित्तादिधर्माणाम्=परचित्तालोचन-समुद्रोदकपलादिमानरूपाणाम् **गत्युपायाभिधानतः**= परिच्छेदोपायतपोभावनाद्यभिधानात्, **सर्वार्थविषयोऽप्येषः**=प्रकान्त आगमः फलतः, स्वरूपतोऽपि सर्वाभिलाप्यभावविषयः, **इति**=एवम् **तद्भावसंस्थितिः**=सर्वज्ञव्यक्तस्यागमस्य धर्माऽधर्मव्यवस्थापकत्वसिद्धिः ॥६४॥

सत्तर्कैर्निशितैः शरैरिव वरैर्मीमांसके दुर्जये लुण्टाके सुपथस्य मुष्णति धनं सर्वज्ञमस्तौजसि ।
तस्यैवावगमं च लुम्पति परे बाढं हते सौगते, साम्राज्यं जिनशासनस्य जयति न्यायश्रिया सुन्दरम् ॥ १ ॥
विश्वस्यापि दृशोर्मुदं वितनुते यः प्रातिहार्यश्रिया, धर्मास्था यदुपज्ञमज्ञमनसामद्याप्यवद्यापहा ।
दुर्न्यायोत्थकुवासनां नयशतैर्लुम्पन्ति यस्यागमाः, सर्वज्ञो गतिरामहोदयपदं सोऽयं कृतार्थोऽस्तु नः ॥२॥

[आगम से धर्माधर्म की व्यवस्था निर्बाध]

अन्य व्यक्तियों के चित्त और चित्तधर्मों का ज्ञान न होने से आगम सर्वार्थ विषयक नहीं हो सकता क्योंकि जिन बातों का ज्ञान आगम कर्ता को नहीं है, उस के द्वारा रचित आगम में उन बातों का समावेश सम्भव नहीं है। प्रस्तुत कारिका द्वारा इस शंका का निराकरण आगम में किया गया है। कारिका का अर्थ इसप्रकार है-

पर चित्त और उन के धर्म तथा समुद्रोदकपल आदि का प्रमाणरूप सूक्ष्मतम पदार्थों के ज्ञान के तप-भावना आदि उपायों का प्रतिपादन किया गया है। इसलिए प्रस्तुत जैनागम फल और स्वरूप दोनों दृष्टि से सम्पूर्ण अभिलाप्य भावों का प्रतिपादक है, इसलिए सर्वज्ञ रचित आगम में धर्म और अधर्म की व्यवस्थापकता सिद्ध है।

कारिका का आशय यह है कि तप और भावना आदि के द्वारा अन्य व्यक्तियों के चित्त और चित्तधर्मों का तथा अन्य सभी दुर्ज्ञेय पदार्थों का ज्ञान हो जाता है। आगम की रचना ऐसे ही सर्वज्ञ पुरुष द्वारा हुई है जिसे तप और भावना के अभ्यास से सम्पूर्ण वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त है। अतः उस के द्वारा रचित आगम को धर्म और अधर्म का व्यवस्थापक मानने में कोई बाधा नहीं है ॥ ६४ ॥

मीमांसक ऐसा लुटेरा है कि जिसे जीतना बडा कठिन है। वह सुपथगामी जिनशासन के सर्वज्ञरूपी धन की चोरी का प्रयास करता है किन्तु तीखे बाण जैसे जिनशासन के समीचीन उत्तम तर्कों से उस का ओज नष्ट हो जाता है। उस के अवगम को लुप्त करने में तत्पर बौद्ध भी जिनशासन के तर्कों से आहत हो जाता है जिन के फलस्वरूप न्यायश्री के सौन्दर्य से सम्पन्न होकर जिनशासन का साम्राज्य जगत के सामने विजेता के रूप में अद्भासित होता है॥

जो तप आदि द्वारा अर्जित छत्र-चामरादि अतिशयित सुशोभनों की शोभा से सारे विश्व के नेत्रों को आनन्दित करता है, आज भी अज्ञजनों के दुष्कृतों को दूर करने वाली धर्म के प्रति आस्था जिस की प्रथम देन है और जिस के आगम अपने सैकडों नयों द्वारा दुर्न्याय से उत्पन्न कुवासनाओं का निराकरण करते हैं, महोदय पद की प्राप्ति तक वह कृतकृत्य सर्वज्ञ हमारी गति=शरण हो।

ननु—युक्तमुक्तम् 'सर्वज्ञेनाभिव्यक्तादागमाद् धर्माऽधर्मव्यवस्था' इति । कवलाहारित्वे त्वस्मदादिवत् सार्वज्ञ्यमेव नोपपद्यते, इति कथं सिताम्बराणां सर्वज्ञमूला व्यवस्था ? । न च छद्मस्थे भुजिक्रियादर्शनात् केवलिनि तद्विजातीये तत्कल्पना युक्ताः अन्यथा चतुर्ज्ञानित्वाऽकेवलित्वसंसारित्वादयोऽपि तत्र स्युः । न च देहित्वमात्रं तस्य भुक्तिसंपादकम्, मैथुनसंपादककर्मसत्त्वेऽपि सुषुप्त्यादौ वृषस्याभावेन मैथुनविरहवत् कैवल्ये हतमोहतया बुभुक्षाऽभावेन भुक्त्यनुपपत्तेः । एवं च तथाभूतशक्त्या-ऽऽयुष्ककर्मणोः सत्त्वेऽपि न क्षतिः । न च मोहाभावात् शरीरानुरागनिमित्तबुभुक्षाऽभावेऽपि शरीरं स्थापयितुमिच्छुरश्नातीति वाच्यम् ; अनन्तवीर्यस्य भगवतः शरीरस्थितिमिच्छोः प्रकृताहारमन्तरेणापि तत्स्थापनसामर्थ्याऽविरोधात् । न च शरीरतिष्ठापयिषापि बुभुक्षादिवदिच्छारूपत्वाद्

[केवलज्ञानी का कवलाहार अमान्य—दिगम्बर पूर्वपक्ष]

श्वेताम्बर जैनसम्प्रदाय के मान्य सर्वज्ञ के सम्बन्ध में दिगम्बरवादी कहते हैं कि-यह बात तो सत्य है कि धर्म-अधर्म की व्यवस्था सर्वज्ञ प्रणीत आगम से होती है। किन्तु सर्वज्ञ को कवलाहारी मानना समीचीन नहीं है, क्योंकि यदि वह भी हम लोगों के समान आहार ग्रहण करेगा तो हम लोगों के समान वह असर्वज्ञ ही होगा। अतः श्वेताम्बर सम्प्रदाय के अनुसार धर्म-अधर्म की व्यवस्था सर्वज्ञमूलक नहीं हो सकती क्योंकि वे सर्वज्ञ को आहारग्रहण की अपेक्षा मानते हैं, जो सर्वज्ञता में बाधक है। दूसरी बात यह है कि भोजन क्रिया छद्मस्थ(-अल्पज्ञ) संसारी पुरुष में देखी जाती है। केवली सर्वज्ञ, छद्मस्थ नहीं होता। अतः उस में भोजनक्रिया की कल्पना करना युक्त नहीं है। और यदि छद्मस्थ न होने पर भी उस में भोजनक्रिया मानी जायगी तो उस में मति आदि चार ज्ञान, अकेवलीत्व और संसारीत्व होने की भी कल्पना अपरिहार्य होगी। यदि यह कहा जाय कि 'वह देहधारी है, अत एव उस में भोजनक्रिया मानना अनिवार्य है' तो यह ठीक नहीं है क्योंकि जैसे मैथुनसम्पादक मोह कर्म के विद्यमान होने पर भी सुषुप्ति आदि के समय मैथुन की इच्छा न होने से मैथुन का अभाव होता है उसी प्रकार कैवल्य अवस्था में मोह नष्ट हो जाने से बुभुक्षा न होने के कारण भोजन क्रिया नहीं हो सकती। इसलिये भोजन की शक्ति और आयुष्य कर्म विद्यमान होने पर भी भोजनक्रिया न मानने में कोई क्षति नहीं है।

यदि यह कहा जाय कि-कैवल्य अवस्था में मोह का अभाव होने से शरीर के प्रति राग से होने वाली बुभुक्षा न होने पर भी शरीर को जीवित रखने की इच्छा से भोजन करने में केवली की प्रवृत्ति होती है'-तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि सर्वज्ञ भगवान अर्हन् अनन्तवीर्य से सम्पन्न हैं। अतः आहार के बिना भी उन में शरीर को जीवित रखने का सामर्थ्य मानने में कोई विरोध नहीं है। सच तो यह है कि शरीर को जीवित रखने की इच्छा भगवान को ठीक उसी प्रकार नहीं हो सकती जैसे उन को बुभुक्षा नहीं होती।

[स्वाभाविक आहारग्रहण की कल्पना अनुचित]

यदि यह कहा जाय कि-जैसे तीर्थ प्रवर्तन की इच्छा न होने पर भी भगवान तीर्थ का प्रवर्तन करते हैं उसी प्रकार भोजन की इच्छा अथवा शरीर को जीवित रखने की इच्छा न होने पर भी स्वभाववश भगवान आहारग्रहण कर सकते हैं'-तो यह भी ठीक नहीं है

भगवतोऽस्ति । न वा तीर्थप्रवर्तनवदिच्छाऽभावेऽपि स्वभावादेव भगवतो भुक्तिरिति कल्पयितुं युक्तम्, प्रकृताहारवैकल्य एव नियतकालमाविशरीरस्थितिस्वभावकल्पनायां दोषाभावात् । भावनाविशेषोत्पन्नसकलक्लेशोपरतव्यापारव्यवहारलक्षणतीर्थप्रवर्तनस्वभाववत् क्लेशोपशमनार्थं प्रकृताहारस्वभावकल्पनाया अन्याय्यत्वात् । न हि भगवति क्लेशो नाम, अनन्तसुखविरोधात् । 'पयोभृते घटे निम्बरसलव इव बहुपुण्यप्राग्भारभृते भगवत्यसातवेदनीयादिप्रकृतयो नासुखदाः' इत्युपदेशात् । दग्धरज्जुस्थानीयत्वाच्च तासाम् । न चातीन्द्रियस्य भगवतो देहगतं क्षुदादिदुःखं तदुपशमसुखं वा संभवति, आहारसंज्ञा—रुचिरूपयोर्मानस—रासनज्ञानयोस्तत्र हेतुत्वात्, विषयसंपर्कमात्रस्य तज्ज्ञानमात्रस्य वा व्यभिचारित्वात् । तदिदमुक्तम्—[प्रवचनसार १—२०]

सोक्खं वा पुण दुक्खं केवलनाणिस्स णत्थि देहगदं ।
जम्हा अदिंदियत्तं जादं तम्हा दु तं णेयं ॥ १ ॥

औदारिकव्यपदेशस्तु भगवच्छरीरस्योदारत्वात्, न तु भुक्तेः ।

यच्चैकेन्द्रियादीनामयोगिपर्यन्तानामाहारिणां सूत्र उपदेशात् केवलिनां कवलाहारित्वं केचित्

क्योंकि यह कल्पना करने में कोई दोष नहीं है कि आहार के अभाव में भी भगवान अपने स्वभाव से ही निश्चित काल तक अपना शरीर जीवित रख सकते हैं। भावनाविशेष से उत्पन्न, सम्पूर्ण क्लेशों से मुक्त प्रवृत्ति-आत्मक व्यवहार स्वरूप तीर्थप्रवर्तन, के स्वभाव की कल्पना न्यायसंगत है किन्तु क्लेश के उपशम के लिए भगवान में आहारग्रहण के स्वभाव की कल्पना न्यायसंगत नहीं है।

भगवान में क्लेश मानने पर "भगवान में अनन्त सुख होता है"-इस मान्यता का विरोध भी होगा। शास्त्र में बताया गया है कि दूध भरे घड़े में नीम के रस की एक छोटी बुँद जैसे असुखकर नहीं होती उसी प्रकार अगण्य पुण्य राशि से भरे भगवान में असातवेदनीय आदि प्रकृतियाँ भी असुखकर नहीं होती अपितु जली हुई रस्सी के समान निरर्थक होती हैं। अतीन्द्रिय भगवान में क्षुधा आदि से उत्पन्न दुःख और क्षुधा आदि की निवृत्ति से उत्पन्न सुखरूप देहधर्म सम्भव भी नहीं है क्योंकि आहार संज्ञा और आहाररुचिस्वरूप मानस एवं रासन ज्ञान उक्त सुख और दुःख के हेतु हैं जो भगवान में नहीं है। विषयसम्पर्क मात्र अथवा विषय का ज्ञानमात्र तो उक्त सुख और दुःख का व्यभिचारी है। जैसे कि प्रवचनसार में 'सौख्यं वा पुण...' गाथा में कहा गया है कि 'सुख और दुःखरूप देहाश्रित धर्म केवली को नहीं होता क्योंकि केवली अतीन्द्रिय-इन्द्रियमुक्त हो जाता है। अतः उसे सुख और उन के साधनों का भान अतीन्द्रिय होता है।' भगवान के देह को जो औदारिक कहा गया है, वह इसलिए नहीं कि भगवान भोजन ग्रहण करते हैं, किन्तु इसलिए कि उन का शरीर उदार=लोकोत्तर है।

[सूत्र से भी केवली का कवलाहार असिद्ध]

कुछ लोगों ने केवली को जो इस आधार पर कवलाहारी माना है कि 'सूत्र में एकेन्द्रिय से लेकर अयोगी पर्यन्त आहार ग्रहण करने वालों का उल्लेख है' यह सूत्रार्थ के अज्ञान के

---

१. सौख्यं वा पुनर्दुःखं केवलज्ञानिनो नास्ति देहगतम् । यस्मादतीन्द्रियत्वं जातं तस्मात् खलु तज्ज्ञेयम् ॥१॥

प्रतिपन्नाः ; तत्सूत्रार्थाऽपरिज्ञानविजृम्भितम्; तत्र ह्येकेन्द्रियादिभिः सह भगवतो निर्देशात्, निरन्त-
राहारोपदेशाच्च शरीरप्रायोग्यपुद्गलग्रहणस्याहारत्वेन विवक्षितत्वात्, अन्यथा समुद्घातावस्थायां
क्षणत्रयमात्रमपहाय तेनाहारेण भगवतो निरन्तराहारत्वप्रसङ्गात् । 'तत्र यथासंभवमाहारव्यवस्थितेः
सह निर्देशेऽपि कवलाहार एव केवलिनो व्यवस्थापयितुं युक्तः, अन्यथा तच्छरीरस्थितेरभावप्रसङ्गादिति'
(तु न) युक्तम् ; अस्मदादौ प्रकृताहारमन्तरेणौदारिकशरीरस्थितेः प्रभूतकालमभावदर्शनात् केवलिन्यपि
तथाकल्पने तत्र सर्वज्ञताया अप्यनवसायप्रसङ्गात्, दृष्टव्यतिक्रमकल्पनाऽयोगात् । श्रूयते च प्रकृता-
हारमन्तरेणाप्यौदारिकशरीरस्थितिश्चिरतरकालं प्रथमतीर्थंकरप्रभृतीनाम् । न च तदियत्तानियमप्रतिपादकं
प्रमाणमस्ति, इति निर्निमित्तं सूत्रभेदकारणम् । यथाश्रुतं सूत्रार्थाश्रयण एव हि निरन्तराहारवचन-
मप्युपपद्यते भवेत् । न चातिशयदर्शनाद् निरवशेषदोषावरणहानेरत्यन्तशुद्धात्मस्वभावप्रतिपत्तिवत्
प्रकृताहारविकलौदारिकशरीरस्थितिरप्यात्यन्तिकी संभवन्मुक्तेर्भगवतः सिध्येत्, इति "असरीरा
जीवघणा" इत्याद्यागमविरोधः प्रसज्येतेति शङ्कनीयम्, सयोगस्यात्यन्तिकस्थितेरसंभवात्, असंख्ये-
यकालादूर्ध्वं सर्वस्याः पुद्गलपरिणतेरन्यथाभवनात्, औदारिकस्य निराहारस्यापि चिरतरकालस्थायिन
उत्तरकालमशेषकर्मक्षयाद् विनिवृत्त्युपपत्तेरिति चेत् ?

कारण है, क्योंकि सूत्र में एकेन्द्रिय आदि के साथ भगवान का निर्देश है और निरन्तर
आहार ग्रहण करने का भी उल्लेख है । इसलिए आहार शब्द से शरीर के लिये योग्य पुद्गलों
का ग्रहण ही विवक्षित है, न कि लोकप्रसिद्ध अन्न आदि का आहार । यदि अन्नादि के
'आहार' में सूत्र का तात्पर्य माना जाएगा तो समुद्घात अवस्था में केवल तीन क्षण छोड कर
पूरे समय उसी आहार से भगवान में निरन्तराहार होने की प्रसक्ति होगी ।
यदि यह कहा जाय कि 'सूत्र में एकेन्द्रिय आदि के साथ यथासम्भव आहार की व्यवस्था
का निर्देश होने पर भी केवली का कवलाहारी होना ही सूत्र द्वारा विवक्षित है, क्योंकि उस
के बिना केवली की शरीर की स्थिति नहीं हो सकती' -यह कहना युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि
अन्नादि आहार के बिना हम जैसे लोगों के औदारिक शरीर की स्थिति अधिक काल तक नहीं
हो सकती केवल इस कारण से यदि केवली के विषय में भी यही स्थिति मानी जाएगी तो
हम लोगों के समान उस में सर्वज्ञता का निश्चय भी नहीं हो सकेगा क्योंकि एक कल्पना दृष्ट
के अनुसार हो और दूसरी कल्पना दृष्ट के विपरीत हो यह युक्तिसंगत नहीं है । इस के अति-
रिक्त यह भी प्रामाणिक रूप से विदित होता है कि अन्न आदि के आहार के बिना भी प्रथम
तीर्थङ्कर आदि के औदारिक शरीर की स्थिति चिरतर काल तक बनी रही थी । उस चिरतर
काल की सीमा का कोई प्रमाण नहीं है इसलिए सूत्रभेद करने में कोई निमित्त नहीं है, अर्थात्
सूत्र की अपने अनुमत के अनुसार व्याख्या करने का कोई आधार नहीं है । सूत्र के यथाश्रुत
अर्थ को स्वीकार करने पर ही भगवान को निरन्तराहार बताना उपपन्न हो सकता है ।
यदि यह शंका की जाय 'कि भगवान में अतिशय होने के कारण जैसे समग्र दोषावरणों
की हानि होने से अत्यन्त शुद्ध आत्मस्वभावता मानी जाती है, उसीप्रकार अन्न आदि आहार
के अभाव में भी मुक्ति के सम्भव की अवस्था में भगवान के औदारिक शरीर की आत्यन्तिक
स्थिति मानने पर 'मोक्षमाण जीव अशरीर होते हैं' ? आगम के इस कथन का विरोध होगा'

अत्र ब्रूमः—घातिकर्मक्षयापेक्षयाऽस्मदादिविजातीयत्वेन भगवति चतुर्ज्ञानित्वाद्यनुपपत्तावपि भुक्तिनिमित्तकर्मक्षयापेक्षया विजातीयत्वासिद्धेर्न तत्र भुक्त्यनुपपत्तिः । न च भुक्तिसंपादकं कर्मेच्छां विना तदनिष्पादकम्, अनिच्छतामपि कर्मविपाककृतफलोपनिपातदर्शनात् । न च भुक्तिप्रवृत्ते रागनिमित्तकत्वाद् वीतरागे तदभावः, शरीरस्थितापयिषयोपदेशनादिप्रवृत्तेरिव भुक्तिप्रवृत्तेरपि तत्राऽतथात्वात् । अनन्तवीर्यत्वं च तत्र विघ्नपरिपन्थि, न परमाहारमन्तरेणैव शरीरस्थितिसंपादकम्, अन्यथा च्छद्मस्थावस्थायां भगवत्यपरिमितबलश्रवणात् कर्मक्षयार्थमनशनादितपस्युद्यमवतोऽस्य प्राणवृत्तिप्रत्ययं तस्यामवस्थायामशनाद्यभ्यवहरणमसङ्गतं स्यात् । न च तदा क्षायोपशमिकं तस्य वीर्यम्, केवल्य-

—तो यह शंका ठीक नहीं है क्योंकि औदारिक शरीर के सम्बन्ध की आत्यन्तिक स्थिति नहीं हो सकती । यतः असंख्येय काल के अनन्तर सम्पूर्ण पुद्गल परिणाम परिवर्तित हो जाता है, अत: अन्नादि आहार के बिना भी चिरतर काल तक स्थायी औदारिक शरीर की उत्तर काल में अशेष कर्मों का क्षय होने से निवृत्ति हो सकती है । [पूर्व पक्ष समाप्त]

[केवलि को कवलाहार का सम्भव न्यायसिद्ध—श्वेताम्बर उत्तरपक्ष]

उक्त के सन्दर्भ में श्वेताम्बर सम्प्रदाय के आचार्यों का यह कहना है कि घाती कर्मों के क्षय की अपेक्षा से भगवान हम जैसे जीवों से विजातीय है, इसलिए उन में चतुर्ज्ञानित्व-संसारीत्व-अकेवलीत्व आदि का अभाव हो सकता है । भोजन क्रिया के निमित्तभूत कर्मों के क्षय की अपेक्षा से भी भगवान हम जैसे जीवों से विजातीय हैं यह बात सिद्ध नहीं है, इसलिए उन में भोजनक्रिया का अभाव नहीं हो सकता । 'भोजन क्रिया का सम्पादक कर्म भोजनेच्छा के बिना भोजनक्रिया का निष्पादन नहीं कर सकता' यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि इच्छा न रहने पर भी कर्मविपाकजनित फल की प्राप्ति देखी जाती है । 'भोजन में प्रवृत्ति रागमूलक है, इसलिए वीतराग भगवान में भोजनप्रवृत्ति सम्भव नहीं है ।' यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि शरीर को अवस्थित रखने की इच्छा के बिना भी जैसे उपदेशनादि में राग न होने पर भी भगवान की प्रवृत्ति होती है, उसीप्रकार भोजन में राग न होने पर भी शरीर को अवस्थित रखने की इच्छा के बिना भोजन में भी भगवान की प्रवृत्ति हो सकती है । भगवान की अनन्तवीर्यता भी भोजनप्रवृत्ति में बाधक नहीं हो सकती, क्योंकि वह केवल उन में विघ्नों की विरोधी है जिन से भगवान की उत्तरकालिक उपलब्धियों में बाधा सम्भावित हो, न कि वह आहार के बिना भी शरीर की स्थिति का सम्पादक है।, क्योंकि यदि भगवान के शरीर की स्थिति आहार निरपेक्ष मानी जायगी तो छद्मस्थ-संसारी अवस्था में कर्मक्षय के लिए अनशन आदि तप में तत्पर भगवान का प्राण धारण क्रिया में निमित्तभूत आहारादि का ग्रहण संगत न होगा, क्योंकि उस अवस्था में भी अपरिमित बल का होना प्रमाणसिद्ध है । फिर जैसे केवली अवस्था में आहार के बिना भगवान के शरीर की स्थिति हो सकती है उसीप्रकार छद्मस्थ अवस्था में भी आहार के बिना प्राणक्रिया सम्पन्न हो सकती है ।

यदि यह कहा जाय कि-' छद्मस्थ अवस्था में भगवान का वीर्य क्षयोपशम मूलक होता है और केवली अवस्था में क्षयमूलक होता है । अत एव केवली अवस्था का वीर्य विशिष्ट आहार के बिना भी शरीर की सत्ता का सम्पादक हो सकता है' —तो यह ठीक नहीं है क्योंकि क्षयमूलक अनन्त वीर्य के होने पर भी शरीरस्थिति के लिए उपवेशन आदि में जैसे केवली

वस्थायां तु क्षायिकं तत्, इति विशिष्टाहारमन्तरेणापि शरीरस्थितिनिबन्धनमिति वाच्यम्; तत्सद्भावेऽपि शरीरस्थितिनिमित्तशक्तेः कोष्ठादिवत् महताऽऽहारस्यात्यविरोधात् । न चोपवेशनादिकमपि शरीरस्थित्यर्थं तत्राऽसिद्धम्, समुद्घातावस्थानन्तरकालं पीठफलकादिप्रत्यर्पणश्रुतेः, तद्ग्रहणमन्तरेण तत्प्रत्यर्पणस्याऽसंभवात्, तद्ग्रहणस्य च यथोक्तप्रयोजनमन्तरेणाभावात् ।

यस्त्वागमबाह्य उपवेशनादिकमपि केवलिनो घनगर्जनवर्षणादिवद् नियतिकृतकाल-देशनियममेव स्वीकुरुते न तु प्रायोगिकम् प्रवृत्ताविच्छाया हेतुत्वात्; तथा च प्रवचनसारकृत्—(१-४४)

"ठाण-णिसेज्ज-विहारा धम्मुवदेसो अ णियदिणा तेसिं । अरहंताणं काले मायाचारो व्व इत्थीणं ॥१॥"

पुण्यविपाकस्तु तेषां सन्नपि बाह्यप्रवृत्तेः प्रत्यकिञ्चित्करः, औदयिक्या अपि तदायुक्तक्रियायाः कार्याऽकार्यभूतयोर्बन्ध-मोक्षयोरकारणकारणत्वाभ्यां क्षायिकरूपतया स्वीकारात्; तदाह—

"पुण्णफला अरहंता तेसिं किरिया पुणो हि ओदइगी ।
मोहादीहिं विरहिदा तम्हा सा खाइग त्ति मदा ॥ [प्रवचनसार १-४५]" ॥

सोऽविमृश्यवादी, भगवतोऽपि नामकर्मोदयेन योगप्रवृत्त्यविरोधात्, क्षायिकत्वेनोपचरित-

की प्रवृत्ति होती है उसीप्रकार लोक सिद्ध आहार में भी केवली की प्रवृत्ति मानने में कोई विरोध नहीं है । 'केवली का उपवेशन आदि शरीर की स्थिति के लिए होता है, यह बात असिद्ध है ।' यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि समुद्घात अवस्था के बाद भगवान को पीठफलक आदि परत देने का शास्त्रीय उल्लेख है और पीठफलक आदि परत देने का उल्लेख तभी सम्भव हो सकता है, जब भगवान द्वारा उस का ग्रहण हो और यह ग्रहण भी तभी हो सकता है, जब शरीर स्थिति आदि उस का प्रयोजन हो ।

[केवलि की उपवेशनादि क्रिया सीर्फ नियतिकृत-पूर्वपक्ष]

आगमबाह्य-आगम के सिद्धान्तों के अनभिज्ञों का कहना है कि-केवली की उपवेशन आदि क्रिया जो नियत देश और काल में होती है वह उसीप्रकार नियतिमूलक है जैसे नियत देश और काल में मेघों के गर्जन और वर्षण की क्रिया, न कि वह प्रयत्नमूलक है क्योंकि प्रवृत्ति में इच्छा कारण होती है और केवली में इच्छा का अभाव होता है । आगमबाह्यवादी के अनुसार यह बात प्रवचनसार के इस वचन से अनुमोदित है कि 'स्थिति, उपवेशन, विहार और धर्मोपदेश आदि केवली की क्रियाएँ ठीक उसीप्रकार नियतिमूलक हैं जैसे स्त्रियों का कपट-मय आचार ।' केवली का पुण्यविपाक भी बाह्य प्रवृत्ति का साधक नहीं है । केवली की औदयिक क्रिया भी कार्यभूतबन्ध का अकारण और अकार्यभूत अनश्वर मोक्ष का कारण होने से क्षायिक रूप है, अतः वह भी बाह्यप्रवृत्ति का जनक नहीं है जैसा कि "पुण्णफला अरहंता" इस गाथा में कहा गया है-अर्हन् की पुण्यफलक औदयिकी क्रिया मोह आदि से रहित होती है, अतः वह क्षायिक मानी गयी है ।

[आगमबाह्यवादी के मत का निरसन-उत्तरपक्ष]

आगमबाह्यवादी का यह कथन अविमृश्यवाद है-अविवेकपूर्ण कथन है, क्योंकि नामकर्म

१ स्थान-निषद्या-विहारा धर्मोपदेशश्च नियत्या तेषाम् । अर्हतां काले मायाचार इव स्त्रीणाम् ॥१॥
२ पुण्यफला अर्हन्तस्तेषां क्रिया पुनरौदयिकी । मोहादिभिः विरहिता तस्मात् सा क्षायिकीति मता ॥ १ ॥

स्याप्यौदयिकभावस्य स्वकार्याऽप्रतिरोधात्, केवलज्ञानादेस्तत्कार्यप्रतिबन्धकत्वे मोहादेस्तत्सहकारित्वे वा मानाभावात्; अन्यथा जिननामा-ऽऽयुष्ककर्मादिविपाकनिमित्तक्रियाया अपि तत्रानुपपत्तेः। न च परपरिणमनलक्षणक्रियायामज्ञानस्य हेतुत्वाऽज्ञानिनो भगवतस्तदनुपपत्तिः; तदुक्तम्- [प्रव० सारे]

" [1]णेण्हदि णेव ण मुंचदि ण परं परिणमदि केवली भगवं।
पेच्छदि समंतदो सो जाणदि सव्वं णिरवसेसं ॥ १-३२ ॥ "

-इति वाच्यम्; सत्यपि ज्ञाने आत्मप्रदेशैः कर्मादानवद् योगप्रदेशैर्बहिरर्थादानस्याप्युपपत्तेः। यदि च प्रयत्नसामान्यं प्रतीच्छाया हेतुत्वावधारणाद् न केवलिनः प्रवृत्तिरिष्यते, तदा चेष्टात्वावच्छिन्नेऽपि विलक्षणप्रयत्नेन हेतुत्वात् तदभावे न केवलिनश्चेष्टाऽपि, इति जीवन्मुक्ति-परममुक्त्योरविशेषापातः। यदि च विलक्षणचेष्टात्वावच्छिन्न एव विलक्षणप्रयत्नस्य हेतुत्वात् तदभावेऽपि

का उदय होने पर भगवान में भी योगप्रवृत्ति मानने में कोई विरोध नहीं है। एवं क्षायिक तुल्य माना गया औदयिकभाव भी अपने कार्य का प्रतिरोधक नहीं होता। 'केवलज्ञान आदि औदयिकभाव का प्रतिबन्धक है अथवा मोह आदि उस का सहकारी है' इस बात में कोई प्रमाण नहीं है। दूसरी बात यह है कि यदि यह बात मानी जाएगी तो भगवान जिन देव के नामकर्म और आयुष्कर्म के विपाक से भी किसी क्रिया की उपपत्ति न होगी।

यदि यह कहा जाय कि-" पर की परिणमन की क्रिया अज्ञानमूलक होती है। अतः ज्ञानी भगवान में वह क्रिया नहीं हो सकती। जैसा कि " गेण्हदि णेव ण मुञ्चदि " इस गाथा में कहा गया है कि 'ज्ञानसम्पन्न केवली किसी वस्तु को न ग्रहण करता है और न त्यागता है और न उस का परिणमन करता है किन्तु वह सभी देखता है, सम्पूर्ण वस्तुओं को जानता है"-तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि ज्ञान होने पर भी केवली जैसे आत्मप्रदेशों से कर्मग्रहण करता है उसीप्रकार कायादि योगप्रदेशों से बाह्य अर्थ का भी ग्रहण कर सकता है।

[प्रयत्न के अभाव में चेष्टा के अभाव की आपत्ति]

यदि यह कहा जाय कि-' प्रयत्न मात्र के प्रति इच्छा कारण होती है अतः इच्छा न होने से केवली की प्रवृत्ति नहीं हो सकती' -तो केवली में चेष्टा के अभाव की भी आपत्ति होगी क्योंकि चेष्टा मात्र के प्रति विलक्षण प्रयत्न कारण होता है अतः केवली में प्रयत्न न होने पर चेष्टा भी नहीं हो सकती, जिस के फलस्वरूप जीवन्मुक्ति और कर्ममुक्ति में निर्विशेषता की आपत्ति होगी क्योंकि केवली में प्रयत्न न मानने में कर्ममुक्ति के समान जीवन्मुक्ति में भी केवली निश्चेष्ट होगा। यदि यह कहा जाय कि-' यद्यपि चेष्टा के प्रति विलक्षण प्रयत्न कारण है अतः भगवान में विलक्षण प्रयत्न न होने पर तत्प्रयत्नमूलक विलक्षण चेष्टा न होने पर भी, नियति अथवा स्वभाव से विलक्षण चेष्टा की उपपत्ति हो सकती है '-तो यह कहने में भी आप क्यों मूक हो जाते हैं कि इच्छा भी प्रवृत्ति सामान्य का कारण नहीं है किन्तु विलक्षण प्रवृत्ति का ही कारण है। अतः भगवान में इच्छा न होने से इच्छा मूलक विलक्षण प्रवृत्ति न होने पर भी नियति अथवा स्वभाव से भगवान की प्रवृत्ति हो सकती है।

१ गृह्णाति नैव न मुञ्चति न परं परिणमते केवली भगवान्। प्रेक्षते समन्ततः सो जानाति सर्वं निरवशेषम् ॥१॥

भगवतो नियतेः स्वभावादेव वा विलक्षणचेष्टोपपत्तिरिष्यते, तदेच्छाया अपि विलक्षणप्रवृत्तित्वावच्छिन्न एव हेतुत्वात् तदभावेऽपि नियतेः स्वभावादेव वा भगवतः प्रवृत्तिरिति वक्तुं किमिति मूकायते भवान् ? । असमुदायवादे मिथ्यात्वं तु निर्लक्षणस्य भवत एव, न पुनरस्माभिर्विशेषो आपद्यते, न त्वस्माकं पुरुषकारं नियत्यादिसापेक्षमाश्रयताम् । यदि च चेष्टाजातीयाऽपि प्रयत्नविशेषमतिपतेत् तदा धूमजातीयोऽपि कश्चिद् धूमध्वजमतिपतेदिति संभावनया प्रसिद्धानुमानमपि भज्येत । तस्मादिच्छाभावेऽप्याहारपुद्गलग्रहणे भगवतो न क्षतिः । वस्तुतः शरीरस्थितिप्रापयिषा निरुपाधिपरदुःखप्रहाणेच्छेव रागकर्मोदयाप्रभवत्वेन राग एव न, सामायिकवतां माध्यस्थ्यप्रभवेच्छाया एवोचितप्रवृत्तिहेतुत्वात्, 'उचित-वृत्तिप्रधानं निरभिष्वङ्गं चित्तं सामायिकम्' इति वचनादिति दिग् ।

यच्चोक्तम्-'न च भगवति क्लेशो नाम' [पृ. १९७-४] इत्यादि....तदयुक्तम्, अनन्तसुखस्य वेदनीयक्षयप्रभवस्याऽयोगिचरमसमयं यावदसिद्धेस्तेन तदविरोधात् । न च—घातिवद् वेदनीयमिति तद्विपाकस्य तत्र मोहाभावप्रतिबद्धत्वात् तत्कर्मण आत्यन्तिकफलाऽयोगादेव भगवति क्षायिकसुखोपपत्तेस्तदनुपपत्त

यदि यह कहा जाय कि-'केवल नियति या स्वभाव से कार्य की उत्पत्ति मानना असमुदायवादी होना है-एकमात्रकारणक कार्यवादी होना है। जैनमत में तो नियति आदि पांच कारणों का समुदाय कारण माना जाता है। अतः इच्छा के अभाव में भी केवलनियति अथवा स्वभाव से भगवान की प्रवृत्ति मानने पर मिथ्यादृष्टित्व की आपत्ति होगी'-तो यह आपत्ति उद्भावनकर्ता को ही होगी क्योंकि वह निर्लक्षण है अर्थात् उस का कोई निश्चित सिद्धान्त नहीं है क्योंकि उसी ने भगवान में प्रयत्न न मान कर केवल नियति अथवा स्वभाव मात्र से चेष्टा होने की बात अभिनिवेशपूर्वक कही है। हमें सिद्धान्ती को आपत्ति नहीं हो सकती क्योंकि हम नियति आदि के साथ पुरुषकार-पुरुष प्रयत्न को भी कारण मानते हैं।

दूसरी बात यह है कि यदि प्रयत्न के बिना भी केवली की चेष्टा मानी जायेगी तो अग्नि के बिना कभी धूम होने की भी सम्भावना हो सकती है। फलतः धूमहेतुक अग्नि के प्रसिद्ध अनुमान का भी लोप हो जायगा। इसलिए इच्छा के अभाव में भी आहारपुद्गल के ग्रहण में भगवान की प्रवृत्ति मानने में कोई क्षति नहीं है।

सच बात यह है कि केवली को अपने शरीर की स्थिति रखने की इच्छा दूसरों के दुःख दूर करने की निःस्वार्थ इच्छा जैसी होती है जो रागकर्म के उदय से उत्पन्न न होने के कारण रागरूप नहीं है किन्तु वह सामायिकवान पुरुषों की माध्यस्थ्यमूलक इच्छा है, क्योंकि वही सम्पूर्ण उचित प्रवृत्ति का कारण है। जैसा कि कहा गया है कि-सामायिक वह चेतना है जो रागहीन होती है और जिस में उचित प्रवृत्ति की प्रधानता होती है।

[केवली में क्लेश होने में कोई विरोध नहीं है]

इस सन्दर्भ में जो यह बात कही गई कि 'अनन्त सुख के विरोध के कारण भगवान में दुखात्मक क्लेश नहीं हो सकता' तो यह ठीक नहीं है क्योंकि अनन्तसुख वेदनीयकर्मों के संपूर्ण क्षय से उत्पन्न होता है। अतः अयोगी गुणस्थान के अंतिम समय तक अनन्त सुख की सिद्धि न होने से उस समय तक भगवान में क्लेश मानने पर अनन्त सुख का विरोध नहीं हो सकता। यदि यह कहा जाय कि-'वेदनीयकर्म घातीकर्म के समान है, इसलिए

न क्लेशोत्थानमिति-वाच्यम्; तत्कर्मक्षयजन्यभावे तत्कर्मसत्ताया एव प्रतिबन्धकत्वात् अन्यथाऽतिप्रसङ्गात्, उदयप्रभवेऽपि सुखेऽर्वागिव तदापि क्षायिकभावमपेक्ष्यानन्तत्वाऽविरोधात् ।

घातितुल्यत्वं च वेदनीयस्य चिन्त्यम् । तथाहि-किं तत्? घातिरसवत्त्वं वा, तद्रसविपाकप्रदर्शकत्वं वा, स्वकार्यजनने क्वचित् तत्सहभूतत्वं वा, स्वापनेयसजातीयापनायकत्वं वा, स्वकार्यैकमूर्तिककार्यत्वं वा, दोषोत्पादकत्वं वा, अन्यद् वा ? .

नाद्यः, असिद्धेः । न द्वितीयः, अघातिकर्मान्तरप्रकृतीनामपि तादृशत्वात् । उक्तं हि-'अघातिन्यो हि प्रकृतयः सर्वदेशघातिनीभिः सह वेद्यमानास्तद्रसविपाकं प्रदर्शयन्ति, न तु सर्वदा स्वरसविपाकदर्शनेऽपि ता अपेक्षन्ते' इति । अत एव न तृतीयोऽपि, कादाचित्कस्य तत्सहभावस्याऽकिञ्चित्करत्वात्; अन्यथाऽतिप्रसङ्गात्, सार्वदिकस्य च तस्याऽसिद्धेः । नापि चतुर्थः, आत्मगुणत्वजात्याऽष्टकर्मक्षयजन्यानामष्टानामपि गुणानां साजात्यात्, तद्घातिनामष्टानामप्यविशेषेण

वेदनीय कर्म का विपाक केवली में मोहाभाव में-घातीकर्म के विपाक के समान-प्रतिबद्ध हो जाता है। अतः सत्तागत वेदनीय कर्म में उस के फल का आत्यन्तिक अयोग होने से भगवान में क्षायिक सुख की उत्पत्ति हो जाती है। अतः उस का विरोध किए बिना भगवान में क्लेश की उत्पत्ति नहीं हो सकती।' -तो यह ठीक नहीं है क्योंकि जो भाव जिस कर्म के क्षय से उत्पन्न होता है उस में उस कर्म की सत्ता ही प्रतिबन्धक होती है। ऐसा यदि न माना जायगा तो उस कर्म के अभाव में भी उस कर्म के क्षय से उत्पन्न होने वाले भाव का किसी अन्य द्वारा प्रतिबन्ध होने की अतिप्रसक्ति होगी। अतः वेदनीय के विपाक को मोहाभाव से प्रतिबद्ध मानना उचित नहीं है। केवली होने के पूर्व कर्मोदय से उत्पन्न सुख में क्षायिक भाव की अपेक्षा जिस प्रकार का आनन्त्य होता है उसीप्रकार केवलीदशा में क्लेश का उदय होने पर भी क्षायिक भाव की अपेक्षा उस सुख के आनन्त्य होने में कोई विरोध नहीं है। वेदनीयकर्म में जो घातीकर्म की समानता बतलायी गई वह भी चिन्तनीय है क्योंकि उस का निर्वचन दुष्कर है। ऐसे घातिकर्म की समानता के निम्न रूप हो सकते हैं-

घातितुल्यता का अर्थ क्या है, [1]घातिकर्म जैसे रसवान होना। [2]घातिरस के विपाक का प्रदर्शक होना। [3]अपने कार्य की उत्पत्ति में उस का सहभागी होना। [4]घातिकर्म के अपनेय के सजातीय का अपनायक होना। [5]घातिकार्य के एकमूर्तिक कार्य का जनक होना। [6]दोष का उत्पादक होना। अथवा [7]उक्त सभों से अतिरिक्त कोई अन्य रूप समानता का होना ?

[घाति तुल्यता के आद्य चार विकल्पों का निरसन]

इन में प्रथम सम्भव नहीं है क्योंकि वेदनीय में घातिकर्म के जैसा ही रस है यह बात असिद्ध है। दूसरा भी असंगत है क्योंकि अघाती अन्य कर्मों की प्रकृतियाँ भी घाति रस के विपाक की प्रदर्शक होती है किन्तु वे घाति के समान नहीं मानी जाती, क्योंकि कहा गया है कि अघाती प्रकृतियाँ सर्व-देशघाती प्रकृतियों के साथ भुज्यमान होने पर उन के रस विपाक का प्रदर्शन करती हैं किन्तु अपने रस विपाक का प्रदर्शन करने में सर्वदा उन की अपेक्षा नहीं करती। तीसरा पक्ष भी स्वीकार योग्य नहीं है क्योंकि कभी घातीकर्म का सहभाव हो जाना उन के कार्य की उत्पत्ति में अप्रयोजक है। यतः कदाचित्सहभावी को सहकारी

घातित्वप्रसङ्गात्, ज्ञान–दर्शन–चारित्र–वीर्यान्यतरत्वेन साजात्यविवक्षणे तु तस्य तज्जातीयापनाय-कत्वस्याऽसिद्धत्वात्, सुखघटितान्यतरत्वस्य च यादृच्छिकत्वात् ।

नापि पञ्चमः, सर्वासामपि प्रकृतीनां सजातीयप्रकृत्यन्तरकार्याधीनप्रकर्षशालिकार्यकत्वलक्षणस्य तस्याऽविशेषात्, इतरस्य च दुर्वचत्वात् । नापि षष्ठः, अष्टानामपि कर्मणामष्टसिद्धगुणप्रति-पन्थिदोषजनकत्वाऽविशेषात् । अष्टादशसु दोषेषु क्षुत्पिपासयोर्गणनं च प्रभाचन्द्रादीनामभिनिवेश-मूलम्, घातिकर्मविपाकह्रदनिस्यन्दनभूतानामन्तरायादीनामेवाष्टादशानां दोषाणां प्रामाणिकैः परिभाष-णात्; अन्यथा मनुजत्वादेरपि दोषवत्त्वप्रसक्त्या भवतामदुष्टदेवस्य दुर्लभत्वापत्तेः । अवोचाम च-

"¹दूसइ अव्वाबाहं इय जइ तुह सम्मओ तयं दोसो ।
मणुअत्तणं वि दोसो ता सिद्धत्तस्स दूसणओ ॥ १ ॥"

[अध्या० परीक्षा–७४]

मानने पर अन्य सहभावियों में भी सहकारिता की आपत्ति होगी। हाँ, यदि वेदनीयकर्म में घातिकर्म का सार्वदिक सहभाव होता तब उसे घातिकर्म के समान माना जाना सम्भव होता। किन्तु सार्वदिकसहभाव असिद्ध है। चौथा पक्ष भी ग्रहण योग्य नहीं है क्योंकि अष्ट कर्म के क्षय से उत्पन्न आठों ही आत्मगुण आत्मगुणत्व जाति से सजातीय हैं अतः उन के घात करने वाले आठों ही कर्म घाती हो जायगे, क्योंकि जिन का अपनयन घातीकर्म से होता है तज्जातीय गुण की अपनायकता अघाती चार कर्मों में भी प्रसक्त होती हैं। यदि ज्ञान, दर्शन, चारित्र, वीर्य इन में किसी एकरूप से साजात्य की विवक्षा करेंगे तो वेदनीयकर्म में ज्ञान दर्शन आदि के सजातीय का अपनायकत्व असिद्ध है। और यदि ज्ञान आदि के साथ सुख को भी जोडकर उन में से किसी का साजात्य ग्रहण करेंगे तो यह याद्दच्छिक=केवल काल्पनिक होने से प्रमाण भूत न होगा।

[अंतिम तीन विकल्प का निरसन]

पाँचवा पक्ष भी मानने योग्य नहीं है क्योंकि सभी प्रकृतियों में सजातीय अन्य प्रकृतियों के एकमूर्तिक=समानप्रकर्षशाली कार्य की जनकता विद्यमान है। अतः न केवल वेदनीय में अपितु सभी प्रकृतियों में घाति कर्म की तुल्यता की आपत्ति होगी। छठा पक्ष भी समीचीन नहीं है, क्योंकि आठों कर्मों में आठ सिद्धगुण के विरोधी दोष की जनकता विद्यमान है। अत एव सभी कर्मों में दोषजनकता होने से घाति तुल्यता की आपत्ति होगी। अठारह दोषों में क्षुधा और पिपासा की गणना जो प्रभाचन्द्र आदि ने की है वह दुराग्रहमूलक है क्योंकि प्रामाणिक विद्वानों ने घातिकर्म के विपाकह्रद से निकले हुए झरने के जैसे अन्तराय आदि अठारह दोषों को ही मान्यता दी है। यदि अन्तराय आदि अठारह दोषों से अतिरिक्त भी दोष माने जायगें तो मनुजत्व आदि में भी दोष की प्रसक्ति होने से अदुष्ट देव का दौर्लभ्य हो जायगा क्योंकि अध्यात्ममतपरीक्षा में यह कहा जा चुका है कि "जो अव्याबाधता को दूषित करे-भङ्ग करे-यदि उसी को दोष मानना अभीष्ट है तो मनुजत्व भी दोष है, क्योंकि वह भी सिद्धत्व का दूषक है।

---

१. दूषयत्यव्याबाधमिति यदि तव सम्मतः तकः दोषः । मनुजत्वमपि दोषस्तत् सिद्धत्वस्य दूषणतः ॥१॥

अथ प्रशस्तविपरीतभावनाप्रकर्षशालित्वं दोषत्वम्, तच्च रागादाविव क्षुदादावप्यस्ति । दृश्यते हि वीतरागभावनातारतम्येन रागादेर्मन्दमन्दतमादिभाव इति तदत्यन्तोत्कर्षात् तदत्यन्तापकर्षोऽपि भगवतामिति । एवमभोजनभावनातारतम्यात् सकृद्भोजनैकदिन-पक्ष-मास-संवत्सराद्यन्तरितभोजनादिदर्शनात् तदत्यन्तोत्कर्षादात्यन्तिकक्षुद्भुक्त्याद्यपकर्षोऽपि तेषां युज्यत इति चेत् ? न, अशरीरभावनया शरीरानुग्रहोपघातनिमित्तकशरीरममत्व-मानसोपतापनिवृत्तिवदभोजनभावनया भोजनानुरागक्षुज्जनितसंक्लेशयोरेव निवृत्तेः स्वकारणोपनीतयोः क्षुद्-भोजनयोः शरीरवदाकर्मक्षयं भावनाशतेनापि निवर्तयितुमशक्यत्वात् ।

न हि विशुद्धभावनावतां तपस्विनां क्षुदेव न लगति, अपि तु क्षुत्कृतसंक्लेशस्तैर्निरुध्यते; अन्यथा शरीरकार्श्यादितत्कार्यानुपपत्तेः ; क्वचित् तदनुपलब्धेस्तथाविधमनोद्रव्याहरणोपाधिकत्वात्, पुद्गलैरेव पुद्गलोपचयात् । न च तेषां क्षुत्-पिपासाऽभावे उभयथा तत्परीषहविजयो घटते, तस्मात् शीतादिसत्त्वेऽपि तत्संक्लेशाभाववत् क्षुदादिसत्त्वेऽपि तपस्विनां तत्संक्लेशाभाव इति युक्तमुत्पश्यामः ।

[क्षुधा यह रागादि जैसा दोष होने की शंका-समाधान]

यदि यह कहा जाय कि-प्रशस्त से विपरीत यानी अप्रशस्त भावना का प्रकर्ष होना ही दोष है। दोष का यह लक्षण राग आदि के समान क्षुधा आदि में भी है। देखा जाता है कि वीतराग की भावना के तारतम्य से राग आदि में मन्द, मन्दतम आदि भाव होता है। इसलिए जैसे वीतराग की भावना के अत्यन्त उत्कर्ष से राग आदि का अत्यन्त अपकर्ष भगवान में होता है, उसीप्रकार, भोजन त्याग की भावना के तारतम्य से-एक दिन में एक बार भोजन, फिर एक दिन के बाद भोजन, फिर क्रम से पक्ष, मास, संवत्सर आदि के व्यवधान से भोजनक्रिया देखी जाती है। इसलिए भोजन त्याग की भावना के अत्यन्त उत्कर्ष से भगवान के क्षुधा और भोजन का अत्यन्त अपकर्ष होना भी युक्तिसंगत है' -तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि शरीर से मुक्त होने की भावना से शरीर के प्रति शरीरमूलक ममता एवं शरीरोपघातमूलक मानससन्ताप की ही निवृत्ति जिसप्रकार होती है उसी प्रकार भोजनत्याग की भावना से केवल भोजनानुराग और क्षुधाजन्य क्लेश की ही निवृत्ति होती है। किन्तु क्षुधा और भोजन अपने कारणों से उपस्थित होते रहते हैं। सम्पूर्ण कर्मों का क्षय न होने तक शतशः भावना होने पर भी उन की निवृत्ति करना उसीप्रकार शक्य नहीं है जैसे शरीर से मुक्त होने की भावना से सम्पूर्ण कर्मों का क्षय न होने तक शरीर की निवृत्ति नहीं शक्य होती ।

यह बात नहीं है कि विशुद्ध भावना करने वाले तपस्वियों को भूख ही नहीं लगती। सत्य यह है कि भूख उन्हें भी लगती है किन्तु वे भूख से होने वाली पीड़ा को सहन कर लेते हैं क्योंकि यदि उन्हें भूख ही न लगती तो उन के शरीर में भूखप्रेरित कृशता आदि कार्य भी न होता। कुछ तपस्वियों में यह अवश्य देखा जाता है कि उन का शरीर कृश नहीं होता पर इस से यह मान्यता उचित नहीं होगी कि उन्हें भूख ही नहीं लगती क्योंकि उन के शरीर का कृश न होना कृशताविरोधी मनोद्रव्य ग्रहण करने के कारण है, क्योंकि पुद्गलों से ही शरीर के पुद्गल का उपचय हो सकता है। यदि यह माना जाय कि तपस्वियों को भूख, प्यास नहीं लगती तो उन्हें भूख, प्यास का विजयी कहना युक्तिसंगत न होगा। इसलिए

इत्थं च मानसपीडाऽप्रदत्वादेव 'भगवतोऽसातवेदनीयाद्याः प्रकृतयो नासुखदाः' इत्युपदेशोऽज्ञानाऽरत्यादिजन्यदुःखविलयात्, स्वोदयजन्यदुःखमात्रहेतुत्वेनाल्पदातर्यदातृत्वव्यपदेशवद् एतदुपपत्तिः, स्वविपाकप्रतिरोध एव तु निम्बरसलवदृष्टान्तानुपपत्तिरिति विभावनीयम् । न चेदृशं दुःखं कवलायोग्यमिति शङ्कनीयम्; आहारपर्याप्तिनामकर्मोदय–वेदनीयोदयज्वलदनलप्रतिरोधाऽयोगात् । दग्धरज्जुस्थानीयत्वमपि भगवत्यसातवेदनीयादिप्रकृतीनां न स्वकार्याऽक्षमत्वाभिप्रायेण शास्त्रे प्रतिपाद्यते, किन्तु क्षिप्रक्षपणयोग्यत्वाद्यभिप्रायेण, केवलिनि सातात्यन्तोदयस्यैवागमेऽभिधानात्; साताऽसातयोश्चान्तर्मुहूर्तपरिवर्तमानतया सातोदयवदसातोदयस्यापि संभवात् । 'अन्तरानन्दभावे कथं दुःखोदयः?' इति चेत्? यथा भावितात्मनां तपस्विनां परीषहादौ ।

यत्तु 'पापप्रकृतीनामपूर्वकरणे रसघातादेव केवलिनां न तथाविधोऽसातोदयः, मोहसापेक्ष-

---

यही मानना युक्तिसंगत है कि शीत और उष्ण परिषह का अनुभव होने पर भी उन्हें जैसे उस की पीडा नहीं होती है, उसीप्रकार भूख प्यास आदि लगने पर भी तपस्वियों को उस की कोई पीडा (संक्लेश) नहीं होती।

इसप्रकार मानस पीडा का जनक न होने से ही यह कथन युक्तिसंगत होता है कि असातवेदनीय आदि कर्म प्रकृतियाँ भगवान को असुखकर नहीं होती, क्योंकि उन में अज्ञान-अरति आदि से होने वाले दुःख का अभाव हो जाता है। असातवेदनीय भगवान में स्वोदय मात्र से होने वाले दुःख का ही जनक होता है, फिर भी वह असुखकर होने के कथन की उपपत्ति ठीक उसीप्रकार होती है जिसप्रकार अल्पदाता को अदाता कहने की उपपत्ति होती है। ऐसा मानने पर दूध भरे घडे में नीम के एक बूँद रस पड़ने के दृष्टान्त की अनुपपत्ति नहीं हो सकती। यह तभी होती जब भगवान में कर्मविपाक का पूर्णतया प्रतिरोध माना जाता। 'केवली में इसप्रकार का भी दुःख होना अयुक्त है' यह शंका नहीं की जा सकती क्योंकि आहार-पर्याप्ति नामक कर्म और वेदनीयकर्म के उदय से प्रज्वलित जठरानल का प्रतिरोध सम्भव न होने से भूख और उस के दुःख का होना अनिवार्य है।

भगवान के असात वेदनीय आदि कर्म प्रकृतियों में जो जली हुई रस्सी की समानता बतलायी गई है वह अपने कार्य के प्रति अक्षम होने के अभिप्राय से नहीं किन्तु तत्काल निवृत्त कर दिये जाने के योग्य होने के अभिप्राय से बतलायी गई है। केवली भगवान में सातवेदनीय कर्म का अत्यन्त उदय ही आगम में बतलाया है। किन्तु सात और असात वेदनीय कर्म प्रति मुहूर्त से परिवर्तित होते रहते हैं अतः सातवेदनीय के उदय के समान भगवान में असातवेदनीय का भी उदय सम्भव होता है। 'भीतर आनन्द के रहते बाहर दुःख का उदय कैसे हो सकता है?' यह शंका उचित नहीं है, क्योंकि जिस प्रकार आत्मभावना से सम्पन्न तपस्वियों को परीषह आदि में दुःख होता है उसी प्रकार केवली में आन्तर आनन्द के रहते भी किञ्चिद् दुःख होने में कोई बाधा नहीं है।

[पापप्रकृति का रसघात हो जाने से दुःखाभावशंका का उत्तर]

कुछ विद्वानों का कहना है कि पापात्मक प्रकृतियों के फलजनन में रस सहकारी होता है। केवली में रसघात हो जाने से रस का अभाव हो जाता है। अत एव उन में असातवेदनीय

प्रकृतीनां तद्घातेऽवश्यं रसघातात् ; अन्यथा पराघातनामकर्मोदयात् केवली पराहननाद्यपि कुर्यात् ; पुण्यप्रकृतयस्तु विशुद्धिप्रकर्षात् पीनविपाकाः कृता इति तद्विपाकप्राबल्यमेव तत्र ' इति केनचिदुच्यते तत् तुच्छम्, रसघाताद् रसस्येव स्थितिघातात् स्थितेरप्युच्छेदप्रसङ्गात् । तथाविधस्थितौ च व्यवस्थितायां तथाविधरसः कस्य पाणिना पिधेयः ? । अर्वागेव च सर्वथा भवोपग्राहिपापकर्मरसघाते समुद्घातवैयर्थ्यम् । न खलु सत्कर्मसमीकरणायैव समुद्घातः, सत्कर्मण एव वाधिक्यं तदेत्यत्र मानमस्तीति किमुत्सूत्रविस्यन्दितेन ? । पराघातोदयेन च परेषां दुर्धर्षताद्यभिव्यङ्ग्यं स्वफलं क्रियत एव; परहननादिकं तु मोहकार्यमेव, इति कथं ततस्तदापादनम् ? । परे तूदीरणां विना प्रचुरपुद्गलोप-

कर्मरूप पापप्रकृति का दुःखप्रद उदय नहीं होता। पापात्मक प्रकृतियाँ मोहसापेक्ष होती हैं अतः मोह का घात होने पर रसघात हो जाना आवश्यक होता है। यदि ऐसा न माना जायगा तो पराघातनामक कर्म के उदय से केवली में पर को आघात पहुँचाने की प्रवृत्ति की भी आपत्ति होगी। पापप्रकृतियों से पुण्यप्रकृतियों में अन्तर होता है क्योंकि उन के साथ विशुद्धि का प्रकर्ष होता है, इसलिए उन का विपाक=उन का फलप्रद परिणाम परिपुष्ट होता है। अतः केवली में पुण्यप्रकृतियों के विपाक का प्राबल्य होता है। फलतः उन में सुखप्रद सातवेदनीय कर्म का सुखप्रद उदय तो होता है। किन्तु असातवेदनीय कर्म का दुःखप्रद उदय नहीं होता।"-किन्तु यह कथन सारहीन है क्योंकि केवली में रसघात से यदि रस का उच्छेद माना जायगा तो स्थितिघात से उन की स्थिति का भी उच्छेद प्रसक्त होगा और यदि स्थितिघात के साथ भी स्थिति मानी जायेगी तो रसघात के साथ रस के अस्तित्व को किस के हाथ के नीचे छिपाया जा सकेगा ?

[समुद्घातक्रिया निष्फलत्वापत्ति]

इस के अतिरिक्त यह भी विचारणीय है कि यदि भवोपग्राही पाप कर्म का पूर्णरूप से रसघात पहले ही हो जायगा तो केवली द्वारा समुद्घात क्रिया का अनुष्ठान व्यर्थ होगा, क्योंकि इस बात में कोई प्रमाण नहीं है कि ' समुद्घात की क्रिया मात्र सत्कर्मों की स्थिति के समीकरण के लिए ही होती है रस के समीकरण के लिए नहीं होती। अथवा समुद्घात के समय सत्कर्मों का ही आधिक्य होता है ' अतः सूत्र के तात्पर्य से परे कुछ कहना असंगत है। इस सन्दर्भ में यह कहना कि 'केवली में असातवेदनीय कर्म के उदय से यदि दुःख का जन्म माना जायेगा तो पराघातनामक कर्म के उदय से पर को आघात पहुँचाने में केवली की प्रवृत्ति की आपत्ति होगी '-यह ठीक नहीं है क्योंकि पराघात का उदय होने पर उस का फल होता ही है, जिस की अभिव्यक्ति पर की दुर्धर्षता आदि से होती है। हाँ, केवली द्वारा पर का आघात नहीं होता, वह इसलिए कि वह पराघात के उदय का ही कार्य नहीं है किन्तु मोह का भी कार्य है और केवली में मोह नहीं होता। तो फिर केवल पराघात के उदय से पराघात में केवली की प्रवृत्ति का आपादान कैसे हो सकता है ?

अन्य विद्वानों ने इस सन्दर्भ में यह कहा है कि केवली भगवान का असातवेदनीय कर्म जली हुई रस्सी के समान हो जाता है क्योंकि उन में उदीरणाकरण न होने के कारण प्रचुरकर्म पुद्गल उदयप्राप्त न हो सकने से उन का असातवेदनीय कर्म असहाय-निष्फल है

निपाताभावाद् भगवदसातवेदनीयस्य दग्धरज्जुस्थानिकत्वमूचुः । तदपि न पेशलम्, एवं सति सातवेदनीयस्यापि तथात्वप्रसंगात्, सम्यग्दृष्ट्याद्येकादशगुणस्थानेषु गुणश्रेणीसद्भावात्, तदधिकपुद्गलोपसंहारादधिकपीडाप्रसङ्गाच्च । तस्माद् यथाऽनुभागमेव फलसंभव इति विभावनीयम् ।

अपरे तु सबलपुण्योदयाभिभूतत्वमेव पापप्रकृतीनां दग्धरज्जुस्थानिकत्वमनुमन्यन्ते । तदप्यसत्, बलवत्सजातीयसातोदयस्य परिवर्तमानतयाऽसातानभिभावकत्वात् । पुण्यप्रकृत्यन्तरोदयस्याभिभावकत्वे च चक्रवर्त्यादीनामपि क्षुद्वेदनीयाद्यभिभवप्रसङ्गात् । एतेन 'देवानामपि पुण्याभिभूतं वेदनीयं नास्मदादिसाधारणक्षुदादिजनकम्, देवाधिदेवानां तु कैव कथा ?' इति पामरप्रलपितं परास्तम् । न खलु देवानां वेदनीयम् 'अभिभूतम्' इत्येव स्वकार्याऽक्षमम्, अपि तु तद्गतोपग्रहनिबन्धनविचित्राऽदृष्टवशादौदर्यज्वलनविशेषाद्यनुपष्टम्भहेतुकमिति ।

जाता है।' किन्तु यह कथन भी समीचीन नहीं है क्योंकि ऐसा मानने पर केवली का सात-
वेदनीयकर्म भी जली रस्सी के समान हो जायगा, क्योंकि उस की भी वहाँ उदीरणा नहीं होती।
तथा यह भी दोष होगा कि सम्यग्दृष्टि आदि ११ गुणस्थानकों में जहाँ जहाँ गुणश्रेणी की
रचना होगी वहाँ वहाँ प्रचुरतम कर्मपुद्गल का उदय प्राप्त होने से अत्यधिक पीडा का
आगमन हो जायेगा। अतः यही मानना उचित है कि केवली में सातवेदनीय और असात-
वेदनीय दोनों कर्म अपने अपने रस के अनुसार अपना फलप्रदान करते हैं।

[असातावेदनीय का अभिभव संभव नहीं]

अन्य विद्वानों का कहना है कि-' बलवान पुण्य के उदय से अभिभूत-अपने कार्य के प्रति
असमर्थ हो जाना ही पापप्रकृतियों का जली हुई रस्सी के समान हो जाना है। अतः केवली
में बलवान पुण्य का उदय होने से उन में पापप्रकृति के क्लेश आदि कार्यों का होना सम्भव
नहीं है'-किन्तु यह कथन ठीक नहीं है। क्योंकि बलवान सजातीय सातवेदनीय कर्मों का उदय
परिवर्तित होता रहता है। बलवान सजातीय सातवेदनीय, आदि से अन्त तक नहीं रहता
किन्तु सातवेदनीय और असातवेदनीय कर्म का उदय एक एक मुहूर्त में फिरता रहता है।
अतः सातवेदनीय बलवान पुण्योदय को असातवेदनीय कर्म का अभिभावक मानना सम्भव
नहीं है। अन्य प्रकार की पुण्यप्रकृति के उदय को भी असातवेदनीय कर्म का अभिभावक नहीं
माना जा सकता क्योंकि ऐसा मानने पर चक्रवर्ती आदि के भी क्षुधावेदनीय आदि कर्मों का
अभिभव हो जाएगा। चक्रवर्ती आदि में विशिष्ट पुण्यप्रकृति का उदय रहता है किन्तु उन के
क्षुधावेदनीय आदि कर्म अक्षम नहीं होते, उन्हें भी भूख-प्यास लगती है।-"वेदनीय कर्म से
हमलोगों जैसे साधारणजनों को जैसी भूख-प्यास होती है वैसी देवताओं को भी नहीं होती
क्योंकि उन का वेदनीयकर्म पुण्यअभिभूत होता है। तो फिर देवाधिदेव केवली के बारे में
भूख-प्यास आदि होने की कल्पना ही कैसे हो सकती है।"-यह पामरों का कथन भी अत्यन्त
निःसार है क्योंकि देवताओं का वेदनीयकर्म अपने विविध कार्यों के प्रति केवल इसलिए
असमर्थ नहीं होता कि वह पुण्य से अभिभूत रहता है। अपितु उस का अन्य कारण भी है,
और वह है उन के देवत्वसम्पादक विचित्र अदृष्ट के प्रभाव से उन के उदराग्नि आदि का
उद्दीप्त न होना।

यदि च सर्वथा भगवति क्लेशो नेष्यते कथं तर्हि "एकादश जिने" इति भगवत्येकादशपरीषहाऽऽवेदकं सूत्रं समर्थनीयम् ?। 'एकादश' इत्यनन्तरं 'न सन्ति' इत्यध्याहारादि'ति चेत् ? न, स्वामित्वचिन्तावसरेऽस्य विपरीतव्याख्यानत्वात्। एतेन 'एकेनाधिका दश न' इत्यप्यव्याख्यानं द्रष्टव्यम्, तथा समासाऽयोगाच्च। इत्थं च 'एकादश जिने सन्ति, वेदनीयसत्त्वात्, न सन्ति वा, मोहाभावात्।' इति द्वेधा व्याख्यातुः सर्वार्थसिद्धिकृतोऽपि महाननर्थ एवोपतिष्ठते। वेदनीयात्मककारणसत्त्वादेकादशपरीषहाणां भगवत्युपचारे मोहसत्त्वमात्रेणोपशान्तवीतरागेऽपि द्वाविंशतिपरीषहाभिधानप्रसङ्गात्; 'न सन्ति' इत्यध्याहारस्याऽप्रामाणिकत्वाच्च। भोजनजनकतावच्छेदकजात्यभाववत्क्षुदादिपरीषहकल्पने च न मानमस्ति। 'अयोगिन्युपचारावश्यकत्वात्

[दिगम्बर मत में 'एकादशजिन सूत्र की अनुपपत्ति]

केवली भगवान में क्लेश का होना यदि सर्वथा अमान्य होगा तो भगवान में ग्यारह परीषहों का अस्तित्व बताने वाले 'एकादश जिने' इस तत्त्वार्थ सूत्र का समर्थन भी न हो सकेगा। यदि यह कहा जाय कि 'उक्त सूत्र में एकादश शब्द के बाद 'न सन्ति' का अध्याहार कर उस सूत्र को भगवान में ग्यारह परीषहों के अभाव का बोधक मानने से उस का समर्थन हो जायगा' -तो यह ठीक नहीं है क्योंकि उक्त सूत्र भगवान में स्वामित्व आदि के विचार के अवसर में पठित है। अत एव यह अध्याहार वाला व्याख्यान अप्रासंगिक होगा क्योंकि उक्त स्वामित्व विचार के सन्दर्भ में भगवान में जिन परिषहों का होना सम्भव है उन्हीं को बताना उचित होगा न कि उन के अभाव को बताना।

उक्त व्याख्यान के अप्रासंगिक होने से ही 'न सन्ति' के अध्याहार के बिना भी एकादश शब्द का 'एकेन अधिका दश न' इस व्युत्पत्ति द्वारा भगवान जिन में एकादश परीषहों के अभाव बताने में उक्त सूत्र का तात्पर्य है' -यह व्याख्यान भी तिरस्कृत हो जाता है। 'एकेनाधिका दश न' इस व्युत्पत्ति के अनुसार एक. दश. न इन तीन पदों का समास सम्भव न होने से उक्त अर्थ में 'एकादश' शब्द की सिद्धि भी नहीं हो सकती।

सर्वार्थसिद्धिकार ने उक्त तत्त्वार्थ सूत्र की दो प्रकार से व्याख्या की है। एक यह कि भगवान जिन में एकादश परीषह हैं क्योंकि उन में वेदनीय कर्म का अस्तित्व है। दूसरी व्याख्या 'न सन्ति' के अध्याहार से यह कि उन में एकादश परीषह नहीं है क्योंकि उन में मोह का अभाव है। ये दोनों प्रकार की व्याख्या महान् अनर्थ से ग्रस्त है क्योंकि वेदनीय कर्मरूप कारण के रहने से भगवान में यदि उपचार से एकादश परीषह होने की बात कही जायगी तो मोह के अस्तित्वमात्र से उपशम को प्राप्त वीतराग में भी उपचार से बाईस परीषह होने की बात भी कहनी होगी। जब कि ऐसा नहीं कहा गया है और भगवान जिन में मोह के अभाव से एकादश परीषहों के न होने में उक्त सूत्र का तात्पर्य नहीं है अतः यह दूसरी व्याख्या सम्भव नहीं है क्योंकि उक्त सूत्र में 'न सन्ति' का अध्याहार होने में कोई प्रमाण नहीं है।

यह भी कल्पना प्रमाणहीन है कि-भगवान में क्षुधा आदि परीषह तो हैं किन्तु उन में भोजन जनकतावच्छेदक जाति नहीं है। अतएव भगवान में भोजनकर्तृता नहीं होती। कहने

सयोगिन्यप्येकादशानामुपचारौचित्यम्' इति तु वैलक्ष्यभाषितम्, श्रेण्यामप्युपचारापत्तेः । 'शक्तिव्यक्तियोग्यताभ्यां श्रेण्यां नोपचार' इति चेत् ? अन्यत्रापि सुवचमेतत् कालविशेषादिसहकार्यवाप्त्यैव सयोगिन्यभिव्यक्तेरिति दिग् ।

यदपि–'न चातीन्द्रियस्य'....इत्याद्यभिहितम्, तदपि न चतुरचेतोहरम्, तृष्णाधानद्वारके सुखे दुःखे चेन्द्रियाणां तज्जन्यज्ञानस्य वा हेतुत्वेऽप्यन्यत्र तथाविधपरिणामादेव द्रव्य–क्षेत्रादिसंपत्तिलब्धविपाककर्मकृतात् सुख–दुःखोपपत्तेः । आहारसंज्ञा-रुची च न क्षुद्दुःख–भुक्तिसुखयोर्हेतू, किन्त्वार्तध्यानजन्यदुःख–तत्प्रतिकारसुखयोः अवमकोष्ठताक्षुद्वेदनीयोदयमतितदर्थोपयोगप्रभवचेष्टाभिलाषरूपार्तध्यानमय्याऽऽहारसंज्ञया क्षुद्दुःखाभिवृद्धौ भुक्त्यप्राप्तौ तद्दुःखवेगमसहमानानां वेदनावियोगप्रणिधानरूपार्तध्यानाभिवृद्ध्या क्रन्दनाद्यभिव्यज्यमानसदुःखजननात्, भुक्तिप्राप्तौ चेष्टाभिष्वङ्गेन

का आशय यह है कि क्षुधा आदि परीषह को क्षुत्परीषहत्वरूप से भोजनजनकता नहीं है किन्तु विजातीय क्षुत्परीषहत्वरूप से भोजन जनकता है और जो जाति क्षुत्परीषह में विद्यमान भोजन जनकता का अवच्छेदक है वह केवली भगवान में विद्यमान क्षुत्परीषह में नहीं है। अतएव उन्हें भूख नहीं लगती और वे भोजन नहीं करते।' -किन्तु इसप्रकार की कल्पना में कोई प्रमाण नहीं है। यदि यह कहा जाय कि अयोगी केवली व्यक्ति में एकादश परीषह उपचार से होने का मानना आवश्यक होने से सयोगी केवली में भी उपचार से ही एकादश परीषहों के अस्तित्व का कथन उचित है। अर्थात् केवल उपचार की दृष्टि से ही भगवान में एकादश परीषहों के होने की बात कही गयी है, न कि उस कथन के आधार पर उन में उन परीषहों के फल का होना भी मान्य है।' -तो यह कथन केवल लज्जामात्र मूलक है क्योंकि सयोगी में उक्त रीति से उपचार से एकादश परीषहों के अभिधान के औचित्य का समर्थन करने पर श्रेणी में भी उपचार से ही उक्त परीषहों के अभिधान की आपत्ति होगी। यदि यह कहा जाय कि-'शक्ति की अभिव्यक्ति और योग्यता दोनों का श्रेणि में सम्भव होने के कारण श्रेणी में एकादश परीषहों का उपचार नहीं होता' -तो यह बात सयोगी केवली के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है, क्योंकि कालविशेष आदि सहकारी के प्राप्त होने से ही सयोगी में भी शक्ति की अभिव्यक्ति होती है। अतः यदि श्रेणी में उक्त परीषहों के उपचार में शक्ति की अभिव्यक्ति बाधक है तो सयोगी में भी उक्त परीषहों के उपचार में बाधक हो सकती है।

[केवली अतीन्द्रिय होने पर भी सुख–दुःख का सम्भव]

केवली के सम्बन्ध में जो यह बात कही गयी कि 'वे अतीन्द्रिय होते हैं अतः उन्हें क्षुधा आदि से दुःख और उस की निवृत्ति से सुख नहीं हो सकता, क्योंकि ये दोनों इन्द्रिय अथवा तज्जन्य ज्ञान से साध्य हैं। जिन का केवली में अभाव है।' -यह कथन भी बुद्धिमान पुरुषों के चित्त को सन्तोष देने वाला नहीं है, क्योंकि इन्द्रिय और तन्मूलक ज्ञान उसी सुख और दुःख का कारण होता है जो तृष्णा द्वारा उत्पन्न होते हैं, किन्तु जिन भगवान में तृष्णा नहीं होती है। उन में सुख और दुःख का उदय तदनुकूल देह अथवा आत्मा के परिणाम से ही होता है। यह सुखप्रद और दुःखप्रद परिणाम ऐसे कर्मों के विपाक से होता है जो द्रव्य क्षेत्र आदि का सन्निधान होने पर सम्पन्न होता है। आहार संज्ञा और रुचि का अभाव भी केवली के दुःख और सुख में बाधक नहीं हो सकता क्योंकि वे दोनों क्षुधाजन्य दुःख और भोजन जन्य

मनसा सुखवेदनात् । न चेयं मध्यस्थेषु गतिः, अतिचारजनन्योराहारसंज्ञा-रुच्योस्तेष्वनुपपत्तेः । न हि विहितानुष्ठानेऽप्यतिचारो नाम । **एतेन** 'आहारसंज्ञां विना केवलिनो नाहारः, मैथुनसंज्ञां विनाऽब्रह्मेव' इति कुचोद्यमपास्तम्, महर्षीणामिव भगवतो विनाप्याहारसंज्ञामाहारोपपत्तेः, अन्यथा तेषामाहारसंज्ञयाऽऽहारवद् मैथुनसंज्ञयाऽब्रह्माप्यदुष्टं स्यादिति । यच्चोक्तम्–'औदारिकव्यपदेशस्तु भगवच्छरीरस्योदारत्वाद् न तु भुक्तेः' इति । तत्तु न दोषावहम्, औदारिकशरीरित्वे स्वकारणाधीनाया भुक्तेरप्रतिषेधाद्, व्यपदेशस्योदारत्वनिमित्तत्वेऽपि स्वकारणनिमित्तप्रकृतभुक्तिसिद्धेः ।

सुख के हेतु नहीं है, किन्तु आर्तध्यान से उत्पन्न दुःख और उस के प्रतिकार से होने वाले सुख के ही हेतु है। कोष्ठ की रिक्तता और क्षुद्वेदनीय कर्म का उदय, आहार की मति और उस के विषयभूत अर्थ के उपयोग से आहार संज्ञा का जन्म होता है। जिस में इस को प्राप्त करने की इच्छारूप आर्तध्यान की अधिकता होती है। इस आहार संज्ञा से क्षुधाजन्य दुःख की वृद्धि होती है और भोजन न मिलने पर मनुष्य इस दुःख के वेग को सहने में असमर्थ हो जाता है। उस स्थिति में उपस्थित वेदना की निवृत्ति के उपाय का चिन्तन रूप आर्तध्यान वृद्धिगत होता है जिस से मनुष्य को मानस दुःख होता है जिस की अभिव्यक्ति उस के क्षुधामूलक क्रन्दन आदि से होती है। ऐसे मनुष्य को भोजन प्राप्त हो जाने पर इष्ट के राग से मन में उत्साह हो जाता है और उत्साहित मन से उसे सुख की अनुभूति होती है। उक्त रीति से स्पष्ट है कि आहार संज्ञा और रुचि आर्तध्यानजन्य दुःख और उस के प्रतीकार से होनेवाले सुख के ही हेतु हैं, क्षुधाजन्य दुःख और भोजनसुख के हेतु नहीं है। दुःख और सुख के उदय के सम्बन्ध में जो बात आर्तध्यान के आधार पर बताई गई है, वह मध्यस्थ पुरुषों में नहीं होती है, क्योंकि उन में अतिचार यानी क्रन्दन कार्यभूतदुःखवेग और इष्ट राग से जन्य उत्साह युक्त मन से सुखानुभूति की जनक आहार संज्ञा और रुचि का अभाव होता है। केवली में आहार संज्ञा और रुचि नहीं होती। उन का भोजनग्रहण विहित का अनुष्ठान है और विहित के अनुष्ठान में अतिचार नहीं होता है।

'आहार संज्ञा के अभाव में केवली द्वारा आहारग्रहण उसी प्रकार अनुपपन्न है। जैसे मैथुनसंज्ञा के अभाव में ब्रह्मचर्य का भंग अनुपपन्न है।' यह कुतर्क भी अनायास निरस्त हो जाता है क्योंकि जैसे आहार संज्ञा के अभाव में भी छद्मस्थ महर्षि को आहार उपपन्न होता है उसीप्रकार आहारसंज्ञा के अभाव में केवली भगवान को भी आहार उपपन्न हो सकता है। यदि यह कहा जाय कि 'महर्षियों का आहार आहारसंज्ञा से ही होता है, अतः महर्षियों के दृष्टान्त से केवली के आहार का उपपादन शक्य नहीं है'-तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि यदि महर्षियों में आहार की उपपत्ति आहार संज्ञा से की जायगी, तो उन में मैथुनसंज्ञा से ब्रह्मचर्य का भंग भी निर्दोष मानना होगा। अतः यही उचित है कि महर्षियों के आहार को आहारसंज्ञा निरपेक्ष ही माना जाय और उसी दृष्टान्त से केवली में भी आहार संज्ञानिरपेक्ष आहार को स्वीकृति प्रदान किया जाय।

केवली के सम्बन्ध में जो यह बात कही गयी कि-'उन का शरीर औदारिक होने का जो व्यवहार होता है वह उन के शरीर की उदारता (अति स्वच्छता) के कारण होता है, न कि उन के भोजन के कारण होता है'-उस में किसी दोष की आपत्ति नहीं है अर्थात् उस आधार पर केवली के भोजनाभाव का आपादान नहीं किया जा सकता, क्योंकि भगवान का

यदपि–एकेन्द्रियादीनामयोगिपर्यन्तानामाहारिणां सूत्र उपदेशात्....इत्याद्युक्तम्–तदप्यसंगतम्, एकेन्द्रियादिसहचरितत्वनिरन्तराहारोपदेशमन्तरेणापि [बृ. संग्र. १८६] "[1]विग्गहगइमावण्ण"–इत्यादिसूत्रसंदर्भस्य केवलिभुक्तिप्रतिपादकस्यागमे सद्भावात् । न च तस्याऽप्रामाण्यम्, सर्वज्ञप्रणीतत्वेनाभ्युपगतसूत्रस्येव प्रामाण्योपपत्तेः । न च तत्प्रणीतागमैकवाक्यतया प्रतीयमानस्याप्यस्याऽतत्प्रणीतत्वम्, अन्यत्रापि तत्प्रसक्तेः । शरीरप्रायोग्यपुद्गलग्रहणमेवात्राहारत्वेनाभिमन्यमानस्य च भवतो विग्रहगत्यापन्नसमवहतकेवल्ययोगिसिद्धव्यतिरिक्ताशेषप्राणिगणे शरीरप्रायोग्यपुद्गलग्रहणमेवाहारशब्दवाच्यमिह सूत्रेऽभिप्रेतमित्यपूर्वं सामायिकशब्दार्थकल्पनकौशलम् ।

शरीर औदारिक होने पर भी क्षुद्वेदनीय कर्मोदयरूप कारण के उपस्थित होने पर भोजन का होना अनिवार्य है। उस का प्रतिषेध, भगवान औदारिक शरीरी होने के व्यवहार की प्रकारान्तर से उपपत्ति कर देने मात्र से नहीं हो सकता। औदारिक होने का व्यपदेश शरीर की उदारतारूप निमित्त से भी हो सकता है, उस में भोजन की अपेक्षा नहीं हो सकती, यह ठीक है किन्तु साथ ही केवली का भोजन भी उस के सहज कारण के सन्निधानरूप निमित्त से हो सकता है।

केवली के अनाहार के समर्थन में जो यह बात कही गई है कि "सूत्र में एकेन्द्रिय से लेकर अयोगीपर्यन्त आहारग्रहीताओं का उल्लेख होने से केवली को कवलाहार का ग्रहीता मानना सम्यक् सूत्र के अर्थ के अज्ञान का फल है क्योंकि सूत्र में एकेन्द्रिय आदि के साथ भगवान का उल्लेख किया गया है और निरन्तर आहार की बात कही गयी है। इस से स्पष्ट है कि भगवान को कवलाहारी बताने में सूत्र का तात्पर्य नहीं है अपितु शरीर की स्थिति के लिए अपेक्षित पुद्गलग्रहण रूप आहार का कर्ता बताने में है। ऐसा न मानने पर समुद्घात अवस्था में केवल तीन क्षण को छोड कर पूरे समय कवलाहार द्वारा ही भगवान में निरन्तर आहारी होने की आपत्ति होगी" यह बात ठीक नहीं है। बृहत्संग्रहणीसूत्र में कहा है- "विग्रहगतिवाले, समुद्घातकेवली, अयोगी और सिद्धों को छोड कर बाकी सब जीव आहारी होते हैं"- इस में एकेन्द्रिय आदि का सहचारी होने और निरन्तर आहारी होने की बात न कहकर भी स्पष्टरूप से केवली के भोजन का प्रतिपादन किया गया है। उस सूत्र को अप्रमाण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अन्य प्रामाणिक सूत्र के समान सर्वज्ञ द्वारा प्रणीत होने से इस सूत्र का भी प्रामाणिक होना निर्बाध है। यदि यह कहा जाय कि-'सर्वज्ञ द्वारा रचित आगम के साथ एकवाक्यतापन्न रूप में प्रतीति होने पर भी यह सूत्र सर्वज्ञप्रणीत नहीं है'-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि यह आपत्ति अन्य सूत्रों में भी इसीप्रकार प्रसक्त हो सकती है। दूसरी बात यह है कि यदि शरीरस्थिति के योग्य पुद्गलों के ग्रहण को ही भगवान का आहार बताने में उक्त सूत्र का तात्पर्य माना जायगा तो आप यह भी कह सकते हैं कि विग्रह गति को प्राप्त, समुद्घात गत केवली, अयोगी केवली और सिद्धात्मा इतने को छोड कर सभी प्राणियों को शरीरस्थितियोग्य पुद्गलों का ग्रहण रूप ही आहार उक्त सूत्र द्वारा विवक्षित है। यदि सूत्रार्थ का प्रतिपादन ऐसा किया जायगा तो यह सामायिक शब्द के अर्थ की कल्पना के एक अपूर्व कौशल का नमूना होगा।

---

१. विग्रहगतिमापन्ना ।

यदपि 'निरन्तराहारत्वं केवलिनस्तेनाहारेण समुद्घातक्षणत्रयमपहाय भवेत्' इत्युक्तम् तदप्ययुक्तम्, विशिष्टाहारस्य विशिष्टकारणप्रभवत्वात्, तस्य च प्रतिक्षणमसंभवात्; यस्तु पुद्गलादानलक्षणो लोमाद्याहारः, तस्य प्रतिक्षणं सद्भावेऽप्यदोषात्। यदपि 'यथासंभवमाहारव्यवस्थितेः केवलिनः कवलाहारः, अन्यथा शरीरस्थितेरभावात्' इत्यभिधानम् तदपि युक्तमेव। न हि देशोनपूर्वकोटिं यावद् विशिष्टाहारमन्तरेण विशिष्टौदारिकशरीरस्थितिः संभविनी। न च तच्छद्मस्थावस्थातः केवल्यवस्थायामात्यन्तिकं तच्छरीरस्य विजातीयत्वम्, येन प्रकृताहारविरहेऽपि तच्छरीरस्थितेरविरोधो भवेत्, ज्ञानाद्यतिशयेऽपि प्राक्तनसंहननाद्यधिष्ठितस्य तस्यैवाऽऽपातमनुवृत्तेः। अस्मदाद्यौदारिकशरीरविशिष्टस्थितेर्विशिष्टाहारनिमित्तत्वं च प्रत्यक्षाऽनुपलम्भप्रभवप्रमाणेन सर्वत्राधिगतम्, इति विशिष्टाहारमन्तरेण तत्स्थितेरन्यत्र सद्भावे क्वचिदपि तत्स्थितिस्तन्निमित्ता न भवेत्।

अथौदारिकशरीरस्थितित्वं न कवलाहारजन्यतावच्छेदकम्, एकेन्द्रियशरीरस्थितौ व्यभिचारात्;

[निरन्तर कवलाहार की आपत्ति का प्रतिकार]

जो यह कहा गया कि-'समुद्घात के तीन क्षण को छोड़कर पूरे समय में कवलाहार द्वारा भगवान में निरन्तर आहारग्रहीता होने की आपत्ति होगी।' -वह भी ठीक नहीं है क्योंकि विशिष्ट आहार विशिष्ट कारण होने पर ही उपादेय होता है। कवलाहार एक विशिष्ट आहार है। अतएव क्षुधारूप विशिष्ट कारण उपस्थित होने पर ही हो सकता है और वह कारण प्रतिक्षण सम्भव नहीं है। अत: प्रतिक्षण कवलाहार सम्भव न होने से उक्त आपत्ति नहीं हो सकती है। जो लोमग्राहक लोमाहार यानी पुद्गलग्रहणरूप आहार है उस के प्रतिक्षण होने पर भी किसी दोष की प्रसक्ति नहीं है। जो यह बात कही गयी कि यथासम्भव आहार की व्यवस्था होती है अत: केवली भगवान में भी कवलाहार मानना उचित है क्योंकि ऐसा न मानने पर उन के शरीर की भी स्थिति न हो सकेगी। -यह तो ठीक ही है क्योंकि किंचिद् न्यून पूर्व कोटि वर्ष की कालअवधि तक विशिष्ट आहार के बिना विशिष्ट औदारिक शरीर का अस्तित्व सम्भव नहीं है। छद्मस्थ अवस्था से केवलीअवस्था का शरीर अत्यन्त विजातीय नहीं होता जिस से प्रकृत आहार के अभाव में भी केवली के शरीर की स्थिति में कोई विरोध न हो। केवली अवस्था में ज्ञान आदि का अतिशय सम्पन्न हो जाने पर भी निर्वाण पर्यन्त शरीर में अवयवों की वही संघटना आदि विद्यमान होता है जो केवली अवस्था के पूर्व शरीर में होता है।

प्रत्यक्ष और अनुपलम्भ मूलक प्रमाण से सभी अवस्थाओं में यह सिद्ध है कि हम लोगों के औदारिक शरीर की विशिष्ट स्थिति विशिष्ट आहार से ही होती है। अत: केवली अवस्था में औदारिक शरीर की स्थिति यदि विशिष्ट आहार के बिना मानी जायगी तो किसी भी समय अर्थात् केवली से पूर्व अवस्था में भी औदारिक शरीर की स्थिति विशिष्टआहारमूलक न हो सकेगी।

[परमौदारिक शरीर की असिद्धि]

यदि यह कहा जाय कि-'औदारिकशरीरस्थितित्व कवलाहार का कार्यतावच्छेदक नहीं है, अर्थात् सभी औदारिकशरीरस्थिति के लिए कवलाहार की अपेक्षा नहीं है क्योंकि एकेन्द्रिय

नाप्यस्मदादिशरीरस्थितित्वम्, अस्मदादित्वस्याननुगतत्वात्, किन्तु विजातीयशरीरस्थितित्वम्; तच्च वैजात्यं केवलिशरीरे नास्ति, मोहक्षयेण रुधिरादिधातुरहितस्य मूत्र-पुरीषादिमलाधायिकवलाहारान-पेक्षस्य परमौदारिकशरीरस्यैव भावादिति चेत् ? न, केवलिशरीरस्य कवलाहारानपेक्षत्वसिद्धौ परमौ-दारिकत्वसिद्धिः, तत्सिद्धौ च कवलाहारानपेक्षत्वसिद्धिरित्यन्योन्याश्रयात् । न च मोहक्षयेण परमौदारिकत्वमप्युत्पादयितुं शक्यम्, भवोपष्टम्भकशरीरोपमर्देन शरीरान्तरोपग्रहे भवान्तरप्रसङ्गात् । अवस्थितशरीरस्यातिशयश्च न रुधिरादिधातुपष्टब्धमनुष्यशरीरत्वजात्युच्छेदेन संभवति । न ह्यतिशयि-तोऽपि पद्मरागो मुक्तामणी भवति ।

कथं चैवं पुद्गलविपाकिवज्रर्षभनाराचसंहननप्रकृतिविपाकोदयस्तत्र स्यात् ? अस्थि-पुद्गलेष्वेव

जीव के शरीर की स्थिति कवलाहार के विना भी होती है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि हम लोगों की शरीरस्थिति के लिए कवलाहार की अपेक्षा है क्योंकि "हम लोगों" का कोई अनुगत ऐसा अर्थ नहीं है जिस के आधार पर यह बात कही जा सके। क्योंकि हम जैसे लोगों में विभिन्न प्रकार के जीवों का समावेश है जिन के शरीर के लिए कवलाहार की अपेक्षा होती है। किन्तु यही कहना उचित होगा कि कवलाहार की अपेक्षा, विजातीय शरीर को होती है और उस शरीर का वैजात्य केवली के शरीर में नहीं होता, केवली का शरीर परमौदारिक होता है। मोह का क्षय होने से उस शरीर में रुधिर आदि धातुओं का अस्तित्व नहीं होता। अतएव उस में मूत्र-पुरीष आदि मल पैदा करने वाले कवलाहार की अपेक्षा नहीं होती।' -तो यह ठीक नहीं है क्योंकि 'केवली के शरीर में कवलाहार की अपेक्षा नहीं होती' यह बात सिद्ध हो जाने पर ही 'उस का शरीर परमौदारिक होता है' यह बात सिद्ध होगी और 'केवली का शरीर परमौदारिक होता है' यह सिद्ध हो जाने पर ही 'उस को कवलाहार की अपेक्षा नहीं होती' यह बात सिद्ध होगी। अत एव उक्त कथन अन्योन्याश्रय दोष से ग्रस्त है। मोह का क्षय हो जाने से केवली का शरीर परमौदारिक हो जाने की उपपत्ति भी नहीं की जा सकती, क्योंकि वर्तमान भव के निमित्तभूत शरीर को निमित्त मान कर ही विजातीय शरीर का अभ्युपगम किया जा सकता है और ऐसा होने पर केवली में भवान्तर की आपत्ति होगी जब कि केवली का भवान्तर सिद्धान्तविरुद्ध है। केवली के शरीर में अन्य शरीरों की अपेक्षा अतिशय की उपपत्ति भी इस रूप में मान्य नहीं हो सकती कि 'रुधिर आदि धातुओं से निर्मित होने वाले मनुष्यशरीर की जाति का इस में उच्छेद हो जाता है', क्योंकि ऐसा नहीं होता कि पद्मरागमणि पर्याप्त अतिशय से सम्पन्न होने पर भी अपनी सहज जाति पद्मरागत्व को छोडकर मुक्तामणि हो जाय। इसीलिये यह कहना कथमपि संगत नहीं हो सकता कि केवली का शरीर छद्मस्थ मनुष्य के शरीर की अपेक्षा अतिशय युक्त होने से मनुष्य शरीर के सहज स्वभाव को छोड देता हो। अत एव मनुष्य शरीर के लिए अपेक्षित कवला-हार की अपेक्षा केवलिशरीर में नहीं होने की बात असंगत है।

[संघयण नामकर्म का विपाकोदय कैसे घटेगा ?]

यह भी ज्ञातव्य है कि केवली के शरीर को यदि मनुष्य के रुधिरादि घटित शरीर से सर्वथा विजातीय माना जायगा तो उस में 'वज्र ऋषभ नाराचसंघयण' नामक पुद्गलविपाकी

तस्या विपाकदर्शनात् ''[1]संहयणमट्ठिणिचओ'' [कर्मग्रन्थे १-३८] इति वचनात्। न चास्थिपुद्गलेषु दृढतररचनाविशेष एव तत्प्रकृतिजन्य इति नियमो, न तु तेष्वेवेति वाच्यम्, दृढावयवशरीराणां देवानामपि तत्प्रसङ्गात्। किञ्च, मोहक्षयस्य तत्कार्यराग-द्वेषविलयद्वारा ज्ञानोत्पादकत्वमेव, न तु शरीरातिशायकत्वम्, नामकर्मातिशयादेव जात्यनुच्छेदेन प्रशस्तसंहननादिरूपशरीरातिशयोपपत्तेः। तथा चागमः—[आ. नि. ५७१]

''[2]संघयण-रूव-संठाण-वण्ण-गइ-सत्त-सार-ऊसासा।
एमाइणुत्तराइं हवंति णामोदया तस्स ॥ १ ॥''

न च नामातिशयस्य संहननाद्यतिशायकवज्जाठरानलनाशकत्वमपि क्वचिदुक्तं युक्तं वा, तत्कारणीभूततथाविधतैजसशरीरविघटनप्रसङ्गात्, लब्धीनां कारणघटन-विघटनद्वारैव कार्यघटन-विघटनयोस्तन्त्रत्वात्।

नामकर्म की प्रकृति का विपाकोदय कैसे सम्भव होगा, क्योंकि इस प्रकृति का विपाक अस्थिपुद्गलों में ही होता है, जैसा कि 'संहयणमट्ठिणिचओ-संघयण यानी हड्डीयों का संधारण' इस वचन द्वारा विदित है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि-''अस्थिपुद्गलों में जो विशेषप्रकार की दृढ रचना होती है वही इस प्रकृति से जन्य होती है यह नियम है, न कि यह नियम कि अस्थिपुद्गलों में ही इस कर्मप्रकृति का दृढ रचना के रूप में विपाक होता है''-क्योंकि ऐसा मानने पर देवताओं में भी उक्तप्रकार के प्रकृतिविपाक की आपत्ति होगी क्योंकि उन के शरीर के अवयव भी दृढ होते हैं।

जो यह बात कही गयी कि-'केवली के मोह का क्षय हो जाने से उस का शरीर छद्मस्थ के शरीर की अपेक्षा अतिशययुक्त हो जाता है।' - यह ठीक नहीं है क्योंकि मोह का क्षय मोह के कार्य राग और द्वेष की निवृत्ति के द्वारा ज्ञान का ही उत्पादक होता है, न कि शरीर के अतिशय का भी सम्पादक होता है। अवयवों के उत्तम गठनरूप शरीर के अतिशय की सिद्धि नामकर्म के अतिशय से ही सम्पन्न होती है। उस के लिए पूर्व शरीर के जाति का उच्छेद आवश्यक नहीं होता। जैसा कि आवश्यकनिर्युक्ति में-

संघयण- रूव-संठाण-वण्ण-गइ-सत्त-सार-ऊसासा। एमाइणुत्तराइं हवंति णामोदया तस्स ॥१॥

इस गाथा में स्पष्ट कहा गया है कि संहनन, रूप संस्थान, वर्ण, गति, सत्त्व, सार, श्वासोच्छ्वास आदि शरीर धर्म, नामकर्म के प्रभाव से केवलि के लोकोत्तर होते हैं। नामकर्म का अतिशय संहनन आदि के अतिशय का सम्पादक होता है यह बात जैसे कही गयी है उसप्रकार यह बात कहीं नहीं कही गयी कि नामकर्म के अतिशय से जठरानल का नाश भी होता है। और यह युक्तिसंगत भी नहीं है क्योंकि यदि जठरानल का नाश माना जायगा तो उस के हेतुभूत तैजस शरीर के भी विघटन की आपत्ति होगी। अतः यह सर्वमान्य है कि लब्धि का अतिशय कारण के संघटन और विघटन सम्पन्न करके ही कार्य के संघटन और विघटन का सम्पादक होता है।

---

१. संहननमस्थिनिचयः।

२. संहनन-रूप-संस्थान-वर्ण-गति-सत्त्व-सारोच्छ्वासाः। एवमाद्यनुत्तराणि भवन्ति नामोदयात् तस्य ॥ १ ॥

किञ्च, अत्यन्तवैजात्ये भगवच्छरीरस्य षष्ठशरीरपरिकल्पनाप्रसंगः, धातुमच्छरीरस्थिति-वृद्ध्योः क्षुज्जनितकार्श्यापनायकधातूपचयादिद्वारा, कवलाहारस्य, स्थूलौदारिकस्थिति-वृद्धिसामान्ये स्थूलाहारस्य वा हेतुत्वात् । अवोचाम च– [अ० म० परीक्षा ११६]

"ओरालियत्तणेणं तह परमोरालिअं पि केवलिणो ।
कवलाहारावेक्खं ठिइं च वुड्ढिं च पाउणइ ॥ १ ॥"

तस्माद् धूमसामान्ये वह्नेरिव विशिष्टौदारिकस्थितिसामान्ये कवलाहारस्य हेतुत्वात् तदभावे चिरतरकाला भगवच्छरीरस्थितिर्न संभवतीति सिद्धम् ।

सर्वज्ञतादिकं तु घातिकर्मक्षयादुपपद्यते । न च प्रकृताहारेण, तत्कारणेन, तद्व्यापकेन वा सर्वज्ञतादेर्विरोधः, आहारस्य साक्षात् ज्ञानादिघातकत्वेन वाऽविरोधात्; तत्कारणस्य क्षुद्वेदनीयो-

[केवलिदेह में अत्यन्त वैजात्यादि कल्पनाओं का निरसन]

यह भी ध्यान देने योग्य है कि भगवान के शरीर को यदि अन्य सभी शरीरों की अपेक्षा अत्यन्त विजातीय माना जायगा तो छट्ठे प्रकार के भी शरीर की कल्पना करनी होगी, क्योंकि धातुयुक्त शरीर की स्थिति और वृद्धि के प्रति कवलाहार क्षुधाजनित कृशता आदि को दूर करने वाली धातुवृद्धि के द्वारा कारण होता है। अथवा सामान्यतः स्थूलऔदारिक शरीर की स्थिति और वृद्धि में स्थूल आहार कारण होता है। जैसा कि हमने बताया है कि 'केवली का परमौदारिक भी शरीर, औदारिक होने के कारण स्थिति और वृद्धि के लिए कवलाहार की अपेक्षा करता है।' इसलिए जैसे धूम सामान्य में अग्नि कारण होने से अग्नि के बिना धूम नहीं होता उसीप्रकार विशिष्ट औदारिक शरीर की सामान्यतः स्थिति मात्र में कवलाहार कारण होने से कवलाहार के अभाव में अधिक काल तक भगवान के शरीर की स्थिति नहीं हो सकती–यह निर्विवाद सिद्ध है।

[कवलाहार सर्वज्ञतादि का विरोधी नहीं]

सर्वज्ञता आदि जो भगवान में सिद्ध होती हैं वह घातीकर्मों के क्षय से होती है। प्रकृतकवलाहार, उस के कारण अथवा उस के किसी व्यापक अन्य धर्म के साथ सर्वज्ञता आदि का कोई विरोध नहीं है क्योंकि आहार न तो सर्वज्ञता का साक्षात् विरोधी है और न ज्ञान आदि के घातक होने द्वारा सर्वज्ञता का विरोधी है। आहार का कारण क्षुद्वेदनीय के उदय आदि का भी सर्वज्ञता आदि के साथ कोई विरोध नहीं है। मोह आदि में आहार की कारणता नहीं है। अत एव केवली में मोह आदि न होने से आहार न होने की बात नहीं की जा सकती। चिरकाल तक औदारिक शरीर की स्थिति जो कि आहार का कार्य है उस का भी सर्वज्ञता आदि के साथ विरोध नहीं है। प्रमाद आहार का कार्य नहीं है किन्तु योग का दुरुपयोग ही उस का कारण है और वह रागद्वेषमूलक है। इसलिए यह भी नहीं कहा जा सकता कि केवली के आहार मानने पर उस में प्रमाद होगा और उस से उस की सर्वज्ञता आदि का व्याघात होगा। यतः सर्वज्ञता आदि के साथ आहार का कोई विरोध नहीं है। इसीलिए प्रभाचन्द्र का

१. औदारिकत्वेन तथा-परमौदारिकमपि केवलिनः। कवलाहारापेक्षं स्थितिं च वृद्धिं च प्रकरोति ॥ १ ॥

दयादेरतथात्वात्, मोहादेश्च तत्कारणत्वनिरासात्; तत्कार्यस्यापि चिरकालमाद्यौदारिकशरीरस्थितेरतथात्वात् । प्रमादश्च न तत्कार्यम्, योगदुष्प्रणिधानस्यैव तन्निमित्तत्वात्, तस्य च राग-द्वेषकृतत्वात् । एतेन 'आहारकथयैव चेद् यतीनां प्रमत्तत्वम्, तर्हि कथं नाहारं कुर्वतां भगवतां तदापद्यते ?' इति प्रभाचन्द्रोक्तं निरस्तम्, देशकथावदाहारकथया रागादिपरिणामकृतया दोषोपपत्तावपि देशवदाहारस्योदासीनस्यानपराधात्, अन्यथाऽऽहारकथयेवाहारेणापि सुसंयतानामतीचारप्रसङ्गात् ।

निद्रापि न तत्कार्यम्, दर्शनावरणप्रकृतिजन्यत्वात् तस्याः । न च ध्यान-तपोव्याघातौ तत्कार्यौ, शैलेशीकरणप्रारम्भात् प्राग्ध्यानानभ्युपगमात्; अभ्युपगमे वा तद्ध्यानस्य शाश्वतत्वात्, अन्यथा गच्छतोऽप्येतद्विघ्नप्रसङ्गात्, विशिष्टतपसोऽपि कायक्लेशकरस्य भगवत्यसिद्धेः, "अणुत्तरे तवे" इति सूत्रस्य शैलेश्यवस्थाभाविध्यानरूपस्याभ्यन्तरतपसः पारम्यावेदकत्वात् । नापि रासनमतिज्ञानं तत्कार्यम्, तस्य क्षयोपशमावस्थाविशिष्टकर्मपुद्गलनिमित्तकत्वात्; अन्यथा सुरभिकीर्णजानुदघ्न-

---

यह कहना भी निरस्त हो जाता है कि 'यदि आहार की चर्चा से ही यतियों में प्रमाद होना सम्भव है तो आहार करने वाले भगवान केवली को प्रमाद क्यों नहीं होता ?' प्रभाचन्द्र के इस कथन से यह प्रतीत होता है कि 'प्रमाद आहार का कार्य है अत एव भगवान को आहारी मानने पर उन में प्रमाद की आपत्ति अनिवार्य है'–किन्तु यह ठीक नहीं है क्योंकि राग आदि के परिणाम से जो आहार की चर्चा होती है उस से देश चर्चा के समान प्रमाद दोष सम्भव होने पर भी रागादि के परिणाम से मुक्त उदासीन आहार से उदासीन देश के समान ही प्रमाद के उदयरूप अपराध का अस्तित्व नहीं माना जा सकता। यदि केवल आहार कथा से ही यतियों में अतिचार माना जायगा तो सुसंयत यतियों में भी आहार से अतिचार की आपत्ति होगी ही।

[निद्रादि दोषापादन का निरसन]

निद्रा भी आहार का कार्य नहीं है किन्तु वह दर्शनावरण प्रकृति का कार्य है। अत एव आहार से निद्रा की सम्भावना कर केवली में सर्वज्ञता आदि के व्याघात का आपादान नहीं किया जा सकता। ध्यान और तप का व्याघात भी आहार का कार्य नहीं है जिस से यह कहा जा सके कि 'भगवान में आहार मानने पर उन के ध्यान और तप का व्याघात होगा;' क्योंकि शैलेशी अवस्था के प्रारम्भ होने के पूर्व में भगवान में ध्यान का अभाव हो जाता है और यदि उस अवस्था में भी ध्यान माना जायगा तो वह शाश्वत होने से उस ध्यान के व्याघात की शंका ही नहीं की जा सकती। अन्यथा अनाहारवादी के मत में भी भगवान गतिशील होने की दशा में ध्यानभंग की आपत्ति होगी। शारीरिक क्लेश का जनक विशिष्ट कोटि का तप भी केवली भगवान् में नहीं माना जाता, अत एव आहार से उन के तप में भी व्याघात की शंका करना उचित नहीं है। 'अणुत्तरे तवे=अनुत्तरं तपः' इस सूत्र में शैलेशी अवस्था में होने वाले ध्यानरूप आभ्यन्तर तप का उत्कर्ष बताया गया है, अतः उस के द्वारा भगवान में कायक्लेशजनक तप होने की कल्पना नहीं की जा सकती।

---

१. अनुत्तरं तपः ।

बहलकुसुमपरिमलादपि घ्राणेन्द्रियोद्भवमतिज्ञानप्रसङ्गात् । नापीर्यापथिकी क्रिया, गमनादिनापि तत्प्रसङ्गात् । नापि परोपकारहानिः, तृतीययाममुहूर्तमात्र एव भगवतां भुक्तेः शेषमशेषकालमुपकारावसरात् । नापि व्याधिसमुत्पत्तिः, परिज्ञाय हितमिताहाराभ्यवहारात् । नापि पुरीषादिजुगुप्सा, स्वस्य निर्दग्धमोहबीजतयैव तदनुत्पत्तेः, अन्येषां तु तदभावे मनुजा-ऽमरेन्द्ररमणीसहस्रसंकुलायां सभायामनंशुके भगवत्यासीनेऽपि तत्प्रसङ्गात्; सातिशयत्वपरिहारस्य चोभयत्र तुल्यत्वात् । सामान्यकेवलिभिस्तु विविक्तदेशे तत्करणे दोषाभावात् । कथं चैतदाहारेऽपि निहाराभावमप्युपगच्छताऽऽगमबाधेनापादयितुं शक्यम् ? "[1]तित्थयरा तप्पियरो०" इत्यादिवचनात् । न च तद्व्यापकेनापि सातवेदनीयोदीरणादिना विरोधः, तस्य प्रमादकृतत्वात् वाग्योगव्यापारमात्रेण तत्प्रसङ्गे, उपदेशादिनापि तत्प्रसङ्गादिति न किमप्यनुपपन्नम् ।

[मतिज्ञानादि के आपादन का निरसन]

रसनेन्द्रियजन्य मतिज्ञान भी आहार का कार्य नहीं है किन्तु क्षयोपशम भाव विशिष्ट कर्मपुद्गल का कार्य है। यदि रसनेन्द्रिय से होने वाले मतिज्ञान को क्षयोपशम भाव वाले कर्मपुद्गल से जन्य न मानकर केवल विषयेन्द्रिय सम्पर्कजन्य ही माना जायगा तो देवता द्वारा पैर से जानु तक बिखेरे हुये प्रचुर पुष्पगन्ध से भी घ्राणेन्द्रियजन्य मतिज्ञान की आपत्ति होगी। ईर्यापथिकीक्रिया भी आहार का कार्य नहीं है, जिस से उस का केवली में आपादन किया जा सके, क्योंकि आहार से उस की उत्पत्ति मानने पर अनाहारवादी के मत में गमनादि से भी उस की आपत्ति होगी। परोपकार की हानि भी आहार का कार्य नहीं है, क्योंकि भगवान का आहार केवल तृतीयप्रहर के मुहूर्तमात्र में ही होता है। अतः उस से अतिरिक्त पूरे समय में उपकार का अवसर रहता है। रोगोत्पत्ति भी आहार से सम्भव नहीं है क्योंकि भगवान ज्ञानपूर्वक हित और परिमित पथ्य आहार को ग्रहण करते हैं।

[आहार क्रिया से जुगुप्सादि दोषों का निरसन]

भगवान को आहारी मानने पर आहारजन्य पुरीष आदि से घृणा की भी सम्भावना नहीं की जा सकती क्योंकि भगवान को उक्त घृणा उन के मोहबीज दग्ध हो जाने के कारण नहीं प्रसक्त होगी। अन्य जनों को यदि घृणा होने की आपत्ति की जायगी तो अनाहारवाद में भी भगवान निर्वस्त्र होने से जब मनुष्यों और देवताओं की सहस्रों रमणियों से भरी सभा में बैठेंगे तो उन की नग्नता के कारण उन के प्रति उन सहस्रों नारियों के मन में भी घृणा की आपत्ति होगी। और यदि भगवान् के सातिशय होने के कारण उक्त आपत्ति का परिहार किया जायगा तो यह परिहार अनाहारवाद और आहारवाद दोनों में समान रूप से सम्भव होगा। फलतः भगवान के सातिशय होने के कारण आहार जनित पुरीष आदि के आधार पर उन के प्रति किसी के मन में घृणा की आपत्ति नहीं होगी। हाँ, जो सामान्य केवली हैं- अतिशय सम्पन्न नहीं हैं उन के सम्बन्ध में उक्त प्रकार की आपत्ति का उद्भावन सम्भव है किन्तु यह दोष उन के सम्बन्ध में भी नहीं होगा क्योंकि वे किसी निर्जन दूर देश में पुरीष आदि का त्याग करते हैं।

१. तीर्थंकरास्तत्पितरः । [हलधर-चक्की य वासुदेवा य । मणुआण भोगभूमी आहारो, णत्थि णीहारो ॥]

यदपि 'श्रूयते च प्रकृताहारमन्तरेणापि'....[१९८-६] इत्याद्युक्तम्, **तदप्यपर्यालोचिताभिधानम्**, प्रथमतीर्थंकरप्रभृतीनां निराहारकालमानोक्तिप्रामाण्ये तदियत्तानियमस्यापि तत एव सिद्धेः, तदधिकनिराहारतच्छरीरस्थितेः सूत्रे निषेधात् निरशनकालस्य तावत एवोत्कृष्टताप्रतिपादनात् "[1]संवच्छरमुसभजिणो" [उ. माला-३] इत्यादिवचनप्रामाण्यात् । इत्थं च 'निर्निमित्तं सूत्रभेदकरणम्' [१९८-८] इति परास्तम्, तच्छरीरस्य चिरतरकालस्थितेरेव सूत्रभेदकरणनिमित्तत्वात्, प्रकृताहारमन्तरेण तत्स्थितेरसंभवस्य प्रतिपादनात्, सामान्यसूत्रस्याप्यन्यथानुपपत्त्या यथासंभवन्यायेन विशेषबोधकत्वात् । भूयांसि च प्रकृताहारप्रतिपादकानि केवलिनः सूत्राण्यागम उपलभ्यन्ते, प्रतिनियतकालप्रकृताहारनिषेधकानि च; यथा वर्धमानस्य भगवतो **व्याख्याप्रज्ञप्त्यादौ** विकटभोजित्वाद्यभिधायकानि, यथा च प्रथमतीर्थकृत एव चतुर्दशभक्तनिषेधेनाष्टापदनगे दशसहस्रकेवलिपरिवृतस्य निर्वाणगतिप्रतिपादनादिसूत्राणीति न सूत्रभेदकल्पनादोषोऽपि ।

दूसरी बात यह है कि जो आगमबाह्यव्यक्ति यानी दिगम्बर वर्ग तित्थयरा मायपियरो० अनुसार इत्यादि गाथा के तीर्थंकर, उन के माता-पिता, बलदेव, चक्रवर्ती, वासुदेव और युगलिक मनुष्यों को सिर्फ आहार ही मानते हैं और नीहार का निषेध करते हैं-वे केवलिभुक्ति में नीहार का आपादन कैसे कर सकते हैं?! यदि कहें कि- आहार से सातवेदनीय की उदीरणा होती है। अतः वह आहार का व्यापक है। उस व्यापक से सर्वज्ञता आदि का विरोध होगा। -तो यह ठीक नहीं क्योंकि उक्त उदीरणा प्रमाद का कार्य है, केवल आहार का कार्य नहीं है। यदि काययोग का व्यापार मात्र होने के कारण आहार से उक्त आपत्ति होगी तो उपदेश आदि से भी उस की आपत्ति हो सकती है क्योंकि वह भी काययोग का ही एक व्यापार है। उक्त समस्त विचारों से यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि भगवान को आहारी मानने में कोई आपत्ति या अनुपपत्ति नहीं है।

[निराहार कालस्थिति सूचक सूत्र से ही आहार सिद्धि]

यह सब जो कहा गया था कि [पृ. १९८ में] 'प्रकृत आहार के विना भी भगवान के औदारिक शरीर की स्थिति चिरकाल तक रह सकती है। यह प्रथम तीर्थंकर आदि के विषय में सुना जाता है।' यह कथन भी अविवेकपूर्ण है क्योंकि प्रथम तीर्थंकर आदि के निराहार कालमान सूचक जो प्रमाण कहा गया है उस कालमान बोधक प्रमाण से ही उस की इयत्ता का नियम भी सिद्ध हो जाता है। अतः उस नियतकाल (४०० दिन) से अधिक काल तक निराहार होने और आहार के विना शरीर की स्थिति होने का भी निषेध उक्त सूत्र से ही अवगत हो जायगा, क्योंकि भोजनाभाव के उतने ही काल की उत्कृष्टता का सूत्र में प्रतिपादन मान्य है। यतः उपदेशमाला का यह वचन है कि "संवच्छरमुसभजिणो- संवत्सरं वृषभजिनः" इस से सिद्ध है कि एक वर्ष तक ही ऋषभदेव का निराहार कालमान है इसलिए यह कहना कि-'प्रकृत विषय से सम्बद्ध सूत्र द्वारा निराहार और निराहार काल की इयत्ता दोनों का प्रतिपादन मानने में एक ही सूत्र में अर्थभेद से सूत्रभेद की भी आपत्ति होगी। जिस का कि कोई उचित निमित्त नहीं है' यह भी परास्त हो जाता है क्योंकि केवली के शरीर की चिरकाल तक स्थिति का प्रतिपादन

---

१. "छम्मासा वद्धमाणजिणचंदो । इअ विहरिआ निरसणा, जइज्ज एओवमाणेणं ॥" इति शेषः ।

यदपि 'न चातिशयदर्शनात्' [१९८-९] इत्याद्युक्तम्; तदपि न, निराहारौदारिकशरीरचिरतरस्थितेरदृष्टायाः कल्पने सयोगात्यन्तावस्थानस्याप्यतिशयेन प्रसङ्गापादने दोषाभावात्, बाधकानुमानादेश्चोभयत्र सत्त्वात्। एतेन यदुच्यते 'सुनिश्चितासम्भवद्बाधकप्रमाणत्वादकवलभोजित्वं भगवतः सिध्यति' इति; तदपि प्रत्युक्तम्, एतस्य प्रामाण्येऽतन्त्रत्वाच्च, बाधकप्रमाणाभावस्यान्यतः प्रमाणाद् निश्चये तत्राप्येतन्निश्चयार्थं प्रमाणान्तरापेक्षायामनवस्थाप्रसङ्गात्; बाधानुपलम्भात् तन्निश्चयस्य चाशक्यत्वात्, उत्पत्स्यमानबाधकेऽपि प्राग्बाधानुपलब्धिसम्भवात्। न चानिश्चितलक्षणं प्रमाणं प्रमेयव्यवस्थानिबन्धनम्, ज्ञानकरणानां प्रामाण्यनिश्चयापेक्षत्वात्, अप्रामाण्यज्ञानास्कन्दितधूमादिपरामर्शाद् वह्न्यनुमित्य-

---

करना ही सूत्र में भेदकरण का निमित्त है। उक्त सूत्र में ही प्रकृतआहार के अभाव में शरीर की स्थिति को असम्भव बताया गया है। सामान्यसूत्र भी अन्यथा उपपन्न न होने की दशा में यथासम्भवन्याय से विशेष अर्थ का बोधक माना जाता है। आगम में केवली के प्रकृत आहार का प्रतिपादन करने वाले बहुत से सूत्र आगम में उपलब्ध होते हैं। साथ ही एक नियत काल तक प्रकृत आहार के निषेधक सूत्र भी उपलब्ध होते हैं। जैसे–'व्याख्याप्रज्ञप्ति' आदि सूत्रों में भगवान वर्धमान को विकटभोजी बताने वाले सूत्र एवं अष्टापद पर्वत के उपर दश हजार केवली पुरुषों के मध्य में प्रथम तीर्थंकर के चौदह टंक भोजन के निषेध के साथ निर्वाणगति का प्रतिपादन करने वाले सूत्र। तो इसप्रकार जब भगवान के आहार और एक नियत समय तक निराहार का प्रतिपादन करने वाले भिन्न-भिन्न सूत्र उपलब्ध हैं –तो एक ही सूत्र से उक्त दोनों बातों का प्रतिपादन करने के लिए एक ही सूत्र में भेद की कल्पना का दोष भी नहीं है।

[सयोगिकेवली की चिरतर अमर्यादित स्थिति की दिगम्बरपक्ष में आपत्ति]

जो यह सब कहा गया कि [पृ.१९८ में] भगवान में अतिशय के दर्शन से जैसे समग्र दोषावरणों की हानि होने से आत्मा के अत्यन्त शुद्ध स्वभाव की प्रतिपत्ति होती है; उसीप्रकार प्रकृत आहार के अभाव में भी उन के औदारिक शरीर की आत्यन्तिक स्थिति भी सिद्ध हो सकती है और ऐसा मानने पर "अशरीरा जीवघणा" इत्यादि आगम के विरोध की आशंका नहीं की जा सकती' -ठीक नहीं है क्योंकि बिना प्रकृत आहार के औदारिक शरीर की चिरस्थिति नहीं देखी गयी है। फिर भी यदि उस की कल्पना की जायगी तो सयोगि केवली व्यक्ति के भी अतिशय के आधार पर अत्यन्त अवस्थान की आपत्ति के उद्भावन में कोई दोष नहीं होगा। यदि इस आपत्ति के विरुद्ध कोई अनुमान इसप्रकार का प्रस्तुत हो कि विवादास्पद सयोगी केवली व्यक्ति का अवस्थान आत्यन्तिक नहीं होता; जैसे-अतिशयहीन सयोगी केवली का अवस्थान —तो इसप्रकार का अनुमान निराहार शरीर आत्यन्तिक अवस्थिति के विरोध में भी प्रस्तुत किया जा सकता है। जैसे-निराहार शरीर की अवस्थिति आत्यन्तिक नहीं होती क्योंकि किसी भी औदारिक शरीर की आत्यन्तिक स्थिति उपलब्ध नहीं है। फलतः अतिशय के आधार पर आहार के बिना केवली के औदारिक शरीर की आत्यन्तिक स्थिति का समर्थन नहीं किया जा सकता। यह जो कहा गया कि-आहार के समर्थन में कोई सुनिश्चित बाधक प्रमाण न होने से भगवान की निराहारता सिद्ध होती है यह भी उक्त कारण से ठीक नहीं है और बाधकप्रमाण का अभाव भगवान की निराहारता के साधन को प्रमाणभूत बनाने में अशक्त भी है क्योंकि बाधक प्रमाणाभाव का किसी अन्य प्रमाण से निश्चय मानने पर उस अन्य

नुत्पत्तिदर्शनात् । संवादादसंभवद्बाधकप्रमाणत्वनिश्चये च संवादित्वमेव तन्त्रमस्तु । तच्च संवादित्वमतीन्द्रियार्थविषयस्यागमस्याप्तप्रणीतत्वाद् निश्चीयते, तत्प्रणीतत्वनिश्चयश्चागमैकवाक्यतया व्यवस्थितस्य केवलिभुक्तिप्रतिपादकसूत्रसमूहस्य सिद्ध एव । इति निर्बाधागमादपि केवलिभुक्तिसिद्धिरिति सर्वमवदातम् ।

तेन सिद्धमेतत्–कवलाहारित्वेऽपि घातिकर्माकलङ्कितेन भगवताऽभिव्यक्तादस्माकमागमाद् धर्माऽधर्मव्यवस्थेति ।

दिगम्बर ! परस्परं मतविरोधजं मत्सरं निरस्य हृदि भाव्यतां यदिदमुच्यते तत्त्वतः ।
स्थिता परिणतिर्यथाक्रममघातिनां कर्मणां न किं कवलभोजिनं गमयति त्रिलोकीगुरुम् ? ॥१॥

यस्यासन् गुरवोऽत्र **जीतविजयाः** प्राज्ञाः प्रकृष्टाशया
भ्राजन्ते सनया **नयादिविजयप्राज्ञाश्च** विद्याप्रदाः ।
प्रेम्णां यस्य च सद्म **पद्मविजयो** जातः सुधीः सोदरः
तेन **न्यायविशारदेन** रचितस्तर्कोऽयमभ्यस्यताम् ॥ २ ॥

इति श्रीपण्डितश्रीपद्मविजयसोदरन्यायविशारदपण्डितयशोविजयविरचितायां
स्याद्वादकल्पलताभिधानायां शास्त्रवार्तासमुच्चयटीकायां दशमः स्तबकः ।

प्रमाण में भी प्रामाण्य के निश्चय के लिए अन्य प्रमाण की अपेक्षा होने पर अनवस्था की प्रसक्ति होगी। यदि बाध के अनुपलम्भ से बाधाभाव का निश्चय किया जायगा तो यह भी शक्य नहीं हो सकेगा क्योंकि जिस का बाध भविष्य में उत्पन्न होने वाला है, उस की उत्पत्ति के पूर्व उस के भी बाध की अनुपलब्धि है किन्तु एतावता उस का बाधाभाव नहीं सिद्ध होता। जब तक प्रमाण का प्रामाण्य निश्चित न हो जाय तब तक उस से प्रमेय की सिद्धि नहीं हो सकती क्योंकि जो ज्ञात होकर करण होते हैं उन में करणता की उपपत्ति प्रामाण्यनिश्चय होने पर ही होती है। धूम आदि के अप्रामाण्यज्ञान से आस्कन्दित परामर्श से अग्नि के अनुमिति की उपपत्ति नहीं की जा सकती। और बाधकप्रमाण की असंभाव्यता का निश्चय जब संवादी प्रमाणान्तर के समर्थन से किया जायगा तब बाधकप्रमाण के अभाव को प्रामाण्य का प्रयोजक न कह कर सम्वादी होने को ही प्रामाण्य का प्रयोजक कहना उचित होगा और यह संवादित्व अतीन्द्रिय अर्थ के प्रतिपादक आगम में आप्तप्रणीत होने के आधार पर निश्चित हो सकता है और आप्तप्रणीतत्व का निश्चय आगम के साथ एकवाक्यतापन्न-उस सूत्रसमूह में भी होगा जो केवली के भोजन का प्रतिपादक है। इसप्रकार निर्बाध आगम से भी केवली के भोजन की सिद्धि निर्विवाद है।

अतः यह पूर्ण रूप से सिद्ध है कि भगवान के कवलाहारी होने पर भी उन में घातीकर्मों का कोई कलङ्क नहीं होता है, अत एव उन में सर्वज्ञता का आविर्भाव होने से अतीन्द्रिय अर्थ के प्रतिपादक आगम को प्रकट करते हैं और उसी से धर्म-अधर्म की व्यवस्था होती है।

[सर्वज्ञ–कवलाहार चर्चा का उपसंहार]

उक्त समग्र विचार का उपसंहार करते हुए ग्रन्थकारने दिगम्बरों को यह शुभ परामर्श दिया है कि वे पारस्परिक मतभेद से उत्पन्न ईर्ष्या भाव का त्याग कर अपने हृदय पर हाथ

रख कर इस तात्त्विक उक्ति पर विचार करें कि क्या अघातीकर्मों की क्रमिक परिणति द्वारा आहारग्राही त्रिलोकीगुरु की उपपत्ति नहीं होती ?।-निश्चय ही ईर्ष्यारहित होकर उक्त विचार करने पर दिगम्बर इस निष्कर्ष को स्वीकार करने के लिए बाध्य होंगे कि त्रिलोकीगुरु केवली भगवान का आहारी होना युक्ति और आगम उभय से सम्मत है। उपसंहार के अन्तिम पद्य में ग्रन्थकार ने केवली भगवान के आहार के सम्बन्ध में प्रस्तुत विचारों के सन्दर्भ में निर्णय प्राप्त करने के इच्छुक जनों से अनुरोध किया है कि वे इस सम्बन्ध में उन के द्वारा प्रस्तुत तर्कों को हृदयङ्गम करने का अभ्यास करें। ये तर्क कई कारणों से ग्राह्य हैं, जैसे-इन तर्कों को प्रस्तुत करने वाला व्यक्ति स्वयं न्यायविशारद है, उन के परम गुरु जीतविजय, अत्यन्तप्राज्ञ और उदाराशय रहे। उन के गुरु एवं विद्या दाता नयविजय भी बडे बुद्धिमान और नयनिपुण थे तथा उन के सहोदर भ्राता परमप्रेमास्पद पद्मविजय भी बडे बुद्धिमान पुरुष थे। फिर जिस व्यक्ति ने स्वयं न्याय शास्त्र में उच्च कोटि का पाण्डित्य प्राप्त किया है और जिस के मन्त्रदाता और विद्यादाता, गुरु और भाई आदि उत्कृष्ट विद्वान रहे हों जिस का जीवन विद्या के ऐसे वातावरण में पनपा हो उन के तर्क का अकाट्य और उत्कृष्ट होना स्वाभाविक है।

दशम स्तवक सम्पूर्ण

श्री शंखेश्वरपार्श्वनाथाय नमः

हिन्दीविवेचनविभूषितस्याद्वादकल्पलताव्याख्यालंकृत

शास्त्रवार्त्तासमुच्चय

[स्तवक-११]

[व्याख्याकारमंगलाचरणम्]

अपापायामायानुसृतमतिरभ्येत्य सदनं, क्षमाया निर्मायापह्नुतमदमायान् गणभृतः ।
सभायामायातान् य इह जनताया मुदमदादपायात् पायाद् वो जिनवृषभवीरः स सततम् ॥१॥

प्रत्यूहापोहमन्त्रः सकलजनवशीकारकृत् सिद्धविद्यो
दुर्नीतिव्याधिदिव्यौषधमधमजनव्यालपारीन्द्रनादः ।
अज्ञानध्वान्तधारारविकिरणभरो यस्य नामार्थसिद्धि
दधे विश्वस्य शश्वत् स भुवि विजयतामाश्वसेनिर्जिनेन्द्रः ॥ २ ॥

[व्याख्याकारकृत मंगलाचरण]

जिनों में वृषभ (=श्रेष्ठ) ऐसे वे वीर प्रभु आपत्ति से निरन्तर हमारा रक्षण करते रहो, जो क्षमा के मन्दिर हैं, जिन्होंने लाभबुद्धि के अनुसार (अर्थात् 'वहाँ जाने से लाभ है' ऐसे निर्मल ज्ञान से) अपापानगरी में आ कर, सभा में आये हुए गणधरों (इन्द्रभूति वगैरह ग्यारह ब्राह्मण पण्डितों) को गर्व और माया से मुक्त बना कर लोगों को हर्ष उपजाया था ॥१॥

इस श्लोक में यह घटना सूचित है कि ऋजुवालिका नदी तट पर जब वीर भगवान को कैवल्यज्ञान की प्राप्ति हुयी उस वक्त अपापानगरी में गौतम गोत्र वाले इन्द्रभूति वगैरह ग्यारह ब्राह्मण पण्डित यज्ञ कर रहे थे। वे सब स्वयं सर्वज्ञ होने का गर्व करते थे और अपना अज्ञान कहीं खुला न हो जाय इसलिये माया भी करते थे। सर्वज्ञ बने हुए भगवान ने देखा कि वहाँ जाने से इन लोगों को प्रतिबोध प्राप्त होगा तो उपकार बुद्धि से वे रातभर विहार (पदयात्रा) कर के अपापानगरी में आये, वहाँ उन पण्डितों के हृदयगत संशय को खोल कर उस का ऐसा समाधान दिया जिस से उन पण्डितों के सर्वज्ञ होने का गर्व चुर हो गया और अब सर्वज्ञ होने का कपटप्रचार त्याग कर भगवान महावीर के शिष्य बन गये। समग्र जनता में उस से आनन्द फैल गया।

दूसरे श्लोक में पार्श्वनाथ भगवान की स्तुति की गयी है-वे अश्वसेननृपपुत्र (पार्श्वनाथ) जिनेन्द्र पृथ्वी में जय पा रहे हैं, जो अज्ञान तिमिर की धारा के लिये सूर्य के रश्मिवृन्द जैसे हैं, जिन को (सर्व) विद्याएँ सिद्ध है और जिन का नाम विघ्नविनाशी मन्त्र ही है, सकल लोगों

येषां गिरं समुपजीव्य सुसिद्धविद्यामस्मिन् सुखेन गहनेऽपि पथि प्रवृत्तः

ते सूरयो मयि भवन्तु कृतप्रसादाः श्रीसिद्धसेन–हरिभद्रमुखाः सुखाय ॥ ३ ॥

ननु 'सर्वज्ञोपज्ञादागमाद् धर्माऽधर्मव्यवस्था' इत्युक्तम्, तच्च कथं युक्तम्, शब्दस्याऽकल्पितार्थाऽविषयत्वात्, शब्दार्थयोर्वास्तवसम्बन्धाभावाच्च ?–इति मनसिकृत्य वार्त्तान्तरमुत्थापयति–

अन्ये त्वभिदधत्येवं युक्तिमार्गकृतश्रमाः ।
शब्दाऽर्थयोर्न सम्बन्धो वस्तुस्थित्येह विद्यते ॥ १ ॥

अन्ये तु=बौद्धाः अभिदधति **एवं**=वक्ष्यमाणप्रकारम्, किम्भूताः इत्याह–**युक्तिमार्गकृतश्रमाः**= अनुभवाद्युत्सृज्य जातियुक्तिमात्रनिष्ठा इत्युपहासः, एवमर्थमाह–**शब्दार्थयोः**=लोके प्रसिद्धयोर्नामनामवतोः न सम्बन्धः कश्चिद् **वस्तुस्थित्या**=परमार्थेन **इह**=जगति विद्यते, सम्बन्धान्तरनिषेधात् तादात्म्यतदुत्पत्त्योरयोगाच्च ॥ १ ॥

को वश करता है, दुर्नयरूप व्याधि के लिये देवताई औषध समान हैं तथा अधम पुरुषरूप हिंसक पशुओं के लिये अजगर के नाद (फुत्कार) तुल्य है, तथा (जिस का नाम) सदा के लिये विश्व को इष्टार्थसिद्धि दे रहा है ॥ २ ॥

भली भाँति विद्या प्राप्त कराने वाली जिन की वाणी का प्रश्रय ले कर इस (शास्त्र के) गहन मार्ग में भी सरलता से प्रवृत्ति कर सका हूँ वे श्री सिद्धसेनसूरि (=सम्मति तर्क के कर्त्ता) तथा श्री हरिभद्रसूरि प्रमुख आचार्य मेरे ऊपर प्रसन्न होकर सुख के लिये होवे ॥ ३ ॥

[शब्द को अर्थ के साथ कुछ सम्बन्ध नहीं–बौद्धवार्त्ता]

प्रश्नः– सर्वज्ञ प्रणीत आगम से धर्म-अधर्म की व्यवस्था होने का जो कहा वह कैसे युक्त कहा जाय ? तात्पर्य यह है कि आगम तो शब्द रूप होते हैं और अकल्पित (=वास्तविक) अर्थ कभी शब्दगोचर ही नहीं होता, क्योंकि शब्द का अर्थ के साथ कोई वास्तविक सम्बन्ध ही नहीं होता है, तो शब्दात्मक आगम से व्यवस्था कैसे होगी ?

इस प्रकार के प्रश्न को ध्यान में रख कर अब मूल ग्रन्थकार एक अन्य वार्त्ता (शब्दार्थ के सम्बन्ध की वार्त्ता) का उत्थान करते हैं-

युक्ति मार्ग में परिश्रम करने वाले दूसरे वादी ऐसा कहते हैं कि वस्तुस्थिति से शब्द और अर्थ का कोई सम्बन्ध ही विद्यमान नहीं है। यहाँ ये दूसरे वादी बौद्ध मत के अनुयायी हैं। उन का जो कहना है वह तो आगे दिखायेंगे ही; किन्तु वे उपहासपात्र जरूर हैं क्योंकि अनुभवादि को एक ओर छोड कर असद्युक्ति प्रधान युक्तिवृन्द के ऊपर ही निर्भर रहते हैं, इसीलिये उन के लिये 'युक्ति मार्ग में परिश्रम करने वाले' ऐसा उपहासगर्भित विशेषण प्रयुक्त किया है। मूल कारिका के पूर्वार्ध में जो 'एवं' पद है उसी का उत्तरार्ध से अर्थ विवेचन किया है कि शब्द और अर्थ का यानी लोक में प्रसिद्ध नाम और नामी का इस जगत् में परमार्थ से कोई सम्बन्ध ही विद्यमान नहीं है। कारण, तादात्म्य और तदुत्पत्ति इन दोनों के सिवा और तो कोई सम्बन्ध ही बन सकता नहीं है और तादात्म्य-तदुत्पत्ति ये दो सम्बन्ध शब्दार्थ में घटता नहीं है।

तत्र तादात्म्यं निरस्यन्नाह–

न तादात्म्यं द्वयाभावप्रसङ्गाद् बुद्धिभेदतः ।
शस्त्राद्युक्तौ मुखच्छेदादिसङ्गात् समयस्थितेः ॥ २ ॥

न तादात्म्यं 'शब्दार्थयोः' इत्यनुकृष्य योज्यते । कुतः इत्याह–द्वयाभावप्रसङ्गात्=शब्दार्थयोरेकत्वेन भेदनिबन्धनद्वित्वाभावात् स्वस्वरूपवत् । तथा, बुद्धिभेदतः=घटादिशब्द–घटाद्यर्थयोः श्रावण–चाक्षुषादिबुद्धिभेदाद् भेदसिद्धौ अभेदाऽसिद्धेः, घट–पवनादिवत् । तथा, शस्त्राद्युक्तौ=करवालानलाद्यभिधाने मुखच्छेदादिसंगात्=वदनच्छेददाहादिप्रसंगात् करवालाऽनलादिनिवेशवत् । तथा, समयस्थितेः=संकेतव्यवस्थानात् । न ह्यगृहीतसमयः शब्दोऽर्थं प्रत्याययति, घटपदशक्तिपरिज्ञानविकलानां पामराणां विपरीतव्युत्पन्नानां च घटपदश्रवणमात्राद् घटार्थप्रत्ययप्रसंगात्; किन्तु यः शब्दो यत्र गृहीतसंकेतः स तमेवार्थं प्रत्याययतीति । न चेदमर्थतादात्म्ये युज्यते । न ह्यर्थ एव समयव्यवस्थानं दृष्टमिष्टं वा ॥ २ ॥

[शब्द और अर्थ में तादात्म्य का निरसन]

दूसरी कारिका में शब्द और अर्थ में तादात्म्यसम्बन्ध की सम्भावना का निराकरण किया गया है-कारिका का अर्थ इस प्रकार है–

पूर्व कारिकागत 'शब्दार्थयोः' इस अंश को खिंच कर यहाँ 'न तादात्म्य' के साथ उस का अन्वय करने पर ऐसा अर्थ फलित होगा कि शब्द और अर्थ इन दोनों का तादात्म्य सम्भव नहीं है । इस में क्रमशः चार हेतु हैं–

(१) द्वयाभाव प्रसंग । शब्द और अर्थ को यदि एक मान लेंगे तो, जैसे वस्तु का अपने स्वरूप के साथ ऐक्य होने पर वस्तु और उस के स्वरूप में भेदमूलक द्वित्व नहीं होता उसी प्रकार यहाँ भी शब्द और अर्थ में द्वित्व का विलोप हो जायेगा ।

(२) दूसरा हेतु है बुद्धिभेद । घटादिशब्द की बुद्धि श्रावण प्रत्यक्षरूप होती है जब कि घटादि अर्थ की बुद्धि चाक्षुषप्रत्यक्षरूप होती है । इस प्रकार बुद्धिभेद से उन दोनों का भेद प्रसिद्ध होने से अभेद की सिद्धि अशक्य है । उदा० घट और पवन में बुद्धिभेद से भेद सिद्ध है तो वहाँ अभेद कभी नहीं रहता ।

(३) तीसरा हेतु यह है कि शस्त्रादि शब्दोच्चार करने पर मुख-छेद आदि हो जाने की आपत्ति । यदि शब्द और अर्थ में ऐक्य होगा तो खड्ग और अग्नि आदि शब्दों का उच्चारण करते समय ही मुख का विभेद और दाह आदि हो जायगा । जैसे कि सच्चे ही मुख में खड्ग या अग्नि का सहसा प्रवेश कर दिया जाय तो मुख का भेदन और दाह हो जाता है ।

(४) चौथा हेतु है संकेत व्यवस्था । तात्पर्य यह है कि जिस शब्द का संकेत जिस को अज्ञात हो उस को उस शब्द सुन कर भी अर्थबोध नहीं होता । यदि संकेतज्ञान के बिना ही अर्थबोध मानेंगे तो जिन गमार लोगों को 'घट पद का शक्तिग्रह नहीं हुआ है अथवा जिन को 'घट पद अश्व अर्थ का बोधक है' ऐसा विपरीत बोध हो गया है-ऐसे लोगों को भी 'घट' पद के श्रवण मात्र से घटरूप अर्थ का बोध हो जाने की आपत्ति होगी । अतः यह

तदुत्पत्तिं निराकुरुते—

अर्थाऽसंनिधिभावेन तद्दृष्टावन्यथोक्तितः। अन्याभावनियोगाच्च न तदुत्पत्तिरप्यलम् ॥३॥

अर्थाऽसंनिधिभावेन=घटाद्यसंनिधावपि घटादिशब्दोत्पत्त्या व्यतिरेकव्यभिचारात्, **तद्दृष्टौ**=देवदत्ताद्यर्थदृष्टौ **अन्यथोक्तितः**=गोत्रस्खलनादिदशायां यज्ञदत्तादिशब्देनोक्तितो देवदत्तादिशब्दानुत्पत्त्याऽन्वयव्यभिचारात्; तथा **अन्यस्मिन्**=घटादौ पटादिशब्दस्य **अभावे** चात्यन्ताऽसति वान्ध्येयादौ वान्ध्येयादिशब्दस्य **नियोगात्**=सङ्केतकरणात्, यद् यतो नोत्पत्तिस्वभावं तस्य तत्र नियोगवैयर्थ्यात् न तदुत्पत्तिरपि=अर्थात् शब्दोत्पत्तिरपि अलं—शोभते ॥ ३ ॥

शब्दानां वास्तवार्थत्वे दोषान्तरमाह—

तो मानना होगा कि जिस अर्थ में जिस शब्द का संकेत ज्ञात हो, वह शब्द उसी अर्थ का बोध करा सकता है। किन्तु यह बात शब्द को अर्थ से अभिन्न मानने पर नहीं घटेगा। शब्द और अर्थ में यदि अभेद होता तो जैसे शब्द में अर्थ का संकेत किया जाता है वैसे अर्थ में शब्द का भी संकेत शक्य हो जाता, किन्तु न तो ऐसा कहीं देखा गया है, न तो यह इष्ट है कि अर्थ में शब्द का संकेत किया जाता हो ॥२॥

[शब्द का अर्थ के साथ तदुत्पत्तिसम्बन्ध अशक्य]

तीसरी कारिका में शब्द और अर्थ के तदुत्पत्ति सम्बन्ध की सम्भावना का निराकरण किया गया है। कारिका का अर्थ इस प्रकार है-

(१) अर्थ से यदि शब्द की उत्पत्ति होती हो तब धूम से अग्नि के बोध की तरह शब्द से अर्थ का बोध सम्भवित था, किन्तु अर्थ से शब्द की उत्पत्ति मानने में व्यतिरेक व्यभिचार बाधक है, क्योंकि घटादि अर्थ संनिहित न होने पर भी घटादि शब्द की उत्पत्ति होती है।

(२) अन्वय व्यभिचार भी, अर्थ से शब्दोत्पत्ति मानने में बाधक है, वह इस प्रकार :- सामने जब देवदत्तादि अर्थ दिखाई दे रहा है तब उस से 'देवदत्त' शब्द की उत्पत्ति होनी चाहिये, उस के बदले गोत्रस्खलनादि दशा में यज्ञदत्तादि शब्द का उच्चार सहसा हो जाता है। एक नाम बोलने जाय तब गलती से दूसरा नाम बोल दिया जाय उस को गोत्रस्खलन-दशा कहते हैं। यहाँ देवदत्त अर्थ से देवदत्त शब्द का उच्चार (उत्पत्ति) न होना यही अन्वय व्यभिचार हुआ।

(३) तथा, संकेत तो इच्छानुसार किया जाता है जैसे-घटादि अर्थ के लिये कभी पटादि शब्द का संकेत किया जाता है। उपरान्त, वन्ध्यापुत्रादि जो अत्यन्त अभावात्मक (असत्) पदार्थ है उन में भी 'वान्ध्येय' आदि पदों का संकेत किया जाता है। यदि शब्द अर्थ से उत्पन्न होता तब तो असत् से सत् की उत्पत्ति की आपत्ति आ गिरेगी। तात्पर्य जिस का जिस से उत्पन्न होने का स्वभाव नहीं, उस का उस के साथ संकेतात्मक कुछ सम्बन्ध मानना भी व्यर्थ है। सारांश, अर्थ से शब्द की उत्पत्ति का पक्ष भी शोभास्पद नहीं है ॥३॥

[शब्दार्थ के बीच वास्तवसंबन्ध मानने में आपत्ति]

चौथी कारिका में शब्द को वास्तविक अर्थ का प्रतिपादक मानने में सम्भवित अन्य दोष का उल्लेख किया गया है। कारिका का अर्थ इस प्रकार है—

परमार्थैकतानत्वे शब्दानामनिबन्धना । न स्यात् प्रवृत्तिरर्थेषु दर्शनान्तरभेदिषु ॥४॥

परमार्थैकतानत्वे=वास्तवैकविषयत्वेऽभ्युपगम्यमाने **शब्दानामनिबन्धना**=प्रवृत्तिनिमित्तविकला, **दर्शनान्तरभेदिषु**=दर्शनान्तरप्रसिद्धाऽसद्भावेषु **अर्थेषु**=प्रधानेश्वरादिषु **प्रवृत्तिः**=शक्तिः न स्यात् । तथा च प्रधानादिपदानामप्रत्यायकत्वं स्याद्, अनिष्टं चैतत् । न च सखण्डप्रधानत्वादिविशिष्टे शक्तिभ्रमादुपपत्तिः, गवादिपदानामिव प्रधानादिपदानामखण्डधर्मविशिष्ट एव शक्त्यनुभवादिति भावः ॥४॥

अतीताऽजातयोर्वाऽपि न च स्यादनृतार्थता । वाचः कस्यचिदित्येषा बौद्धार्थविषया मता ॥५॥

अपि च, '**अतीता-ऽजातयोः**=विनष्टा-ऽनुत्पन्नयोर्वाऽप्यर्थयोरसत्त्वेन, न स्यात् प्रवृत्तिः । तथा **न च**=नैव भवेत्, **अनृतार्थता**=असत्यार्थता वाचः, कस्यचित् प्रतारकादेः, अन्यथा परमार्थैकतानत्वाऽयोगात्' **इति**=अस्मादुक्तदोषात् **एषा**=वाक्, **बौद्धार्थविषया**=बुद्धिपरिकल्पितार्थविषया, **मता**=इष्टा शब्दार्थविद्भिः सौगतैः ।

एतेन यदुक्तमुद्द्योतकरेण='अवाचकत्वे शब्दानां प्रतिज्ञाहेतुव्याघातः' इति, तत् प्रत्युक्तम् ।

शब्द को यदि वास्तव अर्थ का प्रतिपादक माना जायगा तो अन्य दर्शनों में जिन का अस्तित्व मान्य नहीं है ऐसे प्रधान ईश्वर आदि अर्थों में प्रधान-ईश्वर आदि शब्दों की शक्ति सम्भव न हो सकेगी, क्योंकि शब्द की शक्ति उस के प्रवृत्तिनिमित्त से नियन्त्रित होती है और उक्त अर्थों में उक्त शब्दों का प्रवृत्तिनिमित्त नहीं है। फलतः वे शब्द उन अर्थों के बोधक न हो सकेंगे जो इष्ट नहीं हैं। यदि यह कहा जाय कि–'प्रधीयतेऽस्मिन् इति प्रधानम्' इस व्युत्पत्ति से प्रधान शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त है सकल आधारत्व, और 'ईष्टे यः स ईश्वरः' इस व्युत्पत्ति से ईश्वर शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त है जगन्निर्माण आदि का सामर्थ्य। सांख्ययोग सम्मत त्रिगुणात्मक प्रकृति और न्यायवैशेषिक सम्मत जगत्कर्ता ईश्वर आदि में उक्त रूप से प्रधान आदि का शक्तिभ्रम होकर प्रधान आदि शब्दों से उन अर्थों का बोध हो सकता है'–तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि जैसे 'गो' आदि शब्दों की अखण्ड गोत्वादि विशिष्ट अर्थ में शक्ति होती है उसी प्रकार प्रधान, ईश्वर आदि शब्द की भी अखण्ड धर्म विशिष्ट अर्थ में ही शक्ति अनुभवसिद्ध है। अतः उक्त सखण्ड धर्मों को उन शब्दों का प्रवृत्तिनिमित्त मानना असङ्गत है ॥४॥

[शब्द बुद्धिकल्पित अर्थ का वाचक]

पाँचवीं कारिका में शब्द को वास्तव अर्थ का प्रतिपादक मानने में कुछ अन्य दोषों का भी उल्लेख किया गया है। कारिका का अर्थ इस प्रकार है—

शब्द यदि वास्तव अर्थ का ही प्रतिपादक होगा तो शब्द के विनष्ट और अनुत्पन्न अर्थों का बोध न हो सकेगा क्योंकि विनाश और अनुत्पत्ति की दशा में उन की वास्तविकता-वस्तुसत्ता नहीं होती। इस के साथ ही दूसरा दोष यह है कि शब्द यदि वास्तव अर्थ का ही प्रतिपादक होगा तो वञ्चक आदि के शब्दों से असत्य अर्थ का बोध न हो सकेगा। अतः शब्दार्थवेत्ता बौद्ध विद्वानों की यह मान्यता है कि शब्द का प्रतिपाद्य अर्थ वास्तव न होकर बुद्धिकल्पित होता है।

[उद्योतकर के आपादान का निरसन]

बौद्ध विद्वानों द्वारा वास्तव अर्थ को शब्दवाच्य न मानकर कल्पित अर्थ को शब्दवाच्य

न आगोपालप्रतीतः शब्दार्थो निषिध्यते, किन्तु तत्र सांवृतत्वमभ्युपगम्य तात्त्विकत्वं निषिध्यत इति। तन्निषेधश्च स्वलक्षणस्य व्यवहारकालाननुयायित्वेनाऽकृतसमयत्वात् तत्र शब्दस्य। अयमेवाभिप्रायः 'न जातिशब्दो भेदानां वाचकः, आनन्त्यात्' इति वदत आचार्यदिङ्नागस्य। तेन यदुक्तमुद्द्योतकरेण='यदि शब्दं पक्षयसि तदानन्त्यस्य वस्तुधर्मत्वाद् व्यधिकरणो हेतुः; अथ भेदा एव पक्षीक्रियन्ते तदा नान्वयी न व्यतिरेकी दृष्टान्तोऽस्ति, इत्यहेतुरानन्त्यम्' इति, तद् निरस्तम्। न च जातिविशेषणभेदेषु समयसंभवादयमदोषः, जातेर्निरस्तत्वात्, अनन्तभेदविषयनिःशेषव्यवहारो-

---

मानने से उद्द्योतकर का यह कथन कि 'शब्द को वाचक न मानने पर प्रतिज्ञा और हेतु का व्याघात होगा क्योंकि वे दोनों शब्दात्मक होते हैं और शब्द का कोई वाच्य नहीं होता'- खण्डित हो जाता है। क्योंकि बौद्ध विद्वान गोपाल तक को प्रतीत होनेवाले अर्थ में शब्दवाच्यत्व का निषेध नहीं करते, किन्तु शब्दवाच्य अर्थ की वास्तविकता का निषेध करते हैं। इसलिए बौद्धमत में कल्पित अर्थ शब्दवाच्य होने से प्रतिज्ञा और हेतु वाक्य से भी कल्पित अर्थ का बोध हो सकने के कारण उन का व्याघात नहीं हो सकता। शब्दवाच्य अर्थ की वास्तविकता का निषेध भी इस आधार पर होता है कि वस्तुभूत अर्थ स्वलक्षण होता है और वह क्षणिक होने से व्यवहारकाल तक नहीं रहता। अतः उस में व्यवहार द्वारा शब्द का संकेतग्रहण न होने से वह शब्दवाच्य नहीं हो सकता, फलतः यह सिद्ध होता है कि जो शब्दवाच्य होता है वह वास्तविक नहीं होता है।

[दिग्नाग आचार्य के वचन का अभिप्राय]

'जातिशब्द-जाति रूप निमित्त से प्रवृत्त होने वाला शब्द, भेद=व्यक्तिभूत अर्थ का उन के आनन्त्य के कारण वाचक नहीं होता' आचार्य दिग्नाग के इस कथन का भी यही अभिप्राय है कि शब्दवाच्य अर्थ वास्तविक नहीं होता किन्तु कल्पित होता है। दिग्नाग का उक्त अभिप्राय होने के कारण ही उन के उक्त कथन के सम्बन्ध में उद्द्योतकर का यह आक्षेप निरस्त हो जाता है कि-"यदि शब्द को पक्ष कर के आनन्त्यहेतु से अवाचकत्व का साधन किया जायगा तो आनन्त्यहेतु व्यधिकरण यानी पक्ष में असिद्ध होगा। क्योंकि वस्तुधर्म होने से वह शब्द में नहीं रहता, और यदि भेद व्यक्तिभूत अर्थ को पक्ष कर आनन्त्य हेतु से शब्दावाच्यत्व का साधन किया जायगा तो हेतु और साध्य के कहीं एकत्र सिद्ध न होने से अन्वयी दृष्टान्त का, और साध्याभाव-शब्दवाच्यत्व एवं हेत्वभाव के एकत्र कहीं सिद्ध न होने से व्यतिरेकी दृष्टान्त का अभाव होने के कारण हेतु में साध्य का व्याप्तिग्रह सम्भव न होने से आनन्त्य हेतु से व्यक्तिभूत अर्थ में शब्दावाच्यत्व का साधन नहीं हो सकता।" यह इसलिये निरस्त हो जाता है कि व्यतिरेक दृष्टान्तरूप में काल्पनिक अर्थ को लेकर वास्तविक अर्थ में शब्दवाच्यत्व का अभाव सिद्ध किया जा सकता है।

[जातिविशेषितव्यक्ति में संकेत का असंभव]

यदि यह कहा जाय कि-'व्यक्तिविशेष में शब्द का संकेतग्रह न होने पर भी जाति से विशेषित व्यक्तियों में शब्द का संकेतग्रह हो सकता है क्योंकि स्वलक्षण क्षणिक वस्तु व्यवहार काल में न होने पर भी उसके सजातीय अन्य वस्तु के होने से जातिद्वारा सभी स्वलक्षण व्यक्तियों में शब्द का संकेतग्रह हो सकता है। अतः स्वलक्षणात्मक वास्तविक अर्थ

पलम्भस्य कस्यचिदसंभवेनाऽदृष्टेषु भेदेषु समयाऽसंभवाच्च । विकल्पबुद्ध्याहृतेषु तत्प्रतिपत्त्यभ्युपगमे च विकल्पसमारोपितार्थविषय एव संकेतः प्राप्तः ।

अथ समयक्रियाकाले क्षणान्तरसंनिधानात् कथं न स्वलक्षणे समयकरणसंभवः ? इति चेत् ? न, तस्याऽऽभोगाविषयीकृतत्वेनाश्वाभोगाऽविषयीकृते संनिहिते गवादावश्वपदस्येव समयस्य दुर्ग्रहत्वात् । सादृश्येनैक्यमध्यवस्य समयग्रहे च तस्याऽस्वलक्षणत्वेन स्वलक्षणस्य वाच्यत्वाऽसिद्धेः । एतेन 'व्यक्त्या-ऽऽकृति-जातयः पदार्थः' इति केषाञ्चिद् मतम्, 'जातिरेव पदार्थः' इत्यन्येषाम्, 'द्रव्यम्' इति च परेषाम्, 'उभयम्' इति चापरेषां मतमपास्तम् जातिरयोगात् व्यक्त्यादीनां च स्वलक्षणात्मकत्वात्, तत्पक्षभाविदोषानतिवृत्तेः । बुद्ध्याकारेऽपि न समयः संभवति, तस्य व्यवहारकालाननुयायित्वात्, बहिरर्थज्ञापनाभिमानिभिरेव शब्दप्रयोगाच्च । 'अस्त्यर्थमात्रमेवापूर्वदेवतादिपदानामिव

में भी शब्दवाच्यत्व का सम्भव होने से शब्दवाच्य वस्तु की वास्तविकता का निषेध सङ्गत नहीं हो सकता'-तो यह ठीक नहीं है; क्योंकि अनेक दोषों के कारण जाति के अस्तित्व का निराकरण हो चुका है । और दूसरी बात यह है कि जाति के द्वारा भी अनन्त व्यक्तियों में शब्द का संकेतग्रह नहीं हो सकता क्योंकि जो व्यवहार उपलब्ध होता है । वह व्यक्ति विशेष के सम्बन्ध में ही होता है । सम्पूर्ण अनंत व्यक्तियों के सम्बन्ध में होने वाले समग्र व्यवहार का उपलम्भ तो किसी को नहीं होता । अतः व्यवहार काल में जो व्यक्तिभूत अर्थ अदृष्ट है उनमें शब्द का संकेतग्रह नहीं हो सकता । और यदि जाति एवं व्यक्ति के स्थैर्य और सम्बन्ध को ग्रहण करने वाली विकल्प (आरोप) रूपबुद्धि के आधार पर एक व्यक्ति के व्यवहारकाल में, एक व्यक्ति में ज्ञायमान जाति के आश्रयरूप में सम्पूर्ण व्यक्तियों का अलौकिक बोध मान कर उस व्यक्ति के सम्बन्ध में होने वाले व्यवहार से भी जाति द्वारा समग्र व्यक्तियों में शब्द का संकेतज्ञान माना जायगा तो निष्कर्ष रूप में यही फलित होगा कि विकल्प बुद्धि विषयभूत आरोपित अर्थ ही शब्द का वाच्य है, वास्तव अर्थ शब्द का वाच्य नहीं है ।

[अनभिप्रेत अर्थ में संकेत का असंभव]

बौद्ध को प्रश्न हो सकता है कि-'समय(= संकेत) के क्रियाकाल में पूर्वक्षण के अतीत हो जाने पर भी अन्य नूतनक्षण का सन्निधान होता ही है तो फिर उस स्वलक्षण क्षण में शब्द का संकेतग्रह क्यों नहीं होता ?'- इसके उत्तर में बौद्ध का कहना है कि सन्निहित नूतनक्षण आभोग यानी शब्दव्यवहार के अभिप्राय का विषय (लक्ष्य) नहीं है अतः उसमें, ठीक उसी प्रकार शब्द का संकेतग्रह सम्भव नहीं होता, जैसे गौ आदि के सन्निहित होने पर भी अश्व शब्द के व्यवहार का विषय (लक्ष्य) न होने से उन में अश्व शब्द का संकेतग्रह नहीं होता । यदि सन्निहित क्षण में शब्दव्यवहार के विषयभूत पूर्वक्षण का सादृश्य होने से उसमें पूर्वक्षण के ऐक्य की बुद्धि करके पूर्वसदृश क्षण रूप से उसमें शब्द का संकेतग्रह होगा तो सादृश्य विशिष्ट क्षण स्वलक्षणात्मक न होने से, उसके शब्दवाच्य होने पर भी स्वलक्षण में शब्दवाच्यता की सिद्धि न होगी ।

वस्तुभूत अर्थ को शब्दवाच्य मानने के पक्ष में बताए गये दोषों के कारण-१ व्यक्ति, आकृति एवं जाति यह तीनों शब्दवाच्य है, २ जाति मात्र ही शब्द का वाच्य है, ३ द्रव्य शब्द का वाच्य है, ४ जाति और व्यक्ति अथवा जाति और द्रव्य दोनों शब्दवाच्य है, इन चारों मत का

गवादिपदानामर्थः, तत्राकारविशेषपरिग्रहस्तु केषाञ्चित् सिद्धान्तबलात्, न तु शब्दात्' इत्येके। तद् न, शब्दभेदव्यवहारविलोपाद् विषाणादिविशेषानुपरागेणास्त्यर्थवाचकत्वे च गोत्वविशिष्टस्य वाच्यत्वमिष्टम्, तत्र चोक्तप्राय एव दोषः।

अपरे तु 'तपो-जाति-श्रुतादेर्ब्राह्मणादिशब्दैः समुदायो विना विकल्प-समुच्चयाभ्यां सामस्त्येनाभिधीयते, यथा वनादिशब्दैर्धवादयः। 'वनम्' इत्युक्ते हि 'धवो वा खदिरो वा' इति न विकल्पेन धीः' न वा 'धवश्च खदिरश्च' इति समुच्चयेन, अपि तु सामस्त्येन प्रतीयन्ते धवादयः, तथा 'ब्राह्मणः' इत्युक्तेऽपि 'तपो वा जातिर्वा श्रुतं वा' 'तपश्च जातिश्च श्रुतं च' इति वा न धीः,

---

निराकरण हो जाता है, क्योंकि जाति का अस्तित्व प्रामाणिक नहीं है; और व्यक्ति स्वलक्षणात्मक है अत. स्वलक्षण को शब्द वाच्य मानने के पक्ष में कथित दोषों से व्यक्ति की शब्दवाच्यता का पक्ष मुक्त नहीं हो पाता। 'अर्थ का बाह्य अस्तित्व नहीं होता किन्तु वह बुद्धि का ही आकारविशेष होता है, इस मान्यता के अनुसार बुद्धि का आधारभूत अर्थ ही शब्द का वाच्य होता है' यह मत भी संगत नहीं हो सकता, क्योंकि बुद्धि के क्षणिक होने से उसके आकारभूत अर्थ के भी क्षणिक होने के कारण वह भी व्यवहारकाल तक अनुवर्तमान नहीं होता। और दूसरी बात यह है कि शब्द का प्रयोग बाह्यअर्थ की सत्ता की मान्यता पर ही निर्भर होता है। अतः बाह्यअर्थ को स्वीकार न करके केवल बुद्ध्याकार मात्र को स्वीकार करने पर उसे शब्दवाच्य कहना कथमपि समीचीन नहीं हो सकता।

कुछ एक विद्वानों का कहना यह है कि "-जैसे अपूर्व-देवता आदि शब्द का कोई विशेष आकार से विशिष्ट अर्थ नहीं होता किन्तु अस्त्यर्थ-सतवस्तु मात्र ही उनका अर्थ होता है, और उसमें आकारविशेष का बोध अपने-अपने सिद्धान्तों के अनुसार होता है ठीक उसी प्रकार 'गो' आदि शब्दों का भी विशेषआकार विशिष्ट अर्थ न होकर सद् वस्तु मात्र ही अर्थ है और उसमें आकारविशेष का बोध अपनी-अपनी मान्यता के अनुसार होता है। अतः किसी मत में गो आदि शब्दों का अर्थ बुद्ध्याकार और किसी मत में बाह्याकार माना जाता है।-" किन्तु यह कथन भी युक्तिसंगत नहीं है। क्योंकि यदि सन्मात्र ही सभी शब्दों का अर्थ होगा तो गो अश्व आदि सभी शब्दों के समानार्थक होने से अर्थभेद से शब्दभेद के लोकप्रसिद्ध व्यवहार का लोप हो जायगा तथा यदि विषाण(=शृङ्ग) आदि विशेष आकारों को त्याग कर सन्मात्र को गो आदि शब्द का वाच्य माना जायगा तो 'गोत्वादिविशिष्ट, गोआदि शब्द का वाच्य है' यही फलित होगा, जो समीचीन नहीं हो सकता, क्योंकि गोत्व आदि जाति का निराकरण किया जा चुका है।

[ब्राह्मणादि शब्द से समुदाय का बोध]

अन्य विद्वानों का कहना है कि-" ब्राह्मण आदि शब्द से तप, जाति और विद्या आदि के समुदाय का एक साथ बोध होता है, विकल्प और समुच्चय के रूप में उनका बोध नहीं होता। ब्राह्मण शब्द ठीक वन शब्द के समान है। स्पष्ट ही है कि वन शब्द से धव खदिर आदि वृक्षों के समुदाय का एक समग्रता में बोध होता है, न कि धव अथवा खदिर-इस प्रकार के विकल्प से, या धव वन है-खदिर आदि वन है, इस समुच्चय रूप में बोध होता है। ठीक उसी प्रकार ब्राह्मण शब्द से भी तप, जाति विद्या आदि में एक-एक का अथवा समुच्चय

अपि तु साकल्येन संबन्ध्यन्तरव्यवच्छिन्नास्तपःप्रभृतयः संहताः प्रतीयन्ते' इत्याहुः । तदपि न, वनादिपदेनापि परस्परसंनिहितबहुवृक्षत्वादिप्रकारकविकल्पबुद्धयुपहृतार्थस्यैवाभिधानात्, समुदायस्य प्रत्येकानतिरिक्तत्वेनान्वयितयानभिधेयत्वात् ।

परे तु–'द्रव्यत्वादिनिर्धारितस्वरूपैः संबन्धो द्रव्यादीनां स शब्दार्थः । स च संबन्धिनां शब्दार्थत्वेनाऽसत्यत्वादसत्य इत्युच्यते । यद्वा, तपःश्रुतादीनां मेचकवर्णवदैक्येनावभासनादेषामेव परस्परमसत्यः संसर्गस्तथा '–इत्याहुः । अन्ये तु–' असत्यवलयाङ्गुलीयकाद्युपाधिकं सत्यं सुवर्णादि-सामान्यमभिधेयम्' इत्याहुः । मतद्वयमिदमसत्, संयोगादिसंबन्धस्य सामान्यस्य च निरासात्, असत्याभिधेयत्वध्रौव्याच्च ।

रूप में तप, जाति आदि का बोध नहीं होता, किन्तु किसी अन्य सम्बन्धी के बिना ही तप आदि के समुदाय का समग्ररूप में ही बोध होता है । फलतः तप, जाति, विद्या आदि का मिलित समूह ही ब्राह्मण शब्द का अभिधेय होता है । यही दृष्टि अन्य सभी शब्दों के सम्बन्ध में ज्ञातव्य है । क्योंकि गो आदि शब्दों से भी शृङ्ग, पुच्छ, सास्ना आदि के समुदाय का भी एक समग्रता में बोध होना आनुभविक है।"– किन्तु यह कथन समीचीन नहीं है, क्योंकि जिस वन शब्द के दृष्टान्त से ब्राह्मण शब्द का अर्थ निर्धारित करने की बात कही गयी है उस वन शब्द का उक्त अभिधेय अर्थ होने में ही गलती है। सत्य यह है कि वन शब्द भी धव, खदिर आदि वृक्षों के समुदाय का मिलित समूह रूप में बोधक न होकर परस्पर सन्निहित धव, खदिर आदि विविध बहुवृक्षत्वरूप से एक ऐसे अर्थ का बोधक होता है जो विकल्पबुद्धि द्वारा एक व्यक्ति के रूप में गृहीत होता है । तो जैसे परस्पर सन्निहित धव, खदिर आदि बहुवृक्षत्वरूप से विकल्पबुद्धि द्वारा उपस्थित व्यक्ति वन शब्द का अर्थ होता है, उसी प्रकार तप, जाति, विद्या आदि से सम्पन्न रूप में विकल्पबुद्धि से गृहीत व्यक्ति ब्राह्मण शब्द का अभिधेय होता है । वन और ब्राह्मण शब्द के पूर्वोक्त समुदाय रूप अर्थ को मान्यता न मिलने का दूसरा कारण यह है कि समुदाय प्रत्येक से भिन्न नहीं होता । अतः जैसे प्रत्येक अन्वयीरूप से उक्त शब्दों का अभिधेय नहीं होता उसी प्रकार समुदाय भी अन्वयी-रूप से उन शब्दों का अभिधेय नहीं हो सकता।

[सम्बन्ध अथवा सामान्य में शब्दवाच्यत्व का निरसन]

अन्य विद्वानों का मत यह है कि-द्रव्यत्व आदि निर्धारित रूपों के साथ द्रव्य आदि का सम्बन्ध ही 'द्रव्य' आदि शब्दों का अभिधेय है। किन्तु यह द्रव्यत्व आदि रूप एवं द्रव्य आदि सम्बन्धियों के शब्दार्थरूप से असत्य होने से असत् कहा जाता है । अथवा यह कहा जा सकता है कि जैसे नील–पीत आदि विभिन्न रूपों का एक चित्ररूप में बोध होता है उसी प्रकार तप, जाति, विद्या आदि का एक ब्राह्मण के रूप में बोध होता है । अतः तप, जाति, विद्या आदि का परस्पर में प्रतीत होने वाला असत्य सम्बन्ध ही ब्राह्मण शब्द का अर्थ है ।

अन्य विद्वानों का मत है कि कङ्कण, अङ्गूठी आदि असत्य उपाधियां सुवर्ण शब्द का अर्थ न होकर वे उपाधियां जिस सामान्य सुवर्ण द्रव्य की होती हैं वह शुद्ध सुवर्ण सामान्य सुवर्ण द्रव्य का अर्थ होता है । ठीक यही बात ब्राह्मण आदि शब्दों के सम्बन्ध में भी ज्ञातव्य है अर्थात् ब्राह्मण आदि के सम्बन्ध में भी यही मानना उचित है कि तप, जाति विद्या आदि

'शब्द एवाभिजल्पत्वमागतः शब्दार्थः, तच्च शब्दस्यार्थेन सहैक्याध्यवसानम्' इत्यन्ये। एतदपि न, असताऽर्थेनैकीकरणाऽयोगात्, योगे वा बुद्धिशब्दार्थपक्षप्रवेशात्। 'बुद्धिरूपमेव बाह्यविषयं तथा, गृह्यमाणबुद्धित्वेन वा गृह्यमाणं शब्दार्थः' इति पक्षस्तु निरस्तप्राय एव शाब्दप्रत्ययेनाऽध्यवसीयमानस्य शब्दार्थत्वाऽयोगाच्च। परेत्वाहुः-'अभ्यासात् प्रतिभाहेतुः शब्दो न तु बाह्यार्थप्रत्यायकः; यथैव ह्यङ्कुशादिघातादयो हस्त्यादीनामर्थप्रतिपत्तौ क्रियमाणायां प्रतिभाहेतवो

ब्राह्मण शब्द का अर्थ नहीं है किन्तु ये बातें जिस सामान्य-मनुष्य में होती है वह मनुष्य-सामान्य ही ब्राह्मण शब्द का अर्थ है।

किन्तु अन्यान्य विद्वानों के उक्त दोनों ही मत ठीक नहीं हैं, क्योंकि संयोग आदि सम्बन्धों का निराकरण हो चुका है। अतः द्रव्यत्व आदि रूपों के साथ द्रव्य आदि के सम्बन्ध को द्रव्य आदि शब्द का अर्थ नहीं कहा जा सकता। एवं, सामान्य पदार्थ का निराकरण हो जाने के कारण सामान्य को भी सुवर्ण आदि शब्दों का अर्थ नहीं कहा जा सकता। इसके साथ ही दूसरी बात यह है कि उक्त दोनों ही मतों में शब्दार्थ की असत्यता अनिवार्य हो जाती है।

[अभिजल्पत्व प्राप्त शब्द शब्दार्थ नहीं]

अन्य विद्वानों का मत है कि-"शब्द ही अभिजल्प होने पर शब्द का वाच्य होता है। अभिजल्प होने का मतलब है कि अर्थ के साथ एकीभूत होकर अवगत होना। कहने का आशय यह है कि जब शब्द और अर्थ में अभिन्नता का बोध होता है तब शब्द अर्थात्मना प्रतीत होने से शब्दार्थ हो जाता है"-किन्तु यह कथन भी ठीक नहीं है क्योंकि असत् अर्थ के साथ शब्द का एकीकरण असङ्गत है और यदि किसी प्रकार बुद्धि के माध्यम से अर्थ के साथ शब्द के एकीकरण को सम्मत किया जाय तो 'शब्दार्थ बुद्धि रूप है' इस पक्ष में इस मत का प्रवेश हो जायगा।

कुछ लोगों का यह भी पक्ष है कि-"बाह्यार्थ को विषय करने वाली बुद्धि किंवा गृह्यमाण बुद्धि के रूप में ज्ञायमान अर्थ ही शब्दार्थ है।-" यह भी पक्ष निरस्त जैसा ही है क्योंकि शब्द का प्रयोग बाह्यार्थ में ही अनुभव सिद्ध है न कि उस की बुद्धि में। इस पक्ष के विरुद्ध दूसरी बात यह है कि शाब्दज्ञान से विषयीकृत अर्थ को शब्दार्थ मानना सङ्गत नहीं है। क्योंकि शब्दार्थ सिद्ध होने पर ही शाब्दज्ञान की विषयता होती है। अतः शब्दार्थता को शाब्दज्ञान के विषयता के आधीन नहीं माना जा सकता।

[शब्द जन्य प्रतिभा से अर्थबोध-आशंका]

अन्य विद्वानों का मत है कि-"शब्द प्रतिभा को जन्म देता है, अर्थप्रत्यय को नहीं। अतः शब्दार्थ क्या है? इस बात की घोषणा निरर्थक है। शब्द से प्रतिभा का जन्म होना अनायास समझा जा सकता है, और इस बात को इस प्रकार निरूपित किया जा सकता है कि जैसे अंकुश प्रहार आदि से हस्ती आदि को अपने कर्त्तव्य अर्थ की प्रतीति हस्ती आदि की प्रतिभा से होती है, और यह प्रतिभा अंकुशप्रहार आदि से उत्पन्न होती है। ठीक उसी प्रकार शब्द सुनने पर मनुष्य में एक ऐसी प्रतिभा का उदय होता है जिस से उसे अर्थ का बोध होता है। अतः अर्थ प्रतिभा-बोध्य है न कि शब्दबोध्य। वृक्ष आदि शब्द जो शब्दार्थ के सम्बन्धी माने जाते हैं उनसे अर्थ का बोध उनके द्वारा उत्पन्न प्रतिभा से ही सम्पन्न होता है"

भवन्ति तथा शब्दार्थसंबन्धसमता वृक्षादयः शब्दा यथाभ्यासं प्रतिभामात्रोपसंहारहेतवो भवन्ति' इति। अत्रापि प्रतिभा यदि परमार्थतो बाह्यार्थविषया तदैकत्र विरुद्धसमयग्राहिणां विचित्रा प्रतिभा न स्यात्, एकस्यानेकस्वभावाऽसंभवात्। यदि च निर्विषया, कथं तर्हि तदर्थे प्रवृत्ति-प्रतिपत्ती ? । 'अनर्थेऽर्थाध्यवसायेन भ्रान्त्या' चेत् ? तर्हि भ्रान्तः शब्दार्थः प्राप्तः, तत्र च बीजं भावानां परस्परतो भेद एवेति पक्ष एवैष न इति।

अन्ये तु–'अर्थविवक्षां शब्दोऽनुमापयति, यदुक्तम् "अनुमानं विवक्षायाः शब्दादन्यद् न विद्यते" इति। अत्रापि विवक्षाया न पारमार्थिकशब्दार्थविषयत्वम्, अन्वयव्यर्थयोगात्। नापि शब्दस्य तत्प्रतिपादकत्वम्। न च विवक्षायाः प्रतिपाद्यत्वे बहिरर्थे प्रवृत्तिः सुघटा, अप्रेरितत्वात्।

[प्रतिभा से अर्थबोध का निरसन]

–इस मत के विषय में यह विचारणीय है कि शब्द से वास्तव बाह्यार्थ विषयक प्रतिभा का जन्म होता है या निर्विषयक प्रतिभा का जन्म होता है ? दोनों ही बातें निर्दोष नहीं हो सकती क्योंकि एक अर्थ में विभिन्न रूपों से विभिन्न शब्दों का संकेतज्ञान होने पर उस वस्तु की विभिन्न आकारों में प्रतीति होना अनुभवसिद्ध है, जो उक्त प्रतिभा को शब्दजन्य मानने पर नहीं उपपन्न हो सकती, क्योंकि प्रतिभा जिस किसी एक बाह्यार्थ को विषय करेगी उस एक अर्थ के अनेक स्वभाव सम्भव न होने के कारण प्रतिभा की विभिन्नरूपाकारता सम्भव नहीं हो सकती। और यदि शब्द से निर्विषयक प्रतिभा का जन्म माना जायगा तो शब्दप्रयोग की प्रवृत्ति और अर्थप्रतिपत्तिरूप प्रयोजनों की सिद्धि न हो सकेगी, क्योंकि प्रतिभा का कोई विषय नहीं है तो उस से किसी अर्थ में प्रवृत्ति और किसी अर्थ की प्रतिपत्ति कैसे हो सकती है ? ।

यदि यह कहा जाय कि–'शब्द से उत्पन्न होने वाली प्रतिभा का विषय वास्तव में बाह्यार्थ नहीं होता किन्तु उस में बाह्यार्थ की अभिन्नता का भ्रम होने से प्रतिभा द्वारा बाह्य अर्थ की प्रतिपत्ति और बाह्य अर्थ में प्रवृत्ति की उपपत्ति हो सकती है'–तो इस कथन के निष्कर्ष रूप में यही प्राप्त होगा कि भ्रम का विषयभूत अर्थ ही शब्दार्थ है। और जिस का एकमात्र बीज है भावपदार्थों का परस्पर भेद, जो सौगतों का ही अभिमत पक्ष है।

[शब्द से अर्थविवक्षा का अनुमान–अन्यमत]

कुछ अन्य विद्वानों का मत है कि–"शब्द अर्थ का बोधक नहीं होता, किन्तु अर्थ विवक्षा का अनुमापक होता है। जैसा कि कहा गया है कि 'शब्द से अर्थ की विवक्षा का अनुमान मात्र होता है।' इस अनुमान से अतिरिक्त शब्द का कार्य नहीं है। इस मतवाद का आशय यह है कि जब मनुष्य को किसी अर्थ की विवक्षा होती है, वह विवक्षित अर्थ में संकेतित शब्द का प्रयोग करता है। श्रोता को उस शब्द से वक्ता की विवक्षा का अनुमान होता है, इस प्रकार विवक्षा के विषयरूप में अर्थ का अनुमितिआत्मक बोध होता है और उसी से श्रोता की विवक्षित अर्थ में प्रवृत्ति होती है। इस प्रकार विवक्षा के अनुमान से ही विवक्षित अर्थ की प्रतीति और उसमें श्रोता की प्रवृत्ति की उपपत्ति हो जाती है। अतः शब्द से अर्थ की शाब्दबोधात्मक प्रतिपत्ति मानने का कोई औचित्य नहीं है।"

न च विवक्षापरिवर्तिनो बाह्यस्य च सारूप्यादप्रेरितेऽपि तत्र ततः प्रवृत्तिः, यमलकवदिति वाच्यम्, प्रेरितेऽपि तत्प्रसक्त्याऽनियमापत्तेः। स्वप्रतिभासानुभवेऽपि बाह्यार्थशक्तिभ्रमात् प्रवृत्त्युपगमे च पक्ष एव नः, धूमस्याग्नेरिव शब्दस्याऽतात्त्विकार्थप्रतिपादनेच्छानुमापकत्वात्, तस्यानुमानानतिरेकात्; तदाहुः-'वक्तुरभिप्रायं तु सूचयेयुः' इति। एतेन वैभाषिकोऽपि शब्दविषयं नामाख्यमर्थचिह्नरूपं विप्रयुक्तं संस्कारमिच्छन् निरस्तः, तस्याप्यन्वयाऽयोगात्, बाह्ये चाऽप्रवृत्तेः,

[अर्थ विवक्षा के अनुमान का निरसन]

इस मत के भी विषय में यह विचारणीय है कि शब्द से जिस विवक्षा का अनुमान होता है वह वास्तविक अर्थविषयक नहीं हो सकती, क्योंकि अन्वयी वास्तविक अर्थ असिद्ध है। और शब्द वास्तविक अर्थ का प्रतिपादक ही नहीं है जिससे वास्तविक अर्थ के विवक्षा की शब्द से अनुमिति हो सके। और दूसरी बात यह है कि शब्द से विवक्षा की अनुमिति मानने पर बाह्य अर्थ में श्रोता की प्रवृत्ति भी उपपन्न नहीं हो सकती, क्योंकि प्रवृत्ति का विषयभूत अर्थ विवक्षा की अनुमिति से प्रेरित यानी विषयीकृत नहीं होता। यदि यह कहा जाय कि-"विवक्षा में परिवर्तमान बाह्यार्थ के सादृश्य से विवक्षा की अनुमिति के अविषयभूत अर्थ में भी ठीक उसीप्रकार प्रवृत्ति हो सकती है जैसे एक साथ उत्पन्न समान आकार के दो मनुष्यों में पूर्व दृष्ट एक व्यक्ति के सादृश्य से पूर्व में अदृष्ट भी दूसरे व्यक्ति के सम्बन्ध में द्रष्टा की उसके साथ वार्ता आदि करने में प्रवृत्ति होती है" -तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि अप्रेरित अर्थ में, अर्थात् शब्द से होने वाली विवक्षानुमिति के अविषयभूत अर्थ में, प्रवृत्ति मानने पर अनियम की आपत्ति होगी, अर्थात यह नियम नहीं रह जायगा कि 'विवक्षानुमिति के अविषयीभूत उसी अर्थ में प्रवृत्ति हो जिसमें विवक्षा विषयीभूत अर्थ का सादृश्य हो' -क्योंकि विवक्षाअनुमिति का अविषयत्व विवक्षाविषयीभूत अर्थ से सदृश और असदृश दोनों अर्थों में समान है। अतः उक्त अनुमिति के अविषयीभूत एक अर्थ में प्रवृत्ति और अन्य अर्थ में प्रवृत्ति के अभाव का उपपादन शक्य नहीं हो सकता।

अब यदि यह कहा जाय कि-'शब्द से श्रोता को अपने प्रतिभास का यानी अपनी बुद्धि का ही अनुभव होता है, अतः बुद्धि में ही शब्द की शक्ति है बाह्यार्थ में नहीं, बाह्यार्थ में तो शब्द का शक्तिभ्रम होता है और उसी से बाह्यार्थ की प्रतीति और उसमें प्रवृत्ति होती है' -तो इसमें सौगत का पक्ष ही सिद्ध होता है। क्योंकि जैसे धूम अग्नि का अनुमापक होता है उसीप्रकार शब्द अतात्त्विक अर्थ के प्रतिपादन की इच्छा का अनुमापक होता है। ऐसा मानने पर अनुमान से अतिरिक्त शब्दप्रमाण की सिद्धि नहीं होती। और यही सौगत पक्ष है, जैसा कि, कहा गया है कि 'शब्द वक्ता के अभिप्राय के सूचक-अनुमापक होते हैं।'

[वैभाषिकमत का निराकरण]

शब्दार्थ के सन्दर्भ में वैभाषिक का यह अभिप्राय है कि-'शब्द अर्थ का एक प्रकार का चिह्न है और उससे एक संस्कार का जन्म होता है जो अर्थ से भिन्न होता है। यह संस्कार जिस अर्थ के विषय में होता है उस अर्थ की उस संस्कार से प्रतिपत्ति होती है, और उसमें संस्कारयुक्त श्रोता की प्रवृत्ति होती है।' -यह अभिप्राय भी ग्रहणयोग्य नहीं है क्योंकि संस्कार का उसके उदयकाल में विद्यमान बाह्य अर्थ के साथ सम्बन्ध न होने से उससे न तो

सारूप्यात् प्रवृत्तावप्यनियमापत्तेः । तदेवम् 'अकृतसमयत्वात्' इति हेतोर्नासिद्धता, नाप्यनैकान्तिकत्व-विरुद्धत्वे । इति सिद्धम्–'अपोहकृत् शब्दः' इति ।

तदिदमाह–

वाच्य इत्थमपोहस्तु न जातिः पारमार्थिकी । तद्योगाद्विना भेदं तदन्येभ्यस्तथाऽस्थितेः ॥६॥

इत्थं=तात्त्विकत्वाभावे अपोहस्तु=अपोह एव वाच्यः=शब्दप्रतिपाद्यः । अवधारणफलमाह-न जातिः पारमार्थिकी=अकल्पिता गोत्वादिरूपा वाच्या । कुतः ? इत्याह–तद्योगात्=गोत्वादिजातेर्भेदा–ऽभेदादिविकल्पेनाऽघटमानत्वात्; तथा विना भेदं=स्वभावत एव गोत्वाधारत्व-

---

अर्थ की प्रतीति हो सकती है और न उसमें प्रवृत्ति ही हो सकती है। और यदि संस्कार के विषयभूत अर्थ के सादृश्य से उससे असम्बद्ध बाह्य अर्थ में प्रवृत्ति होगी तो प्रवृत्ति के संबंध में अनियम की प्रसक्ति होगी।

[शब्द से बोध्य अर्थ अवास्तव–उपसंहार]

इस सन्दर्भ में अब तक की चर्चा का निष्कर्ष यह है कि वास्तव अर्थ में शब्दार्थत्वाभाव को सिद्ध करने के लिए जिस अकृतसमयत्व-संकेतकरणायोग्यत्व कि वा संकेतग्रहणा-योग्यत्व रूप हेतु का प्रयोग किया गया है, वह वास्तव अर्थरूप पक्ष में असिद्ध नहीं है। क्योंकि इस बात का विशद रूप से प्रतिपादन कर दिया गया है कि स्वलक्षणात्मक वस्तु ही वास्तव अर्थ है। और संकेत के क्रियाकाल में उसका अनुवर्तन न होने से वह संकेतकरण एवं संकेतग्रहण के अयोग्य है। यह हेतु अनैकान्तिक और विरुद्ध भी नहीं है, क्योंकि इस हेतु में शब्दार्थत्वाभाव की व्याप्ति निर्विवाद है। अतः बौद्ध का यह पक्ष पूर्णतया स्वीकारयोग्य है कि शब्द से वास्तव अर्थ का बोध नहीं होता किन्तु विकल्प बुद्धि के विषयीभूत नाम, जाति आदि से युक्त असत् अर्थ का ही बोध होता है।

उपर्युक्त बातों के आधार पर शब्द से अर्थबोध के विषय में यही सिद्धान्त प्रतिष्ठित होता है कि शब्द से प्रतिपाद्य अर्थ का बोध किसी भावात्मकरूप से न होकर अपोह यानी अतद्व्यावृत्तिरूप से होता है। फलतः गो आदि शब्द से गो आदि अर्थ का बोध गोत्व आदि भावात्मक सामान्यरूप से न होकर अगोव्यावृत्तिरूप से होता है। इसीलिए 'गो' शब्द से न तो अश्व आदि अगो की प्रतीति ही होती और न उसमें मनुष्य की प्रवृत्ति ही होती है ॥५॥

[स्वभावभेद से गोत्वाधारता का नियमन अशक्य]

छट्ठी कारिका में पूर्वकारिका में संकेतित विषय को स्पष्ट किया गया है। कारिका का अर्थ इस प्रकार है–

यतः शब्दप्रतिपाद्य अर्थ की तात्त्विकता पूर्वोक्त युक्तियों से असिद्ध है अतः अपोह=अतद्-व्यावृत्ति ही शब्दवाच्य है। अपोह को ही शब्दवाच्य कहने के परिणामस्वरूप यह सिद्ध होता है कि अकल्पित-वास्तविक जाति शब्दवाच्य नहीं है, क्योंकि व्यक्ति से भिन्न अथवा अभिन्न किसी भी एक रूप में जाति सिद्ध नहीं हो पाती। दूसरी बात यह है कि जातिवादी के मतानुसार गो व्यक्ति में गोत्वाधारता उसके स्वभावभेद के कारण होती है न कि अश्व आदि से भिन्न होने के कारण। क्योंकि अश्व आदि का भेद गोत्वाधारता की सिद्धि के पूर्व उसमें सिद्ध नहीं है। यतः गोत्व दैशिक विशेषणता सम्बन्ध से और कालिक सम्बन्ध से व्यापक है, व्यापक

भावलक्षणं गोव्यक्तीनाम् तदन्येभ्यः=अश्वादिव्यक्तिविशेषेभ्यः तथाऽस्थितेः=भिन्नत्वाऽव्यवस्थितेः, गोत्वस्य व्यापकत्वात्, तत्त्वेऽपि तत्र गोव्यक्त्याधेयत्वस्य स्वभावभेदनियम्यत्वादिति भावः ॥ ६ ॥

स्वभावभेदसत्त्वे दोषमाह—

सति चास्मिन् किमन्येन शब्दात्तद्वत्प्रतीतितः ।
तदभावे न तद्वत्त्वं तद्भ्रान्तत्वात्तथा न किम्? ॥ ७ ॥

सति **चास्मिन्**=स्वभावभेदे, किमन्येन—गोत्वादिना कल्पितेन ? **शब्दात्**=गवादिशब्दात्, **तद्वत्प्रतीतितः**=विशिष्टभेदवद्व्यक्तिप्रतीतेः । पराभिप्रायमाह—'**तदभावे**=गोत्वाभावे, **न तद्वत्त्वम्**=न गोत्वाधारस्वभावभेदवत्त्वम्, तत एव तद्भेदोपपत्तेः ।' अत्रोत्तरम्—**तद्भ्रान्तत्वात्**=तस्य भेदस्य **भ्रान्तत्वात्**=कल्पितत्वात्, **तथा न किम्** ?=तथाध्यवसायवशेन कल्पितं तद्वत्त्वं न कथम् ? । वास्तवे ह्यस्मिन्नयं दोषो न पुनर्भ्रान्ते इत्यभिप्रायः ॥ ७ ॥

एतदेव व्यतिरेकनिरासेन द्रढयति—

अभ्रान्तजातिवादे तु न दण्डाद्दण्डिवद्गतिः । तद्वत्युभयसांकर्यं न भेदाद्धोऽपि तादृशम् ॥ ८ ॥

होते हुए भी गोत्व में गो व्यक्ति वृत्तिता गो व्यक्ति के स्वभावभेद से नियन्त्रित होती है, अश्व आदि में वह स्वभावभेद न होने से उनमें गोत्व की आधारता नहीं होती । किन्तु स्वभावभेद से गोत्व का ऐसा नियमन मानना दोषपूर्ण है (यह अगली कारिका में स्पष्ट होगा) ॥ ६ ॥

७ वीं कारिका में पूर्व कारिका के चर्चित दोष का स्पष्ट प्रतिपादन किया गया है । कारिका का आशय यह है कि—

[स्वभावभेद द्वारा ही व्यक्तिबोध का आपादान]

यदि गोत्व के व्यापक होते हुए भी गो व्यक्ति में ही उस की आधारता के उपपादकरूप में स्वभावभेद की कल्पना की जायगी, तो उसी से गो शब्द द्वारा अश्व आदि से भिन्न गोव्यक्ति का बोध भी हो जायगा । अतः गोत्व की कल्पना निरर्थक हो जायगी । यदि जातिवादी का यह अभिप्राय हो कि 'गोत्व के अभाव में गो व्यक्ति में गोत्वाधारतानामक स्वभावभेद सिद्ध नहीं हो सकता क्योंकि गोत्व का अस्तित्व होने पर ही अश्व आदि में न रहते हुए गो व्यक्ति में ही उस के रहने के नियामकरूप में स्वभावभेद की कल्पना होती है'-तो इस अभिप्राय से भी जातिवादी का लक्ष्य नहीं सिद्ध हो सकता क्योंकि गो व्यक्ति में गोत्व की आधारता का नियामक स्वभावभेद भ्रान्त यानी कल्पित है अतः उस से नियम्य गोत्व को भी भ्रान्त कल्पित ही क्यों न मानना चाहिए ? !-यह आपत्ति गोत्व को वास्तव मानने के पक्ष में है और यदि वह भ्रान्त-कल्पित रूप में ही मान्य हो तब उस आपत्ति का कोई अवसर नहीं है क्योंकि गोत्व की वास्तविकता का निषेध ही बौद्धों को सिद्ध करना है ॥ ७ ॥

[शब्दवाच्य वास्तवजाति मानने पर आपत्ति]

८ वीं कारिका में, पूर्वकारिका में उक्त विषय को ही उस से अतिरिक्त पक्ष का निरास करते हुए पुष्ट किया गया है । कारिका का अर्थ इस प्रकार है—

अभ्रान्तजातिवादे तु=अकल्पितजातिवाच्यत्वपक्षे तु, **दण्डात्**=दण्डाभिधानात्, **दण्डिवत्**=दण्डिनीव, **तद्वति**=जातिमति **गतिः**=परिच्छित्तिः न स्यात् । **न च** प्रथमं जातिरवसीयते, तत स्तद्वांल्लँक्ष्यते, तेन विना तस्या अयोगात्, इति लक्षणया तद्वतो गतिरिति **वाच्यम्**; क्रमवत् प्रत्ययाऽदर्शनात् । जाति-व्यक्त्योः संकीर्णप्रतिपत्त्युपगमे दोषमाह **उभयसांकर्ये**=जातिव्यक्तिसांकर्ये इिष्यमाणे **वोऽपि**=युष्माकमपि **भेदात्**=अध्यवसीयमानाऽभेदविरोधात् **तादृशम्**=अभ्रान्तम् न 'तद्वत्त्वम्' इति योगः ।

ननु भ्रान्ततद्वत्त्वस्य वाच्यत्वे कथमपोहः शब्दार्थः ? इति **चेत्** ? सत्यम्, द्विविधो ह्यस्माकमपोहः—पर्युदासलक्षणः, प्रसज्यप्रतिषेधलक्षणश्च । आद्यो **द्विविधः**=अर्थेऽनुगतैकरूपत्वेनाध्यवसितो बुद्धिप्रतिभासो बुद्ध्यात्मा, विजातीयव्यावृत्तस्वलक्षणार्थात्मा च । तत्र यथा हरीतक्यादयो बहवोऽन्तरेणापि सामान्यलक्षणमेकमर्थम् ज्वरादिशमनं कार्यमुपजनयन्ति, तथा शाबलेयादयोऽप्यर्थाः

अभ्रान्त-वास्तविक जाति को शब्दवाच्य मानना सङ्गत नहीं हो सकता क्योंकि जैसे दण्ड शब्द से दण्डी का बोध नहीं होता उसी प्रकार गो आदि शब्द जातिवाचक होने पर उस से जातिमान की प्रतीति नहीं हो सकती। यदि यह कहा जाय कि-'गो आदि शब्द से पहले जाति का बोध होता है, उस के बाद लक्षणा से जातिमान का बोध होता है, क्योंकि जातिमान के बिना जाति का 'गौः गच्छति' 'गौः नश्यति' इत्यादि स्थलों में गच्छति शब्दार्थ और नश्यति शब्दार्थ के साथ अन्वय नहीं हो सकता। अतः अन्वयानुपपत्तिमूलक लक्षणा से जातिमान के बोध की उपपत्ति हो सकती है'-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि जाति और जातिमान के बोध में क्रम का अनुभव नहीं होता।

यदि यह कहा जाय कि-'गो आदि शब्द से जाति और व्यक्ति का संकीर्ण बोध होता है अर्थात् शब्द से जाति का बोध होने पर उस से अभिन्न रूप में व्यक्ति का बोध भी हो जाता है'-तो यह भी ठीक नहीं कहा जा सकता क्योंकि जातिवादी के मत में जाति और व्यक्ति में भेद माना जाता है, किन्तु उक्तरीति से जाति और व्यक्ति का संकीर्ण बोध मानने पर शब्द से ज्ञायमान जाति और व्यक्ति के अभेद का अंगीकृत भेद के साथ विरोध होने के कारण व्यक्ति से भिन्न वास्तव जाति का अभ्युपगम नहीं सिद्ध हो सकता ।

[बौद्ध मत में अपोह के विविध प्रकार]

प्रश्न होता है कि यदि भ्रान्त तद्वत्त्व यानी कल्पित गोत्व आदि शब्दवाच्य है तो अपोह को शब्दार्थ कहना कैसे सङ्गत हो सकता है? व्याख्याकार ने बौद्धों की ओर से इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा है कि बौद्ध मत में अपोह के दो भेद हैं, पर्युदास-प्रतिषेध और प्रसज्य-प्रतिषेध। इन में प्रथम के दो भेद हैं, अर्थ में अनुगत एकरूप से भासमान धर्म-जो बुद्धि का आकार होने से बुद्धिरूप है; तथा अन्यव्यावृत्त स्वलक्षणभूत अर्थ। इन में पहला विजातीय वस्तु की प्राप्ति का हेतु होने से अपोह शब्द का गौण अर्थ है । पर्युदास रूप अपोह के प्रथम भेद को स्पष्ट करते हुए व्याख्याकार ने कहा है कि जैसे हरीतकी आदि अनेक औषध एक सामान्य धर्म द्वारा अनुगतीकृत (अनुविद्ध) न होने पर भी ज्वरनिवृत्तिरूप एक कार्य का सम्पादन करते हैं उसी प्रकार चित्र, धवल, श्यामल आदि गो रूप अर्थ परस्पर भिन्न तथा किसी प्रामाणिक एक अनुगत रूप वाले न होते हुए भी गोत्वादि एकाकार प्रतीति को उत्पन्न करते

सत्यपि भेदेऽविकृतैकाकारपरामर्शमन्तरेणापि वस्तुभूतं सामान्यम्, तदनुभवबलेन यदुत्पन्नं विकल्पज्ञानम्, तत्र यदर्थाकारतयाऽर्थप्रतिबिम्बकं ज्ञानादभिन्नमाभाति तत्रान्यापोह इति व्यपदेशः, अन्यव्यावृत्तवस्तुप्राप्तिहेतुत्वादिनोपचारात्। अर्थस्तु विजातीयव्यावृत्तत्वाद् मुख्यतस्तद्व्यपदेशभाक्। "प्रसज्यप्रतिषेधस्तु 'गौरगौर्न भवत्ययम्'। इति विस्पष्ट एवायमन्यापोहोऽवगम्यते ॥" [त० सं० १०१०]। तत्रार्थप्रतिबिम्बात्माऽपोहः शब्दजन्यत्वात् साक्षात् शब्दवाच्यः। शब्दाऽर्थयोः कार्य–कारणभाव एव च वाच्यवाचक(भावः) तदुक्तम्—"विकल्पयोनयः शब्दाः"....इत्यादि। अपोहद्वयं च बाह्यार्थाध्यवसायिविकल्पप्रतिबिम्बोत्पत्तौ सामर्थ्यगम्यत्वादुपचारात् शब्दवाच्यमुच्यते। तदुक्तम्—"न तदात्मा परात्मेति संबन्धे सति वस्तुभिः। व्यावृत्तवस्त्वधिगमोऽप्यर्थादेव भवत्यतः ॥ [त० सं० १०१२] ॥ इति।

है। इस प्रकार बाह्यस्वरूप में अवास्तविक और बुद्धिरूप में वास्तविक इस गोत्व सामान्य के अनुभव के बल से अपने में जो 'गौः' इस प्रकार एक विकल्पज्ञान उत्पन्न होता है इस ज्ञान में जो अर्थ के आकार रूप में अर्थ का प्रतिबिम्ब भासता है जो कि ज्ञान से अभिन्न होता है वही उपचार से अन्यापोह शब्द से व्यपदिष्ट होता है क्योंकि उसी से अन्यव्यावृत्त वस्तु की प्राप्ति होती है। पर्युदासरूप अपोह के दूसरे भेद को स्पष्ट करते हुए व्याख्याकार ने कहा है कि स्वलक्षणभूत अर्थ जो वास्तव है वह वास्तव में अन्यव्यावृत्त होने के कारण अपोह शब्द का मुख्य अर्थ है।

अपोह के प्रसज्यप्रतिषेधरूप भेद को स्पष्ट करते हुए तत्त्वसंग्रहमें कहा है कि–'गौः अयम् अगौः न भवति-यह गौ है अगौ-अश्व आदि नहीं है' इस प्रतीति में स्पष्टरूप से भासनेवाली अगोव्यावृत्ति ही प्रसज्यप्रतिषेधात्मक अपोह है।—इन में पर्युदास का प्रथमभेद–अर्थप्रतिबिम्बस्वरूप अपोह गो शब्द से उत्पन्न होने के कारण गो शब्द का साक्षात् वाच्य है, क्योंकि बौद्ध मत में शब्द और अर्थ का कार्य–कारणभाव ही वाच्यवाचकभाव है। शब्द कारण होने से वाचक है और प्रतिबिम्बभूत अर्थ कार्य होने के कारण वाच्य है। इसी बात को वाक्यपदीय में भर्तृहरि ने "विकल्पयोनयः शब्दाः"—'शब्द विकल्प के जनक होते हैं' कह कर संकेतित किया है।

अर्थप्रतिबिम्ब को साक्षात् शब्दवाच्य कहने से यह स्पष्ट हो जाता है कि शेष उक्त दो प्रकार के अपोह, अर्थात् अन्यव्यावृत्त स्वलक्षण अर्थस्वरूप अपोह तथा, प्रसज्यप्रतिषेधात्मक अपोह ये दोनों उपचार से अपोह शब्द के वाच्य अर्थ हैं क्योंकि शब्द से बाह्यार्थ को ग्रहण करने वाले विकल्पक प्रतिबिम्ब के बाद उस की उपपादकतारूप सामर्थ्य के बल पर उन का भान होता है। कहने का आशय यह है कि पर्युदास रूप अपोह का द्वितीय भेद तथा अन्यव्यावृत्तिरूप प्रसज्यप्रतिषेध के आधार पर ही शब्द से अर्थप्रतिबिम्बरूप यानी बाह्यार्थ को अध्यसित करने वाले विकल्पज्ञान–का उदय होता है इसलिए शब्दजन्य विकल्प के जन्म के बाद उस में अथवा उस के विषयभूत अर्थ के उपपादकरूप में उक्त अपोहों का भान होता है।

यही बात तत्त्वसंग्रह में इस प्रकार कही गई है कि–'अश्वात्मक अर्थ गर्दभादिस्वभावात्मक नहीं है' यहाँ अश्वप्रतिबिम्ब के साथ तदविनाभावि होनेसे गर्दभादिव्यावृत्तिरूप अपोह भासित होता है। और अश्वादि के साथ परम्परया अश्वप्रतिबिम्ब का शब्दद्वारा सम्बन्ध होने से गर्दभादिव्यावृत्त अश्वस्वलक्षणरूप व्यावृत्त वस्तु का भी बोध उपचार से होता है।

एतेन यदुक्तं **कुमारिलेन**— [द्रष्टव्य, त. सं. ९०९ तः ९१३]

"नन्वन्यापोहकृच्छब्दो युष्मत्पक्षे तु वर्णितः । निषेधमात्रं नैवेह प्रतिभासेऽवगम्यते ॥ १ ॥ किन्तु गौर्गवयो हस्ती वृक्ष इत्यादिशब्दतः । विधिरूपावसायेन मतिः शाब्दी प्रवर्तते ॥२॥ यदि गौरित्ययं शब्दः समर्थोऽन्यनिवर्तने । जनको गवि गोबुद्धेर्मृग्यतामपरो ध्वनिः ॥ ३ ॥ ननु ज्ञानफलाः शब्दा न चैकस्य फलद्वयम् । अपवाद–विधिज्ञानं फलमेकस्य वः कथम् ॥ ४ ॥ प्रागगौरिति विज्ञानं गोशब्दश्राविणो भवेत् । येनाऽगोः प्रतिषेधाय प्रवृत्तो गौरिति ध्वनिः ॥ ५ ॥ इति ।

तदपास्तम्, प्रागर्थप्रतिबिम्बरूपविध्यर्थस्यैवावसायात्; अनन्तरं च सामर्थ्यतो निषेधप्रतीतिः, एकस्यापि रात्रिभोजननिषेधार्थापकदिवाभोजनवत् क्रमिकविधि–निषेधज्ञानद्वयफलकत्वाऽविरोधात् ।

[कुमारिल के आक्षेप का प्रतिकार]

बौद्ध कहता है कि शब्दार्थ के उक्त रूप से प्रतिपादन के फलस्वरूप, प्रकृत विषय में कुमारिल द्वारा उद्भावित आक्षेप का भी निरसन हो जाता है । कुमारिल का आक्षेप इस प्रकार है–

"बौद्ध मत में शब्द को अन्यापोह-अन्यव्यावृत्ति का बोधक कहा गया है किन्तु इस में एक बड़ी त्रुटि है वह यह कि शब्द द्वारा होनेवाले प्रतिभास में अन्यव्यावृत्ति रूप निषेधमात्र का बोध नहीं होता । किन्तु गाय-गवय-हाथी-वृक्ष इत्यादि शब्द से 'गाय-गवय-हाथी-वृक्ष' इस प्रकार भावात्मक रूप में बोध होता है। अनुभव भी यह है कि गो आदि शब्द द्वारा केवल निषेधरूप में अर्थ की प्रतीति नहीं होती किन्तु, भावरूप में अर्थ की प्रतीति होती है जो बौद्ध मत में उपपन्न नहीं होती । यदि गो आदि शब्द से अन्यव्यावृत्तिरूप अर्थ का बोध होगा तो गोत्व आदि रूप से गो आदि के अनुभव-सिद्ध बोध के लिए अन्य शब्द की अपेक्षा होगी जबकि निर्विवाद रूप से अन्य शब्द के बिना ही गो आदि शब्द से ही भावरूप से भी गो का बोध सर्वमान्य है । दूसरी बात यह है कि शब्द का फल ज्ञान है, अतः गो आदि शब्द से कोई एक ज्ञान होने से शब्दप्रयोग की सफलता हो जाती है, अतः दो ज्ञान को उत्पन्न करने का कोई औचित्य न होने से उस से दो बोध जैसे, अपवाद-अन्यव्यावृत्ति का और विधि-गोआकारता का बोध कैसे सम्भव हो सकता है ? तथा, 'गो' शब्द से मुख्यतया अगोनिवृत्ति का बोध मानने पर; गोशब्द के श्रोता को पहले गोभिन्न वस्तु का बोध होना चाहिए, क्योंकि बौद्धमत में तो गोभिन्न के निषेध के लिए ही गोशब्द-प्रयोग होता है" ।

कुमारिल का उक्त आक्षेप सर्वथा निर्जीव है, क्योंकि गो आदि शब्द से पहले गौः आदि भावात्मक आकार में अर्थ प्रतिबिम्ब का बोध होता है और उसके अनन्तर अगो आदि में श्रोता की प्रवृत्ति न होकर गौ आदि में ही प्रवृत्ति होने के सामर्थ्य से यह मानना आवश्यक होता है कि अर्थ प्रतिबिम्ब के बोध के बाद अन्यव्यावृत्ति रूप से भी उसका बोध हो जाता है । एक शब्द से एक काल में बोधद्वय की उत्पत्ति अमान्य होने पर भी क्रम से अर्थद्वय के दो बोध मानने में कोई विरोध नहीं है, क्योंकि यह सर्वमान्य है कि "पीनो देवदत्तः रात्रौ न भुङ्क्ते– स्थूल शरीर वाला देवदत्त रात्रि में भोजन नहीं करता" इस वाक्य से पहले देवदत्त के रात्रि भोजन के निषेध का ज्ञान होता है और बाद में उसकी शारीरिक स्थूलता के आधार पर उसके दिनगत भोजन का ज्ञान होता है ।

यदपि तेनैवोक्तम्—

[1]"अगोनिवृत्तिः सामान्यं वाच्यं यैः परिकल्पितम् । गोत्वं वस्त्वेव तैरुक्तम् गोऽपोहगिरा स्फुटम् ॥१॥
भावान्तरात्मकोऽभावो येन सर्वो व्यवस्थितः । तत्राश्वादिनिवृत्तात्मा भावः क इति कथ्यताम् ? ॥२॥
नेष्टोऽसाधारणस्तावद् विशेषो निर्विकल्पनात् । तथा च शाबलेयादिरसामान्यप्रसङ्गतः ॥ ३ ॥
तस्मात् सर्वेषु यद् रूपं प्रत्येकं परिनिष्ठितम् । गोबुद्धिस्तन्निमित्ता स्याद् गोत्वादन्यच्च नास्ति तत्" ॥४॥

इति; तदपि प्रत्युक्तम्, बाह्यरूपतयाऽध्यस्तस्य बुद्ध्याकारस्यैव सर्वत्र शाबलेयादौ 'गौ गौः'
इति समानरूपतयाऽवभासनात्, तत्रैव भ्रान्तप्रतिपत्तृवशेन सामान्यव्यवहारात्, मुख्यसामान्यसाधर्म्या-
ऽदर्शनेऽप्यन्तरुपप्लवात् द्विचन्द्रज्ञानवत् तत्र सामान्यभ्रान्त्युपपत्तेः, बुद्धेरव्यतिरिक्तत्वेनार्थान्तरानुगमा-
भावात् । परमार्थतोऽसामान्यरूपवत्त्वेन तस्याऽपोहवाच्यतायां सिद्धसाधनानवकाशात् ।

[कुमारिल के अन्य आक्षेप का प्रतिकार]

वह यह कि-
कुमारिल ने अन्यापोहवादी बौद्ध के विपरीत एक और भी बात कही है
"बौद्धों ने जो अगोनिवृत्ति रूप सामान्य को गो शब्द का वाच्य कहा है, निश्चय ही उन्होंने
'अगोनिवृत्ति' शब्द से वस्तुभूत भावात्मक गोत्व को ही अभिहित किया है। अपोहवादी बौद्ध
को इस प्रश्न का भी उत्तर देना है कि प्रत्येक अभाव भावान्तर रूप अर्थात् अन्य भाव स्वरूप
होता है और इसी के आधार पर प्रवृत्ति-निवृत्ति आदि की सारी व्यवस्था होती है, इस स्थिति
में वह कौनसा अश्वादि से व्यावृत्त भाव है जिससे गो शब्द से श्रोता की प्रवृत्ति होती है ?
इस प्रश्न के उत्तर में बौद्ध की ओर से यदि यह कहा जाय कि-'अन्यव्यावृत्तभाव असाधारण
है जो विकल्प निर्मुक्त विशेषरूप है' -तो यह समीचीन नहीं हो सकता क्योंकि ऐसा मानने
पर चित्र, धवल आदि को सामान्यरूपता नहीं प्राप्त हो सकती, जबकि अचित्रव्यावृत्त चित्र,
अधवलव्यावृत्त धवल आदि को सामान्य गोरूपता लोकप्रसिद्ध है। अतः यह मानना होगा कि
चित्र, धवल आदि सभी व्यक्तियों में कोई एक अनुगत रूप है जो उन सभी में गोसामान्य
बुद्धि को उत्पन्न करता है और जो भी रूप स्वीकार किया जायगा वह वस्तुभूत भावात्मक
गोत्व से भिन्न नहीं हो सकता ।"-

कुमारिल का उक्त आक्षेप भी निष्प्राण है क्योंकि चित्र, धवल आदि गो व्यक्तियों में 'गौः
गौः' इस प्रकार जो सामान्य रूपता की प्रतीति होती है उसका निमित्त कोई बाह्यसामान्य नहीं
है, किन्तु बुद्धि का आकार ही है। उसी में बाह्यरूपता का भ्रम है। इस भ्रम के अवबोध से
ही बुद्ध्याकार को बाह्य सामान्य रूप से व्यवहृत किया जाता है।

विज्ञानवाद में बाह्यवस्तु का अभाव होने से मुख्य सामान्यात्मक साधर्म्य का दर्शन न
होने पर भी अन्तर्वासना के प्रभाव से सामान्यरूपता के भ्रम की उपपत्ति ठीक उसी प्रकार
हो सकती है जैसे अर्ध निमीलित नेत्र से चन्द्रमा की ओर देखने पर दो चन्द्र का भ्रम होने
से वास्तव में दो चन्द्र न होने पर भी 'चन्द्रः चन्द्रः' इस प्रकार सामान्यरूपता की प्रतीति
होती है। विभिन्न व्यक्तियों में सामान्यरूपता की प्रतीति का भ्रम होने का यह भी कारण है
कि विभिन्न अर्थव्यक्तियाँ बुद्ध्याकार होने पर भी उनका अनुगम बुद्धि से अभिन्न रूप में नहीं
होता किन्तु बाह्यरूप में प्रतीयमान बुद्ध्याकारात्मक सामान्य के आश्रय रूप में होता है।

१ श्लोकवार्तिकेऽपोहवादे १-२--३-१० तत्त्वसंग्रहे च ९१४ तः ९१७ श्लोका द्रष्टव्याः ।

यदपि 'भ्रान्तस्य शब्दार्थत्वे बाह्यार्थानपेक्षत्वं स्यात्' इत्युच्यते; तदपि न, पारम्पर्येण वस्तुप्रतिबद्धस्य भ्रान्तस्यापि विकल्पस्य मणिप्रभायां मणिबुद्धिवद् बाह्यार्थानपेक्षत्वासिद्धेः। यदपि 'अपोहस्य निःस्वभावत्वात् अरूपस्य परस्परतो भेदाभावात्, वृक्ष–रूपादिशब्दवदभिन्नसामान्यवचनानां गवादिपदानाम्, विशेषवचनानां च शाबलेयादिपदानां पर्यायतापत्तिः' इति; तदपि न, भेदवदभेदस्याप्यभावेनाभिन्नार्थाभावे तत्र पर्यायत्वाऽऽसञ्जनस्य कर्तुमशक्यत्वात्, निर्बीजकल्पनायाश्चाऽव्यवस्थितत्वात्; तदुक्तम्–[तत्त्वसंग्रहे–१०३१–३२]

"रूपाभावेऽपि चैकत्वं कल्पनानिर्मितं यथा। विभेदोऽपि तथैवेति कुतः पर्यायता ततः? ॥ १ ॥ भावतस्तु न पर्याया न पर्यायस्य वाचकाः। नह्येकं वाच्यमेतेषामनेकं वेति वर्णितम् ॥ २ ॥ इति

बाह्यरूप में प्रतीत होने वाले बुद्ध्यात्मक सामान्य को अपोह शब्द से वाच्य मानने में सिद्धसाधन' की शङ्का नहीं हो सकती क्योंकि उक्त सामान्य के आश्रय रूप में प्रतीति होने वाले व्यक्तियों में पारमार्थिक सामान्य की आधारता नहीं होती। यदि पारमार्थिक सामान्य की आधारता होती तो उसी से विभिन्न व्यक्तियों की समानाकार प्रतीति होने से उस के लिए बाह्यतया भ्रान्त बुद्ध्यात्मक सामान्य की कल्पना करने में सिद्धसाधन का प्रसङ्ग हो सकता था, किन्तु वैसा न होने से उसकी प्रसक्ति का कोई अवसर नहीं होता।

[बाह्यार्थ अप्राप्ति की आपत्ति का प्रतिकार]

उक्त सन्दर्भ में जो यह बात कही जाती है कि 'भ्रान्त-कल्पित सामान्य को शब्दार्थ मानने पर बाह्यार्थ की अपेक्षा न होगी अर्थात् शब्द से कल्पित सामान्य रूप से बोध होने पर उस के द्वारा बोधकर्त्ता को बाह्यअर्थ की प्राप्ति न होगी'-यह भी ठीक नहीं है क्योंकि भ्रान्त विकल्प भी परम्परया वस्तु से सम्बद्ध होता है अतः उस में बाह्यार्थ निरपेक्षता-बाह्यार्थ की अप्रापकता नहीं हो सकती, क्योंकि यह सर्वमान्य है कि मणि की प्रभा में मणि की भ्रमात्मक बुद्धि भी प्रभा के मूल उद्‌गमस्थानभूत मणि की प्रापक होती है।

प्रस्तुत सन्दर्भ में जो यह बात कही जाती है कि-'अपोह का कोई स्वभाव नहीं होता, अतः अपोह मानने पर भी अपोहनीय व्यक्ति स्वरूपहीन होगी, फलतः उन में कोई भेद नहीं होगा। उसके परिणाम स्वरूप अभिन्न सामान्य के वाचक गो आदि पद और अभिन्न विशेष के वाचक शाबलेय-चित्र धवल आदि पदों में ठीक उसी प्रकार पर्यायता की आपत्ति होगी जैसे वृक्ष और उसके रूप में अभिन्नता के पक्ष में वृक्ष, वृक्षरूप आदि शब्दों में पर्यायता होती है'-तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि भेद के समान ही अभेद भी वास्तविक नहीं है। अतः अभिन्न अर्थ का अस्तित्व न होने से उक्त सामान्यरूप विशेष शब्दों में एकार्थता न हो सकने से पर्यायता की आपत्ति नहीं दी जा सकती। और यदि अकारण कोई कल्पना की जायगी तो उसका कोई पर्यवसान ही नहीं होगा, जैसा कि तत्त्वसंग्रह में कहा गया है कि 'वृक्ष आदि आश्रय से भिन्नरूप का अस्तित्व न होने पर भी आश्रय और उसके रूप में काल्पनिक एकत्व है उसी प्रकार बाह्यव्यक्तिरूप भेद भी कल्पित हैं, वास्तविक नहीं है। फिर ऐसी स्थिति में सामान्यवाची और विशेषवाची गो एवं चित्र आदि पदों में पर्यायता की आपत्ति कैसे हो

न चैकेनानुगामिना विना बहुष्वेका श्रुतिर्न नियोक्तुं शक्येति वक्तव्यम्, इच्छामात्रप्रतिबद्धत्वात् शब्दानामर्थप्रतिनियमस्य। स्यादेतद्-मा भूत् पर्यायत्वमेषाम् अर्थाभेदस्य कल्पितत्वात्; सामान्य-विशेषवाचित्व व्यवस्था तु विना सामान्यविशेषाभ्यां कथमेषामिति ?। मैवम् बह्वल्पविषयतत्संकेतानुसारतः सामान्यविशेषवाचित्वाऽविरोधात्, वृक्ष-धवादिशब्दानामवृक्षाऽधवादिव्यवच्छेदमात्रानुस्यूतार्थप्रतिबिम्बजनकत्वात्।

यदपि 'विनाऽपोह्यस्याधारस्य वा भेदं नापोहभेदः, तद्भेदश्च न वस्तुभूतं सामान्यमन्तरेण, इति किमपोहेन ?' इति; तदपि न, कल्पनयैव व्यावृत्तीनां भेदात्, तत्राऽपोह्यादिभेदस्याऽतन्त्रत्वात्। परमार्थतस्त्वनादिविकल्पवासना(ज)न्यविविक्तवस्तुसंकेतादेर्निमित्ताद् विकल्पानामेव भेदाभ्युपगमात्।

सकती है ? और सत्य बात यह है कि परमार्थ से भिन्न या अभिन्न कोई भी शब्दवाच्य वस्तु है ही नहीं तो फिर वाचकरूप में अभिमत शब्दों में पर्यायता या अपर्यायता की बात ही कहाँ ? पहले ही कह दिया है कि स्वलक्षण या जातिरूप एक या अनेक कोई शब्दवाच्य नहीं है।

[सामान्य विशेषवाची शब्द भेद की उपपत्ति]

यदि यह कहा जाय कि-'अनेक व्यक्तियों में अनुगत एक रूप माने बिना अनेक व्यक्तियों में एक शब्द के प्रयोग को नियमित नहीं किया जा सकता। अतः अनुगतरूप को मानना आवश्यक है' -तो यह ठीक नहीं है क्योंकि अर्थ में शब्द का नियमन इच्छा मात्र मूलक है, वस्तुमूलक नहीं है। अतः अनुगतरूप के अभाव में भी नियत अर्थों में नियत शब्दों का नियमन इच्छा द्वारा सम्भव होने से अनुगतरूप की कोई आवश्यकता नहीं होती। यदि यह कहा जाय कि-'ठीक है कि सामान्य विशेषवाची उक्त शब्दों में पर्यायता की आपत्ति भिन्न-अभिन्न वस्तुभूत अर्थों के न होने के कारण नहीं हो सकती, किन्तु गो, शाबलेय आदि शब्दों में सामान्य और विशेष के वाच्यत्व की व्यवस्था सामान्य और विशेष के अभाव में कैसे हो सकती है ? अतः सामान्य और विशेष स्वरूप वस्तु का अस्तित्व मानना आवश्यक है' -तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि अधिक और अल्प विषय और उनके संकेत से उक्त व्यवस्था सम्भव है; जिस शब्द का संकेत अधिक विषयक होगा वह सामान्यवाची और जिस शब्द का संकेत अल्प विषयक होगा वह विशेषवाची कहा जा सकता है, क्योंकि वृक्ष, धव आदि शब्द अवृक्षव्यावृत्त एवं अधवव्यावृत्त अर्थ-प्रतिबिम्ब के जनक होते हैं। धव-खदिरादि अवृक्षव्यावृत्त अर्थ प्रतिबिम्बों में संकेतित होने से 'वृक्ष' शब्द सामान्यवाची और केवल अधवव्यावृत्ति अर्थ में संकेतित होने से 'धव' शब्द विशेषवाची होता है।

[अपोहभेद-अपोह्यभेद के लिये सामान्य अनावश्यक]

इसी सन्दर्भ में जो यह बात कही जाती है कि-'अपोहनीय आधार के भेद के बिना अपोहभेद नहीं हो सकता और अपोहनीय आधार का भेद वस्तुभूत सामान्य के बिना नहीं हो सकता। अतः जब अपोहनीय आधार के भेद के लिए वस्तुभूत सामान्य मानना आवश्यक है तब अपोह की क्या आवश्यकता है ?' -यह भी ठीक नहीं है क्योंकि अन्य व्यावृत्तिरूप अपोह

तदुक्तम्–[चत्वार आद्या त० सं० १०४५ त: १०४८, पंचमश्च प्र० वा० ३–८६]
"ताश्च व्यावृत्तयोऽर्थानां कल्पनाशिल्पिनिर्मिताः । नापोह्या–ऽऽधारभेदेन भिद्यन्ते परमार्थतः ॥ १ ॥
तासां हि बाह्यरूपत्वं कल्पितं न तु वास्तवम् । भेदा–ऽभेदौ च तत्त्वेन वस्तुन्येव व्यवस्थितौ ॥ २ ॥
स्वबीजनेकविश्लिष्टवस्तुसंकेतशक्तितः । विकल्पास्तु विभिद्यन्ते तद्रूपाध्यवसायिनः ॥ ३ ॥
नैकात्मतां प्रपद्यन्ते न भिद्यन्ते च खण्डशः । स्वलक्षणात्मका अर्था विकल्पः प्लवते त्वसौ ॥ ४ ॥
संसृज्यन्ते न भिद्यन्ते स्वतोऽर्थाः पारमार्थिकाः । रूपमेकमनेकं वा तेषु बुद्धेरुपप्लवः ॥ ५ ॥ इति ॥

यदपि 'अपोहस्य प्रतिपाद्यत्वे शब्द–लिङ्गयोः प्रामाण्यं न स्यात्; प्रतिपाद्याऽव्यभिचारित्वेनैव हि तयोः प्रामाण्यम्, प्रतिपाद्यश्चापोहो निःस्वभावः, इति क्व तयोरव्यभिचारित्वम् ?' इति; **तदपि न**, वस्तुभूतसामान्याभावेऽपि विजातीयव्यावृत्तस्वलक्षणमात्रेणान्वयोपपत्तेः, अविवक्षितभेदस्य स्वलक्षणस्यैव सामान्यलक्षणत्वात् । **यदपि** 'यथा स्वलक्षणादिषु समयाऽसंभवाद् न शब्दार्थत्वं तथाऽपोहेऽपि । अर्थं निश्चित्य हि समयः कर्तुं शक्यते; न चापोहः केनचिदिन्द्रियैरर्थ-

---

का परस्परभेद काल्पनिक है उसके लिए अपोहनीय आधार का भेद मानना अनावश्यक है । सत्य यह है कि विकल्प यानी विशिष्टानुभव से उत्पन्न वासनायें अनादि हैं। उन्हीं के आधार पर माने जाने वाले विभिन्न वस्तुओं में विभिन्न संकेत होते हैं और उन संकेतों से ही विकल्पों का जन्म होता है। जैसा कि तत्त्वसंग्रह में कहा गया है-"अर्थों के अन्यव्यावृत्तिरूप विभिन्न अपोह केवल कल्पना निर्मित हैं, उनका परस्पर भेद अपोहनीय आधार के पारमार्थिक भेद की अपेक्षा नहीं करता हैं। अन्य व्यावृत्तियों में जो बाह्यरूपता ज्ञात होती है वह भी कल्पित है वास्तव नहीं। जबकि भेद और अभेद वास्तव में वस्तु में ही अभ्युपगत है। अपने सहज अनादिविकल्पवासनारूप बीज, अनेक से व्यावृत्त वस्तु और संकेत, इन सभी के सामर्थ्य से व्यावृत्त वस्तु के अध्यवसायि विकल्प ही परमार्थतः भिन्न होते हैं। अभेदाध्यवसायी या भेदाध्यवसायी विकल्पों से स्वलक्षणात्मक अर्थों में भेद नहीं पड जाता किन्तु विकल्प ही भेदानुभव करता है।" प्रमाणवार्तिक में भी कहा है-"वस्तुभूत अर्थ न तो परस्पर संसृष्ट होते हैं और न भिन्न ही होते हैं। उनमें प्रतीयमान एकरूपता किंवा अनेकरूपता केवल विकल्पात्मक बुद्धि की ही देन है।"

[शब्द और लिंग के अप्रामाण्य की आपत्ति निरवकाश]

अपोह के विरुद्ध जो यह बात कही जाती है कि "अपोह को प्रतिपाद्य मानने पर शब्द और लिङ्ग के प्रामाण्य का व्याघात होगा क्योंकि वे दोनों अपने प्रतिपाद्य का अव्यभिचारी होने से ही अपने प्रतिपाद्य के विषय में प्रमाण होते हैं। अपोह निःस्वभाव है, अतः इसमें शब्द एवं लिङ्ग का अव्यभिचार नहीं हो सकता, क्योंकि अव्यभिचार किसी स्वभावोपेत वस्तु में ही होता है" -यह भी ठीक नहीं है। वस्तुभूत सामान्य के न होने पर भी विजातीयव्यावृत्त स्वलक्षणात्मक वस्तु में अन्वय-अव्यभिचार की उपपत्ति हो सकती है क्योंकि वस्तुभूत सामान्य के मान्य न होने पर भी परस्पर भिन्न रूप में अविवक्षित अन्यव्यावृत्तस्वलक्षणात्मक वस्तुरूप सामान्य बौद्ध को भी मान्य है। अतः सामान्य के द्वारा स्वलक्षणात्मक वस्तु में शब्द और लिङ्ग के अव्यभिचार की उपपत्ति हो सकती है।

वसीयते, व्यवहारपूर्वं तस्याऽवस्तुत्वात्, इन्द्रियाणां च वस्तुविषयत्वात्। न चान्यव्यावृत्तं स्वलक्षणमुपलभ्य शब्दः प्रयोक्ष्यते, अन्यापोहादन्यत्र शब्दवृत्तेः प्रवृत्त्यनभ्युपगमात्; नाप्यनुमानेनापोहाध्यवसायः; न चान्वयलिङ्गनिर्मुक्ता प्रवृत्तिः, 'शब्द-लिङ्गयोः' इत्यादिना तत्प्रतिषेधात्' इति; तदप्यत एव निरस्तम्, स्वलक्षणात्मनोऽपोहस्येन्द्रियैरेव गम्यत्वात्, अर्थप्रतिबिम्बात्मनश्च परमार्थतो बुद्धिस्वभावत्वेन स्वसंवेदनप्रत्यक्षत एव सिद्धेः, प्रसज्यप्रतिषेधात्मनोऽपि सामर्थ्यगम्यत्वात्।

*यदपि 'इतरेतराश्रयदोषप्रसक्तेरपोहे संकेतोऽशक्यक्रियः; तथाहि-अगोव्यवच्छेदेन गोः प्रतिपत्तिः, स चागौर्गोनिषेधात्मा, तत्र नञा निषेध्यो गौर्ज्ञातव्यः, अनिर्ज्ञातस्वरूपस्य निषेद्धुमशक्यत्वात्; एवं च गौरगोप्रतिपत्तिद्वारा प्रतीतिः, अगोश्च गोप्रतिपत्तिद्वारा, इति व्यक्तमितरेतराश्रयत्वम्, प्रतीते च प्राग् गवि किमपोहेन?, अप्रतीते च कथं तत्प्रत्ययः? इति। तदाह—[श्लो० वा० अपोह० ८३-८४]

"सिद्धश्चागौरपोह्येत गोनिषेधात्मकश्च सः। तत्र गौरेव वक्तव्यो नञा यः प्रतिषिध्यते ॥ १ ॥

अपोह के विरुद्ध जो दूसरी बात यह कही जाती है कि-"जैसे स्वलक्षण वस्तु में शब्द का सङ्केत सम्भव न होने से वह शब्दार्थ नहीं होता उसी प्रकार अपोह में भी सङ्केत सम्भव न होने से वह भी शब्दार्थ नहीं हो सकता क्योंकि निश्चित अर्थ में ही शब्द का सङ्केत होता है और अपोह का निश्चय किसी को भी इन्द्रिय द्वारा नहीं होता, क्योंकि शब्दव्यवहार के पूर्व वह अज्ञात होने से अवस्तु होता है और इन्द्रियाँ वस्तु-सत् को ही ग्रहण करती हैं। यदि बौद्ध यहाँ बचाव करे कि-'अन्य व्यावृत्तस्वलक्षण की प्रत्यक्ष उपलब्धि होती है। अतः इस उपलब्धि के आधार पर उसमें शब्द का प्रयोग हो सकेगा'-तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि अन्यापोह से भिन्न में शब्द की प्रवृत्ति नहीं होती। अनुमान से भी अपोह का निश्चय नहीं हो सकता क्योंकि अन्वय अव्यभिचार के बिना आनुमानिक प्रतिपत्ति नहीं होती और अन्वय का निषेध "शब्द-लिङ्गयोः प्रामाण्यं न सम्भवति" आदि शब्दों से कर दिया गया है।-" वह बात भी इस लिए निरस्त हो जाती है कि अन्यव्यावृत्त स्वलक्षणात्मक अपोह का ग्रहण इन्द्रिय द्वारा होता है और अर्थ प्रतिबिम्बरूप अपोह का ग्रहण उसके बुद्धिस्वरूप होने से स्वसंवेदि प्रत्यक्ष से सिद्ध है और प्रसज्यप्रतिषेधरूपअपोह सामर्थ्य द्वारा गम्य है।

[अपोह मान्यता में अन्योन्याश्रय-कुमारील का पूर्वपक्ष]

अपोह के विपक्ष में पूर्वपक्षी अब विस्तार से यह कहते हैं कि-अन्योन्याश्रय दोष के कारण अपोह-अगोव्यावृत्त आदि में सङ्केत होना शक्य नहीं है: जैसे-अपोहपक्ष में गो का अगोभिन्नरूप में ज्ञान होता है और अगो गोभिन्नरूप होने से उसका ज्ञान गोभेद के प्रतियोगीभूत गो के ज्ञान के अधीन है। यतः अभावज्ञान में प्रतियोगीज्ञान कारण होने से अज्ञात प्रतियोगी के निषेध का बोध अशक्य है। इस प्रकार गोज्ञान के लिए अगोज्ञान की और के अगोज्ञान के लिए गोज्ञान की अपेक्षा होने से अन्योन्याश्रय स्पष्ट है। इस दोष से मुक्ति पाने लिए यदि अगोज्ञान के बिना भी गो की प्रतीति मान ली जायगी तो अपोह की कल्पना

* अस्य दूरेण 'तदपि न' पदैः २४७ पृष्ठे सैयोऽन्वयः।

स चेदगोनिवृत्त्यात्मा भवेदन्योन्यसंश्रयः। सिद्धश्चेद् गौरपोहार्थं वृथाऽपोहप्रकल्पनम् ॥ २ ॥
गव्यसिद्धे त्वगौर्नास्ति तदभावेऽपि गौः कुतः ?।" (८५ पूर्वार्धम्) इति।

अपिच, एवं नीलोत्पलादिशब्दानामर्थान्तरनिवृत्तिविशिष्टार्थाभिधायकत्वमपि दिङ्नागोक्तं विरुद्धमेव, अनीलाऽनुत्पलादिव्यवच्छेदरूपतयाऽभावैकरूपाणां नीलोत्पलाद्यर्थानामाधाराधेयभावाद्यनुपपत्तेः, तदुक्तम्—" नाधाराधेयवृत्त्यादिसंबंधश्चाप्यभावयोः " (श्लो० वा० अपोह० ८५ उत्तरार्धः) इति। न चानील–ऽनुत्पलाभ्यां व्यावृत्तं वस्त्वेवार्थान्तरनिवृत्त्या विशिष्टमुच्यत इति युक्तम् ; स्वलक्षणस्याऽवाच्यत्वात्। न च स्वलक्षणस्यान्यनिवृत्त्या विशिष्टत्वमपि युज्यते, वस्त्ववस्तुनोः संबन्धाभावात्, वस्तुद्वयाधारत्वात् तस्य। भावेऽपि नीलादिबुद्ध्याऽपोहाग्रहणेन तस्य विशेषणत्वायोगात्। ज्ञातं सद्यत् स्वाकारानुरक्तबुद्धिं जनयति, तस्यैव विशेषणत्वात्। न चेदमपोहे युज्यते, प्रागज्ञानात् स्वाकार-

---

सार्थक न होगी। और यदि अगोज्ञान के पूर्व गो का ज्ञान न होगा तो उसके बिना अगो का भी ज्ञान सम्भव न हो सकेगा। जैसा कि श्लोकवार्त्तिक में कहा गया है कि "अगो के सिद्ध=ज्ञात होने पर ही उसका अपोहन=भेदप्रतियोगी रूप से बोधन हो सकता है, किन्तु अगो गोनिषेधात्मक=गोभिन्नरूप है। अतः गो का बोध आवश्यक है, क्योंकि उसके होने पर ही नञ् से गो का प्रतिषेध हो सकता है। इससे यह निर्विवाद है कि यदि गो अगोव्यावृत्ति रूप है तो अन्योन्याश्रय अनिवार्य है और यदि गो अगोज्ञान के बिना भी ज्ञात हो सकता है तो उसके लिए अपोह की कल्पना व्यर्थ है। गो के अज्ञात होने पर अगो का ज्ञान और अगो के अज्ञात होने पर गो का ज्ञान कैसे सम्भव हो सकता है यह प्रश्न ही है।"

[अर्थान्तर निवृत्ति विशिष्टार्थ वाचकता असंगत]

दिङ्नाग का यह कथन भी कि–'नीलोत्पल आदि शब्द अर्थान्तर अनील और अनुत्पल की निवृत्ति से विशिष्ट अर्थ के वाचक हैं' असङ्गत ही है क्योंकि नील अनीलव्यावृत्त और उत्पल अनुत्पलव्यावृत्त स्वरूप होने से अभावरूप है। अतः नील और उत्पल पदार्थ में आधाराधेयभाव अनुपपन्न है, जैसा कि श्लोकवार्त्तिक में कहा गया है कि 'अभावों में आधाराधेयभाव आदि सम्बन्ध अशक्य है।' यदि यह कहा जाय कि–'अनील और अनुत्पल से भिन्न वस्तु ही अर्थान्तर निवृत्ति-अनीलव्यावृत्ति और अनुत्पलव्यावृत्ति से विशिष्ट होने से नील एवं उत्पल शब्द से वाच्य है' –तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि स्वलक्षण वस्तु वाच्य नहीं होती और स्वलक्षण अन्यनिवृत्ति से विशिष्ट भी नहीं होता है; क्योंकि स्वलक्षणात्मकवस्तु और अन्यनिवृत्त्यात्मक अवस्तु के मध्य सम्बन्ध नहीं हो सकता, क्योंकि सम्बन्ध दो भावात्मक वस्तुओं में ही आधारित होता है। और यदि स्वलक्षणवस्तु और अर्थान्तर निवृत्ति के मध्य आधाराधेयभाव मान भी लिया जाय तो भी नीलवस्तु की बुद्धि द्वारा अपोह का ग्रहण न होने से वह विशेषण नहीं हो सकता, क्योंकि 'जो ज्ञात होकर अपने आकार से अनुरक्त बुद्धि का जनक' होता है वही विशेषण होता है और यह अपोह में सङ्गत नहीं है क्योंकि ज्ञान होने के पूर्व उसके आकार से अनुरक्त बुद्धि का जन्म नहीं हो सकता और उससे विशेष्य का उपरञ्जन–विशिष्टीकरण भी नहीं हो सकता, क्योंकि भाव और अभाव में विरोध होने से अभाव के आकार से भाव का आकारित होना युक्तिसङ्गत नहीं है।

धियोऽभावात्, तथा विशेष्यानुपरक्तेश्च, भावा-ऽभावयोर्विरोधात्। तदाह—

"न चाऽसाधारणं वस्तु गम्यतेऽपोहवत्तया। कथं वा परिकल्प्येत संबन्धो वस्त्ववस्तुनोः ? ॥ १ ॥
स्वरूपसत्त्वमात्रेण न स्यात् किञ्चिद्विशेषणम्। स्वबुद्धया रज्यते येन विशेष्यं तद् विशेषणम् ॥ २ ॥
न चाप्यश्वादिशब्देभ्यो जायतेऽपोहबोधनम्। विशेष्यबुद्धिरिष्टेह न चाज्ञातविशेषणा ॥ ३ ॥
न चान्यरूपमन्यादृक् कुर्याज्ज्ञानं विशेषणम्। कथंवान्यादृशे ज्ञाने तदुच्येत विशेषणम् ? ॥ ४ ॥
अथान्यथा विशेष्येऽपि स्याद् विशेषणकल्पना। तथा सति हि यत्किञ्चित् प्रसज्येत विशेषणम् ॥ ५ ॥
अभावगम्यरूपे च न विशेष्येऽस्ति वस्तुता। विशेषितमपोहेन वस्तुवाच्यं न तेऽस्त्यतः ॥ ६ ॥"
इति [श्लो० वा० अपोह० ८६ तः ९१ तत्त्वसंग्रहे ९४५ तः ९५०]

अपिच, व्यक्तीनामवाच्यत्वेनाऽनपोह्यत्वात् सामान्यस्य तथात्वेन वस्तुत्वं स्यात्। अपोहास्तु नापोह्याः, अभावरूपत्यागेन वस्तुत्वापातात्, वस्तुत्वनियतत्वाच्च निषेधप्रतियोगित्वस्य।

तदुक्तम्—[श्लो० वा० अपोह० ९५-९६ तत्त्वसंग्रहे ९५४-५५]
"यदा चाऽशब्दवाच्यत्वाद् न व्यक्तीनामपोह्यता। तदापोह्येत सामान्यं तस्यापोहाच्च वस्तुता ॥ १ ॥

श्लोकवार्त्तिक में कहा भी गया है कि "असाधारण-स्वलक्षणवस्तु अपोह के आश्रयरूप में ज्ञात नहीं होती, वस्तु और अवस्तु के मध्य सम्बन्ध की कल्पना भी कैसे हो सकती है ? ॥१॥

कोई भी वस्तु स्वरूपसत् होने मात्र से विशेषण नहीं बन जाती, अपितु जो अपनी बुद्धि से विशेष्य को अनुरञ्जित करती है वही विशेषण होती है ॥२॥

अश्व आदि शब्दों से अपोह का बोध नहीं होता। विशेषण के ज्ञान के बिना विशेष्य की बुद्धि इष्ट भी नहीं है ॥३॥

स्वाकारवाला विशेषण अन्याकार ज्ञान को उत्पन्न करने में समर्थ नहीं, यदि वह स्वाननु-रूप ज्ञान को उत्पन्न करेगा तो विशेषण कैसे कहा जायगा ? ॥४॥

यदि अन्य प्रकार से ज्ञायमान विशेष्य में रूपान्तर को विशेषण माना जायगा तो कोई भी वस्तु कहीं भी विशेषण होने लगेगी ॥५॥

अभाव द्वारा ज्ञातव्य विशेष्य, वस्तुरूप नहीं हो सकता, क्योंकि भाव-अभाव में विरोध होता है अतः अपोह से विशिष्ट वस्तु वाच्य नहीं हो सकती ॥६॥

[अपोह्य की अनुपपत्ति]

अपोह के विपक्ष में एक यह भी बात है कि अपोह के व्यावर्तनीय का उपपादन न हो सकने से भी अपोह को मान्यता नहीं दी जा सकती। जैसे-व्यक्ति-स्वलक्षण वस्तु को अपोह्य नहीं माना जा सकता, क्योंकि वह शब्दवाच्य नहीं है। सामान्य शब्दवाच्य अवश्य है किन्तु उसे भी अपोह्य नहीं माना जा सकता, क्योंकि उसे अपोह्य मानने पर वह भी वस्तु हो जायगा, क्योंकि अपोह्यता-भेदप्रतियोगिता वस्तुत्व की व्याप्य होती है। अपोह को भी अपोह्य नहीं माना जा सकता, क्योंकि शब्दवाच्य होने से उसमें अपोह्यत्व की सम्भावना तो हो सकती है किन्तु उसे अपोह्य मानने पर उसकी अभावरूपता का विलय हो जाने से उसकी अपोहरूपता

नापोह्यत्वमभावानामभावाभाववर्जनात् । व्यक्तोऽपोहान्तरेऽपोहस्तस्मात् सामान्यवस्तुनः ॥ २ ॥ इति ।

अपिच, अपोहानां परस्परतो वैलक्षण्ये गोशब्दाभिधेयस्य गोनिषेधवैलक्षण्याद् भावत्वं स्यात्, अभावनिवृत्तिरूपत्वाद् भावस्य । अवैलक्षण्ये च गौरप्यगौः प्रसज्येत, तदवैलक्षण्येन तादात्म्यसिद्धेः । न चानादिकालप्रवृत्तविचित्रतथार्थविकल्पवासनाभेदाद् भिन्ना इवार्थात्मान इवास्वभावा अपोहाः समारोप्यन्त इति युक्तम्, अवस्तुनि वासनाऽसंभवात्, वासनाहेतोर्निर्विषयप्रत्ययस्याऽयोगात्' इति ।

तदपि न, अन्यग्रहणमन्तरेणैव प्रतिभासरूपगवावसाये तदनन्तरमगोव्यावृत्तेः सामर्थ्यलभ्यत्वेऽन्योन्याश्रयाभावात्, परमार्थतः क्वचिदप्यपोहविशिष्टार्थानभिधानेनाधाराधेयभावाद्यनुपपत्त्ययोगात्,

---

ही समाप्त हो जायगी। श्लोकवार्तिक में कहा भी गया है कि "शब्द के अवाच्य होने से जब व्यक्ति-अपोह्य नहीं हो सकता, तब सामान्य को ही अपोह्य कहना होगा, और ऐसा होने पर वही वाच्य हो जाने से उसमें वस्तुत्व की आपत्ति होगी ॥ १ ॥ अपोह भी अपोह्य नहीं हो सकता क्योंकि अपोह्य होने पर अभावात्मक अपोह की अभावरूपता ही वर्जित हो जायगी। इसलिए मानना होगा कि एक अश्वादि अपोह में होने वाला गोआदि का अपोह वस्तुभूत सामान्यरूप का ही हो सकता है" ॥ २ ॥

[गोत्व में भावरूपता की प्रसक्ति]

अपोह के प्रतिकूल यह भी एक बात है कि यदि अपोहों में परस्पर भेद होगा तो अगोनिवृत्तिरूप गोत्व में गोनिवृत्तिरूप अगोत्व का भेद होने से अगोनिवृत्तिरूप गोत्व गोनिवृत्ति का निवृत्तिरूप होने से भावरूप हो जायगा, फलतः उसकी अपोहरूपता समाप्त हो जायगी। और यदि अपोहों में परस्पर भेद न होगा तो गोनिवृत्तिरूप अगोत्व और अगोनिवृत्तिरूप गोत्व में ऐक्य होने से अगो में गोरूपता की और गो में अगोरूपता की प्रसक्ति होगी, क्योंकि जिसमें जिस का अवैलक्षण्य होता है उसमें उसका तादात्म्य अनिवार्य है।

यदि यह कहा जाय कि-'जैसे गो और अगो में परस्पर भिन्नता होने की विकल्पबुद्धि से जनित वासनाभेद के कारण उनमें भिन्नता मानी जाती है उसी प्रकार अगो में गोनिवृत्तिरूप अपोह की भावरूप में और गो में अगोनिवृत्तिरूप अपोह की भावरूप में कल्पना की जा सकती है' -तो यह ठीक नहीं है। क्योंकि अवस्तु की कोई वासना नहीं हो सकती। यतः निर्विषयक यानी अवस्तुविषयक ज्ञान, वासना का हेतु नहीं होता।

[कुमारिलकृत पूर्वपक्ष युक्तियों का निरसन]

अपोह के प्रतिकूल कही गयी उक्त बातों का प्रत्युत्तर देते हुए बौद्ध कहते है कि अगोनिवृत्तिरूप गोत्व को गोशब्द का वाच्य मानने में जो अन्योन्याश्रय की आपत्ति दी गयी है वह ठीक नहीं है क्योंकि अगो का ज्ञान न होने की दशा में अगोनिवृत्तिरूप से गो का ज्ञान न होने पर भी गो का प्रतिभासरूप (गो के विशेषरूप को विषय न करने वाला) सामान्य ज्ञान, हो सकता है। और उसके अनन्तर ज्ञाता की अगो में प्रवृत्ति होने के सामर्थ्य से उसमें अगोनिवृत्ति का ज्ञान हो सकता है। इस प्रकार अगोनिवृत्तिरूप गोत्व के आश्रयभूत गो के ज्ञान में अगो ज्ञान की अपेक्षा न होने से अन्योन्याश्रय की प्रसक्ति नहीं हो सकती।

नीलोत्पलादिप्रतिभासाकारेष्वेव प्रातिभासिकवैशिष्ट्याद्याकारभावेनोपपत्तेः । 'नीलोत्पलादिशब्दा अर्थान्तरनिवृत्तिविशिष्टानर्थानाहुः' इत्याचार्योक्तेः; वस्तुतो बुद्ध्यारूढार्थाभिधानेऽपि बाह्यार्थाध्यवसायिविकल्पोत्पादनात्, जात्याद्यभिधाननिराकरणप्रयोजनकोपचाराश्रयणेनादुष्टत्वात् ।

तदुक्तम्-[त० सं० १०६७ तः ७०]

"अर्थान्तरनिवृत्त्याह विशिष्टानिति यत् पुनः । प्रोक्तं लक्षणकारेण तत्रायेऽयं विनिश्चितः ॥१॥
अन्यान्यत्वेन ये भावा हेतुना करणेन वा । विशिष्टा भिन्नजातीयैरसंकीर्णा विनिश्चिताः ॥२॥
वृक्षादीनाहतान् ध्वानस्तद्भावाध्यवसायिनः । ज्ञानस्योत्पादनादेतज्जात्यादेः प्रतिषेधनम् ॥३॥

अपोह विशिष्ट को शब्दवाच्य मानने पर जो यह कह कर आधाराधेय भाव की अनुपपत्ति बतायी गयी कि 'अभावात्मक अपोह और स्वलक्षण वस्तु में सम्बन्ध न हो सकने से, उनके अपोह विशिष्ट न हो सकने के कारण, किसी अपोह विशिष्ट अवस्तु को ही शब्द का वाच्य मानना पडेगा, और यह सम्भव नहीं हो सकता क्योंकि अपोह और उससे विशिष्ट अर्थ दोनों के अभावात्मक होने से उनमें आधाराधेयभाव नहीं हो सकता-यह अनुपपत्ति भी नहीं हो सकती । क्योंकि वास्तव में अपोह विशिष्ट अर्थ को शब्द का वाच्य मानना अभिप्रेत नहीं है। आशय यह है कि अपोह विशिष्टरूप में जिस अर्थ को शब्दवाच्य मानना है उसमें अपोह का वास्तव वैशिष्ट्य अपेक्षित नहीं है, और अवास्तव वैशिष्ट्य अभावों में भी मानने में कोई बाधा नहीं है।

[दिग्नाग के कथन में आशय की स्पष्टता]

'नीलोत्पल आदि शब्द अनीलव्यावृत्ति और अनुत्पलव्यावृत्ति विशिष्ट अर्थ के वाचक हैं' दिग्नाग के इस कथन का जो यह कह कर निराकरण किया गया कि 'अनीलव्यावृत्ति और अनुत्पलव्यावृत्ति के अभावरूप होने से एक दूसरे का आश्रय न हो सकने के कारण नीलोत्पल शब्द को अर्थान्तरव्यावृत्ति विशिष्ट अर्थ का वाचक बताना असङ्गत है' यह ठीक नहीं है क्योंकि नीलोत्पल शब्द से अवगत होने वाले प्रतिभासाकार नील और उत्पल में अनीलव्यावृत्ति और अनुत्पलव्यावृत्ति का वास्तव वैशिष्ट्य न हो सकने पर भी प्रातिभासिक वैशिष्ट्य सम्भव है, नीलोत्पल शब्द से उसी वैशिष्ट्य का बोध होता है ।

आशय यह है कि आचार्य दिग्नाग नीलोत्पल शब्द को अर्थान्तरव्यावृत्तिविशिष्ट अर्थ का वाचक बता कर यह कहना चाहते हैं कि नीलोत्पल शब्द से नील और उत्पल शब्द के अनीलव्यावृत्ति और अनुत्पलव्यावृत्तिरूप अर्थों में बौद्धिक वैशिष्ट्य होने के आधार पर उक्त निवृत्ति से विशिष्ट बाह्य अर्थ का बोध होता है। अतः नीलोत्पल शब्द के वाच्यरूप में नीलत्व, उत्पलत्व आदि भावात्मक जाति की कल्पना अनावश्यक है ।

तत्त्वसंग्रह में कहा भी गया है कि-आचार्य ने जो यह बात कही है कि 'शब्द अर्थान्तरनिवृत्ति से विशिष्ट अर्थ का अभिधान करता है' उसका विवक्षित अर्थ निम्नोक्त है ॥१॥

'जो वृक्षादि भाव यानी अर्थ अपने हेतु द्वारा या अपने करण द्वारा अन्य व्यावृत्तरूप से विशिष्ट तथा भिन्न जातियों से असंकीर्ण-विलक्षणरूप में सुनिश्चित है ॥ २ ॥

उन वृक्ष आदि अर्थों को शब्द अभिहित करता है' यह उपचार किया है, क्योंकि शब्द से अर्थान्तरनिवृत्तिविशिष्ट अर्थ को अध्यवसित करने वाले ज्ञान की उत्पत्ति होती है। भावात्मक जाति आदि का निषेध ही उपचार का प्रयोजन है ॥ ३ ॥

बुद्धौ येऽर्थाविवर्तन्ते तानाहाभ्यन्तरानयम् । निवृत्त्या च विशिष्टत्वमुक्तमेषामनन्तरम् ॥४॥ " इति अगोव्यावृत्तेश्च वस्तुरूपाया एव विशेषणतयोपादानेन स्वाकारधिया विशेषानुरञ्जनस्याप्युपपत्तेः। न च पुरुषे दण्डस्येवेतरव्यावृत्तेर्गवादेर्भेद एव विशेषणत्वोपपत्तिरिति वाच्यम्, अनुपकारकस्य विशेषणत्वाऽयोगात् । उपकारकत्वस्य च युगपद्ऽयुगपत्कालभावयोः सर्वात्मना परिनिष्पत्त्यऽसामर्थ्याभ्यामयोगात्, काल्पनिकस्य विशेषण-विशेष्यभावस्य कल्पनारचितं भेदमाश्रित्योपपत्तेः ।

'व्यक्तीनामवाच्यत्वेनानपोह्यता' इत्यत्र च हेतुरेवासिद्धः, सांवृतस्य वाच्यत्वस्य तत्र प्रसिद्धेः, तात्त्विकं तु वाच्यत्ववदपोह्यत्वमपि न तत्रेति सिद्धसाध्यता । इत्थं च 'सामान्यस्याऽपोह्यत्वेन वस्तुता' इत्यत्र हेतोरसिद्धत्वम्, अनैकान्तिकत्वं च। न चापोहेऽपि वस्तुता, साध्यविपर्ययहेतोर्बाधकप्रमाणाभावात्, भावे विधिरूपतयाऽपोह्यत्वेऽप्यभावत्वेनाऽनपोह्यत्वात्, भवतामपि प्रकृतीश्वरादिजन्यत्वस्य निषेधेऽपि तस्य वस्तुत्वानापत्तिवदस्माकमपोह्यत्वेऽप्यभावस्य वस्तुत्वानापत्तेः, प्रतियोगित्वस्य वस्तुत्वाऽनियतत्वात्, तदभावाभावत्वादिरूपत्वे तस्य षष्ठ्यर्थाद्यनिरुक्तेः, विशेषणत्वादिवत् कल्पनामात्रनिर्मितत्वात्, आभाससिद्धस्यापि विधि-निषेधोपपत्तेः; अभावग्रहे प्रतियोगिग्रहस्य हेतुत्वेऽपि

(अथवा) जो अर्थ बुद्धि में विवर्तमान-प्रतिभासमान होते हैं, शब्द स्वभावतः पहले उन्हीं अभ्यन्तर अर्थों का अभिधान करता है। उनमें अर्थान्तरनिवृत्ति का वैशिष्ट्य तो अन्यान्यत्वेन० इस श्लोक से कह दिया है ॥ ४ ॥

[अर्थान्तर निवृत्तिरूप अपोह में विशेषणता की उपपत्ति]

अपोह के विरुद्ध जो यह बात कही गयी है कि 'अर्थान्तरनिवृत्तिरूप अवस्तु विशेष्य का अनुरञ्जक न हो सकने के कारण विशेषण नहीं हो सकता है।' उसका उत्तर यह है कि अर्थान्तरनिवृत्ति अपने आश्रयभूत वास्तव अर्थ से अभिन्न होने के कारण वस्तुरूप ही है। अतः उसके विशेषणत्व की उपपत्ति निर्बाध है। यदि यह कहा जाय कि-' जैसे दण्ड पुरुष से भिन्न होने के कारण पुरुष का विशेषण होता है, उसी प्रकार अगोव्यावृत्ति गो से भिन्न होने पर ही विशेषण हो सकती है। इसलिए उसे गो से भिन्न बताते हुए वस्तुभूत कहकर उसमें विशेषणत्व की उपपत्ति करना ठीक नहीं है' -तो यह समीचीन नहीं है क्योंकि जो विशेष्य पर कोई उपकार नहीं करता वह विशेषण नहीं हो सकता, और उपकार्य-उपकारकभाव एक काल में होने वाले दो भावों में उनकी स्वाभाविक परिनिष्पन्नता (पूर्णता) के कारण एवं भिन्न काल में होने वाले भावों में असामर्थ्य के कारण सम्भव नहीं है। अतः विशेषण-विशेष्यभाव को वहाँ काल्पनिक ही मानना होगा, और जब वह काल्पनिक है तब तो अगोनिवृत्ति और गो में भी, उनके काल्पनिक भेद के आधार पर निर्बाधरूप से वह मान्य हो सकता है।

[व्यक्ति में अपोह्यता की उपपत्ति]

अपोह के प्रतिकूल बातों के प्रतिपादन के सन्दर्भ में शब्द से अवाच्यत्व होने के कारण जो व्यक्ति की अपोह्यता का निषेध किया गया है वह ठीक नहीं है, क्योंकि व्यक्ति में शब्दावाच्यत्व हेतु इसलिए असिद्ध है, कि व्यक्ति में सांवृत-काल्पनिक शब्दवाच्यत्व सिद्ध है और

तत्रानाभासिकत्वस्य गौरवेणाऽप्रवेशात् । तदिदमुक्तम्—[त० सं० १०८० तः ८२]
"नाभावोऽपोह्यते ह्येवं नाभावोऽभाव इत्ययम् । भावस्तु न तदात्मेति तस्यैवमपोह्यता ॥१॥
यो नाम न यदात्मा हि स तस्यापोह्य उच्यते । न भावोऽभावरूपश्च तदपोहे न वस्तुता ॥२॥
प्रकृतीशादिजन्यत्वं वस्तूनां नेति चोदिते । प्रकृतीशादिजन्यत्वं न हि वस्तु प्रसिध्यति ॥३॥
नातोऽसतोऽपि भावत्वमिति क्लेशो न कश्चन । [१०८३ पूर्वार्धः]

यदि तात्त्विक शब्दवाच्यत्व के अभाव से व्यक्ति में अपोह्यत्व के अभाव का साधन किया जायगा
तो सिद्धसाधन होगा क्योंकि वास्तव शब्दवाच्यत्व के अभाव से वास्तव अपोह्यत्व के अभाव
का ही साधन हो सकता है और वास्तव अपोह्यत्व का अभाव व्यक्ति में सिद्ध है।

इसी प्रकार सामान्य में अपोह्यत्व हेतु से जो वस्तुत्व का आपादन किया गया है उसमें
भी दो दोष हैं [१] अपोह्यत्व हेतु सामान्य में असिद्ध है और [२] अवस्तुभूत अपोह भी अपोह्य
होने से अपोह्यत्व में वस्तुत्व की अनैकान्तिकता (=व्यभिचार) भी है।

यदि यह कहा जाय कि 'अपोहों में भी वस्तुत्व है अतः व्यभिचार नहीं है' तो यह
ठीक नहीं है क्योंकि उसमें वस्तुत्वरूप साध्य के विपर्यय-अवस्तुत्व के साधक हेतु के होने में
कोई बाधक प्रमाण नहीं है। अतः विधिरूप से अपोह्यत्व होने पर भी अभावत्वरूप से अपोह्यत्व
का अभाव है इसलिए अवस्तुत्व के साधक अनपोह्यत्व हेतु से सत्प्रतिपक्षित होने से अपोह्यत्व
से वस्तुत्व की सिद्धि नहीं हो सकती।

[प्रतियोगि में वस्तुत्व का नियम असिद्ध]

बौद्ध कहता है कि यह भी ध्यातव्य है कि जैसे जैनमत में जगत् में प्रकृति, ईश्वर आदि
से जन्यत्व का निषेध करने पर भी प्रकृति, ईश्वर आदि (जन्यत्व) में वस्तुत्व की आपत्ति
नहीं होती उसी प्रकार अपोहवादी मत में अभाव (अवस्तुभूत सामान्य के) अपोह्य होने पर
भी उसमें वस्तुत्व की आपत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि प्रतियोगिता वस्तुत्वनियत नहीं है।
यह कहना कि-'तदभाव का प्रतियोगित्व तदभावाभावत्व रूप है अतः प्रतियोगी का वस्तुरूप
होना ध्रुव है'-ठीक नहीं है, क्योंकि तदभावाभावत्व के शरीर में प्रविष्ट 'तस्य अभावः' के
अन्तर्गत तत् पद के उत्तर लगी हुयी षष्ठी के अर्थ का निर्वचन न हो सकने से प्रतियोगित्व
का उक्त लक्षण मान्य नहीं हो सकता। अतः विशेषणत्व आदि की तरह प्रतियोगित्व भी काल्प-
निक है। ऐसा स्वीकार करने में कोई बाधा भी नहीं है क्योंकि आभास मात्र से सिद्ध-केवल
काल्पनिक के भी विधि-निषेध की उपपत्ति होती है। अभावज्ञान में प्रतियोगिज्ञान कारण
होने पर भी प्रतियोगी की वस्तुता नहीं सिद्ध हो सकती, क्योंकि अनाभास प्रतियोगिज्ञान
को कारण मानने पर अनाभासत्व का भी कारणतावच्छेदक कोटि में प्रवेश होने से गौरव
होगा। अतः सामान्य रूप से आभास-अनाभास साधारण प्रतियोगिज्ञान को ही कारण मानना
उचित है। अतः आभासात्मक प्रतियोगिज्ञान से ही अभावज्ञान की उपपत्ति होने से उक्त कार्य-
कारण भाव के आधार पर प्रतियोगी को वस्तु नहीं सिद्ध किया जा सकता।

तत्त्वसंग्रह में कहा भी गया है कि-'अभाव-अभाव से भिन्न है, इस प्रकार अभाव का
व्यावर्तन नहीं होता, जिससे कि उसकी अभावरूपता आपद्ग्रस्त कही जा सके, किन्तु भाव
अभावात्मक न होने से, अर्थापत्ति से अभाव में भाव की अपोह्यता=भावभिन्नता इष्ट है। जो

अपोहाऽवैलक्षण्ये गोरगोत्वप्रसङ्गोऽपि वृथा, अश्वादिरूपादगोवस्तुनः गोवस्तुनः स्वरूपतो वैलक्षण्यात्, अपोहभेद-सत्त्वयोश्च तथाविधवासनामूलविकल्पविषयत्वात्, कल्पितवृत्तान्तार्थाद्युपस्थित्य-नुरोधेनाऽवस्तुन्यपि वासनोपगमात्। तदुक्तम्-[त० सं० १०८४ तः ८६]

"अगोतोविनिवृत्तिश्च गौर्विलक्षण इष्यते। भाव एव ततो नायं गौरगोर्मे प्रसज्यते ॥१॥
अवस्तुविषयेऽप्यस्ति चेतोमात्रविनिर्मिता। विचित्रकल्पनाभेदरचितेष्विव वासना ॥२॥
ततश्च वासनाभेदाद् भेदः सद्रूपतापि च। प्रकल्प्यतेऽप्यपोहानां कल्पनारचितेष्विव ॥३॥"

यदपि 'एवं वाचकाभिमतस्याप्यपोह्यस्याभावः, वासनाभेदात्, वाच्यापोहभेदाद् वा सामान्य-विशेषवाचिशब्दभेदानुपपत्तेः। न च प्रत्यक्षत एव शब्दानां कारणभेदाद् विरुद्धधर्माध्यासाच्च भेदः

जिस रूप नहीं होता वह उसका अपोह्य कहा जाता है। अभाव भावात्मक नहीं होता, अतः अभाव भी भाव का अपोह्य है, फिर भी उसमें वस्तुरूपता नहीं है। वस्तु में प्रकृति और ईश्वर आदि जन्यत्व का निषेध करने पर 'प्रकृति आदि जन्यत्व' वस्तु नहीं हो जाती। अत: असत् के निषेध्य होने पर भी उसमें भावत्व की आपत्ति का क्लेश नहीं हो सकता" ॥ ३ ॥

[गौ में अगोरूपता की आपत्ति का निरसन]

प्रस्तुत सन्दर्भ में जो यह बात कही गयी है कि 'अपोहों में भेद न होने पर गो में भी अगोत्व की आपत्ति होगी' वह ठीक नहीं है। क्योंकि गो, अश्व आदि अगो से स्वरूपत: भिन्न है। अतः स्वरूपमूलक भेद से गो की अगोरूपता बाधित हो जाएगी।

सच तो यह है कि अपोहभेद तथा गो और अगो की पृथक् स्वरूप सत्ता दोनों विकल्प-बुद्धि के विषय हैं। और वह बुद्धि दोनों की वासना से उत्पन्न होती है। यह कहना कि-'विकल्प का विषय अवस्तु होता है, और अवस्तु में वासना की उत्पत्ति नहीं होती। अत: उक्त दोनों की विकल्पबुद्धि को वासनाजन्य बताना असङ्गत है'-ठीक नहीं है, क्योंकि यदि कोई व्यक्ति किसी को किसी कल्पित घटना की कहानी सुनाता है तो श्रोता को कालान्तर में उस घटना की स्मृति होती है, अत: इस स्मृति के अनुरोध से अवस्तु में भी वासना का जन्म होना युक्तिसिद्ध है।

तत्त्वसंग्रह में कहा भी गया है कि "अगो से निवृत्त जो विलक्षण गो की सिद्धि होती है वह स्वरूप से भी अगो से विलक्षण एक भाव ही है, अतः गो में अगोत्व की आपत्ति नहीं हो सकती ॥ १ ॥ जैसे विचित्र कल्पना से कल्पित कथा के विषयभूत अर्थों में वासना होती है उसी प्रकार चित्तमात्र-केवल विकल्प बुद्धि से निर्मित वासना अवस्तु में भी हो सकती है ॥ २ ॥ इसलिए जैसे कल्पना से रचित अर्थों में परस्पर भेद और विलक्षण सत्ता होती है उसी प्रकार अपोहों में भी परस्पर भेद और विलक्षण सत्ता, कल्पना के प्रभाव से हो सकती है, इस में कोई बाधा नहीं है ॥ ३ ॥"

[शब्द प्रतिपाद्य अपोह न होने की आपत्ति]

प्रस्तुत संदर्भ में यह भी एक बात कही जाती है कि-

वासनाभेद और वाच्य अपोह के भेद से सामान्यवाची 'गो' आदि शब्द और विशेष-वाची 'शाबलेय' आदि शब्द का भेद अनुपपन्न होने से वाचक शब्द से प्रतिपाद्य अपोह का

प्रसिद्ध एवेत्युक्तानुपपत्तिरिति वाच्यम्, वाचकशब्दमङ्गीकृत्यैवमुक्तेः, श्रोतृज्ञानावसेयस्य स्वलक्षणात्मनः शब्दस्याऽवाचकत्वात्, संकेतकालानुभूतस्य व्यवहारकाले चिरविनष्टत्वात् । अगम्यगमकत्वं चैवमवस्तुनोः शब्दाऽर्थयोः स्यात्, खपुष्प–शशशृङ्गवत् । न च मेघाभावाद् वृष्ट्यभावप्रतीतेर्नायमेकान्त इति वाच्यम्, विविक्ताकाशाऽऽलोकाद्यात्मकत्वाद् मेघाद्यभावस्य' इति तदप्येतेनैव निरस्तम्, वाच्यापोहस्येव वाचकापोहस्यापि प्रतिबिम्बात्मकस्य भेदव्यवस्थाऽविरोधात्, वाच्य–वाचकापोहयोर्बाह्यवस्तुत्वेन भ्रान्तैरध्यवसितत्वेन सांवृतवस्तुत्वादवस्तुत्वेनागम्यगमकत्वापादनस्याप्ययुक्तत्वात्; पारमार्थिकाऽवस्तुत्वेन पारमार्थिकगम्यगमकभावनिषेधे च सिद्धसाधनात्। तदुक्तम् [त०सं० १०८५]

अभाव होगा। अर्थात् सामान्य अथवा विशेषवाची किसी वाचक शब्द के न होने से उसके वाच्य अपोह का भी अस्तित्व सम्भव नहीं हो सकता। यदि इस पर कहा जाय कि 'कारण भेद से और विरुद्ध धर्म के सम्बन्ध से सामान्य और विशेषवाची शब्दों में भेद प्रसिद्ध है अतः वाचक शब्द के अभाव से उसके प्रतिपाद्य अपोह के अस्तित्व के अभाव का कथन अनुपपन्न है' तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि वाचक शब्द से बोध्य अपोह के अभाव का जो कथन किया गया है वह वाचक शब्द के अभाव के आधार पर नहीं, किन्तु वाचक शब्द का अस्तित्व मानते हुए उसके बोध्य अपोह का अभाव बताया गया है और उसका कारण यह है कि जिस स्वलक्षण शब्द को श्रोता सुनता है उससे अपोह का बोध नहीं हो सकता, क्योंकि उसमें सङ्केत सम्भव न होने से वह वाचक नहीं हो सकता, और जो शब्द सङ्केतकाल में अनुभूत होता है वह भी व्यवहारकाल से चिरपूर्व नष्ट हो जाने से व्यवहारकाल में नहीं रहता। इस प्रकार फलतः शब्द और अर्थ के अवस्तुभूत होने से उनमें बोध्य-बोधक भाव ठीक उसी प्रकार असम्भव है जैसे आकाश पुष्प और शशशृङ्ग आदि शब्द और उसके अर्थ में है।

यदि यह कहा जाय कि-'अवस्तुभूत मेघाभाव से अवस्तुभूत वृष्टि के अभाव का ज्ञान होने से यह नियम असिद्ध है कि अवस्तु में बोध्य-बोधक भाव नहीं होता' -तो यह भी ठीक नहीं है। क्योंकि मेघाभाव विविक्त आकाश रूप होने से और वृष्टि का अभाव विविक्त आलोक रूप होने से वस्तु में ही बोध्य-बोधकभाव हो सकता है।

[शब्दप्रतिपाद्य अपोह के अभाव की आपत्ति निरस्त]

किन्तु यह बात भी इसलिए निरस्त हो जाती है कि जैसे वाच्य अपोह अर्थप्रतिबिम्ब रूप होता है उसी प्रकार वाचक अपोह भी अर्थप्रतिबिम्बरूप होता है। अतः वाच्य अपोहों के समान वाचक अपोहों में भी भेद का कोई बाधक नहीं है। भ्रान्त जन वाच्य और वाचक अपोहों को बाह्यवस्तु के रूप में ग्रहण करते हैं। अतः वे दोनों सांवृत वस्तु रूप होते हैं। अतः उन्हें अवस्तु कह कर उनमें बोध्य-बोधकभाव का असम्भव बताना युक्तिसङ्गत नहीं है। और यदि पारमार्थिकरूप में अवस्तु होने के कारण उनमें पारमार्थिक बोध्य-बोधकभाव का अभाव सिद्ध करना अभिमत हो तो यह आवश्यक नहीं है, क्योंकि शब्द और अर्थ में पारमार्थिक बोध्य-बोधकभाव के अमान्य होने से सिद्धसाधन है। तत्त्वसंग्रह में कहा भी गया है कि-'परमार्थतः न तो कोई वाच्य है और न कोई वाचक ही है, क्योंकि शब्दात्मक और अर्थात्मक सभी भावों के क्षणभङ्गुर होने से संकेतकाल और व्यवहारकाल में व्यापक कोई भी भाव नहीं हो सकता और उसके अभाव में वाच्य-वाचकभाव की सम्भावना ही कैसे हो सकती है।'

"न वाच्यं वाचकं वाऽस्ति परमार्थेन किञ्चन । क्षणभङ्गिषु भावेषु व्यापकत्ववियोगतः ॥ १ ॥ इति ।"

सांवृतगम्यगमकभावनिषेधे तु न तस्य सामर्थ्यम्, काल्पनिकेषु महाश्वेतादिशब्दार्थेषु व्यभिचारात्, शब्दस्वलक्षणस्यापि तत्राऽव्यापकत्वेनाऽवाचकत्वात्, कल्पनातो बोधापलापस्य च कर्तुमशक्यत्वात् । तदुक्तम्—[त० सं० १०९३] "तस्मात् तद्द्वयमेष्टव्यं प्रतिबिम्बादि सांवृतम् । तेषु तद्व्यभिचारित्वं दुर्निवारमतः स्थितम् " ॥ २ ॥ 'द्वयम' इति वाच्यं वाचकं च । 'प्रतिबिम्बादि' इत्यादिशब्देन निराकारज्ञानाभ्युपगमेऽपि स्वगतं किञ्चित् प्रतिनियतमनर्थेऽर्थत्वाध्यवसायिरूपं गृहीतम् । 'तेषु'=कल्पनारचितेष्वर्थेषु । 'तत्' इति तस्मात् तस्य वाऽवस्तुत्वस्य हेतोः, [व्यभिचारित्वं= सद्व्यभिचारित्वम्] ।

यदप्यपोहवादे 'नीलोत्पलादिशब्दानां विशेषण—विशेष्यभावस्य सामानाधिकरण्यस्य च लोकप्रसिद्धस्यापह्नवः स्यात्, नीलोत्पलादिशब्दानां शबलार्थाभिधायित्व एव तदुपपत्तेः;— "नहि तद् केवलं नीलम्, न च केवलमुत्पलम्, समुदायाभिधेयत्वात् "—इत्यादिना तेषां शबलार्थाभिधायित्वस्योपपादितत्वात्' इति; तदपि न, नीलपदेन पीतादिव्यावृत्तपदार्थाध्यवसायिनो भ्रमर—कोकिला—

यदि पारमार्थिक अवस्तु से सांवृत बोध्य-बोधकभाव का निषेध अभिमत हो तो यह सम्भव नहीं है, क्योंकि पारमार्थिक अवस्तुत्व में सांवृत बोध्य-बोधकभाव के अभाव की व्याप्ति नहीं है। यतः बाणभट्ट की कादम्बरी में काल्पनिक स्त्री-पुरुष पात्रों के लिए प्रयुक्त महाश्वेता आदि शब्द और उनके अर्थ में सांवृत बोध्य-बोधकभाव होने से पारमार्थिक अवस्तुत्व में सांवृत बोध्य बोधक भाव के अभाव का व्यभिचार है।—'कादम्बरी के महाश्वेता आदि से सम्बद्ध प्रकरण में केवल अर्थ अवस्तु है, शब्द तो पारमार्थिक ही है' यह नहीं कहा जा सकता क्योंकि महाश्वेता आदि शब्दों से अर्थबोधकाल में स्वलक्षण महाश्वेता आदि शब्द के न रहने से वह महाश्वेता आदि पात्रों का वाचक नहीं है। 'उक्त शब्दों से अर्थबोध होता ही नहीं' यह भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि अनुभवसिद्ध बोध का कल्पना से अपलाप नहीं किया जा सकता। तत्त्वसंग्रह में कहा भी गया है कि 'स्वलक्षण शब्द का स्वलक्षण अर्थ में सङ्केतग्रह न होने से सङ्केतकाल में अनुभूत शब्द अर्थ के व्यवहारकाल में न होने से, वाच्य और वाचक दोनों को सांवृत=काल्पनिक या प्रतिबिम्बादि रूप मानना होगा। किं वा निराकारज्ञान के पक्ष में अर्थ रूप में गृहीत यत्किञ्चित्स्वनिष्ठज्ञान रूप मानना होगा। अतः काल्पनिक अर्थ और शब्दों में बोध्य-बोधकभाव के अभाव का व्यभिचार अनिवार्य है, किं वा अवस्तुत्व हेतु में 'बोध्यता और बोधकता के अभाव' का व्यभिचार अनिवार्य है।

[लोकप्रसिद्ध विशेषण आदि भाव की उपपत्ति]

प्रस्तुत सन्दर्भ में एक बात यह भी कही गयी है कि-'अपोहवाद में नील और उत्पल शब्द के अर्थों में जो लोकप्रसिद्ध विशेषण-विशेष्यभाव तथा उन शब्दों में जो लोकप्रसिद्ध समान विभक्तिकत्व रूप सामानाधिकरण्य है, उसकी अनुपपत्ति होगी। क्योंकि नील और उत्पल शब्द द्वारा शबल का यानी उत्पलात्मक नील और नीलात्मक उत्पल का अभिधान मानने पर ही उसकी उपपत्ति हो सकती है। जैसा कि "नील शब्द से वाच्य नील केवल नील ही नहीं है

ऽञ्जनादिषु संशय्यमानरूपस्य, उत्पलपदेन च भ्रमरादिभ्यो व्यवच्छिद्यानुत्पलव्यावृत्तवस्तुविषये व्यवस्थाप्यमानस्य परिनिश्चितात्मकस्य विकल्पप्रतिबिम्बस्य जननात् परस्परं व्यवच्छेदकव्यवस्थाभावाद् विशेषण–विशेष्यभावस्य, द्वाभ्यां स्वनीलाऽनुत्पलव्यावृत्तैकप्रतिबिम्बात्मकवस्तुप्रतिपादनादेकार्थवृत्तितया सामानाधिकरण्यस्याप्यविरोधात् । परपक्षे तु तद्व्यवस्था दुर्घटा, तथाहि–विधिशब्दार्थपक्षे नीलादिपदेन नीलादिस्वलक्षणेऽभिहिते उत्पलाऽञ्जनादिविशेषसंशयानुपपत्तिः, सर्वात्मना नीलस्याभिहितत्वात्, एकस्यैकदैकप्रतिपत्त्रपेक्षया ज्ञाताऽज्ञातत्वविरोधात् । एवमुत्पलादिशब्दप्रयोगाकाङ्क्षापि न स्यात्, तदर्थस्य नीलशब्देनैव (व्या)कृतत्वात् । न च नीलशब्देनैकदेशाभिधानादयमदोषः एकस्य वस्तुनो देशानुपपत्तेः,

---

एवं उत्पल शब्द से वाच्य उत्पल केवल उत्पल ही नहीं है क्योंकि नील उत्पल समुदित रूप में नील और उत्पल शब्द के अभिधेय हैं। [त.सं. पञ्जिका] इस ग्रन्थ से यह स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया गया है कि नील और उत्पल शब्द शबल अर्थ के वाचक है' किन्तु यह बात भी ठीक नहीं है, क्योंकि नील पद से पीत आदि अनील अर्थों से भिन्न अर्थ का जो ज्ञान होता है उसके विषय में यह सन्देह उत्पन्न हो जाता है कि 'नील शब्द से उत्पन्न ज्ञान अनील भिन्न रूप में भ्रमर को विषय करता है या कोकिल को विषय करता है अथवा अञ्जन को विषय करता है किंवा किसी और अन्य नील अर्थ को विषय करता है?' नील पद के साथ प्रयुक्त उत्पल पद से अनुत्पलव्यावृत्त रूप में 'भ्रमर आदि उत्पलभिन्न नील से विलक्षण' उत्पल का बोध होता है फलतः उत्पल पद, नील पद जन्य ज्ञान को भ्रमर आदि से भिन्न नील उत्पल में व्यवस्थित कर देता है। इस प्रकार उत्पल पद के सहयोग से नील पद द्वारा परिनिश्चितस्वरूप नीलोत्पल का विकल्पात्मक ज्ञान उत्पन्न होता है। अतः नील और उत्पल दोनों के क्रम से नीलभिन्न उत्पल का और उत्पलभिन्न भ्रमर आदि का व्यवच्छेदक होने से दोनों में विशेषण-विशेष्य भाव उपपन्न हो सकता है। और नीलोत्पल रूप एक अर्थ के बोधन में नील उत्पल दोनों शब्दों का तात्पर्य होने से दोनों में समान विभक्तिकत्व रूप सामानाधिकरण्य भी उपपन्न हो सकता है।

[बौद्ध विरोधि पक्ष में अनुपपत्ति]

पर पक्ष में यानी शबल अर्थ के अभिधान पक्ष में उक्त व्यवस्था नहीं हो सकती, क्योंकि नील शब्द से नीलत्व रूप से नीलोत्पल का बोध होने पर उत्पल, अञ्जन आदि अर्थों के उक्त बोध का विषय होने में संशय नहीं हो सकता, क्योंकि नील पद से नील अर्थ सर्वात्मना अभिहित हो जाता है। एक ज्ञाता को एक वस्तु में एक ही समय ज्ञातत्व और अज्ञातत्व का संशय नहीं हो सकता। इस मत में उत्पल शब्द के प्रयोग की आकाङ्क्षा भी नहीं रह जाती है क्योंकि उत्पल शब्द का अर्थ भी नील शब्द से ही उक्त हो जाता है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि–'नील शब्द से उसके अर्थ का एक देश ही अभिहित होता है। अतः उसके सर्वात्मना बोध के लिए उत्पल पद की अपेक्षा होती है' यह इसलिये शक्य नहीं है, कि नील पद का वाच्य अर्थ एक है और एक वस्तु में कोई देश नहीं होता, देश तो अनेक वस्तुओं में होता है। एकत्व अनेकत्व का तो परस्पर में विरोध है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि–'नील और उत्पल शब्द से नीलत्व और उत्पलत्व विशिष्ट द्रव्य का अभिधान होता है। और यह अभिधान केवल नील पद या उत्पल पद से नहीं हो सकता। अतः नील पद को उत्पल पद की और उत्पल पद को नील पद की सर्वमान्य आकाङ्क्षा की अनुपपत्ति नहीं हो सकती'

एकत्वा-ऽनेकत्वयोर्विरोधात् । न च नीलोत्पलपदाभ्यां नीलत्वोत्पलत्वविशिष्टद्रव्याभिधानाद् नाकाङ्क्षाद्यनुपपत्तिः, नीलशब्देनाधिकृतद्रव्यस्य सर्वात्मनाभिधाने उत्पलश्रुतेर्वैयर्थ्यप्रसङ्गस्य तदवस्थत्वात् ! अर्थान्तरसंशयव्यवच्छेदायोत्पलश्रुतेः सार्थक्ये च भ्रान्तिसमारोपिताकारव्यवच्छेदमात्रस्यैव प्रतिपादने विध्यर्थपक्षक्षतेः, तद्विषयकनिश्चयचेतसस्त [[1]द्विषयकनिश्चयने ततस्त] द्विषयकाऽऽरोपचित्तप्रतिबन्धकत्वेन संशयविषयस्य शब्दार्थत्वाद्योऽगाच्च, समानप्रकारकत्वादेः प्रतिबन्धकतायां निवेशे गौरवात् ।

यच्चोद्योतकरेणोच्यते—" निरंशमेकं वस्तु सर्वात्मना विषयीकृतम् नांशेन ' इति विकल्पस्यैवानवतारः, सर्वशब्दस्यानेकार्थविषयत्वात्, एकशब्दस्य चावयववृत्तित्वात् " इति ।—तद् वाक्यार्थाऽपरिज्ञानविजृम्भितम्, ' नीलशब्देन सर्वात्मना तत् प्रकाशितम् ' इत्यत्र ' सर्वात्मना ' इत्यस्य ' स्वाभिधेयत्वव्याप्यस्वभाववत्त्वेन ' इत्यर्थात्, कृत्स्नैकदेशविकल्पानुपपत्त्युद्भावनस्य तत्र वाक्छलमात्रत्वात्;

क्योंकि नील शब्द से अधिकृत द्रव्य का सर्वात्मना अभिधान हो जाने से उत्पल शब्द की निरर्थकता ज्यों की त्यों बनी रहती है। यदि उत्पल भिन्न भ्रमर आदि नील अर्थों के संशय के निराकरणार्थ उत्पल पद के प्रयोग की सार्थकता मानी जायगी तो उत्पल पद से भ्रम द्वारा आरोपित आकार के निषेध मात्र का ही प्रतिपादन होने से उसके भावार्थकत्व की हानि होगी। और दूसरी बात यह है कि उक्त रूप से उत्पल पद के प्रयोग की सार्थकता भी तभी हो सकती है जब नील पद से बोध्य अर्थ भ्रमर आदि के रूप में संदिग्ध हो, किन्तु यह सम्भव नहीं है, क्योंकि नील पद से उत्पन्न नीलनिश्चयात्मक चित्त ही उत्पल पद के सहयोग से नीलोत्पल का निश्चायक होता है। अतः उस चित्त से उसके विषयभूत नील में भ्रमर आदि रूपता के आरोपात्मक चित्त का प्रतिबन्ध हो जायेगा। यदि यह कहा जाय कि-' उत्पल पद के सन्निधान से नीलनिश्चयात्मक चित्त नीलत्व रूप से ही नील का ग्राहक है अतः उससे नील में भ्रमर आदि रूपता के आरोपात्मक चित्त का प्रतिबन्ध नहीं हो सकता, क्योंकि विरोधी वस्तुओं के समानप्रकारक ज्ञान में ही प्रतिबध्य-प्रतिबन्धक भाव होता है' -तो यह ठीक नहीं है। क्योंकि समान प्रकारकत्व का प्रतिबध्य-प्रतिबन्धक भाव के गर्भ में निवेश करने में गौरव है।

[उद्द्योतकर प्रयुक्त अनुपपत्ति का निरसन]

इस सन्दर्भ में उद्द्योतकर ने जो यह बात कही है कि-"निरंश एक व्यक्ति रूप वस्तु के विषय में इस विकल्प का उत्थान नहीं हो सकता कि 'नील आदि पद से वस्तु सर्वात्मना अभिहित होती है अंश-एक देश से नहीं ।'-क्योंकि 'सर्व' पद अनेकार्थक होने से एक वस्तु के विषय में 'सर्वात्मना' कथन असंगत है। एवं वस्तु के निरंश होने से 'वह अंश-एक देश से अभिहित नहीं होती' यह कथन भी असंगत है। यतः 'एक देश' शब्द अवयव में प्रयुक्त होता है"-किन्तु यह कथन वाक्यार्थ के अज्ञान का फल है। क्योंकि 'सर्वात्मना' शब्द से इस अर्थ का प्रतिपादन अभिप्रेत है कि वस्तु का स्वभाव नील आदि पद के अभिधेयत्व का व्याप्य है। फलतः नील आदि पद से वस्तु का अभिधान होने पर वह किसी रूप में अनभिहित नहीं रह जाता। इसलिए उद्द्योतकर द्वारा उक्त ग्रन्थ से वस्तु के सम्बन्ध में कृत्स्न (=समग्र)

१-अधिकोऽयं पाठः पूर्वमुद्रिते क्लिष्टमुद्रित इव प्रतिभाति। न विद्यते हस्तादर्शे ।

विशेषणशब्देन तादृशस्यैव तद्वस्तुनोऽभिहितत्वेन विशेष्यशब्दप्रयोगानुपपत्तेः, प्रयोगे वा पर्यायताऽऽपातात् तदुक्तम्—[प्र० वा० ३–५०]

" अन्यथैकेन शब्देन व्याप्त एकत्र वस्तुनि । बुद्ध्या वा नान्यविषय इति पर्यायता भवेत् ॥१॥" इति ।

अस्मत्पक्षे तु नायं दोषः, नीलोत्पलश्रुतिजनितप्रतिबिम्बाभ्यामनीलाऽनुत्पलव्यावृत्तस्याध्यसितबाह्यैकरूपस्य विकल्पप्रतिबिम्बस्यानुरोधात् सांवृतसामानाधिकरण्योपपत्तेः, उभयोरभिन्नप्रतिबिम्बजनकत्वरूपपर्यायत्वाऽयोगात् ।

यदपि 'लिङ्गसंख्या–क्रिया–कालादिभिः संबन्धोऽपोहस्याऽवस्तुत्वादयुक्तः; न च लिङ्गादिविविक्तः पदार्थः शक्यः संबन्धेनाभिधातुम्; न च व्यावृत्त्याधारभूताया व्यक्तेर्वस्तुत्वात् लिङ्गादिसंबन्धात् तद्द्वारेणापोहस्याप्यसौ व्यवस्थाप्यः, व्यक्तेर्निर्विकल्पकज्ञानविषयत्वाल्लिङ्गसंख्यादिसंबन्धेन

और एक देश के विकल्प का उद्भावन किया जाना वाक्छल मात्र होने से नितान्त अनुचित है।

यह भी ज्ञातव्य है कि विशेषण बोधक शब्द से विशेषण विशिष्ट विशेष्यभूत वस्तु का ही अभिधान होने पर विशेष्य बोधक पद के प्रयोग की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। अपितु उसका प्रयोग करने पर उससे भी विशेषण शब्द से बोध्य अर्थ का ही बोध होने से विशेषण–विशेष्य बोधक पदों में पर्यायता की आपत्ति होती है।

प्रमाणवार्त्तिक में भी कहा है कि 'अन्यथा–नील आदि शब्दों को शबल अर्थ का अभिधायक मानने पर एक शब्द एवं तज्जन्य बोध से समग्र वस्तु की व्याप्ति हो जाने से शब्दान्तर का कोई अन्य विषय न रह जाने से विशेष्य–विशेषण बोधक नील उत्पल आदि शब्दों में पर्यायता की आपत्ति होगी।' बौद्ध विद्वानों का कहना है कि उनके अपने मत में यह दोष नहीं है क्योंकि उनके मतानुसार नील पद और उत्पल पद के श्रवण से भिन्न दो प्रतिबिम्बों का जन्म होता है और उनसे एक ऐसे विकल्प प्रतिबिम्ब का उदय होता है जो अनील व्यावृत्त और अनुत्पलव्यावृत्त एक कल्पित बाह्य अर्थ को ग्रहण करता है। इस विकल्प प्रतिबिम्ब के कारण ही नील और उत्पल पद में सामानाधिकरण्य होता है जो वास्तव न होकर सांवृत (काल्पनिक) होता है; क्योंकि उसका कारण, सांवृत बाह्य अर्थ को ग्रहण करने वाला प्रतिबिम्ब होता है। इस मान्यता के अनुसार नील, उत्पल आदि शब्दों में पर्यायता नहीं हो सकती, क्योंकि पर्यायता का अर्थ है अभिन्न प्रतिबिम्ब की जनकता, जो नील उत्पल आदि शब्दों में नहीं है।

[लिंगादि के साथ अपोह का सम्बन्धविचार]

अपोह के प्रस्तुत सन्दर्भ में एक यह भी बात कही गयी है कि–'अपोह अवस्तुभूत है, अतः लिङ्ग-संख्या-क्रिया-काल आदि के साथ उसका सम्बन्ध अयुक्त है। क्योंकि जो पदार्थ लिङ्ग आदि से शून्य है उसे लिङ्ग आदि से सम्बद्ध कहना शक्य नहीं है। यदि यह कहा जाय कि 'अतद्व्यावृत्ति का आधारभूत व्यक्ति वास्तविक है, उसके साथ लिङ्ग आदि का सम्बन्ध होने से उसके द्वारा अपोह के साथ भी लिङ्ग आदि के सम्बन्ध की उपपत्ति हो सकती है' तो यह ठीक नहीं है क्योंकि व्यक्ति निर्विकल्पक ज्ञान का विषय होता है। अतः उसे लिङ्ग

व्यपदेष्टुमशक्यत्वात्, अपोहस्य तद्द्वारेण तद्व्यवस्थाऽसिद्धेः' इति; तदपि लिङ्गादीनां वस्तुधर्मत्वे शोभते, न तु स्वतन्त्रेच्छाविरचितसंकेतशालित्वेन काल्पनिकत्वे । वस्तुत्वे च लिङ्गस्यैकत्र तटाख्ये वस्तुनि लिङ्गत्रययोगात् त्रैरूप्येण सदा शबलप्रतिपत्तिप्रसङ्गः । विवक्षावशादेकरूपप्रतिपत्त्युपगमे च तस्यास्त्र्यात्मकवस्तुविषयताया अनुपपत्तिः, तदाकारशून्यत्वात्, चक्षुर्विज्ञानस्येव शब्दविषयतायाः ।

यत्तु 'संस्थान-प्रसव-स्थितिषु यथाक्रमं स्त्री-पुं-नपुंसकव्यवस्था' इति; तन्न, तटादिवदन्यत्राप्येवमविशेषेण त्रिलिङ्गतापत्तेः, स्थित्यादिषु खरविषाणादिषु च तदभावेऽपि 'स्थितिः, स्थानम्,

---

संख्या आदि से सम्बद्ध रूप में व्यवहृत नहीं किया जा सकता। क्योंकि जो वस्तु जिस रूप में ज्ञात नहीं है उस रूप में उसका व्यपदेश नहीं होता। अतः व्यक्ति द्वारा अपोह में लिङ्ग-संख्या आदि के सम्बन्ध की उपपत्ति नहीं हो सकती'-किन्तु यह बात भी तभी समीचीन हो सकती है जब लिङ्ग संख्या आदि वस्तुभूत धर्म हो, न कि स्वतन्त्रेच्छा द्वारा संकेतित होने से काल्पनिक होने पर। और यदि लिङ्ग संख्या आदि को वस्तुभूत धर्म माना जायगा तो तट नाम की एक वस्तु में स्त्रीलिङ्ग और पुंलिङ्ग तथा नपुंसक लिङ्ग तीनों का सम्बन्ध होने से तीनों लिङ्गों के साथ उसकी सदैव शबल प्रतीति की आपत्ति होगी। यदि विवक्षा के अनुरोध से एक काल में किसी एक ही लिङ्ग से युक्त तट की प्रतीति मानी जायगी तो जैसे शब्दाकार से शून्य होने के कारण चक्षुर्जन्यज्ञान शब्दविषयक नहीं होता उसी प्रकार लिङ्गत्रय के आकार से शून्य होने के कारण एक लिङ्गमात्र से युक्त तट की प्रतीति लिङ्गत्रय युक्त वस्तु विषयक न हो सकेगी। जबकि तटविषयक सभी प्रतीति तट के लिङ्गत्रयशाली होने से लिङ्गत्रय युक्त वस्तु विषयक होनी चाहिये।

[शब्दों के स्त्री-पुं-नपुंसकता का निरसन]

इस प्रसङ्ग में यह कहना कि-'स्थिति में स्त्रीलिङ्ग, प्रसव में पुंलिङ्ग और संस्थान में नपुंसक लिङ्ग व्यवस्थित है। अतः उनमें और उनके सदृश अन्य पदार्थों में त्रिलिङ्गता की प्रतीति नहीं हो सकती'-ठीक नहीं है। क्योंकि तट आदि के समान अन्य अर्थों में भी समान रूप से त्रिलिङ्गता की आपत्ति अनिवार्य है। स्थिति आदि में और खर-शृङ्ग आदि में त्रिलिङ्गता का अभाव होने पर भी स्थिति, स्थान और स्वभाव शब्दों से स्थिति में, और अस्वभाव, निरुपाख्य और तुच्छता शब्द से खर-शृङ्ग में लिङ्गत्रय की प्रतीति देखी भी जाती है। किसी अन्य का यह कहना कि 'स्त्रीत्व आदि भी गोत्व आदि के समान सामान्य-विशेष रूप है' ठीक नहीं है। क्योंकि गोत्व आदि सामान्यविशेषात्मक पदार्थों में अन्य सामान्यविशेष के अभाव में भी जाति, भाव और सामान्य शब्दों से स्त्रीत्व आदि की प्रतीति होती है। यदि स्त्रीत्व आदि भी सामान्यविशेष रूप होते तो गोत्व आदि में जैसे अन्य सामान्यविशेष नहीं रहता, उसी प्रकार उनमें स्त्रीत्व आदि को भी नहीं रहना चाहिए।

[वैयाकरण मतानुसार जाति में जाति मान्य]

यदि यह कहा जाय कि 'सामान्य में भी सामान्य का होना इष्ट है। क्योंकि वैयाकरणों के मत में जाति को अनुगताकार बुद्धि रूप प्रत्यय, अनेक व्यक्तियों में एक रूप से प्रयुक्त होने

स्वभावः, असद्भावः, निरुपाख्यम्, तुच्छता ' इत्यादिशब्दैर्लिङ्गत्रयप्रतिपत्तिदर्शनाच्च । ' स्त्रीत्वादयो गोत्वादय इव सामान्यविशेषाः ' इत्यन्यः; तदपि न, तेष्वेव सामान्यविशेषेष्वन्तरेणाप्यपरं सामान्यविशेषं ' जातिः, भावः, सामान्यम् ' इत्यादेः स्त्री—पुं—नपुंसकलिङ्गस्य प्रवृत्तिदर्शनात् । यदि तु सामान्यस्याप्यस्यापराणि सामान्यानीष्यन्ते वैयाकरणैः—प्रत्ययाभिधानान्वयव्यापारकार्यैर्नीयमानरूपा हि जातयः; न हि तासां शास्त्रान्तरपरिदृष्टा नियमव्यवस्थेति; तदुक्तम्—[वा०प० ३-१-११] "अर्थजात्यभिधानेऽपि सर्वे जातिविधायिनः । व्यापारलक्षणा यस्मात् पदार्थाः समवस्थिताः ॥१॥ इति ।"

तथाप्यवस्तुनि लिङ्गप्रतीत्यनुरोधाद् व्याकरणनियन्त्रितपरिभाषाविशेषप्रतिसंधानमहिम्नाऽर्थप्रति-

---

वाले शब्द रूप अभिधान और अन्वयव्यापार यानी पदार्थसंसर्गग्राही बोध रूप कार्यों से जाति को अनुमेय माना जाता है। अतः उक्त कार्यात्मक लिङ्ग, जाति आदि में भी सम्भव होने से जाति में भी जाति की अनुमिति के निर्बाध होने के कारण जाति में जाति के अस्तित्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। जिस मत में भावकार्य के कारणतावच्छेदक रूप में अथवा भावनिष्ठ कार्यता के अवच्छेदक रूप में जाति की अनुमिति होती है उस मत में ही सामान्य आदि में उक्त कारणता और कार्यता के न होने से उनमें जाति के होने में बाधा हो सकती है। किन्तु जाति के सम्बन्ध में उस मत में माने हुए नियम ऐसे मत में लागू नहीं हो सकते कि जिस में प्रत्यय, अभिधान आदि से जाति की अनुमेयता मान्य हो, जैसे कि गोत्वं जातिः गजत्वं जातिः, अश्वत्वं जातिः आदि अनुगत बुद्धि, एवं गोत्व आदि में प्रयुक्त जाति शब्द, तथा 'जातिः नित्या' इस प्रकार के 'जाति'शब्दार्थ में 'नित्य'शब्दार्थ के अभेद संसर्गग्राही बोध से गोत्व आदि जाति में जातित्व सिद्ध होता है, और इसीलिये इस मत में उसे जात्यात्मक मानना उचित प्रतीत होता है।

वाक्यपदीय की कारिका में कहा भी गया है कि—"यद्यपि 'गो' आदि शब्द से गो आदि अर्थों में विद्यमान गोत्व आदि जाति का ही अभिधान होता है। तो भी इससे यह नहीं कहा जा सकता कि 'गो आदि शब्द ही जाति के अभिधायक हैं। और गो आदि अर्थों में ही जाति रहती है' किन्तु सभी शब्द जाति के अभिधायक होते हैं, और उन शब्दों के अर्थ जाति के आश्रय होते हैं; क्योंकि पदार्थ व्यापार (=प्रयोजन) से ज्ञाप्य माने जाते हैं। अर्थात् जिस पद से जिस अर्थ का बोध होता है वही उस पद का अर्थ होता है, यही सर्वाभिमत मत है।" अत जैसे गो आदि शब्दों से गो आदि अर्थ का बोध होने से गो आदि अर्थ 'गो' आदि पद का वाच्यार्थ माना जाता है उसी प्रकार जाति पद से गोत्व, गजत्व आदि का बोध होने से गोत्व-गजत्व आदि भी पद का वाच्यार्थ है। और जैसे 'गौः चलति-गौः कृष्णा' इत्यादि शब्दों से होने वाले अन्वय बोध के अन्वयितावच्छेदक रूप में गोत्व आदि की सिद्धि होती है, और उन्हें जाति माना जाता है, उसी प्रकार 'जातिः नित्या,' 'जातिः प्रमेया' इत्यादि शब्दों से होने वाले बोध में अन्वयितावच्छेदक रूप से जातित्व का भान होता है। अतः उसे भी जाति मानना उचित है।

[वैयाकरण मत के ऊपर बौद्ध की मीमांसा]

व्याकरण के मतानुसार जाति में जाति आदि के अस्तित्व का उक्त रीति से औचित्य

बिम्बप्रतिबन्धसांवृतलिङ्गोत्पत्तिरेव वक्तुं युक्ता । न चैवं विरुद्धलिङ्गयुताद् घटादिपदाद् नियतलिङ्गोत्पत्तिर्मा भूत्, घटाद्यर्थप्रतिबिम्बोत्पत्तिस्तु स्यादिति वाच्यम्, रूपादिसामग्रीविरहे घटानुत्पत्तिवद् नियतलिङ्गसामग्रीविरहे नियतार्थप्रतिबिम्बानुत्पत्तेः । संख्याया अपि वास्तवत्वे 'आपः, दाराः, सिकताः, वर्षाः' इत्यादावसत्यपि वस्तुनो भेदे बहुत्वसंख्या प्रवर्तमाना न घटेत; नापि 'वनम्, त्रिभुवनम्, जगत्, षण्णगरी' इत्यादिष्वसत्यप्यभेद एकत्वसंख्या व्यपदिश्येत । अथैकदार-व्यक्त्यवयवगतबहुत्वमादाय बहुत्वव्यपदेशः, वनशब्देऽपि धवादिव्यक्तिगतजात्यैक्यमादायैकत्वव्यपदेशः; भाक्तं वा तत्रैकत्वमिति चेत् ? न, एक-बहुवधू-वृक्षाद्यर्थे वधूवृक्षादिपदेऽपि बहुत्वैकत्वप्रसक्तेः;

प्रतीत होने पर भी वास्तव में यह मानना अधिक युक्तिसङ्गत है कि अवस्तुभूत अपोह में, लिङ्ग की प्रतीति के अनुसार व्याकरणस्वीकृत परिभाषा के आधार पर अर्थ में लिङ्ग आदि का सम्बन्ध न मानकर अर्थप्रतिबिम्ब में ही काल्पनिक लिङ्ग की उत्पत्ति मानी जाय । कहने का आशय यह है कि अर्थ तो दर असल क्षणिक स्वलक्षण मात्र होता है और उसी की वास्तविक सत्ता है । किन्तु उसका प्रतिबिम्ब जो विशिष्ट बुद्धि, शब्दसङ्केत तथा ग्रहण-त्याग आदि व्यवहार का विषय होता है वह अवस्तु होता है । उसी में लिङ्ग आदि की प्रतीति होती है । अतः यह मानना युक्तिसङ्गत है कि वह प्रतीति उसमें काल्पनिक लिङ्ग आदि की उत्पत्ति होने से होती है ।

यदि यह शङ्का की जाय कि-'पुंलिङ्ग आदि से विरुद्ध स्त्रीलिङ्ग से युक्त 'घट' आदि पद से नियतलिङ्ग-स्त्रीलिङ्ग आदि की उत्पत्ति न होने पर भी उस घट आदि अर्थप्रतिबिम्ब की उत्पत्ति होनी चाहिए जिसकी उत्पत्ति 'घट' आदि पद पुंलिङ्ग युक्त होने पर 'घट' आदि पद से होती है' -तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि जैसे घट आदि नियमेन रूपादिविशिष्ट होने के कारण, रूप आदि की सामग्री न रहने पर घट आदि की उत्पत्ति नहीं होती, उसीप्रकार नियत लिङ्ग की सामग्री के अभाव में उस घटादि अर्थप्रतिबिम्ब की भी उत्पत्ति नहीं हो सकती, जिसकी उत्पत्ति नियतलिङ्ग की सामग्री होने पर होती ।

[संख्या की काल्पनिकता]

लिङ्ग के समान ही संख्या को भी काल्पनिक मानना उचित है क्योंकि संख्या यदि वास्तविक हो तो एक जलबिन्दु, एक स्त्री, एक सिकता-कण और एक वर्षा बूंद के लिए क्रम से बहुवचनान्त 'अप्' शब्द, 'दार' शब्द, 'सिकता' शब्द और 'वर्षा' शब्द के प्रयोग सङ्गत नहीं हो सकते । क्योंकि एक-एक जल आदि में वास्तव बहुत्व संख्या बाधित है। किन्तु उक्त प्रयोग होता है । अतः उसकी उपपत्ति एक-एक जल आदि में काल्पनिक बहुत्व संख्या मान कर ही करनी होगी ।

इसीप्रकार संख्या को वास्तविक मानने पर वन, त्रिभुवन, जगत्, षण्णगरी आदि शब्दों का एकवचनान्त प्रयोग भी सङ्गत नहीं हो सकता, क्योंकि वन आदि शब्दों के अर्थ अनेक हैं, अतः उनमें वास्तव एकत्व संख्या सम्भव नहीं है । इसलिए एकवचनान्त वन आदि शब्दों के प्रयोग की उपपत्ति भी उनके अर्थों में काल्पनिक एकत्व के द्वारा ही करनी होगी ।

यदि यह कहा जाय कि-'एक स्त्री में भी उसके अङ्गों के बहुत्व से एक स्त्री में भी

विवक्षाऽभावात् तत्र तदप्रसक्तौ च विवक्षाया बहुत्वादिप्रतीत्युत्पादकत्वापेक्षया सांवृतबहुत्वाद्युत्पाद-कत्वकल्पनाया एवौचित्यात्; अन्यथा घट–वनादिष्वेकाकारैकत्वप्रत्ययानुपपत्तेः । क्रिया–कालयोरपि वस्तुत्वे 'सत्ताऽस्ति, विद्यमानकालोऽस्ति' इत्यादौ स्वस्मिन् स्ववृत्तीत्यनुपपत्तेः, संवृतत्वे तु तादृश-भेदमादायोपपत्तिरिति द्रष्टव्यम् ।

यदपि 'आख्यातेष्वन्यनिवृत्तेरसंप्रत्ययादव्यापिन्यपोहव्यवस्था' इति; तदपि न, जिज्ञासितेऽर्थे शब्दप्रयोगेणाभीष्टार्थप्रतिपत्तौ सामर्थ्यात्, उत्सर्गतोऽनभीष्टव्यवच्छेदप्रतीतेः—

"तथाहि–पचतीत्युक्ते नोदासीनोऽवतिष्ठते । भुङ्क्ते दीव्यति वा नेति गम्यतेऽन्यनिवर्तनम् ॥" [त० सं० ११४५]

बहुत्वव्यवहार के लिए बहुवचनान्त 'दार' शब्द का प्रयोग हो सकता है, एवं वन शब्द के अनेक वृक्ष रूप अर्थ में भी वन के घटक धव आदि वृक्ष की धवत्व आदि जाति के एकत्व से वृक्ष समूह में विद्यमान बुद्धिविशेषविषयत्व रूप लाक्षणिक एकत्व से एकत्व व्यवहार के लिए एक वचनान्त वन आदि शब्द के प्रयोग की उपपत्ति हो सकती है' –तो यह ठीक नहीं है । क्योंकि उक्त रीति से एक व्यक्ति में बहुत्व व्यवहार और अनेक व्यक्ति में एकत्व व्यवहार के लिए बहुवचनान्त और एकवचनान्त शब्द का प्रयोग मानने पर एक वधू के लिए बहुवचनान्त वधू शब्द के और अनेक वृक्षों के लिए एकवचनान्त वृक्ष शब्द के प्रयोग की भी आपत्ति अपरिहार्य होगी ।

यदि यह कहा जाय कि–'शब्द का प्रयोग विवक्षा के अधीन होता है, अतः एक वधू में वधू शब्द से बहुत्व की विवक्षा न होने से बहुवचनान्त वधू शब्द एवं अनेक वृक्ष में वृक्ष शब्द से एकत्व की विवक्षा न होने से एकवचनान्त वृक्ष शब्द के प्रयोग की आपत्ति नहीं हो सकती' –तो यह ठीक नहीं है । क्योंकि यह उत्तर बहुत्व–एकत्व आदि की विवक्षा को बहुत्व एकत्व आदि के बोध का कारण मानने पर ही सम्भव है । अतः विवक्षा को संख्या का बोधक मानने की अपेक्षा सांवृत संख्या द्वारा ही संख्या बोध मानना उचित होने से उक्त उत्तर सङ्गत नहीं हो सकता । इस सन्दर्भ में यह भी ध्यान देने योग्य है कि यदि कहीं एकत्व की प्रतीति व्यक्तिगत एकत्व(–वास्तव एकत्व) और कहीं जातिगत एकत्व किंवा भाक्त एकत्व से मानी जायगी तो 'एकः घटः' और 'एकं वनं' इस प्रकार एकत्व की एकाकार प्रतीति न हो सकेगी । क्योंकि उक्त प्रतीतियों के विषयभूत एकत्व में एकरूपता नहीं है ।

लिङ्ग संख्या आदि के समान क्रिया और काल को भी काल्पनिक मानना उचित है । यदि उन्हें वास्तविक माना जायगा तो एक वस्तु में आधाराधेय भाव न होने से सत्ता में अस्तित्व का एवं विद्यमान काल में अस्ति शब्द से वर्तमानकालवृत्तित्व का बोध न होगा; क्योंकि सत्ता और अस्तित्व एवं विद्यमान काल और वर्तमान काल में परस्पर भेद नहीं है । क्रिया काल को काल्पनिक मानने पर यह दोष नहीं हो सकता क्योंकि उक्त काल्पनिक क्रिया और काल में काल्पनिक क्रिया और काल का भेद मानने से उक्त दोष का परिहार हो सकता है ।

[अपोह की अव्यापकता का निरसन]

अपोह के शब्दार्थपक्ष में यह एक दोष दिया जाता है कि–'आख्यात तिङ् प्रत्यय से अन्य

यच्च "'पचति' इत्यनिषिद्धं तु स्वरूपेणावतिष्ठते" [श्लो० वा० अपो० श्लो० १४०] इत्युच्यते तत्र स्ववचनव्याघात एव, एवकारेणान्यरूपनिषेधस्यैवोपदर्शनात् । यदपि "'पचति' इत्यादौ पूर्वापरीभूतावयवक्रियात्वरूपस्य साध्यत्वस्य 'अभूद् भविष्यति' इत्यादौ च भूतादिकालविशेषस्य प्रतीतिरपोहवादे न स्यात्, अपोहस्य निष्पन्नत्वात्' इत्युच्यते; तदपि न, निरुपाख्ये बाह्यवस्तुत्वारोपेण

निवृत्ति का बोध नहीं होता। अतः अपोह की कल्पना व्यापक नहीं हो सकती। अर्थात् सभी शब्दों से अपोह का बोध होता है, यह मान्यता नहीं बन सकती' -किन्तु यह ठीक नहीं है, क्योंकि शब्द का प्रयोग जिज्ञासित अर्थ में होता है। अतः उससे अभीष्ट अर्थ की प्रतीति शब्द-सामर्थ्य से होती है अनभीष्ट का निषेध तो उत्सर्गतः होता है, क्योंकि अभीष्ट की प्रतीति अनभीष्ट की निवृत्ति के साथ ही सम्भव होती है। शब्द से अर्थप्रतीति की इस व्यवस्था के अनुसार तत्त्वसंग्रहकारने यह कहा है कि-'पचति' इत्यादि तिङन्त स्थल में केवल यही प्रतीति नहीं होती कि अमुक व्यक्ति पाक सम्पन्न कर रहा है, अपितु यह भी प्रतीति होती है कि अमुक व्यक्ति निष्क्रिय नहीं है, और न भोजन ही कर रहा है तथा न खेल ही रहा है।' इससे स्पष्ट है कि 'पचति' से निष्क्रियता, भोजन किया, क्रीडा आदि की निवृत्ति के बोध के साथ पाकक्रिया के कर्तृत्व का बोध होता है।

यदि यह कहा जाय कि-'निषेध बोधक शब्द के बिना 'पचति' मात्र का प्रयोग करने पर किसी निषेध की प्रतीति नहीं होती अपितु 'पचति' शब्द का अर्थ अपने स्वरूप मात्र से ही अवगत होता है' -तो यह कथन अपने ही वचन के व्याघात दोष से ग्रस्त हो जाता है। क्योंकि 'स्वरूप मात्र से ही' इस अवधारण गर्भित कथन से 'अन्य स्वरूप के निषेध' की अवगति हो ही जाती है। अतः उससे अन्य निवृत्ति का बोध न होकर 'पचति' शब्दार्थ के स्वरूप मात्र का प्रतिपादन स्पष्ट ही 'स्व' का व्याघातक है।

[साध्यत्वादि की उपपत्ति]

इस सन्दर्भ में एक यह भी दोष दिया जाता है कि-अपोह को शब्दार्थ मानने पर 'पचति' शब्द से पाक में पूर्वोत्तर भागपन्न क्रियात्व रूप साध्यत्व की प्रतीति नहीं हो सकती, एवं 'अभूत्' शब्द से भूतकाल तथा 'भविष्यति' शब्द से अनागत काल की प्रतीति नहीं होगी। क्योंकि क्रमिक क्रिया समुदाय, भूतकाल एवं अनागतकाल अनिष्पन्न होता है और अपोह निष्पन्न होता है। अतः अपोह को शब्दार्थ मानने पर शब्द से अनिष्पन्न के बोध की उपपत्ति नहीं हो सकती'-किन्तु यह भी ठीक नहीं है। क्योंकि अपोह अवस्तु है, अतः उसमें बाह्य वस्तुत्व का आरोप होने से निष्पन्नत्व का जैसे आरोप होता है, उसीप्रकार उसमें साध्यत्व, भूतत्व एवं अनागतत्व आदि का भी आरोप निर्बाध रूप से हो सकता है। ऐसा मानने पर यह आपत्ति नहीं हो सकती कि 'अवस्तु में बाह्य वस्तुत्व के आरोप से अन्य धर्मों का आरोप मानने पर साध्य में सिद्धत्व का, सिद्ध में साध्यत्व का, अतीत में अनागतत्व का और अनागत में अतीतत्व का आरोप भी प्रसक्त होगा।' क्योंकि इन अर्थों की प्रतीति के लिए जो शब्द शास्त्र में नियम माने गये हैं वे अवस्तु में भी इन अर्थों की प्रतीति में अपेक्षित हैं। अतः जैसे वस्तुवादी के मत में साध्य आदि में सिद्धत्व आदि का बोध नहीं होता उसीप्रकार अवस्तुवादी के मत में भी साध्य आदि रूप से प्रतीति योग्य अवस्तु में सिद्धत्व आदि की भी प्रतीति नहीं हो सकती।

निष्पन्नत्वादिधर्मारोपवदेव साध्यत्वादिधर्मारोपस्याप्युपपत्तेः सांवृतार्थप्रतिपत्तिविशेषे शाब्दकृतनियमापेक्षणेन चानतिप्रसङ्गात् । यदपि 'विध्यादावन्यापोहनिरूपणम्, 'न न पचति चैत्रः' इत्यत्र च नञाऽपरेण नञा योगेनैवापोहः, प्रतिषेधद्वयेन च विधिरेवावसीयते' इति तदपि न, विध्यादेरर्थस्य निषेध्यादपि व्यावृत्ततयाऽवस्थितत्वात्, नञ्द्वयस्थलेऽपि नञन्तराभ्यामवसेयस्यान्यापोहस्य जागरूकत्वात् । तदुक्तम्— [त.सं. ११५६-५७]

"असौ न पचतीत्युक्ते गम्यो पचतीति हि । औदासीन्यादियोगश्च तृतीये नञि गम्यते ॥ १ ॥
तुर्ये तु तद्विविक्तोऽसौ पचतीत्यवसीयते । तेनात्र विधिवाक्येन सममन्यनिवर्तनम् ॥ २ ॥"

यदपि 'चादीनामसंबन्धवचनत्वाद् नञ्योगाभावेन तत्रान्यापोहस्याऽव्यापकत्वम्' इति; तदपि न, नञ्योगेऽपि तत्र सामर्थ्यादन्यनिषेधप्रतीत्यबाधात् । तदाहः—[त० सं० ११५८]

['पचति' से अन्यापोह के बोध की उपपत्ति]

इस प्रसङ्ग में एक यह जो त्रुटि बतायी जाती है कि—'विधि-भावात्मक अर्थ के प्रत्यायक 'पचति' इत्यादि से अन्यापोह, 'पाककर्तृत्व से अन्य अपाककर्तृत्व के अपोह' का बोध नहीं होता। और यदि 'पचति' के स्थान में 'न न पचति चैत्रः' का प्रयोग किया जाय तो उससे भी दो नञ् का बोध होने से अपोह का बोध नहीं हो सकता। क्योंकि दो प्रतिषेध का संबन्ध भाव में ही पर्यवसान होता है' -किन्तु यह ठीक नहीं है। क्योंकि विधि (-भावात्मक) अर्थ, निषेध्य (-स्वभिन्न) से व्यावृत्त होकर ही व्यवस्थित होता है। अतः 'चैत्रः पचति' कहने से 'न पचति' शब्दार्थ के निषेध के साथ ही 'पचति' शब्दार्थ का बोध होता है। और इसी सातत्य में जो यह बात कही गयी है कि 'न न पचति चैत्रः' कहने पर दो नञ् का सम्बन्ध होने के कारण अपोह का बोध नहीं होगा, यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि एक नञ् से दूसरे नञर्थ के अपोह (-व्यावृत्ति) का बोध सुस्पष्ट है। इसलिए दो नञों के योग होने से अपोह के बोध का निषेध करना युक्तिसङ्गत नहीं है।

तत्त्वसंग्रह में कहा भी गया है कि 'असौ न न पचति-अमुक व्यक्ति पाक नहीं करता ऐसा नहीं है'-ऐसा कहने पर पचति शब्द से पाक क्रिया कर्तृत्व रूप भावात्मक अर्थ का बोध होता है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि जैसे अपोहवादी के मत में 'अयं गौः' कहने पर 'अयं न अगौः' कथित होता है जिससे 'गो' शब्द के शरीर में ही दो नञ् के प्रवेश की सूचना मिलती है। उसीप्रकार 'असौ पचति-अमुक व्यक्ति पाक करता है' कहने पर 'असौ न न पचति-अमुक व्यक्ति पाक नहीं करता ऐसा नहीं है' कथित हो जाता है। इस प्रकार 'पचति' शब्द के भीतर ही नञ्द्वय का समावेश है और जब 'असौ न न पचति' कहा जाता है, तब उस कथन में चार नञ् समाविष्ट हो जाते हैं। दो पचति शब्द के शरीर में और दो अलग से। इन चार नञों में तीसरे नञ् से पाक कर्ता में औदासीन्यादि का सम्बन्ध प्रसक्त होता है और चौथे नञ् से उसके निषेध का बोध होता है। फलतः 'असौ न न पचति' इस कथन से औदासीन्य एवं भोजनादि क्रिया कर्तृत्व से शून्य व्यक्ति में, 'पचति' शब्दार्थ का, 'न न पचति' इस रूप में 'पचति' शब्दार्थ से अन्य 'न पचति' शब्दार्थ के निषेध रूप में बोध होता है। इससे स्पष्ट है कि विधिवाक्य से विध्यर्थ और अन्य निवृत्ति साथ ही अवगत होते हैं।

"समुच्चयादिर्यश्चार्थः कश्चिच्चादेरभीप्सितः। तदन्यस्य विकल्पादेर्भवेत् तेन व्यपोहनम् ॥१॥" इति।

यदपि 'कल्माषवर्णवत् शबलैकरूपो वाक्यार्थः तत्रान्यनिवृत्त्यनुपपत्तिः, तदवयवस्य विवेक्तुमशक्यत्वात्, 'चैत्र ! गामानय' इत्यादावचैत्रादिव्यवच्छेदस्य पदार्थस्यैव प्रत्ययात्' इत्युच्यते; तदपि न, कार्यकारणभावेन संबद्धानां पदार्थानामेव वाक्यार्थत्वात्, तद्व्यतिरिक्तनिरवयवस्य शबलात्मनः कल्माषवर्णप्रख्यस्य वाक्यार्थस्यानुपलब्धेः। यदप्युच्यते—' अनन्यापोहशब्दादौ वाच्यं न च निरूप्यते '

इस प्रसङ्ग में एक यह भी दोष दिया जाता है कि-'च' आदि निपातशब्द सम्बन्ध के बोधक होते हैं। अतः नञ् शब्द के अभाव में अन्यापोह का बोध नहीं होता, अपितु एक से सम्बद्ध अन्य का ही बोध होता है। जैसे 'घटं पटं च आनय' कहने पर घटसम्बद्ध पट के आनयन का बोध होता है। किसी अन्य के आनयन के निषेध का बोध तब तक नहीं होता जब तक उसके साथ 'न अन्यं' न कहा जाय। इसलिए सभी शब्दों से अन्यापोह का बोध मानने का सिद्धान्त अव्यापक है-किन्तु यह ठीक नहीं है। क्योंकि 'च' आदि शब्दों से भी शब्द सामर्थ्य के बल से अन्य निषेध की प्रतीति होने में कोई बाधा नहीं है। इसी कारण 'घटं पटं च आनय' कहने पर घट पट दोनों के ही आने का बोध होता है। वैकल्पिक रूप में घट या पट के आनयन का बोध नहीं होता। इससे स्पष्ट है कि 'च' शब्द से विकल्प की निवृत्ति के साथ समुच्चय का बोध होता है। तत्त्व संग्रह की कारिका में कहा भी गया है कि-जिस 'च' आदि का समुच्चय आदि अर्थ होता है उससे समुच्चय से अन्य विकल्प आदि का अपोहन होता है।

[शबल एक स्वरूप वाक्यार्थ का निरसन]

इस सन्दर्भ में एक यह दोष दिया जाता है कि-'जैसे चित्रवर्ण, नीलपीत आदि रूपात्मक न होकर उनसे विलक्षण उनका मिश्रित रूप होता है, उसीप्रकार वाक्यार्थ भी वाक्य घटक तत्तत् पद का अर्थ रूप न होकर शबल यानी तत्तत् पदार्थों से विलक्षण एक अर्थ रूप होता है। अतः वाक्य से अन्यापोह का बोध नहीं हो सकता, क्योंकि वाक्यार्थ के अवयव का विवेचन शक्य न होने से, वाक्यार्थ से अन्य का बोध असम्भव होने के कारण उसके अपोह की प्रतीति दुर्घट है। यह बात 'चैत्र! गामानय' इस वाक्य के अर्थविवेचन से स्पष्ट है। क्योंकि इस वाक्य में 'चैत्र' आदि पद से 'अचैत्र' आदि से व्यावृत्त पदार्थ का ही बोध होता है न कि वाक्यार्थ का।'-किन्तु यह ठीक नहीं है, क्योंकि कार्यकारणभाव द्वारा परस्पर सम्बद्ध पदार्थ ही वाक्यार्थ होता है। वाक्यार्थ पदार्थ से विलक्षण नहीं होता। क्योंकि चित्रवर्ण के समान ऐसा शबल वाक्यार्थ उपलब्ध नहीं होता जो वाक्यघटक पदार्थों से भिन्न एवं अवयवहीन एकरूप हो।

इस प्रसंग में श्लोकवार्त्तिक कारने यह भी दोष दिया है कि-'अपोह (-अन्य व्यावृत्ति) को शब्दार्थ मानने पर 'अनन्यस्या अपोह' आदि शब्दों के वाच्य का निरूपण नहीं हो सकता, क्योंकि शब्द मात्र से अन्यापोह ही वाच्य माना गया है और 'अनन्यापोह' शब्द से तो अन्यापोह को निषेध अभिव्यक्त होता है। अतः अन्यापोह रूप वाच्य यहाँ दुर्घट है।'-किन्तु यह ठीक नहीं है, क्योंकि अन्यापोह का निषेध वाच्य न होने पर भी उसके वितथ विकल्प-मिथ्या बोध से उत्पन्न वासना द्वारा उसका मिथ्या बोध होकर अन्यापोह के भी अपोह (-अन्यापोहव्यावृत्ति) की बुद्धि का उदय हो सकता है।

इति; [श्लो० वा० अपो० श्लो० १३४] तदपि न, वितथविकल्पवासनावशात् तत्र तथाविधार्थविकल्पक्रमेणान्यापोहनिषेधमतिप्रवृत्तेः। यदपि 'ज्ञेय-प्रमेयादिशब्दानां न किञ्चिदपोह्यमस्ति, सर्वस्यैव ज्ञेयादिस्वभावत्वात्, इत्यव्यापिन्यपोहव्यवस्था; यदि वाऽज्ञेयं कल्पितं कृत्वा तद्व्यवच्छेदेन ज्ञेयेऽनुमानमिष्यते, तदा वरं वस्त्वेव विधिरूपशब्दार्थत्वेन कल्पितं भवेत्' इति; तदपि न, संशयादिनिरासार्थं वाक्यगर्भितस्यैव ज्ञेयादिशब्दस्य प्रयोगात्, 'क्षणिकत्वेन ज्ञेया भावाः' इत्यादिवाक्यस्थेन तेन क्षणिकत्वादिनाऽज्ञेयत्वादेः समारोपितस्य व्यावर्तनात्। 'कथं तर्हि 'अनित्यत्वेन शब्दाः प्रमेया नवा'? इति प्रस्तावे 'प्रमेयाः' इति प्रयोगे प्रकरणानभिज्ञस्यापि प्रतिपत्तुः केवलशब्दश्रवणात् प्रमेयमानरूपा शाब्दी धीः?' इति चेत्? न कथञ्चित्। 'घटेनोदकमानयामि, उताञ्जलिना' इति प्रस्तावे तदनभिज्ञस्य 'घटेन' इति शब्दादिव पूर्ववाक्यार्थानुसरणं विनाऽऽकाङ्क्षाया अपरिपूर्तेः, वाक्येपूपलब्धस्यार्थवतः शब्दस्य सादृश्येनापहृतबुद्धेः केवलशब्दश्रवणात् केवलमर्थप्रत्ययाभिमान इति दिग् ॥ ८ ॥

इस सन्दर्भ में एक यह भी दोष दिया जाता है कि-'वस्तु मात्र ज्ञेय एवं प्रमेय होने से 'ज्ञेय' और 'प्रमेय' आदि शब्दों का कोई अपोह्य नहीं हो सकता। अतः इन शब्दों से अपोह का बोध न हो सकने से शब्द मात्र में अपोहवाचकत्व का सिद्धान्त अव्यापक है। और यदि कल्पित अज्ञेय मान कर उससे व्यावृत्ति रूप में ज्ञेय की बुद्धि मानी जायगी तो उसकी अपेक्षा यही कल्पना उचित होगी कि विध्यर्थक वस्तु ही शब्द का प्रतिपाद्य है, न कि अन्य व्यावृत्तिरूप अवस्तुभूत अपोह।'-किन्तु यह भी ठीक नहीं है क्योंकि संशय आदि के निरसन के लिए वाक्य के घटक रूप में ही ज्ञेय आदि शब्द का प्रयोग होता है। इसीकारण 'क्षणिकत्वेन ज्ञेया भावाः-भाव पदार्थ क्षणिकरूप में ज्ञेय हैं' इस वाक्य में प्रविष्ट ज्ञेय शब्द से भाव में आरोपित क्षणिकत्व आदि रूप से अज्ञेयत्व का निषेध होता है। 'वाक्यगर्भस्थ ही 'ज्ञेय' आदि शब्द से अर्थबोध होता है' ऐसा मानने पर यह प्रश्न होता है कि 'अनित्यत्वेन शब्दाः प्रमेया न वा?=शब्द अनित्यत्व रूप से प्रमेय हैं? अथवा अप्रमेय हैं?' इस प्रकरण में 'प्रमेयाः' इस शब्द का प्रयोग होने पर जिस व्यक्ति को प्रकरण का ज्ञान नहीं है उसे केवल 'प्रमेय' शब्द के श्रवण से जो प्रमेयविषयक शाब्द बुद्धि होती है वह वाक्यगर्भस्थ ही ज्ञेय आदि शब्द को अर्थ बोधक मानने पर कैसे हो सकती है?' इसका उत्तर है कि कथमपि नहीं हो सकती, क्योंकि जैसे 'घटेन उदकम् आनयामि उताञ्जलिना-घट से जल लाऊँ या अञ्जलि से?' इस प्रकरण में प्रकरण के अनभिज्ञ व्यक्ति को केवल 'घटेन' इस शब्द से पूर्व वाक्य 'घटमानय' के अर्थानुसन्धान के बिना आकाङ्क्षा की पूर्ति नहीं होती, उसीप्रकार उक्त प्रकरण में केवल 'प्रमेयाः' शब्द का प्रयोग होने पर शाब्दबोधानुकूल आकाङ्क्षा की पूर्ति नहीं होती। और आकाङ्क्षा की पूर्ति के बिना शाब्दबोध का उदय नहीं होता। अतः यदि कोई ऐसा समझता है कि केवल 'प्रमेय' शब्द के श्रवण से केवल प्रमेय रूप अर्थ की प्रतीति होती है तो यह उसका अभिमान है जो उस दशा में होता है कि जब मनुष्य की यह बुद्धि कि 'वाक्य गर्भस्थ ही 'ज्ञेय' आदि शब्द से अर्थ बोध होता है' यह बुद्धि वाक्य में उपलब्ध अर्थ बोधक शब्द से अपहृत हो जाती है ॥ ८ ॥ [बौद्ध पूर्वपक्षवार्ता समाप्त]

अत्र समाधानवार्तामाह—

अन्ये त्वभिदधत्येवं वाच्यवाचकलक्षणः । अस्ति शब्दार्थयोर्योगस्तत्प्रतीत्यादि तत् ततः ॥९॥

अन्ये तु=**जैनाः** अभिदधति **एवं**=वक्ष्यमाणप्रकारेण, यदुत **वाच्यवाचकलक्षणः**=अर्थे शब्दवाच्यतास्वभावरूपः शब्दे चार्थवाचकतास्वभावरूपः शब्दाऽर्थयो**र्योगः**=संबन्धः अस्ति 'तत्त्वतः' इति शेषः। संवृत्या तदस्तित्वस्य परेणाप्यभ्युपगमात् । **तत्**= तस्मात् कारणात्, **ततः**=शब्दात् **तत्प्रतीत्यादि**=वाच्यप्रतीति-प्रवृत्ति-प्राप्ति-निवेदनाद्यागोपालाङ्गनं प्रसिद्धं युज्यते ॥ ९ ॥

अन्यथा चैतदनुपपत्तिरित्याह—

नैतद् दृश्य—विकल्प्यार्थैकीकरणेन भेदतः । एकमात्रभावाच्च तयोस्तत्त्वाऽप्रसिद्धितः ॥१०॥

एतत्=शब्दाद् वाच्यप्रतीत्यादि, **दृश्य—विकल्प्यार्थैकीकरणेन**=विकल्प्येऽर्थे दृश्यार्थैक्याध्यवसायेन न युज्यते । कुतः ? इत्याह—**भेदतः**=दृश्यविकल्प्यार्थयोर्भेदात्, तदभेदाध्यवसायाऽयोगात् । न च मुख्यभेदस्य सांवृताभेदविरोधित्वमिति वाच्यम्, मुख्यभेदशालित्वे विकल्प्यस्य दृश्यत्वा-

[शब्द और अर्थ के बीच तात्त्विक सम्बन्ध—उत्तरपक्ष]

९ वीं कारिका में शब्दार्थ के सम्बन्ध में बौद्ध विद्वानों द्वारा कथित आपत्तियों का समाधान प्रस्तुत किया गया है । उक्त बौद्धमत के विरुद्ध अन्य विद्वान जैनों का यह कहना है कि शब्द और अर्थ के मध्य तात्त्विक सम्बन्ध है, और वह है वाच्य-वाचक भाव । उसका अर्थ है अर्थ में शब्द का वाच्यत्व सम्बन्ध है और शब्द में अर्थ का वाचकत्व सम्बन्ध है । सम्बन्ध तात्त्विक है ऐसा इसलिये कहा है कि यह सम्बन्ध काल्पनिक रूप में तो बौद्धों को भी स्वीकार्य है । इस सम्बन्ध के कारण ही विशिष्ट विज्ञ पुरुष से लेकर गोपालवधू तक शब्दविशेष से अर्थविशेष की प्रतीति, उसमें प्रवृत्ति, उसकी प्राप्ति और उसके बोधन आदि की उपपत्ति होती है ॥ ९ ॥

[शब्दार्थ सम्बन्ध न मानने पर बाधक]

१० वीं कारिका में यह बात बतायी गयी है कि शब्द और अर्थ के मध्य तात्त्विक सम्बन्ध न मानने पर शब्दविशेष से अर्थविशेष की व्यवस्थिति=प्रतीति आदि की उपपत्ति नहीं हो सकती । कारिका का अर्थ इस प्रकार है-दृश्य=निर्विकल्प प्रत्यक्ष के विषयभूत स्वलक्षणवस्तु और विकल्प्य=विशिष्ट बुद्धि के विषयभूत नाम-जाति आदि से विशिष्ट कल्पित अर्थ, इन दोनों के एकीकरण-अभेदज्ञान से शब्दविशेष द्वारा वाच्यविशेष की प्रतीति आदि की उपपत्ति नहीं मानी जा सकती । क्योंकि उक्त दोनों अर्थों में भेद होने से उनमें अभेदबुद्धि नहीं हो सकती । यह नहीं कहा जा सकता कि 'उक्त दोनों में भेद वास्तव है और अभेद काल्पनिक है । अतः वास्तव भेद काल्पनिकअभेद का विरोधी न होने से दोनों में अभेदज्ञान हो सकता है ।' क्योंकि यदि विकल्प्य विषयीभूत अर्थ में दृश्य का वास्तविक भेद माना जायगा तो वह भी एक स्वलक्षण अर्थ से भिन्न अन्य स्वलक्षणवस्तु के समान दृश्य हो जायगा । इसके अतिरिक्त उक्त रीति से शब्दवाच्य अर्थ की प्रतीति आदि की अनुपपत्ति का दूसरा कारण भी है; और

पत्तेः, स्वलक्षणवत् । हेत्वन्तरमाह—**एकप्रमात्रभावाच्च**=दृश्य-विकल्प्यप्रमातृक्षणयोरेकत्वाभावाच्च **तयोः**=दृश्य-विकल्प्ययोः **तत्त्वाऽप्रसिद्धितः**=ऐक्याऽप्रसिद्धेः, परस्परं स्वलक्षण इतरप्रतियोग्यभावे-नैक्यस्य दुरध्यवसानत्वात् ॥ १० ॥

स्यादेतत्—दृश्य-विकल्प्यार्थैकीकरणं नामाऽबाह्यालम्बनस्य विकल्प्यस्य बाह्यालम्बनत्वेन प्रतीतिः, न तु वस्तुगत्या भिन्नयोस्तयोरैकीकरणम्; तथाचाह—

शब्दात्तद्वासनाबोधो विकल्पश्च ततो हि यत् । तदित्थमुच्यतेऽस्माभिर्न तत्स्तदसिद्धितः ॥११॥

शब्दादिति कारणे कार्योपचारात् शब्दज्ञानात्, **तद्वासनाबोधः**=विशिष्टविकल्प वासनाबोधः **विकल्पश्च**=विशिष्टविकल्पश्च, **ततो हि**=तत एव विशिष्टवासनाबोधात्, **यद्**=यस्मात् **तत्**=तस्मात् **इत्थमुच्यते**='दृश्य-विकल्प्यावर्थावेकीकृत्य' इत्येवमभिधीयते अस्माभिः, विकल्पवैशिष्ट्याद् गवा-द्यर्थप्रतीतेर्गवाद्यर्थप्रवृत्तेः, भ्रमात् प्रवृत्तस्यापि स्वलक्षणप्रतिबन्धेन प्राप्तेर्गवादिबोधनार्थं निवेदनादे-श्चोपपत्तेरिति भावः । एतदाशङ्क्याह—**न**=नैतदुक्तम्, **ततः**=शब्दात्=**तदसिद्धितः**=विशिष्टवासना-बोधाऽसिद्धेः ॥ ११ ॥

यह है दृश्य और विकल्प्य अर्थों के ज्ञाता का एक न होना। आशय यह है कि जैसे बौद्ध मत में दृश्य और विकल्प्य अर्थ क्षणात्मक हैं उसीप्रकार दृश्य का द्रष्टा और विकल्प्य का ज्ञाता भी क्षणात्मक है। अत एव दोनों में ऐक्य न होने से दृश्य और विकल्प्य का अभेदज्ञान नहीं हो सकता; क्योंकि जिसे दृश्य का दर्शन है उसे विकल्प्य का बोध नहीं है और जिसे विकल्प्य का बोध है उसे दृश्य का दर्शन नहीं है। साथ ही स्वलक्षण दृश्य और इतर सम्बन्धी विकल्प्य दोनों के परस्पर एक-दूसरे के समकालिक न होने से भी दोनों में अभेद का अध्यवसान दुःशक है ॥ १० ॥

[दृश्य-विकल्प्य अर्थों के एकीकरण के नये अर्थ का परिहार]

११ वीं कारिका में दृश्य और विकल्प्य अर्थों के एकीकरण के सम्बन्ध में पूर्वकारिका में उक्त अनुपपत्ति के परिहारार्थ दृश्य और विकल्प्य अर्थों के एकीकरण की यह व्याख्या की गयी है कि उक्त अर्थों के एकीकरण का आशय अभेदज्ञान नहीं है किन्तु 'अबाह्य-आलम्बनभूत विकल्प्य अर्थ में बाह्य-आलम्बनत्व का आरोप' है। कारिका का अर्थ करने पहले एक बात यह कर ले कि कारण में कार्य का उपचार होता है अतः कारण बोधक शब्द से कार्य का ग्रहण सम्भव होने से कारिकागत 'शब्दात्' का अर्थ है 'शब्दज्ञानात्'। इससे कारिका की इसप्रकार व्याख्या लब्ध होती है कि-

शब्दज्ञान से विशिष्ट विकल्प को उत्पन्न करने में समर्थ वासना का बोध होता है और उस बोध से विशिष्ट विकल्प का जन्म होता है। इसी बात को उपजीव्य बना कर बौद्ध विद्वान दृश्य और विकल्प्य अर्थों के एकीकरण का प्रतिपादन करते हैं। तदनुसार वासना बोध से उत्पन्न गो आदि विषयक विशिष्ट विकल्प से गो आदि अर्थ में प्रवृत्ति और उसके बोध के लिए गो आदि शब्द का प्रयोग होता है। प्रवर्त्तक विकल्प के भ्रमात्मक होने पर भी गो आदि

एतदेवोपपादयति-

विशिष्टं वासनाजन्म बोधस्तच्च न जातुचित् । अन्यतस्तुल्यकालादेर्विशेषोऽन्यस्य नो यतः ।१२।

विशिष्टम्=तथाविधविकल्पजननस्वभावम् **वासनाजन्म**=वासनोत्पाद एव **बोधः**=प्रकृतवासनाबोधो वाच्यः; तच्च विशिष्टवासनाजन्म **न जातुचित्**=न कदाचित् युज्यते । कथम् ? इत्याह-- **अन्यतः**=अन्यस्मात् सहकारिणः **तुल्यकालादेः**=तुल्यकालादतुल्यकालाद् वा **विशेषः**=विशिष्टभावः **अन्यस्य**=विशेष्यस्य **नो**=नैव, **यतः**=यस्माद् हेतोः ॥ १२ ॥

एतदेव विकल्पदोषोपन्यासद्वारेणाह--

निष्पन्नत्वादसत्त्वाच्च द्वाभ्यामन्योदयो न सः । उपादानाऽविशेषेण तत्स्वभावं तु तत्कुतः ।१३।

निष्पन्नत्वात् तुल्यकालात् सहकारिणो न विशेषः, विशेष्यस्य तदानीमनाधेयाऽतिशयत्वात्, विशेष्यस्य चातिशयत्वादिति भावः । असत्त्वाच्चाऽतुल्यकालादपि सहकारिणो न विशेषः, तदा तस्याऽसत्त्वात्, असतश्चोपकारकरणाऽयोगादिति भावः । द्वयोद्भवोऽपर एव विशेष इत्याशङ्क्याह- **द्वाभ्याम्**=उपादान-सहकारिभ्याम् **अन्योदयः**=विशिष्टापरोत्पादः न **सः**=विशेषः । कुतः ? इत्याह-**उपादानाऽविशेषेण**=पूर्ववदविशिष्टकार्यजननस्वभावत्वाऽतिरस्कारेणान्योदयस्यैवाऽसिद्धेरित्यर्थः ।

अर्थ की प्राप्ति की अनुपपत्ति नहीं हो सकती । क्योंकि इस भ्रम में स्वलक्षण वस्तु का प्रतिबन्ध अव्यभिचार है । जिस भ्रम में वस्तु का प्रतिबन्ध होता है उससे वस्तु की प्राप्ति देखी जाती है जैसे कि मणिप्रभा में मणि के भ्रम से मणि की प्राप्ति दृष्ट है ।

कारिका के चतुर्थ चरण से इस परिहार का यह कह कर प्रतिरोध किया गया है कि शब्द से विशिष्ट वासना के बोध की उत्पत्ति असिद्ध होने से उक्त प्रतिपादन समीचीन नहीं है ॥ ११ ॥

१२वीं कारिका में, पूर्वोक्त अर्थ का उपपादन किया गया है । कारिका का अर्थ इसप्रकार है-पूर्व कारिका में शब्दज्ञान से जिस वासनाबोध की उपपत्ति बतायी गयी है वह बोध विशिष्ट विकल्प के उत्पादन में समर्थ वासना के जन्म रूप ही है । और वासनाजन्म शब्दज्ञानरूपी सहकारी से कदापि नहीं हो सकता, क्योंकि वासना का जन्म सहकारी से तभी हो सकता है जब सहकारी द्वारा उपादान-मुख्य कारण में कोई विशेष सम्भव हो, जो कि उपादान के समानकालिक अथवा असमानकालिक सहकारी से साध्य नहीं है ॥ १२ ॥

[सहकारिद्वारा उपादान में विशेषाधान असंभव]

१२वीं कारिका में प्रतिपादित अर्थ को ही प्रस्तुत १३वीं कारिका में विकल्प दोष का उद्भावन करते हुए कहा गया है । कारिका का अर्थ इस प्रकार है-

'सहकारी कारण से उपादान कारण में विशेष का उदय होता है और उस विशिष्ट उपादान से विशिष्ट विकल्प की उत्पत्ति होकर प्रवृत्ति आदि का सम्पादन होता है'-यह कहने पर दो विकल्प उत्थित होते हैं-एक यह कि क्या उपादान के समकालिक सहकारी से उसमें विशेष का उदय होता है, अथवा उपादान के असमानकालिक सहकारी से उसमें विशेष का

तदेवोपादानं तत्स्वभावम् यदन्यदप्यन्योदयकारीत्याशङ्कयाह—तत्स्वभावं त्विति=अनुपकारिणमपि सहकारिणमासाद्य विशिष्टापरजननस्वभावमेवेत्यर्थः तत्=उपादानम्, कुतः?=न काचिदत्र युक्तिः, वाङ्मात्रमेतदिति भावः ॥ १३ ॥

'स्वहेतोर्विशिष्टजननस्वभावस्यैवोत्पत्तिः' इत्याशयं परिहरति—

नह्युक्तवत्स्वहेतोस्तु स्याच्च नाशः सहेतुकः । इत्थं प्रकल्पने न्यायादत एतच्च युक्तिमत् ॥१४॥

नहि **उक्तवत्** = तुल्यकाला-ऽतुल्यकालसहकारिकृतविशेषाभाववत् **स्वहेतोस्तु**=स्वकारणादेव विशेषाऽभावे तत्स्वभावमुपादानं युक्तम् । तथाहि—नास्यापि स्वहेतुरविशिष्टः सन्निदं विशिष्टं जनयेत्,

---

आधान होता है? इनमें प्रथम विकल्प स्वीकार्य नहीं हो सकता क्योंकि उपादान में उसके अस्तित्वकाल में किसी अतिशय का आधान नहीं होता और विशेष भी अतिशय रूप ही है, अत एव उपादान के अस्तित्वकाल में उसमें विशेष के उदय की बात सङ्गत नहीं है। दूसरा विकल्प भी स्वीकार्य नहीं है, क्योंकि उपादान के अस्तित्वकाल में सहकारी का अस्तित्व नहीं है और जिस समय में जिसका अस्तित्व ही नहीं है उस समय वह किसी का कोई उपकार (किसी वस्तु में किसी विशेष का आधान,) कैसे कर सकता है?

यदि यह कहा जाय कि-'सहकारी से उपादान में किसी विशेष का आधान नहीं होता अपितु उपादान और सहकारी से किसी अन्य विशिष्ट का जन्म होता है और उस विशिष्ट से कार्यान्तर सम्पन्न होते हैं' -तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि सहकारी की उपस्थिति से यदि उपादान में कोई वैशिष्ट्य नहीं होता तो उसमें अकेले किसी विशिष्ट कार्य को उत्पन्न न करने का स्वभाव जो पहले था वह सहकारी संनिधान होने पर भी ज्यों का त्यों बना रहता है। अतः सहकारीकाल में भी उससे किसी अन्य विशिष्ट का जन्म होना अमान्य है।

यदि यह कहा जाय कि 'उपादान का यह स्वभाव है कि उसके सहकारी से अन्य विशिष्ट का जन्म होता है'-तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि 'अपना कोई उपकार न करने वाला सहकारी प्राप्त होने पर अन्य विशिष्ट को जन्म देना-उपादान का स्वभाव होता है' ऐसा मानने में कोई युक्ति नहीं है, इसलिये यह कथन युक्तिहीन शब्दोपन्यासमात्र है ॥ १३ ॥

[उपादान के कारणों से उसमें विशेषाधान असंभव]

१४वीं कारिका में इस मान्यता का परिहार किया गया है कि 'उपादान अपने कारण से ही कार्यान्तर को उत्पन्न करने का विशिष्ट स्वभाव प्राप्त करता है।' कारिका का अर्थ इसप्रकार है-जैसे समानकालिक अथवा असमानकालिक सहकारी से उपादान में विशेष का आधान नहीं होता, वैसे ही उसके कारण से भी उसमें विशेष का आधान नहीं हो सकता। और उसमें विशेष का आधान नहीं होगा तो कार्यान्तर को उत्पन्न करने का स्वभाव भी उसे नहीं प्राप्त हो सकता। कहने का आशय यह है कि उपादान का हेतु भी स्वयं विशेषहीन होने पर विशेष-युक्त उपादान को जन्म नहीं दे सकता। और किसी अन्य से उसमें विशेष का आधान होता नहीं। अतः केवल में ही कार्यान्तर के जन्मानुकूल वैशिष्ट्य मानना होगा और यही बात सभी पदार्थों में स्वीकार करनी होगी। तो फिर जब प्रतीति में कोई वैशिष्ट्य न होगा तो उससे ग्यारहवीं कारिका में उक्त वासनाबोध की उपपत्ति कैसे हो सकेगी? इसके अतिरिक्त दूसरा

न चान्यतो विशिष्येतापि, इति केवलस्यैव वैशिष्ट्यमेष्टव्यम्; एवं च सर्वत्रैवैतत्, इति प्रतीतिवैशिष्ट्याभावे तद्वासनाबोधानुपपत्तिरिति। दोषान्तर माह—स्याच्च नाशो भवतामपि **सहेतुकः**=उत्पादहेतुव्यतिरिक्तहेतुसापेक्षः, इत्थं **प्रकल्पने**=' स्वहेतोरेवानुपकारिणमपि सहकारिणमवाप्य विशिष्टापरजननस्वभावमेतत्' इत्येवं प्रकल्पने, एतदपि वक्तुं शक्यत एव 'अकिञ्चित्करमपि नाशहेतुमवाप्य निवृत्तिस्वभावमेतज्जातम्' इतिविशिष्टोत्पादवत् सहेतुको नाश आपन्नः **न्यायात्**=भवत्कल्पितयुक्तेः, अनिष्टं चैतद् भवतः। **अतः**=अस्मात् कारणात् **एतत्**=इत्थं स्वभावकल्पनम् न युक्तिमत्। एवं च स्वनीतितो विकल्पानुपपत्तेर्वचनमात्रमेवैतद् यदुत—' दृश्य—विकल्प्यार्थैकीकरणं नामाबाह्यालम्बनस्य विकल्प्यस्य बाह्यालम्बनत्वेन प्रतिपत्तिः' इति। निरुद्धं च बाह्याकाराया धियोऽबाह्यालम्बनत्वम् 'वासनायां वैशिष्ट्यं तु तत्कुर्वद्रूपत्वं स्वभावत एव' इत्यपि निरस्तम्, तत्कुर्वद्रूपस्यापि कादाचित्कत्वेन हेतुनियम्यत्वाच्च; अन्यथोत्पादस्याप्यतत्त्वापत्तेरिति दिग् ॥ १४ ॥

दोष यह भी है कि जैसे भाव कार्य की उत्पत्ति में उपादान से अतिरिक्त सहकारी कारण की अपेक्षा होती है उसीप्रकार भाव के नाश में भी भाव के उत्पादक कारण से अतिरिक्त कारण की अपेक्षा प्रसक्त होगी। क्योंकि सहकारी द्वारा कोई उपकार न होने पर भी उसकी प्राप्ति होने पर उपादान कारण अपने (उत्पादक) द्वारा ही अन्य विशिष्ट कार्य को उत्पन्न करने का स्वभाव प्राप्त करता है यह जब मानते हैं तो यह भी निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि नाश हेतु के अकिञ्चित्कर होने पर भी भाव कार्य का नाश उसे प्राप्त कर ही उत्पन्न होता है। फलतः बौद्ध की उक्त रीति द्वारा विशिष्ट भाव कार्य के समान उसके नाश की भी हेतुसापेक्षता अनिवार्य हो जाती है, जो उन्हें इष्ट नहीं है। अतः उपादान में अनुपकारी सहकारी की अपेक्षा से कार्य को जन्म देने के स्वभाव की कल्पना युक्तिसङ्गत नहीं है।

उक्त स्थिति में अपनी ही युक्ति से विकल्प की उपपत्ति न होने के कारण यह सारहीन वचनोपन्यासमात्र ही है कि 'दृश्य और विकल्प्य अर्थों के एकीकरण का तात्पर्य यह है कि अबाह्य अर्थ को आलम्बन करने वाले विकल्प की बाह्य अर्थ को आलम्बन करने के रूप में प्रतीति होती है।' इसके साथ ही यह भी ज्ञातव्य है कि बाह्याकार बुद्धि को अबाह्य अर्थ का आलम्बनकारी मानना विरुद्ध है। और यदि इसे विरुद्ध न माना जायगा तो इसी के समान पीताकार बुद्धि के अपीतालम्बन हो जाने से एक बड़ी अव्यवस्था खड़ी हो जायगी।

तथा, 'यह प्रत्यक्ष सिद्ध है कि शब्दजन्य विकल्प में वैशिष्ट्य असद्विषयकत्व मूलक होता है और वासना में जो वैशिष्ट्य होता है वह उससे उत्पाद्य कार्य का कुर्वद्रूपत्व स्वरूप होता है। और वह किञ्चिद्धेतुक न होकर स्वाभाविक होता है।' यह कथन भी युक्तिहीन होने से निरस्त हो जाता है और वास्तव में किसी कार्य विशेष के कुर्वद्रूपत्व को स्वाभाविक मानना उचित नहीं है, क्योंकि कुर्वद्रूपत्व के भी कादाचित्क होने से उसे भी हेतुसापेक्ष मानना अनिवार्य है; और ऐसा न माना जायगा तो नाश के समान कार्य की उत्पत्ति भी अस्वाभाविक हो जायगी ॥ १४ ॥

[तादात्म्यादिविकल्पप्रयुक्त दोषों का निरसन]

पर-प्रतिवादी द्वारा पूर्व में उद्भावित दोषों का निराकरण करने के उद्देश्य से १५वीं

परोक्तदोषजालं निराचिकीर्षन्नाह—

अनभ्युपगमाच्चेह तादात्म्यादिसमुद्भवाः । न दोषा नो न चान्येऽपि तद्भेदाद्धेतुभेदतः ।१५।

अनभ्युपगमाच्च=अनङ्गीकरणाच्च, **इह**=प्रकृतविचारे **तादात्म्यादिसमुद्भवाः**=शब्दाऽर्थयोस्तादात्म्य—तदुत्पत्तिविकल्पप्रभवाः **न दोषाः**=नानिष्टापादकाः, **नः**=अस्माकम्, **नचान्येऽपि**= 'परमार्थैकतानत्वे' इत्यादिनोक्ताः । कुतः ? इत्याह—**हेतुभेदतः**=कारणभेदेन **तद्भेदात्**=शब्दभेदात्; 'अतीता—ऽजातयोश्च विद्यमानवत् स्वकाले सत्त्वेन तत्र शब्दप्रवृत्तेरविरोधाच्च' इत्यपि पूरणीयम् ॥ १५ ॥

उक्तमेवोपपादयति—

वन्ध्येतरादिको भेदो रामादीनां यथैव हि । मृषा—सत्यादिभेदानां तद्वद्धेतुभेदतः ॥१६॥

वन्ध्येतरादिकः=वन्ध्याऽवन्ध्यादिकः **भेदः**=विशेषः यथैव हि **रामादीनाम्**=स्त्रीप्रभृतीनाम् सकललोकप्रतीतः, आदिभ्यां मत्कुणा—ऽमत्कुणपुरुषादिग्रहः, **मृषा—सत्यादिशब्दानाम्** आदिना सत्यमृषा—ऽसत्यामृषापरिग्रहः, **तद्वत्**=वन्ध्येतरादिरामादिवत् 'भेदः' इत्यनुषज्यते; **तद्धेतुभेदतः**= मृषादिशब्दहेतुभेदात्, सत्यादिभाषाद्रव्यवर्गणानां भेदाभ्युपगमादिति ॥ १६ ॥

यतश्चैवम् अतः किम् ? इत्याह—

परमार्थैकतानत्वेऽप्युक्तदोषोपवर्णनम् । प्रत्याख्यातं हि शब्दानामिति सम्यग् विचिन्त्यताम् ।१७।

कारिका निबद्ध हुई है। इसका अर्थ इसप्रकार है-शब्द और अर्थ में तादात्म्य एवं उत्पाद्य-उत्पादकभाव आदि बात को लेकर जो दोष बताए गये हैं वे उन बातों को अङ्गीकार न करने से ही निरस्त हो जाते हैं। अन्य दोष भी, जैसे-शब्द को वस्तुमात्र निष्ठ मानने पर अपनी दृष्टि से अवस्तु में शब्द प्रयोग की अनुपपत्ति, एवं अतीत और अनागत वस्तु शब्दप्रयोग काल में न होने से अवस्तु होने के कारण उनमें शब्दप्रयोग की अनुपपत्ति आदि भी नहीं हो सकते, क्योंकि हेतुभेद से शब्दभेद होता है। इसी सन्दर्भ में यह पूरणीय है कि विद्यमान वस्तु के समान अतीत और अनागत भी अपने काल में वर्तमानरूप होने से वस्तु हो सकने के कारण उनमें शब्दप्रयोग होने में कोई अनुपपत्ति नहीं है ॥ १५ ॥

१६वीं कारिका में पूर्व कारिका के अर्थ का ही उपपादन किया गया है। कारिका का अर्थ इस प्रकार है-जिस प्रकार स्त्री आदि में वन्ध्या, अवन्ध्या आदि का भेद, एवं कारिका में प्रयुक्त पूर्व के दो 'आदि' शब्दों से क्रमशः विवक्षित मत्कुण-अमत्कुण एवं पुरुष आदि का भेद लोकप्रसिद्ध है, उसी प्रकार मृषा और सत्य शब्दों का तथा कारिकागत तीसरे आदि शब्द से विवक्षित सत्यमृषा एवं असत्यामृषा आदि शब्दों में भी भेद उनके हेतुभेद द्वारा हो सकता है। क्योंकि सत्य आदि भाषाद्रव्य की वर्गणाओं में भेद मान्य है ॥ १६ ॥

१७वीं कारिका में पूर्व कारिका के कथन का फलितार्थ बताया गया है। कारिका का अर्थ इसप्रकार है-शब्द को वस्तुमात्रनिष्ठ मानने पर जो यह दोष बताया गया है कि अन्य दर्शनों में अभ्युपगत त्रिगुणात्मक प्रकृति आदि जो अन्य दर्शन की दृष्टि से अवस्तु है उसमें

परमार्थकतानत्वेऽपि=वस्त्वेकगोचरत्वेऽपि **शब्दानामुक्तदोषोपवर्णनम्**=दर्शनान्तरभेदिषु प्रधानादिष्वप्रवृत्त्याद्यभिधानलक्षणम् **प्रत्याख्यातं हि**=निराकृतमेव; **इति**=एतत् **सम्यग्**=माध्यस्थ्येन विचिन्त्यताम्, प्रधानादिपदानां प्रवृत्तिनिमित्तवैकल्ये गवादिपदानां तदापादनस्याऽयुक्तत्वात्, अत्यन्तं मिथो भेदात् ॥ १७ ॥

एतदेव स्पष्टयति–

अन्यदोषो यदन्यस्य युक्तियुक्तो न जातुचित् । व्यक्तावर्णं न बुद्धानां भिक्ष्वादि शबरादिवत् ।१८।

अन्यदोषः=अर्थान्तरभूतवस्तुदोषः, **यद्**=यस्मात्, **अन्यस्य**=अर्थान्तरस्य **न युक्तियुक्तः**= न प्रमाणोपपन्नः, **जातुचित्**=कदाचित् । प्रतिवस्तूपमया द्रढयति–**बुद्धानाम्**=भगवताम् **भिक्ष्वादि**= भिक्ष्वादिपदम्, **शबरादिवत्**=शबरादिपदवत्, **व्यक्तावर्णं**=न व्यक्तो वर्णो येनेति विग्रहादवर्णव्यञ्जकम् न । तथा च शबरादिभिक्ष्वादिपदानां जातिभेदादवर्णव्यञ्जकाऽव्यञ्जकत्ववत् प्रधान–गवादिपदानामपि प्रवृत्तिनिमित्तवैकल्याऽवैकल्ये नायुक्ते इति भावः । न चैवं प्रधानाद्यर्थाऽसत्त्वात् तत्र प्रधानादि-

---

शब्दप्रवृत्ति न हो सकेगी–इत्यादि, वह सुतरां निरस्त हो जाता है, यह बात तटस्थ दृष्टि से विभावनीय है। इस सन्दर्भ में यह कहना भी कि 'जैसे अन्य दर्शन स्वीकृत प्रकृति आदि अर्थ में प्रधान आदि शब्दों के प्रवृत्तिनिमित्त का अभाव है, उसीप्रकार गो आदि अर्थों में गो आदि पदों के भी प्रवृत्ति निमित्त के अभाव की आपत्ति होगी, असङ्गत है क्योंकि प्रधान आदि और गो आदि शब्दों में परस्पर भेद है ॥ १७ ॥

[प्रधान और गो आदि पद में वैलक्षण्य]

१८वीं कारिका में उक्त अर्थ को ही स्पष्ट किया गया है। कारिका का अर्थ इसप्रकार है- एक अर्थ में जो दोष होता है अन्य अर्थ में भी उस दोष का होना कदापि प्रमाणोपपन्न नहीं हो सकता। यह बात इस प्रतिवस्तूपमा से पुष्ट होती है कि शबर आदि पद अवर्ण व्यञ्जक होने पर भी भगवान बुद्ध के लिए प्रयुक्त भिक्षु आदि पद जैसे अवर्णव्यञ्जक नहीं होता उसी प्रकार एक अर्थ के दोषयुक्त होने से अन्य अर्थ दोषयुक्त नहीं हो सकता। कहने का आशय यह है कि जैसे शबर आदि पद में अवर्णव्यञ्जकता और भिक्षु आदि पद में उसका अभाव होना अयुक्त नहीं है, उसीप्रकार प्रधान आदि शब्द में प्रवृत्तिनिमित्त का अभाव और गो आदि पद में प्रवृत्ति निमित्त का सद्भाव भी अयुक्त नहीं है ।

यदि यह कहा जाय कि-'प्रधान आदि अर्थों के असत्य होने से उनमें प्रधान आदि पद की शक्ति सम्भव न होने के कारण प्रधान आदि पद से प्रधान आदि अर्थ का बोध न हो सकेगा' -तो यह ठीक नहीं है। क्योंकि मृषाभाषाद्रव्य की वर्गणा से उत्पन्न होने वाले शब्दों में उन शब्दों की प्रवृत्ति की जनिका शक्ति मानने में कोई विरोध नहीं है ।

यदि यह कहा जाय कि-'प्रधान आदि पद से उत्पन्न होने वाला विकल्पज्ञान यदि प्रधानत्व आदि से विशिष्ट अखण्ड अर्थ को विषय करेगा तो असत्ख्याति की आपत्ति होगी' -तो यह भी ठीक नहीं है। क्योंकि किसी भी विकल्पज्ञान में अखण्ड एक विषयकत्व का

पदाऽशक्तेस्तेषामप्रत्यायकत्वापत्तिः, अर्थाऽसत्त्वेऽपि मृषाभाषावर्गणाप्रसूतानां शब्दानां तच्छब्दजनन्याः शक्तेरविरोधात्। न चैवं प्रधानादिपदजनितविकल्पस्याखण्डप्रधानत्वादिविशिष्टविषयकत्वेऽसत्ख्यात्यापत्तिः, विकल्पस्यापि कस्यचिदखण्डैकविषयत्वाननुभवात्, निरंशेऽर्थे संशयधीप्रसराऽयोगात्, प्रकृते यथान्यसमयसंकेतानुसारं शशविषाणादिसंकेतिततदादिपदार्थवद्वाक्यार्थमयत्वात् पदार्थस्य तत्सद्भावतात्पर्यादसद्भूतोद्भावनरूपमृषावादोपपत्तेः। अत एव परसमयाभिधानपराणां निषेधपराणां चासत्यभाषावर्गणाप्रसूतवाक्यस्थानां प्रकृत्यादिपदानां सद्भावानभिप्रायाद् न मृषात्वम्। अत एव च पाण्डुरपत्रकिशलयादिदृष्टान्तार्थानामुपमावचनानां स्वार्थबाधेऽपि तात्पर्ये प्रामाण्याद् न तथात्वमिति दिग्। तत्त्वमत्रत्यं मत्कृतभाषारहस्यादवसेयम् ॥ १८ ॥

ननु शब्दभेदसिद्धौ तस्य हेतुभेदनियम्यत्वाद् हेतुभेदसिद्धिः, तत्सिद्धौ च शब्दभेदसिद्धिरित्यन्योन्याश्रय इत्याशङ्क्याह—

ज्ञायते तद्विशेषस्तु प्रमाणेतरयोरिव। स्वरूपालोचनादिभ्यस्तथादर्शनतो भुवि ॥ १९ ॥

प्रमाणेतरयोरिव=प्रमाण-तदाभासयोरिव, ज्ञायते प्रमातृभिः, **तद्विशेषस्तु**=सत्येतरशब्दभेदस्तु 'स्वकृतप्रतिभाससाम्येऽपि विशेषः' इति योजना। **स्वरूपालोचनादिभ्यः**=संवादाऽसंवादनिरूपणादिभ्यः। एषां भेदव्याप्यत्वमाह **भुवि**=पृथिव्याम्, **तथादर्शनतः**, अनेन प्रकारेण तद्भेदसिद्धेः,

---

अनुभव नहीं होता। एवं जो अर्थ अंशहीन होता है उसमें संशयात्मकज्ञान का भी उदय नहीं होता। प्रकृत विषय के सम्बन्ध में यह ज्ञातव्य है कि जैसे अन्य मत के संकेतात्मक समय के अनुसार जब 'तत्' आदि पद शशविषाण आदि में सङ्केतित होता है तो उसका अर्थ पदार्थ होने पर वाक्यार्थ रूप भी होता है, उसीप्रकार प्रधानादि पद के अर्थ के भी वाक्यार्थात्मक होने से यह कहा जा सकता है कि प्रधान आदि पद का प्रयोग असद्भूत अर्थ का उद्भावक होने से प्रधान आदि पद भी मृषावाद है। यही कारण है जिससे अन्य मत के सङ्केतित अर्थ के प्रतिपादक तथा निषेध बोधक प्रकृति आदि पद जो असत्यभाषा की वर्गणा से उत्पन्न वाक्यों के घटक होते हैं वे अपने प्रतिपाद्य अर्थ के अस्तित्व प्रतिपादन में अभिप्राय न रखने से मृषा नहीं होते। और इसीकारण से यह भी बात उपपन्न होती है कि पाण्डुर पत्र किसलयादि दृष्टान्तभूत अर्थों के बोधक (उपमावाची) शब्दों के अर्थ का बाध होने पर भी तात्पर्य में प्रमाण होने से उनमें मृषात्व नहीं होता। प्रस्तुत विषय की तात्त्विकता के बोध के लिए व्याख्याकार के भावारहस्य नामक ग्रन्थ का अवलोकन अपेक्षित है ॥ १८ ॥

[हेतुभेद–शब्दभेद दोनों में अन्योन्याश्रय का निरसन]

पन्द्रहवीं कारिका में हेतुभेद से शब्दभेद की सिद्धि बतायी गयी है। उस पर यह शङ्का होती है कि-'शब्दभेद सिद्ध हो जाने पर उसके हेतुभेद से नियम्य होने के कारण उससे हेतुभेद की सिद्धि होगी; और हेतुभेद सिद्ध हो जाने पर उससे शब्दभेद की सिद्धि होगी। अतः हेतुभेद से शब्दभेद की सिद्धि अन्योन्याश्रय दोष से ग्रस्त है।' १९वीं कारिका इसी शङ्का का परिहार करने के लिए प्रवृत्त है। कारिका का अर्थ इसप्रकार है-जैसे प्रमाण और प्रमाणाभास से उत्पन्न प्रतिभास के समान होने पर भी प्रवृत्ति के संवाद और विसंवाद से

परैरपि सदसदर्थप्रतिभासाऽविशेषेऽपि संवादाऽसंवादाभ्यामेव भेदाभ्युपगमात् । न चैकान्ततुल्ययोः संवादाऽसंवादसंभव इति विभावनीयम् । अथ स्वातिरिक्तगुण-दोषसंबन्धादेव तेषामेकान्ततुल्यत्वं न भविष्यति, इति किं स्वरूपभेदेन ?, अन्यथा कालभेदेन भ्रम-प्रमाजनकचक्षुरादेरपि स्वरूपभेदः स्यादिति चेत् ? न, सत्येतरादिशब्दानां सर्वथा स्वरूपाभेदे संवादेतराद्यनापत्तेः, कार्यभेदे स्वभावभेदस्य प्रयोजकत्वात्, सहकारिभेदस्याप्यजनकस्वभावपरिहारौपयिकत्वात्, निर्मलाऽनिर्मलचक्षुरादेरपि स्वरूपभेदाभ्युपगमात् । इष्यते च सत्येतरादिव्यवहारभेदादपि सत्येतरादिभेदः, असति बाधके व्यवहारस्यापि प्रमाणत्वात्, स च हेतुभेदमाक्षिपतीति कान्योन्याश्रयः ? इति दिग् ॥ १९ ॥

प्रमाताओं को प्रमाण और प्रमाणाभास के भेद का बोध होता है उसीप्रकार सत्य शब्द (-प्रमाणभूत शब्द) और असत्य शब्द (-अप्रमाणभूत शब्द) के भी भेद का ज्ञान सम्वाद और विसम्वाद से होता है। क्योंकि सम्वाद और विसम्वाद में सम्वाद और विसम्वाद के भेद की व्याप्ति लोक में दृष्ट है। अतः इस व्याप्ति के बल पर सम्वाद और विसम्वाद द्वारा सत्य और असत्य शब्दों में भेद की सिद्धि निर्बाध रूप से सम्भव है। प्रतिवादी भी सत्य शब्द और असत्य शब्द से होने वाले सदर्थविषयक और असदर्थविषयक प्रतिभास के समान होने पर भी सम्वाद और विसम्वाद से ही सत्य असत्य शब्दों में भेदज्ञान का अभ्युपगम करते हैं। क्योंकि यह ज्ञातव्य है कि जो एकान्त तुल्य (-सर्वथा समान) होते हैं उनमें सम्वाद और विसम्वाद नहीं होता, वह तो परस्पर भिन्न में ही होता है।

[सत्य-असत्य शब्दों में स्वरूप भेद का समर्थन]

यदि यह कहा जाय कि-'अपने द्वारा होने वाले गुण दोषों से ही सत्-असत् शब्दों में एकान्त तुल्यता का अभाव हो जायगा। अतः उनमें स्वरूप भेद मानना उचित नहीं है। और यदि-गुण दोषात्मक कार्यभेद के कारण स्वरूपभेद माना जायगा तो कालभेद से भ्रम और प्रमारूप भिन्न कार्यों का जनक होने से चक्षु आदि में भी स्वरूप भेद की आपत्ति होगी'-तो यह ठीक नहीं है। क्योंकि सत्य और असत्य शब्दों में यदि स्वरूपभेद न होगा तो उनमें क्रम से सम्वाद और असम्वाद की उपपत्ति न हो सकेगी। क्योंकि कार्यभेद स्वरूपभेदाधीन होता है।

यदि यह कहा जाय कि 'दो कारणों में स्वरूपतः अभेद होने पर भी सहकारी के भेद से कार्यभेद की उपपत्ति हो सकती है'-तो यह ठीक नहीं है। क्योंकि सहकारी कार्य का जनक नहीं होता अपितु मूल कारण के अजनकत्व स्वभाव को दूर करने में ही उपयोगी होता है। और सच तो यह है कि प्रमाजनक निर्मलचक्षु और भ्रमजनक अनिर्मलचक्षु में भी स्वरूप भेद होता ही है। यह भी ज्ञातव्य है कि सत्य और असत्य व्यवहार से भी सत्य और असत्य शब्दों का भेद सिद्ध होता है, क्योंकि बाधक न होने पर व्यवहार भी प्रमाण होता है। इस प्रकार व्यवहारभेद से सिद्ध शब्दभेद से जब हेतुभेद का आक्षेप (अनुमान) सम्भव है तो हेतुभेद से शब्दभेद स्वीकार करने में अन्योन्याश्रय का अवसर कहाँ है ? ॥१९॥

नन्वेवं शब्दाऽर्थयोः स्वाभाविकसंबन्ध–सत्येतरादिभेदसाम्राज्ये संकेतवैयर्थ्यम्, स्वत एव शब्दस्यार्थप्रतिपादनयोग्यतायां संकेताऽदर्शिनोऽपि स्वतोऽर्थप्रतिपत्त्यविरोधादित्याशङ्क्याह—

समयापेक्षणं चेह तत्क्षयोपशमं विना । तत्कर्तृत्वेन सफलं योगिनां तु न विद्यते ॥२०॥

समयापेक्षणं च=संकेतप्रतिसंधानान्वय–व्यतिरेकानुविधानं च, इह=शब्दस्थले, **तत्क्षयोपशमं विना**=शब्दार्थसंबन्धज्ञानावरणक्षयोपशमं विना, **तत्कर्तृत्वेन**=उक्तक्षयोपशमकर्तृत्वेन, **सफलं**=सार्थकम्, शाब्दबोधे शक्तिग्रहस्यैव हेतुत्वेऽपि संकेतस्य तदभिव्यञ्जकत्वेनोपयोगात् । यत्तु 'एवं शक्तिव्यञ्जकत्वाभिमतस्य संकेतग्रहस्यैव शाब्दबोधहेतुत्वौचित्यम्' इति; तन्न, पटुअभ्यासे संकेतमननुस्मृत्यापि वाच्यताज्ञानेन शाब्दबोधोदयेन व्यभिचारात् । यत्तु 'अतिरिक्तशक्त्यभावज्ञानेऽपि शाब्दबोधोदयात् संकेतज्ञानमेव शाब्दप्रयोजकम्' इति; तत्तु धर्म–धर्मिणोर्भेदाभेदवादिनां न दोषावहम्,

उक्त के सन्दर्भ में यह शङ्का होती है कि—"जब शब्द और अर्थ में स्वाभाविक सम्बन्ध है एवं सत्य, असत्य शब्दों में भेद है तब अर्थ विशेष में शब्द विशेष का सङ्केत मानना व्यर्थ है। क्योंकि जिस मनुष्य को जिस अर्थ में जिस शब्द का सङ्केतज्ञान नहीं है उस मनुष्य को भी शब्दार्थ के स्वाभाविक सम्बन्ध होने के कारण उस शब्द से उस अर्थ का बोध मानने में कोई विरोध नहीं है।"—इसी शङ्का के परिहारार्थ २० वीं कारिका प्रवृत्त है। कारिका का अर्थ इस प्रकार है—

[शाब्दबोध में शक्तिग्रह की हेतुता का समर्थन]

अर्थविशेष में शब्द विशेष के स्वाभाविक सम्बन्धरूप शक्ति के होने पर भी जब तक उसके ज्ञानावरण का क्षयोपशम नहीं होता तब तक शब्दार्थ का बोध नहीं होता। अतः उस के लिये अर्थ विशेष में शब्दविशेष का सङ्केत और उसका ज्ञान आवश्यक है।

इसी बात को व्याख्याकार ने इस रूप में कहा है कि शाब्दबोध में सङ्केतग्रह के अन्वय व्यतिरेक का जो अनुविधान होता है अर्थात् सङ्केतज्ञान के होने पर जो शाब्दबोध का जन्म होता है और सङ्केतज्ञान के अभाव में जो शाब्दबोध का जन्म नहीं होता है वह शाब्दबोध में अपेक्षित शब्दार्थ सम्बन्ध के ज्ञानावरण के क्षयोपशम के द्वारा होता है। यह ठीक है कि 'शाब्दबोध में शक्तिज्ञान ही कारण होता है, उसमें सङ्केतज्ञान की कारणता निर्विवाद सिद्ध नहीं है' तथापि शक्तिग्रह के लिए सङ्केतज्ञान की उपयोगिता अनिवार्य है। 'तो अवश्यक्लृप्त-नियत पूर्ववर्ती होने से सङ्केतज्ञान को ही शाब्दबोध का कारण मानना उचित है न कि शक्तिग्रह को' ऐसा जो कथन है वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि पटु अभ्यास की दशा में अर्थात् शब्दविशेष से अर्थविशेष के बोध का पुनः पुनः जन्म होने की स्थिति में सङ्केतज्ञान के बिना भी अर्थ में शब्द की वाच्यता का ज्ञान होकर शाब्दबोध का जन्म होने से शाब्दबोध के प्रति सङ्केतज्ञान की कारणता में व्यतिरेक व्यभिचार है।

इस सन्दर्भ में कुछ विद्वानों का जो यह कहना है कि 'शब्द में अर्थ बोधिका शब्द-स्वरूप से अतिरिक्त कोई शक्ति नहीं है, यह ज्ञान रहने पर भी शाब्दबोध होता है। अतः अतिरिक्त शक्ति को माने बिना मात्र संकेतज्ञान को ही शाब्दबोधप्रयोजक मानना चाहिए'—यह धर्म और धर्मी में भेदाभेदवादी के मत में किसी दोष का आपादक नहीं हो सकता, क्योंकि शब्द में अर्थ–बोधिका जो शक्ति मानी जाती है वह शब्दस्वरूप से सर्वथा भिन्न नहीं है। अतः

तत्पदबोध्यत्वप्रकारकेच्छाविषयत्वस्य गौरव—व्यभिचाराभ्यामतन्त्रत्वात् । एतेन 'तत्तत्पदबोद्धव्यत्वप्रकारता निरूपितेश्वरेच्छाविशेष्यत्वं तत्तत्पदार्थमात्रवृत्तितत्पदवाच्यत्वम्' इति नैयायिकादिमतमपास्तम्, लक्ष्यादावतिप्रसक्तत्वात्, ईश्वरमनङ्गीकुर्वतामपि वाच्यत्वव्यवहारात्, लाघवाच्च तत्पदबोध्यत्वरूपस्यार्थधर्मस्यैव तत्त्वात् । न चैवं लक्षणोच्छेदः, अर्थान्तरबोधार्थमाश्रीयमाणे संकेतान्तर एव तद्व्यपदेशात् ।

उस अभिन्न शक्ति के होने पर भी शब्द में अर्थ बोधानुकूल अतिरिक्त शक्ति के अभाव का ज्ञान हो सकता है और उस ज्ञान के होने पर भी शब्द में अर्थ बोध की सम्पादिका शब्दस्वरूप से भिन्नाभिन्न शक्ति का ज्ञान हो सकता है । यदि शब्द में अर्थबोध की प्रयोजिका इस प्रकार की शक्ति को स्वीकार न कर अर्थ में पदजन्य बोध विषयत्वप्रकारक इच्छा विषयता को ही वाच्यतारूप माना जायगा और उसके ज्ञान को शब्दजन्य अर्थबोध का कारण माना जायगा तो शक्तिज्ञान की कारणता की अपेक्षा गौरव होगा । तथा उक्त विषयतारूप वाच्यता का ज्ञान न रहने पर भी शब्द से अर्थबोध की सम्पादिका शब्दस्वरूप से भिन्नाभिन्न शक्ति के ज्ञान से शाब्दबोध की उत्पत्ति होने से व्यभिचार भी होगा । अतः पदजन्य बोध विषयत्व प्रकारक इच्छा विषयत्वरूप वाच्यत्व शाब्दबोध का अप्रयोजक है ।

[नैयायिक अभिमत शक्तिपदार्थ का निरसन]

इस सन्दर्भ में नैयायिकों का यह कहना है कि— 'तत्तत् अर्थ निष्ठ तत्तत्पदवाच्यता का ज्ञान तत्तत्पदजन्य तत्तत् अर्थ विषयकबोध का कारण है । और तत्तत्पदवाच्यत्व तत्तत्पदजन्यबोध विषयत्वप्रकारक ईश्वरेच्छा की विशेष्यतारूप है ।'—किन्तु यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि वाच्य (शक्य) अर्थ के समान लक्ष्य अर्थ में भी लक्ष्यक पदजन्य बोधविषयत्वप्रकारक ईश्वरेच्छाविषयता रहती है । क्योंकि ईश्वरेच्छा सर्वविषयक होती है । अतः लक्ष्य अर्थ लक्ष्यकपदजन्य बोधविषयता प्रकारक ईश्वरेच्छा का विषय होना अनिवार्य है । फलतः पदजन्य बोधविषयत्वप्रकारक ईश्वरेच्छा विषयता को पदवाच्यत्वरूप मानने पर लक्ष्य अर्थ में भी लक्ष्यक पद के वाच्यताव्यवहार की आपत्ति होगी । इसके अतिरिक्त, उक्त वाच्यताज्ञान को शाब्दबोध का कारण मानने पर अनीश्वरवादी को शाब्दबोध न हो सकेगा । क्योंकि उसके मत में ईश्वर का अस्तित्व ही न होने से उस अर्थ में पदजन्य बोधविषयत्वप्रकारक ईश्वरेच्छा विषयत्व का ज्ञान नहीं हो सकता । इसलिए लाघव के कारण तत्तत्पदबोध्यत्वरूप अर्थधर्म को ही तत्तत्पदवाच्यतारूप, और उसके ज्ञान को ही तत्तत्पदाधीन अर्थबोध का कारण मानना उचित है।

यदि यह कहा जाय कि— 'तत्तत्पदबोध्यत्व को तत्तत्पदवाच्यत्वरूप तत्तत्पद की शक्ति मानने पर लक्षणा का उच्छेद हो जायगा क्योंकि लक्ष्य अर्थ में भी लक्ष्यकपदबोध्यत्व रहता है और तत्तत्पदबोध्यत्व को तत्तत्पदवाच्यतारूप मानने के पक्ष में वही शक्तिरूप हो जायगा' —तो यह ठीक नहीं है क्योंकि वास्तव में लक्षणा सङ्केत से अतिरिक्त कोई वृत्ति नहीं है । अपितु प्रसिद्ध अर्थ से भिन्न अर्थ के बोध के लिए शब्द में उस अर्थ का जो अन्य संकेत माना जाता है उसी को लक्षणाशब्द से व्यवहृत किया जाता है । अतः वास्तव में लक्षणा सङ्केत से भिन्न नहीं है और यही उचित भी है । क्योंकि लक्षणा को सङ्केतात्मक शक्ति से भिन्न मानने पर शब्दजन्य अर्थ बोध के प्रति शक्ति-लक्षणा अन्यतर को प्रयोजक मानना होगा । जो लक्षणा को शक्ति में अन्तर्भावित कर शक्तिमात्र को शब्दजन्य अर्थ बोध का प्रयोजक मानने की अपेक्षा गौरवग्रस्त होने से त्याज्य है ।

युक्तं चैतत्, शाब्दबोधे शक्ति-लक्षणान्यतरत्वेन प्रयोजकत्वापेक्षया शक्तित्वेनैव तत्त्वौचित्यादिति दिग् । नन्वेवं समयस्य क्षयोपशमार्थत्वे सर्वत्र गलितावरणानां योगिनां वाचकप्रयोगार्थं तदपेक्षा न स्यात्, इत्यत इष्टापत्तिमाह-**योगिनां तु न विद्यते** समयापेक्षणम्, स्वयमेव वाच्यवाचकभावं ज्ञात्वा वाचकप्रयोगादिति ॥२०॥

अन्यस्यान्यत्र समये विरोध इत्येतत् परिहरन्नाह----

सर्ववाचकभावत्वाच्छब्दानां चित्रशक्तितः । वाच्यस्य च तथान्यत्र नाऽऽगोऽस्य समयेऽपि हि ॥२१॥

सर्ववाचकभावत्वात्=देशाद्यपेक्षया विलम्बितादिप्रतीतिजनकत्वेन सर्ववस्तुवाचकस्वभावत्वात्, शब्दानां **चित्रशक्तितः**=विचित्रार्थबोधनशक्तिमत्त्वात्; वाच्यस्य च **तथा**=अनेकशब्दवाच्यत्व-स्वभावत्वेनानेकप्रतीतिनिबन्धनानेकशक्तिमत्त्वात्, **अस्य**=घटादिशब्दस्य, **अन्यत्र**=पटादौ, **समयेऽपि**=संकेतेऽपि, **नाऽऽगः**=नापराधो वृथानियोगलक्षणः, **हि**=निश्चितम्, अधिकृतप्रतीतिजनकत्वेनो-

---

यदि यह शङ्का की जाय कि—'समय (-सङ्केत) को शब्दार्थ सम्बन्ध के ज्ञानावरण के क्षयोपशम के माध्यम से ही वाचक शब्द के प्रयोग में एवं तज्जन्य अर्थबोध में-उपयोगी माना जायगा तो योगियों को वाचकपद के प्रयोग में सङ्केत की अपेक्षा न होगी । क्योंकि उनके समस्त ज्ञानावरणों का क्षय हो चुका रहता है ।'—तो योगियों के सम्बन्ध में इस शङ्का का कोई औचित्य नहीं है क्योंकि उन्हें सङ्केतज्ञान के बिना ही अर्थ और शब्द में वाच्यवाचक भाव का ज्ञान हो जाता है । अतः सङ्केतज्ञान के बिना ही वे वाचकपद का प्रयोग आवश्यकतानुसार करते रहते हैं ॥२०॥

२१ वीं कारिका में अन्य पद का अन्य अर्थ में—घटादिपद का पटादि अर्थ में-सङ्केत स्वीकार करने पर होनेवाले विरोध का परिहार किया गया है । कारिका का अर्थ इस प्रकार है—

['सर्वे सर्वार्थवाचकाः' इस पक्ष में विरोध का परिहार]

शब्दों में सभी अर्थों का वाचक होने का स्वभाव है । क्योंकि सभी शब्द देश-काल-पुरुष आदि की अपेक्षा से विलम्ब अथवा अविलम्ब से सभी अर्थों की प्रतीति के जनक होते हैं । शब्दों का यह स्वभाव उनमें विचित्र अर्थों की बोधक भिन्नाभिन्न शक्ति के अस्तित्व के कारण होता है । जिस प्रकार शब्दों में सभी अर्थों की वाचकता का स्वभाव है उसी प्रकार अर्थ में सभी शब्दों से वाच्य होने का भी स्वभाव है । यह भी विभिन्न शब्दों से होने वाली प्रतीति की विषयता की नियामक शक्तियों के कारण होता है । अन्य शब्द का अर्थ में, जैसे घटादि शब्द का पटादि अर्थ में सङ्केत मानने पर भी इस प्रकार का कोई दोष कि-'यदि पट आदि में घट आदि शब्द का सङ्केत है तो पट आदि अर्थों में घट आदि शब्दों का प्रयोग होना चाहिए'-नहीं हो सकता । एवं 'पट आदि को घट आदि शब्दों से बोध्य होना चाहिए' इस प्रकार का भी दोष नहीं हो सकता, क्योंकि शब्द में अधिकृत अर्थ की प्रतीति की जनकता होती है । अतः उक्त दोष का परिहार सम्भवित होने से शब्द और अर्थ दोनों का उक्त स्वभाव उपपन्न होता है । शब्द नियतसङ्केतज्ञान के सहकार से ही अर्थ का बोधक होता है । और नियत सङ्केत सभी शब्दों का सब अर्थों में नहीं होता । अतएव शब्द के सब अर्थों के प्रति निर्विशेषता सिद्ध न होने से उक्त प्रकार का कोई अतिप्रसङ्ग नहीं हो सकता । यहाँ-'शब

भयोस्तत्स्वभावत्वात्, नियतसंकेतसहकृतस्य शब्दस्य सर्वार्थान् प्रत्यविशिष्टत्वाऽसिद्धेरनतिप्रसङ्गात्, नियतत्वस्य सहकारियोग्यतारूपस्य तन्नियामकधर्मान्तररूपस्य वा कार्यगम्यत्वात्; अन्यथा चक्रादिसमवहितस्य दण्डादेरपि घटान्यकार्यजननेऽविशिष्टतापत्तेः । 'कुतः पुनरेतत् स्वरूपं शब्दादेः' इति पर्यनुयोगे तु 'स्वहेतुप्रतिनियमात्' इत्युत्तरं न्यायविदः । न चैवं 'पटो घटपदवाच्यः' इति व्यवहारापत्तिः । यथाप्रमात्रादिभेदं तत्सत्त्वेनेष्टत्वात्—अन्यथा च तदभावादेव—पौरुषेयस्य शब्दार्थसंबन्धस्य निरपेक्षत्वाऽसिद्धेः । स्वरूपयोग्यतामादाय सामान्यतः 'घटो घटपदवाच्यः' इति व्यवहारस्तु नामादिभेदभिन्नत्वाद् घटपरिणामस्य, पटादेरपि घटपदवाच्यत्वेन घटत्वावच्छेदेनैव घटवाच्यत्वस्य(? स्याऽ) साकाङ्क्षत्वादिति दिग् ॥२१॥

सभी शब्दों का सभी अर्थों के साथ सङ्केत माना जायगा तो अमुक अर्थ में अमुक शब्द का सङ्केत नियत है यह निश्चय करने में कठिनाई होगी'—यह शङ्का नहीं की जा सकती। क्योंकि नियतत्व सहकारि योग्यतारूप अथवा सहकारि योग्यता के नियामक अन्य धर्म रूप है, जो अर्थविशेष में विद्यमान शब्दविशेष के सङ्केत में ही होता है, यह बात शब्दविशेष से अर्थविशेष की प्रतीति रूप कार्य से ही ज्ञात होती है। सहकारि योग्यता रूप कि वा उसका नियामक अन्य धर्मरूप नियतत्व की कार्य द्वारा ज्ञेयता केवल शब्दार्थ के सङ्केत तक ही सीमित नहीं है किन्तु अन्यतः भी मान्य है। जैसे—चक्र आदि से सन्निहित दण्ड आदि में ही घट की उत्पत्ति में सहकार करने की योग्यता है; यह बात चक्र आदि से सन्निहित दण्ड आदि से घटरूप कार्य की उत्पत्ति से ही ज्ञात होती है। यदि यह बात नहीं मानी जायगी तो उक्त प्रकार के दण्ड आदि में घट से भिन्न पट आदि कार्यों के प्रति भी निर्विशेषता की आपत्ति होने से उन दण्ड आदि से पट आदि की भी उत्पत्ति होने की आपत्ति होगी।

यदि यह प्रश्न हो कि शब्द को यह स्वभाव कैसे प्राप्त है, तो इसका उत्तर यह है कि शब्द आदि के उत्पादक कारण द्वारा ही शब्द आदि को यह स्वभाव प्राप्त होता है। अर्थात् न्यायवेत्ताओं के मत के अनुसार शब्द आदि कार्य अपने कारणों से ही तथाविध स्वभाव से विशिष्ट ही उत्पन्न होते हैं। सभी शब्दों में सभी अर्थों की वाचकता मानने पर, 'पटो घट पद वाच्यः इस व्यवहार की आपत्ति होगी'—इस दोष का भी उद्भावन नहीं हो सकता; क्योंकि जब कभी किसी जगह किसी प्रमाता को घट शब्द से पट का बोध होता है उस समय उस स्थान में उस प्रमाता की दृष्टि से पट में 'घटपद वाच्यत्व' का व्यवहार इष्ट ही है। और अगर किसी भी प्रमाता को ऐसा बोध होता नहीं तो वह बोध के अभाव के कारण ही यह व्यवहार की आपत्ति नहीं है। ऐसे प्रमाता के तादृश बोध की विद्यमानता या अविद्यमानता पर ही तादृश व्यवहार या उसका अभाव जो होता है इसका कारण यह है कि शब्द और अर्थ का संबन्ध पुरुषमूलक होने से उसमें पुरुष की प्रमा की सापेक्षता ही होती है, निरपेक्षता नहीं। फिर भी सभी शब्दों एवं अर्थों में रही हुई स्वरूपयोग्यता के कारण सामान्यतः ऐसा व्यवहार किया जाता है कि सभी अर्थ सभी शब्दों से वाच्य है 'घट घट पद से वाच्य है' ऐसा विशेष व्यवहार तो घटपरिणाम नामादि भेद से भिन्न होने के कारण होता है। ऊपर जो बता गये कि अगर प्रमाता को घट पद से पट का बोध होता है तो पट में भी घटपदवाच्यता का व्यवहार इष्ट ही है, इससे सूचित होता है कि घटपद की वाच्यता घटत्वावच्छेदेन ही साकाङ्क्ष है ऐसा नहीं है ॥ २१ ॥

अत्रैवानुक्तदोषपरिहारायाह—

अनन्तधर्मकं वस्तु तद्धर्मः कश्चिदेव च। वाच्यो न सर्व एवेति ततश्चैतन्न बाधकम् ॥२२॥

अनन्तधर्मकं वस्तु, तथातथाऽनेककार्यकरणात्, एकस्वभावादनेककार्याऽसिद्धेः, तद्धर्मः **कश्चिदेव** च—अभिधेयपरिणामरूपः, **वाच्यः**=अभिधेयः, न **सर्व एव**=सर्वथेन्द्रियान्तरग्राह्योऽपि, इति; यस्मादेवं **ततश्चैतद्**=वक्ष्यमाणं न बाधकम् ॥२२॥

किं तत् ? इत्याह—

अन्यदेवेन्द्रियग्राह्यमन्यच्छब्दस्य गोचरः । शब्दात् प्रत्येति भिन्नाक्षो न तु प्रत्यक्षमीक्षते ॥२३॥

अन्यदेवेन्द्रियग्राह्यम्=तात्त्विकं स्वलक्षणम्, **अन्यत् शब्दस्य गोचरः**—सांवृतं सामान्यलक्षणम्। कुतः ? इत्याह **शब्दात्**—घटादिशब्दात्=**प्रत्येति**=जानाति घटादिकम्, **भिन्नाक्षः**=अपरख्याहारादन्धोऽपि, न तु प्रत्यक्षमीक्षते चक्षुष्मानिव। ततः स्पष्टत्वाऽस्पष्टत्वविरुद्धधर्माध्यासाद् भेद एव दृश्य-विकल्प्ययोः ॥२३॥

[वस्तुमात्र अनन्त धर्मात्मक है]

प्रस्तुत कारिका में अब तक उद्‌भवित न किए गये दोषों के परिहार का उपक्रम किया गया है। कारिका का अर्थ इस प्रकार है—

प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्मात्मक है क्योंकि उससे भिन्न-भिन्न कार्यों का जन्म होता है और कोई भी वस्तु एक धर्म-एक स्वभाव से विभिन्न कार्यों का जनक नहीं हो सकती। वस्तु के अनन्त धर्मों में कुछ ही धर्म जो अभिधेयपरिणामात्मक होते हैं वही शब्द से वाच्य होते हैं न कि ऐसे धर्म जो सर्वथा इन्द्रियान्तर से ग्राह्य हो वे भी वाच्य होते हैं। क्योंकि सभी धर्म किसी एक शब्द निरूपित अभिधेय परिणामात्मक नहीं होते। शब्दविशेष से अर्थविशेष के अभिधान की इस स्थिति में अन्य दोष जो कि आगे कहा जाने वाला है वह शब्द की सर्वार्थवाचकता और अर्थ की सर्व शब्दवाच्यता में बाधक नहीं हो सकता ॥२२॥

[दृश्य और विकल्प्य अर्थों में भेदसाधन की आशंका]

२३ वीं कारिका से अब तक अनुद्‌भावित दोष का कथन किया गया है। कारिका का अर्थ इस प्रकार है—

इन्द्रिय से जिस अर्थ का ग्रहण होता है वह अन्य है, और शब्द से जिस अर्थ का बोध होता है, वह अन्य है। अर्थात् स्वलक्षण क्षणिक वस्तु चक्षु से ग्राह्य होती है और सम्भवतः काल्पनिक (नाम जाति आदि से विशिष्ट) सामान्य अर्थ शब्द से बोध्य होता है। इसीलिए जिसकी आँख नष्ट हो जाती है या जन्मान्ध होता है उसे वस्तु का दर्शन नहीं होता किन्तु शब्द से वस्तु का बोध होता है। इसलिए दृश्य (निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के विषयभूत) अर्थ में स्पष्टता और विकल्प्य (सविकल्पक बुद्धि के विषयभूत) अर्थ में अस्पष्टता होने से दृश्य और विकल्प्य में भेद मानना आवश्यक है। अन्यथा दोनों को एक मानने पर उसमें स्पष्टता और अस्पष्टता इन विरुद्ध धर्मों के समावेश की आपत्ति होगी ॥२३॥

एतदेव विशिष्य भावयति—

अन्यथा दाहसंबन्धाद्दाहं दग्धोऽभिमन्यते । अन्यथा दाहशब्देन दाहार्थः संप्रतीयते ॥२४॥

अन्यथा=स्पष्टत्वेन, **दाहसंबन्धात्**=दाहेन्द्रियसंयोगात् **दाहं दग्धः** पुरुषोऽ**भिमन्यते**=एकलोलीभावेन साक्षात्कुरुते; **अन्यथा**=अस्पष्टतया, **दाहशब्देन** श्रुतेन **दाहार्थः संप्रतीयते**=विकल्पगोचरीक्रियते, अतोऽनुभवसिद्धमेवेन्द्रिय-शब्दार्थयोस्तुच्छाऽतुच्छत्वमिति भावः ॥२४॥

यथैतस्योक्तस्य न बाधकत्वं तथाह—

इन्द्रियग्राह्यतोऽन्योऽपि वाच्योऽसौ न च दाहकृत् । तथाप्रतीतितो भेदाभेदसिद्ध्यैव तत्स्थितेः॥२५॥

इन्द्रियग्राह्यतः=इन्द्रियग्राह्याद् धर्मात् अन्योऽपि वाच्यो धर्मः, अपिशब्दादनन्योऽपि, अतो युक्तमिदं यत्–'शब्दात् प्रत्येति भिन्नाक्षो न तु प्रत्यक्षमीक्षते' इति, तदभिधेयधर्मस्य कथञ्चित् ततो भेदात्, अन्यथा प्रतीतिभेदानुपपत्तेः । न च शब्दार्थं नेक्षत एव, कथञ्चित् तद्ग्राह्यानुविद्धस्यैव शब्दात् प्रतीतेः, यथाक्षयोपशमं तथानुभवादिति । तथा, **असौ**=दाहशब्दवाच्यो धर्मः, **न च दाहकृत्**=न च दाहकरणशीलः, चशब्दाद् नाऽदाहकृच्च, अतोऽयुक्तमिदं (ऽयुक्तमिदं)यदुक्तम्–'अन्यथा

---

२४ वीं कारिका में पूर्वकारिकोक्त अर्थ को सुस्पष्ट किया गया है, कारिका का अर्थ इस प्रकार है ।

जब किसी मनुष्य की इन्द्रिय को दाह (अग्नि के साथ सम्बन्ध) होता है तब वह दग्ध पुरुष दाह का एकलोलीभाव से साक्षात्कार करता है किन्तु जब वह दाह शब्द को केवल सुनता है तब उसे दाह के अर्थ का विकल्पात्मक बोध मात्र ही होता है । इससे स्पष्ट है कि इन्द्रियग्राह्य अर्थ सत्य और शब्द वेद्य अर्थ असत्य होता है । ॥२४॥

२५ वीं कारिका में पूर्वकारिकोक्त दृश्य और विकल्प्य के भेद को वस्तु की अनेकान्तरूपता का अबाधक बताया गया है । कारिका का अर्थ इस प्रकार है—

[भेदाभेद की सिद्धि से पूर्व–आशंका का निरसन]

शब्दवाच्य धर्म, इन्द्रियग्राह्य धर्म से कथञ्चित् अन्य भी है और कथञ्चित् अनन्य भी है । इसलिए यह कथन की—"नेत्रहीन व्यक्ति को शब्द से अर्थ का बोध होता है किन्तु नेत्र से अर्थ का दर्शन नहीं होता"—वह ठीक ही है, क्योंकि इन्द्रियग्राह्य अर्थ का अभिधेय धर्म, इन्द्रियग्राह्य धर्म से कथञ्चित् भिन्न है । अतः अभिधेय धर्म के रूप में नेत्र द्वारा अर्थ का अग्रहण ठीक ही है । यदि अभिधेय धर्म और इन्द्रियग्राह्य धर्म में भेद न होगा तो शब्द जन्य प्रतीति और इन्द्रियजन्य प्रतीति में भेद ही न बन सकेगा । "नेत्रहीन व्यक्ति शब्दार्थ का किसी भी रूप में ईक्षण ही नहीं करता"–यह समझना ठीक नहीं है क्योंकि इन्द्रियग्राह्य धर्म से कथञ्चित् अनुविद्ध ही अर्थ का शब्द से बोध होता है । ज्ञानावरण के क्षयोपशम के तारतम्य से इन्द्रियग्राह्य और शब्दबोध्य धर्म की प्रतीति अनुभव सिद्ध है । शब्दवाच्य धर्म दाह का कारण भी नहीं होता और दाह का अकारण भी नहीं होता अपितु कथञ्चित् उभयात्मक होता है । इसलिए यह कहना

दाहसंबन्धात् '....इत्यादि, स्पर्शनेन्द्रियगम्यधर्मस्य कथञ्चिदभिधेयधर्मतो भेदात् । न च शब्दादपि न तत्प्रतीतिरेव, अस्पष्टाकारतया प्रतीतेः, एकत्रापि प्रतिभाससामग्रीभेदात् स्पष्टाऽस्पष्टप्रतिभासोपपत्तेः । तथा दाहवेदनं स्वसातवेदनीयकर्मोदयादिनिमित्तम्, न तु दाहसंबन्धमात्रजमिति न दोषः । द्वैरूप्ये हेतुमाह—**तथाप्रतीतितः** उक्तवदितरेतरगर्भप्रतीतेः, **भेदाभेदसिद्धयैव**=जात्यन्तरात्मकभेदाभेदोपपत्त्यैव, **तत्स्थितेः**—अभिधेयेन्द्रियग्राह्यधर्मव्यवस्थानात् ।

यदि चैवमपि स्वाग्रहादस्पष्टज्ञानं वस्त्वविषयमेवेष्यते तदा काचादिव्यवहित वस्तुप्रतिभासिदर्शनं दूरस्थवृक्षादिदर्शनं चाऽस्पष्टमुच्छिद्येत । न च तत्र नाऽस्पष्टत्वम्, सामान्योपसर्जनविशेषप्रतिभासत्वेन तत्र सार्वजनीनाऽस्पष्टत्वव्यवहारात् । भ्रान्तत्वे चास्य प्रमाणद्वयानन्तर्भूतस्याऽज्ञातवस्तुप्रकाश—संवादाभ्यां प्रमाणान्तरतापत्तिः । न चास्य स्वप्रतिभासेऽर्थस्यैव संस्थानविशेषलिङ्गत्वेनानुमानेऽन्तर्भावाद् न प्रमाणान्तरत्वम्, अनुमानस्य च स्वप्रतिभासिन्यनर्थेऽर्थाध्यवसायेन प्रवृत्तेर्भ्रान्तत्वम्, भ्रान्तस्यापि च पारम्पर्येण वस्तुप्रतिबन्धात् प्रामाण्यमिति वक्तव्यम्, अनुमानप्रामाण्यान्यथानुपपत्त्या

अयुक्त (?युक्त) है कि– 'इन्द्रिय से दाह– (अग्नि का सम्पर्क) होने पर मनुष्य अपने को दग्ध मानता है और शब्द से दाह का बोध होने पर वैसा नहीं मानता ।' –यह मान्यताभेद का कारण यह नहि है कि इन्द्रियग्राह्य और शब्दबोध्य में अत्यन्त भेद है, अपितु यह है कि स्पर्शनेन्द्रिय से ग्राह्य धर्म अभिधेय धर्म से कथञ्चित् भिन्न है । और कथञ्चित् भेद के कारण ही यह वैलक्षण्य होता है कि स्पर्शनेन्द्रिय से दाह का ग्रहण होने पर दग्धता होती है और दाहशब्द से दाह का बोध होने पर दग्धता नहीं होती । यह भी बात नहीं है कि 'शब्द से इन्द्रियग्राह्य धर्म की प्रतीति किसी भी रूप में होती ही नहीं'–किन्तु सच यह है कि शब्द से भी इन्द्रियग्राह्य की प्रतीति होती है किन्तु वह अस्पष्ट होती है । ग्राहक सामग्री के भेद से एक ही वस्तु की भी स्पष्टाकार और अस्पष्टाकार प्रतीति होना युक्तिसङ्गत है । इन्द्रिय से जो दाह का बोध होता है, उससे दग्धता होने का कारण केवल यह नहीं कि वह बोध इन्द्रियजन्य है, बल्कि इसलिए होती है कि इन्द्रिय से दाह के ग्रहणकाल में असातवेदनीय– (दुःखजननक्षम) कर्म का उदय होने से होती है । अर्थ की ग्राह्य और अभिधेय उभयरूपता असिद्ध नहीं है अपितु अभिधेय गर्भग्राह्य और ग्राह्यगर्भ अभिधेय की क्रम से इन्द्रिय और शब्द से होने वाली प्रतीति से सिद्ध है । परस्पर विरोधी भेद और अभेद से विजातीय परस्पर अविरोधी भेदाभेद की जो एक अर्थ में प्रतीति होती है उसी से अर्थ की ग्राह्य और अभिधेय धर्मरूपता व्यवस्थित है ।

[अस्पष्टज्ञान में कल्पित विषयता का निरसन]

यदि अपनी धारणा के बल से यह कहा जाय कि शब्द से होने वाला अस्पष्टज्ञान कल्पित विषयक ही होता है वस्तुविषयक नहीं होता, तो काच आदि से व्यवहित वस्तु का जो अस्पष्ट दर्शन होता है, एवं दूर स्थान में स्थित वृक्ष आदि का जो अस्पष्ट दर्शन होता है उसका उच्छेद हो जायगा । अर्थात् अस्पष्ट होने के आधार पर उन दर्शनों के विषय में भी यह कहा जा सकता है कि वे वस्तुविषयक नहीं है । यदि यह कहा जाय कि, उक्त दर्शन अस्पष्ट नहीं है अपितु जो अस्पष्ट होता है उस अंश में वह स्पष्ट ही है' तो वह ठीक नहीं है । क्योंकि उक्त-दर्शन सामान्य के द्वारा गौणीभूत विशेष ग्राही प्रतिभासरूप होने से उसमें अस्पष्टता का व्यवहार

विकल्पस्य स्वातन्त्र्येण प्रामाण्यस्य व्यवस्थापितत्वात्, समानविषयतया प्रवृत्तिविज्ञानजनकत्वपर्यवसितस्याऽविसंवादकत्वलक्षणस्य प्रामाण्यस्य भ्रान्तेऽयोगाच्च, प्रवर्तकत्वमात्रस्य स्वप्रदर्शितार्थप्रदर्शक-(?प्रवर्तक)त्वमात्रस्य च संनिकृष्टज्ञानान्तरे पीतशङ्खादिग्राहिज्ञानान्तरे चातिव्याप्तेः ।

अथ तत्रापि ग्राह्ये आरोपितवस्तुनि स्वाकारे वा प्राप्याऽभेदाध्यवसायेन प्राप्यांशेन समानविषयतया प्रवर्तकत्वेन प्रामाण्यमक्षतम् तदुक्तम्—'ततोऽपि विकल्पात् तदध्यवसायेन वस्तुन्येव प्रवृत्तेः, प्रवृत्तौ च प्रत्यक्षेणाभिन्नयोग-क्षेमत्वात्' इति; अन्यदप्युक्तम्—'न ह्याभ्यामर्थं परिच्छिद्य प्रवर्त्तमानोऽर्थक्रियायां विसंवाद्यते,' इति चेत् ? न, उभयोरेकस्य विषयसाम्यस्याऽसिद्धेः, लोकव्यवहारार्थं काल्पनिकस्य तस्याश्रयणे च तन्निर्वाहाय नित्यानित्यवस्तुग्राहकत्वाऽऽश्रयणस्यैव युक्त-

सर्वसम्मत है। और यदि उक्तदर्शन को भ्रम माना जायगा तो प्रत्यक्ष और अनुमान इन बौद्धाभिमत दो प्रमाणों में इसका अन्तर्भाव नहीं होगा। किन्तु उसे अतिरिक्त प्रमाण के रूप में स्वीकार करने की आपत्ति होगी, क्योंकि वह भी अज्ञात वस्तु का प्रकाशक है और उस दर्शन से होने वाली वस्तुप्रापक प्रवृत्ति का संवादी भी है और इन्हीं दो चीजों से (अनुमान में भी) प्रामाण्य की सिद्धि होती है।

[अस्पष्ट प्रतीति का अनुमान में अन्तर्भाव अशक्य]

यदि यह कहा जाय कि 'उक्तप्रतीति संस्थान विशेषरूप हेतु से होती है अतः अनुमान में इसका अन्तर्भाव हो जाने से उसमें प्रमाणान्तरत्व की आपत्ति नहीं होगी; अनुमान अपने विषयभूत अवस्तु में वस्तु का अध्यवसायी होने से प्रवर्त्तक होता है, इसलिए वह भ्रान्त होता है; और भ्रान्त होने पर भी बौद्धमत में वह परम्परया वस्तु से व्याप्त होने के कारण प्रमाण माना जाता है' तो यह ठीक नहीं है। क्योंकि पूर्व स्तबक में अनुमान के प्रामाण्य की अन्यथा उपपत्ति न होने से विकल्पज्ञान में स्वतन्त्ररूप से प्रामाण्य की सिद्धि की जा चुकी है। अतः उसे उक्तरीति से भ्रान्त होने पर भी प्रमाणरूप में व्यवहार्य बताना समीचीन नहीं है। यह भी ज्ञातव्य है कि अविसम्वादकत्वरूप प्रामाण्य समान विषयक प्रवृत्ति-विज्ञान की कारणतारूप है, अतः वह भ्रान्तज्ञान में कथमपि सम्भव नहीं है। केवल प्रवर्त्तक होने से भी या तो केवल स्वप्रदर्शित अर्थ का प्रदर्शक (? प्रवर्त्तक) होने से भी यदि ज्ञान को प्रमाण माना जायगा तो सन्निकृष्टग्राही अन्य भ्रान्तज्ञान में एवं पीतरूप में शङ्ख को ग्रहण करने वाले ज्ञान में अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि एक देशस्थ रङ्ग (कलाई) और रजत का जब क्रम से रजत और रङ्ग के रूप में ज्ञान होता है तब भी वह रजतार्थी का प्रवर्त्तक एवं अपने पूर्व उत्पन्न रजत और रङ्ग के ग्राहक प्रत्यक्ष से प्रदर्शित अर्थ का प्रदर्शक (? प्रवर्त्तक) होता है। पीतरूप में शङ्खग्राही ज्ञान भी शङ्खार्थी का प्रवर्त्तक और शङ्खग्राही प्रत्यक्ष से प्रदर्शित अर्थ का प्रदर्शक (? प्रवर्त्तक) होता है। अतः ऐसे ज्ञानों में प्रामाण्य की अतिव्याप्ति अनिवार्य है।

[विकल्प में आरोपितवस्तुविषयता अमान्य]

यदि यह कहा जाय कि—"उक्तज्ञान स्थल में भी उसके विषयभूत आरोपित वस्तु में अथवा उसके आकार में प्राप्य वस्तु के अभेद का ज्ञान होता है। अतः प्राप्य अंश को लेकर समान विषयक होने से प्रवर्त्तक होने के कारण उस ज्ञान में भी प्रामाण्य अप्रतिहत है। कहा

त्वात्; उक्तप्रामाण्यस्योपेक्षणीयार्थाऽव्यापकत्वात्, दृश्यप्राप्ययोरर्थयोः कथञ्चिदेकत्वं विना प्रवृत्ति-प्रतिनियमानुपपत्तेश्च स्वपरव्यवसायिज्ञानत्वस्यैव प्रामाण्यलक्षणस्य युक्तत्वादिति दिग् । इत्थं च दूर-स्थवृक्षादिज्ञानवदस्पष्टस्यापि शाब्दस्य नाऽप्रामाण्यम् । **न चाशेष–विशेषाध्यासितवस्तुप्रतिभासवैकल्या**दस्यस्य तथात्व**माशङ्कनीयम्,** प्रत्यक्षेऽपि तथात्वप्रसक्तेः । न ह्यस्मदादिप्रत्यक्षे क्षणिकत्व—नैरात्म्या-द्यशेषधर्माध्यासितसंख्योपेतघटाद्याकारपरिणतसमस्तपरमाणुप्रतिभासः, तथैवाऽनिश्चयात् । अत एव "मति श्रुतयोर्निबन्धो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु" [त.सू.१] इति समानविषयत्वमक्षज–शाब्दयोस्तत्त्वार्थ-**सूत्रकृता** प्रतिपादितम् । न चाऽवस्तुभूतसामान्यविषयत्वादस्याऽप्रामाण्यम्, एकाकारप्रतीतिहेतुत्वेन वस्तुभूतस्य तस्य व्यवस्थापितत्वादिति दिग् ॥२५॥

भी गया है कि – विकल्पज्ञान से भी वस्तु का ग्रहण होने से वस्तु में ही प्रवृत्ति होती है । अतः प्रवृत्ति के सम्बन्ध में उसका योगक्षेम प्रत्यक्ष के तुल्य ही है । उक्त की पुष्टि में दूसरी यह भी बात कही गयी है कि प्रत्यक्ष और अनुमान से होने वाले अर्थनिश्चय के अनुसार प्रवृत्त होने वाले पुरुष की अर्थक्रिया में कोई विसंवाद नहीं होता" तो यह ठीक नहीं है । क्योंकि उक्त दोनों प्रकार के ज्ञानों में एक ही प्रकार का विषय साम्य नहीं है और यदि लोकव्यवहार के लिए कल्पित विषय साम्य का आश्रय लेकर दोनों में प्रामाण्य की उपपत्ति की जायगी तो उसकी अपेक्षा यह मानना अधिक युक्ति सङ्गत होगा कि ज्ञान कथञ्चित् नित्य-अनित्य उभयात्मक वस्तु का ग्राहक है । प्रतिपक्षी द्वारा कथित प्रामाण्य उपेक्षणीय अर्थ के ग्राहक ज्ञान में अव्याप्त होने से भी स्वीकार्य नहीं है । दृश्य और प्राप्य अर्थ में यदि किसी भी रूप में ऐक्य माना जायगा तो प्रवर्तक ज्ञान का प्रवृत्ति के प्रति प्रतिनियम की अर्थात् 'प्रवर्तकज्ञान से गृहीत अर्थ की ही प्रवृत्ति द्वारा प्राप्ति के नियम' की उपपत्ति न होगी । अतः परोक्तप्रामाण्य का परित्याग कर ज्ञान द्वारा स्व और पर उभय का व्यवसायात्मक ग्रहण होना ही ज्ञान का प्रामाण्य है-यह मानना ही युक्ति सङ्गत है । इस प्रकार प्रस्तुत विचार से यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि दूर-स्थवृक्ष आदि ज्ञान के समान ही शब्दजन्य अस्पष्टज्ञान में भी अप्रामाण्य नहीं है ।

[अप्रामाण्य सकलविशेष अग्राहकता रूप नहीं है]

यदि यह कहा जाय कि- 'शब्दजन्यज्ञान वस्तु के अशेष-विशेष का ग्राहक नहीं होता । अतः वह अप्रमाण है'-तो यह ठीक नहीं है । क्योंकि अशेष-विशेष का ग्राहक न होने से यदि शाब्दज्ञान को अप्रमाण कहा जायगा तो प्रत्यक्ष में भी प्रामाण्य की अनुपपत्ति होगी, क्योंकि वह भी अपनी विषयभूत वस्तु को उसके अशेष विशेषरूपों के साथ ग्रहण नहीं करता, क्योंकि यह निर्विवाद है कि सामान्यजनों को जो प्रत्यक्ष होता है उसमें क्षणिकत्व, नैरात्म्य आदि अशेष अर्थों से विशिष्ट एवं संख्या युक्त घट आदि के आकार में परिणत परमाणुसमूह का भान नहीं होता । क्योंकि उसीरूप में घटादि का निश्चय सभी के लिये असिद्ध है । यही कारण है कि तत्त्वार्थ सूत्रकार ने मति और श्रुतज्ञान को सम्पूर्ण पर्यायों के ग्रहण के बिना भी सर्व द्रव्य-ग्राही कहकर इन्द्रियजन्यज्ञान और शब्दजन्यज्ञान में समान विषयकत्व का प्रतिपादन किया है। यदि यह कहा जाय कि-'शब्दजन्यज्ञान अवस्तुभूत सामान्य का ग्राहक होने से अप्रमाण है' -तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि यह सिद्ध किया जा चुका है कि एकाकार प्रतीति का हेतु होने से सामान्य भी वस्तु ही है ॥२५॥

'वाच्य इत्थमपोहस्तु' इत्युक्तं निराकरोति—

अपोहस्यापि वाच्यत्वमुपपत्त्या न युज्यते । असत्त्वाद्वस्तुभेदेन, बुद्ध्या तस्यापि बोधतः ॥२६॥

अपोहस्यापि=परपरिकल्पितस्य **वाच्यत्वम्**=अभिधेयत्वम्, **उपपत्त्या**=युक्त्या न युज्यते । कुतः ? इत्याह—**वस्तुभेदेन**=वस्तुभिन्नतया तस्याऽसत्त्वात्, विजातीयव्यावृत्तेरपि समानपरिणतिरूपतया वस्तुवाच्यत्वपक्षप्रसङ्गात्, तुच्छस्य वस्तुना संबन्धाऽयोगात् । विकल्पगतार्थप्रतिबिम्बवाच्यत्वमधिकृत्याह—**बुद्ध्या**—तृतीयाया अभेदार्थत्वाद् विकल्प–बुद्ध्यभिन्नत्वे, **तस्य**=अपोहस्यापि **बोधतः**= अद्वयबोधात् 'भेदेनाऽसत्त्वात्' इति योगः । न हि बोधमात्रवादिनोऽद्वयव्यतिरिक्तं किञ्चिदस्ति, इति कुत इष्टप्रतिभासः ? । तैमिरिकादीनां प्रतिभासविशेषोऽपि लोके बोधमात्रसामग्रीभिन्नकर्मतिमिरापरकेशदर्शनादिजो युज्यते, न तु बोधमात्रसामग्रीतः, तस्यापरमन्तरेण वैशिष्ट्याऽयोगात् ।

[अपोह की शब्दवाच्यता का निरसन]

२६ वीं कारिका में अपोह के पूर्व प्रतिपादित शब्दवाच्यत्व का निराकरण किया गया है । कारिका का अर्थ इस प्रकार है-

बौद्धद्वारा कल्पित अपोह की शब्दवाच्यता युक्तिसङ्गत नहीं है, क्योंकि वस्तु से भिन्न होने के कारण अपोह असत् है । यद्यपि उसे अतद्व्यावृत्तिरूप माना गया है किन्तु अतद्व्यावृत्ति भी समान परिणामरूप ही है, अतः उसे वाच्य मानने पर वस्तु में ही शब्दवाच्यता की प्रसक्ति होती है । और जब अपोह अवस्तु है तो वह शब्दवाच्य नहीं हो सकता, क्योंकि शब्द वस्तु है और अपोह तुच्छ है । फिर तुच्छ का वस्तु के साथ सम्बन्ध कैसे सङ्गत हो सकता है ? !

बौद्ध विद्वानों ने जो विकल्पगत अर्थप्रतिबिम्ब रूप अपोह को शब्दवाच्य कहा है, वह भी समीचीन नहीं है, क्योंकि अर्थ प्रतिबिम्बरूप अपोह भी विकल्पात्मक बुद्धि से अभिन्न है, क्योंकि अद्वय (बाह्यार्थ शून्य) बोध से भिन्नरूप में उसकी सत्ता नहीं है, क्योंकि बोधमात्रवादी के मत में अद्वय बोध से भिन्न किसी भी वस्तु अस्तित्व नहीं है । अतः उसे शब्दवाच्य मानने पर वस्तु ही शब्दवाच्य होगी, क्योंकि उसके बुद्धयात्मक होने में वह वस्तुरूप ही है ।

वस्तुस्थिति की दृष्टि से यह भी ज्ञातव्य है कि तिमिर रोग से ग्रस्त चक्षुवाले मनुष्यों को तथा अन्यजनों के प्रतिभास में इस प्रकार का अन्तर कि. तैमिरिक को अन्य वर्णों का भी श्यामाकार प्रतिभास होता है और अन्यजनों को श्यामवर्ण का ही श्याम कार प्रतिभास होता है । लोक में जो ऐसा विशेष देखा जाता है कि तिमिर रोगवाले को श्वेत केशादि भी श्याम दिखाई देते है वह सीर्फ बोधमात्र की सामग्री से नहीं घट सकता, किंतु उससे अतिरिक्त तथाविध कर्म, तिमिर रोग और बोधभिन्न केशादि का दर्शन आदि सामग्री के मिलने से ही घट सकता है । केवल बोधमात्र की सामग्री से यह नहीं हो सकता, क्योंकि बोधभिन्न तिमिरादि सामग्री के विना तैमिरिक के दर्शन में उक्त वैशिष्ट्य असम्भव है ।

साथ ही यह भी द्रष्टव्य है कि बोध मात्र वादी के पक्ष में पारमार्थिक बाह्यवस्तु न होने से नीलपद और उत्पलपद में जो सामानाधिकरण्य होने का व्यवहार होता है उसका उच्छेद प्रसक्त होगा । कारण, वैसे व्यवहार के लिये भिन्न भिन्न (नीलत्व और उत्पलत्व) दो प्रवृत्ति-

अपि च, एवं सामानाधिकरण्यादिव्यवहारोऽप्युच्छिद्येत, प्रवृत्तिनिमित्तद्वयवत एकस्य बहिर्भूतस्य धर्मिणोऽभावात्। न च भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तोपरक्तैकधर्म्याकारविकल्पादेव सामानाधिकरण्यव्यवहारोपपत्तिः, एकान्तवादिनाऽनेकाकारैकविकल्पस्याभ्युपगन्तुमशक्यत्वात्। न चाऽतात्त्विकमनेकत्वमिति न दोषः, एकत्वस्य तात्त्विकत्वेऽविनिगमात्; ज्ञानात्मन्यविद्यमानस्य चानेक(त्व)स्य स्वसंवेदनेनाऽपरिच्छेदप्रसक्तेः; परिच्छेदे वाऽविद्यमानाकारग्राहित्वेनाऽप्रत्यक्षत्वप्रसङ्गात्, सदऽसतोरेकत्वाऽनेकत्वयोर्ज्ञानतादात्म्यविरोधेनाऽतदाकारज्ञानवेदने साकारवादक्षतेश्च। एतदुभयाज्ज्ञानवैचित्र्योपगमे च बहिरर्थवैचित्र्येण किमपराद्धम्?! विवेचिततरं चैतत्, इति नेदानीं प्रयासः। अपि च, शब्दार्थाऽपोहयोर्जन्य-जनकभावरूपवाच्य-वाचकभावाभ्युपगम आकाङ्क्षादिज्ञानात् प्रागेव शाब्दधीप्रसङ्गः। 'पदार्थोपस्थितिस्थानीयप्रतिबिम्बे आकांक्षाद्यनपेक्षायामपि शाब्दस्थानीयप्रतिबिम्बे नियमतस्तदपेक्षणाद् नायं प्रसङ्ग' इति चेत्? न, क्षणिकस्य शब्दस्य तदपेक्षाऽयोगात्। अनन्तरोत्पन्नशब्दाकारक्षणे स्वक्षणसंयोगरूपापेक्षायोगे च हेतुधर्मस्य कार्ये संक्रमात् शाब्दे नियमत आकाङ्क्षादिभानापत्तेः, निरंशस्यांशेनाऽपेक्षाऽयोगात्।

निमित्त के आधारभूत एक बाह्य नीलकमलस्वरूप धर्मी का होना अनिवार्य है। किन्तु अपोहवादी के मत में बोधभिन्न कोई वस्तु ही है नहीं, अतः वह व्यवहार कैसे हो सकेगा?] [भिन्न भिन्न प्रवृत्ति निमित्त वाले दो नाम मिलकर एकार्थवाचक बन जाय इसी को सामानाधिकरण्य कहा जाता है जो बोधाद्वैतपक्ष में उक्त रीति से घट नहीं सकता।]

यदि यह कहा जाय कि- "भिन्न भिन्न प्रवृत्ति निमित्त से युक्त एक धर्म्याकार विकल्प से सामानाधिकरण्य की उपपत्ति हो सकती है। आशय यह है कि दो प्रवृत्ति निमित्त के आश्रयभूत बाह्यवस्तु का सद्भाव न होने पर भी दो भिन्न प्रवृत्ति निमित्तों को ग्रहण करने वाली एक धर्म्याकार विकल्प बुद्धि तो हो सकती है। फिर उन दोनों के माध्यम से सामानाधिकरण्य के व्यवहार में कोई बाधा नहीं हो सकती" -तो यह ठीक नहीं है। क्योंकि एकान्तवादी के मत में अनेकाकार एक विकल्प भी स्वीकार्य नहीं है।

यदि यह कहा जाय कि एकान्तवाद में भी 'अतात्त्विक अनेकत्व मानने में कोई दोष नहीं है' तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि 'अनेकत्व अतात्त्विक है और एकत्व तात्त्विक है' इसमें कोई विनिगमक नहीं है'. प्रत्युत ज्ञानस्वरूप में यदि अनेकाकारता विद्यमान न होगी तो स्वसंवेदी ज्ञान से उसका परिच्छेद (बोध) भी न हो सकेगा। और यदि परिच्छेद होगा तो अविद्यमान का ग्राहक होने से वह प्रत्यक्षात्मक ज्ञान न रह जायगा। क्योंकि प्रत्यक्षज्ञान विद्यमान का ही ग्राहक होता है।

दूसरी बात यह भी है कि आप के पक्ष में यतः एकत्व और अनेकत्व क्रम से सत् और असत् रूप है अतः उसमें ज्ञान का तादात्म्य नहीं हो सकता, और जब वह ज्ञान का आकार न होगा तो 'ज्ञान साकार होता है' इस सिद्धान्त की हानि हो जायगी। और उभय से यदि ज्ञान में स्वभावतः वैचित्र्य माना जायगा तो बाह्य अर्थ के वैचित्र्य का क्या अपराध है जो उसे स्वीकार न किया जाय? इस विषय का विवेचन पहले किया जा चुका है। अतः इस सम्बन्ध में यहाँ कुछ अधिक नहीं कहना है।

अपि च, लिङ्ग-संख्यादियोगोऽप्यनन्तधर्मात्मकबाह्यवस्तुसमाश्रित एव, इति नापोहस्य वाच्यत्वम्, एकत्र स्त्री-पुं-नपुंसकाख्यभावत्रयस्य, एकत्व-द्वित्वादिसंख्यायाश्चाऽविरोधात्, यथाविवक्षमनन्त धर्माध्यासिते वस्तुनि कस्यचिद् धर्मस्य केनचित् शब्देन प्रतिपादनात्, प्रतिनियतोपाधिविशिष्टवस्तुप्रतिभासस्य प्रतिनियतक्षयोपशमविशेषनिमित्तत्वेन शबलाभासानापत्तेः । अपि च, शब्दस्य बहिरर्थाऽप्रतिपादकत्वेऽदृष्टेषु नदी-देश-पर्वत-द्वीपादिष्वाप्तप्रणीतत्वेन निश्चितात् शब्दात् प्रतिपत्तिर्न स्यात्, अदृष्टे विकल्पानुपपत्तेः। न च तद्विशेषाऽनिश्चयेऽपि न कथञ्चित् ततो निर्णीतिः, प्रत्यक्षस्यापि स्वविषयप्रतिपत्तेः कथञ्चिदेव संभवात्, वस्तुविषयस्य प्रत्यक्षस्याऽनिश्चायकत्वम्, अतथाभूतस्य च विकल्पस्य निश्चायकत्वं च वदतः सौगतस्यैव निर्विकल्पत्वादिति दिग् ॥२६॥

इस सन्दर्भ में यह भी एक दोष अनिवार्य है कि यदि शब्द और अर्थापोह (अतद्व्यावृत्त अर्थ) का शाब्दबोध, इन दोनों में जन्यजनक भावरूप वाच्यवाचकभाव माना जायगा तो आकांक्षा आदि के ज्ञान से पहले ही शाब्दबोध हो जाने की आपत्ति होगी। यदि, यह कहा जाय कि- 'बौद्धमत में पदार्थोपस्थिति के प्रतिनिधिरूप में मान्य अर्थप्रतिबिम्ब के लिये आकांक्षा विज्ञान की अपेक्षा न होने पर भी शब्द से उत्पन्न होने वाले शाब्दबोध स्थानीय अर्थ प्रतिबिम्ब के लिये नियमतः आकांक्षादिज्ञान की अपेक्षा होने से, उसके सम्पादक आकांक्षा-आदि ज्ञान से पूर्व शाब्दबोध की आपत्ति नहीं हो सकती।'-तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि शब्द क्षणिक होता है, अतः शाब्दबोध स्थानीय अर्थप्रतिबिम्ब के लिये किसी की भी अपेक्षा युक्ति सङ्गत नहीं है। यह भी द्रष्टव्य है कि यदि अव्यवहित उत्तर क्षण में उत्पन्न क्षणिक शब्द में अव्यवहित पूर्वोत्पन्न क्षणिक शब्द की सम्बन्धरूप अपेक्षा होती है तो कार्य में कारण धर्म का संक्रमण होने से नियमतः शाब्दबोध में आकांक्षादि का भान भी हो जायगा, क्योंकि निरंश शब्द की किसी एक अंश मात्र से ही अपेक्षणीयता मानना अयुक्त है। यह भी ज्ञातव्य है कि लिङ्ग-संख्या आदि का सम्बन्ध अनन्त धर्मात्मक बाह्यवस्तु में समाश्रित है। अतः वस्तु के एकात्मक न होने से अतद्व्यावृत्ति दुर्घट है। इन दोषों के कारण अपोह शब्द का वाच्य नहीं हो सकता। एक वस्तु में स्त्री, पुरुष और नपुंसक के स्वभावत्रय में और एकत्व द्वित्वादि संख्या के होने में कोई विरोध नहीं है। वस्तु अनन्त धर्मात्मक होती है। जब जिस धर्म की विवक्षा होती है तब किसी शब्द द्वारा उस धर्म से वस्तु का प्रतिपादन होता है। तत्तद्धर्म से विशिष्ट वस्तु का बोध तत्तद्धर्म के ज्ञानावरण के क्षयोपशम से होता है। और सभी धर्मों के ज्ञानावरण का क्षयोपशम एक साथ नहीं होता। अत एव विवक्षित किसी एक धर्म के रूप में होने वाले वस्तुबोध में अन्य धर्म का भान सम्भव न होने से किसी भी शब्द से वस्तु के शबलाकार (मिश्रिताकार) बोध की आपत्ति नहीं हो सकती। यह भी ज्ञातव्य है कि यदि शब्द बाह्यअर्थ का प्रतिपादक न होगा तो जो नदी, देश, पर्वत, द्वीप आदि पूर्व दृष्ट नहीं है उनका, निश्चितरूप से आप्त पुरुष भाषित शब्द से भी नियताकार बोध न हो सकेगा। क्योंकि जो अर्थ दृष्ट नहीं है उसका विकल्प बोध अनुपपन्न है।

यदि यह कहा जाय कि 'अदृष्ट नदी, देश आदि के विशेष रूप का निश्चय नहीं होता, अतः किसी भी रूप में शब्द द्वारा उनका निर्णय नहीं होता'-तो यह ठीक नहीं है। क्योंकि प्रत्यक्ष के भी विषय की प्रतिपत्ति कथञ्चित् ही होती है। प्रत्यक्ष से वस्तु के सर्व विशेष का

अपि च, अवस्तुवाच्यत्वेऽपसिद्धान्तोऽपि परस्येत्याह—

क्षणिकाः सर्वसंस्कारा अन्यथैतद्विरुध्यते । अपोहो यन्न संस्कारो न च क्षणिक इष्यते ॥२७॥

अन्यथा=अवस्तुनो वाच्यत्वे, 'क्षणिकाः सर्वसंस्काराः=कृतकाः सर्वं उत्पत्तिमन्तः' इति **एतत्**=उक्तम्, **विरुध्यते**। कथम्? इत्याह **अपोहो यद्**=यस्मात् **न संस्कारः**, अवस्तुत्वात्; **न च क्षणिकः**=नश्वरः **इष्यते**, तत एवेति। नन्वेवं हेतु–साध्योभयाभावे न व्यभिचार इति क विरोधः? संस्कारसामान्यमुद्दिश्य क्षणिकत्वविधाने व्याप्यव्यापकभावस्यैव लाभादिति चेत्? सत्यम्, तथापि बुद्धिप्रतिभासरूपापोहस्याऽवस्तुसंस्पर्शेन विपर्ययापादने, सामर्थ्यप्रतीयमाने तुच्छापोह इवान्यत्रापि तुच्छत्वेऽपि तथाप्रतीत्युपपत्त्या वा विरोधोद्भावने तात्पर्यात् ॥२७॥

निश्चय न होने पर भी जैसे उससे वस्तु का कथञ्चित् रूप में निर्णय होता है वैसे ही शब्द से भी अदृष्ट नदी आदि का कथञ्चित् रूप में बोध हो ही सकता है। किन्तु शब्द को बाह्यार्थ-अदृष्ट अर्थ का प्रतिपादक न मानने पर उसकी उपपत्ति न हो सकेगी। इस प्रसङ्ग में सौगत का यह कहना ठीक नहीं हो सकेगा कि वस्तु विषयक सविकल्पक प्रत्यक्ष अनिश्चायक है और अवस्तु विषयक निर्विकल्पक निश्चायक है। क्योंकि ऐसा मानने पर स्वयं सौगत ही वस्तुग्राही होने से निर्विकल्परूप हो जायगा। फलतः वह किसी भी बात का निश्चायक न हो सकेगा ॥२६॥

[क्षणिका सर्वसंस्काराः—इस की अनुपपत्ति]

२७वीं कारिका में यह बताया गया है कि अवस्तु को शब्दवाच्य मानने पर बौद्धसिद्धान्त का विरोध होगा। कारिका का अर्थ इस प्रकार है—

अवस्तु यदि शब्द का वाच्य होगा तो बौद्ध का यह सिद्धान्त कि 'सभी संस्कार अर्थात् सभी उत्पत्तिमान कृतक (=क्षणिक) होते हैं' इस बौद्ध सिद्धान्त का विरोध होगा, क्योंकि अपोह शब्द वाच्य होने पर वह भी सर्वशब्दार्थ में गृहीत होगा। किन्तु अवस्तु होने से न वह संस्कार ही है और न उसकी नश्वरता ही इष्ट है। यदि यह कहा जाय कि–" अवस्तुभूत अपोह में संस्कारत्व और क्षणिकत्व रूप दोनों का अभाव होने से हेतु और साध्य दोनों का अभाव है। अतः व्यभिचार नहीं है, क्योंकि साध्यशून्य में हेतु के रहने पर ही व्यभिचार होता है। प्रकृत में यह स्थिति नहीं है। अतः विरोध की सम्भावना कहाँ है? प्रत्युत उसके विपरीत, संस्कार सामान्य को उद्देश्य बनाकर क्षणिकत्व का विधान करने पर संस्कारत्व और क्षणिकत्व में व्याप्य–व्यापकभाव का ही लाभ होता है।"–तो इसके उत्तर में यह कहना है कि अपोह-बुद्धिप्रतिभास रूप है; उसे अवस्तु मानते हुए शब्दवाच्य मानने पर अवस्तुत्व से बुद्धिप्रतिभास रूपता के अभाव की आपत्ति होगी। इसी में कारिकोक्त विरोध का तात्पर्य है। अथवा सामर्थ्य से प्रतीयमान वस्तु में तुच्छ अपोह की तरह अन्य तुच्छ में भी शब्दजन्य प्रतीति की उपपत्ति होगी-इस प्रकार के विरोधोद्भावन में कारिका का तात्पर्य है ॥२७॥

[बौद्धशास्त्र निरर्थक हो जाने की आपत्ति]

२८वीं कारिका में अवस्तु को शब्दवाच्य मानने पर बौद्धशास्त्र आदि व्यर्थ हो जाने की आपत्ति का उद्भावन किया गया है। कारिका का अर्थ इस प्रकार है-

अपि च, एवं शास्त्रादिवैयर्थ्यमपीत्याह—

एवं च वस्तुनस्तत्त्वं हन्त ! शास्त्रादनिश्चितम् । तदभावे च सुव्यक्तं तदेतच्छुष्कखण्डनम् ॥२८॥

एवं च=कल्पितस्य वाच्यत्वे च **वस्तुनः**=स्वलक्षणस्य, **तत्त्वम्**=अनित्यत्वादिमत्त्वम्, **हन्त ! शास्त्रात्**=पिटकत्रयलक्षणात्, अनिश्चितं भवत्तीत्या । **तदभावे च**=तत्त्वनिश्चयाभावे च **सुव्यक्तम्**=अतिस्पष्टम्, **तदेतत्**=शास्त्रप्रणयनम् तन्मूलं भवदनुष्ठानं च शुष्कखण्डनम्, फलकणाऽनासादनात् । अथ शब्दजनितविकल्पात् सामर्थ्येन तथास्वलक्षणप्रतीतेर्न दोष इति चेत् ? न, विकल्प-स्वलक्षणयोः प्रतिबन्धस्यवासिद्धेः, स्वलक्षणमालम्बनं विनाऽप्यसत्यविकल्पवत् सत्यविकल्पेऽप्याकारनियमोपपत्तेः सामर्थ्यजविकल्पस्यापि स्वलक्षणाऽस्पर्शित्वात्, समारोपव्यवच्छेदस्य च शाब्दविकल्पादेवोपपत्तेस्तत्कल्पनायां मानाभावात् । 'अस्त्वेवमेव शास्त्राऽवैयर्थ्यमि'ति चेत् ? न, तथा सति स्वलक्षणाऽस्पर्शिनो व्याप्त्याद्यनपेक्षस्यार्थप्रापकस्य शाब्दस्य मानान्तरत्वप्रसङ्गात्, अर्थविवक्षानुमितिरूपत्वे च तस्य स्वातन्त्र्येण बाह्यार्थानध्यवसायित्वेनाऽप्रवर्तकत्वापातात्, 'नानुमिनोमि किन्तु शाब्दयामि' इत्यनुभवानुपपत्तेश्च ।

कल्पित को शब्दवाच्य मानने पर बौद्धशास्त्र सुत्तपिटक आदि त्रिपिटक के द्वारा स्वलक्षणवस्तु का अनित्यत्व आदि निश्चित नहीं हो सकेगा। क्योंकि अनित्यत्व आदि कल्पित न होने से शब्दवाच्य नहीं है। अतएव शास्त्र से उनका निश्चय नहीं हो सकेगा, और उस स्थिति में बौद्धशास्त्र का प्रणयन और तन्मूलक बौद्धों का अनुष्ठान किञ्चित् भी फल का प्रापक न होने से सूखे डण्डल को कूटने के समान निरर्थक होगा।

यदि यह कहा जाय कि—'शब्द से उत्पन्न विकल्प बोध से अनुमान द्वारा अनित्यत्वादि रूप से स्वलक्षणवस्तु की प्रतीति होने से उक्त दोष नहीं हो सकता'—तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि विकल्प में स्वलक्षण की व्याप्ति असिद्ध है। यतः जैसे असत्य विकल्प स्वलक्षण वस्तु के आलम्बन के अभाव में उत्पन्न होता है उसी प्रकार सत्य विकल्प भी उसके अभाव में नियत आकार में उत्पन्न हो सकता है। और दूसरी बात यह है कि जैसे शब्दजन्य विकल्प स्वलक्षण वस्तु को विषय नहीं करता उसी प्रकार अनुमानजन्य विकल्प भी स्वलक्षण वस्तु को विषय नहीं करेगा। अतः अनुमान द्वारा अनित्यत्व आदि रूप से स्वलक्षण वस्तु की प्रतीति का मानना सम्भव नहीं है।

"समारोप के व्यवच्छेद के लिये व्याप्ति माननी आवश्यक है" ऐसा भी कहना समीचीन नहीं है, क्यों कि समारोप का व्यवच्छेद तो शाब्दविकल्प से ही हो जाना उपपन्न है। ऐसे विकल्प-स्वलक्षण के बीच में प्रतिबन्ध की कल्पना करने में कोई प्रमाण रहता नहीं है। "उस प्रतिबन्ध के बिना ही शब्द कैसे भी अर्थप्रापक बन जाता है, और अतः शास्त्र से भी अनित्यतादि की प्रतीति हो जाने से शास्त्रवैयर्थ्य नहीं है" ऐसा कहना भी उचित नहीं, क्योंकि इसका फलित यह होता है कि वह स्वलक्षण का अस्पर्शी है, व्याप्त्यादि से निरपेक्ष है और फिर भी अर्थप्रापक है। इसलिये उसका अनुमान में अन्तर्भाव न हो सकने से उसको प्रमाणान्तर मानने की आपत्ति आयेगी। यह भी नहीं कहा जा सकता कि शाब्दजन्य विकल्प अर्थ विवक्षा की अनुमिति रूप है अतः उसमें प्रमाणान्तरत्व की आपत्ति नहीं हो सकती। क्यों कि अर्थ विवक्षा की अनुमितिरूप होने पर स्वतन्त्ररूप से बाह्यार्थ का ग्राहक न होने के कारण वह अर्थ प्राप्ति के

अपि च, अन्यविवक्षायामन्यशब्ददर्शनाद् विवक्षाविशेषसूचकत्वमपि कथं शब्दानाम् ? । 'सुविवेचितं कार्यं कारणं न व्यभिचरति' इति न्यायात् शब्दविशेषाणां तद् न विरुध्यत इति चेत् ? तर्हि येनैव प्रतिबन्धेन शब्दविशेषो विवक्षाविशेषसूचकस्तत एवार्थविशेषप्रतिपादकः किं नाभ्युपगम्यते ? । 'विवक्षया सह तदुत्पत्तिरेव प्रतिबन्धोऽर्थेन सह पुनरियमसंभविनी' ति चेत् ? न, तथापि विवक्षाया वचनेऽर्थप्रतिपादनरूपेष्टसाधनताज्ञानं विनाऽसंभवाद्, विवक्षोपसर्जनतयाऽर्थप्रतिपादकत्वस्य च शुकादिवचने व्यभिचारात्, कल्पितार्थप्रतिपादकत्वे च सत्याऽसत्यविभागाभावाल्लोकयात्रोच्छेदात्, शब्दजनितार्थप्रतिबिम्बे बहिरर्थविषयतायास्तात्त्विकत्वकल्पनाया एवौचित्यादिति दिग् ॥२८॥

लिए ज्ञाता का प्रवर्त्तक न हो सकेगा । दूसरी बात यह है कि यदि शब्दजन्य विकल्प को अर्थ विवक्षा की अनुमितिरूप माना जायगा तो उसके अनुमिति भिन्नत्व और शाब्दबुद्धित्व रूप से होने वाले 'नानुमिनोमि किन्तु शाब्दयामि' 'अनुमान नहीं किन्तु शाब्दबोध कर रहा हूँ' इस अनुभव की अनुपपत्ति होगी ।

साथ ही यह भी विचारणीय है कि शब्द अर्थविशेष की विवक्षा का अनुमापक भी कैसे होगा, क्योंकि अन्य अर्थ की विवक्षा में भी अन्य शब्द का प्रयोग देखा जाता है। जैसे—कोई मनुष्य किसी अर्थ की विवक्षा करता है किन्तु उस अर्थ के बोधक शब्द की जानकारी न होने से भ्रमवश अन्य अर्थ के बोधक शब्द का प्रयोग कर देता है ।

यदि यह कहा जाय कि-"सुविवेचित कार्य कारण का व्यभिचारी नहीं होता, अर्थात् कार्याभास की जिस से व्यावृत्ति हो सके ऐसे सुविवेक से निश्चित हुआ कार्य कारण का व्यभिचारी नहीं होता । ऐसे सुविवेक से जो शब्दविशेष निश्चित होता है वह अर्थविवक्षा का व्यभिचारी नहीं होता। इसलिये शब्दविशेष विवक्षा का सूचक(अनुमापक) होने में कोई विरोध नहीं है।" तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि जिस व्याप्ति से शब्दविशेष विवक्षाविशेष का अनुमापक होगा उसी से उसको अर्थ विशेष का बोधक माना जा सकता है। यदि यह कहा जाय कि—'अर्थ की विवक्षा से शब्द उत्पन्न होता है अतः विवक्षा में शब्द की उत्पत्ति लक्षण व्याप्ति है। किन्तु अर्थ के साथ यह व्याप्ति असम्भव है । यतः शब्द की उत्पत्ति अर्थ से नहीं होती' तो यह ठीक नहीं है । क्योंकि शब्द में अर्थ प्रतिपादन रूप इष्ट की साधनता के ज्ञान के बिना विवक्षा नहीं होती । अतः शब्द में अर्थ प्रतिपादकता आवश्यक होने से विवक्षा के उपसर्जन रूप में शब्द से अर्थ की आनुमानिक प्रतिपत्ति मानना असङ्गत है और दूसरी बात यह है कि शब्द विवक्षा के उपसर्जन रूप में अर्थ का प्रतिपादक मानने में शुक आदि के शब्द में व्यभिचार है । क्योंकि शुक आदि को अर्थ की विवक्षा न होने पर भी उनके द्वारा उच्चरित शब्द से अर्थ की प्रतिपत्ति होती है । यह भी ज्ञातव्य है कि शब्द को यदि कल्पित अर्थ का बोधक माना जायगा तो शब्दों में सत्य—असत्य का विभाग न हो सकने से शब्दमूलक लोकप्रवृत्ति का उच्छेद हो जायगा । उक्त बातों को दृष्टि में रखते हुए यही उचित प्रतीत होता है कि शब्दजन्य अर्थ प्रतिबिम्ब (अर्थ बोध में) बाह्यार्थ विषयकत्व को कल्पित न मान कर उसे तात्त्विक ही माना जाय यह अच्छा है ॥ २८ ॥

२९ वीं कारिका में 'अवस्तु शब्दवाच्य है' इस बौद्ध मत में अन्य दोष का प्रदर्शन किया गया है । कारिका का अर्थ इस प्रकार है—

दोषान्तरमभिधातुमाह—

बुद्धावर्णेऽपि चाऽदोषः संस्तवेऽप्यगुणस्तथा । आह्वानाऽप्रतिपत्त्यादि शब्दार्थाऽयोगतो ध्रुवम् ॥२९॥

बुद्धावर्णेऽपि च=बुद्धाऽश्लाघायामपि च **अदोषः**=दोषाऽप्रसङ्गः प्राप्नोति परस्य, बुद्धावर्णस्य बुद्धविशेष्यकापकृष्टत्वप्रकारकज्ञानजनकत्वाभावात् । तथा, **संस्तवेऽपि**=बुद्धस्तुतिकरणेऽपि, **अगुणः**=गुणाभावप्रसङ्गः, बुद्धसंस्तववर्णस्य बुद्धविशेष्यकोत्कृष्टत्वप्रकारकज्ञानजनकत्वाभावात् । तथा **आह्वानाऽप्रतिपत्त्यादि**=आह्वाने कृतेऽप्यप्रतिपत्त्यप्रवृत्त्यादि, **शब्दार्थाऽयोगतः**=शब्दार्थसंबन्धाभाव इष्यमाणे, **ध्रुवम्**=आवश्यकम् । 'बुद्ध्याकारे बहिरर्थाऽध्यासात् सर्वमिदं नोपपन्नम्' इति त्वीदृशविशेषदर्शिनः परस्य कथं समाधानं शोभते ? । **अथानुमानिकश्वैत्यज्ञाने** सत्यपि पित्तदोषेण शङ्खे पीतिमाध्यासवद् विशेषदर्शिनोऽप्यबाह्यो लोकवासनादोषाद् न प्रकृताध्यासानुपपत्तिरिति **चेत् ? न,** अधिष्ठान–तज्ज्ञानाऽभावेऽध्यासानुपपत्तेः । असाक्षात्कारिभ्रमस्य विशेषदर्शनमात्रनिवर्त्यत्वनियमाच्च; अन्यथा

[बुद्धनिंदा में दोषाभाव की आपत्ति]

अवस्तु को शब्दवाच्य मानने पर बुद्ध की निन्दा करने पर भी कोई दोष न होगा । क्योंकि बुद्ध की निन्दा के लिये प्रयुक्त शब्द से बुद्ध में अपकृष्टत्व का ज्ञान नहीं होगा । यतः अवस्तु शब्दवाच्य होने से अपकर्ष बोधनार्थ प्रयुक्त शब्द से वास्तव अपकृष्टत्व का बोध दुर्घट है । इसी प्रकार बुद्ध की स्तुति करने पर भी कोई गुण—पुण्य नहीं होगा, क्योंकि अवस्तु की शब्दवाच्यता के पक्ष में बुद्ध के स्तुति वचनों से बुद्ध के उत्कृष्टत्व का ज्ञान नहीं होगा । उक्त दोष के साथ ही यह भी एक दोष है कि एक मनुष्य द्वारा दूसरे मनुष्य की आह्वान किए जाने पर आहूत व्यक्ति का आह्वान कर्त्ता की ओर आभिमुख्य या उसकी ओर चलने में प्रवृत्ति नहीं होगी, क्योंकि अवस्तु की शब्दवाच्यता के पक्ष में शब्द और अर्थ के बीच कोई सम्बन्ध ही नहीं है । बौद्ध की ओर से यदि यह समाधान किया जाय कि 'बुद्धिआकार में बाह्य अर्थ का अध्यास होने से उक्त दूषण सम्भव नहीं हो सकता' तो उसका यह समाधान कैसे समीचीन हो सकता है; क्योंकि वस्तुमात्र को बुद्धि आकार रूप समझते हुए बाह्यार्थ का अध्यास सम्भव नहीं है ।

यदि यह कहा जाय कि 'जैसे शङ्ख में श्वैत्य का आनुमानिक ज्ञान रहने पर भी नेत्र के पित्त दोष से ग्रस्त होने पर शङ्ख में श्वैत्य का प्रत्यक्ष भ्रम होता है उसीप्रकार बुद्ध्याकार का बोध होने पर भी लोकवासनारूप दोष से बाह्यअर्थ का अध्यास हो सकता है'-तो यह ठीक नहीं है । क्योंकि अधिष्ठान और अधिष्ठानज्ञान के बिना अध्यास का उदय नहीं होता । अतः अवस्तु की शब्दवाच्यता के पक्ष में शब्द से अवस्तु का ही ज्ञान होने से अधिष्ठान का अस्तित्व न होने के कारण शब्द हेतुक अध्यास नहीं हो सकता ।

दूसरी बात यह है कि साक्षात्कार से भिन्न सभी भ्रम, विशेषदर्शनमात्र से प्रतिबध्य होते हैं । अत: बुद्ध्याकार के दर्शन से शब्दाधीन बाह्यार्थ भ्रम बाधित होने से बाह्यार्थ का शब्दमूलक अध्यास सम्भव नहीं है । यदि साक्षात्कार से भिन्न भ्रम को विशेषदर्शनमात्र से निवर्त्य न माना जायगा तो क्षणिकत्वानुमान से बौद्ध के अक्षणिकत्वारोप की निवृत्ति नहीं होगी ।

क्षणिकत्वानुमानात् परस्याऽक्षणिकत्वसमारोपस्याऽप्यनिवृत्त्यापत्तेः। **यदि च** बहिरर्थाध्यवसायिशाब्दविकल्प-प्रतिबन्धकविशेषदर्शने लोकवासनाया उत्तेजकत्वं स्वीक्रियते, अत एव लोकवासनाविरहिणां विशेष-दर्शिनां योगिनां न पूर्वक्षणबलायातोऽपीदृशविकल्प इतीष्यते, तदा लाघवादस्य बहिर्विषयेऽभ्रान्तत्वमेव कल्प्यताम्, किं तत्र भ्रान्तत्वस्य, वासनाविशेषे तत्प्रतिबन्धकोत्तेजकत्वादेश्च कल्पनया ? इत्यादि सूक्ष्मधिया विभावनीयम् ॥ २९ ॥

तदेवं सिद्धः शब्दाऽर्थयोः संबन्धः, तत्सिद्धौ च निराबाधा सर्वज्ञेनाभिव्यक्तादागमाद् धर्माऽ-धर्मव्यवस्था, ततश्च 'ज्ञान–क्रियाभ्यां मुक्तिः' इत्यत्र नयमतभेदजनितं वार्तान्तरमुत्थापयति–

ज्ञानादेव नियोगेन सिद्धिमिच्छन्ति केचन। अन्ये क्रियात एवेति द्वाभ्यामन्ये विचक्षणाः ॥३०॥

ज्ञानादेव केवलात् **नियोगेन**=अवश्यंभावेन, **सिद्धिम्**=मुक्तिम् इच्छन्ति **केचन**=ज्ञानवादिनः। अन्ये क्रियावादिनः, 'क्रियात एव केवलाया मुक्तिः' इतीच्छन्ति। **अन्ये**–ज्ञान–क्रियावादिनः, **विचक्षणाः**=उभयसमर्थनाद् यथावस्थितबुद्धयः **द्वाभ्यां**=समुदिताभ्यां ज्ञान–क्रियाभ्याम् सिद्धि-मिच्छन्ति ॥ ३० ॥

यदि यह कहा जाय कि–'बाह्यअर्थ को विषय करनेवाले शब्दजन्य विकल्प में विशेष-दर्शन के प्रतिबन्धक होने पर भी लोकवासना उत्तेजक है। अर्थात् लोकवासनाविरह विशिष्ट बुद्धयाकार का दर्शन शब्दाधीन बाह्यार्थ के विकल्पबोध में प्रतिबन्धक है। यही कारण है कि जिस से योगियों में लोकवासना न होने के कारण उन्हें बुद्धयाकार में बाह्यार्थ का अध्यास नहीं होता'–तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि शब्दजन्य विकल्प को बाह्यार्थविषय में अभ्रान्त मान लेने में लाघव है। उस के बदले उसे भ्रान्त मानने में तथा उसकी उत्पत्ति को सम्भव बनाने के लिए उसके प्रतिबन्धक में लोकवासना को उत्तेजक मानने में गौरव है। यह सब सूक्ष्मता के साथ विचारणीय है ॥ २९ ॥ (शब्दार्थ सम्बन्ध चर्चा समाप्त)

उक्त विचार के फल स्वरूप यह सिद्ध होता है कि शब्द और अर्थ में सम्बन्ध है। इस-लिए सर्वज्ञद्वारा उपदिष्ट आगम से धर्म-अधर्म की व्यवस्था में कोई बाधा नहीं है। एवं तदुपदिष्ट ज्ञान और क्रिया से मुक्ति होती है। इस विषय में नय सम्बन्धी मतभेद से जो तथ्य निर्गत होता है प्रस्तुत ३० वीं कारिका में उसे प्रदर्शित किया गया है। कारिका का अर्थ इस प्रकार है–

कुछ ज्ञानवादि लोगों का यह अभिप्राय है कि केवल ज्ञानमात्र से मुक्ति निश्चित ही होती है। और अन्य क्रियावादी लोगों का अभिप्राय है कि केवल क्रिया से ही मुक्ति होती है। तथा ज्ञान-क्रिया उभयवादियों का अभिप्राय है कि ज्ञान और क्रिया दोनों के अवलम्बन करने से मुक्ति होती है। यह (तीसरा) अभिप्राय रखने वाले विद्वान विशिष्ट कोटि के हैं, यथार्थबुद्धि वाले हैं, क्योंकि ज्ञान-क्रिया दोनों को मुक्ति का साधक बताकर ये वास्तविक पक्ष को प्रस्तुत करते हैं ॥ ३० ॥

[ज्ञान से ही मोक्ष–ज्ञानवादिपक्ष]

३१ वीं कारिका में ज्ञानवादी का मत प्रदर्शित किया गया है। कारिका का अर्थ इस प्रकार है–ज्ञान ही इष्ट फल की प्राप्ति का साधन है। क्योंकि फलोपाय के यथार्थज्ञान से फलप्राप्ति

तत्र प्रथमं ज्ञानवादिमतमुपन्यस्यति—

ज्ञानं हि फलदं पुंसां न क्रियाफलदा मता। मिथ्याज्ञानात् प्रवृत्तस्य फलप्राप्तेरसंभवात् ॥ ३१ ॥

ज्ञानं हि=ज्ञानमेव, **फलदम्**=ईहितफलहेतुः, **पुंसाम्**=फलार्थिनां फलोपायं प्रमाय प्रवर्तमानानाम्, फलाऽव्यभिचारदर्शनात्। न क्रिया फलदा मता; कुतः ? इत्याह—**मिथ्याज्ञानात्**=उपायभ्रमात् प्रवृत्तस्य पुरुषस्य **फलप्राप्तेरसंभवात्**। न हि मृगतृष्णिकाजलज्ञानप्रवृत्तस्यापि तदवाप्तिरिति भावः। आगमेऽप्युक्तम्—" पढमं नाणं तओ दया " इत्यादि। इत्यतोऽप्ययमर्थः सिध्यतीति द्रष्टव्यम् ॥ ३१ ॥

'ज्ञानोत्कर्षाऽपकर्षाभ्यां फलोत्कर्षाऽपकर्षयोरपि ज्ञानस्यैव फलहेतुत्वम्, क्रियोत्कर्षाऽपकर्षयोस्तत्राऽतन्त्रत्वात्' इत्यभिप्रायवानाह—

ज्ञानहीनाश्च यल्लोके दृश्यन्ते हि महाक्रियाः। ताम्यन्तोऽतिचिरं कालं क्लेशायासपरायणाः ॥३२॥

ज्ञानहीनाश्च=सम्यगुपायपरिज्ञानविकलाश्च, **यत्**=यस्मात्, **लोके**=जगति, **महाक्रियाः**= अपेक्ष्यमाणत्वाद् महाक्रिया अपि पुरुषाः काष्ठवाहकादयः=**क्लेशायासपरायणाः**=शारीर–मानस-दुःखपराः, अतिचिरं कालं **ताम्यन्तः**=क्लिश्यन्तः दृश्यन्ते, **हि**=निश्चितम्, न तु क्रियोत्कर्षेऽप्युत्कृष्टं फलं लभन्ते ॥ ३२ ॥ तथा,

ज्ञानवन्तश्च तद्वीर्यात्तत्र तत्र स्वकर्मणि। विशिष्टफलयोगेन सुखिनोऽल्पक्रिया अपि ॥ ३३ ॥

ज्ञानवन्तश्च=सम्यगुपायपरिज्ञानोपेताश्च **तद्वीर्यात्**=ज्ञानोत्कर्षात् **तत्र तत्र**=अधिकृते स्वकर्मणि

के लिए प्रवृत्त होने वाले पुरुषों को फल की प्राप्ति देखी जाती है। क्रिया फल प्राप्ति का साधन नहीं है क्योंकि फलोपाय के मिथ्याज्ञान से फल प्राप्ति के लिए क्रियाशील होने पर भी फल की प्राप्ति नहीं होती। आगम में भी यह कहकर कि "पहले ज्ञान प्राप्ति और तब दया होती है" उक्त अर्थ की पुष्टि की गयी है ॥ ३१ ॥

३२ वीं कारिका में ज्ञानवादी का यह अभिप्राय वर्णित है कि ज्ञान के उत्कर्ष-अपकर्ष से फल में उत्कर्षाऽपकर्ष होता है। इस से भी ज्ञान की ही फलहेतुता सिद्ध होती है। क्रिया के उत्कर्ष और अपकर्ष से फल का उत्कर्ष अपकर्ष नहीं होता। कारिका का अर्थ इस प्रकार है–

संसार में यह देखा जाता है कि जिन्हें फलोपाय का यथार्थ बोध नहीं होता वे अत्यन्त क्रियाशील होने पर भी फलप्राप्ति से वञ्चित रहते हैं। लकड़ी आदि बोज ढोने का कार्य करने वाले मनुष्य शारीरिक क्लेश और मानसिक पीडा उठाते हुए चिरकाल तक अपनी क्रिया में लगे रहते हैं। किन्तु अपनी क्रिया के उत्कर्ष के अनुसार उत्कृष्ट फल की प्राप्ति नहीं कर पाते ॥ ३२ ॥

उक्त सन्दर्भ में ही ३३ वीं कारिका अवतरित है। कारिका का अर्थ इस प्रकार है–

फलोपाय के सम्यक् ज्ञान से सम्पन्न मनुष्य अपने ज्ञानोत्कर्ष के कारण रत्न व्यापार आदि अपने कर्म में अल्प क्रियाशील होने पर भी प्रचुर धनरूप फल की प्राप्ति कर के सुखी होते हैं। क्रिया की अल्पता के कारण उनके लाभ में अल्पता नहीं होती। धर्म क्रिया के सम्बन्ध में आगम में भी कहा गया है कि अज्ञानी जिस कर्म को कोटि वर्षों में निवृत्त करता है, ज्ञानी मन-वचन-काया से गुप्त हो कर उच्छ्वासमात्र में ही उसे निवृत्त करता है ॥ ३३ ॥

रत्नवाणिज्यादौ, अल्पक्रिया अपि=अल्पव्यापारा अपि, विशिष्टफलयोगेन=उत्कृष्टधनप्राप्त्या, सुखिनः 'दृश्यन्ते' इति योगः, न तु क्रियाप्रकर्षादपकृष्टफलभाजो भवन्ति । धर्मक्रियामाश्रित्यागमेऽप्युक्तम्–[ ]

"जं अन्नाणी कम्मं खवेइ बहुआहिं वासकोडीहिं । तं नाणी तिहिं गुत्तो खवेइ ऊसासमित्तेणं ॥१॥" ॥३३॥

प्रधानमपि पुरुषार्थमङ्गीकृत्य ज्ञानमेव साक्षादुपयोगीत्याह—

केवलज्ञानभावे च मुक्तिरप्यन्यथा न यत् । क्रियावतोऽपि यत्नेन तस्माज्ज्ञानादसौ मता ॥ ३४॥

केवलज्ञानभावे च=केवलज्ञानोत्पादे च, मुक्तिरपि भवति । अन्यथा केवलज्ञानानुत्पादे, क्रियावतोऽपि **यत्नेन**=प्रयासेन **यत्**=यस्मात्–न भवति; तस्मात् कारणात्, **असौ**=मुक्तिः ज्ञानाद् मता, न तु क्रियात इति ॥ ३४ ॥

क्रियावादिमतमुपन्यस्यन्नाह—

क्रियैव फलदा पुंसां न ज्ञानं फलदं मतम् । यतः स्त्रीभक्ष्यभोगज्ञो न ज्ञानात् सुखितो भवेत् ॥ ३५ ॥

क्रियैव=प्रवृत्तिलक्षणा **फलदा पुंसां**=फलार्थिनाम् न **ज्ञानं फलदं मतम्**; **यतः**=यस्मात्, **स्त्रीभक्ष्यभोगज्ञो न ज्ञानात्**=स्त्रीभक्ष्यभोगज्ञानमात्रात्, सुखितो भवेत्, किन्तु स्त्रीभक्ष्यभोगेनैवेति ॥३५॥

क्रियाऽभावे ज्ञानोत्कर्षस्याप्यप्रयोजकत्वमाह—

क्रियाहीनाश्च यल्लोके दृश्यन्ते ज्ञानिनोऽपि हि । कृपायतनमन्येषां सुखसंपद्विवर्जिताः ॥३६॥

क्रियाहीनाश्च=व्यापारविरहिताश्च **यत्**=यस्मात् **लोके**=जगति ज्ञानिनोऽप्यालस्योपहताः, **हि**=निश्चितम् **सुखेन**=अन्तरानन्देन, संपदा च लक्ष्म्या विवर्जिताः; अत **एवान्येषां**=पश्यतां प्राणिनाम्, **कृपायतनं**=करुणाभाजनम्, दृश्यन्ते ॥ ३६ ॥

---

३४ वीं कारिका में यह बताया गया है कि पुरुषार्थ के प्रधान होने पर भी मुक्ति में ज्ञान ही साक्षात् उपयोगी है। कारिका का अर्थ इस प्रकार है—

केवलज्ञान की उत्पत्ति के अनन्तर ही मुक्ति होती है। केवलज्ञान की उत्पत्ति के पूर्व मुक्ति कदापि नहीं होती। यत्नपूर्वक पर्याप्त क्रियाशील होने पर भी केवलज्ञान के अभाव में मुक्ति का लाभ नहीं होता। अतः क्रिया से नहीं किन्तु ज्ञान से ही मुक्ति होने का पक्ष मानना चाहिए ॥ ३४ ॥ (ज्ञानवादी पक्ष समाप्त)

[क्रिया से ही मोक्ष–क्रियावादी पक्ष]

३५ वीं कारिका में क्रियावाद को उपन्यस्त किया गया है। कारिका का अर्थ इस प्रकार है–

प्रवृत्तिरूप क्रिया ही से फल की प्राप्ति होती है, ज्ञान से नहीं। क्योंकि स्पष्ट देखा जाता है कि स्त्री और भोज्यपदार्थ के भोगज्ञान मात्र से मनुष्य सुखी नहीं होता, सुख का अनुभव नहीं कर पाता, अपितु, उनकी भोगक्रिया से ही सुखी होता है ॥ ३५ ॥

३६ वीं कारिका में यह बताया गया है कि क्रिया के अभाव में उत्कृष्ट ज्ञान भी फलप्राप्ति का प्रयोजक नहीं होता। कारिका का अर्थ इस प्रकार है—

संसार में यह देखा जाता है कि जिन्हें फलसाधनों का परम उत्कृष्ट ज्ञान होता है किन्तु वे यदि क्रियाहीन और आलसी हैं तो वे आन्तरिक आनन्द एवं लक्ष्मी से हीन हो कर दूसरों–क्रियाशील धनवानों की करुणा के सहारे ही जीते हैं ॥ ३६ ॥

उपचयमाह—

क्रियोपेताश्च तद्योगादुदग्रफलभावतः। मूर्खा अपि हि भूयांसो विपश्चित्स्वामिनोऽनघाः ॥३६॥

क्रियोपेताश्च=व्यापारप्रवणाश्च, **तद्योगात्**=क्रियासामर्थ्याद्, **उदग्रफलभावतः**=विशिष्टफलसिद्धेः, **मूर्खा** अपि हि सन्तो भूयांस ईश्वराः, विपश्चित्स्वामिनः=पण्डिताधिपतयः **अनघाः**=अपापाः दृश्यन्ते । ततः फलसिद्धावतन्त्रं ज्ञानम् । आगमेऽपि क्रियाया एव प्राधान्यमुक्तम्; तथाहि—

"सुबहुं पि सुअमहीअं किं काही चरणविप्पहीणस्स ।
अंधस्स जह पलित्ता दीवसयसहस्सकोडी वि? ॥ १ ॥" तथा—

"नाणं सविसयणिअयं न नाणमित्तेण कज्जनिप्फत्ती । मग्गण्णू दिट्ठंतो होइ सचेट्ठो अचेट्ठो य ॥१॥
आउज्जनट्टकुसला वि नट्टिआ तं जणं ण तोसेइ । जोगं अजुंजमाणा णिंदं खेयं च सा लहइ ॥२॥
इय नाणलिंगसहिओ काइअजोगं ण जुंजइ जो उ । न लहइ स मुक्खसुक्खं लहइ अ णिंदं सपक्खाओ ॥३॥
जाणंतो वि य तरिउं काइअजोगं ण जुंजई जो उ । सो बुड्डइ सोएणं एवं नाणी चरणहीणो ॥४॥"

इत्यादि ॥ ३७ ॥

यदप्युक्तम्—'ज्ञानोत्कर्षादेव मुक्तिः, न क्रियोत्कर्षात्' इति; तत् प्रतिविधित्सुराह—

क्रियातिशययोगे च मुक्तिः केवलिनोऽपि हि । नान्यदा केवलित्वेऽपि तदसौ तन्निबन्धना ॥ ३८ ॥

---

३७ वीं कारिका में क्रियापक्ष की ही पुष्टि की गयी है। अर्थ इस प्रकार है—

जो मनुष्य क्रियाशील हो कर व्यापार में लगे रहते हैं, वे मूर्ख होते हुए भी अपनी क्रिया के प्रभाव से प्रचुर सम्पत्ति का लाभ कर विद्वानों के भी स्वामी होते हैं। उन की आर्थिक सहायता से ही विद्वानों का जीवन-यापन होता है। और वे अपनी क्रियाशीलता से अर्जित धन से विद्वानों के निष्पाप सहायक होते हैं। इसलिए निश्चित है, कि ज्ञान फलप्राप्ति का अप्रयोजक है। शास्त्र में भी क्रिया प्राधान्य दिखाया है, जैसे शास्त्रों के अत्यधिक अध्ययन से क्रियाहीन को क्या लाभ होगा? दीप की प्रज्वलित सैकड़ों शिखायें भी अन्धे के लिए बेकार होती हैं। ज्ञान अपने विषय में ही नियत रहता है, ज्ञानमात्र से फल की सिद्धि नहीं होती। गतिशील और गतिहीन मार्गज्ञ इस में दृष्टान्त हैं। गतिशील मार्गज्ञ गन्तव्यस्थान पर पहुंचता है किन्तु गतिहीन मार्गज्ञ जहाँ का तहाँ ही बैठा रह जाता है।

वाद्य और नृत्य में कुशल भी नर्तकी कायिक व्यापार का प्रयोग न करने पर लोगों को सन्तुष्ट नहीं कर पाती, निन्दा और खेद मात्र ही उस के हाथ लगता है। इसलिए ज्ञानलक्षण से सम्पन्न होने पर भी जो मनुष्य शारीरिक क्रिया नहीं करता वह मोक्ष का सुख नहीं प्राप्त कर-पाता, अपितु अपने ही पक्ष के लोगों से निन्दा ही प्राप्त करता है। जैसे तैरना जानते हुए भी मनुष्य यदि पानी में हाथ-पैर नहीं चलाता तो वह प्रवाह में डूब जाता है, उसी प्रकार क्रियाहीन ज्ञानीपुरुष संसार में डूब जाता है॥ ३८ ॥

३८ वीं कारिका में इस कथन का खण्डन किया गया है कि 'क्रिया के उत्कर्ष से मुक्ति नहीं होती किन्तु ज्ञान के उत्कर्ष से ही होती है'। कारिका का अर्थ इस प्रकार है—

केवलज्ञान का लाभ हो जाने पर भी सर्वज्ञ को मुक्ति की प्राप्ति शैलेशी-करण की क्रिया के

केवलिनोऽपि=सर्वज्ञस्यापि **क्रियातिशययोगे च**=शैलेशीकरणाख्यव्यापारोत्कर्षे च मुक्तिः, **नान्यदा**=शैलेश्या अर्वाक् केवलित्वेऽपि सति, **तत्**=तस्मात् **असौ**=मुक्तिः, **तन्निबन्धना**=क्रियानिमित्तिकैवेत्यर्थः ॥ ३८ ॥

उभयवादिमतमुपन्यस्यन्नाह—

फलं ज्ञान–क्रियायोगे सर्वमेवोपपद्यते । तयोरपि च तद्भावः परमार्थेन नान्यथा ॥ ३९ ॥

सर्वमेव **फलं**=पुरुषार्थत्वेन व्यवह्रियमाणम् **ज्ञानक्रियायोगे**=उभयसमुदाय एव उपपद्यते, विशिष्टफलमधिकृत्य प्रत्येकं देशोपकारितायाः समुदाये संपूर्णतोपपत्तेः; उक्तं च **भाष्यकृता** [ ]

"वीसुं ण सव्वह च्चिय सिकतातेल्लं व साहणाभावो । देसोवगारिया जा सा समवायम्मि संपुण्णा ॥ १ ॥"

अथ संपूर्णता फलोपहितहेतुत्वं, देशोपकारिता च हेतुत्वमात्रम्, तच्च न पृथग्-ज्ञान–क्रिययोः, परस्परमुक्तदोषात्, तथा च कथं समवाये पूर्णता ? इति **चेत् ? न**, प्रत्येकमपि ज्ञान–क्रिययोर्द्वयोरन्वय–व्यतिरेकानुविधानाऽविशेषेण हेतुत्वात्, असम्यग्ज्ञाने फलव्यभिचारस्य चाऽसम्यक्

बाद ही होती है उससे पूर्व नहीं होती । अतः क्रिया ही मुक्ति का साक्षात् कारण है । न कि ज्ञान मात्र ॥ ३८ ॥ (क्रियावादी पक्ष समाप्त)

[ज्ञान–क्रिया समुच्चय मुक्तिहेतु–उभयवादीमत]

३९ वीं कारिका में ज्ञान-क्रिया उभयवादी का मत उपन्यस्त किया गया है । कारिका का अर्थ इस प्रकार है—

पुरुषार्थ शब्द से व्यवहृत होने वाला सम्पूर्ण फल ज्ञान और क्रिया दोनों के योग से प्राप्त होता है, क्यों कि विशिष्ट फल की सिद्धि में ज्ञान और क्रिया प्रत्येक में आंशिक उपकारकता है। और दोनों के समुदाय में सम्पूर्ण उपकारकता है । भाष्यकार ने भी कहा है कि जिस प्रकार सिकता-बालू में तैल का सर्वथा अभाव होता है उस प्रकार ज्ञानक्रिया प्रत्येक में मुक्ति-साधनता का सर्वथा अभाव नहीं है । किन्तु प्रत्येक में मुक्ति की आंशिक साधनता है जो ज्ञान–क्रिया दोनों के समुदाय में सम्पूर्ण होती है ।

यदि यह शङ्का की जाय कि-' सम्पूर्णता का अर्थ है फलोपधायकता रूप हेतुता और देशोपकारिता यानी आंशिक उपकारिता का अर्थ है केवल हेतुता, और वह अलग-अलग ज्ञान और क्रिया में नहीं है । क्योंकि ज्ञान–क्रिया दोनों को स्वतन्त्ररूप से कारण मानने में दोष बताया जा चुका है, तो फिर जब पृथक् प्रत्येक में हेतुता नहीं है तो दोनों के समवाय में उसकी पूर्णता कैसे हो सकती है ?' तो यह ठीक नहीं है, क्यों कि प्रत्येक ज्ञान-क्रिया दोनों में फल के अन्वय-व्यतिरेक के अनुविधान में साम्य होने से दोनों में से प्रत्येक में हेतुता सिद्ध है । यदि यह कहा जाय कि-' असम्यक् ज्ञान में फल का व्यभिचार होने से ज्ञान को हेतु मानना सम्भव नहीं है '-तो यह बात असम्यक् क्रिया में भी समान है। और यदि यह कहा जाय कि ' फल को उत्पन्न न करने वाला ज्ञान वास्तविक ज्ञान ही नहीं है ' तो यह भी कहा जा सकता है कि ' फल को न उत्पन्न करने वाली क्रिया भी वास्तव अर्थ में क्रिया ही नहीं है ।' यह अभिप्राय कारिका के उत्तरार्ध में प्रकट किया गया है ।

क्रियायामपि तुल्यत्वादिति भावः । यदि च फलमनुपदधानं ज्ञानं ज्ञानमेव तत्त्वतो नेष्यते, तदा फलमनुपदधती क्रियापि क्रियेति नोच्यत एवेत्यभिप्रायवानाह--तयोरपि=ज्ञान-क्रिययोः, तद्-भावः=ज्ञानक्रियाव्यपदेशः, परमार्थेन=निश्चयेन नान्यथा=न तद्योगमन्तरेण, फलानुपहितस्य सतोऽकारणत्वात्, कुशूलस्थबीजाऽबीजयोरविशेषात्, कारणस्य च सतः फलोपहितत्वात्, क्षेत्रस्थ-बीजवदितिभावः ॥ ३९ ॥

एतदेवाह—

साध्यमर्थं परिज्ञाय यदि सम्यक् प्रवर्तते । ततस्तत्साधयत्येव तथा चाह बृहस्पतिः ॥ ४० ॥

साध्यमर्थं **परिज्ञाय**=इष्टत्वसाध्यत्वादिना प्रमाय यदि **सम्यक्**=परिज्ञानानुसारेण, **प्रवर्तते** साध्योपाये, ततः तत्=अधिकृतं साध्यम्, साधयत्येव तथा चाह बृहस्पतिरेतत्संवादि ॥ ४० ॥

'सम्यक्प्रवृत्तिःसाध्यस्य प्राप्त्युपायोऽभिधीयते । तदप्राप्तावुपायत्वं न तस्या उपपद्यते ॥४१॥'

सम्यक् प्रवृत्तिः=सम्यग्ज्ञानपूर्विका क्रिया **साध्यस्य**=इष्टार्थस्य, प्राप्त्युपायोऽभिधीयते । **तदप्राप्तौ**=साध्याऽप्राप्तौ सत्याम् **उपायत्वम्**=अधिकृतसाध्यहेतुत्वम् न **तस्याः**=सम्यक्प्रवृत्तित्वाभिमतायाः, उपपद्यते; अतो नासौ सम्यक् प्रवृत्तिरेवेति भावः ॥ ४१ ॥

फलितार्थमाह---

असाध्यारम्भिणस्तेन सम्यग्ज्ञानं न जातुचित् । साध्यानारम्भिणश्चेति द्वयमन्योन्यसंगतम् ॥४२॥

असाध्यारम्भिणस्तेन कारणेन **सम्यग्ज्ञानं** तत्त्वनीत्या **न जातुचित्** , फलावच्छिन्नप्रवृत्त्यनङ्ग-

---

उत्तरार्ध की व्याख्या इस प्रकार है ।—ज्ञान और क्रिया में ज्ञान और क्रिया शब्द का व्यवहार भी परमार्थतः यानी निश्चय से फलाधान के अभाव में नहीं होता, क्योंकि जो फल से युक्त नहीं होता वह कारण नहीं होता । यह भी इसलिये कि कुशूलस्थ बीज और अबीज यह दोनों अङ्कुरानुत्पादक के रूप में समान ही हैं । जो कारण होता है वह निश्चित रूप से क्षेत्रस्थ बीज के समान फलयुक्त ही होता है ॥ ३९ ॥

३९वीं कारिका में उक्त अर्थ को ही ४०वीं कारिका में प्रकारान्तर से कहा गया है । कारिका का अर्थ इस प्रकार है—

इष्टत्व, साध्यत्व आदि रूप से फल का सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर मनुष्य यदि साध्य के उपाय में ज्ञानानुसार प्रवृत्त होता है तो प्रवृत्ति का विषयभूत साधन निश्चितरूप से साध्य की सिद्धि सम्पन्न करता ही है । यह बात बृहस्पति ने भी कही है-॥ ४० ॥

सम्यक्ज्ञान के अनुसार की गयी क्रिया को इष्टप्राप्ति का उपाय कहा जाता है । साध्य की प्राप्ति न होने पर सम्यक् क्रिया के अभिमान से अनुष्ठित क्रिया में साध्य की हेतुता नहीं उपपन्न होती । इसलिए ऐसी क्रिया सम्यक् क्रिया नहीं है ॥ ४१ ॥

४२वीं कारिका में पूर्वोक्त कारिका के कथनों का फलित अर्थ बताया गया है । कारिका का अर्थ इस प्रकार है—

त्वात्; साध्यानारम्भिणश्च—व्यर्थकालक्षपणकृतः ततएव; इति हेतोः द्वयम्=ज्ञानक्रियोभयम् अन्योन्यसंगतम्=इतरेतरनान्तरीयकं निश्चयतः ॥ ४२ ॥

अन्योन्यसंगतिसमर्थकमेव वृद्धव्यपदेशमाह—

अत एवागमज्ञस्य या क्रिया सा क्रियोच्यते। आगमज्ञोऽपि यस्तस्यां यथाशक्ति प्रवर्तते ॥४३॥

अत एव=ज्ञानक्रिययोर्मिथोऽनुविद्धत्वादेव—आगमज्ञस्य पुंसः या क्रिया सा परमार्थेन क्रियोच्यते, आगमज्ञोऽपि स उच्यते यस्तस्यां क्रियायाम् यथाशक्ति=स्वसामर्थ्यानुरूपं प्रवर्तते। अत एवाऽगीतार्थानां स्वच्छन्दविहारिणां मासक्षपणादिकामपि न क्रियामामनन्ति श्रुतवृद्धाः, न वा भग्नचारित्राणां पूर्वपर्यन्तमपि ज्ञानमामनन्ति "णिच्छयणयस्स चरणस्सुवघाए नाण-दंसणवहोवि" [ ] इति वचनादिति द्रष्टव्यम् ॥ ४३ ॥

उक्तमेव दृष्टान्तेन भावयन्नाह—

चिन्तामणिस्वरूपज्ञो दौर्गत्योपहतो नहि। तत्प्राप्त्युपायवैचित्र्ये सुक्त्वान्यत्र प्रवर्तते ॥ ४४ ॥

चिन्तामणिर्दारिद्र्यनाशनो रत्नविशेषस्तत्स्वरूपज्ञः=परमार्थेन तत्स्वरूपज्ञाता दारिद्र्योपहतः सन् तत्प्राप्त्युपायवैचित्र्ये=तल्लाभोपायनानात्वे सति, स्वकृतिसाध्यतासूचनाय वैचित्र्योपादानम्; नहि

असाध्य—(यानी फल से अनुपहित)क्रिया का आरम्भ करने वाले मनुष्य का ज्ञान, उक्त कारण से फलानुपहित में हेतुत्व का अभाव होने से वास्तविक दृष्टि से कदापि सम्यक् ज्ञान नहीं होता। क्योंकि वह फलोपहित प्रवृत्ति का प्रयोजक नहीं है। और इसी प्रकार साध्य—(यानी फलोपहित)क्रिया का जो आरम्भ नहीं करता वह व्यर्थ ही कालयापन करता है, उसकी क्रिया भी फलोपधायक न होने से सम्यक् क्रिया नहीं होती। इसलिए ज्ञान और क्रिया दोनों की ही परस्परसङ्गति होती है। निश्चित है की वे एक दूसरे के बिना फलोपधायक नहीं होते ॥ ४२ ॥

४३वीं कारिका में ज्ञान-क्रिया की परस्पर संगति के समर्थन में वृद्ध वचन को उपन्यस्त किया गया है। कारिका का अर्थ इस प्रकार है—

[ज्ञानक्रिया की अन्योन्यसंगति फलसाधक]

ज्ञान और क्रिया के परस्परापेक्ष होने से ही आगमज्ञ पुरुष की क्रिया को वास्तविक अर्थ में क्रिया कही जाती है और आगमज्ञ भी उसे ही कही जाती है जो क्रिया में अपने सामर्थ्य के अनुसार प्रवृत्त होता है। इसीलिए जो साधु अगीतार्थ और स्वच्छन्द रूप से आचरण करने वाले होते हैं उनकी मास पर्यन्त होने वाली उपवास आदि तपश्चर्या को भी आगमज्ञ पुरुष क्रिया नहीं मानते। और-जिन साधुओं का चारित्र भग्न हो जाता है उनके नौ नौ पूर्व-तक के ज्ञान को भी ज्ञान नहीं मानते। क्योंकि आगमज्ञ पुरुषों का यह वचन है कि चारित्र का उपघात होने पर निश्चय नय के अनुसार-ज्ञान और दर्शन का भी उपघात हो जाता है ॥४३॥

'चिन्तामणि' दारिद्र्य को दूर करनेवाला एक विशेष रत्न है, उसके स्वरूप का यथार्थ-ज्ञान जिसे होता है वह दारिद्र्य से पीडित होने पर उसकी प्राप्ति के प्रयत्न साध्य अनेक उपायों में प्रवृत्त होता है। यह नहीं हो सकता कि उनके अनेक उपायों के मध्य में एक भी

बहूनामुपायानां मध्य एकोऽप्यनलसस्य कृतिसाध्यो न भवतीति नहि—नैव, मुक्त्वा तदुपायम् अन्यत्र—अन्योपाये प्रवर्तते ॥ ४४ ॥

न चासौ तत्स्वरूपज्ञो योऽन्यत्रापि प्रवर्तते । मालतीगंधगुणविद् दर्भे न रमते ह्यलिः ॥ ४५ ॥

यस्त्वन्यत्र प्रवर्तते नासौ तत्स्वरूपज्ञ एवेत्याह——

न चासौ **तत्स्वरूपज्ञः**=तत्त्वतश्चिन्तामणिरत्नस्वरूपज्ञः, **योऽन्यत्रापि**=चिन्तामणिव्यतिरिक्तोपायेऽपि, तदुपायं मुक्त्वा प्रवर्तते । प्रतिवस्तूपमया समर्थयति—**मालतीगन्धगुणवित्**=जातिकुसुमसौरभज्ञः **अलिः** भ्रमरस्तिर्यक्सत्त्वोऽपि **हि**=यतः **दर्भे**=तृणविशेषे न रमते; किमुतान्यः ? एवं न भवतीत्यभिप्रायः ॥ ४५ ॥

प्रधानपुरुषार्थमङ्गीकृत्योभयोपयोगमाह——

मुक्तिश्च केवलज्ञान–क्रियातिशयजैव हि । तद्भाव एव तद्भावात्तदभावेऽप्यभावतः ॥४६॥

मुक्तिश्च=प्रधानपुरुषार्थरूपा **केवलज्ञान–क्रियातिशयजैव हि**=उभयनिबन्धनैव, नानुभयनिबन्धनिकेत्यर्थः । कुतः ? इत्याह—**तद्भाव एव**=केवलज्ञान–शैलेशीक्रियाभाव एव **तद्भावात्**=मुक्त्युत्पादात् **तदभावेऽपि**=केवलज्ञान–शैलेश्यन्तराभावेऽपि **अभावात्**=मुक्त्यनुत्पादात्, उभयोर्निय-

---

उपाय आलस्यहीन मनुष्य की कृति से साध्य न हो । अतः वह चिन्तामणि के प्रापक उपाय को छोड़कर किसी अन्य उपाय में नहीं प्रवृत्त होता ॥ ४४ ॥

जो व्यक्ति अन्यत्र—यानी चिन्तामणि से भिन्न उपाय में प्रवृत्त होता है वह चिन्तामणि रत्न के स्वरूप को नहीं ही जानता है, यही बात ४५वीं कारिकामें कही गयी है । कारिका का अर्थ इस प्रकार है—

जो मनुष्य चिन्तामणि प्राप्ति के उपाय को छोड़कर अन्य उपाय में प्रवृत्त होता है वह वास्तव में चिन्तामणि रत्न के स्वरूप को नहीं जानता । यह बात कारिका के उत्तरार्ध में-प्रतिवस्तूपमालङ्कार से समर्थित की गयी है । जिसका आशय यह है कि मालती पुष्प की सुगन्ध को अनुभव करने वाला भ्रमर जैसा तिर्यच प्राणी भी उसे छोड़कर कुश जैसे निर्गन्ध तृणों में जब नहीं रमता तो फिर ज्ञानी मनुष्य श्रेष्ठतम उपाय को छोड़कर उपायान्तर में कैसे संलग्न हो सकता है । आशय यह है कि ऐसा नहीं होता ॥ ४५ ॥

४६वीं कारिका में प्रधान पुरुषार्थ के सम्बन्ध में ज्ञान क्रिया दोनों के उपयोग का वर्णन है । कारिका का अर्थ इस प्रकार है—

मुक्ति यह धर्म, अर्थ और काम इन तीनों पुरुषार्थों की अपेक्षा श्रेष्ठ होने से परम पुरुषार्थ है, और वह केवलज्ञान और सातिशयक्रिया इन दोनों से ही उपलब्ध होती है । दोनों में किसी एक का भी अभाव होने पर नहीं होती, क्यों कि केवलज्ञान और शैलेशीक्रिया दोनों के होने पर ही मुक्ति का लाभ होता है । केवलज्ञान और शैलेशीक्रिया में किसी एक का अभाव होने पर भी मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती । मुक्ति में दोनों का अन्वय-व्यतिरेक नियत अनुविधान

तान्वय-व्यतिरेकानुविधानेऽप्यन्यतरेणान्यतराऽसिद्धौ चाऽविनिगमादितिभावः ॥ ४६ ॥

तन्त्रान्तरीया अपि मध्यस्था इत्थमेवाऽऽस्थितवन्त इत्याह—

न विविक्तं द्वयं सम्यगेतदन्यैरपीष्यते । स्वकार्यसाधनाभावाद्यथाह व्यासमहर्षिः ॥ ४७ ॥

न विविक्तम्=अन्यतराऽसंयुक्तम् **एतद् द्वयम् अन्यैरपि**=तन्त्रान्तरीयैरपि **सम्यगिष्यते** । कुतः ? इत्याह—**स्वकार्यसाधनाभावात्**, कार्याऽसाधकस्य चाऽसम्यक्त्वात् । संवादमाह—**यथाह व्यासमहर्षिः**

'मठरश्च तपस्वी च शूरश्चाप्यकृतव्रणः । मद्यपा स्त्री सतीत्वं च राजन् ! न श्रद्धाम्यहम्' ॥४८॥

होने पर भी किसी एक को कारण मानकर—दूसरे को अन्यथासिद्ध नहीं माना जा सकता। क्यों कि इस में कोई विनिगमक नहीं है कि दोनों में कौन कारण हो और कौन अन्यथा सिद्ध हो ? ॥ ४६ ॥

४७वीं कारिका में यह बात कही गयी है कि अन्य शास्त्रों के अभिज्ञ मध्यस्थ पुरुषों की भी ऐसी ही आस्था है। कारिका का अर्थ इस प्रकार है—

अन्य शास्त्रवेत्ता भी ज्ञान और क्रिया दोनों को एक दूसरे से निरपेक्ष रहकर सम्यक्—फल का साधक नहीं मानते। क्यों कि जो अपने कार्य का साधक नहीं होता वह वास्तव में असम्यक्-अकारण होता है, महर्षिव्यास ने भी ऐसा ही कहा है ॥ ४८ ॥

राजा को सम्बोधित कर व्यासजी का कहना है कि मूर्ख के तपस्वी होने में, पहले आघात आदि से कलेव्यहीन वीर होने पर भी घाव रहित होने में, चित्तभ्रमकारी मद्य का पान करने वाली स्त्री के पतिव्रता होने में, उनका विश्वास नहीं है। क्यों कि मूर्खत्व और तपस्वित्व आदि में शीत उष्ण स्पर्श के समान परस्पर विरोध है।

[ज्ञान में अन्यथासिद्धि की शंका का निरसन]

शङ्का होती है "कि फलविशिष्ट में ही कारणता का व्यवहार होने पर भी फलोपहितत्व रूप से कारणता नहीं मानी जा सकती, क्योंकि फलोपहितत्व फल की उपधायकता—उत्पादकता रूप होने से कारणता रूप ही है अतः उसको कारणता का अवच्छेदक मानने में आत्माश्रय दोष है। कुर्वद्रूपत्व से एवं भेदविशेष से यानी अकारण व्यक्ति-भेद कूट रूप से भी कारणता नहीं मानी जा सकती। क्योंकि उस रूप से फल-कार्य में कारणत्वेन अभिमत वस्तु के अन्वय और व्यतिरेक के अनुविधान का ज्ञान नहीं होता। अतः सम्यक् प्रवृत्तित्व रूप से फलप्राप्ति की कारणता मानना उचित है। ज्ञान प्रवृत्ति का जनक होने से फलसिद्धि के प्रति अन्यथा सिद्ध है," —किन्तु यह शङ्का असङ्गत है। क्योंकि रत्न का वाणिज्य आदि कर्म ही विशिष्ट धन आदि फल की प्राप्ति का हेतु है। सम्यक्ज्ञान और प्रवृत्ति का धनप्रापक वाणिज्य आदि कर्म में समान व्यापार है। यही कारण है जिस से धन के व्यापारी शक्तिसम्पन्न पुरुषों में पाण्डित्य के प्रयोजक सम्यक्ज्ञान का अभाव होने पर भी रत्न वाणिज्य आदि कर्म के प्रयोजक सम्यक्ज्ञान होने से कर्म के प्रति सम्यक्ज्ञान और प्रवृत्ति को सव्यापार मानने में कोई क्षति नहीं होती। यदि यह बात न मानी जायगी तो ज्ञानवादी की ओर से यह कहा जा सकेगा कि प्रवृत्तिगत सम्यक्त्व फलावच्छिन्नस्वरूप होने से उसे हेतुता का अवच्छेदक नहीं माना जा सकता, और यदि सम्यक् ज्ञानपूर्वक प्रवृत्तित्व रूप से कारणता मानी जायगी तो

बठरश्च=मूर्खश्च तपस्वी च=उत्कृष्टतपःकारी च; शूरश्चापि=प्रथमप्रहारादिवलेनाहीनश्चापि अकृतव्रणः=अनिर्मितक्षतः; तथा, मद्यपा=चित्तभ्रमहेतुमद्यभोगवती स्त्री सतीत्वं च=पतिव्रतात्वं च; तत्र राजन् ! न श्रद्धाम्यहमेतत्, शीतोष्णस्पर्शादिवत् परस्परविरुद्धत्वाद् बठरत्वतपस्वित्वादीनामिति भावः ।

ननु फलोपहित एव तत्त्वतो हेतुत्वव्यवहारेऽपि फलोपहितत्वेन न हेतुता, आत्माश्रयात्; नापि कुर्वद्रूपत्वेन भेदविरोधेन वा, तेन रूपेणान्वय-व्यतिरेकाऽग्रहात्, किन्तु सम्यक्प्रवृत्तित्वेनैव फलप्राप्तिहेतुता, ज्ञाने तु प्रवृत्तिजनकतयाऽन्यथासिद्धमिति चेत् ? न, रत्नवाणिज्यादिकर्मण एव विशिष्ट घनादिफलप्राप्तिहेतुत्वात्, सम्यग्ज्ञानप्रवृत्त्योस्तु तत्र तत्र कर्मण्येव तुल्यवद्व्यापारात् । अत एव घनव्यापारवतामीश्वराणां पाण्डित्यप्रयोजकसम्यग्ज्ञानाभावेऽपि रत्नवाणिज्यादिप्रयोजकसम्यग्ज्ञानसत्त्वाद् न क्षतिः, अन्यथा फलावच्छिन्नत्वरूपप्रवृत्तिसम्यक्त्वस्य हेतुतावच्छेदकत्वायोगात्; सम्यग्ज्ञानपूर्वकप्रवृत्तित्वेन हेतुत्वेत्वावश्यकत्वाज्ज्ञानस्यैव हेतुत्वमिति ज्ञाननयेन वक्तुं शक्यत्वात्; चारित्रस्य तु प्रवृत्तिरूपस्यैवाभिमतफलहेतुकर्मत्वात् । तत्रज्ञान–क्रिययोर्द्वार–द्वारिभावेन फल–हेतुत्वं निराबाधम् । एतेन 'मन्त्राद्युपयोगादेव केवलाद् वनितादिफलप्राप्तेः क्रियाया अकिञ्चित्करत्वम्' इति ज्ञाननयोक्तो दोषो निरस्तः, तत्र वनिताद्यागमनस्यैव वनितादिप्राप्तिहेतुत्वात्, तत्र च मन्त्रोपयोगवत् परिजपनादिक्रियाया अपि हेतुत्वात् । तदाह भाष्यकारः— [वि. आ. भा. ११४०]

"परिजवणाई किरिया मंतेसु वि साहणं ण तम्मत्तं । तन्नाणओ अ न फलं तन्नाणं जोगमकिरियं ॥१॥"

अथ परिजपनमपि धारावाहिकं मन्त्रज्ञानमेव, न तु वाग्व्यापाररूपा क्रियाऽपि, तूष्णीं मन्त्रं जपतामपि फलसिद्धेः । न चाक्रियस्याकाशवत् कार्यजनकत्वमसंगतमिति वाच्यम्; क्रियायाः संयोग–

कारणतावच्छेदक के गर्भ में प्रविष्ट होने से आवश्यक होने के कारण ज्ञान को ही कारण मानना उचित है। चारित्र तो प्रवृत्तिरूप है, अतः वह अभीष्ट फल का हेतुभूत कर्म ही है। उसके प्रति ज्ञान और क्रिया में द्वार और द्वारीरूप से अर्थात् द्वार होने से क्रिया में और द्वारी होने से ज्ञान में फल की कारणता निर्बाध है।

[मन्त्रप्राप्य फल में भी उभयहेतुता निर्बाध]

इस संदर्भ में ज्ञानवादी द्वारा यह दोष दिया जाता है कि मन्त्र आदि के उपयोग मात्र से ही स्त्री आदि फल की प्राप्ति होती है अतःफलप्राप्ति में क्रिया अकिञ्चित्कर है, ।'-किन्तु यह दोष पूर्वोक्त विचार के आधार पर निरस्त हो जाता है। यतः स्त्री आदि का आगमन ही उस की प्राप्ति का हेतु है। आगमन में मन्त्रोपयोग के समान मन्त्रजप की क्रिया भी हेतु है। यह बात भाष्यकार ने भी कही है- जैसे "मन्त्र आदि से साध्यफलों में मन्त्रजप आदि क्रिया हेतु है। मन्त्र का ज्ञान मात्र मन्त्र फल का साधक नहीं है, मन्त्रज्ञान मात्र से मन्त्र का फल नहीं प्राप्त होता। यदि मन्त्रज्ञान मन्त्रजप की क्रिया से युक्त न हो।

शङ्का होती है कि 'मन्त्र का जप भी मन्त्र का धारावाहिक ज्ञान ही है। वह वाग्-व्यापार रूप क्रिया नहीं है। क्योंकि मौन होकर मन्त्र जपने वालों को भी फलप्राप्ति होती

विभागादावेव हेतुत्वेन तां विनाऽऽकाशादावपि कार्यान्तराभ्युपगमादिति चेत् ? न, पुरुषार्थे वनिताद्याकर्षणे परिजपनरूपमानसव्यापाराख्याया अप्यन्तःक्रियाया हेतुत्वात्, तत्तन्मन्त्रसंकेतोपनिबद्ध-देवताप्रेरणजन्यत्वाच्च तस्य तदाह— [वि. आ. भा. ११४१]

" तो तं कत्तो, भन्नइ तं समयणिबद्धदेवओवहियं। किरियाफलं चिय जओ न णाणमित्तोवओगस्स ॥१॥ "

स्यादेतत्=ज्ञानं परिच्छेद एवोपक्षीणं न मुक्तिप्राप्तावुपयुज्यत इति । मैवम्, ज्ञान–क्रिययोः शिबिकावाहकपुरुषवदेकस्वभावेनाऽसहकारित्वेऽपि नयन चरणयोरिव स्वभावभेदेन सहकारित्वाभिधानात्, तयोर्द्वारि–द्वारिभावेनैव हेतुत्वोपपत्तेः । 'तथा सति प्रवचनमातृज्ञानातिरिक्तश्रुतानुपयोगः स्यादिति चेत् ? न स्वातन्त्र्येण श्रुतस्यापि ध्यानादिमानसक्रियाद्वारकस्यैवोपयोगात्; अन्यथा द्रव्यश्रुतत्वापत्तेः। स्यादेतत्=ज्ञानस्य परम्परया हेतुत्वात्पाकादाविन्धनादेरिव गौणं हेतुत्वम्;

" पारंपरप्पसिद्धी दंसण–नाणेहिं होइ चरणस्स । पारंपरप्पसिद्धी जह होइ तहन्नपाणाणं ॥१॥ "

है। यदि यह कहा जाय कि–क्रियाहीन आकाश में आकाश के समान कार्यजनकता असङ्गत है –तो यह ठीक नहीं है। क्योंकि क्रिया संयोग-विभाग आदि कार्यों का ही हेतु है। अतएव क्रिया के न होने पर भी आकाश में शब्द आदि अन्य कार्यों की कारणता मानी जाती है।'– किन्तु उक्त शङ्का ठीक नहीं है। क्योंकि स्त्री आदि के आकर्षणरूप पुरुष के इष्ट फल में मानस व्यापारात्मक जपरूप आन्तरिक क्रिया हेतु है, साथ ही जप मन्त्र में सङ्केतित देवता को प्रेरणारूप क्रिया भी हेतु है। कहा भी गया है कि–[क्रिया के बिना भी मन्त्र से फल प्राप्त होता है] तो वह कैसे ? उत्तर–मन्त्र में सङ्केतित देवता द्वारा सम्पादित होने से क्रिया का ही फल है। ज्ञान मात्र के उपयोग का फल नहीं है।

[ज्ञान–क्रिया में अन्योन्य नेत्र–चरणवत् सहकारिता]

यदि यह कहा जाय कि–"ज्ञान मुक्ति-उपाय का निश्चय कर के ही उपक्षीण होता है। मुक्ति प्राप्ति में उसका उपयोग नहीं है" –तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि यह कहा गया है कि ज्ञान और क्रिया शिबिकावाही पुरुषों के समान, यद्यपि समान रूप से मुक्तिप्राप्ति में एक दूसरे के सहकारी नहीं है। फिर भी नेत्र और चरण के समान भिन्न स्वभाव से सहकारी है। अतः उन दोनों में द्वार-द्वारीभाव से ही मुक्तिहेतुता की उपपत्ति होती है। यदि यह कहा जाय कि–"ज्ञान और क्रिया को द्वार-द्वारी रूप में हेतुता मानने पर अष्ट प्रवचनमाता से अतिरिक्त श्रुत का उपयोग न हो सकेगा, क्योंकि फलसिद्धि के सम्पादन में उससे अधिक ज्ञान द्वारा नहीं हैं'–तो यह ठीक नहीं है। क्योंकि स्वतन्त्ररूप से श्रुतज्ञान भी ध्यान आदि मानस क्रिया के द्वारा ही फलसिद्धि में उपयोगी होता है। यदि ऐसा न माना जायगा तो उसे द्रव्यश्रुतरूपता की आपत्ति होगी।

शङ्का होती है कि–"ज्ञान को परम्परया हेतु मानने पर पाक-क्रिया में ईंधन आदि के समान वह गौण हेतु होगा। आगम में भी कहा गया है कि–'ज्ञान और दर्शन के क्रिया द्वारक होने से उनमें पारम्परिक कारणता की सिद्धि इसी प्रकार होती है जैसे अन्नपान की अन्य किसी फलसिद्धि के प्रति प्रारम्भिक कारणता सिद्धि होती है।' अभिप्राय यह हुआ कि जैसे अन्न और पान के बिना मनुष्य किसी काम को सम्पन्न नहीं कर सकता, अतएव

[आ. नि. ११६६] इत्यागमात्; क्रियायास्त्वनन्तरत्वाद् मुख्यं हेतुत्वमिति क्रियानयो विशिष्यते, ज्ञाननयस्तुहीयते तदिदमुक्तं भाष्यकृतापि="नाणं परंपरमणंतरा उ किरिया तयं पहाणयरं, जुत्तं कारणं" [११३७] इति कथमुभयनयानुग्राहकमुभयवादिमतमिति ? । मैवम्, प्रवृत्तिकाले तज्जनकज्ञानस्यापि सत्त्वेनानन्तरत्वाविरोधात् । न ह्युत्तरविशेषगुणेन पूर्वविशेषगुणनाश इत्यभ्युपगमो नः । न चैवं क्रियाया द्वारत्वविरोधः, द्वारिणोऽनाशेऽपि स्वफलयोर्नियतमध्यभावेन तदविरोधात्, द्वारत्वे द्वारिनाशविशिष्टत्वाऽप्रवेशात् तदिदमुक्तं भाष्यकृतैव "अहवा समयं तो दोन्नि जुत्ताई" । प्रथमपक्षाभिधानं तु ज्ञाननयाभिमतस्वविषयमुख्यत्वाभिनिवेशत्यागाय, ह्रस्वत्व-दीर्घत्वयोरिव गौणत्व-मुख्यत्वयोरापेक्षिकत्वात् । एतेन—

"जम्हा दंसण-नाणा संपुन्नफलं ण दिंति पत्तेयं । चारित्तजुआ दिंति हु विसिस्सए तेण चारित्तं ॥१॥"

इतीयमागमोक्तिर्व्याख्याता, आत्मगृहशुद्धये प्रदीपदीपन-संमार्जनीमार्जनवातायनजालक-

---

यह जिस प्रकार परम्परया हेतु होने से गौण होता है उसी प्रकार ज्ञान और दर्शन क्रिया द्वारा परम्परया कारण होने से गौणहेतु है । क्रिया फल का अव्यवहित कारण होती है, अतः वह मुख्य हेतु है । इसलिए स्पष्ट है कि क्रियावाद श्रेष्ठ है और ज्ञानवाद उसकी अपेक्षा हीन है । भाष्यकार ने भी यह बात कही है, जैसे—'ज्ञान पारम्परिक कारण है और क्रिया अव्यवहित कारण है अत एव उसी की मुख्यकारणता युक्तिसङ्गत है ।' इसलिए उभयवादी क्रिया और ज्ञान उभयनय दोनों का पोषक कैसे हो सकता है ।' किन्तु यह शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि प्रवृत्तिकाल में ज्ञान के भी उपस्थित रहने से उसमें फल की अव्यवहित पूर्वता में कोई विरोध नहीं हैं । यतः नैयायिक की तरह उत्तर विशेष गुण से पूर्वगुण का नाश होना जैनों को मान्य नहीं है । अत एव फल के अव्यवहित पूर्वक्षण में ज्ञान का अस्तित्व असम्भव नहीं हो सकता ।

फल के अव्यवहित पूर्व में ज्ञान की अवस्थिति होने से क्रिया में ज्ञान की द्वाररूपता बाधित नहीं हो सकती क्योंकि व्यापारी का नाश न होने पर भी व्यापारी ज्ञान और उसके मुख्य फल के मध्य में क्रिया के नियमित विद्यमानता के नाते उस में ज्ञान का व्यापारत्व उपपन्न हो सकता है । क्योंकि व्यापार का मात्र इतना ही लक्षण है कि जो जिस से जन्य हो और उसके जन्य का जनक हो वह उसका व्यापार है । इस में तन्नाशकालीनत्वरूप विशेषण का प्रवेश नहीं है । अतः इस विशेषण से शून्य उक्त लक्षण प्रवृत्तिकाल में ज्ञान के होने पर भी प्रवृत्ति—क्रिया में सुसंगत है । यह बात भाष्यकार ने भी कही है, जैसे—"अथवा ज्ञान और क्रिया दोनों एककालवृत्ति कारण है ।" भाष्यकार ने पहले जो ज्ञान को परम्परा से और क्रिया को साक्षात्कारण कहकर क्रिया की मुख्य कारणता और ज्ञान की गौण कारणता कही है, वह 'ज्ञान ही मुख्य कारण है' ज्ञान—नयवादी के इस आग्रह के निराकरण के उद्देश्य से कही है । वास्तव में ज्ञान और क्रिया की गौण मुख्यता ह्रस्वत्व और दीर्घत्व के समान सापेक्ष है ।

उक्त प्रतिपादन से आगम के इस वचन की व्याख्या हो जाती है कि 'ज्ञान और दर्शन प्रत्येक से सम्पूर्ण फल की प्राप्ति नहीं होती, किन्तु चारित्र के सहकार से प्राप्त होती है, इसलिए चारित्र उन दोनों की अपेक्षा विशिष्ट है ।' वस्तुस्थिति यह है कि गृह की शुद्धता के

पिधान स्थानीयज्ञान–तपःसंयमानामेकदैव व्यापारात्, फलोपयोगितया द्वयोरपि मुख्यत्वाऽविशेषात्
यदागमः—[वि आ. भा. ११६९]

"नाणं पयासयं सोहगो तवो संजमो अ गुत्तिकरो ।
तिण्हं पि समाओगे मुक्खो जिणसासणे भणिओ ॥१॥" इति ।

यदि चैवमपि 'कालतो देशतश्च स्वेतरसकलकारणसमवधानव्याप्यसमवधानकत्वलक्षण उत्कर्षश्चारित्रक्रियायामेव, न खलु षष्ठगुणस्थानभावि–परिणामरूपं चारित्रं चतुर्थगुणस्थानभाविपरिणाम-रूपं ज्ञानमतिपत्य वर्तते, न वा चतुर्दशगुणस्थानचरमसमयभाविपरमचारित्रं त्रयोदशगुणस्थानभावि-केवलज्ञानमतिपत्येति; घटकारणेषु दण्डादिष्वपि चरमकपालसंयोगोऽपि हीत्थमेव विशिष्यते ।

लिए प्रदीप को दीप्त रखने, झाड़ से धूल आदि निकालने, और बाहर से गन्दी वस्तुओं के प्रवेश को रोकने के लिए झरोखे की जाली बन्द करने की जो उपयोगीता होती है वही उपयोगीता आत्मशुद्धि के लिए ज्ञान, तप और संयम की भी है। जैसा कि आगम में कहा गया है—'ज्ञान प्रकाशक होता है, तप शोधक होता है और संयम गुप्तिकारक होता है। तीनों के सन्निधान में ही मोक्षलाभ होने की बात जिनशासन में कही गयी है।'

[विशिष्ट समवधान से क्रिया में उत्कर्ष की आशंका]

यदि यह माना जाय कि—

उक्त रूप से ज्ञान और क्रिया के मोक्ष के प्रति एककालवृत्ति कारण होने पर भी ज्ञान की अपेक्षा क्रिया का यह वैशिष्ट्य है कि देशकाल दोनों दृष्टि से क्रिया का समवधान, उससे भिन्न मोक्ष के सकल कारणों के समवधान का व्याप्य है। यह वैशिष्ट्य ज्ञान आदि में नहीं है।

यह निश्चित है कि षष्ठगुण स्थान में होने वाले विशुद्ध परिणाम रूप चारित्र चतुर्थगुण स्थान में होने वाले परिणाम रूप ज्ञान के बिना नहीं होता, एवं चतुर्दश गुण स्थान के अन्तिम समय में होने वाले परमोच्च चारित्र त्रयोदशगुण स्थान में होने वाले केवलज्ञान के बिना नहीं होता। घट के दण्ड आदि कारणों में भी चरम कारणीभूत कपालसंयोग में भी उक्त प्रकार का ही वैशिष्ट्य होता है। क्योंकि उसके समवधान काल में घट के दण्ड आदि अन्य सभी कारणों का समवधान सम्पन्न हो चुका रहता है।

इसके विपरीत यह नहीं कहा जा सकता कि 'स्वप्रयोज्य विजातीय संयोग सम्बन्ध से दण्ड आदि का समवधान भी घट के अन्य सभी कारणों के समवधान का व्याप्य ही होता है। उसी प्रकार स्वप्रयोज्य अतिशयित चारित्र सम्बन्ध से ज्ञान आदि का भी समवधान मोक्ष के अन्य कारणों के समवधान का व्याप्य ही होता है। अतः, उक्त रीति का वैशिष्ट्य घट कारणों में केवल कपाल संयोग में ही नहीं है एवं मोक्ष के कारणों में केवल क्रिया में ही नहीं है यह इस लिये नहीं कहा जा सकता कि क्रिया और कपाल संयोग में जो उक्त प्रकार का वैशिष्ट्य बताया गया है उसका अभिप्राय यह है कि क्रिया के स्वतः-(साक्षात् सम्बन्धमूलक) समवधान में मोक्ष के अन्य सकल कारणों के समवधान की व्याप्ति है एवं कपाल संयोग के स्वतः-(साक्षात सम्बन्धमूलक) समवधान में घट के अन्य सभी कारणों के समवधान की व्याप्ति है। ऐसी स्वतः व्याप्ति मोक्ष के ज्ञान आदि कारणों में एवं घट के दण्ड आदि कारणों में नहीं है।

न च स्वप्रयोज्यविजातीयसंयोगसंबन्धेन दण्डादेरपि, स्वप्रयोज्यातिशयितचारित्रसंबन्धेन च ज्ञानादेरपि, स्वेतरसकलकारणसमवधानव्याप्यसमवधानकत्वं निर्बाधमिति वाच्यम्, स्वतस्तथात्वस्य विशेषार्थत्वात्' इत्यभिमन्यते, तदा 'ज्ञानमेव विशिष्यते, तादृशक्रियाजनकत्वात्। न च स्वापेक्षया तस्यातिशयोऽस्तु, न तु स्वकार्यापेक्षयेति वाच्यम्, "दासेण मे"० इत्यादिन्यायात्, स्वकार्यस्यापि स्वकार्यत्वाऽविशेषात्, कार्यद्वैविध्येन तस्य द्विधातिशयात्, स्वकार्यनिष्ठातिशयस्य परम्परया स्वनिष्ठत्वाच्च। यथा हि मृत्तिकाऽपान्तरालवर्तिपिण्डादिकार्यं जनयन्ती घटं प्रति न मुख्यतां जहाति तथा ज्ञानमप्यान्तरालिकं संवरं जनयद् न मोक्षं प्रति तथा' इति ज्ञाननयस्मयप्रसरोऽपि कथं निवारणीयः ? । तस्मात् तुल्यवत्समुच्चयेनैव ज्ञान-क्रिये आदरणीये इति। अधिकं परीक्षायाम् ॥४८॥ तदेवमुपदर्शितं शास्त्रसम्यक्त्वम् ॥

अथ प्राग् वक्ष्यमाणत्वेन प्रतिज्ञातमुक्तेर्मृत्यादिवर्जितत्वमुपपादयति—

मृत्यादिवर्जिता चेह मुक्तिः कर्मपरिक्षयात्। नाऽकर्मणः क्वचिज्जन्म यथोक्तं पूर्वसूरिभिः ॥४९॥

तो इसके सामने यह भी माना जा सकता है कि-ऐसी स्थिति में षष्ठगुण स्थान में क्रिया का जनक होने से चतुर्थगुण स्थानीय ज्ञान एवं चतुर्दशगुण स्थानीय परमचारित्र का जनक होने से त्रयोदशगुण स्थानीय केवलज्ञान ही उक्त क्रियाओं की अपेक्षा विशिष्ट है। क्योंकि यह ज्ञान यथोक्त समवधानवाली क्रिया का उत्पादक है। यदि यह कहा जाय कि ज्ञान में क्रिया की अपेक्षा जो वैशिष्ट्य-अतिशय दिखाया वह स्व की अपेक्षा यानी साक्षात् नहीं है किन्तु स्वजन्य क्रिया पर अवलम्बित है। जब कि क्रिया में स्व की अपेक्षा अतिशय रहता है और वही ग्राह्य है।' तो यह ठीक नहीं क्योंकि—'अपने गुलाम से खरिदा हुआ गर्दभ अपना ही होता है' इस रीति से ज्ञानजन्य क्रिया से उत्पन्न कार्य भी ज्ञान का ही कार्य निर्बाधरूप से माना जा सकता है, क्योंकि ज्ञान के दो कार्य हुए, इसलिये उसमें अतिशय भी दो प्रकार का रहेगा और ज्ञान के कार्य में रहा हुआ भी आखिर परम्परा से ज्ञान का ही मानना होगा। जैसे मृत्तिका, घट के पूर्व पिण्ड आदि अवान्तर कार्यों का जनक होने पर भी घट के प्रति अपनी मुख्य कारणता का परित्याग नहीं करती, उसी प्रकार ज्ञान मोक्ष के पूर्व संवर का जनक होने पर भी मोक्ष के प्रति अपनी मुख्यता का परित्याग नहीं करता। इस प्रकार क्रियावादी के सामने ज्ञान को मोक्ष का मुख्य हेतु मानने का ज्ञान नयवादी के अभिमान का भी निवारण नहीं किया जा सकता। अतः ज्ञान नयवादी और क्रिया नयवादी दोनों का मोक्ष के प्रति ज्ञान की मुख्य हेतुता एवं क्रिया की मुख्य हेतुता के प्रतिपादन संघत करने के लिए यही उचित है कि ज्ञान और क्रिया के समुच्चय को मोक्ष का हेतु माना जाय। इस विषय में इससे अधिक ज्ञातव्य का अवलोकन अध्यात्ममत परीक्षा ग्रन्थ में करना चाहिए। उक्तरीति से शास्त्र के सम्यक्त्व का प्रदर्शन सम्पन्न समझना चाहिए ॥४८॥ [समुच्चयवाद समाप्त]

[कर्म विना जन्मादि नहीं होते]

मोक्ष मृत्यु आदि से रहित होता है, इस पूर्व प्रतिज्ञात अर्थ को ४९ वीं कारिका में उपन्यस्त किया गया है। अर्थ इस प्रकार है—

मृत्यादिवर्जिता च=मृत्यु-जरा-जन्मवर्जिता च **इह**=प्रवचने मुक्तिः **कर्मपरिक्षयात्**= सर्वथा कर्मविगमात्, तदभावे च कारणं विना कार्यानुत्पत्तेरुक्तोपपत्तेः । तदाह-न **अकर्मणः**= कर्मरहितस्य क्वचित् **जन्म**=सम्मूर्च्छनोत्पत्त्यादिरूपम्, जन्मनो गत्यादिकर्मनिमित्तत्वात्; यथोक्तं **पूर्वसूरिभिः**=उमास्वातिप्रमुखैः ॥४९॥

किमुक्तम् ? इत्याह—[तत्त्वार्थकारिका. श्लो०८]

दग्धे बीजे यथात्यन्तं प्रादुर्भवति नाङ्कुरः । कर्मबीजे तथा दग्धे न रोहति भवाङ्कुरः ॥५०॥

अत्यन्तं=निःशेषतया **दग्धे बीजे**=शाल्यादिबीजे यथाऽ**ङ्कुरः**=शाल्यङ्कुरः न प्रादुर्भवति; तथा **कर्मबीजे**=ज्ञानावरणादिप्रकृतिमये अत्यन्तं दग्धे सति **भवाङ्कुरः**=नर-नारकाद्यग्रिमभवः 'न प्रादुर्भवति' इति योज्यम् ॥५०॥

जन्माभावे जरा-मृत्योरभावो हेत्वभावतः । तदभावे च निःशेषदुःखाभावः सदैव हि ॥५१॥

जन्माभावे **जरा-मृत्योः**=वयोहान्याऽऽयुःक्षयलक्षणयोः **अभावः**=अनुत्पत्तिः, **हेत्वभावतः**= कारणाभावात्, जन्मावस्थारूपत्वात् तयोः । ततः सिद्धं मृत्यादिवर्जितत्वम् । **तदभावे च**=मृत्याद्यभावे च **निःशेषदुःखाभावः**=रोग-शोकादिसकलदुःखविरहः, **सदैव हि**-आकालमेव । एवं च दुःखो-द्विग्नानां मुक्त्यर्थप्रवृत्तिरुपपादिता भवति ॥५१॥

न चैवमभावैकमयी मुक्तिरित्याह—

परमानन्दभावश्च तदभावे हि शाश्वतः । व्याबाधाभावसंसिद्धः सिद्धानां सुखमुच्यते ॥ ५२ ॥

मुक्ति मृत्यु-जन्म-जरा आदि से रहित होती है, और वह सम्पूर्ण कर्मों के नाश से सम्पन्न होती है। कर्म ही जन्म का कारण है और कारण के अभाव में कार्य का जन्म नहीं होता, यह नियम है। अतः समग्र कर्मों का नाश हो जाने पर पुनर्जन्म नहीं होता, जैसा कि उमास्वाति आदि पूर्व विद्वानों ने कहा है ॥ ४९ ॥

५० वीं कारिका में पूर्व विद्वानों का कथन अङ्कित किया गया है। जो इस प्रकार है—

बीज के पूर्णरूप से दग्ध हो जाने पर जैसे धान्यादि का अङ्कुर नहीं उत्पन्न होता है उसी प्रकार कर्मबीज के सम्पूर्ण रूप से दग्ध-नष्ट हो जाने पर भव का नरक आदि अग्रिम अङ्कुर भी नहीं उत्पन्न होता है ॥ ५० ॥

जन्म का अभाव होने पर वय की हानिरूप जरा और आयु की समाप्तिरूप मृत्यु के भी कारण का अभाव होने से अभाव हो जाता है। क्योंकि जरा और मृत्यु जन्म की ही अवस्थाएं है। जरा और मृत्यु का अभाव होने पर रोग, शोक आदि समस्त दुःखों का अभाव सर्वदा के लिए हो जाता है। मुक्ति में दुःख आदि न होने से ही दुःख से उद्विग्न मनुष्यों की मुक्ति के उपायों के अनुष्ठान में प्रवृत्ति होती है ॥ ५१ ॥

[मुक्ति में शाश्वत परमानन्द]

५२ वीं कारिका में यह बताया गया है कि मुक्ति एक मात्र अभावमय नहीं है। कारिका का अर्थ इस प्रकार है—

परमानन्दभावश्च=प्रकृष्टस्वास्थ्यलक्षणः **तदभावे**–निःशेषदुःखाभावे, **हि**=निश्चितम् **शाश्वतः** = अप्रतिपाती, **व्याबाधाऽभावसंसिद्धः** = काम–क्रोध–शीतोष्ण–क्षुत्–पिपासादिव्याकुलता-निवृत्त्युपजातः सिद्धानां सुखमुच्यते । न च तत्र सुखाभावः, विषयसंनिकर्षादिवद् व्याबाधाभावस्यापि सुखविशेषहेतुत्वात्; काम–क्रोधाद्यभावेऽपि योगिनां सुखसाक्षात्कारसाम्राज्यात् । न च तत्र दुःखाभाव एव सुखाभिमानः, शमादितारतम्येन तत्तारतम्यानुभवात् । **न चाभिमानिकमेव** तत् सुखं न मुक्तावनुवर्तितुमुत्सहत **इति वाच्यम्** चुम्बनादिजनितसुखवैलक्षण्येनानुभवात्, अभिमानविरहे तदभिव्यक्तेश्च। नापि मानोरथिकत्वादेव तस्य मुक्तावननुवृत्तिः, संहतसकलविकल्पानामपि तदनुभवात्। वैषयिकत्वं तु तत्राऽसंभवदुक्तिकमेव, स्रगादिविषयाणां तदाऽसंनिधानात् । **नाप्याभा(? भ्या) सिकत्वादेव** तस्य मुक्तावननुवृत्तिः । न ह्यनभ्यस्तयोगानां शमसुखसंभवः । न चाभ्यासोऽसकृत्प्रवृत्तिलक्षणो मुक्तौ संभवतीति **वाच्यम्**, अभ्यासस्य तत्त्वज्ञान इव निरुपमसुखेऽपि प्रतिबन्धकनिवर्तकतयैवोपयोगित्वात्,

---

निःशेष दुःखों का अभाव हो जाने पर मनुष्य को प्रकृष्ट स्वास्थ्य स्वरूप परमानन्द प्राप्त होता है । यह परमानन्द शाश्वत है, इसकी निवृत्ति कभी नहीं होती और यह काम, क्रोध, शीत, उष्ण, भूख, प्यास आदि की व्याकुलता की निवृत्ति से उत्पन्न होता है । इसे ही सिद्ध आत्माओं का सुख कहा जाता है । मुक्ति में सुख का अभाव नहीं हो सकता, क्योंकि अमुक्त-दशा में जैसे विषयेन्द्रियसन्निकर्ष आदि सुख का कारण होता है वैसे ही मुक्तावस्था में काम, क्रोध आदि बाधाओं का अभाव भी सुख का विशेष हेतु होता है । क्योंकि यह निर्विवाद है कि काम, क्रोध आदि से मुक्त योगियों को सुख के साक्षात्कार का साम्राज्य प्राप्त होता है ।

यह नहीं कहा जा सकता कि 'योगियों को दुःखाभाव में ही सुख का अभिमान होता है' क्योंकि शम–दम आदि के तारतम्य—उत्कर्षक्रम से सुख का तारतम्य—सुख का उत्कर्ष अनुभवसिद्ध है । यह भी नहीं कहा जा सकता कि 'योगियों को आभिमानिक ही सुख का अनुभव होता है । अतः मुक्ति में उसका अनुवर्तन नहीं हो सकता ।'—क्योंकि योगियों के सुख में चुम्बन आदि से उत्पन्न सुख की अपेक्षा वैलक्षण्य का अनुभव होता है; एवं अभिमान का अभाव हो जाने पर ही योगियों को सुख की अभिव्यक्ति होती है । अतः योगि सुख आभिमानिक न होने से मुक्ति में उसकी अनुवृत्ति निर्बाध है । यह भी नहीं कहा जा सकता है कि-'योगी का सुख मनोरथमात्र मूलक है । अतः मुक्ति में उसकी अनुवृत्ति नहीं हो सकती ।'-क्योंकि जिन के सम्पूर्ण विकल्पों की—समस्त मनोरथों की निवृत्ति हो जाती है उन्हें भी उस सुख का अनुभव होता है । योगी के सुख को विषयमूलक सुख भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि योगावस्था में योगी को माला आदि विषयों का सन्निधान नहीं होता ।

यह भी नहीं कहा जा सकता कि "योगी का सुख अभ्यासमात्र मूलक होता है । इसलिए मुक्ति में उसकी अनुवृत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि जो योग में अभ्यस्त नहीं होते उन्हें शमजन्य सुख नहीं होता, और अभ्यास पुनः पुनः प्रवृत्ति रूप होने से मुक्ति में उस का सम्भव नहीं है,"-क्योंकि अभ्यास जैसे तत्त्वज्ञान में बाधक तत्त्वनिराकरण करने द्वारा उपयोगी होता है, उसी प्रकार निरुपम सुख में भी वह प्रतिबन्धक का निवर्तक होने से ही उपयोगी है । हेतु तो वस्तुतः प्रतिबन्धक का अभाव ही है । प्रतिबन्धक भी काम, क्रोध आदि व्याबा-

तत्त्वतस्तु तत्र प्रतिबन्धकापगमस्यैव हेतुत्वात् । प्रतिबन्धकं च तत्र व्याबाधाजनकं वेदनीयं कर्मैव । इति सिद्धं व्याबाधाऽभावसिद्धं सिद्धानां सुखम् । न च धर्माभावात् तदा सुखानुपपत्तिः, तदभावेऽपि तज्जनितसुखनाशकाभावेनानुवृत्तेः, स्थैर्यरूपचारित्रधर्मस्य तदा सद्भावस्यापि ग्रन्थकृदभिमतत्वाच्च । उत्पन्ने सिद्धसुखे प्रध्वंसाभावे दृष्टमविनाशित्वमनभ्युपगच्छतः, काऽप्यदृष्टमप्रच्युतानुत्पन्नमीश्वरज्ञानादिकं चाभ्युपगच्छतः परस्य तु सुस्थितं नैयायिकत्वमिति दिग् ॥ ५२ ॥

एतद्गुणगर्भमेव सिद्धस्वरूपमभिष्टौति—

सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्ताःसर्वबाधाविवर्जिताः। सर्वसंसिद्धसत्कार्याः सुखं तेषां किमुच्यते ॥ ५३ ॥

सर्वद्वन्द्वैः=शीतोष्णादिभिर्विनिर्मुक्ताः, तथा **सर्वाभिर्बाधाभिः**=क्षुत्-पिपासादिपीडाभिर्विवर्जिताः तथा, सर्वं संसिद्धं **सत्कार्य**मानन्दोपयोगि कृत्यं येषां ते तथा । ईदृशा हि सिद्धा भगवन्तः । किमुच्यते तेषां सुखम् (सुखस्य) ? परिमिताहेतुकत्वात् अपरिमितं हि तत्; सर्वेषामपि सांसारिकसुखानामेतदनन्तभागवर्तित्वात् एतदुपमानस्य कस्याप्यलाभात् । यथा हि नगरगुणान् दृष्ट्वा पल्ल्यामागतो भिल्लः स्वजनैर्नगरं कीदृशमिति पृष्टः तदुपमानं क्वाप्यपश्यन् जानन्नपि नोपमातुमीष्टे परेषां पुरः,

धाओं को उत्पन्न करने वाला वेदनीय कर्म ही है । अत: यह निर्विवाद सिद्ध है कि वेदनीय कर्म की निवृत्ति होने पर व्याबाधा के अभाव से सिद्धों को सुख की प्राप्ति होती है । प्रतिबन्धक निवृत्ति हो जाने पर अभ्यास निरुपयोगी होने से मुक्ति में उसकी आवश्यकता नहीं है । यह भी नहीं कहा जा सकता कि 'मुक्ति में धर्म न होने से उसमें सुख के अस्तित्व की उपपत्ति नहीं हो सकती । क्योंकि धर्म का अभाव होने पर भी धर्मजन्य सुख का कोई नाशक न होने से उसकी अनुवृत्ति होने में कोई बाधा नहीं है। और सच तो यह है कि ग्रन्थकारों ने मुक्ति में भी स्थैर्यरूप चारित्र धर्म के अस्तित्व का स्वीकार किया है । सिद्ध सुख के उत्पन्न होने पर उसका प्रध्वंस न होने से उसकी अनश्वरता प्रमाणसिद्ध है । प्रमाणसिद्ध होने पर भी यदि नैयायिक उसे स्वीकार नहीं करता, तथा अनुत्पन्न और अविनाशी प्रमाणहीन ईश्वरज्ञान आदि को स्वीकार करता है तो इससे उसके नैयायिक होने की समीचीनता (!)-उपहसनीयता स्पष्ट हो जाती है ॥ ५२ ॥

५३ वीं कारिका में उक्त गुण से सम्पन्न सिद्ध सुख की प्रशस्ति की गयी है । कारिका का अर्थ इस प्रकार है—

सिद्ध जीव शीत, उष्ण आदि सभी द्वन्द्वों-दुःख कारणों से रहित होते हैं, और भूख प्यास आदि की सभी प्रकार की पीड़ाओं से मुक्त होते हैं । उनके द्वारा शाश्वत सुख के सम्पादक समस्त सत्कृत्य-सत् प्रयोजन सिद्ध किये होते हैं, ऐसे सिद्ध भगवान होते हैं; फिर उनके सुख के बारे में क्या कहा जा सकता है ? उनका सुख सीमित हेतुजन्य सुख नहीं होता, अत एव उनका सुख स्वाभाविक अत एव अपरिमित होता है । सांसारिक समस्त सुख सिद्ध सुख के अनन्त भाग में होता है। इसलिये सिद्धसुख का कोई उपमान दृष्टान्त नहीं प्राप्त होता है । जैसे कोई भील किसी नगर के गुणों को देखकर जब जंगल में अपनी पल्ली में वापस आता है और वहाँ उसके स्वजन द्वारा नगर कैसा ऐसा पूछा जाने पर वह नगर के समान किसी को

तथा जानन्नपि हि सिद्धसुखमहिमानमसद्भिरुपमानैः केवल्यपि नोपमातुमीष्टे । इति कथमिव परेषामवोवाचां गोचरः ? इति स्मर्तव्यम् ॥ ५३ ॥

भूयोऽपि परममङ्गलभूतममीषां लक्षणमभिष्टौति—

अमूर्ताः सर्वभावज्ञास्त्रैलोक्योपरिवर्तिनः । क्षीणसङ्गा महात्मानस्ते सदा सुखमासते ॥५४॥

अमूर्ताः=नाम–गोत्रकर्मक्षयाद् रूपादिसंनिवेशमयमूर्तिरहिताः, **सर्वभावज्ञाः**=निरावरणज्ञस्वभावतया सकलपदार्थज्ञातारः, तथा, **त्रैलोक्योपरिवर्तिनः**=ऊर्ध्वगतिस्वभावत्वेन परतो धर्मास्तिकायाद्यनुपग्रहेण च लोकान्तस्थाः "अलोएपडिहया सिद्धा लोअग्गम्मि पइट्ठिया" इत्यागमात्; तथा **क्षीणसङ्गाः**=क्षीणाशेषकर्माणः, अतः एव **महात्मानः**=अष्टगुणयोगित्वेन सर्वथा शुद्धात्मानः, अवोचाम च—"सव्वहा परमप्पत्तं सिद्धाणं चेव संसिद्धं"। **ते**=सिद्धाः **सदा**=निरन्तरम्, **सुखं**=एकरूपतयैवाऽव्याकुलम् **आसते**=अवतिष्ठन्ते ।

ते च सिद्धास्तीर्थादिभेदात् सूत्रे पञ्चदशविधाः प्रज्ञप्ताः, तथा च **प्रज्ञापनासूत्रम्**—"अणन्तरसिद्धअसंसारसमावण्णगजीवपण्णवणा पन्नरसविहा पण्णत्ता तं जहा—तित्थसिद्धा, अतित्थसिद्धा, तित्थगरसिद्धा, अतित्थगरसिद्धा, सयंबुद्धसिद्धा, पत्तेयबुद्धसिद्धा, बुद्धबोहिअसिद्धा, इत्थीलिङ्गसिद्धा, पुरिसलिङ्गसिद्धा, णपुंसगलिङ्गसिद्धा, सलिङ्गसिद्धा अण्णलिङ्गसिद्धा, गिहिलिङ्गसिद्धा, एगसिद्धा, अणेगसिद्धा"

नहीं देख पाता तो वह स्वयं जानता हुआ भी उसका वर्णन करने में समर्थ नहीं; उसी प्रकार सिद्ध सुख की महिमा को जानने वाले केवलज्ञानी सर्वज्ञ भी कोई उपमान न होने से किसी के साथ उसकी उपमा नहीं कर सकते । यह स्मरणीय है कि सिद्ध सुख ऐसे लोगों के आगे जिन्हें उस असांयोगिक सुख का अनुभव नहीं है कैसे वर्णित किया जा सकता है ? ॥ ५३ ॥

५४ वीं कारिका में सिद्धों के परममङ्गलभूत स्वरूप की पुनः स्तुति की गयी है । कारिका का अर्थ इस प्रकार है ।

जो पुरुष नाम–गोत्र–कर्म की निवृत्ति होने से रूप आदि के संयोगमय शरीर से रहित होते हैं और वे निरावरण हो ज्ञानस्वभाववाले होने से सम्पूर्ण वस्तुओं के ज्ञाता होते हैं तथा ऊर्ध्वगति-स्वभाव होने से पर आगे गतिप्रयोजक धर्मास्तिकाय का सहकार न रहने से, 'अलोक से प्रतिहत होकर सिद्धात्मा लोक के अग्रभाग में प्रतिष्ठित होते हैं' इस आगम के अनुसार लोकान्त में अवस्थित होते हैं । और निःशेष कर्मों के क्षय हो जाने से अष्टगुण युक्त हो पूर्णरूप से शुद्धात्मा होते हैं । और जिनमें पूर्णरूप से परमात्मरूपता की सिद्धि बतायी गयी है वे सब सिद्ध हमेशा एकरूप होने से निरन्तर अव्याकुलभाव से सुखपूर्वक विराजमान होते हैं ।

[सिद्धात्माओं के १५ भेद]

सूत्र में ऐसे सिद्धों के तीर्थ सिद्धादि पन्द्रह भेद बताए गये हैं । जैसा कि श्री 'प्रज्ञापना' सूत्र में कहा गया है कि—जो असंसारभावापन्न अनन्तर यानी प्रथम समयोत्पन्न सिद्ध जीव हैं उनकी प्रज्ञापना पन्द्रह भेदवाली है, जैसे—तीर्थसिद्ध, अतीर्थसिद्ध, तीर्थकरसिद्ध, अतीर्थकरसिद्ध,

इति । तत्र (१) तीर्थे चतुर्वर्णश्रमणसंघरूपे प्रथमगणधररूपे वोत्पन्ने सति सिद्धास्तीर्थसिद्धाः । (२) तीर्थस्याभावेऽनुत्पत्तिलक्षणे आन्तरालिकव्यवच्छेदलक्षणे वा सति सिद्धा अतीर्थसिद्धा **मरुदेव्यादयः, सुविधि**स्वाम्याद्यपान्तराले विरज्याप्तमहोदयाश्च । (३) तीर्थंकरा अवाप्तजिननामोदयार्जितसमृद्धयः सन्तः सिद्धास्तीर्थंकरसिद्धाः । (४) अतीर्थंकराः सामान्यकेवलिनः सन्तः सिद्धा अतीर्थंकरसिद्धाः । (५) स्वयमेव बाह्यप्रत्ययमन्तरेणैव निजजातिस्मरणादिना बुद्धा सन्तः सिद्धाः स्वयंबुद्धसिद्धाः, ते च तीर्थंकरा-ऽतीर्थंकरभेदेन द्विविधाः, इह चातीर्थंकरैरधिकारः (६) प्रत्येकं बाह्यं वृषभादिकारणमभिसमीक्ष्य बुद्धाः सन्तः सिद्धाः प्रत्येकबुद्धसिद्धाः (७) बुद्धैर्गुर्वादिभिर्बोधिताः सन्तः सिद्धा बुद्धबोधितसिद्धाः । (८) स्त्रिया लिङ्गं स्त्रीलिङ्गं स्त्रीत्वस्योपलक्षणमित्यर्थः, तच्च त्रिधा—वेदः, शरीरनिर्वृतिः, नेपथ्यं चेति । इह च शरीरनिर्वृत्त्यैवाधिकारो न वेद—नेपथ्याभ्याम्; तयोर्मोक्षानङ्गत्वात् । ततस्तस्मिल्लिङ्गे वर्तमानाः सन्तः सिद्धाः स्त्रीलिङ्गसिद्धाः । आह च **नन्द्यध्ययनचूर्णिकृत्** "इत्थीए लिङ्गं इत्थिलिङ्गं, इत्थीए उवलक्खणं ति वुत्तं हवइ । तं च तिविहं—वेदो, सरीरं, णेवत्थं च । इह सरीरणिव्वत्तीए अहिगारो, ण वेअ—णेवत्थेहिं" । (९) तथा, पुंलिङ्गे पुंशरीरनिर्वृतिरूपे व्यवस्थिताः

स्वयंबुद्धसिद्ध, प्रत्येकबुद्धसिद्ध, बुद्धबोधितसिद्ध, स्त्रीलिङ्गसिद्ध, पुरुषलिङ्गसिद्ध, नपुंसकलिङ्गसिद्ध, स्वलिङ्गसिद्ध, अन्यलिङ्गसिद्ध, गृहिलिङ्गसिद्ध, एकसिद्ध और अनेकसिद्ध ।

(१) 'तीर्थ' का अर्थ है श्रमण-श्रमणी-श्रावक-श्राविका (१) चारों का संघ अथवा (२) प्रथम गणधर, उनकी स्थापना के बाद सिद्ध होने वाले तीर्थसिद्ध कहे जाते हैं । (२) तीर्थ की स्थापना के पहले अथवा उसका विच्छेद होने के बाद नूतनतीर्थ स्थापना न होने तक के काल में जो सिद्ध हुए वे अतीर्थसिद्ध होते हैं, जैसे कि, तीर्थस्थापना के पूर्वसिद्ध मरुदेवी माता आदि, तथा जो सुविधिनाथ और शीतलस्वामी आदि के अपान्तराल में तीर्थनाश के बाद विरक्त होकर महोदय मोक्ष प्राप्त करते हैं । (३) जो तीर्थंकर होते हैं और जिन्हें 'जिन' नाम कर्म के उदय से अर्जित अष्टप्रतिहार्यादि समृद्धियाँ प्राप्त होती हैं ऐसे सिद्ध होने वालों को तीर्थंकर सिद्ध कहा जाता है । (४) जो तीर्थंकर नहीं होते किन्तु सामान्य केवली हुए सिद्ध होते हैं ऐसे तीर्थसिद्धों को अतीर्थंकर सिद्ध कहा जाता है । (५) जो बाह्यकारण के बिना स्वयं ही जातिस्मरण आदि ज्ञान से बोध सम्पन्न होकर सिद्धि में जाते हैं ऐसे सिद्धों को स्वयंबुद्ध सिद्ध कहा जाता है । स्वयंबुद्ध सिद्ध दो प्रकार के होते हैं, तीर्थंकर और अतीर्थंकर । प्रकृत भेद में अतीर्थंकर सिद्ध ग्राह्य है । (६) वृषभ आदि बाह्य प्रत्येक कारण के अभिवीक्षण से जो बोध सम्पन्न हो कर सिद्ध होते हैं उन्हें प्रत्येक सिद्ध कहा जाता है । (७) बुद्धत्व को प्राप्त गुरु आदि से बोध प्राप्त कर के सिद्ध होने वालों को बुद्धिबोधित सिद्ध कहा जाता है । (८) स्त्रीलिङ्ग का अर्थ है, स्त्रीत्व का ज्ञापक । इसके तीन भेद हैं—वेद, शरीर की निर्वृत्ति=रचना और नेपथ्य-परिधान । प्रकृत में शरीर निर्वृत्ति मात्र से ही अभिप्राय है, वेद और नेपथ्य से नहीं । क्यों कि वे दोनों मोक्ष के अङ्ग नहीं है । शरीर की निर्वृत्ति रूप स्त्रीलिङ्ग में रहते हुए जो सिद्ध होते हैं उन सिद्धों को स्त्रीलिङ्ग सिद्ध कहा जाता है । नन्दी अध्ययन चूर्णिकार ने कहा भी है, स्त्रीलिङ्ग का अर्थ है स्त्री का लिङ्ग-स्त्रीत्व का ज्ञापक चिह्न । यह त्रिविध है—वेद, शरीर और परिधान । मोक्ष के सन्दर्भ में यहाँ शरीर ही ग्राह्य है,

सन्तः सिद्धाः पुंलिङ्गसिद्धाः । एवं (१०) नपुंसकशरीरे व्यवस्थिताः सन्तः सिद्धा नपुंसकलिङ्गसिद्धाः । तथा (११) स्वलिङ्गे रजोहरणादिरूपे व्यवस्थिताः सन्त सिद्धाः स्वलिङ्गसिद्धाः । (१२) अन्यलिङ्गे परिव्राजकादिसंबन्धिन्येव व्यवस्थिताः सिद्धा अन्यलिङ्गसिद्धाः । (१३) गृहिलिङ्गे व्यवस्थिताः सिद्धा गृहिलिङ्गसिद्धा **मरुदेव्यादयः** (१४) एकस्मिन् समय एकका एव सन्तः सिद्धा एकसिद्धाः । (१५) एकस्मिन् समयेऽनेकैः सह सिद्धा अनेकसिद्धाः ।

अत्राचक्षते **क्षपणका** अभिनिवेशपेशलचित्ताः — 'स्त्रीलिङ्गसिद्धाः' इत्यत्र 'पूर्वं क्षीणस्त्रीवेदाः सन्तः सिद्धाः' इत्ययमर्थं आश्रयणीयः, लिङ्गपदेन मोक्षानङ्गस्यापि वेदस्यात्रोपादानात्, अतीर्थकरसिद्धादाविव मोक्षाङ्गोपाध्युपादाने नियमाभावात्, स्त्रीशरीरावस्थितास्तु न मुक्तिभाजः, स्त्रीत्वात्, व्यतिरेके पुरुषवत् । अथवा, स्त्रियो मोक्षभाजो न भवन्ति, विशिष्टपूर्वाध्ययनलब्ध्यभाववत्वात्, अभव्यवत् इति । **ते भ्रान्ताः**, लिङ्गपदेन वेदोपादानेऽप्युक्तार्थस्य स्त्रीमुक्तिं विनाऽनुपपत्तेः पूर्वं स्त्रीवेदादिक्षयस्य शरीरनिर्वृतिनियमनियतत्वात् । तथाहि—यदि पुरुषः प्रारम्भकस्तदा पूर्वं नपुंसकवेदम्,

---

वेद और परिधान नहीं। (९) पुरुषशरीर में विद्यमान होकर जो सिद्ध होते हैं, उन्हें पुरुषलिङ्ग सिद्ध कहा जाता है। (१०) नपुंसक शरीर में विद्यमान होकर जो सिद्ध होते हैं, उन्हें नपुंसक लिङ्गसिद्ध कहा जाता है। (११) जो रजोहरण-आदि अपने जैन धर्मोक्त साधु) लिङ्ग में रहते हुए सिद्ध होते हैं उन्हें स्वलिङ्गसिद्ध कहा जाता है। (१२) जो परिव्राजक आदि से सम्बन्धी (अन्य अजैन धर्मोक्त) लिङ्ग में रहते हुए सिद्ध होते हैं वे अन्यलिङ्गसिद्ध होते हैं। (१३) जो गृहिरूपलिङ्ग में रहते हुए सिद्ध होते हैं उन्हें गृहिलिङ्गसिद्ध कहा जाता है जैसे मरुदेवी आदि। (१४) जो एक समय में अकेले ही सिद्ध होते हैं उन्हें एकसिद्ध कहा जाता है। और (१५) जो एक समय में अनेकों के साथ सिद्ध होते हैं उन्हें अनेकसिद्ध कहा जाता है।

[स्त्री मुक्तिवादचर्चा में दिगम्बर–पूर्वपक्ष]

इस प्रसंङ्ग में अभिनिविष्ट चित्तवाले क्षपणकों—दिगम्बरों का यह कहना है कि स्त्रीलिङ्ग सिद्ध का यह अर्थ है कि जो सर्वप्रथम स्त्रीवेद के क्षीण हो जाने पर सिद्ध होते हैं वे स्त्रीलिङ्ग सिद्ध है क्योंकि स्त्रीलिङ्ग शब्द में लिङ्गपद से मोक्ष का अनङ्ग होने पर भी वेद का ग्रहण अभिमत है, क्योंकि अतीर्थकरसिद्ध आदि के समान स्त्रीलिङ्गसिद्ध में भी 'मोक्ष के अङ्गभूत उपाधि का ही ग्रहण होने का नियम' नहीं है। अपने अभिमत की सिद्धि के लिये क्षपणकों का इस प्रकार अनुमान प्रयोग होता है कि 'जो स्त्री शरीर में अवस्थित होते हैं वे स्त्री होने के कारण मोक्ष के अधिकारी नहीं होते, जो मोक्ष के अधिकारी होते हैं वे स्त्री नहीं होते, जैसे पुरुष।' अथवा यह भी एक अनुमान उनके द्वारा प्रस्तुत होता है जैसे—'स्त्रीयां मोक्ष की अधिकारिणी नहीं होती, क्योंकि वे 'पूर्व' के अध्ययन की लब्धिरूप विशिष्ट योग्यता से शून्य होती हैं, जैसे अभव्यजीव।'

[दिगम्बर की भ्रान्ति का सूचन]

व्याख्याकार कहते हैं कि उक्त पक्ष को प्रस्तुत करनेवाले क्षपणक-दिगम्बर भ्रान्त हैं, क्योंकि स्त्रीलिङ्ग शब्द में लिङ्ग पद से वेद का उपादान करने पर भी स्त्री मुक्ति माने बिना

ततः स्त्रीवेदम्, ततो हास्यादिषट्कं क्षपयति, ततः पुरुषवेदं खण्डत्रयं कृत्वा खण्डद्वयं युगपत् क्षपयति, तृतीयखण्डं तु संज्वलनक्रोधे प्रक्षिपति । यदि च स्त्री प्रारम्भिका, ततः प्रथमं नपुंसकवेदम्, ततः पुरुषवेदम्, ततः षट्कम्, ततश्च स्त्रीवेदम् । यदि नपुंसकः प्रारम्भकस्तदा प्रथमं स्त्रीवेदम्, ततः पुरुषवेदम्, ततः षट्कम्, ततो नपुंसकवेदमिति । अन्यथा कल्पनं चानागमिकम् । न च 'स्त्रीलिङ्गसिद्धाः' इत्यत्र स्वारसिकोऽयमर्थः, सतिसप्तम्याः स्त्रीलिङ्गव्यवस्थितस्यैव स्वरसतो लाभात्। परिभाषा चाऽसंप्रदायिकी कल्पितत्वाद् न प्रमाणम् इति न किञ्चिदेतत् ।

'स्त्रियो न मुक्तिभाजः'....इत्यत्र च सर्वासां स्त्रीणां पक्षीकरणेऽभव्यस्त्रीणां मुक्त्यनभ्युपगमात् सिद्धसाधनम् । भव्यस्त्रीणामपि पक्षीकरणे भव्यानामपि सर्वासां मुक्त्यनभ्युपगमात् "भव्वा वि ते अणंता जे सिद्धिसुहं ण पावंति" इति वचनप्रामाण्यात्, अवाप्तसम्यग्दर्शनानामपि पक्षीकरणे परित्यक्त-सम्यग्दर्शनानाम्, अपरित्यक्तसम्यग्दर्शनानामपि पक्षीकरणेऽप्राप्ताविकलचारित्राभिस्तद्दोषतादवस्थ्यात् ।

उक्त अर्थ की उपपत्ति नहीं हो सकती । क्योंकि सर्वप्रथम स्त्री वेद आदि का क्षय स्त्री शरीर निर्वृत्ति का नियमतः अविनाभावी है । वस्तुस्थिति यह है कि यदि पुरुष क्षपकश्रेणि का प्रारम्भ करता है तो पहले नपुंसकवेद का क्षपण करता है, उसके बाद स्त्रीवेद का, उसके बाद हास्य आदि छः नोकषाय का क्षपण करता है, और उसके अनन्तर पुरुषवेद कर्म के तीन खण्ड करके दो खण्डों का एक साथ नाश करता है और तीसरे खण्ड को संज्वलनात्मक क्रोध में प्रक्षिप्त करता है । यदि स्त्री प्रारम्भ करती है तो वह पहले नपुंसकवेद उसके बाद पुरुषवेद, उसके बाद हास्य आदि छः नोकषाय और अन्त में स्त्रीवेद का क्षपण करती है। और यदि नपुंसक प्रारम्भ करता है तो पहले स्त्रीवेद उसके बाद पुरुषवेद, उसके बाद हास्य आदि षट् नोकषाय तथा उसके बाद नपुंसकवेद का क्षपण करता है । यदि इससे भिन्न क्रम की कल्पना की जायगी तो वह आगम विरुद्ध होगी । 'स्त्रीलिङ्गसिद्ध' शब्द का क्षपणकोक्त अर्थ स्वाभाविक भी नहीं है, क्योंकि स्त्रीलिङ्गसिद्ध शब्द के 'स्त्रीलिङ्गे सिद्धाः' इस विग्रह वाक्य में सति अर्थ में विहित सप्तमी से स्त्री शरीर में अवस्थिति का ही स्वभावतः लाभ होता है । क्षपणकों ने जो स्वारसिक अर्थ को त्यागकर पारिभाषिक अर्थ कहा है वह कल्पित होने से प्रामाणिक भी नहीं है। अतः उनके उक्त कथन का कोई मूल्य नहीं है ।

[दिगम्बरोक्त अनुमान का निरसन]

क्षपणकों ने जो यह अनुमान प्रस्तुत किया है कि 'स्त्रियां मोक्ष की अधिकारिणी नहीं होती, क्योंकि वे स्त्री हैं, वह भी दोषग्रस्त होने से त्याज्य है । जैसे : उक्त अनुमान में समस्त स्त्री को पक्ष करने पर अंशतः सिद्धसाधन है, क्योंकि अभव्य स्त्री मोक्ष की अधिकारिणी नहीं होती—यह स्त्रीमोक्षवादी को भी मान्य है । और यदि सम्पूर्ण भव्यस्त्री को पक्ष किया जायगा तो भी सिद्धसाधन अनिवार्य है, क्योंकि सभी भव्यों की भी मुक्ति नहीं होती, इस विषय में प्रवचन–शास्त्रवचन प्रमाण है । उसमें कहा गया है कि भव्य भी ऐसे अनन्त हैं जो मोक्षसुख नहीं प्राप्त कर पाते । जिन स्त्रियों ने सम्यक्दर्शन प्राप्त कर लिया है यदि उन्हीं को पक्ष किया जाय तो, सम्यक्दर्शन प्राप्त कर उसका परित्याग कर देनेवाली स्त्रियों की मुक्ति मान्य न होने से उनमें सिद्धसाधन होगा । एवं जिन स्त्रियों ने सम्यक्दर्शन प्राप्त

किञ्च, स्तन-जघनादिस्त्र्याकारयोगित्वरूपस्त्रीत्व-हेतुविपर्यये बाधकप्रमाणाभावात् संदिग्धविपक्षव्यावृत्तिकत्वादनैकान्तिकः । न च पक्षीयव्यभिचारसंशयस्यानुमितिप्रतिबन्धकत्वेऽनुमानमात्रोच्छेद इति शङ्कनीयम्, स्वारसिकस्य तस्याऽतथात्वेऽप्यप्रयोजकत्वाहितस्यान्वयव्यतिरेकाभ्यां प्रतिबन्धकत्वाऽवधारणात् । एतेन 'स्त्रीत्वपर्यायकालावच्छेदेन स्त्रीत्वावच्छिन्ने मुक्त्ययोगित्वसाधने न दोषः, पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन साध्यसिद्धावंशतःसिद्धसाधनस्य 'पृथिवीतरेभ्यो भिद्यते' इत्यादाविवाऽदोषत्वात्' इत्युक्तावपि न क्षतिः ।

नन्वेवमपि द्वितीयहेतौ न बाधकम्, पूर्वाध्ययनाभावे सकलकर्मविटपिदवानलकल्पाऽऽद्यशुक्लध्यानद्वयाभावात्, "आद्ये पूर्वविदः" इति वचनप्रामाण्यात्, तदभावे च केवलज्ञानानुपपत्त्या

किया है किन्तु परित्याग नहीं किया है उन्हें पक्ष किया जाय तो जिन स्त्रियों ने अविकल चारित्र प्राप्त नहीं किया है उनकी मुक्ति न होने से उनमें सिद्धसाधन होगा ।

[हेतु में संदिग्धविपक्षव्यावृत्तिदोष]

इसके अतिरिक्त यह भी ज्ञातव्य है कि स्त्रीत्व हेतु का अर्थ है स्त्री सहज स्तन, जघन आदि आकार से युक्त होना । और इसके मोक्षाधिकारी में रहने में कोई बाधक प्रमाण नहीं है । अतः विपक्षव्यावृत्ति का सन्देह होने से स्त्रीत्वहेतु अनैकान्तिक भी है । यदि यह कहा जाय कि-'यह संशय पक्ष में व्यभिचार का संशय है, और ऐसा संशय अनुमिति का प्रतिबन्धक नहीं होता, क्योंकि ऐसे संशय को अनुमिति का प्रतिबन्धक मानने पर अनुमान मात्र का उच्छेद हो जायगा । यतः पक्ष में साध्य या साध्याभाव का सन्देह रहने से हेतु में विपक्षव्यावृत्ति का सन्देह सर्वत्र सम्भव है" किन्तु यह ठीक नहीं है, क्योंकि हेतु में विपक्षव्यावृत्ति का स्वारसिक सन्देह भले ही अनुमिति का प्रतिबन्धक न हो किन्तु अप्रयोजकत्व=अनुकूल तर्क के अभाव से हेतु में जो विपक्षावृत्तित्व का सन्देह होता है उसमें अन्वयव्यतिरेक से अनुमिति की प्रतिबन्धकता निश्चित है । "धूमः अस्तु, वह्निर्मास्तु-धूम रहे और अग्नि न रहे" इस अप्रयोजकत्व शङ्का से धूम में अग्नि व्यभिचार का सन्देह होने से अग्नि की अनुमिति का न होना सर्वमान्य है । प्रकृत में भी "अस्तु स्त्रीत्वं, मास्तु, मोक्षानधिकारित्वम्=स्त्रीत्व हो, मोक्षाधिकारिता का अभाव न हो' इस शङ्का से स्त्रीत्व से मोक्षानधिकारित्व के व्यभिचार का संशय होने पर स्त्रीत्व हेतु से मोक्षानधिकारित्व की अनुमिति का प्रतिबन्ध होना अनिवार्य है । इसीलिए उक्त सिद्धसाधन दोष का इस प्रकार परिहार करने पर भी कि—"स्त्री आकार रूप पर्यायकाल में मुक्ति की अयोग्यता का अनुमान करने में दोष नहीं होगा, क्योंकि पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन सम्पूर्ण पक्ष में साध्य की अनुमिति में अंशत सिद्धिसाधन दोष नहीं होता यह बात यत्किञ्चित् पृथ्वी में पृथ्वीतरभेद की अनुमिति का होना स्वीकार करने से निर्विवाद सिद्ध है ।"— क्षपणक से प्रयुक्त उक्त अनुमान की सदोषता का अभाव नहीं होता, क्योंकि उक्तरीति से सिद्धसाधन दोष का परिहार होने पर भी हेतु की सन्दिग्ध अनैकान्तिकता का दोष बना रहता है ।

[पूर्वश्रुत के अध्ययन के बिना मोक्षाभाव—पूर्वपक्ष]

यदि यह कहा जाय कि—"स्त्री में मोक्ष की अनधिकारिता के साधनार्थ जो पूर्वाध्ययन लब्धिरूप विशिष्ट योग्यता के अभावरूप दूसरे हेतु का प्रयोग किया गया है उससे अभिमत

मुक्त्यनुपपत्तेरप्रयोजकत्वाभावात् । अयमेवाभिप्रायः 'न स्त्रीणां मुक्तिः, पुरुषेभ्यो हीनत्वात्, नपुंसकादिवत्' इति प्रभाचन्द्रप्रयोगस्यापि, श्रुतापेक्षया हीनत्वस्य ग्रहणात्, उक्तरीत्यांशतः सिद्धसाधनस्याऽदोषत्वाच्च "सामान्यतः पक्षत्वे सिद्धसाधनम्, विवादास्पदीभूतानां पक्षत्वे चेतरव्यावर्तकपक्षविशेषणानुपादाने पक्षस्य न्यूनत्वम्, प्रकरणादेव तल्लाभे च पक्षस्यापि तत एव लभ्यस्यानुपादानप्रसङ्गः" इति दोषानवकाशादिति चेत् ? न, पूर्वाध्ययनं विनाऽऽद्यशुक्लध्यानद्वयाभावे प्राक्तनभवानधीतपूर्वाणां वर्तमानतीर्थाधिपत्यादीनामपि तदभावेन मुक्त्यभावापत्तेः । यदि च 'शास्त्रयोगाऽगम्यसामर्थ्ययोगावसेयभावेष्वतिसूक्ष्मेष्वपि तेषां विशिष्टक्षयोपशमप्रभवप्रभावयोगात् पूर्वधरस्येव बोधातिरेकसद्भावादाद्यशुक्लध्यानद्वयप्राप्तेः केवलावाप्तिक्रमेण मुक्तिप्राप्तिरिति न दोषः, अध्ययनमन्तरेणापि भावतः पूर्ववित्त्वसंभवात्' इति विभाव्यते तदा निर्ग्रन्थीनामप्येवं द्वितयसंभवे दोषाभावात् ।

अनुमिति के होने में कोई बाधा नहीं है । क्योंकि 'आद्ये पूर्वविदः' इस तत्त्वार्थाधिगम महाशास्त्र के अनुसार पूर्वाध्ययन के अभाव में सम्पूर्ण कर्मवन के दाह में दावानल जैसा काम करने वाले आद्य दो शुक्ल ध्यानों का स्त्रियों में अभाव होता है और उनके अभाव में केवलज्ञान की उत्पत्ति न होने से मुक्ति नहीं होती । इसलिए द्वितीय हेतु में अप्रयोजकत्व नहीं है । यही अभिप्राय प्रभाचन्द्र के इस अनुमानप्रयोग का भी है कि 'पुरुषों से हीन होने से नपुंसक आदि के समान स्त्रियों की मुक्ति नहीं होती ।' स्त्रियों में पुरुष की अपेक्षा जो हीनता बतायी गयी है वह श्रुत की अपेक्षा से ही विवक्षित है । उक्तरीति से पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन अनुमिति में अंशतः सिद्धिसाधन दोष नहीं है । इसलिये यह जो दोषापादन किया जाता है कि—'स्त्री को सामान्य रूप से पक्ष करने पर सिद्धसाधन होगा और विवादास्पद स्त्री को पक्ष करने पर इतर-विवादानास्पद के व्यावर्तक पक्ष विशेषण का उपादान न करने पर पक्ष की न्यूनता होगी । क्योंकि विवादानास्पद का पक्ष में अन्तर्भाव अनभिमत है । प्रकरण से ही इतर की व्यावृत्ति होने से मात्र विवादास्पद की पक्षता का लाभ हो जाने से यदि इतर वारक पक्ष विशेषण के उपादान को अनावश्यक बताया जायगा तो, प्रकरण से ही पक्ष का भी लाभ हो जाने से उसके भी अनुपादान की प्रसक्ति होगी ।' इस दोष को भी अवकाश नहीं है । क्योंकि स्त्री मात्र में स्त्री पर्यायकाल में मुक्ति की अयोग्यता का साधन दोषमुक्त है ।"—

[पूर्वश्रुत-अध्ययन विना भी मोक्षप्राप्ति-उत्तरपक्ष]

तो यह ठीक नहीं है । क्योंकि पूर्वाध्ययन के बिना आद्य शुक्ल ध्यानद्वय का अभाव होने से यदि मुक्ति का अभाव माना जायगा तो जिन्होंने प्राक्तन जन्म में पूर्वाध्ययन नहीं किया है ऐसे तीर्थाधिपति तीर्थंकर आदि में भी आद्यशुक्ल ध्यानद्वय का अभाव होने से उनकी भी मुक्ति का अभाव होगा ।

यदि यह कहा जाय कि—"तीर्थाधिपति आदि को ऐसे अत्यन्त सूक्ष्म विषयों में भी जो शास्त्रयोग से अगम्य एवं सामर्थ्ययोग से गम्य होते हैं, विशिष्ट क्षयोपशम होने से ऐसा प्रभाव प्राप्त होता है जिससे पूर्वधर के समान उन्हें भी बोधातिशय का लाभ हो जाता है और उसीसे आद्यशुक्लध्यान युगल की प्राप्ति होने से केवलज्ञान की प्राप्ति होकर मुक्ति का लाभ होता है । क्योंकि अध्ययन के बिना भी भावतः उन्हें पूर्वविज्ञता हो जाती है ।"—तो उक्तरीति से निर्ग्रन्थि-स्त्रियों में भी आद्यशुक्ल ध्यानद्वय के सम्भव होने से उनकी मुक्ति मानने में कोई दोष नहीं है ।

किञ्च, विशिष्टपूर्वाध्ययनानधिकारोऽपि तासां कुतः सिद्धः ? । 'सर्वज्ञप्रणीतादागमादि'ति चेत् ? तत एव मुक्तिभाक्त्वस्यापि तासां सिद्धिरस्तु । न हि 'एकवाक्यतया व्यवस्थितो दृष्टेष्टादिषु बाधामननुभवन्नागमः क्वचित् प्रमाणं क्वचिद् न' इत्यभ्युपगन्तुं शक्यं प्रेक्षावता । वस्तुतोऽशतः सिद्धसाधनमप्यबाधितविशेषान्तरोपस्थितौ न दोषः, अन्यथांशतस्त्वायोगात् । न चात्राऽप्राप्ताऽविकल-चारित्रातिरिक्तं मुक्त्यभाजनं विशेषान्तरमुपतिष्ठते येन तद् न दोषः स्यादिति न किञ्चिदेतत् । इत्थं च विवादास्पदीभूतस्त्रीणां पक्षत्वेऽपि न निर्वाहः, विवादास्पदीभूतत्वेनातिरिक्तविशेषपरिग्रहाऽयोगात् । एतेन 'न्यूनत्वं पुरुषदोषो न तु वस्तुदोषः, न चैतावतैव वादिपराजयात् कथापर्यवसानम्, तत्त्व-निर्णिनीषायामदोषात्' इत्युक्तावपि न क्षतिः ।

अथ चारित्राभावादेव स्त्रीणां न मुक्तिः । नन्वसावपि तासां कुतः सिद्धः ? । 'स्त्रीत्वादि' ति चेत्, नन्वेवं पुरुषत्वात् पुरुषस्यापि तदभावः किं न सिध्येत् ? । अथ पुरुषे सकलसावद्ययोगनिवृत्तिरूप-

---

साथ ही यह भी प्रष्टव्य है कि स्त्रीयों का पूर्वाध्ययन में अधिकार नहीं है, यह किस प्रमाण से सिद्ध होता है ? यदि सर्वज्ञ प्रणीत आगम से इसकी सिद्धि मानी जाय तो उसी से स्त्रीयों की मुक्तियोग्यता की भी सिद्धि हो सकती है; क्योंकि कोई भी बुद्धिमान मनुष्य यह नहीं स्वीकार कर सकता कि 'जिसमें एकवाक्यता है और दृष्ट-इष्ट आदि में जिसे कोई बाधा नहीं प्राप्त है वह आगम किसी विषय में प्रमाण होता है, और किसी में प्रमाण नहीं हो सकता।'

सच यह है कि अंशतः सिद्धसाधन भी दोष उस स्थिति में नहीं होता जब ऐसा कोई अन्य विशेष उपस्थित हो जिसमें साध्य अबाधित हो । क्योंकि उस स्थिति में भी यदि यह दोष होगा तो उसे अंशतः कहना ही असङ्गत होगा । प्रकृत में ऐसा कोई विशेष उपस्थित नहीं है जो अविकल चारित्र न प्राप्त करनेवालों से अतिरिक्त हो तथा मुक्ति के अयोग्य हो, जिससे अंशतः सिद्धिसाधन दोष न हो । अतः स्त्री को मुक्ति की अपात्रता सिद्ध करने का क्षपणक का प्रयास नहीं जैसा है । इस प्रकार विवादास्पद स्त्रियों को पक्ष करने पर भी मुक्ति की अयोग्यता की अनुमिति का निर्वाह नहीं हो सकता, क्योंकि विवादास्पदत्व रूप से अतिरिक्त विशेष का ग्रहण नहीं होता । 'न्यूनता पुरुष का दोष है, वस्तु दोष नहीं । अतः पुरुष की न्यूनता मात्र से वादी का पराजय होने पर कथा की समाप्ति नहीं हो जाती है । तत्त्वनिर्णय की इच्छा रहने पर न्यूनता दोष नहीं है'—यह कहने पर भी स्त्रीमोक्षवादी की कोई हानि नहीं है, क्योंकि अब तक की कथा में स्त्री की मुक्ति की अयोग्यता के अनुमान में दोष बताया जा चुका है और कथा का आगे विस्तार होने पर उसमें भी दोष का प्रदर्शन किया जायगा ।

[स्त्रीत्व चारित्राभाव का प्रयोजक नहीं]

यह भी नहीं कहा जा सकता कि 'स्त्रियों में चारित्र का अभाव होता है,' क्योंकि स्त्रियों में चारित्राभाव होने में कोई प्रमाण नहीं है । 'स्त्रीत्व हेतु से चारित्राभाव का अनुमान होगा' यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि स्त्रीत्व चारित्राभाव का अप्रयोजक है—स्त्रीत्व में चारित्रा-भाव की व्याप्ति का ग्राहक तर्क नहीं है । यदि अप्रयोजक होने पर भी स्त्रीत्व से स्त्री में चारित्रा-भाव की सिद्धि की जाय तो पुरुषत्व से पुरुष में चारित्राभाव की सिद्धि क्यों न हो ?

चित्तपरिणतेः स्वसंवेदनाऽध्यक्षसिद्धत्वात्, अन्येषांचानुमानाद् न तत्सिद्धिः इति चेत् ? ननु सा स्त्रियां तथैव किं नावसीयते ? । अथ 'तासां भगवता नैर्ग्रन्थ्यस्यानभिधानाद् न तत्प्राप्तिः ।' असदेतत्, तासां तस्य भगवता "णो कप्पदि णिग्गंथस्स णिग्गंथीए वा अभिन्नतालपलंबे पडिगाहित्तए" इत्याद्यागमेन बहुशः प्रतिपादनात्, अयोग्यायाः प्रव्रज्याप्रतिषेधस्य विशेषाभ्यनुज्ञापरत्वाच्च । अथ सलज्जतया तासां चारित्रमूलमचेलत्वं न संभवति, अप्रावृतानां तासां तिरश्चीनामिव पुरुषैरभिभवनीयत्वात्, "नो कप्पइ णिग्गंथीए अचेलाए होत्तए" इति भगवदागमेनापि निषिद्धमेव नाग्न्यम्, इति न तासां चारित्रसंभव इति चेत् ? न, नाग्न्यं हि न चारित्राङ्गम्, लज्जारूपसंयमविघातित्वात् । न च धर्मोपकरणधरणेन परिग्रहः, तस्य मूर्च्छारूपत्वादिति प्रपञ्चितत्वादिति न किञ्चिदेतत् ।

न च (? ननु) स्त्रीणां स्वभावत एव मायाप्रकर्षवत्त्वमुज्जृम्भते; न च तत्प्रकर्षे निष्कषायपरिणामरूपं चारित्रमुज्जीवतीति चेत् ? न, चरमशरीरिणामपि नारदादीनां मायादिप्रकर्षवत्त्वश्रवणात् । 'तेषां संज्वलनी माया न चारित्रविरोधिनी'ति चेत् ? संयतीनामपि तादृश्येव सा किं न तथा ? ।

यदि यह कहा जाय कि–'पुरुष में पुरुषत्व से चारित्राभाव की सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि उसमें सकलसावद्ययोग की निवृत्तिरूप चित्तपरिणाम होता है, जो उसे स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से ज्ञात होता है। और अन्य पुरुषों को भी अनुमान द्वारा उसका ज्ञान होता है' –तो इस पर यह कहा जा सकता है कि यही बात स्त्रियों के सम्बन्ध में भी क्यों न मानी जाय ? यदि यह कहा जाय कि 'भगवानने स्त्रियों के निर्ग्रन्थ होने की बात नहीं कही है इसलिए उनमें उक्त प्रकार की चित्तपरिणति एवं चारित्र की प्राप्ति नहीं होती'—तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि भगवान ने "णो कप्पदि णिग्गंथस्स" इत्यादि आगम कि जिसका अर्थ है— 'निर्ग्रन्थ पुरुष अथवा निर्ग्रन्थी स्त्री के लिए अभिन्न तालप्रलम्बों का ग्रहण अकल्प्य है'—उससे अनेकशः स्त्रीयों में निर्ग्रन्थता का प्रतिपादन किया गया है। तथा अयोग्य स्त्री को जो प्रव्रज्या (सन्यास) का निषेध किया गया है इसका तात्पर्य विशेष स्त्री के लिए उसकी स्वीकृति में है। यदि यह कहा जाय कि—"स्त्रियां लज्जावती होती हैं अतः उनमें निर्वस्त्र होने का चारित्र सम्भव नहीं है, क्योंकि उनके वस्त्रहीन होने पर स्त्री जाति के पशु, पक्षी आदि के समान पुरुषों द्वारा उनका अपमान हो सकता है। भगवान ने भी, निर्ग्रन्थी की वस्त्रहीनता सम्भव नहीं है एतदर्थ आगम से उनकी नग्नता का निषेध किया है, अतः उनमें चारित्र सम्भव नहीं है"—तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि लज्जारूप संयम का विरोधी होने से 'नग्नता' चारित्र ही नहीं है। यह भी कहना उचित नहीं है कि 'वस्त्रादिरूप धर्मोपकरण को धारण करने से लज्जा का निर्वाह करने पर भी परिग्रहदोष होगा'—क्योंकि परिग्रह मूर्च्छारूप होने से उसके द्वारा उक्त आपत्ति नहीं हो सकती, यह पहले सिद्ध किया गया है। अतएव स्त्री की निर्ग्रन्थता के विरोध में जो कुछ कहा गया है वह 'कुछ नहीं' के बराबर है।

[मायाबहुलता के कारण सकल स्त्री में मुक्तिनिषेध अनुचित]

यदि यह कहा जाय कि— 'स्त्रियों में स्वभावतः माया का बाहुल्य होता है, और माया-बाहुल्य के रहते उनमें निष्कषायपरिणाम रूप चारित्र नहीं हो सकता'—यह ठीक नहीं है। क्योंकि नारद आदि अन्तिमदेहधारियों में भी माया आदि की बहुलता सुनी जाती है किन्तु

न च सर्वासां मायाप्रकर्षनियमोऽपि, स्वभावसिद्धाया अपि तस्या भूयसीषु विपरीतपरिणामेन निवृत्तिदर्शनात् । **एतेन** 'स्त्रियो न चारित्रपरिणामवत्यः, पुरुषापेक्षया तीव्रकामवत्त्वात्, नपुंसकवत्' **इत्यपास्तम्**, तीव्रस्यापि कामस्य भूयसीषु तासु श्रुतपरिशीलन—साधूपासनादिप्रसूतविपरीतपरिणामेन निवृत्तिदर्शनात् । **न च** मिथ्यात्वसहायेन महापापेन स्त्रीत्वस्य निर्वर्तनाद् न स्त्रीशरीरवर्तिन आत्मनश्चारित्रप्राप्तिरिति **शङ्कनीयम्**, सम्यक्त्वप्रतिपत्त्यैव मिथ्यात्वादीनां क्षयादिसम्भवात्; आस्त्रीशरीरं तदनुवृत्तौ तस्याः सम्यक्त्वादेरप्यपलापप्रसङ्गात् । उक्तं च 'सम्यक्त्वप्रतिपत्तिकाल एवान्तः(कोटा)कोटिस्थितिकानां सर्वकर्मणां भावेन मिथ्यात्वमोहनीयादीनां क्षयादिसंभवात्' इति । **न च** कक्षा—स्तनादिदेशेषु संसज्जनाद्यशुद्धेः प्राणातिपातबहुलत्वाद् न तासां चारित्रमिति **वाच्यम्**; शुद्धशरीराया अपि भूयस्या दर्शनात्, प्राणातिपातपरिणामाभावात् । यदि च स्त्रीणां चारित्रं न स्यात् तदा 'साधुः, साध्वी, श्रावकः, श्राविका च' इति चतुर्वर्णसंघव्यवस्थोत्सीदेत् ।

उतने मात्र से जैसे वे चारित्रहीन नहीं होते उसी प्रकार स्त्रियां भी माया होने पर भी चारित्रवती हो सकती हैं । इसके उपर यदि यह कहा जाय कि 'नारद आदि की माया तो संज्वलनी-कषायरूप होती है, अतः उससे चारित्र का विघात नहीं होता ।'—तो यह बात संयमसम्पन्ना स्त्री के सम्बन्ध में भी क्यों न मानी जाय कि उनकी माया भी संज्वलनीरूप होने से चारित्र का घातक नहीं होती । दूसरी बात यह है कि सब स्त्रियों में माया की बहुलता होने का नियम भी नहीं है । क्योंकि माया का स्वभाव सिद्ध होने पर भी बहुत सी स्त्रियों में विपरीत परिणाम (मायाविरोधी परिणाम) द्वारा उसकी निवृत्ति भी देखी जाती है ।

इस प्रसङ्ग में यह अनुमान भी कि 'स्त्रियां चारित्र परिणाम से शून्य होती हैं क्योंकि पुरुष की अपेक्षा वे प्रबल कामाग्निवाली होती हैं, जैसे कि प्रबल कामाग्निवाले नपुंसक' निरस्त हो जाता है । क्योंकि काम के तीव्र होने पर भी बहुत सी स्त्रियों में श्रुतपरिशीलन और साधु-संतों की उपासना आदि से उत्पन्न विरोधी परिणाम द्वारा उसकी निवृत्ति देखी जाती है । यह भी शङ्का कि 'मिथ्यात्व सहकृत महापाप से स्त्रीत्व की प्राप्ति होती है, अतः स्त्री शरीर में विद्यमान आत्मा में चारित्र की उत्पत्ति नहीं हो सकती' उचित नहीं है । क्योंकि सम्यक्त्व की प्रतिपत्ति से मिथ्यात्व आदि का क्षय हो सकता है, अतः स्त्री शरीर रहने तक मिथ्यात्व की अनुवृत्ति मानी जायगी तो स्त्री के सम्यक्त्व आदि का भी अपलाप हो जायगा । कहा भी गया है कि-मिथ्यात्व मोहनीय आदि जितने भी कर्म हैं वे सम्यक्त्व प्राप्तिकाल में ही अन्तः कोटा कोटी स्थिति वाले हो जाते हैं । उन सभी कर्मों की अधिक स्थिति का सम्यक्त्व प्रतिपत्तिमूलक परिणाम से क्षय आदि होता है । यह भी कहना कि—स्त्रियों के कक्षा कटि, कांख, स्तन आदि स्थानों में जीवसंसक्ति आदि अशुद्धि होने से अनेक कृमिकीट आदि के बहुल प्राणघात होने से स्त्रियों में चारित्र की उपपत्ति नहीं हो सकती—' ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसी भी बहुत स्त्रियां होती हैं जिनका शरीर शुद्ध होता है, जिनमें किसी भी जीव का प्राणघात आदि परिणाम नहीं होता । दूसरी बात यह है कि यदि स्त्रियों में चारित्र न होगा तो साधु, साध्वी, श्रावक तथा श्राविका इन चार वर्णों के संघ की व्यवस्था भी उच्छिन्न यानी नष्ट हो जायगी ।

अथाणुव्रतधारिणी श्राविकापि 'साध्वी' इत्येवं व्यपदिश्यत इति न दोष इति चेत्? हन्त! तर्हि केवलसम्यक्त्वधारिण्येव श्राविकाव्यपदेशमासादयेत्, एवं च श्रावकेष्वपि तथा द्वैविध्यप्रसङ्गेन पञ्चविधः संघः प्रसज्येत। अथ वेषधारिणी श्राविका 'साध्वी' इति व्यपदिश्यते, श्रावकस्तु तथाभूतस्तत्त्वतो यतिरेवेति चातुर्विध्यं व्यवतिष्ठत इति चेत्? नूनं गुणं विना वेषधारणे विडम्बक-चेष्टैव सा। एतेन 'एकोनषष्टिरेव जीवा यथा त्रिषष्टिशलाकापुरुषा व्यपदिश्यन्ते तथा त्रिविधोऽपि संघो विवक्षावशाच्चतुर्विधो व्यपदिश्यते' इति निरस्तम्, विवक्षाबीजाभावात्। स्यादेतत्-संभवतु नाम चारित्रलेशः स्त्रीणाम् यद्बलादिमाः साध्वीव्यपदेशमासादयेयुः, न तु मोक्षहेतुस्तत्प्रकर्षोऽपि तासु संभवी। मैवम्, स्त्रीत्वेन समं रत्नत्रयोत्कर्षस्य विरोधाऽसिद्धेः, तस्य शैलेश्यवस्थाचरम-

---

[संघ की चतुर्विधता के उच्छेद की आपत्ति अपरिहार्य]

यह भी नहीं कहा जा सकता कि-अणुव्रत के धारण करने वाली श्राविका भी साध्वी कही जाती है, अतः साध्वी के रूप से उसका ग्रहण करने पर चातुर्वर्णसंघ की व्यवस्था नष्ट होने का दोष नहीं हो सकता। —क्योंकि इस प्रकार विचार करने पर यह भी स्थिति उत्पन्न हो सकती है कि केवल सम्यक्त्व को धारण करने वाली स्त्री ही श्राविका कही जाय, और इसी प्रकार (श्राविका के समान) श्रावकों में भी अणुव्रतधारी एवं केवल सम्यक्त्व धारी रूप से द्वैविध्य हो जाने से चतुर्विधसंघ के स्थान में पञ्चविध संघ की प्रसक्ति हो जायेगी। इस प्रसङ्ग में यदि यह कहा जाय कि-"साध्वी जैसा वेष धारण करने वाली श्राविका ही साध्वी है, और श्रावक यदि साधु वेषधारी हो तो वह यति-साधुवर्ग में समाविष्ट होगा, अतः श्रावक में द्वैविध्य न होने से संघ के चतुर्विध होने की व्यवस्था अक्षुण्ण रह सकती है,"—तो इस कथन के सम्बन्ध में यही कहना पर्याप्त है कि गुण के बिना केवल वेष धारण करना विडम्बनाकारी की चेष्टा मात्र है। अतः वेषधारण मात्र से न कोई श्राविका साध्वी कही जा सकती है और न श्रावक 'यति—साधु' ही कहा जा सकता है। इस सन्दर्भ में क्षपणकों की ओर से जो यह कहा जाता है कि—"एक कम साठ ही जीव जैसे विवक्षा से शलाकापुरुष की गिनती में तीन सहित साठ शलाका पुरुष कहे जाते हैं उसी प्रकार साधु, श्रावक और श्राविका यह त्रिविध संघ ही विवक्षा से चतुर्विध कहा जाता है। अतः वास्तव अर्थ में साध्वी का अस्तित्व न मानने पर संघ के चातुर्विध्य की हानि किंवा उक्तरूप से श्राविका और श्रावक में द्वैविध्य होने से संघ के पञ्चविधत्व की आपत्ति का उद्भावन नहीं हो सकता,-" वह निरस्त हो जाता है, क्योंकि त्रिविध संघ की चतुर्विध रूप में विवक्षा का कोई बीज नहीं है।

[स्त्रीत्व चारित्रोत्कर्ष का विरोधी नहीं]

यदि यह कहा जाय कि—'स्त्रियों में चारित्र के सर्वथा अभाव की सिद्धि दुःशक होने से यदि उनमें चारित्र माना भी जाय तो वह स्वल्प मात्रा में ही मान्य होगा। जिसके आधार पर उन्हें साध्वी कहना सम्भव हो सकेगा; किन्तु मोक्ष के लिए जिस उत्कृष्ट चारित्र की अपेक्षा है वह स्त्री में न होने से स्त्री का मोक्ष नहीं हो सकता'—तो यह ठीक नहीं है। क्योंकि स्त्रीत्व के साथ चारित्र के उत्कर्ष का विरोध असिद्ध है, क्योंकि चारित्र का उत्कर्ष शैलेशी अवस्था के अन्तिम समय में होने से वह दृष्ट नहीं होता, जिससे स्त्रीत्व के साथ उसके विरोध की सिद्धि

समयभावित्वेनादृष्टत्वात्, तददर्शने च स्वभावत एव च्छाया-ऽऽतपयोरिव तयोः प्रत्यक्षेण विरोधाऽग्रहात्, प्रत्यक्षाऽप्रवृत्तौ चानुमानस्याऽप्रवृत्तेः, तस्य प्रत्यक्षमूलत्वात्, आगमस्य च तद्विरोधप्रतिपादकस्याऽश्रवणात्, प्रत्युत तदविरोधप्रतिपादकस्यैव जागरूकत्वात् । न च वाद-विक्रिया-चारणादिलब्धिविशेषहेतुसंयमविशेषविरहे कथं तासां तदधिकमोक्षहेतुतत्सत्त्वम् ? इति वाच्यम्, लब्धिविशेषहेतुसंयमविरहस्य मोक्षहेतुसंयमविरहाऽव्याप्यत्वात्, माषतुषादीनां लब्धिविशेषहेतुसंयमाभावेऽपि मोक्षहेतुतच्छ्रवणात्, क्षायोपशमिकलब्धिविरहेऽपि क्षायिकलब्धेरप्रतिघातात्, अन्यथावधिज्ञानादिकमुपमृद्य केवलज्ञानस्याऽप्रादुर्भावप्रसङ्गात् । आह च— [ ]

"वादविकुर्वणत्वादिलब्धिविरहे श्रुते कनीयसि च ।
जिनकल्प-मनःपर्ययविरहेऽपि न सिद्धिविरहोऽस्ति ॥ १ ॥" इति ।

एतेन 'स्त्रीणां वेद-मोहनीयादिकर्मणः पुरुषापेक्षया प्रबलत्वात्, प्रबलस्य च कर्मणः प्रबले-

---

की सम्भावना की जाय । स्पष्ट है कि जब उसका दर्शन नहीं होता तो छाया और आतप के समान उसमें और स्त्रीत्व में स्वभावतः ही विरोध का प्रत्यक्ष अवधारण नहीं हो सकता । प्रत्यक्ष के सम्भव न होने पर अनुमान भी नहीं सम्भव हो सकता, क्योंकि अनुमान प्रत्यक्षमूलक होता है । आगम से भी स्त्रीत्व और चारित्र प्रकर्ष का विरोध नहीं सिद्ध हो सकता, क्योंकि उसके विरोध का बोधक कोई आगम उपलब्ध नहीं है । अपितु उन दोनों के अविरोध का प्रतिपादक ही आगम उपलब्ध है । यदि यह कहा जाय कि-'इनमें जब वाद, विक्रिया, चारण आदि लब्धि विशेष के हेतुभूत संयमविशेष का अभाव होता है तो मोक्ष का हेतुभूत संयम विशेष जो उक्त संयम विशेष से अधिक है वह उनमें कैसे हो सकता है ?'—तो यह ठीक नहीं है क्योंकि लब्धिविशेष के हेतुभूत संयम का अभाव मोक्ष के हेतुभूत संयम के विरह का व्याप्य नहीं है, जिससे उक्त कथन का औचित्य हो सके ।

यह भी ज्ञातव्य है कि लब्धिविशेष के हेतुभूत संयम के न होने पर भी मोक्षकारक संयम विशेष का सद्भाव हो सकता है । जैसा कि-माषतुषमुनि आदि में लब्धिविशेष के हेतुभूत संयम का अभाव होने पर भी मोक्ष के हेतुभूत संयम का सद्भाव सुना जाता है, साथ ही यह भी तथ्य है कि क्षयोपशम जन्य लब्धि के अभाव में क्षयमूलक लब्धि की उत्पत्ति निर्बाध है । यदि ऐसा न माना जायगा तो अवधिज्ञान आदि का अतिक्रमण करके भी जो केवलज्ञान का प्रादुर्भाव प्रमाणसिद्ध है वह न हो सकेगा । कहा भी गया है कि 'जब वाद-विकुर्वणत्व आदि लब्धि का अभाव होता है तथा श्रुतज्ञान अल्प होता है और जिनकल्प मनःपर्ययज्ञान का अभाव होता है तब भी केवलज्ञान की सिद्धि का अभाव नहीं होता ।'

[प्रबलकर्मता स्त्री-पुरुष साधारण]

इस सन्दर्भ में क्षपणकों की ओर से एक यह भी बात कही जाती है कि-"स्त्रियों का वेदमोहनीय आदि कर्म पुरुष के वेदमोहनीय आदि कर्म की अपेक्षा बलवान होते हैं । और प्रबल कर्म का नाश प्रबल अनुष्ठान से ही हो सकता है । यदि ऐसा न माना जायगा तो जिनकल्प आदि का उच्छेद हो जायगा । जिणकप्पिया......इत्यादि आगम वाक्य में स्त्री को जिनकल्प होने का निषेध किया गया है । अतः स्त्रियों में विशिष्ट चारित्र न होने से उनके प्रबल

नैवानुष्ठानेन क्षपणयोग्यत्वात् ; अन्यथा जिनकल्पाद्युच्छेदापत्तेः, स्त्रीणां च "जिणकप्पिया इत्थी ण हवइ" इत्याद्यागमेन जिनकल्पनिषेधात्, विशिष्टचारित्राभावात् कथं प्रबलकर्मक्षपणम्, तदभावे च कथं मोक्षः ?' इति निरस्तम्, पुरुषेभ्यः प्रबलकर्मत्वस्यैव स्त्रीणामसिद्धेः, स्त्रीवेदस्य पुंवेदापेक्षया प्राबल्येऽपि तस्य पुरुषेष्वप्यबाधितत्वात्, नैरन्तर्येण प्रज्वलनस्य चाऽनियतत्वात् ; क्वचित् स्त्रीत्वसहचरितदोषप्राबल्येऽपि क्वचित् पुंस्त्वसहचरितदोषप्राबल्यस्यापि दर्शनात् । अस्तु वा पुरुषापेक्षया स्त्रीणां प्रबलकर्मत्वम्, तथापि तासां भाववैचित्र्यादेव विचित्रकर्मक्षयः संभवी । नन्वेवं विशिष्टविहारं विना भाववैचित्र्यसंभावनया जिनकल्पिकादीनां जिनकल्पादौ प्रवृत्तिर्न स्यादिति चेत् ? न, शक्त्यनिगूहनेन संयमवीर्योल्लास एव हि चारित्रं परिपूर्यते "जइ संजमे वि विरियं ण णिगूहिज्जा ण हाविज्जा" इत्यागमात् । जिनकल्पिकादीनां च स्थविरकल्पापेक्षया विशिष्टमार्गे जिनकल्पादौ शक्तानां विपरीतशङ्कया तत्र शक्तिनिगूहने चारित्रमेव हीयेत, कुतस्तरां तदतिरेकाधीनभाववैचित्र्यप्राप्तिसंभावना ? । स्त्रीणां तु विशिष्टमार्गे शक्तिरेव न, इति स्वोचितचारित्रे शक्तिमनिगूह्य वर्तमानानां न नाम शक्तिनिगूहनाधीना चारित्रहानिरस्ति । एवं चोत्तरोत्तरं चारित्रवृद्धिरेव तासां संभवति । इति भाववैचित्र्याधीनो विचित्रकर्मक्षयः । इदमेवाभिप्रेत्योक्तम्—

कर्म की निवृत्ति कैसे हो सकती है ? और कर्म की निवृत्ति न होने पर उन्हें मोक्ष की प्राप्ति कैसे हो सकती है ।" —किन्तु यह बात भी निरस्त हो जाती है, क्योंकि पुरुष की अपेक्षा स्त्री में प्रबलकर्म का होना असिद्ध है । पुरुषवेद की अपेक्षा स्त्रीवेद के प्रबल होने पर भी पुरुष में प्रबलकर्म होने में कोई बाधा नहीं है । स्त्री में निरन्तर कामाग्नि प्रज्वलन का होना भी नियत नहीं है: और यदि किसी व्यक्तिविशेष में स्त्रीत्व के साथ दोष की प्रबलता देखी जाती है तो किसी व्यक्तिविशेष में पुंस्त्व के साथ भी दोष की प्रबलता देखी जाती है । यदि पुरुष की अपेक्षा स्त्री में प्रबलकर्म का सद्भाव मान भी लिया जाय तो उससे कोई हानि नहीं हो सकती, क्योंकि स्त्री के भाव वैचित्र्य से स्त्री के प्रबल कर्म की निवृत्ति हो सकती है ।

[जिनकल्पी मुनियों की जिनकल्पप्रवृत्ति का उच्छेद संभव नहीं]

यदि यह कहा जाय कि-'भाववैचित्र्य से प्रबल कर्म का क्षय मानने पर विशिष्ट विहार के बिना भी भाववैचित्र्य सम्भव होने से जिनकल्पी मुनियों की जिनकल्प आदि कठोर आचरण में प्रवृत्ति नहीं होगी'-तो यह ठीक नहीं है । क्योंकि शक्ति का निगूहन न होने पर संयमवीर्य के उत्कर्ष से ही चारित्र की पूर्णता हो जाती है । जैसा कि 'यदि संयमेऽपि वीर्यं न निगूहेद् न हापयेत्'—यदि संयम के विषय में वीर्य का निगूहन न हो एवं उसकी हानि न हो' इस आगम वाक्य से प्रकट है । प्रश्न हो सकता है कि जिनकल्पिकादि मुनि में स्थविरकल्प की अपेक्षा जिनकल्प आदि विशिष्ट मार्ग में जाने की अधिक शक्ति होने पर भी किसी विपरीत शङ्का से यदि वह शक्ति का निगूहन करता है तो उसके चारित्र की ही हानि होगी, फिर उनमें चारित्र के आधिक्य से होने वाले भाववैचित्र्य की सम्भावना कैसे हो सकती है ? स्त्रियों की बात अलग है, क्योंकि स्त्रियों में विशिष्ट मार्ग पर चलने की शक्ति ही नहीं होती । इसलिए वे शक्ति का निगूहन न कर यदि अपने उचित चारित्र के लिए प्रवृत्त होती हैं तो उनमें शक्ति निगूहन प्रयुक्त चारित्रहानि नहीं हो सकती । अपितु उत्तरोत्तर उनके चारित्र की वृद्धि होती

"जिनवचनं जानीते श्रद्धत्ते चरति चार्यिका शबलम् । नास्यास्त्यसंभवोऽस्या नादृष्टविरोधगतिरस्ति ॥१॥" इति ।

अथ 'विप्रतिपन्नाऽबलाऽशेषकर्मक्षयानिबन्धनाध्यवसायविकला, अविद्यमानाधःसप्तमनरकप्राप्त्यविकलकारणकर्मबीजभूताध्यवसानत्वात्, यो नैवं स नैवम्, यथा संप्रतिपन्नपुरुषः' इति व्यतिरेकिणः स्त्रीषु मुक्तिहेत्वध्यवसायाभावः सिध्यतीति चेत् ? न, अबलातो निवर्त्तमानस्य यथोक्ताध्यवसानस्य मुक्तिहेत्वध्यवसायनिवर्त्तकत्वे तत्कारणत्वस्य तद्व्यापकत्वस्य वा तन्त्रत्वात् । आह च **न्यायवादी**—

"तस्मात् तस्माद् न संबद्धः स्वभावो भावमेव वा ।
निवर्त्तयेत् कारणं वा कार्यमव्यभिचारतः ॥ १ ॥ इति ।

न च तत्कारणत्वं तद्व्यापकत्वं वात्र संभवति, योगिनोऽपि यथोक्ताध्यवसानावश्यंभावे नरकप्राप्तिप्रसङ्गात्; अन्यथा तदविकलकारणत्वाऽयोगात् । अपि च, नाधोगतिविषये मनोवीर्यपरिणतिवैषम्यदर्शनादूर्ध्वगतावपि तद्वैषम्यं कल्पयितुं शक्यम्, येनोत्कृष्टाशुभमनोवीर्यपरिणतिविरहे उत्कृष्टशुभमनोवीर्यपरिणतिविर-

---

है । अतः भाववैचित्र्य से उनके विचित्र कर्म का क्षय होना निर्विवाद है । इसी आशय से कहा गया है कि 'आर्या–साध्वी को जिनवचन का ज्ञान है और उस पर उसकी श्रद्धा है एवं तदनुसार विचित्र आचरण भी करती है तो उसमें चारित्र असम्भव नहीं है, तथा अदृष्ट विरोध का प्रसङ्ग भी नहीं है ।'

[सप्तमनरकप्रापक अध्यवसाय का अभाव अकिंचित्कर]

यदि स्त्री मोक्ष के विरोध में यह कहा जाय कि—'स्त्री में अशेष कर्मक्षय–मोक्ष का अभाव इस प्रकार के व्यतिरेकी अनुमान द्वारा सिद्ध है कि मोक्ष की अधिकारिणी होने न होने के संशय की विषयभूत स्त्री में, सम्पूर्ण कर्मों के क्षय के कारणभूत अध्यवसाय का अभाव है, क्योंकि उसमें ऐसे अध्यवसाय का अभाव है जो अधोगति में सप्तमनरक की प्राप्ति के अविकल कारणभूत कर्म का बीजरूप हो, जिसमें मोक्ष के हेतुभूत अध्यवसाय का अभाव नहीं होता उसमें उक्त प्रकार के कर्म के बीजभूत अध्यवसाय का अभाव भी नहीं होता, जैसा कि सम्प्रतिपन्न— मुक्तिगामी पुरुष में सिद्ध है'—तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि यह तभी हो सकता है जब उक्त कर्म के बीजभूत अध्यवसाय मोक्ष के हेतुभूत अध्यवसाय का कारण हो अथवा व्यापक हो । क्योंकि कारण की निवृत्ति से कार्य की निवृत्ति और व्यापक की निवृत्ति से व्याप्य की निवृत्ति होती है ।

न्यायवादी ने भी कहा है कि–'किसी अभाव से किसी अभाव का अनुमान करने में अनुमापक अभाव के प्रतियोगी में अनुमेय अभाव के प्रतियोगी की कारणता अथवा व्यापकता ही प्रयोजक होता है अतः कारण और व्यापक जहाँ असम्बद्ध–अवृत्ति होता है वहाँ क्रम से कार्य और व्याप्य का निवर्तक होता है, क्योंकि कारणाभाव और व्यापकाभाव में कार्याभाव और व्याप्याभाव का अव्यभिचार है ।' प्रकृत में उक्तविध कर्म के बीजभूत अध्यवसान में अशेषकर्मक्षय के कारणभूत अध्यवसान की कारणता किंवा व्यापकता सम्भव नहीं है । क्योंकि योगी में सप्तमनरकायुःबन्धोचित अध्यवसाय के न होने पर भी मुक्तिप्रापक अध्यवसाय होता है । यदि उसमें सप्तमनरकायुःबन्ध कारणभूत उक्तविध कर्म के बीजभूत अध्यवसान को अवश्य मानेंगे तो उसे नरकप्राप्ति की आपत्ति अवश्य होगी, और यदि ऐसा न होगा तो उसमें नरक

हस्तासां स्यात् । यतो भुजपरिसर्पाः, पक्षिणः, चतुष्पदाः, उरगाश्चाधोगतावुत्कर्षतो यथाक्रमं द्विती-
याम्, तृतीयाम्, चतुर्थीम्, पञ्चमीं च पृथ्वीं गच्छन्ति; ऊर्ध्वं तु सहस्रारं यावदेवेति । **स्यादेतत्**-
तेषामूर्ध्वाऽधोगतिवैषम्यं भवस्वाभाव्यादेव, स्त्रीणां तु न तथा, नरभवे सप्तमनरकपृथिव्यामपि गमन-
संभवात्; तस्मात् स्त्रीपर्यायस्यैवायं स्वभावः, यत इमाः सप्तमनरकपृथिव्यां न गच्छन्ति, इति
'मोक्षेऽपि ता न गच्छन्ति' इति कुतो नासां स्वभावः ? इति । **मैवम्**, तथा कारणसंपत्त्यसंपत्ति-
भ्यामेव तथास्वाभाव्यनिर्वाहात्, स्त्रीणां सप्तमनरकगमनकारणाऽसंपत्तौ तद्गमनाऽस्वाभाव्येऽपि मुक्ति-
कारणसंपत्त्या तद्गमनस्वाभाव्याऽबाधात् ।

एतेन 'ऊर्ध्वगतिपरमोत्कर्ष एवाधोगतिपरमोत्कर्षव्याप्यः, **प्रसन्नचन्द्रादौ** तथा दर्शनात्, तेना-
न्तरालिकवैषम्यदर्शनेऽपि न क्षतिः' इति **निरस्तम्** । किञ्च, स्त्रीणां सप्तमनरकपृथ्वीप्राप्तिनिबन्धनाध्य-

---

प्राप्ति की अविकल कारणता ही नहीं होगी । इससे स्पष्ट है कि योगी में उक्त अध्यवसाय नहीं
होता, फिर भी अशेषकर्मक्षय का हेतुभूत अध्यवसाय होता है । इसलिए उक्त अध्यवसान में अशेष-
कर्मक्षय के हेतुभूत अध्यवसाय की कारणता एवं व्यापकता असिद्ध है ।

यह भी ज्ञातव्य है कि अधोगति के सम्बन्ध में मन की वीर्यपरिणतियों में विषमता के
होने से ऊर्ध्वगति के विषय में भी मन की वीर्यपरिणति में विषमता की कल्पना शक्य नहीं है,
जिससे कि स्त्रियों में मनोवीर्य की उत्कृष्ट शुभ परिणति का अभाव होने पर उनमें उत्तरोत्तर
मनोवीर्य की उत्कृष्ट शुभपरिणति का भी अभाव सिद्ध किया जाय ! क्योंकि, भुजपरिसर्प-
हाथ से गति करने वाले प्राणी, पक्षी, चतुष्पद-चौपाये और उरग-सर्पादि, अधोगति में उत्कर्षतः
क्रम से द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ और पञ्चम पृथ्वी में जाते हैं । फिर भी ऊर्ध्वगति में सहस्रार
(आठवें देवलोक) पर्यन्त जा सकते हैं ।

[स्त्री में ऊर्ध्वाधोगतिवैषम्य का प्रयोजक कारणवैषम्य]

यदि यह कहा जाय कि-'भुजपरिसर्पादि जीवों की ऊर्ध्व और अधोगति में जो वैषम्य
होता है वह तो उनके जन्मस्वभाव के ही कारण होता है किन्तु स्त्रियों में यह बात नहीं है,
क्योंकि मनुष्यभव में सप्तमनरक में भी मनुष्य का गमन हो सकता है, इसलिए भवस्वभाव
नहीं किन्तु स्त्रीपर्याय का ही यह स्वभाव है कि उस पर्याय से स्त्रियों का सप्तमनरक में गमन
नहीं होता और इसी कारण से मोक्ष में भी उनका गमन नहीं होता-ऐसा क्यों न माना जाय ?'
-तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि स्त्री पर्याय में मोक्षगमन के कारण की सम्पत्ति और सप्तम-
नरक गमन के कारण की असम्पत्ति से ही स्त्री पर्याय के उक्त स्वभाव का निर्वाह हो सकता
है । यतः सप्तमनरक में गमन करने के कारणों की सम्पत्ति न होने से सप्तमनरक में न जाने
का स्वभाव होने पर भी मोक्ष कारण की सम्पत्ति से मोक्ष में गमन करने का स्वभाव होने
में कोई बाधा नहीं है ।

[ऊर्ध्वाधोगतिप्रकर्ष में व्याप्यव्यापकभाव निरसन]

इस सन्दर्भ में स्त्रीमोक्षविरोधियों का यह भी कहना है कि-'ऊर्ध्वगति का परमोत्कर्ष
अधोगति के परमोत्कर्ष का व्याप्य है' यह बात 'प्रसन्नचन्द्र' आदि के सम्बन्ध में दृष्ट है ।
अतः आन्तरालिक वैषम्य नरकपर्याय में भुजपरिसर्पादि में द्वितीयादिनरकावधिक अधोगति प्रकर्ष

वसायाभावः कुतः प्रतिपन्नः ? 'आप्तागमादि'ति चेत् ? तदाऽशेषकर्मशैलवज्रभूतशुभाध्यवसायोऽपि तत एवाध्यवसीयताम् । न ह्यतीन्द्रिय एवंविधेऽर्थेऽस्मदादेरर्वाग्दृश आप्तागमादृतेऽन्यद् बलवत्तरं प्रमाणमस्ति । न च इष्टेष्टाऽविरोध्याप्तवचनमसत्तर्कानुसारिजातिविकल्पैर्बाधामनुभवति, तेषां प्राप्ताऽप्राप्तत्वापादकमतङ्गजविकल्पवदवस्तुसंस्पर्शित्वात् । तदुक्तं भर्तृहरिणा--

"अतीन्द्रियानसंवेद्यान् पश्यन्त्यार्षेण चक्षुषा । ये भावान्, वचनं तेषां नानुमानेन बाध्यते ॥१॥" इति ।

न चाप्तवचनं स्त्रीनिर्वाणप्रतिपादकमप्रमाणम्, सप्तमनरकप्राप्तिप्रतिषेधकं च प्रमाणमिति वक्तुं शक्यम्, उभयत्राप्याप्तप्रणीतत्वादेः प्रामाण्यनिबन्धनस्याऽविशेषात् । न चैकमाप्तप्रणीतमेव न भवतीति वाच्यम्, इतरत्राप्यस्य सुवचत्वात्, पूर्वापरोपनिबद्धाशेषदृष्टाऽदृष्टप्रयोजनार्थप्रतिपादकावान्तरवाक्यसमू-

का अभाव और देवपर्याय में ८ वे स्वर्ग तक गमन प्रकर्ष रूप वैषम्य के दिखाई देने पर भी कोई हानि नहीं है, क्योंकि स्त्रीपर्याय में अधोगति का प्रकर्षरूप व्यापक के न होने से ऊर्ध्व-गति प्रकर्षरूप व्याप्य के अभाव की सिद्धि हो सकती है ।'-किन्तु यह कथन भी उक्तरीति से स्त्रीपर्याय में मोक्षगमन की सयुक्तिकता सिद्ध होने से निरस्त होता है । उक्त के अतिरिक्त यह भी विचारणीय है कि स्त्रीयों में सप्तमनरकभूमि की प्राप्ति के कारणभूत अध्यवसान का अभाव किस प्रमाण से सिद्ध होता है ? यदि आप्तआगम से, तो उसी से स्त्रियों में अशेषकर्म-रूप पर्वत भेदन के लिए वज्रतुल्य अध्यवसाय की सत्ता का भी स्वीकार कर लेना उचित है, क्योंकि इस प्रकार के अतीन्द्रिय विषयों के सम्बन्ध में हम जैसे स्थूलदर्शी लोगों के लिए आगम को छोड कर दूसरा कोई बलवत्तर प्रमाण नहीं है । यतः इष्ट-इष्ट का अविरोधी आगमवचन असत् तर्क पर अवलम्बित जात्यात्मक (दूषणाभास स्वरूप) विकल्पों से बाधित नहीं हो सकता। क्योंकि वे विकल्प, प्राप्तत्व एवं अप्राप्तत्व के आपादक मतङ्गज विकल्प के समान अवस्तुविषयक है । जैसा कि भर्तृहरि ने कहा है कि-'जो महापुरुष अतीन्द्रिय ज्ञेयभावों को आर्षदृष्टि से देखते हैं उनका वचन अनुमान से बाधित नहीं होता ॥ १ ॥'

यह नहीं कहा जा सकता कि 'स्त्री के मोक्ष का प्रतिपादक आगम का वचन अप्रमाण है, और सप्तमनरक की प्राप्ति का निषेध करने वाला वचन प्रमाण है ।'-क्योंकि दोनों ही वचनों में प्रामाण्य का प्रयोजक आप्तप्रणीतत्व समानरूप से विद्यमान है । यह कहना भी ठीक नहीं है कि 'स्त्रीमोक्ष का प्रतिपादक वचन आप्तरचित ही नहीं है'-क्योंकि यह बात स्त्री को सप्तम-नरक प्राप्ति के निषेध वचन में भी कही जा सकती है । क्योंकि जैनागम पूर्वापर सम्बद्ध एवं दृष्ट-अदृष्ट अर्थरूप प्रयोजन के प्रतिपादक अवान्तर वाक्यों का समूहरूप होने से एक है इसी लिये किसी अवान्तर वाक्य को अप्रमाण मानने पर उससे घटित समूचे आगम में अप्रामाण्य की आपत्ति होगी ।

[ज्ञानपरमप्रकर्ष में स्त्रीवृत्तित्वाभाव का साधन दुष्कर]

इस सन्दर्भ में यह अनुमान भी कि-'ज्ञान का परमप्रकर्ष स्त्री में नहीं होता, क्योंकि वह परमप्रकर्षरूप है, जो परमप्रकर्ष होता है वह स्त्री में नहीं होता, जैसे-सप्तमनरक पृथ्वी में गमन का प्रयोजक अपुण्य (पाप) का परमप्रकर्ष'-निरस्त हो जाता है । क्योंकि स्त्री में

ज्ञात्मकैकमहावाक्यरूपतयार्हदागमस्यैकत्वात्, अवान्तरवाक्यविशेषाऽप्रामाण्ये सर्वस्याप्यागमस्याऽप्रामाण्यप्रसक्तेः । **एतेन** "ज्ञानादिपरमप्रकर्षो न स्त्रीवृत्तिः, परमप्रकर्षत्वात्, सप्तमनरकपृथ्वीगमनाऽपुण्यपरमप्रकर्षवत्' इत्यपि **निरस्तम्**, मोहनीयस्थिति–स्त्रीवेदपरमप्रकर्षेण च व्यभिचारात्; सप्तमनरकपृथ्वीगमनापुण्यजातीयपरमप्रकर्षत्वस्य हेत्वर्थत्वे च हेतोः पक्षाऽवृत्तित्वात्, आत्मपरिणामत्वजात्या तज्जातीयविवक्षायां चोक्तदोषतादवस्थ्यात् । 'चारित्रप्रकर्षो न स्त्रीवृत्तिः, गुणप्रकर्षत्वात्, श्रुतज्ञानप्रकर्षवत्' इत्यत्रापि सम्यग्दर्शनप्रकर्षेण व्यभिचारः, ज्ञानप्रकर्षं विनापि चारित्रप्रकर्षस्य **माषतुषादौ** सिद्धत्वेनाऽप्रयोजकत्वं चेति न किञ्चिदेतत् । **एतेन** च 'पुंस्त्वेनैव लघुना मुक्तिस्वरूपयोग्यता, न तु गुरुणाऽक्लीबत्वेन, इति न स्त्रीणां मुक्तिः' इति कल्पनाप्यपास्ता, भव्यत्वेनैव सिद्धौ स्वरूपयोग्यत्वात्, क्वचित् कदाचिदितरकारणविलम्बादेव कार्यविलम्बात् । यदि च पुंस्त्वस्यापि मनुष्यत्वादिवद् ज्ञानादि-

---

मोहनीय और स्त्रीवेद की उत्कृष्टस्थिति होती है, अतः परमप्रकर्षत्वरूप हेतु मोहनीय की उत्कृष्टस्थिति और स्त्रीवेद की उत्कृष्टस्थितिरूप परम प्रकर्ष में, स्त्रीवृत्तित्वाभाव का व्यभिचारी है । यदि कहें कि-उक्त अनुमान में सप्तमनरक पृथ्वी में गमन के प्रयोजक अपुण्य के सजातीय परमप्रकर्षत्व को ही हेतु किया जाय तो, स्त्रीवेद के परमप्रकर्ष में स्त्रीवृत्तित्वाभावरूप साध्य के समान उक्त हेतु का भी अभाव होने से व्यभिचार नहीं होगा'–तो यह तो ठीक है किन्तु इस रूप में प्रयुक्त हेतु पक्ष में असिद्ध है। यतः ज्ञानप्रकर्षरूप पक्ष उक्त अपुण्य प्रकर्ष का सजातीय न होने से उसमें यह हेतु अविद्यमान है । और यदि आत्मपरिणामत्व रूप से उक्त अपुण्य के सजातीय परमप्रकर्षत्व को हेतु किया जायगा तो पक्षासिद्धि दोष का परिहार हो जाने पर भी पहले कहे गये व्यभिचार दोष ज्यों का त्यों बना रहेगा। वह इस प्रकार-स्त्रीवेद का परमप्रकर्ष भी आत्मपरिणामत्वरूप से उक्त अपुण्यप्रकर्ष का सजातीय ही है । अतः उसमें यह हेतु विद्यमान है तथा स्त्रीवृत्तित्वाभावरूप साध्य अविद्यमान है ।

यदि यह अनुमान किया जाय कि चारित्रप्रकर्ष गुणप्रकर्षरूप होने से श्रुतज्ञान के परमप्रकर्ष के समान स्त्री में अवृत्ति है'–तो यह भी ठीक नहीं है । क्योंकि इस अनुमान में प्रयुक्त गुणप्रकर्षत्वरूप हेतु सम्यक्दर्शन प्रकर्ष में स्त्रीवृत्तित्वाभाव का व्यभिचारी है । तथा ज्ञान प्रकर्ष के बिना भी चारित्र का प्रकर्ष माषतुष मुनि आदि में सिद्ध है, अतः ज्ञान–प्रकर्ष में स्त्रीवृत्तित्व का अभाव चारित्रप्रकर्ष में स्त्रीवृत्तित्वाभाव का अप्रयोजक है । अत एव स्त्रीमोक्ष के विरोध में उक्त प्रकार के अनुमान आदि के प्रयोग का प्रयास भी नहीं के बराबर है ।

[क्लिबभिन्नत्वरूप स्वरूपयोग्यता का समर्थन]

इस सन्दर्भ में स्त्री–मोक्ष के विरोधियों का यह कहना कि-'मोक्ष के प्रति क्लिबभिन्नत्व की अपेक्षा पुंस्त्व रूप से स्वरूपयोग्यता मानने में लाघव है, अतः पुरुषत्व को ही स्वरूपयोग्यता मानना है और यह पुंस्त्वहीन होने से स्त्री में नहीं है, अतः स्त्री को मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती, क्योंकि जिस में जिस कार्य की स्वरूपयोग्यता होती है उसी में वह कार्य उत्पन्न होता है'-परन्तु यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि पुंस्त्व की अपेक्षा भव्यत्व रूप से ही मोक्ष के प्रति स्वरूपयोग्यता उचित है, पुंस्त्व तो अभव्य पुरुष में भी रहता है और उसका मोक्ष नहीं होता, अतः पुंस्त्वरूप से मोक्ष की स्वरूपयोग्यता स्वीकार नहीं हो सकती

संपादकतया परम्परया मोक्षाङ्गता कल्प्यते, तदा स्त्रीत्वेनापि एवमेषा कल्पनीया, गुरुणाप्यक्लीबत्वेन वा; लाघवमात्रेणागमस्यापवदितुमशक्यत्वात् , परस्यापि स्त्री-क्लीबयोरन्यत्रयोः कारणविघटकत्वकल्पने गौरवसाम्याच्च ।

न च पुरुषानभिवन्द्यत्वात् स्त्रीणां न मुक्तिरित्यभिधानीयम् ; असिद्धेः, भगवज्जनन्यादीनां जगद्वन्द्यत्वश्रवणात् , आचार्यानभिवन्द्यत्वेन शिष्ये, साधुमात्रानभिवन्द्यत्वेन शैक्षे वा व्यभिचारात् , पुरुषानभिवन्द्यत्वस्य मुक्तिप्राप्त्यभावव्याप्यत्वेनाऽप्रयोजकत्वाच्च । यदि च तदनभिवन्द्यत्वेन तदपेक्षयानुत्तमगुणत्वाद् न स्त्रीणां मुक्तिरितीष्यते, तदा तीर्थकृद्गुणापेक्षया गणधरादेरप्यनुत्तमत्वाद् मुक्तिप्राप्तिर्न भवेत् । अथाऽशेषकर्मक्षयनिबन्धनस्याध्यवसायस्य गणधरादिषु तीर्थकृदपेक्षया तुल्यत्वादयमदोषः, तदा समानमेतदार्यिकास्वपि । यदि च तीर्थस्य भगवदभिवन्द्यत्वात् प्रथमगणधरस्यापि तीर्थशब्दाभिधेयत्वेन

भव्यत्वरूप से स्वरूप योग्यता में कोई आपत्ति नहीं है। क्योंकि कभी यदि किसी भव्य को मोक्ष की प्राप्ति में विलम्ब होता है तो वह उसकी अयोग्यता के कारण नहीं होता, अपितु मोक्ष के इतर कारण के समवधान में विलम्ब होने के नाते होता है।

यदि स्त्री-मोक्ष के विरोधी वर्ग, इस सन्दर्भ में यह कहें कि 'मनुष्य के समान पुंस्त्व भी ज्ञानादि का प्रयोजक होने से परम्परया मोक्ष का प्रयोजक है अतः जैसे मोक्ष के उपायभूत ज्ञान की प्राप्ति के लिए मनुष्य होना आवश्यक है उसी प्रकार पुरुष होना भी आवश्यक है अतः स्त्री का मोक्ष नहीं हो सकता।'-तो इसके विरोध में स्त्रीमोक्षवादी यह कहेगा कि जैसे पुंस्त्व ज्ञानप्राप्ति का प्रयोजक है उसी प्रकार स्वतन्त्ररूप से स्त्रीत्व भी ज्ञानप्राप्ति का प्रयोजक है। अथवा पुंस्त्व और स्त्रीत्व को प्रयोजक न मान कर गुरुभूत भी क्लिबभिन्नत्व को ही ज्ञान प्राप्ति का प्रयोजक मानना उचित है। केवल पुंस्त्व को ज्ञानप्राप्ति का प्रयोजक मानने में लाघव होने के आधार पर स्त्रीमोक्ष के प्रतिपादक आगम को बाधित करना अशक्य है। इस प्रसङ्ग में क्लिबभिन्नत्व को ज्ञानप्राप्ति अथवा मोक्षप्राप्ति के प्रति प्रयोजक मानने में स्त्रीमोक्ष विरोधियों की ओर से गौरव बताया जाता है; उसका भी कोई औचित्य नहीं है क्योंकि स्त्रीमोक्ष विरोधियों को भी स्त्री और क्लिब में मोक्षप्राप्ति के विघटन के प्रयोजक की कल्पना करने में गौरव अपरिहार्य है, क्योंकि स्त्रीत्व-क्लिबत्व अन्यतररूप से मोक्षकारणविघटकत्व मानना पडेगा।

[पुरुष से अनभिवन्द्यत्व का निरसन]

इस सन्दर्भ में यह भी कहना कि-स्त्रियाँ पुरुषों की अभिवन्दनीय नहीं होती, अतः उनका मोक्ष नहीं होता'- ठीक नहीं है। क्योंकि स्त्रियों का पुरुषों से अभिवन्दनीय न होना असिद्ध है। यतः ऐसा सुना जाता है कि भगवान अर्हन् की माता आदि समूचे जगत के लिये वन्दनीय हैं। 'आचार्यद्वारा अभिवन्दनीय न होने, किंवा साधु मात्र द्वारा अभिवन्दनीय न होने' मात्र से भी स्त्री के मोक्षाभाव का साधन नहीं हो सकता क्योंकि पहला हेतु शिष्य में और दूसरा हेतु साधुभाव की शिक्षा ग्रहण करने वाले नूतन दीक्षितव्यक्ति में मोक्ष का व्यभिचारी है; क्योंकि वे दोनों भी ज्ञान चारित्र आदि का प्रकर्ष प्राप्त होने पर मोक्ष लाभ करते हैं किंतु आचार्यादि के लिये वन्द्य नहीं होते। मुख्य बात तो यह है कि पुरुष द्वारा अभिवन्द-

तथात्वाद् न दोषः, तदा चातुर्वर्ण्यश्रमणसंघस्यापि तीर्थशब्दाभिधेयत्वादार्यिकाणामपि तत्रान्तर्भावात् तुल्यमेतत् । यत्तु 'धर्मे पुरुषोत्तमत्वविपर्ययशङ्कया स्त्रीणां चारित्रग्रहणं न युक्तम्' इति; तदसभ्यप्रलपितम्; आज्ञाशुद्धभावेन यथाशक्ति प्रवर्तमानानामार्यिकाणामीदृशशङ्कानुदयात्, तस्याः पापजन्यत्वात् । अत एव 'भगवतामनलङ्कृतविभूषितत्वादिविपर्ययधीप्रसङ्गादाभरणादिभिर्विभूषा न विधेया' इति हतं

नीय न होना मोक्षप्राप्ति का प्रतिबन्धक नहीं है अतः वह मोक्षाभाव की सिद्धि में अप्रयोजक है । और यदि स्त्रीमोक्षविरोधियों की ओर से यह कहा जाय कि-'स्त्रियां पुरुषों द्वारा अभिवन्दनीय न होने से उनकी अपेक्षा अल्पगुणा होती हैं, अतः उनका मोक्ष नहीं हो सकता'-तो यह भी उचित नहीं है क्योंकि किसी एक मोक्षाधिकारी की अपेक्षा अन्य व्यक्ति में अल्पगुणत्व को यदि मोक्ष में बाधक माना जायगा तो तीर्थङ्करों की अपेक्षा गणधर आदि अल्पगुणवाले होने से उनकी भी मोक्षप्राप्ति बाधित हो जायगी ।

[चतुर्विधसंघस्वरूप तीर्थ में स्त्रीप्रवेश]

यदि यह कहा जाय कि-'गणधरों के अशेष कर्मक्षय का कारणभूत अध्यवसाय तीर्थङ्करों के अध्यवसाय के समान है अतः अध्यवसाय की दृष्टि से गणधरों में तीर्थङ्करों की अपेक्षा अल्पगुणत्व न होने से उक्त दोष नहीं होगा'-तो यह बात तो मोक्षमार्ग पर आरूढ स्त्रियों के सम्बन्ध में भी समान है । अतः उनमें भी उक्तरीति से मोक्षाभाव का साधन अशक्य है । यदि स्त्रीमोक्षविरोधियों की ओर से यह कहा जाय कि-'तीर्थ भगवान का वन्द्य है, प्रथम गणधर भी तीर्थशब्द से अभिहित होने से तीर्थ रूप होने के कारण भगवान के द्वारा वन्द्य होने से इस अपेक्षा की दृष्टि से अल्पगुण नहीं है । अतः उनके मोक्ष में बाधा नहीं है'-तो मोक्षमार्गस्थ स्त्रियों के भी सम्बन्ध में उसी प्रकार यह कहा जा सकता है कि चतुर्वर्णात्मक श्रमण संघ को भी तीर्थ कहा जाता है । अतः उसके अन्तर्गत आने से मोक्षमार्गस्थ स्त्रीयां भी तीर्थरूप होने से पुरुष की अपेक्षा अल्पगुण नहीं कही जा सकती, अतः उनके भी मोक्ष में कोई बाधा नहीं है । यदि यह कहा जाय कि-'स्त्रियां यदि चारित्र ग्रहण करेगी तो उनमें शङ्का होगी कि धर्म में पुरुषवर्ग ही उत्तम नहीं है । अतः स्त्रीयों का चारित्र ग्रहण अनुचित है और चारित्र ग्रहण के अभाव में उन्हें मोक्ष की प्राप्ति सुतराम् दुर्घट है ।'-तो यह कथन असभ्यों के प्रलाप जैसा है, क्योंकि आज्ञाशुद्ध भावानुसार अपनी शक्ति की सीमा में चारित्र पालन में प्रवृत्त आर्यस्त्रियों में इस प्रकार की शङ्का करना नितान्त असङ्गत है, क्योंकि यह शङ्का पापजन्य है ।

[भगवान् की वस्त्राभूषण से पूजा न्याययुक्त]

स्त्रीमोक्षविरोधियों का एक यह भी मत है कि -'भगवान को वस्त्र-भूषण आदि से अलंकृत नहीं करना चाहिए क्यों कि इस प्रकार अलंकार करने से यह शङ्का हो सकती है कि-अलंकार के अभाव में भगवान स्वतः विभूषित नहीं होते ।'-किन्तु यह मत भी इस लिए निरस्त हो जाता है कि जो व्यक्ति भगवान को वस्त्र-भूषण आदि से अलंकृत करते हैं उनका यह कार्य शुभभाव मूलक एवं शुभभाव का वर्धक है । और इसी लिये कर्मक्षय का अवन्ध्य कारण है । और यह भी स्पष्ट है कि उक्त शङ्का का उदय मलिन कर्म वाले को ही होता है । इसलिए भगवान को अलंकृत करने वाले व्यक्तियों में मलिन कर्म का अभाव होने से उन्हें भगवान के विषय में उक्त प्रकार की ऐसी शङ्का होना नितान्त असङ्गत है ।

परेषां मतम्, तत्करणस्य शुभभावनिमित्ततया कर्मक्षयाऽवन्ध्यकारणत्वात्, विपर्ययशङ्कायाश्च विना कल्मषमनुदयात्। यदि च ध्येयावस्थायां भगवता भूषणादेरनङ्गीकृतत्वाद् न तत्प्रतिकृतौ तद् विधेयम्, तदा मज्जनाङ्गराग-पुष्पादिधारणस्यापि तदवस्थायां भगवताऽनाश्रितत्वाद् न तत् तत्र विधेयं स्यात्। अथ मेरुमस्तकादिषु तदभिषेकादाविन्द्रादिभिस्तस्य विहितत्वादस्मदादिभिरपि कृतानुकरणादिभिर्हेतुभिस्तत् तत्र विधीयते, तर्हि तत एवाभरणादिविभूषादिकमपि विधेयम्, कृतानुकरणादेः समानत्वात्। न ह्येतदत्र स्पर्धासाधनम्, किन्तु प्रवृत्तौ निर्मूलत्वशङ्कानिरासेन भावाभिवृद्धिनिबन्धनमिति दिक्।

अथाऽकल्याणभाजनत्वाद् न मुक्तियोग्याः स्त्रिय इति चेत्? न, तीर्थकरजननात्; न ह्यतः परं कल्याणमस्ति लोके। अथ हीनबलत्वादेव स्त्रीणां न मुक्तिरिति चेत्? न, रत्नत्रयसाम्राज्ये हीनबलवत्त्वस्याऽप्रयोजकत्वात्; अन्यथा स्त्रीभ्योऽपि हीनबलाः पङ्ग्वादयः पुरुषा रत्नत्रयसाम्राज्येऽपि न मुच्येरन्। 'हीनबलानां विशिष्टचर्यारूपं चारित्रमेव न स्यादि'ति चेत्? न, यथाशक्त्याचरणरूपस्य

[इन्द्रादिकृत भक्ति अनुकरणीय]

यदि यह कहा जाय कि 'ध्येय अथवा केवलज्ञानरूप परमात्मस्वरूप अवस्था में भगवान ने भूषण आदि को अङ्गीकार नहीं किया है अतः उनकी प्रतिमा को भी भूषण आदि से अलंकृत नहीं करना चाहिए' तो वैसा मानने पर यह बात भी प्राप्त होगी कि भगवान ने ध्येयावस्था में मज्जन, अङ्गराग और पुष्प आदि भी अङ्गीकार नहीं किया है अतः उनकी प्रतिमा में मज्जन आदि भी करना अनुचित है। यदि यह कहा जाय कि-'मेरुमस्तक आदि पर इन्द्रादि ने मज्जन अङ्गराग पुष्पमाला आदि से भगवान का पूजन किया है अतएव उनके अनुकरण में भगवान के अन्य भक्तों को भी उक्त साधनों से भगवान की प्रतिमा का अर्चन करना सुसङ्गत है'-तो उसी प्रकार यह भी कहना अतीव समीचीन है कि यतः इन्द्रादि ने वस्त्रभूषण आदि से मेरु-मस्तक आदि पर भगवान का अर्चन किया है अतः अन्य भगवद्-भक्तों का भी वस्त्रभूषण आदि से भगवान की प्रतिमा का पूजन करना सर्वथा उचित है। भगवद्भक्तों द्वारा इन्द्रादि के अनुकरण करने की जो बात कही गयी है वह इन्द्र आदि के साथ स्पर्धा की वृद्धि के लिए नहीं, अपितु उक्त प्रवृत्ति में निर्मूलत्व की शङ्का का निराकरण कर भाव की अभिवृद्धि के लिए कही गयी है।

[स्त्रीकल्याण का भाजन]

इस सन्दर्भ में स्त्रीमोक्षविरोधियों का यह कहना कि 'स्त्रियां कल्याण (उत्तम कार्य-कर्तृता) का पात्र नहीं है, अतः मुक्ति के अयोग्य हैं।' ठीक नहीं है, क्योंकि स्त्रियां तीर्थङ्कर को जन्म देती हैं, फिर इससे उत्कृष्ट संसार में दूसरा कौन सा कार्य है जिससे उन्हें कल्याण का अपात्र कहना सम्भव हो सके? यह भी कहना कि-'स्त्रियां निर्बल होने के कारण मोक्ष प्राप्ति के अयोग्य हैं'-ठीक नहीं है क्योंकि ज्ञान, दर्शन, चारित्र इन तीनों रत्नों की पूर्ण समृद्धि रहने पर निर्बलत्व मोक्ष का प्रतिरोध करने में अप्रयोजक है। उक्त रत्नत्रय का प्रकर्ष होने पर भी निर्बल होने के कारण मोक्ष का अभाव हो तो पङ्गु, अन्ध आदि पुरुष भी निर्बल होने से उक्त रत्नत्रय की प्रचुरता होने पर भी मुक्त न हो सकेंगे। यह भी कहना कि-'निर्बलों में

सत्त्वसाध्यस्य तस्य तासामप्यविरोधात् । न हि दुर्धरब्रह्मचर्यधारिणीनामसदभियोगादौ तृणवत्प्राण-परित्यागं कुर्वाणानां सत्त्वं तासां नातिरिच्यत इति वक्तुं शक्यम् । न चानुपस्थाप्यतापाराञ्चित-कानुपदेशेन तासु सत्त्वहीनता सिध्यति, सत्त्वापेक्षयैव शास्त्रे विशुद्ध्यनुपदेशात्, योग्यतापेक्षयैव तत्र तद्वैचित्र्योपदेशात् । उक्तं च—

"संवर–निर्जररूपो बहुप्रकारस्तपोविधिः शास्त्रे । योगचिकित्साविधिरिव कस्यापि कथञ्चिदुपकारी ॥१॥"

तदेवं संपूर्णयोग्यतामभिप्रेत्योक्तं **यापनीय**तन्त्रे—"नो खलु इत्थी अजीवे, ण यावि अभव्वा, न यावि दंसणविरोहिणी, नो अमाणुस्सा, नो अणारिउत्पत्ती, नो असंखाउआ, नो अइक्कूरमई, नो न उवसंतमोहा, नो न सुद्धाचारा, नो असुद्धबोंदी, नो ववसायवज्जिआ, नो अपुव्वकरणविरोहिणी, नो नवगुणठाणरहिआ, नो अजोग्गा लद्धीए, नो अकल्लाणभायणं ति कहं न उत्तमधम्मसाहगा ?" इति ।

एवं व्यवस्थितेऽनुमानमप्याहुः मनुष्यस्त्रीजातिः संसारक्षयहेतुप्रयत्नभागिनी, प्रव्रज्याधिकारिजातित्वात्, पुरुषजातिवत् । **न च** तासां प्रव्रज्याधिकारस्य पारम्पर्येणैव मोक्षहेतुतया निर्वाहादप्रयोजकत्वम्; न चैवमल्पायाससाध्ये तद्धेतुदेशविरत्यादावेव प्रवृत्तिः स्यात्, न तु महायाससाध्यसर्वविरताविति वाच्यम्; देशविरत्यादिषु भूयोभवघटितपारम्पर्येण मोक्षहेतुत्वेऽपि चारित्रस्यैवाल्पभवघटितपारम्पर्येण

विशिष्ट चर्या रूप चारित्र सम्भव नहीं है'. –ठीक नहीं है, क्योंकि यथाशक्ति आचरणरूप चारित्र जो सत्त्व-शुद्धभाव से साध्य है वह हीनबला स्त्रियों में भी सम्भव है । 'स्त्रियों में उत्कृष्ट सत्त्व हो ही नहीं सकता ' यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि वे दुर्धर ब्रह्मचर्य धारण करती हैं और असत् कर्म के सम्मुख वह तृण के समान अपने प्राण तक का परित्याग कर देती हैं. फिर उनमें सत्त्व का उत्कर्ष न होने का प्रश्न ही कैसे उठ सकता है ? यदि यह कहा जाय कि 'शास्त्र में उन्हें अनुपस्थाप्यता, पाराञ्चिक दो प्रायश्चित का विधान नहीं है इसलिए वे सत्त्वहीन होती हैं' –तो यह ठीक नहीं है क्योंकि शास्त्र में सत्त्व की अपेक्षा ही विशुद्धि (प्रायश्चित) का विधान नहीं है किंतु योग्यता की अपेक्षा ही विविध प्रायश्चितों का उपदेश है । कहा भी गया है कि—

शास्त्र में सम्वर–निर्जरारूप अनेक प्रकार के तपों का विधान किया गया है, उनमें कोई तप किसी के लिए और कोई तप किसी के लिए कथञ्चित उपकारक होता है, सब सबके लिए सर्वदा उपकारक नहीं होता । यह ठीक उसी प्रकार है जैसे अनेक प्रकार के योग और चिकित्सा के विधानों में कोई-कोई योग और चिकित्सा किसी-किसी के लिए उपकारक होती है, सब सबके लिए नहीं ।

यापनीय तन्त्र में, स्त्री में सम्पूर्ण योग्यता की सम्भावना के अभिप्राय से कहा गया है कि "स्त्री अजीव नहीं है, अभव्य भी नहीं है, सम्यग्दर्शन की विरोधिनी भी नहीं है, वह अमानुषी भी नहीं है, वह सब अनार्य से उत्पन्न भी नहीं है, सभी स्त्री की आयु भी असंख्य वर्ष नहीं है, उसकी बुद्धि भी अतिक्रूर नहीं है, वह ऐसी भी नहीं है जिस का मोह उपशम-अयोग्य अनुपशान्त हो, [शुद्ध आचारवाली नहीं है ऐसा भी नहीं,] वह शरीर से अशुद्ध भी नहीं है, जिसमें शुद्ध चारित्र न हो, उसके लिए व्यवसाय उद्यम का निषेध भी नहीं है, अपूर्वकरण की वह विरोधिनी भी नहीं है, वह (६ से १४) नवगुण स्थानों से शून्य भी नहीं है, वह लब्धि के अयोग्य भी नहीं है और वह कल्याण का अभाजन भी नहीं है. तो फिर वह उत्तम धर्म की साधिका क्यों नहीं हो सकती ?"

मोक्षहेतुत्वात्, तादृशपारम्पर्येण मोक्षार्थितया तत्र प्रवृत्तेर्युक्तत्वात्, कथमन्यथा दुःषमाकालवर्तिनो मुमुक्षवस्तत्र प्रवर्तिष्यन्ते ? इति वाच्यम्, तासां चारित्रस्य पारम्पर्येणैव मोक्षहेतुत्वाऽश्रवणात्, साक्षात्कारणस्य चारित्रस्याऽसति प्रतिबन्धके तद्भव एव मुक्तिप्रापकत्वोपपत्तेः, स्त्रीत्वस्य प्रतिबन्धकत्वे मानाभावात्, अन्यथा तत्र साक्षाच्चारित्रार्थितयैव प्रवृत्त्यापत्तेरिति ।

एवं 'मनुष्यस्त्री काचिद् निर्वाति, अविकलतत्कारणत्वात्, पुरुषवत्' इत्यप्याहुः । तदेवं स्त्रीमुक्तिसिद्धेः सिद्धाः पञ्चदश सिद्धभेदाः इति सिद्धमदः प्रासङ्गिकमिति सर्वमवदाततरम् ॥५४॥

[स्त्री–मुक्ति साधक अनुमानप्रयोग]

उक्त प्रकार से विरोधी पक्ष के निराकरण एवं अनुकूल आगम से स्त्री की मोक्षयोग्यता सिद्ध हो जाने पर अनुमान से भी उसकी सिद्धि सम्पादित की जा सकती है। अनुमान का प्रयोग इस प्रकार हो सकता है—'मनुष्य स्त्रीजाति मुक्ति से उपहित व्यक्ति से युक्त है (मुक्ति प्रापक देह पर्याय से युक्त है) क्योंकि वह प्रव्रज्या (सन्यास) की अधिकारीजाति है जैसे पुरुषजाति ।'

इस प्रसङ्ग में स्त्री मोक्ष विरोधियों का यह कहना कि-स्त्री को जो संन्यास में अधिकार प्राप्त है वह परम्परया—(जन्मान्तर में पुरुष शरीर पर्याय की प्राप्ति द्वारा) मोक्ष का साधक है। अतः प्रव्रज्याधिकारजातित्व से मनुष्य-स्त्री जाति में 'मोक्षप्रापक देहपर्याय से युक्तता' के साधन में उक्त हेतु अप्रयोजक है। इस कथन पर स्त्रीमोक्षवादी यदि ऐसा कहें कि 'यदि स्त्री जाति का संन्यास परम्परया मोक्षोपयोगी है तो अल्प प्रयत्न से साध्य (आराध्य), मोक्षहेतुभूत देश-विरति आदि में ही स्त्री की प्रवृत्ति होनी चाहिए, न कि बहुप्रयत्न से साध्य सर्व विरति में प्रवृत्ति होनी चाहिए।' तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि देशविरति आदि की परम्परा अनेक जन्मों से घटित है, उस परम्परा के मोक्ष का हेतु होने पर भी चारित्र ही अल्पजन्मों से घटित परम्परा से मोक्ष का हेतु है। इसलिए चारित्र की अल्प जन्म घटित परम्परा से मोक्ष के लिए सर्व संन्यास में स्त्री की प्रवृत्ति होना समीचीन है। यदि ऐसा न माना जायगा तो दुःषमाकाल में रहने वाले मोक्षार्थी उसमें कैसे प्रवृत्त होंगे?—

किन्तु स्त्रियों के संन्यास ग्रहण को परम्परया मोक्ष का प्रयोजक मान कर उससे स्त्री पर्याय में मोक्षयुक्तता की सिद्धि में अप्रयोजक कहना यह दिगम्बर मत ठीक नहीं है। क्योंकि 'उनका चारित्र परम्परा से मोक्ष का साधक है' यह बात शास्त्रमें श्रुत नहीं है, अपितु चारित्र मोक्ष का साक्षात्कारण है अतएव प्रतिबन्धक न होने पर स्त्री का चारित्र स्त्री शरीर के पर्याय में ही मोक्ष का साधक हो सकता है। यदि कहा जाय कि 'स्त्रीत्व ही मोक्ष की प्राप्ति में प्रतिबन्धक है' तो इसमें कोई प्रमाण नहीं है। यदि स्त्रीत्व मोक्ष का प्रतिबन्धक होगा तो संन्यास में मोक्ष के लिए स्त्री की प्रवृत्ति न होकर चारित्र के लिए ही होने की आपत्ति होगी जो इष्ट नहीं है, क्योंकि स्त्री मोक्ष के उद्देश्य से ही संन्यास में प्रवृत्त होती है।

स्त्रीमोक्ष के साधन में इस प्रकार के भी अनुमान का प्रयोग हो सकता है कि कोई कोई मनुष्य स्त्री मोक्ष प्राप्त कर सकती है, क्योंकि वह मोक्ष के समग्र कारणों से युक्त होती है। यह ठीक उसी प्रकार जैसे मोक्ष के समग्रकारणों से सम्पन्न पुरुष मोक्ष प्राप्त करता है।

एता वार्ता उपश्रुत्य भावयन् बुद्धिमान्नरः । इहोपन्यस्तशास्त्राणां भावार्थमधिगच्छति ॥५५॥
शतानि सप्त श्लोकानामनुष्टुप्छन्दसां कृतः । आचार्यहरिभद्रेण शास्त्रवार्तासमुच्चयः ॥५६॥

कृत्वाप्रकरणमेतद् यदवाप्तं किञ्चिदिह मया कुशलम् ।
भवविरहबीजमनघं लभतां भव्यो जनस्तेन ॥५७॥

यं बुद्धं बोधयन्तः शिखि-जल-मरुतस्तुष्टुवुर्लोकवृत्त्यै
ज्ञानं यत्रोदपादि प्रतिहतभुवनालोकवन्ध्यत्वहेतु ।
सर्वप्राणिस्वभाषापरिणतिसुभगं कौशलं यस्य वाचां
तस्मिन् देवाधिदेवे भगवति भवता धीयतां भक्तिरागः ॥५८॥

समाप्तः शास्त्रवार्तासमुच्चयग्रन्थः

इस प्रकार उक्त रीति से स्त्री का मोक्ष सिद्ध हो जाने पर सिद्धों के पन्द्रह भेद की सिद्धि निर्बाधरूप से सम्पन्न होती है । यह चर्चा प्रासङ्गिकरूप से की गयी है । जो कुछ विचार इस सम्बन्ध में प्रस्तुत हुआ है वह सर्वथा समुज्ज्वल है ।

मूल ग्रन्थ के रचयिता श्री हरिभद्रसूरिजी ने ग्रन्थ के अन्त में चार श्लोकों से ग्रन्थ का उपसंहार प्रस्तुत किया है । उनमें उनका कहना है कि इस ग्रन्थ में शास्त्रों के सम्बन्ध में जो बातें कही गयी है, बुद्धिमान मनुष्य उनकी भावना द्वारा इस ग्रन्थ के उपन्यस्त सभी शास्त्रों के भावार्थ को अवगत कर सकता है। यह भी उन्होंने कहा है कि अनुष्टुप छन्द के ७०० (सातसौ) श्लोकों में उन्होंने इस 'शास्त्रवार्ता समुच्चय' ग्रन्थकी रचना की है । ग्रन्थकार ने यह भी अपनी उत्कृष्टतम भावना प्रकट की है कि इस प्रकरण ग्रन्थ की रचना से जो कुछ पुण्य उन्हें प्राप्त हुआ है उससे भव्य मनुष्यों को ऐसा बोध प्राप्त हो जो उनकी संसारनिवृत्ति का निर्दोष बीज बन सके । ॥ ५५-५६-५७ ॥

अन्तिम श्लोक में उन्होंने भव्यमनुष्यों से यह मार्मिक निवेदन किया है कि जिस बुद्ध-ज्ञानमूर्ति महापुरुष को सम्बोधित करते हुए अग्नि जल और वायु ने लोकहित के लिए उसकी स्तुति की है, और जिस पुरुष में भुवनालोक को निरर्थक बनाने वाले कारण का प्रतिघाती ज्ञान प्रादुर्भूत हुआ है और जिस की वाणी का कौशल अपनी अपनी भाषा की परिणति में सभी प्राणियों को सुन्दर सहायक है, उस देवाधिदेव भगवान में भक्तिराग धारण करना भव्य मानव का परमकर्त्तव्य है ॥ ५८ ॥ इति ।

[इन चार श्लोकों के उपर कोई भी प्रति में स्या० क० व्याख्या उपलब्ध नहीं है और व्याख्याकारकृत प्रशस्ति भी अनुपलब्ध है ।]

॥ ग्यारहवा स्तबक सम्पूर्ण ॥

॥ शास्त्रवार्तासमुच्चय ग्रन्थ सम्पूर्ण ॥

॥ हिन्दी विवेचन सम्पूर्ण ॥

परिशिष्ट : १

शास्त्रवार्त्तासमुच्चय स्तबक-९-१०-११ गतमूलश्लोकानामकारादिक्रमः

श्लोकांशः	स्तबकांकः/श्लोकाङ्कः	श्लोकांशः	स्तबकांकः/श्लोकाङ्कः
अत एवागमज्ञस्य	११।५३	असाध्यारम्भिणस्तेन	११।२५
अतीतानागतयोश्चापि	११।५	आगमादपि तत्सिद्धि	१०।१५
अतीन्द्रियार्थद्रष्टा तु	१०।४०	आत्मा नामी पृथक् कर्म	१०।६१
अतीन्द्रियार्थसंवादी	१०।६२	आह चालोकयन्नेदं	१०।६
अतोऽपि शुक्लं यद्वृत्तं	१०।१०	इन्द्रियग्राह्यतोऽन्योऽपि	११।२५
अत्रापि प्राज्ञ इत्यन्ये	१०।४८	इष्टापूर्त्तादिभेदोऽस्मात्	१०।७
अत्रापि ब्रुवते केचिद्	१०।१२	उपादेयविशेषस्य	९।१६
अत्रापि ब्रुवते वृद्धाः	१०।५०	ऋत्विग्भिर्मन्त्रसंस्कारैः	१०।८
अत्रापि वर्णयन्त्यन्ये	९।४	एवं च वस्तुनस्तत्त्वं	११।२८
अत्राप्यभिदधत्यन्ये	१०।१	एवं तथापि तद्भावे	१०।५६
अधिकार्यपि चास्येह	१०।६३	एष स्थाणुरयं मार्ग	१०।३४
अनन्तधर्मकं वस्तु	११।२२	कर्मादि परिणत्यादि	९।२
अनभ्युपगमाच्चेह	११।१५	केवलज्ञानभावे च	११।३४
अनादिभव्यभावस्य	९।६	क्रियातिशययोगे च	११।३८
अन्यथा दाहसम्बन्धाद्	११।२४	क्रियाहीनाश्च यल्लोके	११।३६
अन्यदेवेन्द्रियग्राह्यम्	११।२३	क्रियैव फलदा पुंसां	११।३५
अन्यदोषो यदन्यस्य	११।१८	क्रियोपेताश्च तद्योगाद्	११।३७
अन्ये पुनर्वदन्त्येवं	९।१	क्षणिकाः सर्वसंस्काराः	११।२७
अन्ये त्वभिदधत्येवं	११।१	चारित्रपरिणामस्य	९।२५
अन्ये त्वभिदधत्येवं	११।९	चिन्तामणिस्वरूपश्च	११।४४
अपोहस्यापि वाच्यत्वे	११।२६	जन्ममृत्युजराव्याधि	९।११
अपौरुषेयताप्यस्य	१०।४१	जन्माभावे जरामृत्यो	११।५१
अभ्रान्तजातिवादे तु	११।८	ज्ञानयोगस्तपः शुद्धमित्यादि	९।२२
अमूर्त्ताः सर्वभावताः	११।५८	ज्ञानयोगस्य योगीन्द्रैः	९।२३
अयमेव न चेत्यस्य	१०।४९	ज्ञानयोगादतो मुक्ति	९।२७
अर्थासंनिधिभावेन	११।३	ज्ञानवन्तश्च तद्वीर्यात्	११।३३

श्लोकांशः	स्तवकांकः/श्लोकाङ्कः
ज्ञानहीनाश्च यल्लोके	११।३२
ज्ञानादेव नियोगेन	११।३०
ज्ञायते तद्विशेषस्तु	११।१९
ज्ञानं हि फलदं पुंसां	११।३१
ततश्च दुष्करं तत्र	९।१८
ततः स सर्वविद् भूत्वा	९।२१
तन्निवृत्तौ न चोपायो	१०।२४
तस्यैव चित्ररूपत्वात्	९।३
तद्दर्शनमवाप्नोति	९।७
तद्दृष्ट्वा चिन्तयत्येवं	९।१०
तन्नीतिप्रतिपत्त्यादे	१०।५१
तस्माद्व्याख्यानमस्येदं	१०।३३
तस्मान्न चाऽविशेषेण	१०।२९
तेनाग्निहोत्रं जुहुयात्	१०।२६
दग्धे बीजे यथात्यन्तं	११।५०
दर्शनं मुक्तिबीजं च	९।५
दुष्करं क्षुद्रसत्त्वानाम्	९।१५
दृश्यमानेऽपि चाशंका	१०।३७
दोषाणां ह्रासदृष्ट्येह	१०।५२
धर्मस्तथात्मधर्मत्वात्	९।२४
धर्मादयोऽपि चाध्यक्षा	१०।१४
धर्माऽधर्मव्यवस्था तु	१०।५
न चागमेन यदसौ	१०।३
न चाप्यतीन्द्रियार्थत्वात्	१०।४६
न चाऽप्यपौरुषेयोऽसौ	१०।३५
न चावस्थानिवृत्त्येह	९।२६
न चासौ तत्स्वरूपज्ञो	११।४५
न चास्यादर्शनेऽप्यथ	१०।५४
न तादात्म्यं द्वयाभाव	११।२
न लौकिकपदार्थेन	१०।२२
न विविक्तं द्वयं सम्यग्	११।२७
न वृद्धसम्प्रदायेन	१०।२०
न मुक्तवत्स्वहेतोस्तु	११।१४
नान्यप्रमाणसंवादात्	१०।३२
नाऽभ्यास० प्रशमादीनां	१०।४२
नार्थापत्त्यापि सर्वाऽर्थ	१०।४
नित्यत्वाऽपौरुषेयत्वा	१०।२३
निष्पन्नत्वादसत्त्वाच्च	११।१३
नैतद्दृश्यविकल्पार्थं	११।१०
परचित्तादिधर्माणां	१०।६४
परमार्थिकतानन्त्ये	११।५
परमार्थिकतानन्त्ये	११।१७
परमानन्दभावश्च	११।५२
पापाद्वेश्यां शुद्धि	१०।३८
प्रतिभालोचनं तावद्	१०।५५
प्रत्यक्षेण प्रमाणेन	१०।२
प्रदीपादिवदिष्टं चेत्	१०।२७
प्रमाणपञ्चकावृत्ति	१०।१८
प्रवर्त्तमान एवं च	९।२०
प्रामाण्यं रूपविषये	१०।२१
फलं ज्ञानक्रियायोगे	११।३९
बठरश्च तपस्वी च	११।४८
बहूनामपि संमोह	१०।३९
बुद्धावर्णेऽपि चादोषः	११।२९
बुद्ध्यैव भवनैर्गुण्यं	९।१४
मन्त्रादीनां च सामर्थ्यं	१०।४४
मुक्तिश्च केवलज्ञान	११।४६
मूर्त्यादिवर्जिता चेह	११।४९
यत एवं न सत्यार्थं	१०।६०
यत्कर्तृव्यापाराभावेऽपि	१०।३६

श्लोकांशः	स्तवकांकः/श्लोकाङ्कः
वर्ण्येतरादिको भेदो	११।१६
वर्णाश्रमव्यवस्थापि	१०।११
वस्तुस्थित्यापि तत्तादृग्	१०।२८
वाच्य इत्थमपोहस्तु	११।६
वापीकूपतडागानि	१०।९
विपरीतप्रकाशश्च	१०।२८
विशिष्टं वासनाजन्म	११।१२
वेदाद्धर्मादिसंस्थापि	१०।१९
वेदेऽपि पठ्यते ह्येष	१०।४५
व्याधिग्रस्तो यथारोग्य	९।१८
शब्दात्तद्वासनाबोधो	११।२१
शास्त्रादतीन्द्रियगते	१०।१७
स पश्यत्यस्य यद्रूपं	९।९
सति चास्मिन् किमन्येन	११।७
सति चास्मिन्नसौ धन्यः	९।८
समयापेक्षणं चेह	११।२०
सम्यक्प्रवृत्तिः साध्यस्य	११।४९
सर्वज्ञेन ह्यभिव्यक्तात्	११।४७
सर्वत्र दृष्टे संवादात्	१०।२७
सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्ताः	११।५३
सर्ववाचकभावत्वात्	११।२१
सर्वार्थविषयं तच्चेत्	१०।१३
संसारव्याधिना ग्रस्तः	९।१९
साधुर्नवेति संकेतो	१०।३०
साध्यमर्थं परिज्ञाय	११।५०
सिध्येत्प्रमाणं यद्येवं	१०।५९
सुखाय तु परं मोक्षो	९।१२
स्वकृताध्ययनस्यापि	१०।४३
स्वयं रागादिमान्नार्थं	१०।२५
हृद्गताशेषसंशीति	१०।२६
हृद्गताशेषसंशीति	१०।५३
हेतुर्भवस्य हिंसादि	९।१३

परिशिष्ट : २

स्तवक ९–१०–११ गत उद्धृतपाठानामकारादिक्रमः

उद्धृतश्लोकांशः	पृष्ठाङ्कः
अगोतो विनिवृत्तिश्च (त. सं.)	२५१
अगोनिवृत्तिः सामान्यं (श्लो. वा.)	२४०
अणन्तरसिद्धअसंसार (प्रज्ञापना)	३०७
अतस्त्वयोगो योगानां (यो. स. ११)	९।१३३
अतीन्द्रियानसंवेद्यान् (वा. प.)	३२१
अथ तद्वचनेनैव (श्लोक वा.)	६
अद्धमागहीए भासाए ( )	११९
अथान्यथा विशेष्येऽपि (श्लो. वा.)	२४६
अनन्यापोहशब्दादौ (,,)	२६४
अनुमानं विवक्षायाः ( )	२३३
अन्धं तमः प्रविशन्ति ( )	९।२०
अन्यथैकेन शब्देन (प्र. वा. ३-२०)	२५६
अन्यान्यत्वेन ये भावा (त. सं.)	२४८
अन्यार्थप्रेरितो वायु (श्लो. वा.)	१४७
अन्यैस्ताल्वादिसंयोगै (,,)	१४७
अपरिग्गहया सुत्ते (वि. आ. ३०६३)	९।२९
अभव्यस्य भव्या. (आचा. टीका)	९।७४
अभावगम्यरूपे च (श्लो. वा.)	२४६
अभावावगतेर्जन्म (,,)	९
अभ्यासः कर्मणां ( )	१७६
अर्थजात्यभिधानेऽपि (वा. प. ३।२-१)	२५८
अर्थान्तरनिवृत्त्याह (त. सं.)	२४८
अलोए पडिहया सिद्धा ( )	३०७
अवस्तुविषयेऽप्यस्ति (त. सं)	२५१
अवाचकत्वे शब्दानां (उद्योतकर)	२२७
अव्याप्तेरधिकव्याप्ते (न्या. कु.)	१२३

उद्धृतश्लोकांशः	पृष्ठाङ्कः
असर्वज्ञप्रणीतात्तु (श्लो. वा.)	६
असाध्यः कस्यचिद् योगः ( )	९।१९
आउज्जमदृकुमला ( )	२९३
आया सामाइए ( )	९।१२२
आसन्नकालभव. (उप. माला २९०)	९।७४
आहारोच्च ण गंथो (वि. आ. २५७२)	९।३५
आहृता हि विषयैक (लौकिक)	९।७८
इत्थीए लिंगं इत्थिलिंगं (नन्दी सू.)	३०८
इय नाणलिंगसहिओ ( )	२९३
इहभविए भंते चरित्ते ( )	९।१२२
उपदेशो हि बुद्धादेः (श्लो. वा.)	६
उवसामगसेढिगयस्स (वि. आ. ५२९)	९।६९
उसासं ण णिरुंभइ (आ. नि.)	९।९४
एकशास्त्रविचारेषु (त. सं.)	१६
एकादश जिने (त. सू.)	३८
एको भावस्तत्त्वतो ( )	३८
ओरालियसरीरेणं (अ. म. प. ११६)	२१६
औपशमिकादि. (त. सू. १०।४)	९।११५
कथयति भगवान् (पुराण)	९।२२
कर्तुमिच्छोः श्रुतार्थस्य (यो. स. ३)	९।१३
कर्मणा बध्यते जन्तु ( )	९।२५
कल्पनीयाश्च सर्वज्ञा (श्लो. वा.)	९८
कामशोकभयोन्माद ( )	१७
कार्यं धूमो हुतभुजः (प्र. वा. ३३५)	८०
किन्तु गोमयो हस्ती (श्लो. वा.)	२३९
केवलनाणेणत्थे (आ. नि. ७८)	११७
कोडिसहस्सपुहुत्तं ( )	९।१२३
खुहिअस्स जहा खण. (सामा)	९।८८
गवयसिद्धे त्वगोर्नास्ति (श्लो. वा.)	२४५
गंठिंत्ति सुदुब्भेओ (वि. आ. ११९२)	९।६९
गृहीत्वा वस्तु सद्भावं (श्लो. वा.)	१०
गेण्हदि णेव ण मुंचदि (प्र. सार १।३२)	२०१
ग्रन्थिदेशं तु सम्प्राप्ता ( )	९।६९
जइ चेलभोगमेत्ता (अ. म. प. २७)	९।५७
जं अन्नाणी कम्मं खवेइ ( )	२९१
जंपि वत्थं च पायं वा ( )	९।५३
जं पुण तं इहभवियं (अ. म. प. १३४)	९।१२८
जं सेलेसीगयाणं ( )	९।१२३
जम्हा दंसणनाणा ( )	३०१
जम्हा विगच्छमाणं (वि. आ. ३३२२)	९।१२०
जइ संजमेवि विरियं ( )	३१८
जस्स अणेसणमप्पा (प्र. सार ३।२७)	९।३९
जाणंतो वि य तरिउं ( )	२९३
जिणकप्पिया इत्थी णहवइ ( )	३१८
जिनवचनं जानीते ( )	३१९
जे एगं जाणइ (आचा)	३८
जे जत्तिया य हेऊ भवस्स ( )	९।४१
जे संघयणाईआ (सम्मति.)	९।११६
जोगाण समाहाणं (आ. नि.)	९।९४
जो भणइ णत्थि ( )	९।५१
ज्ञात्वा व्याकरणं दूरं (त. सं)	१६
ज्ञानादेव तु कैवल्यं ( )	९।२५
ज्योतिर्विद्य प्रकृष्टोऽपि (त. सं)	१६
ठाणणिसेज्जविहारा (प्र. सार १।४४)	२००
णरविबुहेसर (आ. प्र. २६)	९।६३
णिच्छयणयस्स चरण. ( )	२९६
णेगंतेण कयत्थो (नि. आ. ११०३)	११८
णो कप्पदि णिग्गंथस्स ( )	३१४
तं च कहं वेइ. (आ. नि ७४३)	११७
तत्राप्यर्थप्रधानं (श्लो. वा.)	६

उद्धृतश्लोकांशः	पृष्ठाङ्कः
तत्त्व वासनाभेदाद् (त. सं.)	२५१
तत्थ णं जे ते असं. (प्रज्ञ. १०७२)	९।११४
तथा मैत्रेतिहासादि (त. सं.)	१६
तथाहि पचतीत्युक्ते (त. सं. ११५५)	२६०
तथैव तत्समीपस्थैः (श्लो. वा.)	१४१
तपसा कल्मषं हन्ति ( )	९।२५
तप्पुव्विआ अरहया (आ. नि. ५६७)	१११
तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति ( )	९।२०-२५
तम्हा किमत्थि वत्थुं (वि. आ. २५७३)	९।३५
तरति शोकमात्मवित् ( )	९।२५
तस्मात्तद्वयमेष्टव्यं (त. सं)	२५३
तस्मात्तस्मान्न संबद्धः ( )	३१९
तस्मात्सर्वेषु यद्रूपं (श्लो. वा.)	२४०
तस्मादुत्पत्त्यभिव्यक्त्यो (श्लो. वा.)	१४७
तस्मायत्स्मर्यते (श्लो. वा. उ. ३७)	६७
तस्सोदइआइया (वि. आ. ३०८७)	९।११४
ताश्च व्यावृत्तयोऽर्थानां (त. सं)	२४३
तासां हि बाह्यरूपत्वं (त. सं)	२४३
तित्थयरा तप्पियरो ( )	९।१८
तिहिं ठाणेहिं वत्थं (स्था. ३।३।१७१)	९।१४२
तुर्ये तु तद्विविक्तोऽसौ (त. सं)	२६२
तेनाग्निहोत्रं जुहु. (प्र. वा.)	१२७
तो तं कत्तो भन्नइ (वि. आ. ११४१)	३००
तो मुअइ नाणवुट्ठिं (आ. नि. ८९)	११९
ददठूण पाणिणिवहं (श्रा. प्र. ५८)	९।१६४
दर्शनस्य परार्थत्वात् ( )	२३
दृशा हस्तान्तरं (त. सं)	१६
द्वितीयापूर्वकरणे (यो. स. १०)	९।१३३
द्विधायं धर्मसंन्यास (यो. स. ९)	९।१३३
दुःखे विपर्यासमति ( )	९।१२१
दूसइ अव्वाबाहं (अ. म. प. ७४)	२०४
द्वौ क्रमौ चित्तनाशस्य ( )	९।११९
न कर्मणा न प्रजया (श्रुति)	९।२५
न च मन्त्रार्थवादानां (श्लो. वा.)	६
न चागमविधिः कश्चिद् (,,)	६
न चान्यरूपमन्यादृक् (,,)	२४६
न चान्यस्मादिहाश्वेभ्यो (,,)	२४६
न चाप्यस्यानुमानत्वं (,,)	९
न चासाधारणं वस्तु (श्लो. वा.)	२४६
न चैतदेवं यत्तस्मात् (यो. स. ८)	९।१३३
न चैव तस्य धर्मत्वं (श्लो. वा.)	९
नट्ठम्मि उ छाउमत्थिए (आ. नि. ४२१)	१११
न तदात्मा परात्मेति (त. सं. १०१३)	२३८
न तावदिन्द्रियेणैषां (श्लो वा.)	८
ननु ज्ञानफलाः शब्दा (,,)	२३९
नन्वन्यापोहकृत् (,,)	२३९
नरयसु जाइ अइ (उप. मा. २७९-२८७)	९।८२
नाणं सविसयणिययं ( )	२९३
नाणं पयासयं सोहओ (वि. आ. ११६९)	३०२
नाणं परंपरमणंतरं (वि. आ. ११३७)	३०१
नातोऽसतोऽपि भाव. (त. सं.)	२५०
नापोह्यत्वमभावानां (श्लो. वा.)	२४७
नाऽप्रत्ययानुग्रह. (अवधूत)	९।७१
नाऽभावोऽपोह्यते ह्येवं (त. सं.)	२५०
नारयतिरियनरा (श्रा. प्र. ५७)	९।६४
नासौ न पचतीत्युक्ते (त. सं)	२६२
निपाताश्चोपसर्गाश्च ( )	९।१०४
निर्जितमदमदनानां (प्र. र. १३८)	९।८६
निवृत्ताधिकारायां (गोपेन्द्र)	९।७२
निष्पत्तेरपराधीनमपि ( )	२९
नीलोत्पलादिशब्दा (आचार्योक्ति)	२४८
नेष्टोऽसाधारणस्तावद् (श्लो. वा.)	२४०

उद्धृतश्लोकांश:	पृष्ठाङ्क:
नो कप्पइ णिग्गंथीए ( )	३१४
नो खलु इत्थी अजीवो (याप. तं)	३२६
नैकात्मतां प्रपद्यन्ते (त. सं.)	२४३
पचतीत्यत्र निर्दिष्टं तु (श्लो. वा.)	२६१
पचतीत्युक्ते (त सं.)	२६२
पयइए कम्माणं (धा. प्र. ५५)	९।६३
परदव्वम्मि पवित्ती (अ. म. प २२)	९।५४
परिभवणाई किरिया (वि. आ. ११४०)	२९९
पारंपरप्पसिद्धी (आ. नि. ११६६)	३००
पित्रोश्च ब्राह्मणत्वेन ( )	८४
पुट्ठं सुणेइ सद्दं (आ. नि. ५)	१५२
पुण्णफला अरहंता (प्र. सार १।४५)	२००
प्रकृतिसुन्दरं चिन्ता. (ल. वि.)	९।९२
प्रकृतीशादिजन्यत्वं (त. सं.)	२५०
प्रत्यक्षादेरनुत्पत्तिः (श्लो. वा.)	९
प्रमाणपञ्चकं यत्र (,,)	८
प्रभूतपराक्रम ( )	९।५०
प्रसज्यप्रतिषेधस्तु (त. सं १०१०)	२३८
प्राज्ञोऽपि हि नरः (त. सं.)	१६
प्रेक्षावत्ता पुनर्ज्ञेया ( )	६३
बाह्यं तपः परमदुश्चर ( )	९।४८
बुद्धादयो ह्यवेदज्ञाः (श्लो. वा.)	६
बुद्धौ येऽर्था विवर्तन्ते (त. सं.)	२४९
ब्रह्मविदाप्नोति परं ( )	९।२५
भद्दा वि ते अणंता ( )	३०९
भावतस्तु न पर्याया (त. सं. १०३२)	२४१
भावप्रमेयापेक्षायां ( )	५२
भाषान्तरात्मकोऽभावो (श्लो. वा.)	२४०
मतिश्रुतयोर्निबन्धो (त. सू.)	२८१
मन्नइ तमेव सच्चं (श्रा. प्र. ५९)	९।६४
मुच्छा परिग्गहो वुत्तो (दश वै.)	९।६१

उद्धृतश्लोकांश:	पृष्ठाङ्क:
यः कर्मपुद्गलादान (यो. शा. ४८०)	९।२५
यत्राप्यतिशयो दृष्टः (श्लो. वा.)	१५
यथैवोत्पद्यमानोऽयं (,,)	१४१
यदा चाऽशब्दवाच्यत्वाद् (,,)	२४६
यदि गौरित्ययं शब्दः (,,)	२३९
यद्यस्यैव गुणान् ( )	८३
यद्वत् तुरगः (प्र. र. १४१)	९।५३
यमप्रशमजीवातु ( )	९।६९
यस्य पुनः केवलिनः ( )	९।६०२
ये तु मन्वादयः (श्लो. वा.)	७
येऽपि सातिशया दृष्टाः (त. सं.)	१५
यो नाम न यदात्मा (त सं..)	२५०
यो ह्यन्यरूपसंवेद्यः ( )	१३८
रुद्रस्तारकं व्याचष्टे (श्रुति)	९।२२
रूपाभावेऽपि चैकत्वं (त. सं. १०३१)	२४१
लत्थाइं तेण जं अं (वि. आ. २५७४)	९।३५
वपनं धर्मबीजस्य (ल. वि.)	९।६२
वादविकुर्वणत्वादि ( )	३१७
विकल्पयोनयः शब्दाः (वाक्यप.)	२३८
विग्गहगइमावण्ण (बृ. सं. १८६)	२१२
विद्यां चाविद्यां च ( )	९।२०
विसुं ण सव्वहच्चिय ( )	२९४
वृक्षादीनाहतान् ध्वानः (त. सं.)	२४८
वेज्जुवदिट्ठं ओसह (अ. म. प. ३३)	१०।६०
वोसट्टचत्तदेहो ( )	९।५९
व्यञ्जकानां हि वायूनां (श्लो. वा.)	१४७
शास्त्रयोगस्त्विह ज्ञेयो (यो. स. ४)	९।१३२
शास्त्रसंदर्शितोपायः (यो. स. ५)	९।१३२
संघयणरूवसंठाण (आ. नि. ५७१)	२१५
संवच्छरमुसभ (उप. मा. ३)	२११
संवरनिर्जररूपो ( )	३२६

उद्धृतश्लोकांशः	पृष्ठाङ्कः
संसृज्यन्ते न भिद्यन्ते (प्र. वा.)	२४३
संहयणमट्ठिणिचओ (कर्मग्रन्थ १।३८)	२१५
स चैद्गोनिवृत्त्यात्मा (श्लो. वा.)	२४५
समुच्चयादिर्येऽर्थाः (त सं. ११५८)	२६३
सम्मत्तचारित्ताइं (वि. आ. २०७८)	१।११५
सर्वं पश्यतु वा मा (प्र. वा. १।३३)	३७
सर्वं पश्यतु वा मा वा (प्र. वा. १।३५)	३७
सर्वथा तत्परिच्छेदात् (यो. स. ७)	१।१३२
सर्वज्ञसदृशं कश्चित् (श्लो. वा.)	६
सर्वज्ञोक्ततया वाक्यं (,,)	६
सर्वज्ञो दृश्यते तावद् (,,)	६
सर्वज्ञो नावबुद्धश्च (,,)	१८
सर्वज्ञोऽयमिति ह्येतत् (,,)	१८
सव्वथोवाओ चरित्तायाओ ( )	१।१२२
सव्वन्नु परमण्णत्तं ( )	३०७
सव्वेहि पगवुसेण (आ. नि.)	१।५९
सा णं भंते ! अकिरिया ( )	१।११९
सारक्खणाणुबंधो (वि. आ. ३०५३)	१।५५
सिद्धत्तणेण य पुणो (सम्मति)	१।११६
सिद्धश्चागौरपोह्येत (श्लो. वा.)	२४४
सिद्धा णं असरीरिआ ( )	१।१२५
सिद्धे णो चरित्ती ( )	१।१०९
सिद्ध्याख्यपदसंप्राप्ति (यो. स. ६)	१।१३२
सुदृढप्पयत्तवावारणं (वि. आ. ३०७१,१।१०५
सुबहुंपि सुअमहीअं ( )	२९३
से परिग्गहे चउव्विहे (पाक्षिकसूत्र)	१।५१
सेय तस्सेत्त (पञ्च. नि. चूर्णि)	१।६२
सेवंतो वि ण सेवइ ( )	१।७८
सोक्खं वा पुण दुक्खं (प्र. सार १।२०)	१९७
सो य तवो कायव्वो ( )	१।४८
स्वबीजानेकविश्लिष्ट (त. सं.)	२४३
स्वयं रागादिमान् (प्र. वा.)	१२६
स्वरूपसत्त्वमात्रेण (श्लो. वा.)	२४६
स्वर्गकेवलार्थिना ( )	४४
हवदि ण हवदि बंधो (प्र. सा. ३।१९)	१।३१
हिरण्यगर्भः सम. (ऋग्वेद)	१७८
हुंति कसायायाओ ( )	१।१२३

परिशिष्ट : ३

ग्रन्थगतविशेषनाम्नामकारादिक्रमः

विशेषनाम	पृष्ठांकः
अमरचन्द्र	१।३१-३३
अवधूताचार्य	१।७१
आचारटीका	१।७४
आचारांग	१।५९
उदयन	१।७४,९१,११३
उदयनमत	१।२२
उद्योतकर	२२७,२२८
उमास्वाति	३०४
कुमारिल	२३९
कृष्ण	१।६३
गोविन्द	१।७२
गंगेश	१।७५
चार्वाकमत	३४
जैमिनी	१२९,१५०
ज्ञानार्णव	९८
तत्त्वार्थसूत्रकृत्	२८२

विशेषनाम	पृष्ठाङ्कः
तौतातित	९।१३
त्रिदण्डी	९।९
त्रिकपट	९।२९-६१
दिगंबर	९।२८
दिग्नाग	२२८,२४५
धर्मकीर्त्ति	१२६
नव्य	७२,१६१
नव्यमत	९।२५
नारद	३१४
नैयायिक	९।६, ५४, ६८, १४९
न्यायवादी	३१९
परीक्षा	९।१२९,३०३
पूर्वाचार्य	३८
प्रशमि	९।११४-१२२-१२९
प्रज्ञापना	९।१०९
प्रभाचन्द्र	२०४,२१७
प्रभाकरमत	५०
प्रमारहस्य	६४
प्रवचनसार	९।३९
प्रवचनसारकृत्	९।३१
प्रसन्नचन्द्र	३२०
प्राभाकर	४९
बुद्ध	६
बौद्ध	९।९
भट्ट	६
भट्टमत	४९
भर्तृहरि	३२१
भावारहस्य	२६२
भाष्यकार	९।३५-२१-५५-१०५
भाष्यकृत	९।४३-११५,११८,२९४, ३०१
भास्करीय	९।२०
मधुसूदन	९।१९
मनु	६

विशेषनाम	पृष्ठाङ्कः
मिश्र	७२
मिश्रमत	४९
माघतुष	३१७,३४२
मीमांसक	३३,१११,१७७
मीमांसकमत	१७७
मुरारिमिश्र	४९
यापनीयतंत्र	३२६
यौक्तिक	७३
यौग	८५
ललितविस्तरा	९।९२
वर्धमान	९६
वशिष्ठ	९।१९
श्रावकमुख्य	९।५२
विशेषावश्यक	९।११५
विशेषावश्यकवृत्ति	९।१२६
वेदान्तिमत	९।१४
वैशेषिक	६६
व्याख्याप्रज्ञप्ति	२१९
व्यासमहर्षिः	२९८
श्रुतकेवलि	९।७४
श्रेणिक	९।६२
समयसारकृत्	९।७८
सम्मतिकार	९।११६
सर्वार्थसिद्धिकृत	२०९
सांख्यमत	९।१११
सामाचारीप्रकरण	९।८८
सितपट	९।२९
सिताम्बर	९।६१
सौगत	९।२२,१७७,१८५
स्मृतिकृत	९।४८
स्थानांग	९।४४
स्वतन्त्र	१५४
हरिभद्र	३२८